* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण'के ७०वें वर्ष सन् १९९६ का यह विशेषाङ्क 'धर्मशास्त्राङ्क' आपलोगोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४०८ पृष्ठोंमें पाठ्य सामग्री और ८ पृष्ठोंमें विषय-सूची आदि है। कई बहुरंगे तथा सादे चित्र भी दिये गये हैं।

२-जिन ग्राहकोंसे शुल्क-राशि अग्रिम मनीआर्डरद्वारा प्राप्त हो चुकी है, उन्हें विशेषाङ्क तथा मार्चतकका अङ्क रजिस्ट्रीद्वारा भेजा जा रहा है और जिनसे शुल्क-राशि यथासमय प्राप्त नहीं होगी, उन्हें उपर्युक्त अङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार वी०पी०पी० द्वारा भेजा जायगा। रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी०पी०पी० के द्वारा विशेषाङ्क भेजनेमें डाकखर्च आदि अधिक लगते हैं, अतः वार्षिक शुल्क-राशि मनीआर्डरद्वारा भेजनी चाहिये। 'कल्याण' का वर्तमान वार्षिक शुल्क डाकखर्च सहित ८०.०० (अस्सी रुपये) मात्र है, जो केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य है। सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १०.०० (दस रुपये) अतिरिक्त देय होगा।

३-ग्राहक सज्जन मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या या पुराना ग्राहक न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है, जिससे आपकी सेवामें 'धर्मशास्त्राङ्क' नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे रजिस्ट्रीद्वारा पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी०पी०पी० भी जा सकती है। वी०पी०पी० भेजनेकी प्रक्रिया प्रारम्भ होनेके बाद जिन ग्राहकोंका मनीआर्डर प्राप्त होगा, उनका समयसे समायोजन न हो सकनेके कारण हमारे न चाहते हुए भी विशेषाङ्क उन्हें वी०पी०पी० द्वारा जा सकता है। ऐसी परिस्थितिमें आप वी०पी०पी० छुड़ाकर किसी अन्य सज्जनको 'कल्याण' का नया ग्राहक बनानेकी कृपा करें। ऐसा करनेसे आप 'कल्याण' को आर्थिक हानिसे बचानेके साथ 'कल्याण'के पावन प्रचार-कार्यमें सहयोगी होंगे। ऐसे ग्राहकोंसे मनीआर्डरद्वारा प्राप्त राशि अन्य निर्देश न मिलनेतक अगले वर्षके वार्षिक शुल्कके निमित्त जमा कर ली जाती है। जिन्होंने वी०पी०पी० छुड़ाकर दूसरे सज्जनको ग्राहक बना दिया है, वे हमें तत्काल नये ग्राहकका नाम और पता, वी०पी०पी० छुड़ानेकी सूचना तथा अपने मनीआर्डर भेजनेका विवरण लिखनेकी कृपा करें, जिससे उनके आये मनीआर्डरकी जाँच करवाकर रजिस्ट्रीद्वारा उनका अङ्क तथा नये ग्राहकका अङ्क नियमितरूपसे भेजा जा सके।

४-इस अङ्कके लिफाफे (कवर)-पर आपकी ग्राहक-संख्या एवं पता छपा हुआ है, उसे कृपया जाँच लें तथा अपनी ग्राहक-संख्या सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री अथवा वी०पी०पी० का नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये। पत्र-व्यवहारमें ग्राहक-संख्याका उल्लेख नितान्त आवश्यक है; क्योंकि इसके बिना आपके पत्रपर हम समयसे कार्यवाही नहीं कर पाते हैं। डाकद्वारा अङ्कोंके सुरक्षित वितरणमें सही पिन-कोड-नम्बर आवश्यक है। अतः अपने लिफाफेपर छपा पता जाँच कर लें।

५-'कल्याण' एवं 'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग' की व्यवस्था अलग-अलग है। अतः पत्र तथा मनीआर्डर आदि सम्बन्धित विभागको पृथक्-पृथक् भेजने चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर) (उ०प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्म-विकासपर ही अवलम्बित है। आत्म-विकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता आदि दैवी गुणोंका ग्रहण और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा आदि आसुरी गुणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ और सरल उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ४८ वर्ष पूर्व 'साधक-संघ' की स्थापना की गयी थी। *इसका सदस्यता-शुल्क नहीं है।* सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम बने हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' *भेजा जाता है, सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको* 'साधक-दैनन्दिनी' का वर्तमान मूल्य रु० २.०० तथा डाकखर्च रु० १.०० —कुल रु० ३.०० मात्र, डाकटिकट या मनीआर्डरद्वारा अग्रिम भेजकर उन्हें मँगवा लेना चाहिये। संघके सदस्य इस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन साधन-सम्बन्धी अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया नियमावली निःशुल्क मँगवाइये।

पता—संयोजक, 'साधक-संघ' *पत्रालय—* गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस दोनों मङ्गलमय एवं दिव्यतम ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है तथा जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन *अमूल्य ग्रन्थोंका* समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक परिष्कृत करनेकी दृष्टिसे *श्रीमद्भगवद्गीता* और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग दस हजार परीक्षार्थियोंके लिये २०० परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, *पत्रालय*—स्वर्गाश्रम, *पिन*—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

* श्रीहरिः *

'धर्मशास्त्राङ्क'की विषय-सूची

[धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः]

धर्मशास्त्रोंका परिचय और उनके आख्यान—

श्रीविष्णु-स्तुति

नमामि सर्वं सर्वेशमनन्तमजमव्ययम्। लोकधाम धराधारमप्रकाशमभेदिनम्॥
नारायणमणीयांसमशेषाणामणीयसाम्। समस्तानां गरिष्ठं च भूरादीनां गरीयसाम्॥
यत्र सर्वं यतः सर्वमुत्पन्नं मत्पुरःसरम्। सर्वभूतश्च यो देवः पराणामपि यः परः॥
परः परस्मात् पुरुषात् परमात्मस्वरूपधृक्। योगिभिश्चिन्त्यते योऽसौ मुक्तिहेतोर्मुमुक्षुभिः॥
सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥
कलाकाष्ठामुहूर्तादिकालसूत्रस्य गोचरे। यस्य शक्तिर्न शुद्धस्य स नो विष्णुः प्रसीदतु॥
प्रोच्यते परमेशो हि यः शुद्धोऽप्युपचारतः। प्रसीदतु स नो विष्णुरात्मा यः सर्वदेहिनाम्॥
यः कारणं च कार्यं च कारणस्यापि कारणम्। कार्यस्यापि च यः कार्यं प्रसीदतु स नो हरिः॥
भोक्तारं भोग्यभूतं च स्रष्टारं सृज्यमेव च। कार्यकर्तृस्वरूपं तं प्रणताः स्म परं पदम्॥
विशुद्धबोधवन्नित्यमजमक्षयमव्ययम्। अव्यक्तमविकारं यत्तद्विष्णोः परमं पदम्॥
न स्थूलं न च सूक्ष्मं यन्न विशेषणगोचरम्। तत्पदं परमं विष्णोः प्रणमामः सदामलम्॥
यद्योगिनः सदोद्युक्ताः पुण्यपापक्षयेऽक्षयम्। पश्यन्ति प्रणवे चिन्त्यं तद्विष्णोः परमं पदम्॥
यन्न देवा न मुनयो न चाहं न च शंकरः। जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम्॥
शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाः। भवन्त्यभूतपूर्वस्य तद्विष्णोः परमं पदम्॥
सर्वेश सर्वभूतात्मन् सर्व सर्वाश्रयाच्युत। प्रसीद विष्णो भक्तानां व्रज नो दृष्टिगोचरम्॥

(श्रीविष्णुपुराण

[श्रीब्रह्माजी बोले—] जो समस्त अणुओंसे भी अणु और पृथिवी आदि समस्त गुरुओं (भारी पदार्थों)-भी गुरु (भारी) हैं, उन निखिललोकविश्राम, पृथिवीके आधारस्वरूप, अव्यक्त, अभेद, सर्वरूप, सर्वेश्वर, अनन्त अज और अविनाशी नारायणको मैं नमस्कार करता हूँ। मेरे सहित सम्पूर्ण जगत् जिनमें स्थित है, जिनसे उत्प हुआ है और जो देव सर्वभूतमय हैं तथा जो पर (प्रधानादि)-से भी पर हैं; जो पर पुरुषसे भी पर हैं, मुक्ति लाभके लिये मोक्षकामी मुनिजन जिनका ध्यान धरते हैं तथा जिन ईश्वरमें सत्त्वादि प्राकृतिक गुणोंका सर्वथ अभाव है, वे समस्त शुद्ध पदार्थोंसे भी परम शुद्ध परमात्मस्वरूप आदिपुरुष हमपर प्रसन्न हों। जिन शुद्धस्वरू भगवान्‌की शक्ति (विभूति) कला-काष्ठा-मुहूर्त आदि काल-क्रमका विषय नहीं है, वे भगवान् विष्णु हमप प्रसन्न हों। जो शुद्धस्वरूप होकर भी उपचारसे परमेश्वर (परमा=महालक्ष्मी+ईश्वर=पति) अर्थात् लक्ष्मीपति कहला हैं और जो समस्त देहधारियोंके आत्मा हैं, वे श्रीविष्णुभगवान् हमपर प्रसन्न हों। जो कारण और कार्यरूप हैं तथा कारणके भी कारण और कार्यके भी कार्य हैं, वे श्रीहरि हमपर प्रसन्न हों। जो भोक्ता और भोग्य, स्रष्टा और सृज्य तथा कर्ता और कार्यरूप स्वयं ही हैं, उन परमपदस्वरूपको हम प्रणाम करते हैं। जो विशुद्ध बोधसम्पन्न नित्य, अजन्मा, अक्षय, अव्यय, अव्यक्त और अविकारी है, वही विष्णुका परमपद (परस्वरूप) है। जो न स्थूल है, न सूक्ष्म और न किसी अन्य विशेषणका विषय है, वही भगवान् विष्णुका नित्य-निर्मल परमपद है हम उनको प्रणाम करते हैं। नित्य-युक्त योगिगण अपने पुण्य-पापादिका क्षय हो जानेपर ओंकारके माध्यमसे चिन्तनीय जिस अविनाशी पदका साक्षात्कार करते हैं, वही भगवान् विष्णुका परमपद है। जिसको देवगण, मुनिगण, शंकर और मैं—कोई भी नहीं जान सकते, वही परमेश्वर श्रीविष्णुका परमपद है। जिस अभूतपूर्व देवकी ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप शक्तियाँ हैं, वही भगवान् विष्णुका परमपद है। हे सर्वेश्वर! हे सर्वभूतात्मन्! हे सर्वरूप! हे सर्वाधार! हे अच्युत! हे विष्णो! हम भक्तोंपर प्रसन्न होकर हमें दर्शन दीजिये।

धर्मविग्रह भगवान् विष्णु

धर्मके मूल स्तम्भ—पञ्च महायज्ञ

धर्ममूर्ति भगवान् शङ्करद्वारा धर्मोपदेश

धर्मरक्षक एवं धर्मसंस्थापक योगेश्वर श्रीकृष्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
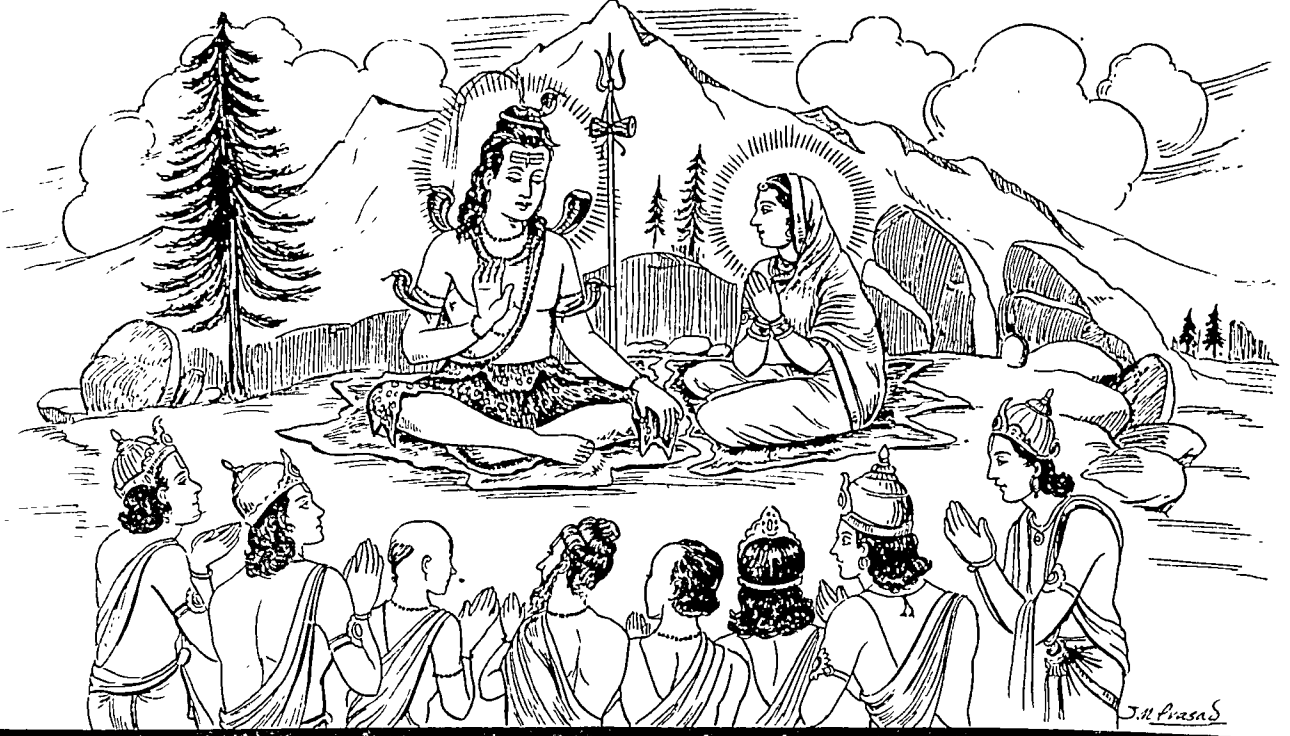
धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

वर्ष ७० | गोरखपुर, सौर माघ, वि० सं० २०५२, श्रीकृष्ण-सं० ५२२१, जनवरी १९९६ ई० | संख्या १ | पूर्ण संख्या ८३०

धर्म-संस्थापनके लिये भगवान्‌का प्रादुर्भाव

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः। तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः॥
न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते। आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः॥
यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि। अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते॥

[श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—] राजन्! जब-जब संसारमें धर्मका ह्रास और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि अवतार ग्रहण करते हैं। भगवान् सबके द्रष्टा और वास्तवमें असङ्ग आत्मा ही हैं। इसलिये उनकी आत्मस्वरूपिणी योगमायाके अतिरिक्त उनके जन्म अथवा कर्मका और कोई भी कारण नहीं है। उनकी मायाका विलास ही जीवके जन्म, जीवन और मृत्युका कारण है तथा उनका अनुग्रह ही मायाको अलग करके आत्मस्वरूपको प्राप्त करानेवाला है। (श्रीमद्भा० ९। २४। ५६—५८)

मङ्गलाचरण

'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'
'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'
'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'
'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'
'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'

श्रुति-संदेश

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

यह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकारसे सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्मसे पूर्ण ही है; क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्मकी पूर्णतासे जगत् पूर्ण होनेपर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बच रहता है।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

(ईशोपनिषत् १)

अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है, उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक [इसे] भोगते रहो; [इसमें] आसक्त मत होओ; [क्योंकि] धन—भोग्य-पदार्थ किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोपनिषत् २)

इस जगत्में शास्त्रनियत कर्मोंको [ईश्वरपूजार्थ] करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करनी चाहिये, इस प्रकार [त्यागभावसे, परमेश्वरके लिये] किये जानेवाले कर्म तुझ मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे इससे [भिन्न] अन्य कोई प्रकार अर्थात् मार्ग नहीं है [जिससे कि मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सके]।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोपनिषत् ८)

कार्यकारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर इस [जीवात्मा]-के हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳसत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति॥

(बृहदारण्यक० १। ४। १४)

धर्मसे उत्कृष्ट कुछ नहीं है। इसलिये जिस प्रकार राजाकी सहायतासे [प्रबल शत्रुको भी जीतनेकी शक्ति आ जाती है] उसी प्रकार धर्मके द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान्को जीतनेकी इच्छा करने लगता है। वह जो धर्म है, निश्चय सत्य ही है। इसीसे सत्य बोलनेवालोंको कहते हैं कि 'यह धर्ममय वचन बोलता है' तथा धर्ममय वचन बोलनेवालेसे कहते हैं कि 'यह सत्य बोलता है', क्योंकि ये दोनों धर्म ही हैं।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीय० १। ११। १)।

सत्य बोलो। धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायसे कभी न चूको। सत्यसे कभी नहीं डिगना चाहिये। धर्मसे नहीं डिगना चाहिये। शुभ कर्मोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये। उन्नतिके साधनोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये। देवकार्यसे और पितृकार्यसे कभी नहीं चूकना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

(तैत्तिरीय० १। ११। २)

तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो। पिताको देवरूप समझनेवाले होओ। आचार्यको देवरूप समझनेवाले बनो। अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले होओ। जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिये। दूसरे दोषयुक्त कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये। बिना श्रद्धाके नहीं देना चाहिये। आर्थिक स्थितिके अनुसार देना चाहिये। लज्जासे देना चाहिये। भयसे भी देना चाहिये और जो कुछ भी दिया जाय, वह सब विवेकपूर्वक देना चाहिये।

पुराणोंका माङ्गलिक सदाचार

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥

समस्त भूत-प्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं, यों अपने मनमें समझते हुए उन सबको इच्छानुसार वस्तुएँ देकर भलीभाँति सम्मानित करना चाहिये।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥

इन सब भूत-प्राणियोंमें सर्वेश्वर भगवान्ने ही अपने अंशभूत जीवके रूपमें प्रवेश किया है—यों मानकर सब प्राणियोंको अत्यन्त आदर देते हुए सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये।

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्॥
अतः सर्वेषु कार्येषु सत्यमेव विशिष्यते।

'सत्यसे बढ़कर धर्म और झूठसे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है' अत: सब कार्योंमें सत्यको ही श्रेष्ठ माना गया है।

न दयासदृशो धर्मो न दयासदृशं तपः।
न दयासदृशं दानं न दयासदृशः सखा॥

दयाके समान धर्म, दयाके समान तप, दयाके समान दान और दयाके समान कोई मित्र नहीं है।

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥

माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है, इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये। जो माता-पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसके द्वारा सातों द्वीपोंसे युक्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है।

पतिव्रता च या नारी पत्युर्नित्यं हिते रता।
कुलद्वयस्य पुरुषानुद्धरेत् सा शतं शतम्॥

जो पतिव्रता नारी प्रतिदिन अपने पतिके हितसाधनमें लगी रहती है, वह अपने पितृकुल और पतिकुल दोनों कुलोंकी सौ-सौ पीढ़ियोंका उद्धार कर देती है।

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

जो सैकड़ों योजन दूरसे भी 'गङ्गा-गङ्गा' कहता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो श्रीविष्णुलोकको प्राप्त होता है।

यथा वह्निप्रसङ्गाच्च मलं त्यजति काञ्चनम्॥
तथा सतां हि संसर्गात् पापं त्यजति मानवः॥

जैसे सुवर्ण अग्निके सम्पर्कमें आनेपर मैल त्याग देता है, उसी प्रकार मनुष्य संतोंके संगसे पापका परित्याग कर देता है।

नित्यं धर्मार्थकामेषु युज्येत नियतो द्विजः।
न धर्मवर्जितं काममर्थं वा मनसा स्मरेत्॥
सीदन्नपि हि धर्मेण न त्वधर्मं समाचरेत्।
धर्मो हि भगवान् देवो गतिः सर्वेषु जन्तुषु॥

द्विजको चाहिये कि वह सदा नियमपूर्वक रहकर धर्म, अर्थ और कामके साधनमें लगा रहे। धर्महीन काम या अर्थका कभी मनसे चिन्तन भी न करे। धर्मपर चलनेसे कष्ट हो, तो भी अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये, क्योंकि धर्मदेवता साक्षात् भगवान्के स्वरूप हैं, वे ही सब प्राणियोंकी गति हैं।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि नानृतं वा वदेत् क्वचित्।
नाहितं नाप्रियं वाच्यं न स्तेनः स्यात् कदाचन॥
तृणं वा यदि वा शाकं मृदं वा जलमेव वा।
परस्यापहरञ्जन्तुर्नरकं प्रतिपद्यते॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे। कभी झूठ न बोले। अहित करनेवाला तथा अप्रिय वचन मुँहसे न निकाले। कभी चोरी न करे। किसी दूसरेकी वस्तु—चाहे वह तिनका, साग, मिट्टी या जल ही क्यों न हो—चुरानेवाला मनुष्य नरकमें पड़ता है।

न चात्मानं प्रशंसेद्वा परनिन्दां च वर्जयेत्।
वेदनिन्दां देवनिन्दां प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥

देवता, गुरु और ब्राह्मणके लिये किये जानेवाले दानमें रुकावट न डाले। अपनी प्रशंसा न करे तथा दूसरेकी निन्दाका त्याग कर दे। वेदनिन्दा और देवनिन्दाका यत्नपूर्वक त्याग करे।

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाणीं मनःपूतं समाचरेत्॥

भलीभाँति देख-भालकर आगे पैर रखे। वस्त्रसे छानकर ल पिये। सत्यसे पवित्र हुई वाणी बोले तथा मनसे जो वित्र जान पड़े, उसीका आचरण करे।

संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्संगः शेवधिर्नृणाम्।
यस्मादवाप्यते सर्वं पुरुषार्थचतुष्टयम्॥

इस संसारमें यदि क्षणभरके लिये भी सत्संग मिल जाय । वह मनुष्योंके लिये निधिका काम देता है, क्योंकि उससे रों पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं।

परतापच्छिदो ये तु चन्दना इव चन्दनाः।
परोपकृतये ये तु पीड्यन्ते कृतिनो हि ते॥
सन्तस्त एव ये लोके परदुःखविदारणाः।
आर्तानामार्तिनाशार्थं प्राणा येषां तृणोपमाः॥
तैरियं धार्यते भूमिर्नरैः परहितोद्यतैः।
मनसो यत्सुखं नित्यं स स्वर्गो नरकोपमः॥
तस्मात् परसुखेनैव साधवः सुखिनः सदा।

जो चन्दनवृक्षकी भाँति दूसरोंके तापको दूर करके उन्हें ह्लादित करते हैं तथा जो परोपकारके लिये स्वयं कष्ट ठाते हैं, वे ही पुण्यात्मा है। संसारमें वे ही संत हैं, जो सरोंके दुःखोंका नाश करते हैं तथा पीड़ित जीवोंकी पीड़ा करनेके लिये जिन्होंने अपने प्राणोंको तिनकेके समान छावर कर दिया है। जो मनुष्य सदा दूसरोंकी भलाईके ये उद्यत रहते हैं, उन्होंने ही इस पृथ्वीको धारण कर वा है। जहाँ सदा अपने मनको ही सुख मिलता है, वह र्ग भी नरकके ही समान है, अतः साधु पुरुष सदा सरोंके सुखसे ही सुखी होते हैं।

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥
असंतोषः परं दुःखं संतोषः परमं सुखम्।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात् संतुष्टः सततं भवेत्॥

संतोषरूपी अमृतसे तृप्त एवं शान्त चित्तवाले पुरुषोंको सुख प्राप्त है, वह धनके लोभसे इधर-उधर दौड़नेवाले लोगोंको कहाँसे प्राप्त हो सकता है। असंतोष ही सबसे बढ़कर दुःख है और संतोष ही सबसे बड़ा सुख है, अतः सुख चाहनेवाले पुरुषको सदा संतुष्ट रहना चाहिये।

अवमाने न कुप्येत सम्माने न प्रहृष्यति।
समदुःखसुखो धीरः प्रशान्त इति कीर्त्यते॥
सुखं ह्यवमतः शेते सुखं चैव प्रबुध्यति।
श्रेयस्करमतिस्तिष्ठेदवमन्ता विनश्यति॥
अवमानी तु न ध्यायेत् तस्य पापं कदाचन।
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य परधर्मं न दूषयेत्॥

जो अपना अपमान होनेपर क्रोध नहीं करता और सम्मान होनेपर हर्षसे फूल नहीं उठता, जिसकी दृष्टिमें दुःख और सुख समान हैं, उस धीर पुरुषको प्रशान्त कहते हैं। जिसका अपमान होता है, वह साधु पुरुष तो सुखसे सोता और सुखसे जागता है तथा उसकी बुद्धि कल्याणमयी होती है। परंतु अपमान करनेवाला मनुष्य स्वयं नष्ट हो जाता हैं। अपमानित पुरुषको चाहिये कि वह कभी अपमान करनेवालेकी बुराई न सोचे। अपने धर्मपर दृष्टि रखते हुए भी दूसरोंके धर्मकी निन्दा न करे।

सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला
या माधवव्यापिनी।
सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहु-
र्या स्तौति नारायणम्॥

वही बुद्धि निर्मल और चन्द्रमा तथा शङ्खके समान उज्ज्वल है, जो सदा भगवान् माधवके चिन्तनमें संलग्न रहती है तथा वही जिह्वा मधुरभाषिणी है, जो बारम्बार भगवान् नारायणका स्तवन किया करती है।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है या जो सब कुछ पानेकी कामनावाला है अथवा जो उदारबुद्धि पुरुष केवल मोक्षकी ही कामना रखता है, सबको तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान् श्रीहरिकी ही आराधना करनी चाहिये।

शास्त्रोंमें धर्मका महत्त्व

सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि तच्च धर्मसमुद्भवम्। तस्माद्धर्मः सदा कार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः॥
धर्महानिर्न कर्तव्या कर्तव्यो धर्मसंग्रहः। धर्माधर्मौ हि सर्वेषां सुखदुःखोपपादकौ॥
यो यस्य विहितो धर्मस्तेन धर्मेण कारयेत्। विपरीतं चरेद् यस्तु किल्बिषी स निगद्यते॥
धर्मे वर्धति वर्धन्ते सर्वभूतानि सर्वदा। तस्मिन् ह्रसति ह्रीयन्ते तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्। अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम्॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥
अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥
धर्मं शनैः संचिनुयाद वल्मीकमिव पुत्तिकाः। परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ। विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः। शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः। धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः। परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥

दाराः पुत्रा धनं वा परिजनसहितो बन्धुवर्गः प्रियो वा
माता भ्राता पिता वा श्वशुरकुलजना भृत्य ऐश्वर्यवित्ते।
विद्या रूपं विमलभवनं यौवनं यौवतं वा
सर्वं व्यर्थं मरणसमये धर्म एकः सहायः॥

जलबुद्बुदसंकाशं वर्ष्मैतत् कथितं बुधैः। न हि प्रमाणं जन्तूनामुत्तरक्षणजीवने॥
तस्मादात्महितं नित्यं चिन्तयन्नेव तच्चरेत्॥

सुखकी अभिलाषा सभी रखते हैं, परंतु वह सुख धर्माचरणसे ही प्राप्त होता है, अतः सभी वर्णवालोंको प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने धर्मका सदा पालन करना चाहिये। व्यक्तिको किसी भी प्रकार धर्मकी हानि नहीं करनी चाहिये, अपितु निरन्तर धर्माचरणद्वारा धर्मका ही संचय करना चाहिये; क्योंकि धर्म और अधर्म ही सबको सुख एवं दुःख प्राप्त करानेवाले हैं। शास्त्रोंमें चारों वर्णो तथा चारों आश्रमोंके लिये जो धर्म-मर्यादा प्रतिपादित की गयी है, उसका अवश्य प्रतिपादन करना चाहिये, क्योंकि वही उसका शास्त्रप्रतिपादित स्वधर्म है। इसके विपरीत जो आचरण करता है, वह पापका भागी बनता है, अतः स्वधर्मका पालन ही परम श्रेयस्कर है। धर्मकी वृद्धि होनेपर सदा समस्त प्राणियोंका अभ्युदय होता है और उसका ह्रास होनेपर सबका ह्रास हो जाता है, अतः धर्मका कभी लोप नहीं होने देना चाहिये। अधर्माचारी पापियोंका शीघ्र नाश होता देखकर (अर्थात् उन्हें दुर्दशापन्न देखकर) धर्माचरणसे दुःख पाता हुआ भी मनुष्य अधर्ममें मन न लगाये। किया हुआ पाप पृथ्वीमें बोये हुए बीजकी भाँति तत्काल फल नहीं देता, किंतु धीरे-धीरे फलित होनेका समय आनेपर पापकर्ताका मूलोच्छेदन कर देता है। अधर्मसे पहले कुछ समयतक तो वृद्धि होती है और उससे सभी प्रकारके वैभव भी दिखायी देते हैं तथा उससे शत्रुओंपर विजय भी प्राप्त होती है फिर उसके बाद उसका समूल विनाश हो जाता है। [मानव] सभी प्राणियोंको पीड़ा न देता हुआ परलोकमें सहायता पहुँचानेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार धीरे-धीरे धर्मका संचय उसी प्रकार करे जैसे दीमक धीरे-धीरे

धर्मशास्त्र-सुभाषित-सुधानिधि

जितेन्द्रियः स्यात् सततं वश्यात्माक्रोधनः शुचिः।
प्रयुञ्जीत सदा वाचं मधुरां हितभाषिणीम्॥

(औशनस, स्मृति ३। १५)

आत्मकल्याणकामी व्यक्तिको चाहिये कि वह निरन्तर इन्द्रियोंको अपने वशमें रखकर जितेन्द्रिय रहे। मनके वशमें न होकर आत्माके वशमें रहे। क्रोध न करे, सदा बाह्याभ्यन्तर-पवित्र रहे और सदा ऐसी वाणी बोले जो मधुर एवं हित करनेवाली हो अर्थात् परुष (कठोर) एवं अकल्याणकारिणी वाणी न बोले।

भूताभयप्रदानेन सर्वकामानवाप्नुयात्।
दीर्घमायुश्च लभते सुखी चैव तथा भवेत्॥

(संवर्त० ५३)

सभी प्राणियोंको अभय प्रदान करनेसे सभी कामनाओंकी प्राप्ति हो जाती है, दीर्घ आयु प्राप्त होती है और परम सुख प्राप्त होता है।

यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्मः।

(आप० धर्मसूत्र ७। ७)

सत्पुरुष जिस आचारका स्वयं पालन करते हुए प्रशंसा करते हैं, उसका अनुमोदन करनेका परामर्श देते हैं, वह धर्म है और जिस आचारकी निन्दा करते हैं तथा स्वयं भी उसका आचरण नहीं करते, वह अधर्म है।

हृष्टो दर्पति दृप्तो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरकः।

(आप० धर्म० ४। ४)

अर्थात् किसी भी कार्यके सिद्ध हो जानेपर हर्षातिरेकसे प्रफुल्लित नहीं होना चाहिये, क्योंकि हर्षोद्रेकमें दर्प या अहंकारका प्रवेश हो जाता है और इससे पूज्य-अपूज्य तथा कार्य-अकार्यका ठीक निर्णय नहीं हो पाता, इस कारण उसे प्रमाद हो जाता है। ऐसे प्रमत्त एवं दृप्त व्यक्तिके द्वारा धर्मका अतिक्रमण हो जाता है, जिससे इस लोकमें तो पतन हो ही जाता है, परलोकमें भी नरककी प्राप्ति होती है, अतः नित्य समत्व-योगकी स्थितिमें रहना चाहिये।

त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति। माता पिता आचार्यश्च। तेषां नित्यमेव शुश्रूषुणा भवितव्यम्। यत् ते ब्रूयुस्तत् कुर्यात्। तेषां प्रियहितमाचरेत्। न तैरननुज्ञातः किञ्चिदपि कुर्यात्। (अ० ३१)

माता-पिता और आचार्य—ये तीन पुरुषके अतिगुरु कहलाते हैं। इसलिये नित्य उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। जो वे कहें, वही करना चाहिये। सर्वदा उनका प्रिय और हितकारी कार्य करना चाहिये। बिना उनकी आज्ञाके कुछ भी नहीं करना चाहिये।

गवां हि तीर्थे वसतीह गङ्गा
पुष्टिस्तथा सा रजसि प्रवृद्धा।
लक्ष्मीः करीषे प्रणतौ च धर्म-
स्तासां प्रणामं सततं च कुर्यात्॥

(विष्णुस्मृति अ० २३)

गोमूत्रमें गङ्गाजीका वास है, इसी प्रकार गोधूलिमें अभ्युदयका निवास तथा गोमयमें लक्ष्मीका निवास है और उनके प्रणाम करनेमें सर्वोपरि धर्मका पालन हो जाता है, अतः उन्हें निरन्तर प्रणाम करते रहना चाहिये।

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

(आप० स्मृति १०। ११)

परायी स्त्रीको माताके समान, परद्रव्यको मिट्टीके ढेलेके समान और सभी प्राणियोंको अपने ही समान जो व्यक्ति देखता है, समझता है, वही वास्तवमें सच्चा आत्मद्रष्टा है।

सतीव प्रियभर्तारं जननीव स्तनन्धयम्।
आचार्यं शिष्यवन्मित्रं मित्रवत् लालयेद्धरिम्॥
स्वामित्वेन सुहृत्त्वेन गुरुत्वेन च सर्वदा।
पितृत्वेन समाभाव्यो मातृभावेन माधवः॥

(शाण्डिल्य० ४। ३५-३६)

जैसे पतिव्रता स्त्री अपने प्रियतम पतिकी सर्वतोभावेन सेवा करती है, जैसे माता अपने लाडले दुधमुँहे बच्चेका पालन करती है, जैसे सत्-शिष्य अपने आचार्यके प्रति श्रद्धा एवं आदरभाव रखता है और जैसे एक अच्छा मित्र अपने अच्छे मित्रका सब प्रकार खयाल रखता है, उसी

भक्तको भी भगवान्की शुद्ध, निःस्वार्थ, निश्छल और ी भक्ति करनी चाहिये। भगवान्को ही अपना स्वामी, गुरु, माता-पिता सब कुछ समझकर उनकी सेवा चाहिये।

देवप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा त्रिदण्डिनम्।
नमस्कारं न कुर्वीत प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥

(व्याघ्र० ३६६)

ो व्यक्ति देवालय या देवप्रतिमाको, संन्यासीको, डी स्वामीको देखकर उन्हें प्रणाम नहीं करता है, वह ानका भागी होता है।

जन्मप्रभृति यत्किंचित् सुकृतं समुपार्जितम्।
तत्सर्वं निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात्॥

(व्याघ्र० ३६७)

क हाथसे अभिवादन कभी नहीं करना चाहिये। जो करता है, उसका यावज्जीवन जो कुछ भी पुण्यार्जन रहता है, वह सब निष्फल हो जाता है। अर्थात् एक प्रणाम करनेपर जीवनभरका सारा पुण्य समाप्त हो है। अतः दोनों हाथोंसे बड़ी ही नम्रता एवं श्रद्धा- े अभिवादन करना चाहिये।

दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठति।
यो यस्यान्नं समश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम्॥

(आङ्गिरस० ५८)

नुष्य जो दुष्कृत करता है, निन्दनीय कर्म करता है ससे जो उसका पाप-फल बनता है, वह पाप उसके आश्रय करके टिका रहता है, इसलिये ऐसे ारी, दुष्कर्मीका अन्न ग्रहण करनेसे उसके पापका ही होता है, ऐसा अन्न भक्षण करनेसे वह भी पापाचारी ाता है, अतः ऐसे लोगोंका अन्न ग्रहण नहीं करना ।

न देवबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत्।
अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा दहते कर्म नेतरत्॥

(अंगिरा० १२०)

ोई भी व्यक्ति 'देवताओंके बल' एवं 'शास्त्रोंके बल' 'बादमें मैं इसका प्रायश्चित्त कर लूँगा'—ऐसा समझकर पापकर्ममें प्रवृत्त न होवे, क्योंकि इस प्रकार करनेमे वह कर्म देवापराध, शास्त्रापराध अथवा प्रायश्चित्त-सम्बन्धी अपराध बन जाता है। निन्द्य कर्म चाहे अज्ञानमें बन पड़े या प्रमादसे हो जाय, तो भी वह जला ही डालता है। अतः व्यवहारमें बहुत ही सावधानी रखनी चाहिये।

प्रज्ञानैरपि विद्वद्भिः शक्यमन्यत् प्रभाषितुम्॥
स्वाभिप्रायकृतं कर्म विधिविज्ञानवर्जितम्।
क्रीडाकर्मेव बालानां तत्सर्वं स्यान्निरर्थकम्॥

(उत्तराङ्गि० १। ९-१०)

बुद्धिवादी विद्वान् धर्मशास्त्रोंमें वर्णित विधानोंके अतिरिक्त भी कुछ धर्ममर्यादा दे सकते हैं, किंतु वह मर्यादा या व्यवस्था और उनका वह कर्म उनके अपने अभिप्रायके अनुरूप होनेके कारण (मनमाना अपने अनुकूल होनेके कारण) तथा विधि-विधानसे विपरीत होनेके कारण बालकोंकी क्रीडाके समान निरर्थक ही है, अतः धर्म-कर्मके निर्णयमें धर्मशास्त्रोंका निर्णय ही सर्वमान्य है, न कि किसी बुद्धिवादी व्यक्तिका अभिमत।

हितं श्रेयस्करं भूरि कर्म कार्यं मनीषिभिः॥

(लौगाक्षि० पृ० २७३)

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि जो कार्य सब प्रकारसे मङ्गलजनक हो, परम कल्याणकारी हो, वही कार्य बार-बार अथवा निरन्तर करना चाहिये।

त्यजेत् पर्युषितं पुष्पं त्यजेत् पर्युषितं जलम्।
न त्यजेज्जाह्नवीतोयं तुलसीदलपङ्कजम्॥

(प्रजा० १०८)

बासी (पर्युषित) पुष्प तथा बासी जलका प्रयोग देवपूजन तथा श्राद्धादि कर्ममें नहीं करना चाहिये, किंतु गङ्गाजल तथा तुलसीदल या तुलसी-पुष्पमें बासीपनका दोष नहीं होता, अतः ये सदा ग्राह्य हैं।

भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम्॥
नरकं पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत्॥

(दक्ष० २। ३०-३१)

जो अपने आश्रित हों, ऐसे पोष्यवर्गका भरण-पोषण करना अत्यन्त प्रशस्त कर्म है; वह स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला

है। आश्रितजनोंको पीडा पहुँचाना, दुःखी करना, उनका पालन-पोषण न करना नरक-प्राप्तिका हेतु है, इसलिये उनकी उपेक्षा न कर अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक पोष्यवर्गका भरण-पोषण करना चाहिये।

जीवत्येकः स लोकेषु बहुभिर्योऽनुजीव्यते।
जीवन्तोऽपि मृताश्चान्ये पुरुषा स्वोदरम्भराः॥

(दक्ष० २। ४०)

जो पुरुष इस लोकमें अनेक व्यक्तियोंकी जीविका चलाता है, उसीका जीवन सफल है। अन्य लोग जो केवल अपना ही पेट भरते हैं, वे जीते-जी मरे हुएके समान हैं, उनका जीना न जीना बराबर ही है।

मातापित्रोर्गुरौ मित्रे विनीते चोपकारिणि।
दीनानाथविशिष्टेभ्यो दत्तं तु सफलं भवेत्॥

(दक्ष० ३। १५)

माता, पिता, गुरु, मित्र, विनयी, उपकारी, दीन, अनाथ तथा साधु-संत-महात्माजनोंको जो कुछ भी दिया जाता है, वह सफल एवं अक्षय होता है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

(याज्ञ० गृहस्थ० ५। १२२)

मन, वाणी तथा कर्मसे किसी भी प्रकार किसीके भी प्रति हिंसाका भाव न रखना, यथार्थ भाषण, चोरी न करना, बाह्याभ्यन्तर-शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, अन्तःकरणका संयम, दया, क्षान्ति—ये सभीके लिये सामान्य धर्मसाधन हैं।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥

(महाभा०, शा० प० १६२। २१)

मन, वाणी और क्रियाद्वारा सभी प्राणियोंके साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है।

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥

(याज्ञ०, श्राद्धप्रकरण १०। २७०)

श्राद्धादि कर्ममें प्रदत्त अन्नादिसे प्रसन्न हुए पिता-पितामहादि श्राद्धकर्ताको दीर्घ आयु, संतान, अखण्ड ऐश्वर्य, विद्या, अनेक प्रकारके सुख, राज्य, स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करते हैं।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाऽऽश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्॥

(वा० रा० २। १०९। १३-१४)

जगत्में सत्य ही ईश्वर है, सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है। सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आश्रय सत्य है, इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। १३-२०)

[भगवान् अर्जुनसे बोले]—जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें

दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है। जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है—वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोका त्यागी है—वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको *समान समझनेवाला, मननशील और जिस-किसी प्रकारसे* भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है। परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेम-भावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६। १—३)

भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २३-२४)

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही। इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

हे अर्जुन! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

(गीता १८। ४७)

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको

नहीं प्राप्त होता।

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्॥

(महाभा०, शा० प० १७५। १५)

कल किया जानेवाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिये। जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये, क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं।

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति॥

(महाभा०, शा० प० २७७। १९-२०)

मनुष्य सोचता है कि यह काम तो मैंने कर लिया, इस कामको अभी करना है और यह दूसरा कार्य कुछ हदतक हो गया है और शेष बाकी पड़ा है। इस प्रकार मनसूबे बाँधनेमें लगे हुए उस मनुष्यको मौत लेकर चल देती है।

भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः।
छाया स्वा दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम्॥

(महाभा०, शा० प० २४३। २०)

बड़ा भाई पिताके समान है। पत्नी और पुत्र अपने ही शरीर हैं तथा सेवकगण अपनी छायाके समान हैं। बेटी तो और भी अधिक दयनीय है।

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत्।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति॥
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते॥

(महाभा०, शा० प० २६६। ६९-७०)

चिरकालतक सोच-विचार करके किसीके साथ मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये। यदि छोड़नेकी आवश्यकता पड़ ही जाय तो उसके परिणामपर चिरकालतक विचार कर लेना चाहिये। दीर्घकालतक सोच-विचार करके बनाया हुआ जो मित्र है, उसीकी मैत्री चिरकालतक टिक पाती है। राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण और किसीका अप्रिय करनेमें जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है।

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकांक्षया॥

(महाभा०, शा० प० २९२। १९)

धर्मका पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है। जो अधर्मसे प्राप्त होता है, वह धन तो धिक्कार देने योग्य है। संसारमें धनकी इच्छासे शाश्वत धर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत्॥

(महाभा०, वनपर्व २०७। ४३)

प्रिय वस्तुकी प्राप्ति होनेपर हर्षसे फूल न उठे, अपने मनके विपरीत कोई बात हो जाय तो दुःख न माने—चिन्तित न हो, अर्थसंकट आ जाय तो भी मोहके वशीभूत हो घबराये नहीं और किसी भी अवस्थामें अपना धर्म न छोड़े।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

(महाभा०, उद्योग० ३६। ३०)

सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये।

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत नानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥

(वसिष्ठस्मृति ३०। १)

धर्मका ही आचरण करो अधर्मका नहीं। सदा सत्य ही बोलो, असत्य कभी मत बोलो। दूरदर्शी बनो, सोच-विचारकर विवेकपूर्वक धर्माधर्मका निर्णय करो। ह्रस्व अर्थात् संकीर्ण न बनो, उदार बनो। जो परसे भी परे परात्पर तत्त्व है, उसी तत्त्वपर सदा दृष्टि रखो, तदतिरिक्त अर्थात् परमात्मासे भिन्न मायामय किसी भी वस्तुपर दृष्टि मत रखो।

प्रसाद

'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'
'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'
'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'
'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'
'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'
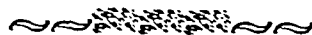
धर्ममूर्ति भगवान् सदाशिवके धर्मोपदेश

आदिदेव भगवान् शिव पूर्ण परब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। वे ही समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर इस जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि करते हैं। वे सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्त, अविनाशी, निर्गुण-निराकार तथा सगुण-साकार हैं। वे ही सम्पूर्ण विद्याओंके ईश्वर तथा समस्त प्राणियोंके अधीश्वर हैं—'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्।' वे धर्मस्वरूप हैं और धर्मकी मर्यादा स्थिर करते हैं। उन्हींसे कल्याण-मङ्गलरूप परम शिवधर्मका प्रादुर्भाव हुआ है। भगवान् शिवकी अचिन्त्य शक्ति व्यक्तरूपमें उमा, पार्वती इत्यादि नामोंसे अभिहित हैं। वे दोनों धर्मके मूलतत्त्व *श्रद्धा-विश्वासके रूपमें अधिष्ठित हैं। भगवान्* शिव समस्त चराचर जगत्के पिता और भगवती उमा जगज्जननी हैं। धर्मरूप वृष ही उनका अधिष्ठान है अर्थात् वे धर्मको स्थिर कर प्रतिष्ठित रहते हैं। भगवान् शिवके उपदेश बड़े ही कल्याण—मङ्गलकारी हैं। वैसे तो वे ही समस्त शास्त्रों तथा समस्त विद्याओंके उपदेष्टा हैं तथापि महर्षि वेदव्यासजीकी वाणीमें जगज्जननी मा पार्वतीको जो महाभारतमें उनके दिये धर्मोपदेश गुम्फित हैं, उन्हें यहाँ सार-रूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है। इनके अनुपालनसे महान् लाभ हो सकता है। वे उपदेश इस प्रकार हैं—

अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसा परमं सुखम्।
अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम्॥

[भगवान् शिवने पार्वतीजीसे कहा—देवि!] अहिंसा परम धर्म है। अहिंसा परम सुख है। सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंमें अहिंसाको परमपद बताया गया है।

अहिंसा सत्यवचनमक्रोधः क्षान्तिरार्जवम्।
गुरूणां नित्यशुश्रूषा वृद्धानामपि पूजनम्॥
शौचादकार्यसंत्यागः सदा पथ्यस्य भोजनम्।
एवमादिगुणं वृत्तं नराणां दीर्घजीविनाम्॥

अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोधका त्याग, क्षमा, सरलता, गुरुजनोंकी नित्य सेवा, बड़े-बूढ़ोंका पूजन, पवित्रताका ध्यान रखकर न करने योग्य कर्मोंका त्याग, सदा ही पथ्य भोजन इत्यादि गुणोंवाले आचारका पालन करनेवाले मनुष्य दीर्घजीवी होते हैं।

स्वर्गे वा मानुषे वापि चिरं तिष्ठन्ति धार्मिकाः॥
अपरे पापकर्माणः प्रायशोऽनृतवादिनः।
हिंसाप्रिया गुरुद्विष्टा निष्क्रियाः शौचवर्जिताः॥
नास्तिका घोरकर्माणः सततं मांसपानपाः।
पापाचारा गुरुद्विष्टाः कोपनाः कलहप्रियाः॥
एवमेवाशुभाचारास्तिष्ठन्ति निरये चिरम्।
तिर्यग्योनौ तथात्यन्तमल्पास्तिष्ठन्ति मानवाः॥

धर्मात्मा पुरुष स्वर्गमें हो या मनुष्यलोकमें, वे दीर्घकालतक अपने पदपर बने रहते हैं। इनके सिवा दूसरे जो पापकर्मी प्रायः झूठ बोलनेवाले, हिंसाप्रेमी, गुरुद्रोही, अकर्मण्य, शौचाचारसे रहित, नास्तिक, घोरकर्मी, सदा मांस खाने और मद्य पीनेवाले, पापाचारी, गुरुसे द्वेष रखनेवाले, क्रोधी और कलहप्रेमी हैं, ऐसे असदाचारी पुरुष चिरकालतक नरकमें पड़े रहते हैं तथा तिर्यग्योनिमें स्थित होते हैं, वे मनुष्य-शरीरमें अत्यन्त अल्प समयतक ही रहते हैं।

सर्वभूतेषु यः सम्यग् ददात्यभयदक्षिणाम्।
हिंसादोषविमुक्तात्मा स वै धर्मेण युज्यते॥
सर्वभूतानुकम्पी यः सर्वभूतार्जवव्रतः।
सर्वभूतात्मभूतश्च स वै धर्मेण युज्यते॥

जो हिंसा-दोषसे मुक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान कर देता है, उसीको धर्मका फल प्राप्त होता है। जो सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करता, सबके साथ सरलताका बर्ताव करता और समस्त भूतोंको आत्मभावसे देखता है, वही धर्मके फलसे युक्त होता है।

पात्रमित्येव दातव्यं सर्वस्मै धर्मकांक्षिभिः।
आगमिष्यति यत् पात्रं तत् पात्रं तारयिष्यति॥

धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि अपने घरपर आये हुए सभी अतिथियोंको दानका उत्तम पात्र समझकर दान दें। उन्हें यह विश्वास रखना चाहिये कि आज जो पात्र आयेगा, वह हमारा उद्धार कर देगा।

नास्ति भूमौ दानसमं नास्ति दानसमो निधिः।
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्॥

इस पृथ्वीपर दानके समान कोई दूसरी वस्तु नहीं है। दानके समान कोई निधि नहीं है। सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और असत्यसे बढ़कर कोई पातक नहीं है।

शुश्रूषन्ते ये पितरं मातरं च गृहाश्रमे॥
भर्तारं चैव या नारी अग्निहोत्रं च ये द्विजाः।
तेषु तेषु च प्रीणन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः॥
पितरः पितृलोकस्थाः स्वधर्मेण स रज्यते।

जो लोग गृहस्थाश्रममें रहकर माता-पिताकी सेवा करते हैं, जो नारी पतिकी सेवा करती है तथा जो ब्राह्मण नित्य अग्निहोत्र कर्म करते हैं, उन सबपर इन्द्र आदि देवता, पितृलोकनिवासी पितर प्रसन्न होते हैं एवं वह पुरुष अपने धर्मसे आनन्दित होता है।

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः॥
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः।

जैसे सभी जीव माताका सहारा लेकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रमका आश्रय लेकर ही जीवन-यापन करते हैं।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
नास्ति तृष्णासमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।
सर्वान् कामान् परित्यज्य ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

भोगोंकी तृष्णा कभी भोग भोगनेसे शान्त नहीं होती, अपितु घीसे प्रज्वलित होनेवाली आगके समान अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। तृष्णाके समान कोई दुःख नहीं है, त्यागके समान कोई सुख नहीं है। समस्त कामनाओंका परित्याग करके मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है।

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते।
आर्जवेनेह संयुक्तो नरो धर्मेण युज्यते॥
क्षान्तो दान्तो जितक्रोधो धर्मभूतो विहिंसकः।
धर्मे रतमना नित्यं नरो धर्मेण युज्यते॥
व्यपेततन्द्रिर्धर्मात्मा शक्त्या सत्पथमाश्रितः।
चारित्रपरमो बुद्धो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

सरलताको धर्म कहते हैं और कुटिलताको अधर्म। सरलभावसे युक्त मनुष्य ही यहाँ धर्मके फलका भागी होता है। क्षमाशील, जितेन्द्रिय, क्रोधविजयी, धर्मनिष्ठ, अहिंसक और सदा धर्मपरायण मनुष्य ही धर्मके फलका भागी होता है। जो पुरुष आलस्यरहित, धर्मात्मा, शक्तिके अनुसार श्रेष्ठ मार्गपर चलनेवाला, सच्चरित्र और ज्ञानी होता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है।

आत्मसाक्षी भवेन्नित्यमात्मनस्तु शुभाशुभे।
मनसा कर्मणा वाचा न च कांक्षेत पातकम्॥
यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते।
स्वकृतस्य फलं भुंक्ते नान्यस्तद्भोक्तुमर्हति॥

अपने शुभ और अशुभ कर्ममें सदा अपने-आपको ही साक्षी माने और मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा कभी पाप करनेकी इच्छा न करे। [श्रीमहेश्वरने कहा—देवि!] जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है। वह अपने किये हुएका फल स्वयं ही भोगता है, दूसरा कोई उसे भोगनेका अधिकारी नहीं है।
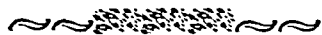
अव्याहतं व्याहताच्छ्रेय आहुः सत्यं वदेद् व्याहतं तद् द्वितीयम्।
वदेद् व्याहतं तत् तृतीयं प्रियं धर्मं वदेद् व्याहतं तच्चतुर्थम्॥

व्यर्थ बोलनेकी अपेक्षा मौन रहना अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है)। सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है। प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। धर्मसम्मत बोलना वाणीकी चौथी विशेषता है (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है)। (महाभा०, शा० २९९। ३८)
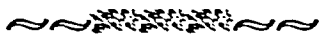
भगवान् विष्णुकी सहिष्णुता—एक आदर्श धर्म

इस वैर-भावनासे विपक्षीका अमङ्गल तो उसके प्रारब्धमें होनेपर ही होता है, पर अपना अनिष्ट अवश्य होता है। रात-दिन द्वेषकी अग्निमें हृदय जला करता है, सारी शान्ति समाप्त हो जाती है और येन-केन-प्रकारेण अपना अनिष्ट करके भी विपक्षीका अमङ्गल कर डालनेको मन व्यग्र हो उठता है। इस अमङ्गल-भावनामें ही बड़े-बड़े राष्ट्र और जातियाँ समाप्तप्राय हो जाती हैं, फिर एक मानवकी तो बात ही क्या है!

इसीके स्थानपर जब सहिष्णुता आ जाती है, तब क्रोध, वैर, द्वेष, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा आदि दुर्गुणोंके सूखे रेगिस्तानमें भी स्नेहकी एक अमियधारा फूट पड़ती है। शान्तिका साम्राज्य छा जाता है और सर्वत्र सुख-ही-सुख आ पहुँचता है।

स्वयं भगवान् विष्णुका जगत्के इतिहासमें क्षमा और सहिष्णुताके लिये बड़ा ही ऊँचा स्थान है। एक छोटा-सा आख्यान है। एक बार महर्षि भृगु शिवलोक, ब्रह्मलोक आदिसे घूमते-घूमते और बड़े-बड़े देवताओंके क्रोधका परीक्षण करते-करते विष्णुलोकमें पहुँचे। उस समय भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीकी गोदमें मस्तक रखकर लेटे हुए थे। भृगुजीने पहुँचते ही उनके वक्षःस्थलपर खूब जोरसे एक लात मार दी। लात लगते ही विष्णुभगवान् उठकर बैठ गये और महर्षिके चरण अपने करकमलोंमें लेकर सहलाने लगे। सहलाते हुए बड़ी नम्रतासे बोले—'नाथ! मेरा वक्षःस्थल तो बड़ा कठोर है और आपके चरण अत्यन्त सुकोमल हैं, कहीं चोट तो नहीं लग गयी? आप मुझे क्षमा कर दें, आजसे मैं सदाके लिये आपका चरणचिह्न अपने वक्षःस्थलपर आभूषणकी भाँति सुसज्जित रखूँगा।' भगवान्के वक्षःस्थलपर नित्य विराजित चिह्नका नाम ही 'भृगुलता' है।

भृगुजी तो उनकी क्षमाशीलताकी परीक्षा करने आये थे, पर भगवान् विष्णुका यह व्यवहार देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये और गद्गद होकर भगवान्के चरणोंमें लोटकर प्रार्थना करने लगे—'नाथ! आप चाहते तो मुझे कड़े-से-कड़ा दण्ड दे सकते थे। उसके स्थानपर आपने कैसा विलक्षण व्यवहार किया। धन्य है आपकी यह महानता, यह क्षमा और सहिष्णुताका उच्च आदर्श।' इसपर भगवान् विष्णुने उनके चरण पलोटकर उनके हृदयपर ही क्या, सम्पूर्ण विश्वके धरातलपर एक ऐसी अमिट छाप लगा दी, जो सहिष्णुताको सदा-सर्वदा बहुत ऊँचा स्थान देती रहेगी तथा समभावमें स्थित रहनेकी प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।
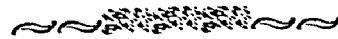
सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः। सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्। सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

सत्पुरुषोंमें सदा सत्यरूप धर्मका ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्यको ही सदा सिर झुकाना चाहिये, क्योंकि सत्य ही जीवकी परमगति है। सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्यको ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्यपर ही टिका हुआ है। (महाभा०, शा० १६२। ४-५)
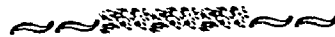
सत्य-धर्म और उसके आदर्श श्रीराम

अभ्युदय तथा नि:श्रेयसका साधन धर्म चार पुरुषार्थोंमें प्रधान माना जाता है। धर्म मोक्षका प्रधान साधन है। अर्थ एवं कामकी भी वास्तविक सिद्धि धर्मसे ही होती है। इस धर्मकी भारतीय शास्त्रोंमें अनेकविध परिभाषाएँ दी गयी हैं, जिनमें त्रिवर्गसागर धर्मको जीवका प्रेरक माना गया है। सभी उसे श्रेय-प्रेयका आधार और सुखका मूल स्वीकार करते हैं। लोकरक्षक, प्रेरक, आचार-शिक्षक तथा ऐहिक-आमुष्मिक सुखका प्रधान साधन धर्म है। सत्य धर्मका प्रधान अङ्ग है और इतना महत्त्वपूर्ण है कि कहीं-कहीं तो वह धर्मसे भी व्यापक या धर्मका पर्याय हो गया है। प्राचीन कालमें जब गुरुकुलके शास्त्र-पारंगतोंको आचार्य आचार-शिक्षा देते थे तो '**सत्यं वद**', '**धर्मं चर**'में उन्हें धर्मसे पहले सत्यके पालनपर दृष्टि रखनी पड़ती थी। सत्य न केवल धर्मका एक प्रधान अङ्ग या उससे महत्त्वपूर्ण है, अपितु वह ब्रह्मस्थानीय भी है। '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**'—जहाँ एक दार्शनिक परिभाषा है, वहीं सत्य तथा मिथ्याका वास्तविक रूप भी वर्णित है। महर्षि वाल्मीकिने रामायणमें सत्यका महत्त्व इस प्रकार बतलाया है—

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० १४। ७)

वस्तुत: प्रणव, वेद या सत्यसे चित्तशुद्धि होती है। चित्तशुद्धि होनेपर सत्यब्रह्म-परम पदकी प्राप्ति सरल हो जाती है। लोकमें भी अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्मका ही महत्त्व अधिक रखा गया है। धर्म अर्थ तथा कामका प्रभव तो है ही, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और जीवलोकके सर्वश्रेयोंका एकमात्र कारण भी है। स्वयं भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामने धर्मके सम्बन्धमें कहा है—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
यस्मिस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥

(वा० रा०, अयोध्या० २१। ५७-५८)

श्रीरामचन्द्रजीके वन जानेपर जब श्रीभरतजी अयोध्याके प्रमुख लोगोंको लेकर उन्हें पुनः अयोध्या लानेके लिये चित्रकूट गये थे, उस समय ऋषि जाबालिने श्रीरामचन्द्रजीको अयोध्या लौटानेकी दृष्टिसे कहा था—'**प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु॥**' जाबालिकी दृष्टिमें प्रत्यक्ष मात्र ही सत्य था, परोक्ष तथा अनुमान, शब्द आदि प्रमाण सत्य न थे; किंतु सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्रने वेद-शास्त्र-स्मृति-विहित कुलीनाचारको ही धर्म माना था। जिसका परिणाम सुख हो, फल शुभ हो, उसी स्वर्गप्रद पितृपूजित पथ सत्यको श्रीरामने राज्य तथा जीवनका मुख्य आधार मानकर कहा था—'राजाओंको विशेषतः सत्यका पालन करना चाहिये; क्योंकि जैसा आचरण राजा (लोकनायक)-का होगा, उसी प्रकार प्रजा (जनता)-का भी होगा'—'**यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः॥**' भगवान् श्रीरामकी दृष्टिमें कामवृत्त यथेच्छाचारी जीवन सर्वलोक-विनाशक है। संसारमें सत्य ही सर्वसमर्थ तथा धर्मका आश्रय है। जगत्का सर्वस्व सत्यपर आधारित है। सत्यसे भिन्न परम पद नहीं है। इससे श्रीरामचन्द्रजीने सत्यकी जिस शाश्वत महिमाका उद्बोध किया है, उसीको आधार मानकर चलनेमें जगत्का हित सम्भव है। झूठे पुरुष श्रीरामचन्द्रजीके शब्दोंमें '**द्विजिह्व**' तथा लोकपीडाकारक मात्र होते हैं।

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्॥
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० १०९। १०—१३)

इसी क्रममें भगवान् श्रीरामने स्वयं कहा था कि दान,

भयंकर शत्रु माना जाता है। असत्यवादीसे कोई मित्रता नहीं करता। उसका पुण्य, यश, श्रेय सब नष्ट हो जाता है। पुण्यात्मा पुरुष असत्यको अविश्वासका मूल कारण, कुवासनाओंका निवासस्थान, विपत्तिका कारण, अपराध तथा वञ्चनाका आधार मानकर त्याग देते हैं। जिस प्रकार अग्नि वनको जला देता है, उसी प्रकार असत्यसे यश नष्ट हो जाता है। जल-सेचनसे जैसे वृक्षोंका विकास होता है, उसी प्रकार असत्यसे दुःख बढ़ते हैं। बुद्धिमान् पुरुष संयम-तपके विरोधी असत्यसे सदा दूर रहते हैं। सत्यभाषणका पुण्य सहस्रों अश्वमेधोंके पुण्यसे अधिक होता है। यह उक्ति कितनी तथ्यपूर्ण है कि गो, विप्र, वेद, सती, सत्यवादी, निर्लोभ तथा शूर—ये सात पृथ्वीके आधार हैं। इनके अभावमें पृथ्वीका अस्तित्व ही सम्भव नहीं। सत्यसे विश्वास उत्पन्न होता है, विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, अपराधी अपराध छोड़ देते हैं। व्याघ्र तथा सर्प स्वाभाविक हिंसा छोड़कर सरल हो जाते हैं। सत्य सभी प्रकारसे हितकारी, समृद्धिदायक तथा सौभाग्यका संजीवन है। भारतीय जीवनके लिये उपदेश है—'**सत्यपूतां वदेद् वाणीम्।**'

प्रातःकाल विविध देवोंकी उपासनाके क्रममें नित्य सत्यकी स्तुति की जाती है—

सत्यरूपं सत्यसंधं सत्यनारायणं हरिम्।
यत्सत्यत्वेन जगतस्तत् सत्यं त्वां नमाम्यहम्॥

भारतके घर-घरमें भगवान् सत्यनारायणकी कथा आज भी होती है, जिसमें मिथ्यावादियोंके धन-धान्य-विनाशकी कथाएँ उनके दुःख, पीड़ा, परिवार-विनाशको रोकनेके लिये अशरणशरण सत्यनारायण भगवान्के शरणमें जानेका संदेश देती हैं।

सत्यधर्मके पालनसे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वहित-साधनमें बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है। मनुष्य सत्यका पालन कर अपने विकासकी चरम सीमापर पहुँच सकता है। भगवान् श्रीराम इस परमधर्म—सत्यके स्वरूप ही थे।

धर्ममय भगवान् श्रीकृष्ण

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १४। २७)

भगवान् श्रीकृष्ण अविनाशी परब्रह्मकी, अमृतकी, शाश्वतधर्मकी और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा हैं। वे स्वयं साक्षात् परब्रह्म हैं, दिव्य अमृत हैं, शाश्वत धर्म हैं और भूमा ऐकान्तिक आनन्दस्वरूप हैं तथा इन सबके परम आश्रय भी हैं! श्रीमहाभारत, श्रीमद्भागवत एवं अन्यान्य सद्ग्रन्थोंमें इसके असंख्य प्रमाण हैं। वे स्वयं भगवान् हैं, इससे उनमें अनन्त-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय परस्पर विरोधी गुण-धर्मोका युगपत् प्रकाश है। वे जहाँ पूर्ण भगवान् हैं, वहीं पूर्ण मानव हैं। पूर्ण भगवत्ता और पूर्ण मानवताके प्रत्यक्ष स्वरूप श्रीकृष्ण हैं। कंसके कारागारमें वे दिव्य आभाका विस्तार करते हुए आभूषण-आयुधादिसे सम्पन्न ऐश्वर्यमय चतुर्भुज-रूपमें प्रकट होते हैं और तुरंत ही मधुर-मधुर छोटे-से शिशु बन जाते हैं।

व्रजमें जहाँ अपने अनुपम असमोर्ध्व रूप-माधुर्य, वेणु-माधुर्य, प्रेम-माधुर्य और लीला-माधुर्यके द्वारा व्रजवासी महाभाग नर-नारियोंको दिव्य स्वरूप-रस-सुधाका पान कराते हैं और स्वयं उनके स्व-सुखवाञ्छाशून्य निर्मल सख्य, वात्सल्य और मधुर रस-सुधाका नित्य लालायित चित्तसे पान करते रहते हैं, वहाँ दूसरी ओर अवतीर्ण होनेके छठे ही दिनसे पूतना-वधके द्वारा अधर्मी असुरों—राक्षसोंका परिणाम—कल्याणकारी वध करके ऐश्वर्यमयी धर्म-संस्थापन-लीलाका शुभ आरम्भ कर देते हैं।

माधुर्यजगत्के सखा, माता-पिता और प्रेयसियोंको अपने सखा, सुत और प्रियतम श्यामसुन्दरके ऐश्वर्यका कहीं भान भी नहीं होता और उधर तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, काकासुर, धेनुकासुर, सुदर्शन, शङ्खचूड, अरिष्टासुर आदिका उद्धार हो जाता है और साथ ही मुखमें यशोदा मैयाको विश्वरूप-दर्शन, यमलार्जुन-भङ्ग, कुवेर-पुत्रोंका उद्धार, कालियदमन, ब्रह्म-दर्प-दलन, गोवर्धन-धारण, गोवर्धनरूपमें पूजाग्रहण, इन्द्रमोहभङ्ग, वरुणलोक-गमन, रासलीलाके समय असंख्य रूपोंमें प्रकट होना आदि ऐश्वर्यमयी लीलाएँ भी होती रहती हैं। यों धर्मसंस्थापनका तथा धर्मरक्षा

'राजन्! तुम्हारी विजय तो निश्चित है; क्योंकि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे मन्त्री (तुम्हें सलाह देनेवाले) हैं। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्धमें शत्रुओंको उनके प्राणोंसे विमुक्त कर दोगे। जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। जाओ! युद्ध करो; पूछो, मैं और क्या बताऊँ?'

इससे सिद्ध है कि भगवान् धर्मके साथ हैं। और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ धर्म रहता ही है। महाभारतका एक प्रसंग है। इन्द्रने अर्जुनका हित करनेकी इच्छासे महादानी कर्णसे कवच-कुण्डल माँगकर ले लिये और बदलेमें उनको एक अजेय अमोघ शक्ति देकर यह कह दिया कि 'तुम केवल एक बार जिस-किसीपर भी इसका प्रयोग कर सकोगे। जिसपर प्रयोग करोगे, वह अवश्य मर जायगा।' कर्णने वह शक्ति अर्जुनपर चलानेके लिये सुरक्षित रख छोड़ी थी, वे प्रतिदिन उसकी पूजा करते। महाभारत-युद्धमें एक रात्रिको भीमपुत्र राक्षस घटोत्कचने ऐसा भीषण युद्ध किया कि सारा कौरवदल जीवनसे निराश हो गया। सबने आकर कर्णसे कहा कि 'तुरंत उस शक्तिका प्रयोग करके इस भयानक राक्षसका वध करो, नहीं तो इस रात्रि-युद्धमें यह राक्षस हम सभी कौरव-वीरोंका आज ही नाश कर देगा। कोई बचेगा ही नहीं, तब फिर यह शक्ति किस काम आयेगी?' कर्ण भी घबराये हुए थे। उन्होंने उस वैजयन्ती शक्तिको घटोत्कचपर छोड़ दिया। शक्तिके प्रहारसे घटोत्कचका हृदय विदीर्ण हो गया और वह वहीं मरकर गिर पड़ा। उसके मरते ही कौरव योद्धा बाजे बजाकर हर्षनाद करने लगे।

इधर पाण्डवदलमें शोक छा गया। सबके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। परंतु श्रीकृष्ण आनन्दमग्न होकर नाच उठे और अर्जुनको गले लगाकर पीठ ठोंकने तथा बार-बार गर्जना करने लगे।

भगवान्‌को इतना प्रसन्न जान अर्जुन बोले—'मधुसूदन! आज आपको शोकके अवसरपर इतनी प्रसन्नता क्यों हो रही है? घटोत्कचके मारे जानेसे हमारे लिये शोकका अवसर उपस्थित हुआ है। सारी सेना विमुख होकर भागी जा रही है। हमलोग भी बहुत घबरा गये हैं, तो भी आप प्रसन्न हैं। इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं हो सकता। जनार्दन! बताइये, क्या कारण है इस प्रसन्नताका? यदि बहुत छिपानेकी बात न हो तो अवश्य बता दीजिये। मेरा धैर्य छूटा जा रहा है।'

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—धनंजय! मेरे लिये इस समय सचमुच ही बड़े आनन्दका अवसर आया है। कारण सुनना चाहते हो? सुनो! तुम जानते हो कर्णने घटोत्कचको मारा है; पर मैं कहता हूँ कि इन्द्रकी दी हुई शक्तिको निष्फल करके (एक प्रकारसे) घटोत्कचने ही कर्णको मार डाला है। अब तुम कर्णको मरा हुआ ही समझो। संसारमें कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो कर्णके हाथमें इस 'शक्ति'के रहनेपर उसके सामने ठहर सकता। और यदि उसके पास कवच तथा कुण्डल भी होते, तब तो वह देवताओंसहित तीनों लोकोंको भी जीत सकता था। उस अवस्थामें इन्द्र, कुबेर, वरुण अथवा यमराज भी युद्धमें उसका सामना नहीं कर सकते थे। हम और तुम सुदर्शन-चक्र और गाण्डीव लेकर भी उसे जीतनेमें असमर्थ हो जाते। तुम्हारा ही हित करनेके लिये इन्द्रने छलसे उसे कुण्डल और कवचसे हीन कर दिया था। उनके बदलेमें जबसे इन्द्रने उसे अमोघ शक्ति दे दी थी, तबसे वह तुमको सदा मरा हुआ ही मानता था। आज यद्यपि उसकी ये सारी चीजें नहीं रहीं,तो भी तुम्हारे सिवा दूसरे किसीसे वह नहीं मारा जा सकता। कर्ण ब्राह्मणोंका भक्त, सत्यवादी, तपस्वी, व्रतधारी और शत्रुओंपर भी दया करनेवाला है; इसीलिये वह वृष (धर्म) कहलाता है। सम्पूर्ण देवता चारों ओरसे कर्णपर बाणोंकी वर्षा करें और उसपर मांस और रक्त उछालें, तो भी वे उसे नहीं जीत सकते।

× × ×

'यदि इस महासमरमें कर्ण अपनी शक्तिके द्वारा घटोत्कचको नहीं मार डालता तो स्वयं मुझे इसका वध करना पड़ता। इसके द्वारा तुमलोगोंका प्रिय कार्य करवाना था, इसीलिये मैंने पहले ही इसका वध नहीं किया। घटोत्कच ब्राह्मणोंका द्वेषी और यज्ञोंका नाश करनेवाला था। यह पापात्मा धर्मका लोप कर रहा था, इसीसे इस प्रकार इसका वध करवाया है। जो धर्मका लोप करनेवाले हैं, वे

करते हो। मैं तुमसे ठीक-ठीक कह रहा हूँ कि श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्वलोकमय, नित्य, जगदीश्वर, जगद्धर्ता और अविकारी हैं। ये ही युद्ध करनेवाले हैं, ये ही 'जय' हैं और ये ही जीतनेवाले हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं जय है। श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी रक्षा करते हैं, अतएव उन्हींकी विजय होगी।*

यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

× × ×

धृताः पाण्डुसुता राजन् जयश्चैषां भविष्यति॥

(महाभारत, भीष्म० ६६। ३५-३६)

भगवान् श्रीकृष्ण धर्मरक्षक तथा धर्मसंस्थापक हैं। इसीसे वे अधार्मिक घटोत्कचका स्वयं अपने हाथों वध करना चाहते थे, यद्यपि घटोत्कच पाण्डव भीमका पुत्र होनेके कारण श्रीकृष्णके कुटुम्बका ही एक सदस्य था। श्रीकृष्ण अपने स्वजनोंके, कुटुम्ब-परिवारोंके, सम्बन्धियोंके नित्य हितैषी और हित-साधक थे; परंतु धर्मविरोधी होनेपर वे किसीको स्वजन-कुटुम्बीके नाते क्षमा नहीं करते थे। धर्मरक्षण एवं धर्मके द्वारा लोकसंग्रह या लोकहितपर उनकी दृष्टि रहती थी। कंस सगे मामा थे, पर अधार्मिक होनेके कारण स्वयं श्रीकृष्णने उनका वध किया। शिशुपाल तो पाण्डवोंके सदृश ही श्रीकृष्णकी बूआका लड़का था, पर पापाचारी था; अतएव उन्होंने उसको दण्ड दिया। यहाँतक कि जब उन्होंने देखा कि उन्हींका आश्रित यादववंश सुरापान-परायण, धन-वैभवसे उन्मत्त और अभिमानमें चूर होकर अधार्मिक और उद्दण्ड हुआ जा रहा है, तब उसके भी विनाशकी व्यवस्था करा दी। उन्हें धर्म प्रिय है, अधार्मिक स्वजन नहीं!

महाभारत-युद्धके समय एक दिन अपने भाइयों तथा योद्धाओंको बुरी तरह पराजित हुए देखकर दुर्योधनने भीष्मपितामहसे पाण्डवोंकी विजयका कारण पूछा। उसके उत्तरमें भीष्मजीने कहा कि 'पाण्डव धर्मात्मा हैं और वे पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हैं। इसीसे वे जीत रहे हैं और जीतेंगे।' उसके बाद भीष्मजीने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका विस्तारसे वर्णन किया और दुर्योधनसे कहा कि 'मैं तो तुम्हें राक्षस समझता हूँ; क्योंकि तुम परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णसे और अर्जुनसे द्वेष

तदनन्तर दुर्योधनके पूछनेपर भीष्मजीने कहा कि 'ये श्रीकृष्ण ही सब प्राणियोंके आश्रय हैं; जो पुरुष पूर्णिमा और अमावास्याको इनका पूजन करता है, वह परमपदको प्राप्त होता है। ये परम तेजःस्वरूप और समस्त लोकोंके पितामह हैं। ये सच्चे आचार्य, गुरु और पिता हैं। जिसपर ये प्रसन्न हैं, उसने मानो सभी अक्षय लोकोंपर विजय प्राप्त कर ली है। जो पुरुष भयके समय श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह कुशलसे रहता है और सुख प्राप्त करता है। उसका मोह नष्ट हो जाता है। उन्हें इस प्रकार यथार्थ रूपसे जानकर ही—समस्त जगत्के स्वामी और सम्पूर्ण योगोंके अधीश्वर जानकर ही युधिष्ठिरने इनकी शरण ली है।' इसके पश्चात् भीष्मजीने दुर्योधनको श्रीकृष्णका ब्रह्मभूत स्तोत्र सुनाया।

श्रीकृष्णका ब्रह्मभूतस्तोत्र

भीष्म उवाच

शृणु चेदं महाराज ब्रह्मभूतं स्तवं मम।
ब्रह्मर्षिभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि॥
साध्यानामपि देवानां देवदेवेश्वरः प्रभुः।
लोकभावनभावज्ञ इति त्वां नारदोऽब्रवीत्॥
भूतं भव्यं भविष्यं च मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह।
यज्ञं त्वां चैव यज्ञानां तपश्च तपसामपि॥
देवानामपि देवं च त्वामाह भगवान् भृगुः।
पुराणं चैव परमं विष्णो रूपं तवेति च॥

* दुर्योधनके प्रति पितामह भीष्मने बड़े विस्तारसे भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन किया है। उसे महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ६५ से ६८ तक देखना चाहिये। इसी प्रकार शान्तिपर्व, अध्याय ४७, ५१ देखिये।

वासुदेवो वसूनां त्वं शक्रं स्थापयिता तथा।
देवदेवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत्॥
पूर्वे प्रजानिसर्गे च दक्षमाहुः प्रजापतिम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानामङ्गिरास्त्वां तथाब्रवीत्॥
अव्यक्तं ते शरीरोत्थं व्यक्तं ते मनसि स्थितम्।
देवास्त्वत्सम्भवाश्चैव देवलस्त्वसितोऽब्रवीत्॥
शिरसा ते दिवं व्याप्तं बाहुभ्यां पृथिवी तथा।
जठरं ते त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः॥
एवं त्वामभिजानन्ति तपसा भाविता नराः।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणां चासि सत्तमः॥
राजर्षीणामुदाराणामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मप्रधानानां त्वं गतिर्मधुसूदन॥
इति नित्यं योगविद्भिर्भगवान् पुरुषोत्तमः।
सनत्कुमारप्रमुखैः स्तूयतेऽभ्यर्च्यते हरिः॥
एष ते विस्तरस्तात संक्षेपश्च प्रकीर्तितः।
केशवस्य यथातत्त्वं सुप्रीतो भज केशवम्॥

(महाभारत, भीष्म० ६८। १—१२)

'राजन्! पूर्वकालमें ब्रह्मर्षि और देवताओंने इन श्रीकृष्णका जो ब्रह्ममय स्तोत्र कहा है, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सुनो—नारदजीने कहा है—'आप साध्यगण और देवताओंके भी देवाधिदेव हैं तथा सम्पूर्ण लोकोंका पालन करनेवाले और उनके अन्तःकरणके साक्षी हैं।' मार्कण्डेयजीने कहा है—'आप ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान हैं तथा आप यज्ञोंके यज्ञ और तपोंके तप हैं।' भृगुजी कहते हैं—'आप देवोंके देव हैं तथा भगवान् विष्णुका जो पुरातन परम रूप है, वह भी आप ही हैं।' महर्षि द्वैपायनका कथन है—'आप वसुओंमें वासुदेव, इन्द्रको भी स्थापित करनेवाले और देवताओंके परम देव हैं।' अङ्गिराजी कहते हैं—'आप पहले प्रजापतिसर्गमें दक्ष थे तथा आप ही समस्त लोकोंकी रचना करनेवाले हैं।' देवल मुनि कहते हैं—'अव्यक्त आपके शरीरसे हुआ है, व्यक्त आपके मनमें स्थित है तथा सब देवता भी आपके मनसे उत्पन्न हुए हैं।' असित मुनिका कथन है—'आपके सिरसे स्वर्गलोक व्याप्त है और भुजाओंसे पृथ्वी तथा आपके उदरमें तीनों लोक हैं। आप सनातन पुरुष हैं। तपःशुद्ध महात्मालोग आपको ऐसा समझते हैं तथा आत्मतृप्त ऋषियोंकी दृष्टिमें भी आप सर्वोत्कृष्ट सत्य हैं। मधुसूदन! जो सम्पूर्ण धर्मोंमें अग्रगण्य और संग्रामसे पीछे हटनेवाले नहीं हैं, उन उदारहृदय राजर्षियोंके परमाश्रय भी आप ही हैं।' योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ सनत्कुमारादि इसी प्रकार श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌का सर्वदा पूजन और स्तवन करते हैं। राजन्! इस तरह मैंने विस्तार तथा संक्षेपसे तुम्हें श्रीकृष्णका स्वरूप सुना दिया। अब तुम प्रसन्नचित्तसे इनका भजन करो।'

भगवान् श्रीकृष्णने जब प्राग्ज्यौतिषपुरके नरकासुरको मारकर उसके द्वारा हरण की हुई सोलह हजार राजकुमारियोंपर दया करके अकेले ही उनसे विवाह कर लिया और यह बात जब नारदजीने सुनी, तब उन्हें भगवान्‌की गृहचर्या देखनेकी बड़ी इच्छा हुई। नारदजी अत्यन्त उत्सुक होकर द्वारका आये। द्वारकामें श्रीकृष्णके अन्तःपुरमें सोलह हजारसे अधिक बड़े सुन्दर कलापूर्ण सुसज्जित महल थे। नारदजी एक महलमें गये। वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके समीप बैठे थे। रुक्मिणीजी चँवरसे हवा कर रही थीं। नारदजीको देखते ही भगवान् पलँगसे उठे। नारदजीकी उन्होंने अभ्यर्थना-पूजा की, उनके चरण पखारकर चरणामृत सिर चढ़ाया और नम्र शब्दोंमें उनका गुणगान करके उनसे सेवा पूछी।

नारदजीने भगवान्‌का गुणगान तथा स्तवन करते हुए कहा—'भगवन्! आपके श्रीचरण ही संसारकूपमें पड़े लोगोंके निकलनेके लिये अवलम्बन हैं। आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपके चरणकमलोंकी स्मृति सदा बनी रहे और मैं जहाँ जैसे भी रहूँ, उन चरणोंके ध्यानमें ही लीन रहूँ।'

तदनन्तर नारदजी एक-एक करके सभी महलोंमें गये। भगवान् श्रीकृष्णने सर्वत्र उनका स्वागत-सत्कार किया। नारदजीने देखा—कहीं श्रीकृष्ण गृहस्थके कार्य सम्पादन कर रहे हैं, कहीं हवन कर रहे हैं, कहीं पञ्च-महायज्ञोंसे देवाराधन कर रहे हैं, कहीं ब्राह्मण-भोजन करा रहे हैं, कहीं यज्ञावशेष भोजन कर रहे हैं, कहीं संध्या, तो कहीं मौन होकर गायत्री-जप कर रहे हैं; कहीं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित गौओंका दान कर रहे हैं; कहीं

'नारद! मैं ही धर्मका उपदेशक, उपदेशके अनुसार स्वयं उसका आचरण करनेवाला तथा उसका अनुष्ठान करनेवालोंका अनुमोदन करनेवाला हूँ। मेरे आचरणसे लोगोंको शिक्षा मिलेगी, इसलिये मैं स्वयं धर्मका आचरण करता हूँ। पुत्र नारद! तुम मेरी मायासे मोहित न होना—मैंने जो तुम्हारे चरण धोये, इससे खेद मत करना।' कैसा सुन्दर आदर्श है धर्माचरणका!

भगवान् श्रीकृष्णका समस्त जीवन-लीला-चरित धर्ममय है। उनके आचरणमें तो केवल धर्म है ही, उनके उपदेश भी धर्मपूर्ण हैं। रणाङ्गणमें अपने परम धर्ममय गीताका उपदेश मित्र अर्जुनको किया और अन्तमें सखा उद्धवको धर्मोपदेश किया। महाभारत, भीष्मपर्व और श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धमें ये दोनों धर्ममय गीतोपदेश हैं।

भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीताको '**धर्म्यं संवादम्**' *(धर्ममय संवाद) कहा है और इसमें भी भक्तिके स्वरूप-वर्णनको वेदज्ञ, वेदमय, सर्वशास्त्रज्ञ सर्वथा अपरिजेय, दयामय, करुणामय, प्रेममय, पुण्यमय, न्यायशील, क्षमाशील, परम सुशील, निरपेक्ष, स्पष्टवादी, सत्यवादी, परम वाग्मी, परम उपदेशक, लोकनायक, लोकहितैषी, सर्वभूतहितैषी, ममतारहित, अहंकाररहित, कामनारहित, आसक्तिरहित, विशुद्धचरित्र, शिष्टपालक, दुष्टनाशक, असुरसंहारक, गोसेवक, पशु-पक्षियोंके तथा प्रकृतिके प्रेमी, प्रकृतिके स्वामी, प्रकृति-नटीके सूत्रधार, महामायावी, मायाके अधीश्वर और नियामक, भीषणोंके भीषण, परम सुन्दर, परम मधुर—असंख्य गुणगणसम्पन्न हैं और इन सभी गुणोंके द्वारा वे सदा ही धर्मका रक्षण तथा संस्थापन करते हैं।

धर्ममूल पावन परम बंदौं पद-अरबिंद।
बस्यौ जहाँ रस-पान-रत मम मन मत्त मिलिंद॥

भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र पावन चरणकमलोंमें बार-बार नमस्कार।

---

*अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः। ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ (१८। ७०)

†ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते। श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ (१२। २०)

भक्त हनुमान्‌का आदर्श धर्म—सेवा और संयम

सेवा—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।

—मर्यादापुरुषोत्तमको यह स्वीकार करना पड़ा। सेवाकी मानो साकार प्रतिमा हैं—श्रीपवनकुमार। सीता-शोधके लिये समुद्र-पार करते समय जब जलमग्न मैनाक पर्वत ऊपर उठा और उसने विश्राम कर लेनेकी प्रार्थना की, तब हनुमान्‌जीने उसे उत्तर दिया—

राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

उनका एक-एक श्वास, उनका जीवन ही जैसे 'रामकाज'के लिये है। एक कथा संत-समाजमें कही जाती है—अयोध्यामें जब मर्यादापुरुषोत्तमका राज्याभिषेक हो गया, हनुमान्‌जी वहीं रहने लगे। उन्हें तो श्रीरामकी सेवाका व्यसन ठहरा। रघुनाथजीको कोई वस्तु चाहिये तो हनुमान्‌जी पहिलेसे लिये उपस्थित। रामजीको कुछ प्रिय है तो ये उसे तत्काल करने लग गये। किसी कार्य, किसी पदार्थके लिये संकेत तक करनेकी आवश्यकता नहीं होती। सच्चे सेवकका लक्षण ही है कि वह सेव्यके चित्तकी बात जान लिया करता है। वह समझता है कि मेरे स्वामीको कब क्या चाहिये और कब क्या प्रिय लगेगा।

हनुमान्‌जीकी तत्परताका परिणाम यह हुआ कि भरतादि भाइयोंको भी प्रभुकी कोई सेवा प्राप्त होना कठिन हो गया। सब उत्सुक रहते थे कि उन्हें कुछ तो सेवाका अवसर मिले; किंतु हनुमान् जब शिथिल हों, तब तो। अत: सबने मिलकर गुप्त मन्त्रणा की, एक योजना बनायी और श्रीजानकीजीको अपनी ओर मिलाकर उनके माध्यमसे उस योजनापर श्रीरामजीकी स्वीकृति ले ली।

हनुमान्‌जीको कुछ पता नहीं था। वे सरयू-स्नान करके प्रभुके समीप जाने लगे तो रोक दिये गये—'सुनो हनुमान्! महाराजाधिराजकी सेवा सुव्यवस्थित होनी चाहिये। आजसे सेवाका प्रत्येक कार्य विभाजित कर दिया गया है। प्रभुने इस व्यवस्थाकी स्वीकृति दे दी है। जिसके लिये जब जो सेवा निश्चित है, वही वह सेवा करेगा।'

'प्रभुने स्वीकृति दे दी है तो उसमें कहना क्या है।' हनुमान्‌जी बोले। 'यह व्यवस्था बता दीजिये। अपने भागकी सेवा मैं करता रहूँगा।'

सेवाकी सूची सुना दी गयी। उसमें हनुमान्‌जीका कहीं नाम नहीं था। उनको कोई सेवा दी नहीं गयी थी; क्योंकि कोई सेवा ऐसी बची ही नहीं थी, जो हनुमान्‌को दी जाय। सूची सुनकर बोले—'इससे जो सेवा बच गयी, वह मेरी।'

'हाँ, वह आपकी।' सब सोचते थे कि सेवा तो अब कोई बची ही नहीं है।

'प्रभुकी स्वीकृति मिलनी चाहिये!' पूरी सूचीपर स्वीकृति मिली तो इस व्यवस्थापर भी तो स्वीकृति चाहिये। हनुमान्‌जीने बात प्रभुकी स्वीकृति लेकर पक्की करा ली।

'प्रभुको जब जम्हाई आयेगी, तब उनके सामने चुटकी बजानेकी सेवा मेरी!' हनुमान्‌ने जब कहा, सब चौंक गये। इस सेवापर तो किसीका ध्यान गया ही नहीं था। लेकिन अब तो स्वीकृति मिल चुकी प्रभुकी। राजसभामें प्रभुके चरणोंके समीप उनके श्रीमुखकी ओर नेत्र लगाये हनुमान्‌जी दिनभर बैठे रहे। रात्रि हुई, प्रभु अन्त:पुरमें पधारे और हनुमान्‌जी पीछे-पीछे चले। द्वारपर रोक दिये गये तो हट आये।

यह क्या हुआ? श्रीरामजीका तो मुख ही खुला रह गया। वे न बोलते हैं न संकेत करते हैं, मुख खोले बैठे हैं। जानकीजी व्याकुल हुईं। माताओंको, भाइयोंको समाचार मिला। सब व्याकुल, किसीको कुछ सूझता नहीं। अन्तमें गुरु वसिष्ठ बुलाये गये। महर्षिने आकर इधर-उधर देखा और पूछा—'हनुमान् कहाँ हैं?'

ढूँढ़ा गया तो राजसदनके एक कंगूरेपर बैठे दोनों हाथोंसे चुटकी बजाये जा रहे हैं और नेत्रोंसे अश्रु झर रहे हैं, शरीरका रोम-रोम खड़ा है। मुखसे गद्गद स्वरमें कीर्तन चल रहा है—'श्रीराम जय राम जय जय राम।'

'आपको गुरुदेव बुला रहे हैं!' शत्रुघ्नकुमारने कहा तो उठ खड़े हुए। चुटकी बजाते हुए ही नीचे पहुँचे।

'आप यह क्या कर रहे हैं?' महर्षिने पूछा।

'प्रभुको जम्हाई आये तो चुटकी बजानेकी मेरी सेवा

'आज मेरा व्रत खण्डित हुआ!' बड़ा पश्चात्ताप, महान् दुःख। उस अन्तर्वेदनाकी कल्पना करना सर्वसामान्यके लिये सम्भव नहीं है। जिसने कोई व्रत, कोई नियम दीर्घकालतक पालन किया हो उससे किसी प्रमादसे

व्रतका मूल मन है, देह नहीं। हनुमान्‌जीके व्रतमें कोई त्रुटि नहीं आयी थी। उनके मनमें जो पश्चात्ताप जगा था, वह ब्रह्मचर्य-व्रतके प्रति उनकी जो प्रबल निष्ठा और सतत जागरूकता है, उसीका सूचक है।
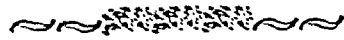
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः। ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत्॥
ततो वासं परीक्षेत धर्मनित्येषु साधुषु। मनुष्येषु वदान्येषु स्वधर्मनिरतेषु च॥

(महाभा०, शा० २८७। ३५-३६)

बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानवान् होनेपर भी बिना पूछे किसीको कोई उपदेश न करे। अन्यायपूर्वक पूछनेपर भी किसीके प्रश्नका उत्तर न दे, जडकी भाँति चुपचाप बैठा रहे। मनुष्यको सदा धर्ममें लगे रहनेवाले साधु-महात्माओं तथा स्वधर्मपरायण उदार पुरुषोंके समीप निवास करनेकी इच्छा रखनी चाहिये।

महर्षि वाल्मीकि और उनके रामायणप्रतिपादित धर्म

वस्तुतः 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'की दृष्टिसे हमारा वर्तमान सारा धार्मिक तथा संस्कृत भाषामें प्राप्त आजका साहित्य व्यासोच्छिष्ट अथवा पुराणोंपर ही आधृत है। किंतु 'बृहद्धर्मपुराण'के—'पठ रामायणं व्यास काव्यबीजं सनातनम्'से यह सुस्पष्ट सिद्ध है कि इन सभी पुराणों तथा शास्त्रोंका भी बीज एकमात्र महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण है। व्यासजी वस्तुतः महर्षि वाल्मीकिके ही पदचिह्नोंपर चलते हुए सिद्ध होते हैं।[1] महर्षि वाल्मीकि साक्षात् तपोमूर्ति थे। स्कन्द आदि पुराणोंमें भगवान् व्यासद्वारा लिखित इनकी जीवनी [कई बार] प्राप्त होती है। इन्होंने सभी देवताओंकी आराधना, स्थापना की थी। इनके स्थापित कितने ही वाल्मीकेश्वर लिङ्गादिकी चर्चा पुराणोंमें है। अपने समयके ये अत्यन्त अद्भुत विख्यात धर्मात्मा महर्षि थे। अपनी रामायणका इन्होंने 'तप' शब्दसे ही आरम्भ किया है और इस ग्रन्थमें धर्मकी महिमा अद्भुतरूपसे स्थापित की है। यहाँ उनमेंसे थोड़ेसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

वाल्मीकीय रामायणमें धर्मका स्थान (धर्मविग्रह श्रीराम)

वाल्मीकिके राम साक्षात् धर्मके स्वरूप या मूर्तरूप हैं। महर्षि वाल्मीकि **'एष विग्रहवान् धर्मः', 'रामो विग्रहवान् धर्मः'** (३। ३७। १३) आदि वचन बार-बार लिखते हैं। मारीच आदि विरोधी राक्षस भी उन्हें सर्वोत्तम धर्मात्मा कहते हैं। रामको इङ्गित करता हुआ शुक राक्षस रावणसे इस प्रकार उनका परिचय देता है—

यस्मिन् न चलते धर्मो यो धर्मं नातिवर्तते।
यो ब्राह्ममस्त्रं वेदांश्च वेद वेदविदां वरः॥

(युद्ध० २८। १९)

अर्थात् जिनसे धर्म कभी अलग नहीं होता और जो धर्मका कभी परित्याग नहीं करते, जो वेदोंके साथ धनुर्वेदके भी पूर्ण मर्मज्ञ हैं, वे इक्ष्वाकुओंके अतिरथी ये ही राम हैं।

भगवान् रामसे भगवती सीता भी कहती हैं—

धर्मिष्ठः सत्यसंधश्च पितुर्निर्देशकारकः।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(अरण्य० ९। ७)

अर्थात् आप परम धर्मात्मा, सत्यवादी और पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। आपमें धर्म, सत्य तथा समस्त सद्गुणोंकी प्रतिष्ठा है।

इसी प्रकार जब मेघनाद किसी प्रकार भी नहीं मरता, तब लक्ष्मणजी कहते हैं कि यदि राम ही वस्तुतः सबसे बड़े धर्मात्मा तथा योद्धा हों तो यह बाण मेघनादको मार डाले और तब वह बाण उसे मार डालता है—

धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि।
पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वस्तदैनं जहि रावणिम्॥

(युद्ध० ९०। ६९)

इसी तरह श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामका परिचय देते हुए पराम्बा भगवती सीतासे कहते हैं—

रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य धर्मस्य च परंतपः॥
रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता।

(सुन्दर० ३५। १०-११)

वाल्मीकिके ही आधारपर बनाये हुए अपने प्रसिद्ध काव्यमें कविवर भट्टि लिखते हैं कि सीता-वियोगादिमें भगवान् राम यद्यपि विक्षिप्त हो गये थे, तथापि उनकी संध्यादि तथा नित्य-नैमित्तिक धार्मिक क्रियाओंमें तिलमात्र भी ढील नहीं पड़ी थी—

तथाऽऽर्तोऽपि क्रियां धर्म्यां स काले नामुचत् क्वचित्।
महतां हि क्रिया नित्या छिद्रे नैवावसीदति॥

(६। २४)

स रामः तेन प्रकारेण आर्तोऽपि क्वचिदपि धर्म्यां क्रियां काले यथोचितसमये नामुचत् न त्यक्तवान्। (जयमङ्गला)

---

[1] १-रामायणं महाकाव्यमादौ वाल्मीकिना कृतम्। तन्मूलं सर्वकाव्यानामितिहासपुराणयोः॥
संहितानां च सर्वासां मूलं रामायणं मतम्। तदेवादर्शमाराध्य वेदव्यासो हरेः कला:॥
चक्रे महाभारताख्यमितिहासं पुरातनम्। तदेवादर्शमाराध्य पुराणान्यथ संहिताः॥
चकार भगवान् व्यासस्तथा चान्ये महर्षयः।　　(बृहद्धर्मपुराण १। २[illegible])

धर्म-महिमा

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
(अयोध्या० २१। ५७)

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥
(अयोध्या० २१। ५८)

वस्तुतः एक तरफ जिसमें सब हो, पर धर्म न हो और एक तरफ जिसमें केवल धर्म हो और कुछ न हो तो केवल 'धर्म' का पक्ष ही ग्रहण कर उसीका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि अर्थपरायण प्राणी अकारण ही सबका द्वेषी बन जाता है और भोगपरायण कामीकी भी कोई प्रशंसा नहीं करता।[१]

इसी प्रकार भगवती सीता रामको स्मरण दिलाती हुई कहती हैं।[२]—

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥
(वाल्मी०, अरण्यकाण्ड ९। ३०)

अर्थात् धर्मसे ही धन मिलता है और धर्मसे ही सुख मिलता है। अधिक क्या, धर्मसे सब कुछ मिल जाता है। अतः इस विश्वमें धर्म ही सार-सर्वस्व ग्राह्य वस्तु है।

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः। यो ह्यसूयुस्तथा युक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥

मनुष्य दूसरेके जिस कर्मकी निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे। जो दूसरेकी निन्दा तो करता है, किंतु स्वयं उसी निन्द्य कर्ममें लगा रहता है, वह उपहासका पात्र होता है।

१-क्षेमेन्द्रने भी अपनी चारुचर्यामें हरिश्चन्द्रकी उपमा देते हुए ऐसी ही सलाह दी है—
न त्यजेद्धर्ममर्यादामपि क्लेशदशां गतः। हरिश्चन्द्रो हि धर्मार्थी सेहे चण्डालदासताम्॥ (चारु० १३)

२-स्कन्दपुराण, काशीखण्ड (४६। ३३—३७ तक)-के ये वचन भी कुछ इसी प्रकारके हैं—
धर्मो हि रक्षितो येन देहे सत्वरगत्वरे। त्रैलोक्यं रक्षितं तेन किं कामार्थैः सुरक्षितैः॥
रक्षणीयो यदि भवेत् कामः कामारिणा कथम्। क्षणादनङ्गतां नीतो बहूनां सुखकार्यपि॥
अर्थश्चेत् सर्वथा रक्ष्य इति कैश्चिदुदाहृतम्। तत्कथं न हरिश्चन्द्रोऽरक्षत् कुशिकनन्दनात्॥
धर्मस्तु रक्षितः सर्वैरपि देहव्ययेन च। शिबिप्रभृतिभूपालैर्दधीचिप्रमुखैर्द्विजैः॥

धर्मप्राण भगवान् व्यासदेव और उनके पुराण-प्रतिपादित धर्म

देवगुरु बृहस्पति, दानवाचार्य शुक्र और विदेहराजके गुरु याज्ञवल्क्य आदिने धर्मनिर्णायक, धर्मप्रतिपादक, धर्मलक्षण-निरूपक तथा धर्मस्रोतोंमें पुराणोंको ही एकस्वरसे सर्वप्रथम—आद्य स्थान प्रदान किया है। यथा—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥[1]

इस तरह पुराणोंमें यद्यपि सभी धर्मप्रमापक—निर्णायक और उसके स्रोत सिद्ध हैं तथापि भगवान् व्यासदेवने धर्मके नामपर ही कई पुराणोंकी रचना की है। इनमें धर्मपुराण, बृहद्धर्मपुराण, शिवधर्मपुराण, विष्णुधर्मपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त महाभारतके राजधर्म, आपद्धर्म, मोक्षधर्म, दानधर्म (अनुशा०), वैष्णवधर्म, नारायणीयधर्म आदि पर्व एवं अवान्तर पर्व भी विशाल धर्मसागरके ही समान हैं। साथ ही स्कन्द, भविष्य एवं पद्मपुराणोंके अधिकांश खण्डोंमें भी धर्मशास्त्रोंका ही स्वरूप प्राप्त है। स्कन्दपुराणके पहले तीन खण्डोंमें अनेक मास-माहात्म्योंके साथ-साथ तीर्थ-व्रत, पीपल, आमलकी, तुलसी, गौ आदिकी महिमा ध्येय है। इसी प्रकार पद्मपुराण, सृष्टिखण्डके ४८। ९६ के बादका सारा प्रकरण धर्मशास्त्रका है। इसमें ब्राह्मण-महिमा (प्रायः एक हजार श्लोकोंमें) गायत्री-महिमा, सदाचार, मातृ-पितृ-महिमा, सतीमाहात्म्य, श्राद्धविधि, अन्नदान, जलदान, नानादान-महिमा, रुद्राक्षमाहात्म्य, गङ्गा-महिमा, तुलसी-महिमा (६२ अध्याय) एवं ग्रन्थ-पूजा आदिका वर्णन है। इसी प्रकार भविष्य एवं पद्मपुराणके उत्तरखण्ड[2] सारे-के-सारे 'धर्मकोश' कहने योग्य हैं। इस तरह इसमें संदेह नहीं कि पुराण भी धर्मशास्त्रोंके ही समान धर्मके अद्भुत विश्वकोश हैं। इससे भगवान् व्यासकी अति दिव्य चमत्कृत धर्मवत्सलताका किंचित् अनुमान करना शक्य होता है। इसके अतिरिक्त भगवान् वेदव्यासद्वाराविरचित लघुव्यासस्मृति, व्यासस्मृति तथा बृहद्-व्यासस्मृतिके नामसे ३ स्मृतियाँ भी प्राप्त होती हैं, जो वस्तुतः बड़े कामकी हैं। यहाँ सबका परिचय देना तो शक्य नहीं दीखता, यदि उनकी संक्षिप्त सूची भी बनायी जाय तो बहुत-से पृष्ठ लग जायँगे। केवल बृहद्धर्म तथा विष्णुधर्मकी ही सूची बहुत बड़ी हो जायगी। शिवधर्मोत्तरपुराणका भी समावेश अनुमानतः लिङ्ग एवं शिवपुराणमें हुआ दीखता है। अन्यथा उनके शेष धर्मपुराणोंका अब पता नहीं रह गया है। पर भगवान् व्यासने अपनी धार्मिक कथासूक्तियोंका बार-बार पुनः कथनोपकथन किया है। उदाहरणार्थ उनके विभिन्न पुराणोंमें मिलनेवाले कार्तिक-माहात्म्यादि प्रायः अक्षरशः एक ही हैं। वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण प्रायः परस्पर मिलते हैं। अतः कुछ लुप्त होनेपर भी उनका अंश अन्य धर्मपुराणों, उपपुराणोंमें प्राप्त होना चाहिये। इनमेंसे अकेले 'श्रीविष्णुधर्मोत्तर-पुराण' में ही ८०७ अध्याय हैं। यदि इसके धर्मोंके नामकी ही सूची दी जाय तो वह बहुत लम्बी होगी। इससे भगवान् व्यासदेवकी धर्मप्रियताका कुछ अनुमान किया जा सकता है। केवल विष्णुधर्मके तृतीय खण्डान्तर्गत हंसगीतामें जो ११६ (अ० २२७ से ३४२ तक) अध्याय हैं, यहाँ हम उनकी संक्षिप्त सूची देते हैं। इनमेंसे प्रत्येक अध्यायमें एक-एक धर्मका कथन हुआ है। यथा २२७-वर्णधर्म, २२८-२२९-ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्यधर्म, २३०-भक्ष्याभक्ष्यनिरूपण, २३१-द्रव्यशुद्धि, २३२-शौच-स्नान-निरूपण, २३३-जपविधि, २३४-३५-प्रायश्चित्त, २३७-दान-तप-वृद्ध-सेवादिका फल, २४१-धर्म-महिमा, २४३-मानदोष-वर्णन, २४४-मददोष, २४५-४८-लोभ-क्रोध-नास्तिक्य-दोष-वर्णन, अहंकार-दोष-दर्शन, २५१—५३-आशौच, असत्य, हिंसादि, मन, वचन, शरीरके दोष-पाप, २५४-ज्ञान-महिमा, २५५-धर्मप्रशंसा, २५६-गुरुसेवाफल, २५७-स्वाध्याय-महिमा, २५८-ब्रह्मचर्य-महिमा, २६२-यज्ञ-महिमा, २६३-शीलमहिमा, २६४-दमप्रशंसा, २६५-सत्यप्रशंसा, २६६-तपःप्रशंसा, २६७-शौर्यप्रशंसा, २६८-अहिंसाप्रशंसा, हिंसा-दोष-कथन, २६९-क्षमागुणवर्णन, २७०-अनृशंसता, २७१-सदाचार, २७३-तीर्थमहिमा, तीर्थानुसरणफल, २७४-व्रतोपवास-प्रशंसा-फल, २७५-श्रद्धामहिमा, २७६-प्राणायाम, २८१-८४-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि-फल,

---

१-यह श्लोक याज्ञवल्क्यस्मृति १। ३, शिवपुराण-वायवीयसंहिता १। २५, विष्णुपुराण ३। ६। २८, शुक्रनीति १। १५४, गरुडपुराण १। ९३। ३-४, भविष्य०, ब्रह्म० २। ६, विष्णुधर्म १। ७४। ३३ तथा बृहस्पति० आदि अनेक स्थलोंपर प्राप्त होता है। कहीं स्वल्प भिन्न पाठ है।

२-भविष्यपुराणके उत्तरखण्डमें प्रायः सभी व्रतोंका बहुत विस्तारसे वर्णन है। पाद्मोत्तरमें व्रतोंका वर्णन विस्तृत है।

धर्मराज युधिष्ठिर और उनकी धर्मभावना

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन।

धर्मराज युधिष्ठिरका कीर्तन करनेसे धर्म बढ़ता है।

धर्मराज युधिष्ठिर महाराज पाण्डुके सबसे बड़े पुत्र थे। पाण्डुके बड़े भाई धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे, अतः राज्यसिंहासनके अधिकारी पाण्डु ही हुए। उनका शरीर कुछ रोगी था, अतः वे जंगलमें ही रहने लगे। उनकी अनुपस्थितिमें राजकाज विदुरजीकी सहायतासे धृतराष्ट्र करने लगे। महाराज पाण्डुकी कुन्ती और माद्री दो पत्नियाँ थीं। उन्होंने अपने पतिकी आज्ञासे एक अलौकिक दिव्य विद्याके प्रभावसे देवताओंके द्वारा पाँच पुत्र उत्पन्न किये। धर्मके अंशसे युधिष्ठिर, वायुके अंशसे भीम और देवराज इन्द्रके अंशसे कुन्तीके गर्भसे अर्जुन उत्पन्न हुए। दूसरी रानी माद्रीके अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल-सहदेवका जन्म हुआ। महाराज पाण्डुके स्वर्गवासके अनन्तर ऋषिगण इन्हें पितामह भीष्मके सुपुर्द कर गये। भीष्मपितामह धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंको और पाण्डुके इन पाँच पुत्रोंको द्रोणाचार्यसे शिक्षा दिलाने लगे।

धृतराष्ट्र अन्धे होनेके कारण राज्यके अधिकारी नहीं थे, अतः 'पाण्डुके बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र धर्मराज युधिष्ठिरको ही नियमानुसार राज्यसिंहासन मिलेगा' इस बातको लेकर धृतराष्ट्रका बड़ा पुत्र दुर्योधन उनसे बाल्यकालसे ही द्वेष रखता था। वह चाहता था राज्यका अधिकारी मैं बनूँ। उसने अपने अन्धे पिता धृतराष्ट्रको अपनी ओर मिला लिया और पाण्डवोंको भाँति-भाँतिके क्लेश देने लगा, किंतु साक्षात् धर्मके अवतार युधिष्ठिरजी इतना क्लेश देनेपर भी अपने धर्मसे कभी विचलित नहीं हुए। उनका संसारमें कोई भी शत्रु नहीं था, इसीलिये उनका दूसरा नाम अजातशत्रु भी है। युधिष्ठिर स्वभावसे ही निर्वैर, अक्रोधी, क्षमाशील, धैर्यवान्, सत्यवादी, विद्वान्, शान्त, कोमल, निरभिमान, पवित्रहृदय, उदार, त्यागपरायण और समदर्शी थे।

बाल्यकालसे ही ये जो कुछ पढ़ते थे, उसके अनुसार आचरण भी करते थे। इस सम्बन्धमें एक कथा प्रसिद्ध है। आचार्य द्रोणने एक दिन अपने विद्यार्थियोंको 'सत्य बोलो, क्रोध न करो' ऐसा पाठ पढ़ाया। दूसरे दिन उन्होंने सबसे पूछा—'तुमने कितना पढ़ा?' किसीने कहा—हमने दस पृष्ठ याद किये, किसीने बीस बताये। जब इनसे पूछा गया तो ये डरते-डरते बोले, 'मैंने तो केवल दो ही वाक्य याद किये हैं, सो भी अभी कच्चे हैं।' इनके इस उत्तरको सुनकर आचार्यको क्रोध आ गया। उन्होंने दो-तीन छड़ी खींचकर इन्हें लगा दीं, ये चुपचाप खड़े रहे। इसपर आचार्यको बड़ा आश्चर्य हुआ, वे बोले—'तुमने दो वाक्य कौन-से याद किये हैं?' उन्होंने कहा—'क्रोध न करना, सत्य बोलना।' आप छड़ीसे मुझे मार रहे थे, उस समय मेरे मनमें तो क्रोध आ रहा था, किंतु मैं बार-बार अपनेको समझा रहा था कि 'क्रोध नहीं करना चाहिये।' इस प्रकार युधिष्ठिरने जब अपने मनके भाव सत्य-सत्य कह दिये और क्रोध भी नहीं किया तो आचार्यने उन्हें छातीसे चिपटा लिया और कहा—'यथार्थ तो तुमने ही पढ़ा है।'

उस समय राजाओंमें जूआ खेलनेकी परिपाटी थी। एक बार दुर्योधनने छलसे जूएमें इनका सर्वस्व जीत लिया, यहाँतक कि भरी सभामें द्रौपदीको भी दुर्योधनने अपमानित किया। धर्मपाशमें बँधे हुए युधिष्ठिर सब कुछ चुपचाप सहते रहे, उन्होंने चूँ तक नहीं की। ये सदा धर्मका पक्ष लेते थे। जहाँ धर्मके विरुद्ध कुछ भी बात होती थी, ये उसका घोर विरोध करते थे। धर्म ही इनके जीवनका ध्रुव लक्ष्य था। गदायुद्धके नियमके विरुद्ध भीमने जब दुर्योधनकी जाँघमें गदा मार दी तो आप बड़े नाराज हुए और राज्य छोड़कर जंगलमें जानेतकको तैयार हो गये, भगवान्के बहुत समझानेपर कहीं राजी हुए।

जब ये वनवासमें थे तो दुर्योधन इन्हें मारनेकी नीयतसे वनमें गया। वहाँ यक्षोंने उसे बाँध लिया। भीम इससे बड़े प्रसन्न हुए। किंतु धर्मात्मा युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे डाँटकर कहा—'यह कौन-सी बात है, आपसमें जब हम लड़ते हैं तो वे सौ भाई हैं और हम पाँच भाई, यदि कोई दूसरा हममेंसे किसीसे लड़े तो हम एक सौ पाँच भाई हैं, तुम दुर्योधनको अभी जाकर छुड़ाओ।' उनकी आज्ञासे अर्जुनने यक्षोंसे दुर्योधनको छुड़ाया।

सती सावित्रीकी धर्म-दृष्टि

भारतमें सती साध्वी नारियोंका एक अपूर्व इतिहास है, जिसकी उपमा विश्वमें कहीं नहीं मिलती। सती सावित्रीकी कथासे सभी परिचित हैं। सावित्रीने अपने पितासे दृढ़तापूर्वक अपनी धर्म-भावनाकी जो अभिव्यक्ति की है, उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। सती सावित्री अपने पितासे कहती है—

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥

(महा०, वन० २९४। २६)

[पिताजी!] बँटवारा एक ही बार होता है, कन्यादान एक बार ही किया जाता है और 'मैंने दिया' ऐसा संकल्प भी एक बार ही होता है—ये तीन बातें एक-एक बार ही हुआ करती हैं।

सतां सकृत् संगतमीप्सितं परं
ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते।
न चाफलं सत्पुरुषेण संगतं
ततः सतां संनिवसेत् समागमे॥

(महा०, वन० २९७। ३०)

सत्पुरुषोंका तो एक बारका समागम भी अत्यन्त अभीष्ट होता है। यदि कहीं उनके साथ मैत्रीभाव हो गया तो वह उससे बढ़कर बताया जाता है। संत-समागम कभी निष्फल नहीं होता; अतः सदा सत्पुरुषोंके ही संगमें रहना चाहिये।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥
एवंप्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते॥

(महा०, वन० २९७। ३५-३६)

मन, वचन और कर्मसे समस्त प्राणियोंके प्रति अद्रोह, सबपर कृपा करना और दान देना—यह सत्पुरुषोंका सनातन धर्म है। सभी लोग प्रायः अल्पायु हैं और शक्ति एवं कौशलसे हीन हैं। किंतु जो सत्पुरुष हैं, वे तो अपने पास आये शत्रुओंपर भी दया करते हैं।

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति॥

(महा०, वन० २९७। ४२)

सत्पुरुषोंके प्रति जो विश्वास होता है, वैसा विश्वास मनुष्यको अपनेमें भी नहीं होता; अतः प्रायः सभी लोग साधु पुरुषोंके साथ प्रेम करना चाहते हैं।

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति।
सतां सद्भिर्नाफलः संगमोऽस्ति
सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः॥
सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः॥
आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम्।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम्॥

(महा०, वन० २९७। ४७—४९)

सत्पुरुषोंकी वृत्ति निरन्तर धर्ममें ही रहा करती है, वे कभी दुःखित या व्यथित नहीं होते। सत्पुरुषोंके साथ जो सत्पुरुषोंका समागम होता है, वह कभी निष्फल नहीं होता और संतोंसे संतोंको कभी भय भी नहीं होता। सत्पुरुष सत्यके बलसे सूर्यको भी अपने समीप बुला लेते हैं, वे अपने तपके प्रभावसे पृथ्वीको धारण किये हुए हैं। संत ही भूत और भविष्यत्‌के आधार हैं, उनके बीचमें रहकर सत्पुरुषोंको कभी खेद नहीं होता। यह सनातन सदाचार सत्पुरुषोंद्वारा सेवित है—यह जानकर सत्पुरुष परोपकार करते हैं और प्रत्युपकारीकी ओर कभी दृष्टि नहीं डालते।

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो
न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं
तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति॥

(महा०, वन० २९७। ५०)

सत्पुरुषोंमें जो प्रसाद (कृपा एवं अनुग्रहका भाव) होता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। सत्पुरुषोंसे न तो किसीका कोई प्रयोजन नष्ट होता है और न सम्मानको ही धक्का पहुँचता है। ये तीनों बातें (प्रसाद, अर्थसिद्धि एवं मान) साधु पुरुषोंमें सदा निश्चितरूपसे रहती हैं; इसीलिये संत सबके रक्षक होते हैं।
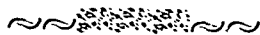
त्वर्यतां त्वर्यतां हे हे सद्यो दैत्यपुरोहिताः।
कृत्यां तस्य विनाशाय उत्पादयत मा चिरम्॥

(विष्णुपुराण १। १८। ९)

'अरे अरे पुरोहितो! जल्दी करो, जल्दी करो; इसको नष्ट करनेके लिये कृत्या उत्पन्न करो। अब देरी न करो।'

तब प्रह्लादजीके पास जाकर पुरोहितोंने उनको भाँति-भाँतिसे समझाया और प्रह्लादके न माननेपर वे धमकाकर बोले—

यदास्मद्वचनान्मोहग्राहं न त्यक्ष्यते भवान्।
ततः कृत्यां विनाशाय तव सृक्ष्याम दुर्मते।

(विष्णुपुराण १। १८। ३०)

'अरे दुर्बुद्धि! यदि तू हमारे समझानेपर भी इस मोहमय आग्रहको नहीं छोड़ेगा तो तुझे मार डालनेके लिये हम कृत्या उत्पन्न करेंगे।'

प्रह्लादजीने कहा—'कौन जीव किससे मारा जाता है. और कौन किससे रक्षित होता है?' प्रह्लादकी बात सुनकर पुरोहितोंने क्रोधित होकर आगकी भयानक लपटोंके समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया। उस भयानक कृत्याने अपने पैरकी धमकसे धरतीको कँपाते हुए बड़े क्रोधसे प्रह्लादकी छातीमें त्रिशूलका प्रहार किया। पर आश्चर्य! उस बालकके वक्षःस्थलसे टकराते ही वह तेजोमय त्रिशूल सैकड़ों टुकड़े होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। 'जिस हृदयमें निरन्तर भगवान् सर्वेश्वर श्रीहरि निवास करते हैं, उसमें लगकर वज्र भी टुकड़े-टुकड़े हो जाता है—फिर इस त्रिशूलकी तो बात ही क्या है।'

यत्रानपायी भगवान् हृद्यास्ते हरिरीश्वरः।
भङ्गो भवति वज्रस्य तत्र शूलस्य का कथा॥

(विष्णुपुराण १। १८। ३६)

पापी पुरोहितोंने पापरहित प्रह्लादपर कृत्याका प्रयोग किया था, अतएव कृत्याने लौटकर उन्हींका नाश कर दिया और फिर स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने गुरुओंको कृत्याके द्वारा जलाये जाते देखकर महामति प्रह्लाद—'हे कृष्ण! हे अनन्त! रक्षा करो, रक्षा करो'—कहते हुए उनकी ओर दौड़े।

प्रह्लादजीके हृदयमें न राग था, न द्वेष; हिंसाकी तो वहाँ कल्पना ही नहीं थी। अतएव उन सर्वत्र भगवान्का दर्शन करनेवाले सर्वथा अहिंसापूर्ण-हृदय क्षमाशील प्रह्लादने अपनेको निश्चितरूपसे मारनेकी घोर व्यवस्था करनेवाले गुरुपुत्रोंको बचानेके लिये भगवान्से विनीत प्रार्थना की। प्रह्लादजीने कहा—

'हे सर्वव्यापी, विश्वरूप, विश्वस्रष्टा जनार्दन! इन ब्राह्मणोंकी इस मन्त्राग्निरूप दुःसह दुःखसे रक्षा कीजिये। सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् विष्णु सर्वत्र सभी प्राणियोंमें व्याप्त हैं—मेरे इस अनुभूत सत्यके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जायँ। यदि मुझे अपने विपक्षियोंमें भी सर्वव्यापक और अविनाशी भगवान् विष्णु ही दीखते हैं, तो ये पुरोहितगण जीवित हो जायँ। जो लोग मुझे मारनेको आये, जिन्होंने मुझे विष दिया, जिन्होंने अग्निमें जलाया, जिन्होंने हाथियोंसे कुचलवाया और जिन्होंने विषधर सर्पोंसे कटवाया, उन सबके प्रति भी मैं यदि समान (सर्वथा हिंसारहित) मित्रभावसे रहा हूँ और मेरे मनमें कभी पाप (द्वेष या हिंसा)-बुद्धि न हुई हो तो उस सत्यके प्रभावसे ये असुर-पुरोहित जीवित हो जायँ।'

प्रह्लादने इस प्रकार भगवान्का स्तवन करके उन पुरोहितोंको स्पर्श किया और स्पर्श पाते ही वे स्वस्थ होकर उठ बैठे एवं विनयपूर्वक सामने खड़े हुए बालकसे गद्गद होकर कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे आशीर्वाद देते हुए बोले—

दीर्घायुरप्रतिहतो बलवीर्यसमन्वितः।
पुत्रपौत्रधनैश्वर्यैर्युक्तो वत्स भवोत्तमः॥

(विष्णुपुराण १। १८। ४५)

'वत्स! तू परम श्रेष्ठ है। तू दीर्घायु हो, अप्रतिहत हो, बल-वीर्यसे तथा पुत्र-पौत्र एवं धन-ऐश्वर्यादिसे सम्पन्न हो।'

यह है धर्मनिष्ठा, अहिंसावृत्ति, राग-द्वेषशून्यता, क्षमाशीलता, परदुःखकातरता और सर्वत्र भगवद्दर्शनका ज्वलन्त उदाहरण!

धन तृष्णा और लोभको बढ़ाता है। अत: ऋषि, मुनि, संत, महात्मा तथा धर्मात्मा आदि उससे दूर रहते हैं। गोस्वामीजी भी लिखते हैं—

सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता।

सच्चा सुख तो केवल धर्मसे होता है और धर्मका ज्ञान धर्मशास्त्रोंके अध्ययनसे होता है। सबसे अच्छी, पवित्र, विशुद्ध क्रियाको ही धर्म या सत्कर्म कहते हैं, उसके आचरणसे पूरा संसार सुखी हो जाता है।

आचार्यचरण भगवान् शंकरने अपने ग्रन्थों तथा गीता आदिके भाष्योंमें मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंके वचनोंको प्रमाणस्वरूप उपन्यस्त करते हुए विश्वदृष्टि-निवृत्तिपूर्वक सर्वत्र एक ही परमात्माके अवबोधद्वारा कैवल्य-प्राप्तिमें परम कल्याण माना है और इसीमें मानव-जीवनकी सफलता पायी है। उन्होंने दिव्य ज्ञान और शान्तिकी दिव्य धारा प्रवाहित की है। विश्वका कल्याण आचार्यचरणके द्वारा निर्दिष्ट विशुद्ध धर्मज्ञानमय सदाचारके अनुसरणमें ही है। उनके धर्ममय उपदेश सभीके लिये कल्याण-मङ्गलका पथ प्रशस्त करते आ रहे हैं। आज सभीको उस पथपर चलनेकी विशेष आवश्यकता है, तभी सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है।
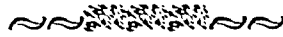
पुष्टिमार्गमें आचार्यचरण श्रीवल्लभाचार्यद्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्रोंकी शिक्षासे ही भारतीय अपने सदाचरणसे देवत्वको प्राप्त होते आये हैं और हमारा यह भारतवर्ष देवभूमिके नामसे अभिवन्दित हुआ है। धर्मशास्त्र ही कर्ममार्गको निर्देशित करते हैं। संसारमें कर्म ही अभ्युदय और पतनका कारण होता है।

भारतवर्षमें विभिन्न सम्प्रदाय और अनेकानेक भावधाराएँ हैं। प्रत्येक सम्प्रदायमें धर्माचार्य और पूज्यपुरुषोंका प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने सनातनधर्मके ही परिप्रेक्ष्यमें एक विशिष्ट आचारसम्पन्न जीवन-शैलीका उद्घाटन कर धर्मानुसार आचरण कराते हुए भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखलाया है। उनकी शिक्षाके अनुसार चलकर लोगोंने प्रभुके प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं।

भारतवर्षके विभिन्न सम्प्रदायोंमें वल्लभ-सम्प्रदाय भी श्रीकृष्ण-भक्तिका सरस माधुर्य-सम्पन्न सम्प्रदाय है। इसके आद्य आचार्य महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने भारतवर्षके समस्त वेद, पुराण, उपनिषद् आदिका चूडान्त ज्ञान प्राप्त कर तथा व्यास, जैमिनि, कणाद, कपिल और गौतमप्रणीत सूत्ररूप षड्दर्शनोंके भाष्योंका आपादचूड अनुशीलन कर, मायावादका खण्डन करते हुए शुद्ध ब्रह्मवादको सर्वोत्तम रीतिसे प्रतिपादित किया। अपनी शरणमें आनेवाले प्रत्येक वैष्णवको आचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजी नन्दनन्दन प्रभु श्रीगोवर्धनधरण श्रीनाथजीके जगपावन चरणारविन्दके समीप ले गये। घोर कलियुगमें वैश्वानरावतार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणने समष्टिके झंझावातोंसे मार्गमें भटकी हुई सृष्टिको निर्भ्रान्त करके करोड़ों जीवोंको भगवच्चरणारविन्दकिंजल्कका लोलुप भ्रमर बनाकर उनके उद्धारका मार्ग प्रशस्त कर दिया, और उन्हें समर्पणसहित भगवत्सेवारसका ऐसा आस्वादन कराया जो कि नित्य-नवीन, नित्य-मधुर एवं नित्य-नित्य ही मनको आनन्दित करता रहता है।

जनमानसको अपने ज्ञान और शिक्षाओंसे भक्तिमार्गके उत्तुंग सिंहासनपर समारूढ कर आचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीने—

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥[१]

—उद्घोष करके निराशाके आवरणसे उसे विमुक्त कर दिया तथा श्रीकृष्णचरणानुरक्तिकी मनोमुग्धकारी एवं परम आह्लादकारी स्निग्ध-समीरणसे सबको सुवासित कर दिया।

श्रीवल्लभ एवं धर्मशास्त्र

आचार्यचरण महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने एक ओर भारतके जनमानसको प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन कराये तो दूसरी ओर अनेक धर्मग्रन्थोंकी रचना करके प्राणीमात्रकी

१-सदा-सर्वदा पति, पुत्र, धन, गृह—सब कुछ श्रीकृष्ण ही हैं—इस भावसे व्रजेश्वर श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये, भक्त है। इसके अतिरिक्त किसी भी देश, किसी भी वर्ण, किसी भी आश्रम, किसी भी अवस्थामें और किसी भी समय अन्य कोई

अभिमतको स्पष्ट करते हुए तथा उनके मतकी पुष्टि करते हुए अपने सिद्धान्तोंकी स्थापना की है।

'मधुराष्टक'में मधुराधिपति प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन अतीव मधुर हैं आदि-आदि बातोंका प्रतिपादन हुआ है। इसमें प्रभुके रूप एवं लीलाकी मधुरता है। **'पुरुषोत्तमसहस्रनाम'** नामका यह पुराण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुके सहस्राधिक नामोंका संकलन है। आचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीने श्रीमद्भागवतरूपी महासागरसे भगवन्नामरूप मुक्ताओंको इसमें एकत्र किया है। इनका स्मरण करनेसे श्रीकृष्णचरणानुरक्तिकी प्राप्ति होती है।

प्रभु श्रीनाथजीके वदनावतार आचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीने लघु सोलह ग्रन्थोंकी और रचना की है, जिसे 'षोडशग्रन्थ' कहते हैं। पुष्टि-सम्प्रदायमें इनका अति महत्त्व है। वैष्णवजन इनका नित्य पाठ करते हैं। वे इस प्रकार हैं—'यमुनाष्टक', 'बालबोध', 'सिद्धान्तमुक्तावली', 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद', 'सिद्धान्तरहस्यम्', 'नवरत्नम्', 'अन्तःकरणप्रबोध', 'विवेक-धैर्याश्रयनिरूपणम्', 'श्रीकृष्णाश्रयः', 'चतुःश्लोकी', 'भक्तिवर्धिनी', 'जलभेद', 'पञ्चपद्यानि', 'संन्यासनिर्णय', 'निरोधलक्षणम्' एवं 'सेवाफलम्'।

आचार्यचरण महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने भगवद्धर्म-विषयक अनेक धर्मग्रन्थोंकी रचना करके वैष्णवमात्रका महान् उपकार किया है। सुतरां अष्टछापके अन्तर्गत अपने चार भक्तकवि गायक शिष्य श्रीसूरदासजी, श्रीकुंभनदासजी, श्रीपरमानन्ददासजी तथा श्रीकृष्णदासजीको अपना ज्ञानोपदेश देकर उनसे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रकी दिव्यातिदिव्य लीलाओंको भक्तिमय पद्यबद्ध गान करवाया।

आचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीने चतुःश्लोकीमें पुष्टिमार्गके बारेमें स्वयं ये वचनामृत कहे हैं—

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि।
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्॥

पुष्टिमार्गमें श्रीहरि साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति दास्य (सेवा)-भाव ही धर्म है। श्रीहरि ही अर्थ अर्थात् सम्पत्ति, निधि और अपने सर्वस्व हैं। प्रभुके दर्शनकी इच्छा ही काम है और श्रीकृष्णका ही हो जाना—उनको ही प्राप्त कर लेना मोक्ष है।

तिरोधान-लीला

शिक्षाके श्लोक—आचार्यचरण महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी संन्यास ग्रहण कर श्रीहनुमानघाट काशीमें विराज रहे हैं। इन्होंने मौनव्रत धारण कर रखा है। सं० १५८७ आषाढ़ शुक्ल द्वितीयाको मध्याह्न-कालमें तिरोधान-लीलाके पूर्व श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीविट्ठलनाथजी—दोनों पुत्रोंकी प्रार्थनापर आचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीने गङ्गाकी पावन रेतमें ही निम्न शिक्षा-श्लोक लिख दिये—

यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथंचन।
तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽप्युत।
सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम॥
न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकीम्।
भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः॥
परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा।
सेव्यः स एव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः॥

आचार्यचरण श्रीमहाप्रभुजीने अपने सुपुत्रों एवं सम्प्रदायके अन्य शिष्योंको इन श्लोकोंके द्वारा यह शिक्षा दी है कि यदि किसी भी प्रकारसे तुम भगवान्से विमुख हो जाओगे तो काल-प्रवाहमें स्थित देह तथा चित्त आदि तुम्हें पूरी तरह खा जायँगे। यह मेरा दृढ़ मत है। भगवान् श्रीकृष्णको लौकिक मत मानना। भगवान्को किसी लौकिक वस्तुकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'सब कुछ भगवान् ही हैं। इस लोकमें जो भी है वह भगवान् ही है। हमारा लोक तथा परलोक भी उन्हींसे है।' मनमें यह भाव बनाये रखना चाहिये। इस भावको मनमें स्थिर कर सर्वभावसे गोपीश्वर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवा करनी चाहिये। वे ही तुम्हारे लिये सब कुछ करेंगे।

अन्तमें आचार्यचरण गङ्गाकी ओर बढ़े तथा परम पावनी गङ्गाके कलिमलहारी सलिलमें प्रवेश कर गये। पुष्टिमार्गमें वे अद्यावधि साक्षात् हैं। प्रभु श्रीनाथजीकी सेवामें वे नित्य विराजमान हैं। नन्दनन्दन प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दके निधान हैं। सम्प्रदायके धर्मशास्त्रानुसार व्यक्तिको चाहिये कि सभी ऊहापोहोंसे मुक्त होकर वल्लभाधीश, प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका चरणाश्रय ग्रहण कर ले और प्रभुकी सेवा स्मरण कर अपना जीवन सुधार ले।

(श्रीप्रभुदासजी वैरागी, एम्० ए०, बी० एड्०, साहित्यालंकार)
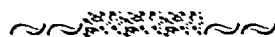
लिये 'सुवर्ण' अर्थात् धनकी आवश्यकता होती है। परंतु धनार्जन उत्तम व्यवहारसे—ईमानदारीसे करना चाहिये और विचारपूर्वक उसका उपयोग करना चाहिये। इस संदर्भमें संत तुकाराम कहते हैं—

जोडोनिया धन उत्तम व्यवहारे।
उदास विचारे वेचकरी उत्तमचि गति तो एक पावेल।
उत्तम भोगील जीव खाणी॥
तुका म्हणे हेचि आश्रमाचे फळ॥

भोजनोपरान्त धार्मिक चर्चा करे और एकान्तमें निवास करके ग्रन्थोंका वाचन कर चिन्तन और मनन करे तथा उन्हें अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करे। जीवनका प्रत्येक क्षण अमूल्य है। उसे निरर्थक न होने दे।

ऐका सदैवप्रणाचे लक्षण। रिकामा जाऊं नेदीक्षण।
प्रपंच व्यवसायाचे ज्ञान। वरे पाहे॥

एक बातका ध्यान विशेषरूपसे रखे कि मुझे जो कुछ भी प्राप्त हुआ है, वह सब भगवान्‌का दिया हुआ है।

आहे तितुके देवाचे। ऐसे वर्तणे निश्चयाचे॥

यथासम्भव तीर्थयात्रा करनी चाहिये।-

तीर्थाटन करावे॥

तीर्थाटन करनेसे मनको शान्ति प्राप्त होती है और मानव धर्म-बुद्धिवाला बनता है।

समर्थ कहते हैं—संसारका कार्य करते समय भगवान्‌का सदैव स्मरण रखना चाहिये, यही इहलोक और परलोकमें भी सार्थक होता है—

प्रपंच करावा नेमक। पाहावा परमार्थ विवेक।
जेणे करिता उभय लोक। संतुष्ट होती।
मरावे परि कीर्ति रूपे उरावे॥

इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है।
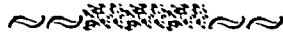
परहित-धर्म

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

तामसी प्रकृतिका महान् बलशाली रावण जगज्जननी सीताका अपहरण करके लिये जा रहा था। वयोवृद्ध पक्षिराज जटायुने सीताका करुण विलाप सुना और वे दुर्वृत्त रावणके हाथसे उन्हें छुड़ानेके लिये रावणसे भिड़ गये। पक्षिराजने रावणको रणमें बहुत छकाया और जबतक उनके जीवनकी आहुति न लग गयी, तबतक लड़ते रहे। अन्तमें रावणने जटायुके दोनों पक्ष काटकर उन्हें मरणासन्न बनाकर गिरा दिया और वह सीताजीको ले गया। कुछ समय बाद भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ सीताजीको खोजते हुए वहाँ पहुँचे। जटायुको अपने लिये प्राण न्योछावर किये देखकर भगवान् श्रीराम गद्‌गद हो गये और स्नेहाश्रु बहाते हुए उन्होंने जटायुके मस्तकपर अपना हाथ रखकर उसकी सारी पीड़ा हर ली। फिर गोदमें उठाकर अपनी जटासे उसकी धूल झाड़ने लगे।

दीन मलीन अधीन ह्वै अंग बिहंग पर्‍यो छिति छिन्न दुखारी।
राघव दीन दयालु कृपालु कों देखि दुखी करुना भइ भारी॥
गीध कों गोद में राखि कृपानिधि नैन-सरोजन में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी॥

गृध्रराज कृतार्थ हो गये। वे गृध्र-देह त्याग कर तथा चतुर्भुज नीलसुन्दर दिव्यरूप प्राप्त करके भगवान्‌का स्तवन करने लगे—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥
स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥

स्तवन करनेके पश्चात् अविरल भक्तिका वर प्राप्त करके जटायु वैकुण्ठधामको पधार गये—

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

धर्मशास्त्रोंसे ही शान्तिका संदेश मिल सकता है

(शृंगेरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराजके सदुपदेश)

[प्रस्तोता—भक्त श्रीरामशरणदासजी पिलखुवा]

(१)धर्मके बिना मानव पशुके समान माना गया है। धर्मशास्त्रानुसार जीवन-यापन करनेवाला ही 'मानव' कहलानेका अधिकारी है। हमारे धर्मशास्त्रोंमें मानवको पग-पगपर सत्-मार्गपर चलनेकी प्रेरणा दी गयी है। धर्मशास्त्रोंमें वर्णित परम्पराओंका उल्लंघन करनेके कारण ही आज मानव दानव बनता जा रहा है। धर्मशास्त्रोंकी अवहेलना कर मनमाने ढंगके खान-पान तथा आहार-विहारके कारण ही पूरा संसार अशान्तिसे त्रस्त है। धर्मशास्त्रोंद्वारा बताये गये सात्त्विकताके मार्गपर चलनेमें ही कल्याण है।

आज देशका यह महान् दुर्भाग्य है कि हमारे धर्मप्राण भारतमें राजसी और तामसी वृत्ति बढ़ती जा रही है तथा सतोगुण क्षीण होता जा रहा है। दूसरे देशोंमें एक राष्ट्राध्यक्षका सिर काटकर दूसरा राष्ट्राध्यक्ष बनता है, अभी भारतमें ऐसा नहीं है। हमारे धर्मप्राण देशमें सतोगुण बढ़ना चाहिये, अन्यथा हमारे यहाँ भी दूसरे देशोंकी तरह हिंसा बढ़ेगी। आज देशमें फूट और स्वार्थकी नीति नाश कर रही है, पता नहीं देशमें क्या होगा? भारत अखण्ड रहे और खण्डित न होने पाये, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

(२) मानव शान्ति चाहता है। शान्ति पानेके लिये वह बहुत कुछ प्रयत्न करता रहता है, परंतु शान्तिके बदलेमें अशान्तिका ही अनुभव कर रहा है। इसलिये हमको सोचना है कि हमने लक्ष्य पानेके लिये जो रास्ता पकड़ा है, वह ठीक है या नहीं! हम ज्यादातर अपने लौकिक सुखको लक्ष्यमें रखकर, दूसरोंकी तरफ दृष्टि डाले बिना बहुत कुछ करते रहते हैं। हम यह भूलते जा रहे हैं कि अपने किये हुए कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। बहुतसे लोग इस निश्चयपर अड़ गये हैं कि मरनेके बाद कुछ नहीं है या सब कुछ ठीक हो जायगा, यानी हमें बुरे कर्मोंका फल भोगनेकी जरूरत है ही नहीं। यदि किसी आदमीको यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि अपने किये हुए अच्छे या बुरे कर्मोंका फल हमें भोगना ही पड़ता है, तब हम बहुतसे बुरे कर्मोंके करनेसे जरूर बच सकते हैं। अच्छे और बुरे कर्मोंका निर्णय केवल हमारे अनुभवसे ही नहीं, अपितु भगवद्गीता-जैसे उत्तम ग्रन्थोंसे ही हो सकता है। यदि हम भगवान्के ऊपर श्रद्धा और भक्ति रखें तो बुरे कर्म भी नहीं होंगे और यदि मनमानी करते रहे तो हम जिस लक्ष्यपर पहुँचना चाहते हैं, वहाँ बिलकुल नहीं पहुँच सकते। यदि हम संतोंकी वाणियोंका अध्ययन कर उनके अनुसार अपना जीवन बितायें तो अवश्य शान्ति पायेंगे और सुखी रहेंगे।

(३) हमें पुनर्जन्मके झोंकोंसे आत्माकी मुक्तिके लिये शास्त्रानुसार सत्य कर्म करने चाहिये और मानसिक शुद्धताकी ओर ध्यान देना चाहिये, तभी पुनर्जन्मके झोंकोंसे बचा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

(४) सबको प्रेमसे और भाईचारेसे रहना चाहिये तथा राग-द्वेषसे दूर रहना चाहिये। प्रेमसे और भाईचारेसे रहनेसे ही देशमें और समस्त संसारमें स्थायी शान्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं।

(५) समाजमें अनुशासन और व्यवस्था बनाये रखनेके लिये मनुष्यके जीवनमें धर्मशास्त्रोंका तथा धर्मका बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। आज हमारे देशमें लोगोंमें धर्मके प्रति विश्वासकी कमी होनेके कारण ही शान्ति-व्यवस्थाके लिये बनाये गये कानूनोंका उल्लंघन होता है। सच्चा धर्म मनुष्यको कानूनोंका पालन करनेके लिये वैसे ही प्रेरित करता है, जैसे धार्मिक नियमों और मर्यादाओंका पालन करनेके लिये करता है। बहुतसे लोग सत्ताका अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करनेके बाद यह भूल जाते हैं कि कानून उनके लिये ही बनाये गये हैं। धार्मिक आस्थाओंके फलस्वरूप लोगोंके बीच सम्पत्तिके समुचित वितरणको बल मिलता है; क्योंकि इस बारेमें हमारे शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति अर्जित करना चोरीके समान है। हिन्दूधर्मके संतोंने देशकी भावनात्मक एकता सुदृढ़ करनेके लिये ही विभिन्न भागोंमें मठोंकी स्थापना की थी, जिससे समस्त भारतके हिन्दुओंमें एकता बनी रहे और धर्मका प्रचार तथा धर्मकी रक्षा होती रहे। संतोंने देशकी एकता बनाये रखनेमें और धर्मकी रक्षा करनेमें एवं हिन्दुओंको विधर्मी होनेसे बचानेमें बड़ा

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥[१]

(मनु० ५। १५५)

धर्मशास्त्रका आदेश विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित है। इसमें नारीके प्रधान धर्म—पातिव्रत्यका रहस्य भरा है। नारी सदा पुरुषकी सेविका बनी रहे, यह भाव इसका कदापि नहीं है। नारी-जीवनको [आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक] त्रिविधोन्नतिके पथपर प्रतिष्ठित रखनेके लक्ष्यसे ही इस प्रकार पातिव्रत्य-धर्मका विधान है। पतिव्रता स्त्रीका प्रधान समय पतिकी सेवा-शुश्रूषा आदि पति-सम्बन्धी बातोंमें ही व्यतीत होता है। इसलिये स्वाभाविक ही उसकी भावनाएँ पति-प्रधान रहती हैं। इस प्रकार सदा पतिभावना-प्रधान अन्तःकरणवाली पतिव्रता स्त्री मरणकालमें स्वाभाविकरूपसे अपने पतिका चिन्तन करते हुए ही प्राण त्याग करती है और गीताशास्त्रके—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥[२]

—इस सिद्धान्तके अनुसार वह स्त्री स्त्री-योनिसे मुक्त होकर पुरुष-योनिको प्राप्त होती है तथा पूर्वार्जित धर्मनिष्ठाके प्रभावसे ही पुरुष-योनिमें धर्मनिष्ठ एवं भगवत्परायण होकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेती है। इतना ही नहीं, पतिमें ईश-बुद्धि रखनेवाली पतिव्रता नारी पतिरूपमें सदा भगवान्‌की उपासना करती हुई अन्तमें भगवान्‌के लोकको ही प्राप्त होती है।

पातिव्रत्य-पालनकी जो अक्षय महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है, वह '**रोचनार्था फलश्रुतिः**' नहीं, अपितु अक्षरशः सत्य है। पातिव्रत्यके प्रभावसे नारीके अन्तःकरणमें ही सत्त्वगुणकी इतनी अधिक वृद्धि हो सकती है कि '**सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्**'-के आधारपर उसके लिये ज्ञानकी प्राप्ति-तक सम्भव हो जाय। मैत्रेयी आदिके ऐसे उदाहरण हैं। पातिव्रत्यकी ऐसी पूर्ण निष्ठा प्राप्त कर लेनेपर नारीको जीव-विकासकी पूर्णता अर्थात् कैवल्यपद—मोक्षकी प्राप्तिके लिये जीव-क्रमोन्नतिकी स्वाभाविक कक्षाओंको क्रमशः पार करने और उसके लिये पुरुष-योनिमें जन्म लेनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती! स्त्री-योनिमें ही वह मोक्ष प्राप्त कर लेती है। निष्ठाके अनुसार ये पातिव्रत्य-धर्म-पालनके आध्यात्मिक लाभ हैं।

जिस योनिमें प्रसव आदिके कारण अनेकों बार मरण-तुल्य कष्ट भोगना पड़ता है, ऐसी स्वाभाविक कष्टप्रद नारी-योनिसे जीवोंको मुक्त करानेके लिये ही धर्मशास्त्रने नारीके प्रति पातिव्रत्य-धर्मकी प्रतिष्ठा की है। जो नारी पातिव्रत्यका पालन नहीं करती, उसका जीवन कामवासनाप्रधान रहता है। जिससे स्वाभाविक ही जिस भावका प्राधान्य होता है, उसी भावकी स्फूर्ति मरणकालमें होती है और उसीके अनुसार उसकी भावी गति होती है। इसलिये ऐसी स्त्रियोंको पुनः स्वाभाविक कष्ट-प्रधान नारी-योनिमें जन्म लेना पड़ता है। पातिव्रत्य-धर्म नारी-योनिमें जीवको स्वाभाविक क्रमोन्नतिके पथपर प्रतिष्ठित रखता है और उससे विरत होनेपर नारी अपने जीवोन्नतिके स्वाभाविक पथसे च्युत हो जाती है।

पातिव्रत्यके यथोचित पालनसे नारीमें स्वाभाविकरूपसे ही सिद्धियोंके रूपमें दैवी शक्तियोंका आविर्भाव होता है। यह पातिव्रत्यधर्म-पालनका आधिदैविक लाभ है। पुरुष-शरीरमें जो अलौकिक शक्तियाँ—योग, तप आदि कठिन प्रयासपूर्ण उपायोंसे प्राप्त होती हैं, वे नारी-शरीरमें पातिव्रत्य-पालनसे अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। रामायण, महाभारत आदि भारतीय इतिहास-ग्रन्थों और पुराणोंमें पातिव्रत्यके प्रभावसे त्रिकालदर्शिनी सिद्धिसम्पन्ना अनेकों नारियोंके उदाहरण मिलते हैं। वही भारतभूमि है और वही नारी-परम्परा है, भारतीय नारी अपने सतीत्व-धर्मका यथावत् पालन कर आज भी वही असाधारण दैवी शक्तियाँ प्राप्त कर सकती है, इसमें संदेह नहीं।

पातिव्रत्यके आधिभौतिक लाभ—पूर्ण सुखमय गार्हस्थ्य-जीवन, उत्तम मेधावी धर्मनिष्ठ संतान आदि सहस्रों रूपोंमें

१-स्त्रियोंके लिये पृथक्‌रूपसे कोई यज्ञ, व्रत तथा उपवास करनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल पतिपरायणताके द्वारा ही वे उत्तम गतिको पा सकती हैं। २-मानव मरणकालमें जिस भाव (वासना)-का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, उसी भावसे भावित होकर उसी भाव-प्रधान गतिको प्राप्त करता है।

सनातन-धर्मका स्वरूप

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीगोवर्धनमठाधीश्वर ब्रह्मलीन स्वामीजी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

सनातनका अर्थ है 'नित्य' । वैदिक धर्मका नाम 'सनातन-धर्म' अत्यन्त उपयुक्त है। अन्य किसी भी भाषामें 'धर्म' का वाचक कोई शब्द नहीं मिलता। अंग्रेजीमें इसके लिये 'रिलीजन' शब्द है, पर धर्मका भाव 'रिलीजन'में पूरी तरहसे नहीं उतर पाता। 'रिलीजन' शब्द धर्मके उस भावको लिये हुए है, जो बहुत सीमित और संकुचित है, पर सनातन-धर्म इतना विशाल है कि इसमें हमारे इस जन्मके ही नहीं, अपितु पूर्वजन्म और भविष्य-जन्मके सभी विषयों और परिणामोंका पूर्णतया समावेश हो जाता है।

शास्त्रोंमें धर्मकी परिभाषा '**धारणाद् धर्मः**' की गयी है। अर्थात् धर्म वह है, जो हमें सब तरहके विनाश और अधोगतिसे बचाकर उन्नतिकी ओर ले जाता है। अतः 'रिलीजन' की तरह 'धर्म' शब्द सीमित और संकुचित अर्थवाला नहीं है। उदाहरणार्थ—वेद केवल पारलौकिक सुख-प्राप्तिका मार्ग बताकर ही नहीं रह जाते, अपितु इस लोकमें सर्वाङ्गीण उन्नति और समृद्धिके पथका भी प्रदर्शन करते हैं।

सनातन-धर्मके अर्थ

पहला अर्थ

व्याकरणकी दृष्टिसे 'सनातनधर्म' शब्दमें 'षष्ठी-तत्पुरुष' समास है, जैसे '**सनातनस्य धर्म इति सनातनधर्मः**' सनातनका धर्म। सनातनमें लगायी गयी षष्ठी विभक्ति स्थाप्य-स्थापक-सम्बन्ध-बोधक है। दूसरे शब्दोंमें—जिस प्रकार ईसाई, मुहम्मदी, ज़रथुस्त्र तथा बौद्धधर्म अपने साथ ही ईसा, मुहम्मद, ज़रथुस्त्र तथा बुद्धके भी बोधक हैं, उसी प्रकार सनातन-धर्म भी यह बताता है कि यह धर्म उस सनातन अर्थात् नित्य-तत्त्व परमात्माद्वारा ही चलाया गया है, किसी व्यक्तिके द्वारा नहीं।

सनातन-धर्मको छोड़कर और सभी धर्मोंको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—(१) वे धर्म जो पूर्वकालमें थे, पर अब विद्यमान नहीं हैं, (२) वे धर्म जो पूर्वकालमें नहीं थे, पर अब हैं। पर सनातनका अन्तर्भाव इन दोनोंमेंसे किसीमें भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह धर्म अन्य धर्मोंके जन्मसे भी पूर्व विद्यमान था और अब भी विद्यमान है।

—पर भविष्यमें? इस प्रश्नके प्रसंगमें हमें '**यजन्यं तदनित्यम्**' (जो उत्पन्न होनेवाला है, वह अवश्य नष्ट हो जायगा)—यह प्राकृतिक नियम ध्यानमें रखना पड़ेगा। इस नियमका कोई अपवाद न अबतक हुआ और न आगे कभी होगा ही। उदाहरणस्वरूप—सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंके विनाश तथा धर्मके संस्थापनके लिये जब भगवान् मानव-शरीरके रूपमें अवतरित होते हैं और अपना कार्य पूरा कर लेते हैं, तब वे चले जाते हैं, इस प्रकार भगवान्का अवतरित दिव्य शरीर भी इस प्राकृतिक नियमका अपवाद नहीं है।

दूसरा अर्थ

सनातन-धर्म अनादि और अनन्त है। क्योंकि सृष्टिकी उत्पत्तिके समयसे लेकर सृष्टि-प्रलयतक यह विद्यमान रहता है। यह सनातन इसलिये नहीं है कि यह सनातन ईश्वरद्वारा स्थापित है, अपितु यह स्वयं भी सनातन या नित्य है । यह प्रलयतक अस्तित्वमें रहेगा, प्रलयके बाद भी यह नष्ट होनेवाला नहीं है, अपितु गुप्तरूपमें तब भी यह अवस्थित रहता है। पुनः सृष्टिके साथ ही यह लोगोंकी रक्षा और उन्नति करनेके लिये प्रकट हो जाता है। व्याकरणकी दृष्टिसे इस दूसरे अर्थका बोधक 'कर्मधारय' समास है, जिसके अनुसार 'सनातनधर्म' इस पदका विग्रह होता है—'**सनातनश्चासौ धर्मश्च**' अर्थात् सनातनरूपसे रहनेवाला धर्म।

इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरे धर्म झूठे हैं। इसके विपरीत हमारा तो यह कथन है कि सभी धर्म किसी-न-किसी रूपमें उस अन्तिम लक्ष्यतक मनुष्यको पहुँचाते तो हैं, पर वे किसी व्यक्तिविशेषके द्वारा संस्थापित होनेके कारण समयके साथ नष्ट भी हो जाते हैं, यह सनातन-धर्म ही ऐसा है, जो सृष्टिकालमें सारी रचनाको उन्नतिकी ओर प्रेरित करता है, प्रलयमें सूक्ष्मरूपसे रहता है और अगले कल्पमें पुनः प्रकट हो जाता है।

तीसरा अर्थ

इसमें भी 'सनातन-धर्म' 'कर्मधारय' समासमें है पर

कि इसको जीवित रखनेमें सनातन-धर्म एक मुख्य कारण रहा है, जो—

(१) सनातन-तत्त्व अर्थात् परमात्माद्वारा संस्थापित है (पहला अर्थ—सनातनस्य धर्मः, 'षष्ठी-तत्पुरुष' समास अर्थात् सनातनका धर्म)।

(२) स्वयं भी सनातन है (दूसरा अर्थ—सनातनश्चासौ धर्मः, 'कर्मधारय' समास)।

(३) अपने अनुयायियोंको भी सनातन, नित्य तथा अमर बना देता है (तीसरा अर्थ—सनातनयति इति सनातनः, सनातनश्चासौ धर्मः इति सनातनधर्मः)।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि इस धर्मके अनुयायी अमरत्वका स्वरूप क्या है? इस प्रश्नका उत्तर हमें 'सनातन-धर्म' शब्दके चौथे अर्थमें मिलेगा।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २३-२४)

'जो शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाना कार्य करता है, वह न सिद्धि प्राप्त करता है, न सुख ही प्राप्त करता है और न मोक्ष ही प्राप्त करता है। इसलिये हे अर्जुन! तेरे कार्य और अकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, सुतरां शास्त्रप्रतिपादित विधानको जानकर तदनुसार कार्य कर।'

मनुने कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

'हनन किया हुआ धर्म प्रजाको भी मार देता है और रक्षित हुआ धर्म लोगोंकी भी रक्षा करता है।'

सनातन-धर्मका यह स्वरूप इतना उच्च और श्रेष्ठ है कि इसकी तुलनामें संसारका कोई भी धर्म नहीं आ सकता।

[अनु०—श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि]
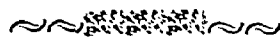
धर्मका स्वरूप

(ब्रह्मलीन पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

यद्यपि धर्मका वास्तविक स्वरूप '**चोदनालक्षणोऽर्थः**'— इस जैमिनि-सूत्रके अनुसार विधि निषेधात्मक वेदसे ही प्रतिपाद्य है तथापि वेदोंका प्रामाण्य न माननेवालोंके लिये उक्त धर्मस्वरूपका ग्राह्य होना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। फिर भी धर्मका कोई-न-कोई स्वरूप सभीको मानना व्यवहारके लिये आवश्यक है। कोई प्रबल पुरुष किसीकी सम्पत्ति आदिका अपहरण न कर ले, इसलिये सामाजिक अथवा प्रशासकीय व्यवहार एवं परिस्थितिको सुचारुरूपसे चलानेके लिये विज्ञजनोंकी समितिद्वारा निर्धारित नियम कुछ-न-कुछ मानने ही पड़ते हैं। वे नियम दूसरोंकी क्या बात, चाहे नियम-निर्माताके ही किसी परिस्थितिमें प्रतिकूल क्यों न हों, सहसा उनका परिवर्तन नहीं हो सकता। यह तो हुई भौतिक हानि-लाभको सामने रखकर नियम-निर्माणकी आवश्यकता। दूसरी बात यह है कि कर्तव्याकर्तव्यके औचित्य-अनौचित्यके निर्धारणके लिये समय-विशेष अपेक्षित है। उसकी प्राप्तिके लिये स्वभावसे या कामादि दोषसे प्राप्त वेग-निवारक किसी अनिवार्य शृंखलाकी आवश्यकता होती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि देश-काल-भेदसे कर्तव्याकर्तव्योंका भेद हुआ करता है। किसी देश-कालमें कोई कर्तव्य अकर्तव्य और किसीमें कोई अकर्तव्य कर्तव्य समझा जाता है। किसी समय कोई वस्तु पथ्य होती है, वही समयान्तरमें कुपथ्य हो सकती है।

गिरी-से-गिरी दशामें भी प्राणी अपने हित या कल्याणकी उपेक्षा नहीं करता। यह बात अलग है कि वह हिताहितका विचार करनेमें असमर्थ होकर हितको अहित और अहितको हित समझकर प्रवृत्त या निवृत्त हो। बड़े-से-बड़े गण्यमान्य बुद्धिमान् भी जो समाज या राष्ट्रके कर्णधार समझे जाते हैं और जिनके निश्चयके अधीन ही जनता अपना कार्यक्रम निर्धारण करती है, कभी-कभी समाज या राष्ट्रकी कल्याण-पद्धति निर्धारण करनेमें भूल कर बैठते हैं, जिससे उनकी अनुगामिनी जनताको जनक्षय, धनक्षय और शक्तिक्षय आदि बड़े-बड़े अनर्थोंका अनुभव करना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि जीवकी प्रज्ञा परिमित अर्थको ही निर्धारण करनेमें समर्थ होती है। जप-तप तथा धर्मानुष्ठानादिसे जितनी मात्रामें जिसके अविद्यादिदोषका निराकरण होता है,उतनी ही अधिक मात्रामें अनावृत चित्ततत्त्व सूक्ष्म अर्थके विवेचनमें समर्थ होता है। हम स्वयं ही अनुभव करते हैं कि जब हम अधिक कार्यमें व्यग्र होते हैं, तब चञ्चलता तथा अनवधानताके कारण गम्भीर शास्त्रीय विषय अवगत नहीं होते। इसलिये कहना पड़ता है कि उस समय चञ्चलताके ही कारण उस विषयमें हमारी बुद्धिने काम नहीं दिया। ब्राह्ममुहूर्तमें उसी अर्थका विवेचन करें तो बहुत-से विषय अवगत हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि चञ्चलता आदि दोषोंसे प्राणी संकुचित विकासवाली प्रज्ञासे कर्तव्याकर्तव्यका निर्धारण नहीं कर सकता, इसलिये चञ्चलता आदि स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकनेके लिये कोई अनिवार्य शृंखला होनी चाहिये।

काम-क्रोधके वेगसे प्राणी अपने कृत्यके औचित्य अथवा अनौचित्यका बिना विचार किये ही प्रवृत्त होकर अनेक प्रकारके अनर्थोंका भागी होता है। यदि वेग शान्त हो तभी विचारका अवकाश प्राप्त हो सकता है और हिताहितका विवेचन भी हो सकता है। बिना वेग शान्त हुए विचार करनेपर तत्त्वका निर्धारण नहीं हो सकता। इसीलिये कहा है—

> **बुद्धिश्चिन्तयते पूर्वं स्वश्रेयो नावबुध्यते।**
> **मुह्यता तु मनुष्येण प्रष्टव्या सुहृदो जनाः॥**

वेग यद्यपि स्वाधीन प्रवृत्तिसे ही उत्पन्न होता है, तथापि प्रवृत्तिके कर्ताको वेगके अधीन होना पड़ता है। यद्यपि दौड़ना अर्थात् जल्दी-जल्दी पैर उठाना और रखना दौड़नेवालेके अधीन है, चाहे वह दौड़े या न दौड़े, तथापि दौड़नेके वेगकी अभिवृद्धिमें दौड़नेवालेकी बहुत कुछ स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। इसीलिये दौड़नेवालेको अभिमत स्थलमें रुकनेके लिये पहलेहीसे वेगकी शान्तिके लिये गतिको मन्द करना पड़ता है, अन्यथा अभिमत स्थलपर रुकना असम्भव हो जाता है। यही कारण है कि मन कुठारादिसाधनोंके समान परतन्त्र है, अर्थात् हम चाहें तो कुठारसे वृक्षादि काटें

या न करें, कर्ता स्वतन्त्र नहीं है। इसी तरह मनसे चाहे तो मनन करें या न करें, परंतु तब भी कर्ताकी परतन्त्रता अनुभवसिद्ध है।

हम चाहते हैं कि विषयोंका चिन्तन करना छोड़ दें, परंतु नहीं छोड़ पाते, यही तो वेगकी महत्ता है। अनादिकालसे प्राणी मनसे विषयोंका चिन्तन करता चला आया है, इसीसे उसका वेग बढ़ गया है। अधिक कालकी प्रवृत्तिसे अधिक वेग बढ़ता है, अल्पकालकी प्रवृत्तिसे वेग भी अल्प ही होता है। अल्प वेग थोड़े प्रयत्नसे शान्त भी हो जाता है, परंतु बढ़े हुए वेगकी निवृत्तिके लिये अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। अशिक्षित-अनियन्त्रित अश्व जैसे धीरे-धीरे बड़ी युक्तिसे नियन्त्रित किया जाता है, सहसा नहीं, वैसे ही वेगारूढ मन भी सहसा वशमें नहीं आ सकता, किंतु उसका कुछ अनुसरण तथा कुछ वृत्ति-नियन्त्रित करनेसे वह वशमें आ सकता है। जैसे वेगभरे प्रवाहवाली नदीको विना विशेष युक्तिपूर्वक प्रयत्नके सहसा रोकना असम्भव है, परंतु धीरे-धीरे बुद्धिसे प्रवाहको अन्योन्मुख कर स्वाभाविक प्रवाहको हटाते-हटाते सर्वथा निरोध हो सकता है, वैसे ही मनको भी धीरे-धीरे अभ्याससे रोका जा सकता है। राजमार्गोंपर जहाँ कहीं कुछ खतरेका स्थल होता है, वहाँसे कुछ दूरपर सावधानतासूचक कोई चिह्न बड़े खंभेपर रख दिया जाता है, ताकि शीघ्रगामी मोटर आदि यानोंपर आरूढ चालकोंको खतरेका परिज्ञान हो जाय और वह वेगारूढ यानको अपने अधीन कर सके। यदि दूरपर ही सावधानतासूचक चिह्न दृष्टिगोचर न हो तो खतरेके स्थलपर पहुँचकर वेगारूढ यान सहसा अपने अधीन नहीं किया जा सकता। ठीक इसी तरह कर्तव्याकर्तव्यके विवेकके लिये भी कुछ समय चाहिये।

समय-प्राप्तिके लिये वेग-निरुद्ध होना आवश्यक है और उस वेग-निरोधनके लिये कोई दृढ़ शृंखला होनी चाहिये। बस इस शृंखलाको ही प्रेक्षावान् 'धर्म' कहते हैं। सारांश यह है कि काम-क्रोधादिजन्य उस वेगकी शान्ति करनेके लिये जिससे प्राणी कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें असमर्थ होता है, दीर्घदर्शियोंसे निर्धारित धर्माधर्मके नियमरूप दृढ़ स्तम्भ या शृंखला होनी चाहिये, जिससे आगन्तुक अनिष्टकी सम्भावनासे शान्तवेग होकर विचार किया जा सके। इस विचारसे प्राथमिक धर्मलक्षण यही हो सकता है कि जिस देश, काल, जाति या सम्प्रदायमें दीर्घदर्शी, जो प्रायः वहाँके वासियोंके आदरपात्र हैं, उनसे निर्धारित कर्तव्याकर्तव्य ही उस देश, काल, जाति और सम्प्रदायके व्यक्तियोंके लिये धर्म है।

यद्यपि यह ठीक है कि धर्माधर्ममें पारस्परिक बहुत वैमत्य है। कोई उसी कृत्यको धर्म ठहराता है, दूसरा उसीको अधर्म सिद्ध करता है। ऐसी दशामें किसे आप्त और किसे अनाप्त माना जाय? भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी विद्वानोंका एकत्रित होना असम्भव है। उनमेंसे किसी एकको सर्वज्ञ कहें, तो दूसरा सर्वज्ञ क्यों न कहा जाय; क्योंकि सर्वज्ञता हमलोगोंकी बुद्धिका विषय तो है नहीं। एक छोटेसे तृणमें कितनी चीजोंको उत्पन्न करने और कितनोंको नाश करनेकी शक्ति है, इसका पूरा ज्ञान भी प्राणियोंके लिये अशक्य है। दो-तीन विलक्षण तृणोंके संयोग-वियोगसे कितनी ही शक्तियाँ आविर्भूत और उद्भूत होती हैं। फिर अनन्त तृण, उनके अनन्त संयोग-वियोग और उन संयोग-वियोगोंसे आविर्भूत-तिरोभूत अनन्त शक्तियोंका ज्ञान किसे और कैसे हो सकता है? इस तरह कौन-सा कृत्य किस काल या देशमें कैसे इष्ट या अनिष्टका सम्पादन करता है यह परिमित प्रज्ञाशाली पुरुष कैसे निर्धारण कर सकता है?

यदि कहा जाय कि परमेश्वर सर्वज्ञ है, अतः उसके बनाये नियमोंको ही शृंखला मानना चाहिये। परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि पहले तो ईश्वर न माननेवाले सांख्य, मीमांसक आदिकोंके यहाँ यह बात लागू नहीं होती। दूसरे ईश्वरवादियोंमें भी एक ईश्वर निर्णीत नहीं है; क्योंकि इसमें भी विप्रतिपत्ति ही है और वह प्रत्यक्षका विषय भी नहीं है। शास्त्रके आधारपर ही उसका अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। शास्त्रसे ईश्वरसिद्धि और ईश्वरसे शास्त्रसिद्धि, इस तरह अन्योन्याश्रय-दोष अनिवार्य हो जाता है। फिर कौन शास्त्र ईश्वरनिर्मित है और कौन अनीश्वरनिर्मित, यह भी सहसा निर्णय होना असम्भव ही है। ऐसी दशामें वास्तविक धर्मका स्वरूप कैसे निर्णीत हो सकता है?

यदि कहा जाय कि पहले धर्मका ही निर्णय करना

चाहिये। जबतक धर्मका निर्णय न हो, तबतक धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है। यह भी ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि पूर्वकथनानुसार शृंखलाविहीन पाशविक प्रवृत्तिसे प्राणी ऐसी दीन-दशाको प्राप्त हो जाता है कि विचार या निर्णय करनेका उसमें सामर्थ्य ही नहीं रहता। सामान्य बुद्धिसे यह निर्णय सैकड़ों जन्ममें भी नहीं हो सकता कि मिथ्याभाषणमें या सत्यभाषणमें क्या गुण-दोष है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि मिथ्याभाषण व्यवहारका बाधक और अविश्वासका हेतु है, सत्यभाषण ऐसा नहीं है। इससे भी सत्य केवल अविश्वास आदिका हेतु नहीं हुआ, परंतु पुण्यका हेतु है, यह भी नहीं सिद्ध हो सका।

किसीको सुख पहुँचाना पुण्य और दुःख पहुँचाना पाप है, यह भी नहीं कहा जा सकता। न्याय-विधानके अनुसार चोरको दण्ड देना धर्म कहलाता है। संभोगादिद्वारा परपत्नीको सुख पहुँचाना धर्मज्ञोंकी दृष्टिमें पाप समझा जाता है। यह कहा जा चुका है कि जबतक उच्छृंखल पाशविक प्रवृत्तिका निरोध न हो, तबतक किसी वस्तुका यथार्थ विचारद्वारा अच्छी तरह अवज्ञान नहीं हो सकता। अतः वस्तुका विचार तभी हो सकता है, जबकि किसी शृंखलाद्वारा उच्छृंखल प्रवृत्ति निरुद्ध हो सके। कोई बालक आचार्यके किसी चिह्नको 'क' ऐसा बतलानेपर प्रश्न करे कि इसे 'क' क्यों कहते हैं? तो इसका उत्तर आचार्य क्या कभी दे सकता है? यदि समझाया जाय तो भी बालक क्या समझ सकता है? अभिप्राय यह कि यदि प्रथमहीसे हर एक बातपर बालक क्यों, कैसे इत्यादि तर्क ही करता जाय तो सैकड़ों जन्ममें न वह समझ सकता है और न कोई उसे समझा ही सकता है।

अन्ततोगत्वा बालक परमोन्नतिसे वञ्चित ही रह जायगा। इसलिये प्रथम बालकको 'ननु'-'न च' किये बिना ही आचार्यके उपदेशको शिरोधार्य करना चाहिये। ऐसा होनेपर वह थोड़े दिनमें विद्वान्-बुद्धिमान् होकर स्वयं ही समझ लेगा कि किस चिह्नके 'क' आदि कहनेका क्या प्रयोजन है। ठीक इसी तरह यदि किसी शास्त्र या आचार्यकी शृंखलासे उच्छृंखल प्रवृत्तिका निरोध कुछ मात्रामें हो जाय तो धीरे-धीरे विचार-शक्तिका विकास होनेसे तात्त्विक वस्तु अथवा धर्मके विचार या ज्ञानका भी वह अधिकारी हो जायगा, अन्यथा सैकड़ों जन्ममें भी ये बातें समझमें आनी असम्भव हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि किस शास्त्र या आचार्यके बतलाये नियमरूप शृंखलासे नियमित प्रवृत्तिका सम्पादन करना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि जैसे हमें काशी जाना है, परंतु जानेके लिये सामने तीन मार्ग उपस्थित हैं। तीनों ही मार्गके चलनेवाले यही बतलाते हैं कि जिस मार्गसे हम जा रहे हैं, वही मार्ग ठीक है। ऐसी दशामें जब जाना परमावश्यक है, तब उस समय प्रेक्षावानोंकी बुद्धि तो यही निश्चय करती है कि इन तीनों मार्गोंके पथिकोंमें जो हमारे देश, प्रान्त, नगर और कुटुम्बके हों, या हमारे माता-पिता गुरुजन हों, हमारे अधिक परिचित एवं विश्वासपात्र हों, उन्हींके उपदेशानुसार मार्गका ग्रहण करना ठीक है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं है। ठीक इसी तरह जब आपके सामने अनेक धर्माचार्य या शास्त्र समुपस्थित हैं, तब पहले जो अपने परम हितैषी अन्तरङ्ग, पिता, प्रपितामहादिसे समादृत एवं उनके और अपने विश्वासपात्र हों, ऐसे शास्त्र एवं आचार्यसे निर्दिष्ट शृंखलाका ही अवलम्बन समुचित प्रतीत होता है।

इसीलिये कहा गया है कि व्यापक धर्मका प्राथमिक स्वरूप यही ग्राह्य और उपयुक्त है कि जिस देश-कालादिके पुरुषोंसे उत्कृष्टतया अभिमत जो पुरुष या शास्त्र हैं, उन्हींसे उपदिष्ट नियम धर्म है। उन्हींका समाश्रयण कर प्राणी उच्छृंखल पाशविकी प्रवृत्तिको रोककर सूक्ष्म अंशोंका विवेक एवं तदनुसार कृत्योंका अनुष्ठान कर कल्याणकी ओर अग्रसर होता है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सम्यक् निर्भ्रान्त धर्मका परिज्ञान होनेपर भी अन्धश्रद्धासे भ्रान्त धर्ममें ही सदा निरत रहे। परंतु जबतक निर्भ्रान्त धर्मका सम्यक् प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, तभीतक वैसा युक्त है; क्योंकि विचार करनेसे ज्ञात होता है कि प्राणीको सोपानारोह-क्रमसे अनेक धर्मोंका समाश्रयण इस जन्म या जन्मान्तरोंमें करना पड़ता है।

'धर्म' शब्दका अर्थ 'ध्रियते अभ्युदयनिःश्रेयसादनेन' इस व्युत्पत्तिसे अभ्युदयादिका साधन है। जिसने जितनी

उन्नतिको अभ्युदय मान रखा है, उस उन्नतिका जितना प्रमाण-सिद्ध साधन हो, उसके लिये उतना ही 'धर्म' कहा जा सकता है। इस दृष्टिको लेकर चार्वाक भी धर्मसे नहीं छूटते, क्योंकि उन्होंने भी विषयोपभोगादिको परमोन्नति माना है। अतः उनका प्रत्यक्षादिसे निश्चित साधन कृषि और वाणिज्यादि है। एवं जिसने जिस प्रमाणसे अभ्युदयका निश्चय किया है, उसी प्रमाणसे उसका साधन निश्चय किया है। लोकायतिक आदि प्रत्यक्ष-सिद्ध उन्नतिको ही अभ्युदय मानते हैं। अतः उसका साधन भी प्रत्यक्षसे ही निर्धारण करते हैं। जैन-बौद्धादि अनुमानद्वारा प्रत्यक्ष-सिद्ध उन्नतिसे विलक्षण पारलौकिक उन्नतिको अभ्युदय मानते हैं। अतः उसके साधन भी अनुमानसे सिद्ध मानते हैं। यद्यपि किसी-न-किसी शास्त्रका अवलम्बन वे लोग भी करते हैं तथापि उनका शास्त्र प्रत्यक्षानुमानसे असिद्ध वस्तुको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं होता; क्योंकि शास्त्र-निर्माताने प्रत्यक्ष या अनुमानद्वारा ही तत्त्वज्ञान-सम्पादन कर शास्त्रका निर्माण किया है। इसीलिये उनके यहाँ प्रत्यक्ष अनुमान ही प्रमाण माने जाते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि संसारभरके सभी प्राणियोंके लिये हिताहित अविवेकजन्य महान् अनर्थसे बचनेके लिये तथा निर्विघ्न अभ्युदय-सिद्धिके लिये कुछ-न-कुछ नियम स्वाभाविक प्रवृत्तिके निवारक शृंखलारूपमें मानने चाहिये। यह बात दूसरी है कि वह परस्पर विभिन्न या किसी अंशमें विरोधी हों, क्योंकि अवनति-उन्नति अपेक्षाकृत होती है। कोई स्थिति किसीकी उन्नति कहलाती है और किसीकी अवनति। अपने साम्प्रदायिक नियमोंके अनुसार चलनेवाला कोई व्यक्ति अपने समाजमें उच्छृंखल प्रवृत्तिवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि उसकी स्थिति उच्छृंखल पुरुषकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। परंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह अन्योंकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है।

धर्मका उक्त लक्षण नीतिके साथ भी बहुत अंशोंमें मिल जाता है। कारण कि जैसे अभ्युदय-साधनको धर्म कहते हैं, वैसे ही '**नीयतेऽभ्युदयोऽनया**' इस व्युत्पत्तिसे नीतिका भी अभ्युदय-साधन ही अर्थ होता है। दोनों शब्दोंका यदि एक ही अर्थ होगा, तब तो पर्यायवाचकता हो जायगी, परंतु लोकमें दोनों शब्दोंका भिन्न-भिन्न प्रयोग देखा जाता है। अतः दोनोंके अर्थोंका भी भेद मानना आवश्यक है। इसलिये प्राधान्येन ऐहिक अभ्युदयके साधनको नीति और प्राधान्येन पारलौकिक अभ्युदयके साधनको धर्म कहना चाहिये। प्राधान्य पदका अभिप्राय यही है कि नीति प्राधान्येन लौकिक अभ्युदयका साधन होते हुए भी पारलौकिक अभ्युदयका साधन भी होती है, जैसा कि धर्मशास्त्रोंमें दण्ड्यको दण्ड देनेसे दण्ड्य और दण्डयिता दोनोंको ही स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। इसके उदाहरण महर्षि लिखित तथा राजा सुद्युम्न हैं एवं पारलौकिक अभ्युदयका साधन भी ऐहिक उन्नतिमें सहायक होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि नीति पारलौकिक अभ्युदयका साधन न हो तो न सही, परंतु पारलौकिक अभ्युदयका व्यापादक (बाधक) नहीं हो सकती। ऐसा होनेसे उसे नीत्याभास ही कहना पड़ेगा। दीर्घदर्शी परिणाममें आदर-दृष्टि रखनेवाले होते हैं, अदीर्घदर्शी तात्कालिक फलके अभिलाषी होते हैं। परिणाममें अनिष्टकर अभ्युदय वास्तवमें अभ्युदय नहीं अभ्युदयाभास होता है। अभ्युदयाभासका साधन भी नीत्याभास या धर्माभास होता है। दुर्योधनकी नीति तात्कालिक फलद परंतु परिणाममें सर्वस्व-नाशक थी, अतएव वह धर्मविरोधिनी हुई। बुद्धिमान् उसे कूटनीति या नीत्याभासक कहते हैं। युधिष्ठिरकी नीति यद्यपि प्रथम कुछ कालपर्यन्त कष्टप्रद थी, परंतु परिणाममें सर्वतोभावेन अभिवृद्धिकी हेतु हुई। इसीलिये बुद्धिमान् उनकी प्रशंसा करते हैं। द्वितीयाकी चन्द्रलेखा बहुत अल्पमात्रामें होती है, परंतु अभिवृद्धिके उन्मुख है, अतः प्राणियोंसे वन्द्यमान है। पूर्णिमाकी पूर्णकला-संयुक्त चन्द्रबिम्ब भी प्राणियोंसे उतना वन्द्यमान नहीं होता; क्योंकि उसकी उन्नतिकी अवधि पूर्ण हो गयी और अब वह अवनतिकी ओर जानेवाला है, क्षयिष्णु है। यदि कोई नीति चाहे तत्काल दुःख तथा अवनतिकी जनक भी हो, परंतु परिणाममें यदि उन्नति और अभ्युदयकी जननी हो तो वह यथार्थ नीति है। धर्म तथा नीतिमें इतना भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है कि नीतिका देश-कालके भेदसे सहसा परिवर्तन हो सकता है, परंतु धर्मके किसी भी सिद्धान्तमें सहसा परिवर्तन नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि नीतिका साध्य-

साधनभाव लौकिक है। उसे सहसा बुद्धिसे कुछ अंशोंमें समझा भी जा सकता है, परंतु धर्म प्राधान्येन अदृष्टभावोंके साथ सम्बन्ध रखता है, इसलिये उसका साध्य-साधनभाव सामान्य चर्मचक्षुओंको गोचर नहीं हो सकता। उसके विचार करनेमें बड़े दीर्घदर्शियों और सूक्ष्म गवेषकोंकी आवश्यकता होती है, अतएव उसमें परिवर्तन भी सहज नहीं है।

यह भी सत्य है कि पुरातन संस्कृति-परिपोषकोंके यहाँ भी काल-भेदसे धर्मका परिवर्तन होता आया है। किसी युगमें मन्वादिप्रोक्त, किसीमें याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त और किसीमें पराशरप्रोक्त धर्मोंका आदर स्मृतिप्रोक्त है। युग-भेदसे धर्मका तारतम्य भी है। तथापि यहाँ यह विचार करना चाहिये कि परिवर्तन सावधि अर्थात् किसी हदतक अथवा निरवधिक होना चाहिये। दूसरा पक्ष तो ठीक नहीं है; क्योंकि निरवधिक परिवर्तन होनेसे तो विशृंखल प्रवृत्ति हो जायगी। फिर तो धर्मका प्रयोजन, जो पाशविकी उच्छृंखल प्रवृत्तिका निरोध है वह भी सिद्ध नहीं होगा। दूसरे यह नीतिके भी विरुद्ध है; क्योंकि नीतिज्ञ भी यदि किसीके साथ संधि करता है तो कुछ नियमोंको दृढ़ रखता है कि जिनके टूटनेसे संधि तोड़नेमें बाध्य होना पड़ता है, अन्यथा शनैः-शनैः अन्य विपक्षी परराष्ट्र अपने समस्त राष्ट्रपर ही आक्रमण कर सकता है। अतएव अमुक-अमुक नियम संधिमें रखे जाते हैं कि जिनके टूटनेसे अन्य नीतियोंका समाश्रयण करना होता है। जब लौकिक स्थूल कार्योंमें उपयुक्त स्थूल दर्शनोंसे निर्धारित लौकिक नियम सहसा नहीं तोड़े जाते फिर तो परम सूक्ष्म धार्मिक नियमोंका निरवधिक परिवर्तन कैसे किया जा सकता है?

प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अवधि निर्धारण करनेवाला कौन हो सकता है? यदि हर एक अवधि बनानेवाले हों तब तो जिसे जो अवधि अनुकूल हो वह वही अवधि बना लेगा। इसलिये जो सर्वदेश-सर्वकालकी परिस्थितियोंको जानता हो वही तत्तद्देश-कालानुकूल परिवर्तन कर सकता है। इस तरह अल्पज्ञ पुरुषोंको परिवर्तन करनेका अधिकार नहीं हो सकता। स्मृतियोंके मतभेदका भी अभिप्राय यही है कि वेद-रहस्यज्ञ सर्वज्ञ-कल्प महर्षियोंने देश-कालकी परिस्थिति जानकर भिन्न-भिन्न युगोंके लिये धर्मोंको व्यवस्थापित किया है। सो भी नित्यहीसे तत्तद्युगोंके लिये जो व्यवस्था है, वही महर्षियोंसे प्रतिष्ठापित होती है। इसी रूपसे धर्मकी नित्यता भी है।

वैदिक स्मार्त धर्मोंमें कोई धर्म तो सदा ही एक रूपमें रहनेवाले हैं, कोई देश-काल-भेदसे कुछ संकोच-विकासशील भी हैं। इसीलिये जिन स्मृतियोंका मूल वेदमें तत्काल नहीं उपलब्ध होता, तो उनके भी वेद-मूलकत्वका अनुमान किया जाता है—

'इयं स्मृतिर्वेदमूलिका स्मृतित्वात् मन्वादिस्मृतिवत्।'

शतपथब्राह्मणमें भी कहा गया है कि '**यद्वै मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः।**' अर्थात् जो कुछ मनुने कहा है वह सब भैषज्यका भी भेषज है। इससे मनुका प्रामाण्य सर्वोपरि सिद्ध होता है। अतएव जो स्मृतियाँ वेदविरुद्ध निर्मित होंगी, वे अप्रामाणिक समझी जायँगी। इसी भावकी सूचना जैमिनिने '**विरोधे त्वनपेक्षं स्यादस्ति ह्यनुमानम्**' इस सूत्रसे दी है। यदि कहा जाय कि आधुनिक बुद्धिमान् नेताओंसे भी निर्धारित नियमोंके भी वेदमूलकत्वका अनुमान किया जा सकता है तो यह ठीक नहीं। कारण यह है कि तदर्थ ग्रहण, धारण, तदर्थानुष्ठान करनेवाले निःस्पृह पुरुषश्रेष्ठोंसे ही निश्चित नियमोंकी वेदमूलकता अनुमित हो सकती है। आधुनिक ज्ञानलवदुर्विदग्ध राग-द्वेषादि-दूषित वेदशास्त्र-विरोधियोंद्वारा निर्मित नियमोंकी वेदमूलकता अनुमित नहीं हो सकती। धर्मकी नित्यता भी प्रवाहरूपसे ही है न कि कूटस्थरूपसे। अन्यथा कूटस्थ नित्य होनेसे पुरुष-व्यापार-साध्यता नहीं होगी, क्योंकि जो वस्तु नित्य विद्यमान है, उसके सिद्ध करनेके लिये कारक व्यापार अपेक्षित नहीं होता। इसीलिये धर्म विद्यमान नहीं होता, अपितु भाव्य होता है। वह तो वर्तमान मात्र ग्राही प्रत्यक्षका अविषय है। अनुमानसे भी धर्माधर्म सामान्यभावसे ही अवगत होते हैं।

जिन बालकादिकोंके सुख-दुःखका तारतम्य ऐहलौकिक हेतुओंके बिना ही देखा जाता है, उनका हेतु कोई वर्तमान देहव्यतिरिक्त देहकृत धर्माधर्म मानना ही पड़ता है। लोकमें कोई भी कार्य निर्हेतु नहीं देखा जाता। कितने स्थलोंपर लौकिक हेतुओंकी कल्पना नहीं बन सकती। कुछ प्राणी प्रयत्न करते हुए भी असफल देखे जाते हैं, कितने प्रयत्न

अब यहाँ धर्मका वास्तविक स्वरूप दिखलानेके लिये कुछ दार्शनिकोंकी धर्माधर्मविषयक विप्रतिपत्तियाँ दिखलायी जाती हैं। 'शुभाशुभ कर्मोकी वासनासे वासित परमाणु ही धर्म है' ऐसा विवसन (जैनियों)-का कहना है। 'क्षणिक विज्ञान संततिके आश्रित वासना ही धर्म है' यह 'सौगतों' (बौद्धों)-का अभिमत है। योग-ज्ञानादिसे वृत्तियोंके निरोधद्वारा जीवन्मुक्ति धर्म है—यह सांख्ययोगवादियोंका मत है और 'विहित-प्रतिषिद्ध कर्मोके आचरण तथा वर्जनद्वारा प्राप्त विशिष्ट गुण धर्म हैं'—यह नैयायिक-वैशेषिकोंका मत है। 'अपूर्व ही धर्म है' यह प्रभाकरादि मीमांसकोंका कहना है। वेदोंसे बोधित **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**—इस जैमिनि-सूत्रसे प्रवर्तित, वेदशास्त्र-वाक्यसे बोधित, राग-द्वेषरहित सत्पुरुषोंसे सेवित होम, याग, दानादि ही धर्म है, यह जैमिनिके अनुयायी मीमांसकोंका मत है।

आचार्योंने निष्कर्ष निकाला है कि **'बलवदनिष्टाप्रयोजकत्वे सति श्रेयःसाधनतया वेदप्रमातितत्वमेव धर्मत्वम्'** अर्थात् जो बलवान् अनिष्टका हेतु न होकर वेदोंसे ब साधन है, वही धर्म है। बलवान् अनिष्टका कहनेका अभिप्राय यही है कि शत्रु-मरणके श्येनादि याग हैं, परंतु वह शास्त्रोंसे शत्रु-म अपेक्षा बलवान् अनिष्टका हेतु है। अतः वह यदि ज्योतिष-शास्त्रादिसे भावी पुत्रकी दुर्वृ जायँ तो उसके लिये पुत्रेष्टि आदि भी धर्म मार्गमें कूप-खननमें गोपतन निश्चित है वह सकता। वेदबोधित कहनेका अभिप्राय यह है बलवान् अनिष्टका हेतु भी नहीं और श्रेयसा भी धर्म नहीं है, क्योंकि उसमें प्राणीकी प्रवृत्ति है। उसके बोधनके लिये वेदकी नहीं है। इस तरह सिद्ध हुआ कि वेदोंसे ब साधन, अनिष्टका अहेतु वर्णाश्रमानुसार सभी इससे विपरीत बलवान् अनिष्टके हेतु वेदोंसे अधर्म हैं।

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृ
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मान

(विदुरनं

अर्थात् चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं, यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों तो भय प्रदा वे कर्म हैं—आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्व पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके स अनुष्ठान।

[प्रेषक—श्रीबिहारीलालज

अहिंसा-धर्म

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः। अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्। अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है। अहिंसा है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है। (महाभा०, अनु० प० ११६। २८

वर्तमान युगमें धर्मशास्त्रका सौकर्य

(ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजकी अमृत-वाणी)

भारतका धर्मसम्बन्धी वाङ्मय जिसे 'धर्मशास्त्र' कहा जाता है, वह अत्यन्त विस्तृत है और उसमें विविध धर्मोंका वैशिष्ट्य विस्ताररूपसे प्रतिपादित हुआ है। धर्मशास्त्रीय पद्धतिके अनुसार 'भविष्यमें धर्मका प्रतिपादन कठिन होगा' इस तथ्यको समझकर आचार्योंने संक्षेपमें कुछ मुख्य बातें कही हैं। सम्पूर्ण धर्म-समष्टिको चार भागोंमें निरूपित किया गया है—तप, ज्ञान, यज्ञ और दान। इस प्रकार धर्मको चतुष्पाद कहा गया है। सत्ययुगमें धर्मके इन चारों पादोंका पालन होता था। त्रेतामें 'तप'का ह्रास हो जानेसे शेष तीन पाद बचे थे। द्वापरमें 'ज्ञान'का भी ह्रास होनेसे दो पादोंका पालन होता था और कलियुगमें 'यज्ञ'का भी ह्रास होनेसे अब एक ही पाद 'दान' शेष रह गया है। वर्तमान कलियुगमें मनुष्यके जीवनमें अर्थार्जनकी प्रधानता है। अतः अर्जित अर्थके कुछ अंशका दान इस युगमें सरलतासे किया जा सकता है, किंतु इतने मात्रसे ही मनुष्यका जीवन धार्मिक नहीं हो सकता, अपितु उसके लिये उसकी दिनचर्यामें भी यथासम्भव शास्त्रानुकूल सुधार होना आवश्यक है।

धर्मशास्त्रोंमें दिनचर्या तथा आचारकी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। दिनचर्या तथा आचार भी वर्ण और आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार ही बताये गये हैं। धर्मशास्त्रोंमें गृहस्थ-आश्रमको सबसे महत्त्वपूर्ण बताया गया है; क्योंकि वह शेष सभी आश्रमोंका आधार है। गृहस्थाश्रमकी महिमामें एक श्लोक आता है—

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः॥
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः।

(महा०, अनु० १४१। ५२-५३)

अर्थात् जैसे माँका आश्रय लेकर सभी प्राणी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रमका आश्रय लेकर अन्य आश्रमवासी प्रवृत्त रहते हैं।

मनु महाराजने भी गृहस्थाश्रमको सर्वोत्तम आश्रम कहा है। प्रायः सभी शास्त्रोंका यही मत है कि सभी आश्रमोंमें श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम ही है। स्मृतियों और पुराणों तथा धर्मसूत्रोंमें गृहस्थ-धर्मका विस्तारसे विवेचन हुआ है। गृहस्थोंके दैनिक कृत्योंका विधान भी धर्मशास्त्रोंमें किया गया है। जैसे प्रातःकाल उठना, मल-मूत्र-त्याग, शौच, आचमन, दन्तधावन, स्नान, तर्पण, वस्त्रधारण, तिलक, होम-जप आदि। प्रत्येक क्रियाके साथ मन्त्रोंका भी विधान है। धर्मशास्त्रोक्त रीतिसे जीवन-यापन करनेवाला मनुष्य कभी दुःखी नहीं हो सकता। जहाँतक बन पड़े, हमें अपने ऋषि-महर्षियोंद्वारा प्रतिपादित धर्मविधानका सम्यक्प्रकारेण परिपालन करनेकी ससंकल्प चेष्टा करनी चाहिये। वासनामें आसक्त आजका मानव धर्मशास्त्रके बदले कामशास्त्रके अध्ययनमें विशेष अभिरुचि लेता है, यह अभ्युदयका नहीं पतनका मार्ग है।

मनुको मानव-धर्मशास्त्रका मूल प्रवर्तक माना गया है। मनुस्मृति १२ अध्यायोंमें विभाजित है। इस स्मृतिमें सभी वर्णोंके आचार-व्यवहार और कर्तव्योंका निर्देश किया गया है। मनुस्मृति सर्वसाधारणके लिये एक उपयोगी धार्मिक ग्रन्थ है। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें आचार-व्यवहार और प्रायश्चित्त नामसे बड़े-बड़े ३ अध्याय हैं। इसमें आचार-व्यवहारके नियमोंका विस्तारसे विवेचन हुआ है। आचार-व्यवहारकी दृष्टिसे पराशरस्मृति और नारदस्मृति भी महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार आचार और व्यवहारके लिये ये सभी स्मृतियाँ उपयोगी हैं।

अतः हमें आत्यन्तिक निष्ठाके साथ सदाचारयुक्त जीवन जीनेकी कला धर्मशास्त्रके स्वाध्यायसे प्राप्त करनी चाहिये। धर्मशास्त्रमें ऋषियोंने हमारे लिये विधि तथा निषेध—दोनोंका निर्देश किया है, जिसकी अवज्ञा कदापि हितकर नहीं होगी।

[प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा, शास्त्री, 'मानसकिंकर']
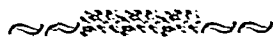
धर्मके लक्षण

(अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिये लक्षण और प्रमाण—इन दोनोंकी आवश्यकता होती है। प्रमाण प्रमातामें रहकर वस्तुकी पहचान कराता है और लक्षण लक्ष्य-वस्तुमें रहकर औरोंसे उसे अलग दिखाता है। जैसे आँखरूप प्रमाण मनुष्यके पास रहता है और गायका लक्षण 'गलेमें ललरी होना' उसके शरीरमें होता है। महावाक्यजन्य वृत्ति मनुष्यके अन्तःकरणमें होती है और सत्य-ज्ञानादि ब्रह्ममें रहते हैं। किसी भी वस्तुमें लक्षण वह होता है, जो उसके सिवा दूसरी वस्तुमें न हो। प्रमाण भी वहीं होता है, जो अन्य प्रमाणसे अनधिगत और अबाधित अर्थका ज्ञान कराये। धर्म एक अतीन्द्रिय पदार्थ है, इसलिये पहले इसके लक्षणपर ही विचार किया जा रहा है।

१-नास्तिक दर्शनोंमें सर्वप्रथम चार्वाक-दर्शनकी ही गणना होती है। उसके मतमें देहातिरिक्त आत्माका अस्तित्व नहीं है। प्रत्यक्षके अतिरिक्त कोई प्रमाण भी नहीं है। अतः उसके लिये स्वाभाविक है कि लौकिक जीवनमें अर्थ-संग्रह, भोग-वैशिष्ट्य, आधिपत्य, यश, उत्कर्ष आदि प्राप्त करना ही कर्मका लक्ष्य हो सकता है। इसलिये पुनर्जन्मवादी और परलोकवादी जिस अर्थमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग करते हैं, वह उसके लिये नहीं हो सकता। वह यदि परिच्छिन्न स्वार्थसे ऊपर उठकर कोई कर्म करता भी है तो भी उसका उद्देश्य लौकिक ही होता है। उस लौकिक कर्मका उद्देश्य भी देहतक ही सीमित होता है। उसकी दृष्टिमें 'धर्म' लौकिक जीविकाका साधनमात्र है। उससे मनुष्यके मनमें अन्धविश्वास, भय, परावलम्बन तथा झूठी आशाका जन्म होता है। इसलिये यदि हम बलात् उसके सिरपर धर्मका आरोप करें तो यह कहना पड़ेगा कि व्यक्तित्वका जिस कर्मसे लौकिक उत्कर्ष सिद्ध हो, वही 'धर्म' है।

जैन-सम्प्रदायमें देहातिरिक्त आत्माको स्वीकार करते हैं। पुनर्जन्म और परलोक भी मानते हैं। प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान और अपने आगमोंको भी स्वीकार करते हैं। इन्होंने धर्मका एक सूक्ष्म पदार्थके रूपमें अध्ययन किया है। ये कहते हैं कि धर्मके परमाणु होते हैं। पुण्य-विशेषके अनुष्ठानसे उनका निर्माण होता है। जैन-सम्प्रदायमें उन्हें 'पुद्गल' कहते हैं। उनके द्वारा धर्मात्माके शरीरकी रचना होती है और वह सुख संयमप्रधान होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पुण्यविशेषसे निर्मित देहारम्भक, पुद्गल नामक परमाणुओंको ही 'धर्म' कहते हैं। पुण्य ही धर्म नहीं है, उससे उत्पन्न परमाणु धर्म है। इससे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें पुण्य-कर्म करना चाहिये।

बौद्ध-सम्प्रदायमें 'धर्म' शब्द बहुत ही व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। उनके मतमें आत्मा, विज्ञान—सब क्षणिक हैं और अन्ततः सबका उच्छेद शून्यता ही 'निर्वाण' है। पाँचों स्कन्धोंको ही वे 'धर्म' कहते हैं। प्रचलित भाषामें कहना हो तो व्यवहारमें अहिंसा और निर्वाण-प्राप्तिके उपायमात्रको 'धर्म' कहते हैं। उत्तर ज्ञानमें जो पूर्व ज्ञानकी वासना आती है, उसको 'धर्म' कहते हैं। ज्ञान क्षणिक हैं। वे जब नष्ट होते हैं, तब अपनी एक वासना छोड़ जाते हैं। वह भी ज्ञानके साथ बदलती ही रहती है। हमारे इस विज्ञान-संतान-परम्परात्मक जीवनमें जो आर्य-सत्यके—ज्ञानके अनुसार अर्थात् बुद्धके अनुभवके अनुसार वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, वही 'धर्म' है। दुःख, क्षणिकता, स्वलक्षण और शून्य—ये चारों आर्य सत्य हैं। जब इनके अनुभवके अनुकूल ज्ञानधारा प्रवाहित होने लगती है, तब उसको 'धर्म' कहते हैं।

२-न्यायदर्शनके प्रणेता गौतमके मतमें 'धर्म' आत्माका एक विशेष गुण है। वह विहित कर्मसे अथवा शुभ प्रवृत्तिसे उत्पन्न होता है। उसे 'अदृष्ट' भी कहते हैं। मनुष्यके जीवनमें दोष-मूलक प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं। कहीं राग नचाता है तो कहीं क्रोध उद्दण्ड बना देता है, तो कहीं मोह बाँध देता है। इनके कारण मनुष्य संसारकी वस्तुओंमें फँस जाता है और अंधा, क्रूर तथा पक्षपाती हो जाता है। यही अधर्मका मूल है। जब मनुष्य इनसे बचकर ऐसे कर्म करने लगता है, जिनसे वह कायिक, वाचिक एवं मानसिक—दस प्रकारके पापोंसे बचकर दस प्रकारके धर्मके अनुष्ठानमें लग जाय तो वह नीचे न जाकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हो और

अविद्यासे मुक्त होकर जन्म और दुःखसे भी सर्वदाके लिये छूट जाय। वे दस पाप ये हैं, जिनसे मनुष्य धर्म-विमुख हो जाता है—

(१) मुझे दूसरेका धन कैसे मिल जायगा—ऐसा चिन्तन।

(२) मनसे निषिद्ध कर्म करनेकी आकांक्षा।

(३) नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्म, जीव-ईश्वरको कौन जानता है? यह देह ही सब कुछ है—ऐसा मान बैठना।

(४) कठोर बोलना।

(५) मिथ्या भाषण करना।

(६) दूसरेकी निन्दा करना।

(७) निष्प्रयोजन वार्ता करना।

(८) बिना दिये किसीकी वस्तु ले लेना।

(९) तन, मन और कर्मसे किसीको दुःख पहुँचाना।

(१०) पर-स्त्री और पर-पुरुषके साथ सम्बन्ध होना।

—इन दसोंका परित्याग कर देनेपर वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है। वृत्तिका आत्म-सामीप्य ही 'धर्म'की उत्कृष्ट अवस्था है।

३-वैशेषिक दर्शनके प्रणेता महर्षि कणादका मत है कि जिस कर्मसे मनुष्य इस लोकमें अभ्युदय और अन्तमें निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है, उसका नाम 'धर्म' है। महर्षिने ऐहलौकिक उन्नतिको धर्मके साथ जोड़कर लोकका बहुत बड़ा कल्याण किया है। वस्तुतः धर्म केवल अगला जन्म सुधारनेके लिये, स्वर्गमें पहुँचानेके लिये, ईश्वरकी प्राप्तिके लिये अथवा अन्तःकरण-शुद्धिद्वारा ब्रह्मानुभूतिके लिये ही उपयोगी हो—ऐसी बात नहीं है। धर्मात्मा पुरुषपर प्रजाका विश्वास बढ़ता है। इसलिये लोग उसपर विश्वास करते हैं और उसका आश्रय लेते हैं। **'लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।'** व्यापारी जब लोगोंका विश्वासपात्र होता है, तब उसका व्यापार चलता है। जब लोग जान जाते है कि यह झूठा, ठग, बेईमान है, तब उससे व्यवहार करनेमें डरते हैं। इसका अर्थ हुआ कि धर्मात्माको अर्थकी प्राप्ति होती है। धर्मात्मा पुरुष संयमके द्वारा कामभोगको नियममें रखकर स्वयं अपने शरीर और मनको स्वस्थ रखता है। दीर्घकालतक भोग भोगता है और दूसरोंको हानि नहीं पहुँचाता। पदार्थोंके धर्मकी परीक्षामें प्रवृत्त होकर कणादने मनुष्यके धर्मकी भी उत्कृष्ट रूपरेखा बता दी है। जैसे धर्मके विना पदार्थका पदार्थत्व ही नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार धर्मके बिना मनुष्यका मनुष्यत्व ही नष्ट हो जाता है। धर्मसे सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

४-सांख्यप्रणेता कपिलने सत्कर्मजन्य अन्तःकरणकी एक विशेष वृत्तिको 'धर्म' माना है। बात यह है कि यह वस्तुतः असंग आत्मा अविवेकके कारण प्रकृति-प्राकृत पदार्थोंमें 'अहं', 'मम' (मैं, मेरा) करके बद्ध हो गया है। विवेक-ख्यातिके बिना यह त्रिगुणमयी प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। विवेकका उदय होता है—सत्त्वगुणकी स्थितिमें। जिस शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक कर्मके द्वारा अन्तःकरणमें वैराग्य-शान्ति आदिका उदय हो और विवेकका प्रकाश हो, उसीको 'धर्म' कहते हैं। थोड़े शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि प्रकृतिके विकार-विलाससे अनासक्त करके पुरुषको अपने स्वरूप-बोधके अनुकूल अन्तःकरणको निर्मित करनेवाला कर्म ही 'धर्म' है।

५-योगाचार्य पतञ्जलिके मतमें, वृत्तिको क्लेशानुवेधसे बचाकर समाधिके उपयुक्त बनाने और पुरुषको निरोधोन्मुख करके स्वरूपावस्थित करनेमें सहायक जो कर्म हैं—उसे 'धर्म' कहते हैं।

योगदर्शनके मतमें मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है। सब वृत्तियोंका यही आधार है। सब कर्मोंके संस्कार भी अन्तःकरणमें ही संचित होते हैं। वृत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—क्लेशयुक्त, जिन्हें 'क्लिष्ट' कहते हैं और क्लेशरहित, जिन्हें 'अक्लिष्ट' कहते हैं। क्लेश पाँच प्रकारके होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जो साधन या कर्म—*यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार* आदि अक्लिष्ट वृत्तिके पोषक हैं, वे पुरुष-ख्याति और कैवल्यके अनुरूप हैं। इस मतमें उन्हें ही 'धर्म' माना जाता है। उनमें शौच, तपस्या, ईश्वरप्रणिधान, मैत्री, मुदिता आदिकी परिगणना है। योगदर्शनके मतमें निरोधानुकूल अनुष्ठेय कर्म ही 'धर्म' है।

६-पूर्वमीमांसाके प्रणेता जैमिनिके मतमें धर्म उसे कहते हैं, जिसे वेदने हमारे कल्याणके साधनके रूपमें निर्दिष्ट

किया है, वह है यागादि-रूप क्रिया-कलाप। वेदमें यज्ञ-यागादिको ही 'धर्म' कहा गया है। अन्यत्र भी अनुष्ठेय-रूपमें धर्मका वर्णन मिलता है। उपनिषद् 'धर्म करो'—ऐसी आज्ञा देते हैं। हमारे प्राचीन महर्षि कहते हैं कि '**यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः, यं गर्हन्ते सोऽधर्म इति।**' इससे भी 'धर्म' वेदविहित क्रिया-रूप ही सिद्ध होता है। कुमारिल भट्टने विभिन्न आचार्योंके द्वारा परिभाषित धर्मका उल्लेख करके उनका खण्डन भी किया है—

अन्तःकरणवृत्त्यादौ वासनायां च चेतसः।
पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि॥

साथ ही—

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात् तेष्वेव धर्मता॥

पूर्वमीमांसाके एकदेशियोंका मत है कि यागादिके अनुष्ठानसे जो अपूर्वकी उत्पत्ति होती है, उसको 'धर्म' कहते हैं, क्योंकि कर्मानुष्ठान और फल-प्राप्तिके बीचमें जो व्यवधान होता है, उसमें अपूर्वके रूपमें विद्यमान धर्म ही फल उत्पन्न करता है।

७-वेदान्त-दर्शनके प्रणेता व्यासके मतमें—अन्तःकरणकी शुद्धिके साधक कर्मको ही 'धर्म' कहते हैं। धर्मानुष्ठानसे उच्छृंखल कर्मपर नियन्त्रण स्थापित होता है। वासनाएँ मर्यादित होती हैं। वेद-वचनपर श्रद्धा होती है। कर्तव्याकर्तव्यकी मीमांसासे विवेक-शक्ति बढ़ती है। देहातिरिक्त आत्माकी ओर ध्यान जाता है। धर्मके द्वारा आराध्य दैवी शक्तियोंका ज्ञान होता है। धर्मके न्यूनाधिक्यके अनुसार पितृलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक आदिका विचार होता है। फलदाता ईश्वर है—इसपर विश्वास होता है। धर्मका निष्काम अनुष्ठान करनेपर निष्कामताकी प्रतिष्ठा होती है। वस्तुतः अन्तःकरणका जागरूक रहकर निष्काम होना ही उसकी 'शुद्धि' है। शुद्धिसे वैराग्य और जागरूकतासे विवेकका उदय होता है।

व्यासाचार्यने लोकहितकारी कर्मको भी 'धर्म' कहा है। उनका अभिमत है कि प्रबुद्ध पुरुष अन्वयव्यतिरेक-दृष्टिसे हिताहितका विचार करके जो कर्म करता है, वह लोककल्याणकारी होता है। इस प्रकारके धर्म-विचारमें साधारण मनुष्यका अधिकार नहीं है, क्योंकि वह अपने विवेकको वासनाओंसे अभिभूत कर देता है। इसलिये इस सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिये कि किसी निषिद्ध कर्मको लोकहितकारी न समझ लिया जाय।

८-धर्माचार्य मनुने जीवनमें दस पदार्थोंके धारणको 'धर्म' कहा है।

(१) **धृति**—धनादिका नाश होनेपर चित्तमें धैर्य बना रहना (मेधातिथि)। प्रारम्भ किये हुए कर्ममें बाधा और दुःख आनेपर भी उद्विग्न न होना (सर्वज्ञ नारायण)। संतोष रखना (कुल्लूक भट्ट एवं गोविन्दराज)। अपने धर्मसे स्खलित न होना (राघवानन्द)। अपने धर्मको कभी न छोड़ना (नन्दन)। अनुद्विग्न-भावसे कर्तव्यका पालन (रामचन्द्र)।

(२) **क्षमा**—दूसरेके अपराधको सह लेना (मे० ति० तथा गो० रा०), क्रोधोत्पत्तिके कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध न करना (स० ना०)। किसीके अपकार करनेपर बदला न लेना (कु०)। द्वन्द्वसहिष्णुता (राघवानन्द)। अपमान सह लेना (नन्दन)। शान्ति (राम०)।

(३) **दम**—उद्दण्ड न होना। तपस्या करनेमें जो क्लेश हो, उसे सह लेना। विकारके कारण उपस्थित रहनेपर भी मनको निर्विकार रखना, मनको रोक रखना। मनको मनमानी न करने देना। द्वन्द्वसहिष्णु होना।

(४) **अस्तेय**—दूसरेकी वस्तुमें स्पृहा न होना। अन्यायसे परधनादिका ग्रहण न करना। परद्रव्यको न लेना।

(५) **शौच**—आहारादिकी पवित्रता। स्नान-मृत्तिकादिसे शरीरको शुद्ध रखना। शास्त्रकी रीतिसे शरीरको शुद्ध रखना। बाह्याभ्यन्तरकी पवित्रता।

(६) **इन्द्रियनिग्रह**—इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न करना। नेत्रादि इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे अलग रखना। जितेन्द्रिय होना।

(७) **धी**—भलीभाँति समझना। प्रतिपक्षके संशयको दूर कर सकना। आत्मोपासना। शास्त्रके तात्पर्यको समझना। बुद्धिका अप्रतिहत होना।

किसी-किसी पुस्तकमें 'धी' के स्थानपर 'ह्री' का उल्लेख है। उसका अर्थ है अकर्तव्यसे निवृत्त करनेवाला ज्ञानविशेष। निषिद्ध कर्म करनेमें लज्जा आना। अपनेको

अकर्तव्यसे बचाना।'

(८) **विद्या**—आत्मानात्मविषयक विचार। बहुश्रुत होना। आत्मोपासना।

(९) **सत्य**—मिथ्या और अहितकारी वचन न बोलना। यथार्थ बोलना। अपनी जानकारीके अनुसार ठीक बोलना।

(१०) **अक्रोध**—क्षमा करनेपर भी कोई अपकार करे, तब भी क्रोध न करना। दैववश क्रोध उत्पन्न होनेपर उसको रोकनेका प्रयत्न। क्रोधका कारण होनेपर भी क्रोध न होना। अपने मनोरथमें बाधा डालनेवालोंके प्रति भी चित्तका निर्विकार रहना।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ६। ९२)

मनुस्मृतिमें ये सब धर्म-लक्षण स्थान-स्थानपर बिखरे हुए हैं। मनुजीने स्वयं इनको समेटकर स्पष्ट-स्पष्ट समझा देनेके लिये इकट्ठा करके वर्णन किया है।

९-महाभारतके मतसे 'धर्म' वह वस्तु है जो प्राणिमात्रके भरण-पोषण-धारण अर्थात् योगक्षेम-विधानमें समर्थ हो। अभिप्राय यह है कि यह मनुष्य-जीवन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। यह जन्म प्राप्त करके यदि मनुष्यत्वकी रक्षा न की जाय तो पुनः जडत्वकी प्राप्ति हो जाती है। 'धर्म' इसकी चेतनताको प्रबुद्ध करता है, जगाता है। 'अधर्म' जडताकी ओर झोंकता है। प्राप्त मनुष्यत्वकी रक्षा और प्राप्तव्य परमेश्वरकी प्राप्ति धर्मके द्वारा ही होती है। वस्तुतः यही 'योगक्षेम' है। धर्म केवल मनुष्यत्वका ही रक्षक नहीं है, मनुष्यमें रहकर प्राणिमात्रका रक्षक है। इसीसे मनुष्यके व्यवहारमें दूसरे प्राणियोंके प्रति हिंसाभावका निषेध है। वस्तुके वस्तुत्वको सुरक्षित रखना और विकसित करना धर्मका काम है।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

१०-भरद्वाज ऋषिके मतमें जिस कर्मसे तमोगुणका ह्रास और सत्त्वगुणका प्रकाश हो, उसे 'धर्म' कहते हैं। अनेक मतोंमें त्रिगुणके द्वारा ही समग्र सृष्टिकी व्याख्या की गयी है। तम और सत्त्वके बीचमें रजोगुण पड़ता है। यह ज्ञानको वासनासे रँगता है और तमोगुणको बढ़ाकर आलस्य, निद्रा, प्रमादादिके द्वारा उसे ढँक देता है। फिर तो, मनुष्य जडवत् मूढ़ हो जाता है अथवा जड-अवस्थामें चला जाता है। परंतु रजोगुणी कर्म यदि शास्त्रीय अथवा महापुरुषोक्त प्रक्रियासे किया जाय तो वही मूढ़तासे मुक्त करके ज्ञानका वासनोपराग मिटा देता है और उसे शुद्ध कर देता है। सत्त्वगुणकी वृद्धिके दो लक्षण हैं—प्रकाश और अनासक्ति। सुखासक्ति और बौद्धिक अहंकारसे बचकर धर्मानुष्ठान करनेसे सत्त्वकी वृद्धि होती है। इसमें सदाचारी जीवन, यथार्थ ज्ञान और आसक्तिरहित आनन्दकी उत्पत्ति होती है।

११-याज्ञवल्क्य मुनिके मतमें यज्ञ, सदाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि देश-काल-सापेक्ष 'धर्म' हैं और योगद्वारा आत्मदर्शन 'परमधर्म' है। याज्ञवल्क्यजीने धर्मके पाँच प्रेरणास्रोत बताये हैं—वेद, वेदाविरुद्ध स्मृति, दोनोंसे अविरुद्ध सदाचार, तीनोंसे अविरुद्ध आत्मप्रिय और चारोंसे अविरुद्ध स्वयं ग्रहण किया हुआ नियम। इस लक्षणमें मुख्य बात यह है कि आत्मदर्शनको 'परमधर्म' माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कर्मानुष्ठानात्मक धर्मका परित्याग करके भी आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करना पड़े तो करना चाहिये। यह बात मनुस्मृतिमें स्पष्ट कही गयी है कि प्रणव-जप, उपनिषद्का पाठ, चित्तशान्ति और आत्मज्ञानके लिये आवश्यक हो तो अग्निहोत्रादि कर्मका परित्याग कर देना चाहिये (१२। ९२)।

१२- इतिहासविद् आचार्योंका अभिमत है कि परम्परागत सदाचार ही 'धर्म'का श्रेष्ठ लक्षण है। इसका अभिप्राय यह है कि कालक्रमसे परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। देशभेदसे भी संस्कृतियोंमें अन्तर मिलता है। भिन्न-भिन्न जाति और सम्प्रदायके लोगोंसे भी संसर्ग होता है—ऐसी अवस्थामें मनुष्य यदि अपने कुल-क्रमागत सदाचारका त्याग करने लगे तो वह कहींका नहीं रहेगा। संसर्गदोष, भौगोलिक दोष और परिस्थिति-दोषसे रक्षा करके जीवनको तपःपूत रखनेवाला यह परम्परागत सदाचार ही है। इसीसे 'आचारप्रभवो धर्मः' ऐसा कहा गया है। कहीं-कहीं 'आचारः प्रथमो धर्मः' अथवा 'परमो धर्मः' भी है। मनुस्मृति (४। १७८)-में कहा गया है कि 'जिस मार्गसे अपने पिता-पितामह गये

हों अर्थात् उन्होंने जिस सदाचारका पालन किया हो, उसी मार्गसे चलना चाहिये। उससे चलनेवाले मनुष्यपर अधर्म आक्रमण नहीं करता,' सदाचार कहनेका अभिप्राय यह है कि उनके द्वारा किये गये कदाचारका अनुसरण नहीं करना चाहिये। मनुस्मृति (४। १७६)-में लोकनिन्दित धर्मविरुद्ध आचरणका भी परित्याग कर देना चाहिये, ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थमें विवाद है, परंतु परम्परागत सदाचारसे कोई विवाद नहीं है।

१३-देवर्षि नारदके मतमें महापुरुषकी आज्ञाके अनुसार कर्म करना ही '*धर्म*' है। नारद पाञ्चरात्रके आचार्य हैं। वे श्रौत-स्मार्त-पद्धतिमें धर्मका जो लक्षण किया गया है, उससे कुछ विलक्षण बतलाते हैं। आचारसहित विद्याका उपदेश करनेवाला 'आचार्य' होता है। प्रत्येक व्यक्तिको उसकी योग्यताके अनुसार अभ्युदय-निःश्रेयसका उपाय बतानेवाला 'गुरु' होता है। गण्डकी नदीकी शिला 'शालग्राम' है और पूजामें रखी गयी शिला 'इष्टदेव' है। महापुरुष वेद, शास्त्र, पुराणका सार-सार जानते हैं। अपने अनुभवसे उनके अर्थका साक्षात्कार करते हैं। वे अपने शिष्यको लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये विशिष्ट साधनका उपदेश करते हैं। इसीके अनुसार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बनते हैं। नारदने जो धर्मका लक्षण किया है, उसके अनुसार बुद्ध, महावीर स्वामी, ईसा, मोहम्मद, जरतुश्त, नानक आदिके द्वारा उपदिष्ट मार्ग भी धर्म-लक्षणके साथ समन्वित हो जाते हैं, क्योंकि वे महापुरुषोंके द्वारा उपदिष्ट हैं। वर्णाश्रम-धर्म श्रौत-स्मार्त-पद्धतिके अनुसार है। उसमें वेद और तदनुकूल शास्त्र ही प्रमाण होते हैं। इस लक्षणके अनुसार भिन्न-भिन्न महापुरुषोंकी प्रामाणिकता भी स्थापित होती है।

१४-अङ्गिरा ऋषिके मतमें भगवान्के प्रति अर्पित कर्म ही '*धर्म*' है, इस लक्षणमें एक विशिष्ट पद्धति स्वीकार की गयी। इसमें कर्ताके अधिकार, शास्त्रप्रमाण, महापुरुषके उपदेश अथवा कर्मके स्वरूपपर बल नहीं दिया गया है। इसमें यह कहा गया है कि कर्मका उद्देश्य संकीर्ण स्वार्थ है अथवा परमेश्वरकी प्रसन्नता? जहाँ कर्म भगवत्-प्रसन्नताके लिये है, वहाँ '*धर्म*' है और जहाँ संकीर्ण स्वार्थके लिये है, वहाँ नहीं। इसी दृष्टिकोणसे भक्तिमार्गमें धर्मका विचार किया गया है। '**कायेन वाचा०**' भागवतके इस श्लोककी व्याख्यामें श्रीधर स्वामीने कहा है कि किसी विशेष कर्मका नाम भागवत-धर्म नहीं है, प्रत्युत भगवदर्पित सभी कर्म धर्म होते हैं। '**न केवलं विधितः कृतमेवेति नियमःस्वभावानुसारिलौकिकमपीति।**'

१५-भगवान्के द्वारा आदिष्ट भगवत्प्रापक उपाय—नामोच्चारण, नाम-स्मरण, सर्व-कर्मार्पण, सर्वत्र भगवद्भाव आदि '*धर्म*' हैं—ऐसा भागवतका मत है। यह ध्यान देने योग्य है कि अजामिलके प्रसंगमें वेद-विहित और वेदनिषिद्धको धर्माधर्म मानकर यमदूतोंने स्वर्ग-नरक, प्रायश्चित्त और उससे मुक्तिका उपाय बताया था। वह सर्वथा वैदिक धर्मके अनुरूप है, उसमें किसी प्रकारका दोष भी नहीं है, परंतु भगवान्के पार्षदोंने उनकी बात नहीं मानी और केवल नामाभासको सम्पूर्ण पापोंका निवर्तक मानकर अजामिल-जैसे पापीको उनके हाथोंसे छीन लिया और उसे साधनके मार्गपर डाल दिया। जब यमदूत यमपुरीमें यमराजसे इसका रहस्य पूछने लगे, तब उन्होंने भागवत-धर्मका स्वरूप बताया। यमराज बारह भागवतोंमेंसे एक हैं। उनका कहना है कि 'धर्मके प्रणेता स्वयं भगवान् ही हैं। बड़े-बड़े ऋषि और देवताओंको भी धर्मका रहस्य ज्ञात नहीं है। हम बारह भागवत धर्मको जानते हैं। नामोच्चारण आदिके द्वारा भगवान्के प्रति भक्तियोग ही परम धर्म है।'

इस प्रसंगमें एक प्रश्न उठाया गया है कि 'यदि नामोच्चारण आदि सरल साधनोंसे ही बड़े-बड़े पापोंकी निवृत्ति हो जाती है तो धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें बारह-बारह वर्षतक व्रत करके पापोंकी निवृत्तिके प्रायश्चित्तका विधान क्यों है?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'जैसे मृतसंजीवनी ओषधिको न जाननेवाले वैद्य रोग मिटानेके लिये त्रिकटु, निम्ब आदि औषधोंका प्रयोग करते हैं, वैसे ही नाम-स्मरणके माहात्म्य न जाननेवाले महाजन बड़े-बड़े उपाय बताते हैं। यहाँ 'महाजन' शब्दका अर्थ बताते हुए कहा गया है कि जिन बारहोंका नाम लिया गया है, उनके अतिरिक्त मुनिगण (श्रीधर), शास्त्रज्ञ जन (वीर राघव), जैमिनि आदि (विश्वनाथ चक्रवर्ती)। इनके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख है कि मायादेवीने इन महाजनोंकी बुद्धि हर ली है। ये

मधु-पुष्पिता त्रयीके मीठे-मीठे वचनोंमें फँस गये हैं। जडीकृत हो गये हैं। इन्हें बड़े-बड़े कर्म ही पसंद आते हैं।[१] इसका अर्थ है कि भगवत्प्रोक्त और भगवत्प्रापक उपाय नामोच्चारणादि अत्यन्त सुगम एवं सार्वजनिक धर्म हैं। इसके-जैसा ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला दूसरा कोई धर्म नहीं है।

भागवतके प्रथम स्कन्धके दूसरे अध्यायमें यह निरूपण किया गया है कि जिससे भगवान्‌में अहैतुक और अप्रतिहत भक्ति हो उसको परम धर्म कहते हैं। जिससे भगवत्कथामें रति हो, वही धर्मानुष्ठान है, शेष श्रम है। धर्मका मुख्य फल अपवर्ग है, धन नहीं। भलीभाँति अनुष्ठित धर्मका फल हरितोषण है। धर्मका परम तात्पर्य भगवान्‌में ही है। इसीसे आप समझ सकते हैं कि भागवतमें धर्मका क्या स्वरूप स्वीकार किया गया है?

१६-इसके अतिरिक्त भागवतमें नारदजी युधिष्ठिरसे कहते हैं—

> सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
> अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
> संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
> नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
> अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
> तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
> श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
> सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
> नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
> त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
>
> (श्रीमद्भा० ७। ११। ८—१२)

सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा-ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शी, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंके परिणामकी विपरीतताको देखना, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंको अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन, उनमें और विशेष करके मनुष्योंमें अपने आत्मा तथा इष्टदेवका भाव, संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह तीस प्रकारका आचरण सभी मनुष्योंका परम धर्म है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं।

इन सब लक्षणोंके प्रकाशमें आप धर्मपर विचार कीजिये। किसी एकाङ्गी लक्षणमें अपनी बुद्धिको आबद्ध मत कीजिये। आप देखेंगे कि ये लक्षण इतने उदार, उदात्त एवं व्यापक हैं कि इसमें सम्पूर्ण विश्वके सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं अखिल साम्प्रदायिक मत-मजहबोंका संनिवेश हो जाता है। क्या आपकी दृष्टि इतनी संकीर्ण है कि जो आपके द्वारा मान्य लक्षण है, उसमें जिसका संनिवेश हो उसको 'धर्मात्मा' माने और जो दूसरे लक्षणके अन्तर्गत हो, उसको 'अधार्मिक'? आप इन सभी लक्षणोंपर विचार कीजिये और अपनी अन्तःकरणकी संकीर्णताका परित्याग करके सबमें व्यापक धर्मसत्ताका अनुभव कीजिये। इससे आपके मनमें जो राग-द्वेष, संघर्ष-कटुता, विरोध-वैमनस्य आदिकी भावनाएँ आ-आकर आपको दुखी बनाती हैं, वे शान्त हो जायँगी और आप परमार्थ-पथपर अग्रसर होंगे।

मानव-धर्म

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥[१]

(श्रीमद्भा० १। २। ६)

परम धरम है जिहिं भक्ति भगवत में होवै।
होयँ हरषित हियाँ, मलिनता मन की खोवै॥
हेतुरहित निष्काम भक्ति अति सरस सुहाई।
सब शास्त्रनि को सार यही मेरे मन भाई॥
शौनकजी! सच-सच कहूँ, सब शास्त्रनि सम्मत जिही।
भक्ति भनी भागीरथी, विषयवासना विष कही॥

(भागवतचरित)

भारतीय वाङ्मयमें 'धर्म' शब्द इतना महत्त्वपूर्ण सारगर्भित तथा लचीला है कि किसी भी भाषामें इसके समानार्थ शब्द नहीं। आज जो 'धर्म' शब्द दल, सम्प्रदाय, फिरका, पंथ आदिके लिये प्रयुक्त होने लगा है जैसे—हिंदूधर्म, ईसाईधर्म, मुसलिमधर्म, यहूदीधर्म आदि-आदि, यह धर्मका संकुचित और एकदेशीय प्रयोग है। इसे सर्वथा अशुद्ध तो नहीं कह सकते, किंतु यह धर्मका अपूर्ण प्रयोग है। 'धर्म' शब्द बड़ा व्यापक अर्थ रखता है—जैसे वर्णाश्रमधर्म, ब्राह्मणधर्म, क्षत्रियधर्म, वैश्यधर्म, शूद्रधर्म, स्त्रीधर्म, यतिधर्म, आपद्धर्म—यहाँतक कि वेश्याओं और चोरोंके धर्मका भी हमारे शास्त्रोंमें वर्णन है और उनके प्रणेता भी ऋषि हैं।

धर्मका सम्बन्ध भीतरसे भी है और बाहरसे भी तथा आजीविकासे भी है। तुम अपने समस्त जीवनमें समस्त प्राणियोंके साथ मनसा-वाचा-कर्मणा कैसा व्यवहार करो और कैसे अपनी आजीविका चलाओ, इन्हीं बातोंकी शिक्षा धर्म देता है। अर्थात् लोक-परलोकके प्रति कर्तव्यपालन तथा व्यावहारिक जीवन जिससे आनन्दप्रद बने। इसीलिये जिससे इस लोकमें अभ्युदय हो और परलोकमें मोक्षकी प्राप्ति हो, उसे ही धर्म कहते हैं।[२]

बौद्धधर्मसे पहिले यहाँ व्यक्तियोंके नामसे धर्म चलानेकी प्रथा नहीं थी। ऋषियोंके नामसे गोत्र चलते थे, उनका सम्बन्ध कुलसे था। धर्म सबके लिये एक है, वह मानवमात्रके लिये सनातन—शाश्वत है। जैसे—दया, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि सद्गुण सबके लिये समान हैं, उसी प्रकार धर्म भी सबके लिये समान है। यह नहीं कि हिंदुओंके लिये कोई धर्म दूसरा हो, अंग्रेजोंके लिये तीसरा हो और अरबवालोंके लिये चौथा हो। जैसे गुड़को चाहे अंग्रेज खायँ, चीनके लोग खायँ, अरबनिवासी खायँ, भारतीय खायँ—सभीको वह मीठा ही लगेगा—उसी प्रकार धर्मका आचरण चाहे अंग्रेज करें, भारतीय करें, पारसके लोग करें अथवा अरबके करें, सभीको उससे इस लोकमें सुख और परलोकमें निःश्रेयस—मोक्षकी प्राप्ति होगी।

सदासे दो प्रकारके मनुष्य होते आये हैं—दैवी सम्पत्तिके प्रेमी और आसुरी सम्पत्तिके, आर्य और अनार्य अथवा सुसंस्कृत तथा पिछड़ेवर्गके जंगली लोग। जो मोक्षके लिये, संसारसे निवृत्तिके लिये साधन करें, परलोकको ध्यानमें रखकर सब कार्य करें, वे आर्य हैं। जो केवल पेट भरनेके लिये ही पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़ोंकी भाँति निरन्तर पेटकी चिन्तामें ही निमग्न रहें, पेटके लिये मोहवश अर्थ-अनर्थ सब कुछ करनेको उद्यत हों, वे ही अनार्य हैं। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे यही बात कही—'तुम मोहवश क्षत्रिय-धर्मका परित्याग कर रहे हो, यह 'अनार्यजुष्ट' कार्य है, अस्वर्ग्य है। इससे परलोक नहीं बन सकता, स्वर्ग भी नहीं मिल सकता, क्योंकि स्वर्ग कीर्तिमान्‌को मिलता है, तुम्हारा यह कार्य अकीर्तिकर है।'

आर्य और अनार्योंके कुल पृथक्-पृथक् होते थे, क्योंकि कुलागत संस्कार कठिनतासे मिटते हैं। रज और वीर्यमें वंशगत गुण-अवगुणोंके संस्कार विद्यमान रहते ही हैं, इसलिये आर्य और अनार्योंके रहन-सहन, आचार-विचार, व्यवहार-वर्ताव पृथक्-पृथक् होते हैं। फिर भी

१-सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—'मानवमात्रका सबसे उत्तम-परम धर्म वही है, जिसके आचरण करनेसे भगवान्‌में निष्काम और अव्यभिचारिणी भक्ति हो जाय तथा जिससे अन्तरात्मा सदा प्रफुल्लित और प्रसन्न बनी रहे।'

२-यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्मका सम्बन्ध बाह्य कर्मोंकी अपेक्षा सद्‌गुणोंसे अधिक माना गया है। कोई अनार्य वंशमें भी उत्पन्न हो, किंतु उसमें आर्यों-जैसे सद्‌गुण हों तो वह आर्योंके सदृश ही माना जायगा और कोई जन्मना आर्य भी हो—उच्च कुलका भी हो, किंतु उसके आचरण अनार्यों-जैसे हो गये हैं तो वह अनार्यवत् ही बन जायगा, किंतु अनार्य भी अपनी परम्पराको, अपने व्यवहारको धर्म कहते हैं। जैसे रावण आर्यवंशमें उत्पन्न हुआ था, ब्राह्मण था, किंतु मातृदोषसे और अपने व्यवहारसे वह राक्षस हो गया था। जब उससे कहा गया, 'तुम अधर्म क्यों कर रहे हो? परदारा-हरण तो अधर्म है,' तब उसने स्पष्ट कहा—'नहीं, मैं अधर्म नहीं कर रहा हूँ, मैं तो राक्षस-धर्मका ही पालन कर रहा हूँ।

राक्षसानामयं धर्मः परदाराभिमर्शनम्।

परस्त्रीका अपहरण करना तो राक्षसोंका धर्म ही है।' इसीसे मैं कहता हूँ कि धर्मकी व्याख्या हो नहीं सकती—'**धर्मस्य गहना गतिः**'। इसीलिये ऋषियोंने कहा है—

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः।

'अपने बुद्धिमान् तत्त्वदर्शी बड़े लोग जिस मार्गसे जायँ, वही सदाचार है, वही धर्म है।' धर्ममें दो बातें मुख्य हैं—एक तो यह कि अपने आचरणको शुद्ध रखो अर्थात् दुर्गुणोंको छोड़कर सद्‌गुणोंको धारण करो, दूसरी बात यह कि अपनी वंशपरम्परागत शुद्ध आजीविकासे निर्वाह करो। जो यों करता है, वही धार्मिक है। सभी धर्मप्रवर्तक महानुभावोंने इन्हीं दो बातोंपर विशेष बल दिया है। सनातनधर्म किसी एक जातिके लिये, एक देशके लिये, एक समाजके लिये नहीं है। धर्ममें हिंदू-मुस्लिम-ईसाई—ये विशेषण लगाना ही उचित नहीं, धर्म तो धर्म ही ठहरा, फिर भी देश, काल तथा पात्रके भेदसे धर्मकी बाह्य क्रियाओंमें भेद माना गया है। गृहस्थके लिये निज पत्नीमें ऋतुगमन धर्म है। किंतु वही व्यक्ति जब संन्यासी हो जाता है, तब उसी स्त्रीको, जिसके साथ कलतक संसर्ग धर्म था, अब उसकी ओर देखना भी अधर्म माना जाता है। इसी प्रकार देशसे, कालसे, पात्रसे धर्मके बाह्याचरणमें भेद हो जाते हैं। किंतु सनातन-धर्म सदा एक-सा ही बना रहता है, क्योंकि वह शाश्वत धर्म है, अपरिवर्तनीय और अनिवार्य है।

आजकल तो धर्म बाह्याडम्बरमें ही माना जाता है, यद्यपि आप देखेंगे कि प्राचीन शास्त्रोंमें धर्मका सम्बन्ध सद्‌गुण तथा आजीविकाकी शुद्धतासे ही था। इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक भेदसे धर्म दो प्रकारका है। बाह्य धर्मका सम्बन्ध कर्मसे है, कर्म इन्द्रियोंद्वारा होते हैं। अतः बाह्य धर्मको कर्म या स्वभावजन्य क्रिया भी कहते हैं। जैसे ब्राह्मणके शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, मृदुता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य, वेदाध्ययन तथा यज्ञ करना—ये तो भीतरी धर्म हैं। अच्छा, अब वह अपनी आजीविका कैसे चलाये, क्योंकि बिना शुद्ध आजीविकाके धर्माचरण होना सम्भव नहीं? इसलिये उसकी आजीविका भी जब ब्राह्मणधर्मके अनुकूल हो, तभी वह धार्मिक बना रह सकता है। ब्राह्मणकी आजीविका भी ऋत, मृत और प्रमृत अर्थात् उत्तम, मध्यम और निकृष्ट—तीन तरहकी बतायी गयी है। किसीको तनिक भी बिना कष्ट पहुँचाये स्वतः पृथ्वीपर पड़े अन्नके दानोंको कबूतरकी भाँति चुगकर ले आये और उन्हींसे अपनी आजीविका चलाये—यह उत्तम आजीविका है। यह न कर सके तो पढ़ाकर, दान लेकर, यज्ञ-यागादि कराकर निर्वाह करे। इससे भी आजीविका न चले तो खेती-व्यापार ही कर ले। नहीं तो, नित्य-नित्य मुट्ठी-मुट्ठी भिक्षा माँग लाये। नित्य याञ्चा सबसे निकृष्ट वृत्ति है गृहस्थ ब्राह्मणके लिये। यदि वह गृहत्यागी, विरागी, सर्वस्वत्यागी, ब्रह्मचारी या संन्यासी हो, तब तो भिक्षाका अन्न उसके लिये

आजीविकाके लिये प्रजासे कर लेकर उससे निर्वाह करे, अथवा युद्ध करे। दान लेना, पढ़ाना, यज्ञ कराना—इनसे आजीविका न चलाये। काम न चले तो खेती, व्यापार, गोपालन आदि कर ले।

वैश्यके लिये आस्तिकता, वेदाध्ययन, दान, दम्भहीनता, ब्रह्मण्यता और अधिकाधिक धन-संग्रह—ये धर्म हैं। वह कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य—इनसे आजीविका चलाये। इनसे काम न चले तो नौकरी-चाकरी-शिल्पादि क्रिया कर ले। इसी प्रकार शूद्र ब्राह्मण, गौ, देवता तथा अन्य सभी वर्णोंकी निष्कपट भावसे सेवा करे और उसी सेवाद्वारा जो कुछ मिल जाय, उसीसे अपनी आजीविका चला ले। इससे सिद्ध हुआ कि सद्गुण तो धर्म हैं ही, वंशपरम्परागत चली आयी आजीविकाको बनाये रखना—यह भी धर्म है। गीतामें तथा अन्य सभी आर्यधर्मशास्त्रोंमें परम्परागत वृत्तिको बनाये रखनेपर बड़ा वल दिया गया है। उनका कथन यह है कि तुम अपनी पैतृक आजीविकाको छोड़कर उत्तम-से-उत्तम आजीविकाके लिये इधर-उधर भटकोगे तो दूसरोंकी अजीविका छीनोगे। तुम्हारा मुख्य उद्देश्य फिर परमार्थकी प्राप्ति न होकर पेट-पालन ही रह जायगा। समाजमें उच्छृंखलता फैल जायगी। वृत्ति-संकर हो जायगा, लोगोंके सामने निर्वाहकी समस्या खड़ी हो जायगी। अतः जो तुम्हारा स्वाभाविक कर्म है, सहज धर्म है, उसमें लगे रहो और सद्गुणोंको, धर्माचरणको बढ़ाते रहो। तुम यदि कुम्भकार हो तो बर्तन ही बनाओ, वैश्य हो तो व्यापारको मत छोड़ो। अपने धर्ममें मर जाना भी श्रेयस्कर है, किंतु दूसरोंके धर्मको अपनाना भयावह है।

लोग समझते हैं महाभारतका युद्ध धनके लिये, भूमिके लिये, आपसी बँटवारेके लिये हुआ, किंतु जिन्होंने विधिवत् महाभारतका अध्ययन किया है, वे जानते हैं—महाभारतका युद्ध विशुद्ध धर्मयुद्ध था। पाण्डवोंका कहना यह था कि हम क्षत्रिय-पुत्र हैं, हमारा धर्म प्रजापालन है, हम राजा दुर्योधनके अधीन रहकर भी अपने धर्मका पालन करनेको तैयार हैं। हम पाँच भाइयोंको राजा दुर्योधन पाँच ही गाँव दे दें। हम एक गाँवके भी राजा होकर क्षत्रिय-धर्मका पालन तो कर सकेंगे, धर्मच्युत तो न होंगे। भीख माँगना क्षत्रियका धर्म नहीं। इतने दिन जो हमने भीखपर निर्वाह किया, यह हमने आपद्धर्मका पालन किया। अब जब हम समर्थ हैं, तब आपद्धर्मका पालन नहीं करेंगे, क्षत्रियकी भाँति रहेंगे। दुर्योधनका कहना था, मैं प्राण रहते एक सूईकी नोकके बराबर भूमि भी पाण्डवोंको न दूँगा। इसीपर युद्ध छिड़ा। मनुष्य धर्म दो ही कारणसे छोड़ता है—एक तो विषयोंके लोभसे, दूसरे कुटुम्बियोंके मोहसे। अर्जुनने भी जब देखा कि सम्मुख लड़नेवाले तो सब-के-सब हमारे चाचा, बाबा, भाई, मामा आदि घरके कुटुम्बी हैं, इन्हें मारकर रक्तसे सने राज्यको लेकर हम क्या करेंगे, तब भगवान्ने उन्हें धर्मका रहस्य बताया। भगवान्ने कहा—'भाई! तुम क्षत्रिय हो, धर्मयुद्ध करना तुम्हारा स्वभाव है, जहाँ भी अधर्म देखोगे, वहीं तुम युद्धमें जाओगे। युद्धके बिना तुम रह नहीं सकते। अब तुम्हें धर्मपालनके समय जो मोह हो गया है, वह 'अनार्यजुष्ट' है। धर्मयुद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये कल्याणकारी दूसरा कोई धर्म ही नहीं।' तब अर्जुनने धर्म-पालनके निमित्त युद्ध किया, न कि राज्य-प्राप्तिके लोभसे।

गीताकार बार-बार कहते हैं—'अपना धर्म (आजीविकाका साधन) चाहे विगुण भी हो, दोषयुक्त भी हो और दूसरेका धर्म चाहे कितना भी सुन्दर क्यों न हो, फिर भी अपने धर्मको छोड़ना नहीं चाहिये। स्वभाव-नियत कर्मको करता हुआ प्राणी दोषी नहीं कहा जा सकता।' इसपर यह प्रश्न होता है कि रस बेचना निन्दित कर्म है और जप आदि करके आजीविका चलाना हिंसारहित कर्म है तो क्यों न हम मांस बेचने-जैसे कुकर्मको छोड़कर पंडिताई-पुरोहिताई-ऐसे शुद्ध कर्मको करें? इसपर शास्त्रकार कहते हैं—'देखो, भाई! अग्नि स्वयं शुद्ध ही नहीं, सबको शुद्ध करनेवाली है, किंतु अग्नि जहाँ होगी, वहाँ धूआँ भी रहेगा। जहाँ-जहाँ धूआँ है, समझ लो वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी। इसलिये संसारमें सोलह आने शुद्ध तो कोई काम है ही नहीं। यज्ञ करना कितना शुद्ध काम है, किंतु उसमें भी कितने जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़ोंकी हिंसा हो जाती है। अतः जो भी

काम आरम्भ करोगे, उसीमें कुछ-न-कुछ दोष रहेगा ही। निर्दोष तो एक ब्रह्म ही है। इसलिये स्वभाव-नियत सहज कर्मको नहीं छोड़ना चाहिये।'[१]

इसी बातकी पुष्टि महाभारतमें अनेक उपाख्यान देकर बहुत ही विस्तारसे की गयी है। तुलाधार और धर्मव्याधके उपाख्यानोंमें यही तत्त्व निहित है। धर्मव्याध अपने समयका सर्वश्रेष्ठ धर्मवक्ता था। जब सतीके कहनेपर ब्राह्मण उससे उपदेश लेने गया और उसका ऐसा पाण्डित्य देखा, तब ब्राह्मणने उससे कहा—'महानुभाव! आप निश्चय ही ब्राह्मणके सदृश हैं, किंतु आप इस घृणित व्यापारको करते हैं। बड़े दुःखकी बात है, आप इसे छोड़ क्यों नहीं देते? इसपर धर्मव्याधने कहा—'विप्रवर! देखिये, मैं स्वयं तो हिंसा करता नहीं। मैं स्वयं मांस खाता भी नहीं। मांस खाना मेरे लिये धर्म नहीं है। मैं तो मांस क्रय करके लाता हूँ, बेचता हूँ। यह मेरी वंशपरम्परागत आजीविका है, मेरा पैतृक कर्म है। न्यूनाधिक सभी कर्मोंमें कुछ-न-कुछ दोष है, फिर मैं अपने वंशपरम्परागत कर्मको क्यों छोड़ूँ।'

इसीलिये वर्णाश्रम-धर्ममें कुलागत आजीविकाके साधनको छोड़ना दोष बताया है। हाँ, तीन काम यदि परम्परागत हों, तो भी उन्हें यदि छोड़ दे तो कोई दोष नहीं। एक तो वध करनेका काम, दूसरा चोरी करनेका व्यवसाय और तीसरा नाटकोंमें स्त्री बनकर, नाच-गाकर आजीविका चलानेका काम। इन तीन पैतृक कामोंको छोड़ भी दे तो कोई दोष नहीं। शेष सभी पैतृक कार्योंको करते रहना धर्म है। यह तो हुआ बाह्यधर्म। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, काम, क्रोध, लोभसे बचे रहना, ऐसी चेष्टाओंको सदा करते रहना जिनसे सभी प्राणियोंका हित और प्रिय हो—ये सभी वर्णोंके सामान्य नियम हैं। इन धर्मोंका पालन मानवमात्रको करना चाहिये।[२]

इन उद्धरणोंसे सिद्ध हुआ कि धर्मका सम्बन्ध बाह्य दलबंदी, व्यक्तिपूजा और फिरका-परस्तीसे या तो बिलकुल है ही नहीं, या है तो बहुत कम। आजकल जो प्रचलित धर्म या सम्प्रदाय-फिरके हैं, उनका कहना है कि जबतक तुम अपने धर्मको छोड़कर हमारे धर्ममें दीक्षित न होगे, तबतक तुम्हारा उद्धार नहीं। एक बड़े भारी प्रसिद्ध राजनीतिक मुसलमान नेता, जो महात्मा गाँधीजीके आश्रममें भी रहते थे, उनका कहना था कि 'मुझे गाँधीजीपर दया आती है, निश्चय ही उन्हें नरककी भट्टीमें तपना पड़ेगा; क्योंकि उन्होंने मुस्लिमधर्मकी दीक्षा नहीं ली। वे मुसलमान नहीं हैं।' इसपर गाँधीजीने उनकी मान्यताको ठेस पहुँचाते हुए एक बड़ा-सा लेख भी लिखा था। कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि वर्तमान समयके ईसाई भी यही कहते हैं 'जबतक प्रभु ईसाकी शरणमें तुम नहीं आते, जबतक बपतिस्मा नहीं लेते, तबतक तुम्हारे अपराध क्षमा नहीं हो सकते। तुम्हारे लिये स्वर्गका द्वार खुल नहीं सकता।' इसी प्रकारकी मान्यताएँ अन्य सम्प्रदाय, फिरके, दल या पंथवालोंकी है, किंतु हमारे वैदिक सनातन आर्यधर्मने ऐसी भूल कभी नहीं की। वह दलबंदीसे सदा ऊपर उठकर सोचता है। वह मानव-धर्म है। वह व्यक्तियोंकी मान्यताका आदर करता है। वह कहता है 'तुम सूर्यकी उपासना करो, चाहे शक्ति, गणेश, शिव या विष्णुकी, तुम निराकारको भजो या साकारको। तुम भगवान्‌को अस्तिरूपसे मानो या नास्तिरूपसे। तुम ज्ञाननिष्ठ हो या उपासना, भक्ति अथवा कर्ममें निष्ठा रखनेवाले—कैसे भी तुम भजो, उपासना करो, सबका परिणाम एक होगा। सर्वज्ञ सर्वाधार सर्वसमर्थ सर्वेश्वर प्रभु तुम्हारी उसी भावसे रक्षा करेंगे, उसी भावनासे फल देंगे।'[३] (क्रमशः)

भारतीय संस्कृतिमें वर्ण और आश्रम-धर्म

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सर्वप्रथम इसपर विचार करना चाहिये कि मनुष्यकी उत्पत्ति किससे हुई। शास्त्रोंको देखनेसे मालूम होता है कि मनुसे ही मनुष्यकी उत्पत्ति हुई और इस उत्पत्तिका मूल स्थान यह भारतवर्ष ही है। यहींसे सारी पृथ्वीपर मानव-सृष्टिका विस्तार हुआ। मानव-सृष्टिकी उत्पत्तिका मूल स्थान भारतवर्ष होनेके कारण वही मानवताका मूल उद्गमस्थान है। अतः श्रीमनुजीका आदेश है कि सारी पृथ्वीके लोग यहींसे शिक्षा लिया करें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २। २०)

'इस देश (भारतवर्ष)-में उत्पन्न हुए ब्राह्मणके समीप पृथ्वीके समस्त मानव अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें।'

इसलिये हमलोगोंको मनुष्यताके पूर्ण आदर्श बननेके लिये मनुप्रोक्त धर्मोंके अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहिये; क्योंकि जितने भी स्मृतियोंके रचयिता महर्षि हुए हैं, उनमें मनु प्रधान हैं। अतः मनुने जो कुछ कहा है, वही मनुष्यका धर्म है।

सृष्टिके संचालन, संरक्षण और समुत्थानके लिये श्रीमनुजीने वेदोंके आधारपर चार वर्णों और चार आश्रमोंकी व्यवस्था की थी। उस व्यवस्थाके बिगड़ जानेके कारण ही आज हमारा पतन हो रहा है। अतः उसकी रक्षाके लिये हमें मानवधर्मरूप भारतीय संस्कृतिको अपनाना चाहिये। भाषा, वेष, खान-पान और चरित्रसे ही मनुष्यके हृदयपर भले-बुरे संस्कार जमते हैं। संस्कार ही संस्कृति है। अतः इन चारोंके समूहको ही संस्कृति कहा जाता है।

सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई और ब्रह्माजीसे वेद प्रकट हुए। वेदोंकी भाषा संस्कृत है। सृष्टिके आदिमें ब्रह्मादि देवताओंसे उत्पन्न होनेके कारण संस्कृत-भाषाका नाम 'देवभाषा' और संस्कृत लिपिका नाम 'देवनागरी' हुआ। संस्कृत भाषामें अनेक विशेषताएँ हैं।

हमारे देशका वेष शास्त्रोंमें यही पाया जाता है कि एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीयवस्त्र धारण करना। ये दोनों वस्त्र बिना सिलाये ही काममें लाये जाते रहे हैं लिये अधोवस्त्रसे साड़ी और उत्तरीयवस्त्रसे ओढ़नी चाहिये एवं पुरुषके लिये अधोवस्त्रसे धोती और उत्तरी चादर समझनी चाहिये। अभीतक विवाहके स कन्याका पिता वर और कन्याके लिये उपर्युक्त चा ही प्रदान करता है। इन्हीं वस्त्रोंको पहनकर विवाह व शास्त्रोक्त पद्धति है। अतः यही आदर्श वेष है।

इसी प्रकार हमारे देशका खान-पान पहले कन्द फल, शाक, अन्न और दूध, दही, घी ही रहा। सात्त्विक पदार्थ हैं। इन्हींकी गीतामें प्रशंसा की ग भगवान्ने कहा है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रिया

(गीता १७

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्री बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भ करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

इस प्रकारके सात्त्विक पदार्थोंके भोजनसे बुद्धि सा होती है, अन्तःकरण शुद्ध होता है और अध्यात्मविष स्मृति प्राप्त होती है, जिससे सम्पूर्ण बन्धनोंसे छुटकारा जाता है। छान्दोग्य-उपनिषद्के सातवें अध्यायके २ खण्डके दूसरे मन्त्रमें कहा गया है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृ स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।

'आहार-शुद्धि होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चल स्मृति होती है स्मृतिकी प्राप्ति होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियोंकी निवृत्ति जाती है।'

अतः हमारा खान-पान सात्त्विक होना चाहिये, राज और तामस नहीं। तामस भोजन तो राक्षसों और असुरोंव होता है, इसलिये वह त्याज्य है।

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंमें मानव-चरित्र-निर्माण हेतुभूत जिन आदर्शोंका बहुत विस्तारके साथ वर्णन पा

जाता है, उन सबको भगवान्‌ने गीतामें साररूपसे संक्षेपमें बतलाया है।

भगवान् श्रीकृष्णने मानव-चरित्र-निर्माणके लिये उत्तम गुण और आचरणोंको लक्ष्यमें रखकर दैवी सम्पदाके नामसे गीताके सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस प्रकार कहा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान,[१] इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका अभ्यास तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कभी किंचिन्मात्र भी कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें लिपायमान न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

इस प्रकार भाषा, वेष, खान-पान और चरित्र—इन चारोंके समूहको ही संस्कृति कहते हैं। अतः मनुष्यको उपर्युक्त भारतीय संस्कृतिके आदर्श सद्गुण-सदाचारोंको अपने जीवनमें अच्छी प्रकार उतारना चाहिये। यही मनुष्यकी मनुष्यता है। इसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं, पशु ही है। नीतिमें बतलाया गया है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

(चाणक्य० १०। ७)

'जिनमें न विद्या है न तप है, न दान है न शील (सदाचार) है, न गुण है और न धर्म ही है, वे इस मनुष्यलोकमें पृथ्वीके भार बने हुए मनुष्यरूपमें पशु ही फिर रहे हैं।'

इसलिये मनुष्यको मनुष्यताके अनुरूप आचरण करना चाहिये। निद्रा, आलस्य, प्रमाद, नास्तिकता, दुर्गुण, दुराचार, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और शरीरके आरामकी इच्छा तथा विषयासक्ति—ये सब मनुष्यताको नष्ट करनेवाले हैं। निद्रा और आलस्यके कारण मनुष्य करनेयोग्य कर्मोंका त्याग कर देता है। प्रमादके कारण न करने योग्य कर्मोंको करने लगता है तथा नास्तिकताके कारण मनुष्य ईश्वर, धर्म, शास्त्र और परलोकको नहीं मानता, जिससे मनमाना आचरण करने लगता है। दुर्गुण-दुराचार और आसुरी सम्पदाको धारण करके पथभ्रष्ट हो जाता है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठामें फँसकर मनुष्य दम्भी और पाखंडी बन जाता है तथा शरीरके आराम और भोगोंमें फँसकर न करने योग्य पापकर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको उपर्युक्त इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

सृष्टिके आदिमें मनु आदि महर्षियोंने संसारके परम हितके लिये वेदोंके आधारपर चार वर्णों और चार आश्रमोंकी व्यवस्था करके जो समाजका संगठन किया है, वह हमलोगोंके शरीर, समाज, व्यापार और देशके लिये परम हितकर है। अतः हमलोगोंको अपने अधिकारके अनुसार उन धर्मोंका यथावत् पालन करना चाहिये।

मनुप्रोक्त वर्णाश्रमधर्मका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार समझना चाहिये—

ब्रह्मचर्याश्रम

माता-पिताको उचित है कि पाँच वर्षका हो जानेके बाद बालकको ऋषिकुल या गुरुकुलमें प्रेषित कर दें अथवा अपने घरपर ही रखकर दूसरोंसे या स्वयं विद्या पढ़ायें—कम-से-कम दस वर्ष उसे शिक्षा दें। चाणक्यनीतिमें कहा गया है—

लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत्॥

(चाणक्य० ३। १८)

'पुत्रका पाँच वर्षतक लालन-पालन करे, उसके बाद दस वर्षतक उसपर शासन करे; किंतु जब वह सोलह वर्षका हो जाय, तब उसके साथ मित्रकी भाँति बर्ताव करे।'

माता-पिताको उचित है कि वे बाल्यावस्थामें ही बालकको विद्याभ्यास करायें; क्योंकि जो माता-पिता अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ाते, वे बालकके साथ शत्रुताका व्यवहार करते हैं, इसलिये वे शत्रुतुल्य हैं—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

(चाणक्य० २। ११)

'वह माता शत्रु और पिता वैरीके समान है, जिसने अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ायी; क्योंकि बिना पढ़ा हुआ बालक सभामें वैसे ही शोभा नहीं पाता, जैसे हंसोंके बीच बगुला।'

बालकका यह कर्तव्य है कि वह गुरुके यहाँ ब्रह्मचर्याश्रमधर्मकी शास्त्रोक्त विधिके अनुसार यथाधिकार यज्ञोपवीतसंस्कार* कराकर वेदाध्ययन करता हुआ विद्याका अभ्यास करे, शास्त्रोंका तथा अनेक प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान प्राप्त करे। भिक्षा लाकर उसे गुरुको समर्पित कर दे और गुरुका दिया हुआ भोजन स्वयं करे। यह श्रीमनुजीने कहा है—

समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदर्थममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः॥

(मनु० २। ५१)

'जितनी आवश्यक हो, उतनी भिक्षा लाकर निष्कपट-भावसे गुरुके समर्पण करे और फिर आचमन करके पवित्र हो पूर्वाभिमुख होकर भोजन करे।'

नित्यप्रति गुरुको नमस्कार करना, उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ब्रह्मचारीका उत्तम धर्म है। उसे तत्परताके साथ शिक्षा और विद्याके अध्ययनमें ही विशेषतया मन लगाना चाहिये। जो बालक बाल्यावस्थामें विद्या नहीं पढ़ता एवं शिक्षा ग्रहण नहीं करता तथा किसी कुत्सित क्रियाद्वारा वीर्य नष्ट कर देता है, उसे सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। शिक्षा ग्रहण करना, विद्याका अभ्यास करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना—ये तीनों उसके लिये इस लोक और परलोकमें बहुत ही लाभदायक हैं। ब्रह्मचर्यके बिना आयु, बल, बुद्धि, तेज, कीर्ति और यशका विनाश होता है और मरनेके बाद दुर्गति होती है। इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक शिक्षा और विद्या प्राप्त करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। विद्याका अर्थ है नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान तथा शिक्षाका अर्थ है उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंको सीखकर उनको अपने जीवनमें लाना एवं ब्रह्मचर्यव्रतके पालनका अर्थ है सब प्रकारके मैथुनोंका† त्याग करना और ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना अर्थात्

---

* यज्ञोपवीत-संस्कारका काल श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ (मनु० २। ३६)

'ब्राह्मणका यज्ञोपवीत-संस्कार गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करे।'

किंतु—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥ (मनु० २। ३७)

'किंतु ब्रह्म-तेजकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमें और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये।'

† शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन बतलाये गये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करना तथा स्त्रीसङ्ग करना।'

परमात्माके स्वरूपका मनन करना।

ब्रह्मचारीको मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। इसके सिवा उसे श्रीमनुजीके बतलाये हुए विशेष नियमोंका भी पालन करना चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

(मनु॰ २। १७६)

'ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह नित्य स्नान करके शुद्ध हो देवता, ऋषि और दिव्य पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और अग्निहोत्र अवश्य करे।'

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

(मनु॰ २। १७७—१७९)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री और सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुओंका सेवन करना तथा प्राणियोंकी हिंसा करना एवं उबटन लगाना, आँखोंको आँजना, जूते और छातेका उपयोग करना तथा काम, क्रोध और लोभका आचरण करना एवं नाचना, गाना, बजाना तथा जूआ, गाली-गलौज और निन्दा आदि करना एवं झूठ बोलना और स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना तथा दूसरेका तिरस्कार करना—इन सबका ब्रह्मचारीको त्याग कर देना चाहिये।'

यदि बालक घरपर रहकर विद्याका अभ्यास करे तो उसे माता, पिता और आचार्यको क्रमशः दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्निका रूप समझकर उनकी तन-मनसे सेवा करनी चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥

(मनु॰ २। २३१)

'पिता गार्हपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीयाग्नि हैं—ऐसा कहा गया है। यह तीनों अग्नियोंका समूह अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

इनकी सेवा करनेसे मनुष्य भूः, भुवः, स्वः—तीनों लोकोंको जीत लेता है—

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥

(मनु॰ २। २३३)

'माताकी भक्तिसे मनुष्य इस लोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यलोकको और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है।'

इनकी सेवा बालकके लिये परम तप कही गयी है; क्योंकि यह परम धर्म है, शेष सब उपधर्म हैं—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

(मनु॰ २। २२९)

'इन तीनोंकी सेवा बड़ा भारी तप कहा गया है, अतः इन तीनोंकी आज्ञाके बिना मनुष्य अन्य किसी धर्मका आचरण न करे।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु॰ २। २३७)

'क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सारा कर्तव्य पूर्ण हो जाता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

इन तीनोंमें गुरुकी सेवासे भी माता-पिताकी सेवाका महत्त्व शास्त्रोंमें अधिक बताया गया है; क्योंकि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनु॰ २। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समय जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी उनकी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।'

इसलिये बालकोंको नित्य माता-पिताके चरणोंमें नमस्कार, उनकी आज्ञाका पालन और उनकी सेवा अवश्य करनी चाहिये।

गृहस्थाश्रम

समावर्तन-संस्कारके बाद जब बालक विद्याध्ययन करके आवे तो मार्गमें मिल जानेपर राजाको भी उचित है कि वह उसके लिये आदरपूर्वक मार्ग दे दे और घरपर

आनेपर पिताको उचित है कि स्नातककी सत्कारपूर्वक मधुपर्क आदिसे पूजा करे।

स्नातकको उचित है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार उत्तम गुण, लक्षण और आचरणसे युक्त कन्याके साथ विवाह करे* तथा माता-पिता आदि गुरूजनोंकी सेवा करते हुए शौचाचार-सदाचारसे रहकर अपना जीवन बिताये।

गीता कहती है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(१७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इस 'शारीरिक तप'के अनुसार सदाचारका पालन करना चाहिये। माता, पिता आदि गुरुजनोंको नित्य नमस्कार करने और उनकी सेवा करनेका बड़ा भारी महत्त्व है।

श्रीमनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २। १२१)

'जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।'

गृहस्थ पुरुषको किस प्रकार जीवन बिताना चाहिये, इस विषयमें श्रीमनुजीने यों कहा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम्॥

(मनु० ४। ९२-९३)

'ब्राह्ममुहूर्तमें (सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व) जागना चाहिये और धर्म तथा अर्थका एवं उनके उपार्जनके हेतुभूत शरीरके क्लेशोंका तथा वेदके तत्त्वार्थरूप परब्रह्म परमात्माका बारंबार चिन्तन करना चाहिये। फिर शय्यासे उठकर शौचादि आवश्यक कार्य करके स्नानादिसे शुद्ध और सावधान होकर अपने नियतकालमें (सूर्योदयसे पूर्व) प्रातः-संध्या और (सूर्यास्तसे पूर्व) सायं-संध्या करके चिरकालतक गायत्रीका जप करता रहे।'

इस प्रकार गृहस्थको नित्यप्रति अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासन, गायत्री-जप,† अग्न्याधान, गीता और वेदादि शास्त्रोंका स्वाध्याय तथा अतिथियोंकी सेवा‡ आदि गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंका पालन भलीभाँति तत्परतापूर्वक अवश्यमेव करना चाहिये। गृहस्थाश्रममें रहते हुए नित्य पाँच प्रकारके पाप होते हैं, उनकी निवृत्तिके लिये पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना आवश्यक है। श्रीमनुजीने कहा है—

---

*श्रीमनुजीने कहा है—
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ (मनु० ३। ४)
'जब द्विज विधिपूर्वक व्रत-स्नान और समावर्तन कर चुके, तब गुरुजनोंके आज्ञानुसार अपने वर्णकी उत्तम लक्षणोंवाली कन्यासे विवाह करे।'

†श्रीमनुजी कहते हैं—
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः। महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥ (मनु० २। ७९)
'द्विज इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (पवित्र और एकान्त स्थानमें) हजार बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है, जैसे साँप केंचुलीसे।'
जप मानसिक किया जाय तो वह सर्वोत्तम है—
विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ (मनु० २। ८५)
'विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना बढ़कर है और दूसरे मनुष्यको सुनायी न दे—इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला उपांशु जप (विधियज्ञसे) सौगुना तथा मानस जप (विधियज्ञसे) हजारगुना बढ़कर माना गया है अर्थात् एक-से-एक दसगुना श्रेष्ठ है।'

‡तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (मनु० ३। १०१)
'आसन, बैठनेके लिये जगह, जल और चौथी मीठी वाणी—इनकी सज्जनोंके घरमें कभी कमी नहीं होती।'

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

(मनु० ३। ६८)

'गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जलका घड़ा—ये पाँच हिंसाके स्थान हैं; इनको काममें लानेवाला गृहस्थ पापसे बँधता है।'

अतः क्रमशः उन सबसे निस्तार पानेके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये नित्य पाँच महायज्ञ करनेका विधान किया है। वे पञ्चमहायज्ञ इस प्रकार हैं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(मनु० ३। ७०)

'वेद पढ़ना-पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, श्राद्ध-तर्पण करना पितृयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव करना भूतयज्ञ है और अतिथियोंका पूजन-सत्कार करना मनुष्य-यज्ञ है।'

जो द्विज इन पाँच महायज्ञोंको यथाशक्ति नहीं छोड़ता, वह घरमें रहता हुआ भी नित्य होनेवाले हिंसा-दोषोंसे लिप्त नहीं होता तथा जो देवता, अतिथि, सेवक, पितर और आत्मा—इन पाँचोंको अन्न नहीं देता, वह श्वास लेता हुआ भी मरे हुएके समान ही है।

यदि श्रौत या स्मार्त विधिके अनुसार नित्य अग्निहोत्र न हो सके तो बलिवैश्वदेव तो अवश्य ही करना चाहिये। बलिवैश्वदेव करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३। १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

गृहस्थको सत्य* और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करके प्राणियोंकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये। सबको अन्न-जल देकर अन्न-जल ग्रहण करना मनुष्यके लिये कल्याणकारी है, इसलिये तर्पण और बलिवैश्वदेवका विधान किया गया है। तर्पणमें क्रमशः देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों और पितरोंको एवं यावन्मात्र प्राणियोंको जो जल दिया जाता है, उसका पहले सूर्यके द्वारा शोषण होता है, फिर वह वर्षाके रूपमें आकर सब प्राणियोंको प्राप्त हो जाता है। बलिवैश्वदेवका तात्पर्य है सारे विश्वको बलि (भोजन) देना। जो अग्निमें आहुति दी जाती है, वह सूर्यको प्राप्त होकर और फिर सूर्यके द्वारा वर्षाके रूपमें आकर समस्त विश्वके प्राणियोंको प्राप्त हो जाती है। श्रीमनुजीने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनु० ३। ७६)

'वेदोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है, सूर्यसे मेघद्वारा वर्षा होती है और वर्षा होनेसे अन्न पैदा होता है तथा अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है (एवं अन्नसे ही सब प्राणियोंकी तृप्ति और वृद्धि होती है)।'

अतः बलिवैश्वदेव करना सारे विश्वको जीवनदान देना है; क्योंकि अन्नसे ही सब प्राणी जीते हैं—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

(गीता ३। १४)

'सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं। अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होता है।'

गृहस्थ इस प्रकार सदा अपने कर्तव्यकर्मोंके पालनमें लगा रहे और काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, दम्भ और नास्तिकता आदि दुर्गुणोंका परित्याग करके सदा मन-इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सदाचारमें स्थित रहे। श्रीमनुजीने बतलाया है—

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्॥

'नास्तिकता, वेद-निन्दा, देव-निन्दा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और कटुताका त्याग करे।'

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद् वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः॥

(मनु० ४। १७७)

'हाथ और पैरोंकी चपलता न करे, नेत्रोंकी चपलता न करे, सदा सरल रहे, वाणीकी चपलता न करे और दूसरोंकी बुराई करनेमें कभी मन न लगाये।'

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥

(मनु० ५। १६९)

'विवाहित गृहस्थ पुरुष पूर्वोक्त विधिसे सदा पञ्चयज्ञोंको करता रहे, उनका कभी त्याग न करे और आयुके दूसरे भागपर्यन्त (पचास वर्षतक) गृहस्थाश्रममें वास करे।'

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥

(मनु० ६। ८९)

'इन सभी आश्रमोंमें वेद और स्मृतिके विधानके अनुसार चलनेवाला गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ कहा जाता है; क्योंकि वही इन तीनों आश्रमोंका भरण-पोषण करता है।'

वानप्रस्थाश्रम

जब गृहस्थ पुरुषकी पचास वर्षकी आयु पूरी हो जाय और वह यह देखे कि अब शरीरका चमड़ा ढीला पड़ गया है और केश पक गये हैं तथा पुत्रके भी पुत्र हो गया है, तब वह सम्पूर्ण ग्राम्य आहारोंका और समस्त सामग्रियोंका परित्याग करके तथा अपनी पत्नीका एवं गृहस्थीका सारा भार अपने पुत्रोंपर देकर वानप्रस्थ-आश्रममें जा सकता है। यदि स्त्रीकी साथ जानेकी इच्छा हो तो वह भी जा सकती है।* किंतु वहाँ स्त्री-पुरुष दोनों ब्रह्मचर्यका पालन करें। तथा वानप्रस्थीको उचित है कि वह स्वतः मरे हुए मृग आदिका पवित्र चर्म या वस्त्र धारण करे एवं प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल—तीनों समय स्नान करे तथा जटा, दाढ़ी आदि बालोंको और नखोंको सदा धारण किये रहे। एवं—

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान्॥

(मनु० ६। ७)

'जो उसके खाने योग्य पदार्थ हों, उनमेंसे ही बलिवैश्व करे और अपनी शक्तिके अनुसार भिक्षा दे तथा आश्रममें आये हुए अभ्यागतोंका जल, मूल, फलकी भिक्षासे सत्कार करे।'

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥

(मनु० ६। ८)

'नित्य वेदादि शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगा रहे, इन्द्रियोंका दमन करे, सबमें मैत्रीभाव रखे, मनको वशमें रखे, सदा दान दे, पर प्रतिग्रह न ले और सब प्राणियोंपर दया रखे।'

वानप्रस्थी द्विज मन-इन्द्रियोंको वशमें करके यम-नियमोंका पालन करते हुए पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करता रहे और पूर्णिमा, अमावास्या तथा चान्द्रायण आदि व्रतोंका पालन करे और बिना बोये हुए अर्थात् अपने-आप पृथ्वी या जलमें उत्पन्न कन्द-मूल, फल-फूल, शाकसे एवं उनके रसोंसे अपना जीवन-निर्वाह करे। वह मधु-मांस आदिका कभी सेवन न करे। हलसे जोती हुई भूमिसे उत्पन्न धान आदिको काममें न लाये। श्रीमनुजीने कहा है—

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात् स्नेहांश्च फलसम्भवान्॥

(मनु० ६। १३)

'पृथ्वी और जलमें उत्पन्न शाक और पवित्र वृक्षोंसे उत्पन्न फूल, मूल, फलोंका तथा फलोंके रसका भोजन करे।'

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च॥

(मनु० ६। १६)

'भूखा होनेपर भी उसको हलसे जोती हुई भूमिमें

---

* मनुस्मृतिमें आया है—
एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः। वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥ (६। १—३)

उत्पन्न तथा किसीके द्वारा छोड़े हुए अन्नको और गाँवोंमें उत्पन्न हुए मूल-फलोंको भी नहीं खाना चाहिए।'

अग्निपक्वाशनो वा स्यात् कालपक्वभुगेव वा।
अश्मकुट्टो भवेद् वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा॥

(मनु० ६। १७)

'अग्निसे पके हुए अन्नका भोजन करे अथवा समयपर स्वतः पके हुए फल आदि खाय अथवा अन्न एवं फलोंको पत्थरसे कूटकर या दाँतोंसे चबाकर खाय।'

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात् समानिचय एव वा॥

(मनु० ६। १८)

'एक ही दिनके लिये अथवा एक मासके लिये अथवा छः महीनोंके लिये या एक वर्षके निर्वाहके लिये अन्नका संचय करे।'

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद् वा प्रपदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत् सवनेषूपयन्नपः॥

(मनु० ६। २२)

'भूमिपर लेटे या दिनभर दोनों चरणोंके बलपर खड़ा रहे अथवा कभी आसनपर और कभी आसनसे उठकर अपना समय बिताये तथा तीनों काल स्नान करे।'

वानप्रस्थीको चाहिए कि वह अपने तपको क्रमशः बढ़ाता हुआ ग्रीष्मकालमें पञ्चाग्नि तपे अर्थात् दोपहरमें चारों ओर अग्नि जलाकर मस्तकपर सूर्यके धूपका सेवन करे। वर्षा ऋतुमें पहाड़की चोटीपर खुले मैदानमें बैठकर वर्षाको सहन करे और शीतकालमें गीले वस्त्र धारण करे* अथवा नदी, तालाब आदि जलाशयमें गलेसे नीचेतक जलमें रहे।

एवं वानप्रस्थीको उचित है कि वह—

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन् देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥

(मनु० ६। २४)

'तीनों समय स्नान करके पितरों और देवताओंका तर्पण करे एवं अत्यन्त कठोर तपस्या करता हुआ अपने शरीरको सुखाये।'

'सुख देनेवाले विषयोंमें लिप्त होनेका यत्न न करे, ब्रह्मचर्यका पालन करे, भूमिपर सोये, निवासस्थानमें ममता न करे और वृक्षकी जड़में निवास करे।'

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥

(मनु० ६। २७)

'(फल-मूल आदि न मिले तो) वनवासी विप्रको चाहिये कि तपस्वी ब्राह्मणोंसे अथवा अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजोंसे अपनी प्राण-यात्रा-निर्वाहके योग्य भिक्षा माँग ले।'

ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा॥

(मनु० ६। २८)

'यदि वनमें रहकर भिक्षा न मिले तो वानप्रस्थीको चाहिये कि वह गाँवसे पत्तलके टुकड़े या ठीकरेमें अथवा हाथमें ही भीख लाकर आठ ग्रास भोजन करे।'

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥

(मनु० ६। २९)

'वानप्रस्थी वनमें रहकर इन पूर्वोक्त तथा वानप्रस्थाश्रमके अन्य सब नियमोंका पालन करे और आत्मज्ञानकी सिद्धिके लिये उपनिषद्‌की विभिन्न श्रुतियोंका अभ्यास करे।'

तदनन्तर-वानप्रस्थी द्विज जबतक शरीरपात न हो जाय, तबतक जल और वायुका भक्षण करके योगसाधन करे।

संन्यासाश्रम

इस प्रकार आयुके तीसरे भागको वनमें व्यतीत करके आयुके चतुर्थ भागमें विषयोंको त्यागकर संन्यास-आश्रम ग्रहण कर ले।† अभिप्राय यह कि पचहत्तर वर्षका हो जानेपर अग्निहोत्रादि सम्पूर्ण कर्मोका, धर्मपत्नीका और शिखा-सूत्रका त्याग करके तथा प्राणिमात्रको अभय-दान देकर संन्यास ग्रहण करे। श्रीमनुजी कहते हैं—

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥
यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।

घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह ब्रह्मवादियोंके तेजोमय लोकोंको पाता है। जिस द्विजसे किसी प्राणीको थोड़ा-सा भी भय नहीं होता, उसे शरीर-त्यागके अनन्तर कहीं भी भय प्राप्त नहीं होता।'

संन्यासीका कर्तव्य है कि वह अकेला ही विचरण करे और चातुर्मास्यके अतिरिक्त तीन दिनसे अधिक कहीं एक जगह न ठहरे। दण्ड, कमण्डलु,* कन्था, कौपीन आदिके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुका संग्रह न करे। परिग्रहके त्यागमें ही उसका परम गौरव है। वह कञ्चन और कामिनीका कभी स्पर्श न करे, क्योंकि इनका सर्वथा त्याग ही उसका परम कर्तव्य है। वह शहरमें केवल भिक्षाके लिये ही जाय। श्रीमनुजीने कहा है—

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः॥

(मनु० ६। ४३)

'संन्यासी अग्निरहित, गृहहीन, सबसे निःस्पृह, स्थिरबुद्धि, मौनी और ब्रह्मभावमें समाधिस्थ होकर समय बिताये तथा केवल भिक्षाके लिये ही गाँवमें जाय।'

एवं भिक्षाके लिये 'नारायण हरि'की आवाज उच्चारण कर देनेपर भीतरसे कोई गृहस्थ भिक्षा लेकर न आये या ठहरनेके लिये न कहे तो वहाँ न ठहरे और दूसरे घरपर चला जाय तथा जहाँ दूसरा भिक्षु भिक्षाके लिये खड़ा हो, वहाँ भी न ठहरे।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरगारमुपसंव्रजेत्॥

(मनु० ६। ५१)

'जिस घरमें तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते और अन्य भिक्षुक विद्यमान हों, वहाँ भिक्षाके लिये न जाय।'

संन्यासीको आठ पहरमें एक बार ही दिनमें भोजन करना चाहिये—

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षप्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥

(मनु० ६। ५५)

'संन्यासी दिनमें एक बार भीख माँगे, विस्तारमें न लग जाय; क्योंकि भिक्षामें आसक्त हो जानेसे संन्यासी अन्यान्य विषयोंमें भी आसक्त हो जाता है।'

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्॥

(मनु० ६। ५६)

'जब गृहस्थोंके घरमें रसोईका धुआँ बंद हो जाय, मूसलका काम पूरा हो जाय, अग्नि बुझ जाय और गृहस्थके भोजनके बाद जूठे सकोरे फेंक दिये जायँ, उस समय संन्यासी नित्य भिक्षाके लिये जाय।' क्योंकि अग्नि प्रज्वलित रहे तो गृहस्थ मनुष्य उस संन्यासीके उद्देश्यसे और अधिक भोजन बना सकता है। एवं संन्यासीको पाँच या सातसे अधिक गृहस्थोंके घर नहीं जाना चाहिये और उनसे जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष करना चाहिये—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः॥

(मनु० ६। ५७)

'भिक्षा न मिलनेपर दुखी न हो और मिल जानेपर हर्षित न हो। जितनेमें प्राणोंका निर्वाह हो सके, उतना ही अन्न माँगे तथा विषयोंके सङ्गसे रहित रहे।'

जहाँ अतिशय आदर-सत्कार-पूजा होते हों अथवा जहाँ अनादर होता हो, वहाँ संन्यासी भिक्षाके लिये न जाय; क्योंकि अत्यन्त सत्कारसे बन्धन हो जाता है।† संन्यासी एकान्तमें रहकर जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि अपने नित्यकर्मका पालन करे। बिना पूछे न बोले और अनुचित पूछनेपर भी न बोले, मूकके समान आचरण करे। दीपक और अग्निको प्रज्वलित न करे। कभी किसी भी प्राणीकी किसी प्रकार किंचित् मात्र भी कहीं हिंसा न करे। यम-नियमोंका कभी त्याग न करे। अपना जीवन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिमें ही लगाये; क्योंकि इनके करनेसे वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

संन्यासीके लिये मनुजीका आदेश है—

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।

---

*अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च। तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे॥ (मनु० ६। ५३)

'संन्यासीका भिक्षापात्र धातुका न हो। पात्रमें छेद भी न हो। एवं जैसे यज्ञमें चमस शुद्ध होते हैं, वैसे ही इन पात्रोंकी जलसे शुद्धि मानी गयी है।'

†अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः। अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते॥ (मनु० ६। ५८)

कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥

(मनु॰ ६। ४४—४९)

'मिट्टीका सकोरा आदि भिक्षाके पात्र, रहनेके लिये वृक्षकी जड़, जीर्ण (कौपीन-कन्था आदि) वस्त्र, अकेला रहना और सबमें समान दृष्टि रखना—ये सर्वसङ्ग-परित्यागी संन्यासीके लक्षण हैं। संन्यासी न तो मरनेकी इच्छा करे और न जीनेकी ही अभिलाषा करे; किंतु जैसे सेवक वेतन पानेके लिये नियत समयकी प्रतीक्षा करता है, वैसे ही संन्यासी मरणकालकी प्रतीक्षा करे। मार्गको देखकर पैर रखे, वस्त्रसे छानकर जल पीये, सत्यसे पवित्र वचन बोले और पवित्र मनसे सब कार्य करे। दूसरेके कटुवचन सह ले, परंतु किसीका अपमान न करे और इस क्षणभङ्गुर देहका आश्रय लेकर किसीके साथ वैर न करे। दूसरेके क्रोध करनेपर उसपर क्रोध न करे। कोई अपनी निन्दा करे, तो भी उससे मीठे वचन बोले और कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, मन और बुद्धि—इन सात द्वारोंसे गृहीत हुए विषयोंकी चर्चा न करे; क्योंकि यह यतिके लिये असत्यभाषणके तुल्य है। वह सदा अध्यात्मचिन्तनके परायण रहे। पद्मासन, स्वस्तिकासन या सिद्धासनसे बैठे; सब विषयोंसे उदासीन रहे, मांसाहार कभी न

'जब मनुष्य मनके भावसे सम्पूर्ण विषयोंमें निःस्पृह हो जाता है, तब उसे इस संसारमें और मरनेपर परलोकमें भी नित्य सुख प्राप्त होता है।'

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥

(मनु॰ ६। ८१)

'इस प्रकारसे संन्यासी शनैः-शनैः समस्त सङ्गोंका त्याग करके मान-अपमान, राग-द्वेष, सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि सभी द्वन्द्वोंसे मुक्त हो जाता है और परब्रह्म परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है।'

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति॥

(मनु॰ ६। ८५)

'इस क्रमयोगसे जो द्विज संन्यास ग्रहण करता है, वह यहाँ सब पापोंसे रहित होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

इस प्रकार ऊपर चारों आश्रमोंके धर्मोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। मनुजी कहते है—

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्॥

(मनु॰ ६। ८८)

'शास्त्रविधिसे क्रमपूर्वक सेवन करनेपर ये चारों आश्रम यथोचित रीतिसे पालन करनेवाले ब्राह्मणको परम गतितक पहुँचा देते हैं।'

अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके धर्मोंको संक्षेपसे बतलाया जाता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।

वैश्य और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुआ।'

ब्राह्मणके धर्म

ब्राह्मणके लिये शिल और उञ्छवृत्ति सबसे श्रेष्ठ है। ऐसा ब्राह्मण ऋषिके तुल्य है। जब किसान अनाज काटकर खलिहानसे उसे घरपर ले आता है, उसके बाद उस खेतमें वर्षासे स्वाभाविक ही जो भी धान्य आदि उत्पन्न होता है, उसे लेकर जीवन-निर्वाह करना अथवा खेत या खलिहानमें गिरे हुए धान्य आदिके दानोंको बीनकर उनसे निर्वाह करना '*शिल*' वृत्ति है एवं नगरमें अनाज आदिके क्रय-विक्रयके समय जो अनाजके दाने नीचे भूमिपर गिरे रहते हैं, उनको बीनकर उनसे निर्वाह करना '*उञ्छ*' वृत्ति है; इसे '*कपोतवृत्ति*' भी कहते हैं। इन दोनों शिल और उञ्छको '*ऋत*' कहा गया है।

इसके सिवा ब्राह्मणके लिये जीविकाकी साधारण वृत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

(मनु० १। ८८)

'पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणके लिये रचे गये हैं।'

इनमें यज्ञ करना, दान देना और विद्या पढ़ना—ये तीन तो धर्म-पालनके लिये हैं और यज्ञ कराना, दान लेना और विद्या पढ़ाना—ये तीन आजीविकाके लिये।*

...र्मोका निष्कामभावसे पाल...

'यदि ब्राह्मण अपनी जीविकासे जीवन-निर्वाह ... असमर्थ हो तो क्षत्रियकी वृत्तिसे जीविका करे; क्यों... उसके निकटका वर्ण है। एवं यदि ब्राह्मणवृत्ति ... क्षत्रियवृत्ति—दोनोंसे भी ब्राह्मणको जीविका चलानेमें क... हो तो वह खेती, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्यकी जी... निर्वाह करे।'

किंतु ब्राह्मणको शूद्रकी वृत्तिका अवलम्बन आपत्ति... भी नहीं करना चाहिये। श्रीमनुजीने ब्राह्मणके लिये ... आदिकी व्याख्या करते हुए कहा है—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

(मनु० ४। ४-

'ब्राह्मण ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यानृतसे ... जीवन बिताये, परंतु श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति न करे। ... और शिलको 'ऋत' जानना चाहिये। बिना माँगे मिला ... 'अमृत' है। माँगी हुई भिक्षा 'मृत' कहलाती है तथा खेत... 'प्रमृत' कहते हैं। वाणिज्यको 'सत्यानृत' कहते हैं, उससे जीविका ... सकती है; किंतु सेवाको श्ववृत्ति ... गया है ... त्याग कर देना चाहिये।'

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८। ४३)

'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।'

यदि क्षत्रियका क्षत्रियके कर्मसे निर्वाह न हो तो आपत्तिकालमें वह वैश्यकी वृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करे। श्रीमनुस्मृतिमें आया है—

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥

(मनु० १०। ९५)

'आपत्तिग्रस्त क्षत्रिय सभी पदार्थोंके क्रय-विक्रयरूप पूर्वोक्त वैश्यवृत्तिसे जीविका चला सकता है; किंतु आपत्तिकालमें भी ब्राह्मणकी जीविकाकी अभिलाषा कभी न करे।'

वैश्यके धर्म

श्रीमनुजी कहते हैं—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

(मनु० १। ९०)

'पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार तथा ब्याज और खेती—ये सब कर्म वैश्यके लिये बताये गये है।'

गीतामें वैश्यका कर्म बतलाते हुए भगवान्ने कहा है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(गीता १८। ४४)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं।'

अतः इनमें खेती करना, पवित्र पदार्थोंका क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना, गौ, भैंस, बकरी, भेड़ आदि पशुओंका पालन करना एवं व्यापारमें या बिना व्यापार ब्याज लेना—ये वैश्यकी जीविकाके कर्म हैं। इनमेंसे केवल ब्याजपर निर्भर रहना निन्दनीय है। यदि वैश्यका अपनी वैश्यवृत्तिसे काम न चले तो वह आपत्तिकालमें शिल्प आदिका काम कर सकता है अथवा शूद्रवृत्तिका अवलम्बन लेकर—सेवा करके भी निर्वाह कर सकता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्॥

(मनु० १०। ९८)

'वैश्य अपने धर्मसे जीविका करनेमें असमर्थ हो तो वह न करने योग्य कर्मोंको छोड़कर शूद्रकी वृत्तिसे भी निर्वाह कर सकता है, परंतु समर्थ होनेपर शूद्रवृत्तिको छोड़ दे।'

उपर्युक्त तीनों वर्णोंके कर्मोंमें वेदाभ्यास ब्राह्मणके लिये और प्रजाका पालन क्षत्रियके लिये एवं व्यापार कर्म वैश्यके लिये श्रेष्ठ है;* किंतु यज्ञ करना, दान देना और वेदाध्ययन—ये क्षत्रिय और वैश्यके लिये भी विहित हैं। इनका निष्कामभावसे पालन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो परमात्माको प्राप्त हो जाता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(गीता १८। ५-६)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं हैं, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म विवेकी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

शूद्रके धर्म

श्रीमनुस्मृतिमें आया है—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

(मनु० १। ९१)

'प्रभुने शूद्रको एक ही कर्म करनेका आदेश दिया है कि वह इन चारों वर्णोंकी ईर्ष्यारहित होकर सेवा करे।'

गीतामें भगवान्ने भी कहा है—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

(गीता १८। ४४)

'सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक

---

*वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्। वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु॥ (मनु० १०। ८०)

कर्म है।'

अतः शूद्रके लिये सब वर्णोंकी सेवा करना यह एक ही आजीविकाका कर्म है। आपत्तिकालमें वह शिल्पवृत्तिसे निर्वाह कर सकता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः॥

(मनु० १०। ९९)

'जो शूद्र द्विजातियोंकी सेवा करनेमें असमर्थ हो और जिसके स्त्री-पुत्र क्षुधासे पीड़ित हों, वह कारीगरीसे जीविका चला सकता है।'

किंतु वह आपत्तिकालमें भी ब्राह्मणका कर्म कभी न करे।

इस प्रकार ऊपर चारों वर्णोंके धर्मोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। इनके सिवा वर्णधर्मकी अन्य बातें समूहरूपसे गृहस्थाश्रम-धर्मके वर्णनमें पहले बतलायी जा चुकी हैं।

इस वर्ण-विभागके बिना तो किसी मनुष्यका भी कार्य नहीं चल सकता। पहले समूची पृथ्वीपर ही इसका प्रचार था। अब भी भारतवर्षमें तो यह प्रचलित है ही, भारतवर्षके सिवा यूरोप, अमेरिका आदि देशोंमें भी यह प्रकारान्तरसे प्रचलित है। भेद इतना ही है कि यहाँ जन्म और कर्म दोनोंसे वर्ण माना जाता है और वहाँ केवल कर्मकी ही प्रधानता है। जैसे मौलबी, पादरी, अध्यापक, व्याख्यानदाता आदि जो कार्य करते हैं, वह एक प्रकारसे ब्राह्मणका ही काम है। सैनिक, योद्धा, शासक, रक्षक और न्यायकर्ता आदि क्षत्रियका ही काम करते हैं। व्यापारी, किसान, पशु-रक्षक, आदि वैश्यका ही काम करते हैं एवं श्रमिक, सेवक, शिल्पी (कारीगर) आदि शूद्रका ही काम करते हैं। इस प्रकार ये चार विभाग विदेशोंमें भी हैं; पर हैं कर्मसे। इस विभागके बिना तो किसी भी देशका कार्य नहीं चल सकता। किंतु शास्त्रोंमें जन्म और कर्म दोनोंसे ही वर्ण-विभाग माना गया है और उसीमें सबका परम हित है। यदि जातिका ब्राह्मण है और उसके आचरण शूद्रके-से हैं तो वह ब्राह्मण वास्तवमें ब्राह्मण नहीं है। इसी प्रकार जातिका तो शूद्र है, किंतु आचरण ब्राह्मणके-जैसे हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है। महाभारतमें सर्परूपधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

(महा०, वन० १८०। २५-२६)

'सर्प! यदि शूद्रमें उपर्युक्त सत्य आदि ब्राह्मणोचित लक्षण हैं और ब्राह्मणमें नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। सर्प! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण विद्यमान हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणोंका अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिये।'

महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नका उत्तर देते हुए भी यही कहा है—

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

(महा०, वन० ३१३। १११)

'चारों वेद पढ़ा होनेपर भी जो दुराचारी है, वह शूद्रसे भी बढ़कर नीचा है। जो नित्य अग्निहोत्रमें तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही ब्राह्मण कहा जाता है।'

आत्माके उद्धारमें तो आचरण प्रधान है और संसारकी सामाजिक और व्यावहारिक सुव्यवस्थामें जाति प्रधान है। उदाहरणके लिये यदि घरमें विवाह, यज्ञ या श्राद्ध आदि कराना है अथवा देव या पितृ-कर्ममें ब्राह्मण-भोजन कराना है तो उसमें जातिसे ब्राह्मणकी ही प्रधानता है; क्योंकि उसके लिये ब्राह्मणको ही बुलाना उचित है, शूद्रको नहीं।

अतः शास्त्रोंमें बतलाये हुए अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये, इसीमें सबका परम हित और कल्याण है। श्रीमनुजीने कहा है—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥

(मनु० १०। ९७)

'अपना धर्म गुणरहित हो, तो भी श्रेष्ठ है और परधर्म अच्छी प्रकार अनुष्ठान किया हुआ भी श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि परधर्मसे जीवन वितानेवाला मनुष्य तुरंत अपनी जातिसे पतित हो जाता है।'

गीतामें भगवानने भी कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मकी अपेक्षा गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्मके पालनमें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

स्वधर्मपालनका महत्त्व और फल भगवान्ने यों बतलाया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४५-४६)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको सुनो। जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा (सेवा) करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अभिप्राय यह है कि भगवान् इस जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सबमें व्यापक हैं, यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्के रूपमें प्रकट हुए हैं; अतः यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्का है तथा मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णाश्रमोचित कर्म किये जाते हैं, वे सब भी भगवान्के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्का हूँ—ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि समस्त देवताओंके एवं प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (गीता ५। २९)—इस प्रकार परम श्रद्धा-विश्वासके साथ समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा जो समस्त जगत्का आदर-सत्कार और सेवा करता है अर्थात् समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेके लिये उनके हितमें रत हुआ उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थ-त्यागपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता है, वह मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

इन श्लोकोंमें 'नर' और 'मानव' शब्द देकर भगवान्ने यह व्यक्त किया है कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें क्यों न हो, अपने कर्मोंसे भगवान्की पूजा करके परम सिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सभी मनुष्योंका समान अधिकार है। अपने अध्ययनाध्यापन आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने प्रजापालनादि कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने वाणिज्य, गोरक्षा आदि कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। यही बात आश्रमधर्मके सम्बन्धमें समझ लेनी चाहिये।

अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका, जो मानव-जीवनका चरम उद्देश्य और लक्ष्य है, यह बहुत ही सुगम मार्ग है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक अपने धर्मका पालन करना चाहिये, भारी आपत्ति पड़नेपर भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें बतलाया भी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये मरण-संकट उपस्थित होनेपर भी मनुष्यको चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्युको स्वीकार कर ले, पर स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे। इसीमें मनुष्यका सब प्रकारसे कल्याण है।

बुद्धिवाद और धर्म

(म० म० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

सनातनधर्मकी यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि जहाँ संसारके अन्य धर्मावलम्बी दार्शनिकोंने धर्मका सम्बन्ध केवल शरीरसे अथवा एकमात्र मनसे माना है, वहीं सनातनधर्मानुयायी महर्षियोंने उसका सम्बन्ध आत्मासे जोड़ा है। उन्होंने अपनी अध्यात्मदृष्टिसे देखा कि केवल शरीर या मनके साथ धर्मका सम्बन्ध माननेसे धर्म सर्वथा अधूरा रहता है। ऐसी स्थितिमें न उसकी स्थिरता है और न पूर्णता। अतः उन्होंने पञ्चमहाभूतात्मक स्थूल शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन आदिसे संयुक्त आत्माके साथ धर्मका सम्बन्ध माना है।

अन्यदेशीय विद्वानोंके मतपर थोड़ा-बहुत दृष्टिपात किये बिना महर्षियोंके इस सिद्धान्तका महत्त्व समझमें आना कठिन है, अतएव यहाँ हम पाश्चात्त्य मतोंकी संक्षिप्त समालोचना करना उचित समझते हैं।

धर्माधर्म-निर्णयके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंकी समालोचना करते हुए स्वर्गीय लोकमान्य तिलकने अपने 'गीतारहस्य'में उनके दो मत दिखाये हैं, एक आधिभौतिकवाद और एक आधिदैविकवाद। आधिभौतिकवादियोंने जिस कार्यसे अधिकांश मनुष्योंको अधिक सुख मिले, वही धर्म है—यह धर्माधर्म-निर्णयकी 'कसौटी' मानी है। ये लोग धर्माचरण करनेवालेकी मनोवृत्ति—'नीयत'पर कुछ भी ध्यान नहीं देते और अधिकांश मनुष्योंके अधिकतम हितको लक्ष्य बनाकर केवल ऐन्द्रिय सुखका लक्ष्य रखते हैं। इस प्रकार इस वादकी सर्वथा अपूर्णता विस्तारसे सिद्ध कर विद्वत्तिलक श्रीतिलकने आगे यह दिखाया है कि पाश्चात्त्य देशोंमें धर्म-अधर्मका निर्णय करनेवालोंका एक दल 'आधिदैविकवादी' भी है। इसका कहना है कि दूर दृष्टिके स्वार्थकी भावनासे हो या मनुष्यत्वकी रक्षाके उद्देश्यसे हो अथवा इसी प्रकारके और किसी कारणसे हो, आधिभौतिकवादियोंके कथनानुसार मनुष्यकी परोपकार आदि सद्गुणोंमें स्वतः प्रवृत्ति यदि मान भी लें, तो भी आधिभौतिकवादमें इस प्रश्नका उत्तर नहीं मिलता कि अवसर चूकनेपर मनुष्यको बार-बार धिक्कारनेवाला तथा कितने ही संकीर्ण स्थलोंमें गन्तव्य-मार्गका निर्देश करनेवाला कौन है? आधिभौतिकवादियोंने जिन्हें आधार माना है वे दूरदृष्टि, स्वाभाविक वृत्ति अथवा मनुष्यत्व कुछ भी सही, आखिर सब हैं तो मनोवृत्तियाँ ही। मन शरीरके ही अन्तर्गत एक इन्द्रिय है और उसकी वृत्ति चाहे वह कितनी उत्तम क्यों न हो, होगा शरीरका ही धर्म। फिर मनोवृत्तिको यह अधिकार दिया किसने कि वह शरीरसे परेके भावोंको जान सके?

इस दुर्निवार आपत्तिको हटानेके लिये आधिदैविक पक्षवालोंका कहना है कि भले-बुरे, कार्य-अकार्य, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म आदिका निर्णय करना मनका काम नहीं है। यह काम मनमें बैठा हुआ एक स्वतन्त्र देवता किया करता है। अंग्रेजीमें साधारणतया इसे 'कॉन्शस्' कहते हैं। अपनी भाषामें इसे 'मनोदेवता' कह सकते हैं। बुरे कामोंसे बचाना और अच्छे कार्योंमें प्रवृत्त करना इस मनोदेवताका ही कार्य है।

अहिंसा, मैत्री, दया, दान और परोपकार आदि मनकी ही निसर्गसिद्ध वृत्तियाँ हैं। इसके विपरीत हिंसा, शत्रुता, नृशंसता और कृपणता आदि भी मनके स्वभावसिद्ध धर्म हैं जब कभी इन विपरीत धर्मोंमें संग्राम उपस्थित होता है, तब मनोदेवता अहिंसा आदि सद्गुणोंका ही पक्ष ग्रहण किया करता है। बहुधा देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य किसी बुराईमें पहले-पहल प्रवृत्त होने लगता है, तब वह बार-बार झिझकता है, हटता है मानो कोई उसे बलात् पकड़कर उस कामसे रोक रहा हो। यदि वह हठात् कोई कुकर्म कर भी डालता है तो देरतक उसे अन्तरात्माकी ओरसे फटकार मिलती है। वह पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया? यही इस (वाद)-की मूल भित्ति या जड़ है। कहा जाता है कि वह मना करनेवाला मनोदेवता ही है। इसके अतिरिक्त बुरे काम करनेवाले मनुष्य भी खुले मैदान उन कामोंका समर्थन करते नहीं देखे जाते, प्रत्युत अपने कामोंको छिपानेकी प्रवृत्ति ही उनमें देखी जाती है। यदि उनका मनोदेवता उन कामोंमें साक्षी देता, तो उन्हें अपने

कामोंको छिपानेकी आवश्यकता न होती। वे सबके सामने अपने कामोंकी उचितता सिद्ध कर सकते। इससे अनुभवद्वारा मनोदेवताकी सत्ता सिद्ध होती है।

बहुतोंने एक मनोदेवताके स्थानमें अहिंसा, मैत्री, दया, परोपकार आदिको पृथक्-पृथक् देवता माना है। न्याय करते समय न्यायाधीशका झुकाव जो बहुधा सत्यपक्षकी ओर रहता है, वह न्यायाधीशके मनमें बैठे हुए न्याय-देवताकी ही प्रेरणाका फल है। माताको अपने बच्चोंको दूध पिलानेकी जो प्रवृत्ति होती है यह भी मनोदेवताकी ही प्रेरणाका परिणाम है। एक ही समय दो आवश्यक कार्योंकी कर्तव्यता उपस्थित होनेपर वही उनका बलाबल देखकर एकके छोड़ने और दूसरेको ग्रहण करनेमें मनुष्यका शासक बनता है। प्राणीकी उत्तम मार्गमें प्रवृत्तिका हेतु ये लोग मनके भिन्न-भिन्न देवताको बतलाते हैं, इसलिये इस मनको 'आधिदैविक मन' कहा जाता है। बस, इस मतका सिद्धान्त यही है कि मनोदेवताकी आज्ञा जिसमें मिले अर्थात् मन जिसका अनुमोदन करे, वही कार्य 'धर्म' और मन जिसमें झिझके वही 'अधर्म' समझना चाहिये। इस सिद्धान्तका प्रचार यूरोपमें ईसाई धर्मके उपदेशकोंने किया है, और धर्माधर्मके निर्णयमें इसीको सर्वश्रेष्ठ मार्ग माना है।

इस सब प्रकरणको ध्यानपूर्वक देखनेसे यह सिद्ध होता है कि आधिदैवत पक्षवाले जिसे मनोदेवता कहते हैं, उसे हमारे शास्त्रोंमें वर्णित व्यवसायात्मिका बुद्धि या विवेकबुद्धिका ही नामान्तर समझिये। भेद केवल इतना ही है कि हमारे यहाँ व्यवसात्मिका बुद्धि एक ही प्रकारकी मानी है और पाश्चात्त्योंने इसके अनेक भेद मान लिये हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न निर्णायकोंकी कल्पना व्यर्थ समझ आर्य महर्षियोंने व्यापक दृष्टिसे एक व्यवसायात्मिका बुद्धिको ही निर्णायक माना था, उस व्यापक दृष्टिपर न पहुँचकर इन पाश्चात्त्य विद्वानोंने भिन्न-भिन्न देवताओंकी कल्पना कर डाली।

जो हो, कहनेका तात्पर्य यह है कि पाश्चात्त्य विद्वानोंकी मनोदेवताकी कल्पना भी कोई नयी नहीं है। वह हमारे शास्त्रोंकी विवेचनाका ही आंशिक, परिवर्तित या विकृत रूप है। हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें ऐसे अनेक विचार पाये जाते हैं। महाराज धृतराष्ट्रका ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन भी यही कहा करता था कि 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता, जो करता हूँ मनोदेवताकी प्रेरणासे करता हूँ।'

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

अर्थात् मैं शास्त्रोक्त धर्म-अधर्मको खूब जानता हूँ। यह भी जानता हूँ कि धर्माचरणसे सुख और अधर्म करनेसे दुःख होता है। यह भी मुझे मालूम है कि संसार धर्मात्मासे प्रेम और अधर्मात्मासे द्वेष करता है। किंतु यह जानता हुआ भी मैं धर्माचरण नहीं करता, इसका कारण यह है कि कोई देवता (कॉन्शस् या मनोदेवता) मेरे हृदयमें बैठा हुआ है, कर्तव्याकर्तव्य-निर्णयके समय मैं उसीसे पूछता हूँ और वह जैसी आज्ञा देता है, मैं वैसा ही करता हूँ। धर्माधर्मके निर्णयमें मनोदेवताके अतिरिक्त और किसीको मैं महत्त्व नहीं देता।

महाराज दुष्यन्तने जब प्रथम बार शकुन्तलाको देखा और उन्हें विचार हुआ कि यह सम्भवतः ब्राह्मण कण्व ऋषिकी पुत्री होगी, इसलिये मेरा इसका विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता, उस अवसरपर महाकवि कालिदासने उनके मुखसे कहलाया है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

यह कन्या अवश्य ही क्षत्रियके विवाह-योग्य है, क्योंकि सदा शुभ विचार रखनेवाला मेरा मन इसपर गया है। सत्पुरुषोंके लिये जहाँ कर्तव्याकर्तव्यका संदेह उत्पन्न हो, वहाँ उनके अन्तःकरणकी वृत्ति ही प्रमाण होती है। इस 'सतां हि संदेहपदेषु' आदि वाक्यको धार्मिकशिरोमणि मीमांसाके परमाचार्य श्रीकुमारिल भट्टपादने भी अपने 'तन्त्रवार्तिक' में उद्धृत किया है, इसमें 'अन्तःकरण' पद है। अन्तःकरणमें मन, बुद्धि, अहंकार—इन तीनोंका समावेश है, इसलिये विवेकबुद्धि इसमें संगृहीत हो गयी है। मन

और बुद्धि—इन पदोंका व्यवहार संकीर्ण (मिला-जुला) ही ग्रन्थोंमें रहता है। मनके लिये 'बुद्धि' शब्दका और बुद्धिके लिये 'मन' शब्दका प्रयोग बहुधा हो ही जाता है। उचित देखकर वैसा अर्थ वहाँ ले लेना चाहिये।

अस्तु, धर्मशास्त्रकारोंने भी कई जगह इस बातका उल्लेख किया है। 'मनुसंहिता'के आरम्भमें ही धर्मका विशेषण 'हृदयेनाभ्यनुज्ञातः' दिया गया है। अर्थात् बुद्धिका साक्ष्य जिसमें मिले वही धर्म है। आगे चौथे अध्यायके १६१वें श्लोकमें यह बात स्पष्ट लिखी है—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

जिस कार्यको करनेसे कर्ताकी अन्तरात्मा विवेकबुद्धि (कॉन्शस् या मनोदेवता) प्रसन्न हो, वह कार्य प्रयत्नसे करना चाहिये और जो कार्य इसके विपरीत हो, उसे छोड़ देना चाहिये।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और अपने आत्माको प्रिय लगना—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण कहे गये हैं। यहाँ **'स्वस्य च प्रियमात्मनः'** का यही अर्थ है कि अपने मन अथवा बुद्धिको जो संतोषजनक हो। मनु भगवान् यहाँ **'प्राहुः'** पद देते हैं, अर्थात् धर्मके ये चार ज्ञापक लक्षण धर्मज्ञ लोग कहते आये हैं। इससे सिद्ध है कि ये श्रुत्युक्त लक्षण हैं। स्मृतिकार तो मनुसे प्राचीन कोई हैं नहीं। मनु भगवान्‌ने और भी कई जगह इस बातपर जोर दिया है। जैसे—**'मनःपूतं समाचरेत्'** काम वही करना चाहिये जो मनको (मनोदेवताको) शुद्ध मालूम हो आदि।

इससे यह सिद्ध होता है कि कार्याकार्यके निर्णयमें मनकी गवाही लेना आर्य ऋषियोंको भी अभिमत था। किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आधिदैवत पक्षवालोंके समान कर्तव्याकर्तव्यके निर्णय-जैसे गम्भीर कार्यको महर्षियोंने एकमात्र मनोदेवताके ही सुपुर्द कर दिया था। उन्हें यह भलीभाँति मालूम था कि कॉन्शस् या मनोदेवता आखिर है तो एक सांसारिक वस्तु। उसे आदर देनेके लिये चाहे उसे देवता या इससे भी कोई बड़ी पदवी दे दी गयी हो, किंतु अन्ततः उसका ज्ञान है परिच्छिन्न ही।

ऐसा न समझकर सदसद्विवेक-बुद्धिकी जगह स्वतः मनोदेवता माननेमें प्रश्न यह होता है कि क्या वह देवता स प्राणियों या सब मनुष्योंमें समानरूपसे रहता है या किसी किसीमें ही? यदि किसी-किसीमें ही उसका रहना मा जाय, तब तो धर्म-अधर्मके निर्णयका अधिकार कुछ लोगोंके ही हाथमें चला जायगा, जिनमें मनोदेवता रहता है फिर लोग धर्म-अधर्मके निर्णयके अधिकारी न होंगे। औ देवताका नाम लेकर धर्म-निर्णेता बनने अथवा नया धर्म चलानेका ढोंग खूब चलेगा। यदि सब श्रेणियोंके मनुष्योंमे उस देवताकी स्थिति समानरूपसे मान ली जाय तो चोर और बादशाहमें जो महान् बुद्धिभेद है, उसकी ठीक-ठीक उपपत्ति नहीं होगी। यदि सबमें देवता है तो क्यों एक मनुष्य अत्यन्त नृशंस, हिंसक और एक परम दयाशील देखा जाता है।

यदि कहें कि वह देवताकी आज्ञा न मानकर हिंसक बन गया तो फिर देवताका कोई महत्त्व नहीं रहता। यदि बुरे कामसे रोक देनेकी उसमें शक्ति नहीं तो वह देवता कैसे रहा? यह माना जाय कि देवताका काम केवल सुझाव देना है, मानने-न-माननेमें हम स्वतन्त्र हैं तो भी निस्तार नहीं। देखा जाता है कि जिनकी आदत बुरे कामोंकी पड़ गयी, उन्हें अन्तरात्मा निषेध भी नहीं करता। उनकी वह झिझक जाती रहती है और वे खुशी-खुशी अनुचित कामोंमें प्रवृत्त होते हैं। अब कभी उन्हें अपने कियेपर पश्चात्ताप भी नहीं होता। वहाँ यही कहना पड़ेगा कि देवताने अब सुझाव देनेका अपना काम भी छोड़ दिया, या देवता अब उसमेंसे चला गया।

तब फिर प्रश्न हो जायगा कि किसके पास मनोदेवता है, किसके पास नहीं, अथवा कहाँ काम छोड़ चुका, कहाँ कर रहा है, इसका निश्चय कैसे हो? जिनकी बुरी आदत है, जिन्हें बुरे कामोंमें झिझक नहीं है, उनमें मनोदेवताका न रहना मान लें, इसका भी कुछ अर्थ नहीं रहता। प्रश्न तो यह है कि किसकी आदत बुरी है और किसकी अच्छी, इसका निर्णय कैसे हो? जब एक काममें कुछ लोगोंकी प्रवृत्ति है, कुछकी नहीं है तब यह काम बुरा है कि अच्छा,

इसका निर्णय किस आधारपर किया जाय? जो काम समाजसे छिपकर किया जाय वह बुरा है, यह कसौटी भी पूरी नहीं उतरती? जब वैसा काम करनेवाले बहुत मिल जाते हैं तो छिपानेकी प्रवृत्ति भी हट जाती है। अभी कुछ वर्षों पहले कोई भी वर्णाश्रमी भारतीय यदि अपने भोजन-नियमोंको छोड़कर होटल आदिमें खाता तो वह झिझकता और अपने कार्यको छिपाता था। किंतु आज वैसा समुदाय बन जानेसे न वह झिझक है और न छिपानेकी प्रवृत्ति। प्रत्युत ऐसे दलमें फँस जानेवाला वर्णाश्रमी अपने-आपको संकोचमें पड़ा हुआ पाता है। वही झिझकता है और इन प्रवृत्तियोंमें शरमाता है। कहावत प्रसिद्ध है *'सौ नकटोंमें एक नाकवाला नक्कू कहलाता है।'* वही मनुष्य जो एक कामको करनेमें झिझकता था, आज वह उसे बेधड़क करता दिखायी देता है। तब फिर मनोदेवताका पहलेका निर्णय ठीक था या आजका निर्णय ठीक है, इसका कुछ निश्चय नहीं हो सकता। इसलिये यह देवताकी कल्पना निरी कल्पना ही है।

वस्तुत: ये काम सदसद्विवेकबुद्धिके ही हैं, और यह बुद्धि भी त्रिगुणात्मक होनेसे बदलनेवाली है। इसलिये आज बुद्धि जिसे अच्छा आदमी समझती है, सम्भव है, कल उसे बुरा समझे। शिक्षा, संगति, परिस्थिति आदि सब बातोंका प्रभाव उसपर बराबर पड़ता है। और इसी प्रभावसे उसमें परिवर्तन होता रहता है। यह प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। फिर यह सदसद्विवेकबुद्धि क्या वस्तु है? इसीको निर्भ्रान्तरूपसे समझने-समझानेके लिये सर्वज्ञकल्प महर्षियोंने धर्मशास्त्रोंकी रचना की थी; क्योंकि सर्वसामान्यकी बुद्धि सर्वज्ञ नहीं है। उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और संशय आदिकी सम्भावना रहती है। कोरा बुद्धिवाद तो पथसे विचलित भी कर देता है। केवल भगवान् तथा समाधिसिद्ध ऋतम्भराप्रज्ञायुक्त त्रिकालज्ञ महर्षि ही सर्वज्ञ थे और उनकी योगजबुद्धिद्वारा निर्मित धर्मशास्त्र भी वेदानुकूल होनेके कारण सर्वोपरि अभ्रान्त प्रमाण हैं—

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

(मनु० २। ७)

और इसीलिये स्वयं भगवान् भी इसपर मोहर लगाते हुए कहते हैं कि '**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**' अर्थात् सभी प्रकारके निर्णयोंके लिये धर्मशास्त्र ही एकमात्र सर्वोपरि निर्भ्रान्त प्रमाण है। उनके अनुसरणसे ही बुद्धि शुद्ध-बुद्ध, पवित्र, व्यवसायात्मिका और ठीक-ठीक निर्णय करनेमें सक्षम होती है और उसी निर्णयके अनुपालनमें सर्वविध कल्याण-मङ्गल है, वहाँ कोई भ्रम, संशय या विवाद भी नहीं रह जाता।
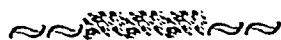
धर्म जीवनमें उतारनेकी वस्तु है, लिख रखनेकी नहीं

धर्मका अध्ययन करनेवाले तथा धर्म-वाक्योंको कागजपर लिखकर रखनेवाले एक सज्जनको एक दिन निर्जन पथमें डाकुओंने घेर लिया।

'भाई! आप मेरी सारी वस्तुएँ ले लें, पर कागज न लें। इन कागजोंपर मैंने धर्मके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त लिख रखे हैं। इनके द्वारा समय-समयपर मुझे बड़ा प्रकाश मिलता है। मेरे कागज लौटा दें।' उक्त सज्जनने डाकुओंके सरदारसे यह विनम्र प्रार्थना की।

'तो आजतक तुमने जीवनमें धर्मकी क्या-क्या बातें पढ़ीं—सीखीं। कागजोंको काले रंगकी स्याहीसे रँग देना धर्म-सिद्धान्तका समझना नहीं है। धर्मकी बातें कागजपर लिखनेकी नहीं, हृदयमें उतारकर आचरण करनेकी हैं। तुम कोरे कागजकी तरह कोरे ही रह गये।' डाकुओंके सरदारने कागज लौटाकर उनकी बड़ी भर्त्सना की।

'भाई! तुम सच कहते हो, धर्मका आचरण ही जीवनका यथार्थ श्रेय है। मेरी आँख खुल गयी।' उन्होंने विनम्रतापूर्वक सरदारके प्रति आभार प्रकट किया और धर्म-तत्त्वोंको जीवनमें उतारनेका संकल्प किया।
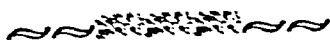
धर्मके विविधरूप

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

जो सबका धारण करे और जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है। सब लोग एक परिस्थितिमें नहीं रहते। एक ही व्यक्ति सदा एक-सी परिस्थितिमें नहीं रहता। पूरे समाज एवं देशमें भी परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। मनुष्योंकी रुचि, अधिकार तथा मानसिक योग्यता भी एक जैसी नहीं हैं। इसलिये कोई एक ही धर्मका निश्चित रूप, कोई एक ही साधन-सम्प्रदाय, कोई एक ही आचार-पद्धति सब देशों, सब लोगों और सब समयके लिये अभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिका कारण हो सके, यह सम्भव नहीं है। इसलिये धर्म नानारूपात्मक है। वह एक होकर भी अनेकरूप है। अनेकतामें एकत्वका दर्शन-यही सृष्टिके परम तत्त्वका दर्शन है।

जब एक ही साधन-प्रणाली, एक ही आचारसंहिता, एक ही जीवन-पद्धति अथवा उपासना-पद्धतिका आग्रह किया जाता है, तब वह बहुत शीघ्र विकृत होने लगती है। उसकी पद्धतियोंमें उसके अनुयायी छूट लेने लगते हैं और उसकी उपेक्षा करने लगते हैं। आज करोड़ों वर्ष व्यतीत होनेपर भी सनातन धर्म केवल जीवित ही नहीं है, समस्त विकृतियों तथा बाह्य आघातोंके निरन्तर थपेड़े सहनेपर भी उसमें अपने अधिकारानुरूप धर्मका आचरण करनेवालोंकी एक बड़ी संख्या है, जब कि विश्वमें एक ग्रन्थ, एक गुरु, एक उपासना-पद्धतिको ही धर्म माननेवाले अनेक सम्प्रदाय जन्मे और नष्ट हो गये। जो आज जीवित हैं, उन अपनेको धर्म कहनेवाले सम्प्रदायोंमें उनके अनुयायियोंकी दृढ़तासे नियम-पालन करनेवालोंका अनुपात सनातन धर्मकी अपेक्षा बहुत कम रह गया है।

धर्म सार्वभौम है, सबके लिये है तो उसका समयानुकूल तथा साधककी परिस्थिति तथा अधिकारके अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप भी होगा। इसलिये प्रत्येक युगके विशेष-विशेष धर्म हैं। प्रत्येक वर्ण एवं आश्रमके भिन्न-भिन्न धर्म हैं। प्रत्येकके अधिकारके अनुसार भिन्न-भिन्न धर्म हैं। धर्मके इन विविध रूपोंका नामोल्लेख करनातक सम्भव नहीं है।

इन असंख्य विविधताओंके होते हुए भी बहुत-सी मौलिक एकताएँ होती हैं। जैसे मनुष्योंके रंग तथा आकृतियाँ, उनके कद, उनका वजन भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनकी आकृतिमें समानता है, जिसके कारण सब मनुष्य कहलाते है। उसी प्रकार सभी मनुष्योंके पृथक्-पृथक् आचरणोंमें भी एक समानता होती है। सबके अभ्युदय निःश्रेयसके साधनोंमें जो समत्व है, उसे दृष्टिमें रखकर सबके लिये धर्मके—कर्तव्यकर्मके जो मुख्य-मुख्य भेद हैं, उनकी ही चर्चा यहाँ की जा रही है।

नित्यकर्म—यह सबसे मुख्य अङ्ग है धर्मकृत्यका। कहा गया है कि नित्यकर्मके करनेसे कोई पुण्य नहीं होता, न करनेसे पाप होता है। जैसे स्नान करना है। सामान्य स्नान करनेसे शरीरको कोई नयी शक्ति मिलती ही है। यह कहा नहीं जा सकता; किंतु स्नान न करनेसे शरीर मलावृत रहता है और रोगकी ओर जाता है। इसी प्रकार नित्यकर्मका अर्थ है प्राकृतिक एवं शास्त्रीय रीतिसे दैनिक मानसिक स्वच्छताका कार्य।

प्रकृति स्वभावसे विकारोन्मुख है। कोई भी भवन बनाइये, बंद रखिये; किंतु उसमें थोड़ी-बहुत धूलि-गंदगी एकत्र होती ही है। दैनिक स्वच्छता भवनके लिये, तनके लिये जैसे अपेक्षित है वैसे ही मनके लिये भी अपेक्षित है। मनको भी सूक्ष्म शरीरका अङ्ग माना गया है। वह भी प्राकृतिक तत्त्व है। अतः मन कोई ऐसा कभी नहीं बनेगा कि उसकी स्वच्छताका प्रयास बंद कर दिया जाय तो वह स्वच्छ बना रहेगा। यह प्रयास तो करते ही रहना होगा।

केवल स्वच्छताका प्रयास ही नहीं, दैनिक रूपसे पोषण भी आवश्यक है। आप कार्य न करें, चुपचाप पड़े रहें तो भी हृदय काम करता है। रक्त दौड़ता है। अतः शरीरको अपनी शक्ति बनाये रखनेके लिये दैनिक भोजन आवश्यक होता है। इसी प्रकार मनको भी सशक्त रखनेके लिये शुद्ध आहार चाहिये प्रतिदिन। आप शुद्ध आहार नहीं देंगे तो वह मनमाना आहार ग्रहण कर लेगा और तब बीमार हो जायगा। उसमें मानसिक रोग जड़ पकड़ लेंगे।

स्नान, संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव आदि कर्म नित्यकर्म

हैं, द्विजातिके लिये। इनमें भी संध्यादिकी पद्धति भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक सम्प्रदायने अपने अनुयायियोंके लिये नित्यकर्म निश्चित किये हैं। प्रात:काल उठकर प्रार्थना करनेसे लेकर शयन करनेतकके लिये नित्यकर्म है। आप संध्या करते हैं या नमाज पढ़ते हैं, इसमें तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य इसमें है कि आपके सम्प्रदायके अनुसार जो आपका नित्यकर्म है, उसका पालन आपको नियमपूर्वक करना चाहिये। यह मनकी स्वच्छता, स्वस्थता तथा सशक्तताके लिये आवश्यक है।

नैमित्तिक कर्म—मनुष्यके जीवनमें बहुत-से निमित्त आते हैं, जब उसे अपनी दैनिक चर्यामें परिवर्तन करना पड़ता है। उस समय उसे उस निमित्त-विशेषको दृष्टिमें रखकर कार्यक्रम बनाना पड़ता है। धार्मिक दृष्टिसे जब ऐसे विशेष निमित्त आते हैं, तब विशेष धार्मिक कर्म आवश्यक होते हैं।

घरमें संतान होती है, विवाह पड़ता है, कोई विशेष अतिथि आता है, कोई मरता है। ऐसे समय आप अपने कार्यालय, दूकान आदिके सामान्य काममें अन्तर करते हैं या नहीं? इन अवसरोंपर आपके चित्तमें विशेष उत्साह, शोक या चाञ्चल्य होता है। अतएव चित्तके परिष्कारके लिये भी इन अवसरोंपर विशेष आचरण होना चाहिये।

निमित्त स्थानके कारण आते हैं—जैसे आप तीर्थयात्रा करें तो तीर्थस्थान विशेष निमित्त हैं। काल निमित्त बनता है-जैसे एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, शिवरात्रि आदि। जब प्रकृति विशेष अवस्थामें होती है, व्यक्ति अथवा घटनाएँ निमित्त बनती हैं। इन निमित्तोंके अनुसार हमारा जीवन, हमारा मन अभ्युदय एवं नि:श्रेयसके पथपर ठीक स्थिर रहे, वेगसे बढ़े, इसके जो विधान हैं, वे नैमित्तिक कर्म हैं।

यात्रामें आँधी वेगकी हो और प्रतिकूल हो तो नौका घाटपर लाकर रोक देनी पड़ती हैं। वायुका वेग अनुकूल हो तो पाल चढ़ा देना पड़ता है। इसी प्रकार नैमित्तिक कर्मके विधान प्रतिकूल निमित्तकी बाधासे रक्षा तथा अनुकूल निमित्तकी शक्तिसे अधिकाधिक लाभ उठानेके लिये निश्चित हुए हैं।

सामान्य धर्म—सबके लिये साधारण रूपसे व्यवहार करनेके कुछ नियम होते हैं। जैसे भारतमें सामान्य नियम है कि मार्गपर अपने बायें हाथकी ओरसे सवारी चलायी जाय। इसी प्रकार सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सेवा, संतोष, मन-इन्द्रियसंयम, ईश्वरमें श्रद्धा आदि सामान्य धर्म हैं। इनका आचरण सबको ही करना चाहिये। ये सबके लिये आचरणीय एवं नित्य मङ्गलमय हैं। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादजीको देवर्षि नारदने धर्मोपदेश करते हुए तीस लक्षणयुक्त सार्ववर्णिक, सार्वभौम मानवधर्म बताया है—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(श्रीमद्भागवत ७। ११। ८—१२)

१-सत्य, २-दया, ३-तपस्या, ४-पवित्रता, ५-कष्ट-सहिष्णुता, ६-उचित-अनुचितका विचार, ७-मनका संयम, ८-इन्द्रियोंका संयम, ९-अहिंसा, १०-ब्रह्मचर्य, ११-त्याग, १२-स्वाध्याय, १३-सरलता, १४-संतोष, १५-समदर्शिता, १६-सेवा, १७-धीरे-धीरे सांसारिक भोगवृत्तिका त्याग, १८-मनुष्यके लौकिक सुख-प्राप्तिके प्रयत्न उलटा ही फल देते हैं—यह विचार, १९-मौन, २०-आत्मचिन्तन, २१-प्राणियोंमें अन्नादिका यथायोग्य विभाजन तथा उनमें, विशेषकर मनुष्योंमें अपने आराध्यको देखना, २२-महापुरुषोंकी परमगति भगवान्‌के रूप, गुण, लीला, माहात्म्यका श्रवण, २३-भगवन्नाम-गुण-लीलाका कीर्तन, २४-भगवान्‌का स्मरण, २५-२६-भगवत्सेवा तथा पूजा-यज्ञादि, २७-भगवान्‌को नमस्कार करना, २८-भगवान्‌के प्रति दास्यभाव, २९-सख्यभाव और ३०-भगवान्‌को आत्मसमर्पण—इन तीस लक्षणोंवाला धर्म सभी मनुष्योंके लिये कहा गया है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् संतुष्ट होते हैं।

विशेष धर्म—मनुष्य होनेके साथ प्रत्येक मनुष्यकी एक विशेष परिस्थिति भी समाजमें है और उस परिस्थितिके अनुसार उसके विशेष कर्तव्य भी होते हैं। आप देशके सामान्य नागरिक हैं, इसलिये नागरिकताके सामान्य कर्तव्यका

धर्मशास्त्रोंके अनुसार चलनेपर ही कल्याण होगा

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निवृत्त शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराजके सदुपदेश)

[प्रस्तोता—ब्रह्मलीन भक्त श्रीरामशरणदासजी]

(१) धर्मशास्त्रोंके बताये मार्गपर चलो

प्रश्न—पूज्य महाराजजी, हमारा कल्याण कैसे हो, यह बतानेकी कृपा करें। क्या धर्मशास्त्रोंकी प्रत्येक बात माननीय है, जीवनमें उतारने योग्य है?

पूज्य जगद्गुरुजी—हमारे सनातनधर्मके धर्मशास्त्र ज्ञान-विज्ञानके सागर हैं। हमारे ऋषि-मुनियोंने घोर तपस्या, गहन अध्ययन तथा अनुभूतियोंके बाद इनकी रचना की। धर्मशास्त्रोंका अक्षर-अक्षर सत्य है। धर्मशास्त्र ही मानव और पशुके अन्तरको स्पष्ट करते हैं। क्या करना चाहिये,क्या नहीं करना चाहिये—यह धर्मशास्त्रोंसे ही हमें पता चलता है। धर्मशास्त्रोंके प्रति पूर्ण निष्ठा रखकर सनातनधर्मके बताये गये मार्गपर चलकर ही मानव-जीवनको सार्थक बनाया जा सकता है।

यदि अपना वास्तविक कल्याण करना चाहते हो तो अपने प्राचीन सत्य सनातनधर्मकी शरण लो। अपने सत्य सनातनधर्मकी छत्रच्छायामें निर्भय होकर रहो। अपने सत्य सनातनधर्मके अनुसार चलो। अपने सत्य सनातनधर्मकी आज्ञाओंका पालन करो और सनातनधर्मकी प्रत्येक मान-मर्यादाओंको मानो तथा सनातनधर्मकी प्राणपणसे सेवा करो एवं रक्षा करो, यही सनातनधर्म तुम्हारा भी परम कल्याण करेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। शास्त्र बताता है—'**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः**'—जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। यह याद रखो कि अनादिकालसे चला आया यह हमारा सनातनधर्म ही इस समस्त विश्वमें एकमात्र ईश्वरीय धर्म है और सत्य धर्म है तथा कल्याणकारी धर्म है, और तो सब मत-मतान्तर हैं, पंथ हैं, रिलीजन हैं, समाज हैं, इनमें धर्म कोई नहीं है। धर्म तो बस सनातनधर्म ही है। इसलिये लाख कष्ट सहकर भी अपने इस सत्य सनातनधर्मको कभी भूलकर भी मत और अपने प्राणोंपर खेलकर भी सनातनधर्मकी रक्षा करो। सनातनधर्मकी रक्षामें ही विश्वकी रक्षा है और सनातनधर्मको मिटानेमें विश्वका विनाश है। यदि सनातन-धर्म है तो याद रखो कि तभी हमारे मठ-मन्दिर हैं, ये हमारे तीर्थस्थान हैं, और ये पूज्य देवी-देवता हैं और ये शास्त्रपुराण हैं और ये रामायण-महाभारत हैं और ये पूज्य गो-ब्राह्मण हैं और कथा-कीर्तन हैं, योग-यज्ञ हैं, व्रत-पूजा हैं और ये दान-पुण्य आदि सत्कर्म हैं। यदि हमारा यह सनातनधर्म नहीं रहा तो फिर कुछ भी शेष नहीं बचेगा और फिर तो बस चारों ओर घोर अन्धकार-ही-अन्धकार छा जायगा और सब धर्म-कर्मसे हीन पशुवत् बन जायँगे। इसलिये सनातनधर्मके अनुसार चलना और सनातनधर्मकी प्राणपणसे रक्षा करना यह प्रत्येक भारतीय हिन्दूका परम कर्तव्य है और परम धर्म है।

(२) वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलो

प्रश्न—धर्मका पालन कैसे करें?

पूज्य जगद्गुरुजी—अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलो और अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करो, भूल करके भी वर्णाश्रमधर्मके विरुद्ध कोई भी कार्य मत करो। अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलनेसे ही और अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेसे ही तुम्हारा, तुम्हारे इस कुलका और तुम्हारी जातिका और तुम्हारे इस देश भारतका उत्थान हो सकता है, इसमें तनिक भी संदेह करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजके राज्यमें सब लोग सुखी थे—

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥

सब लोग सुखी क्यों थे? जरा यह भी ध्यानसे सुनो!

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

सब अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चला करते

थे। सब अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन किया करते थे, बस इसीसे सभी लोग सुखी थे और किसीको भी कोई भय, शोक, रोग नामको भी नहीं थे। आज हमने कुछ लोगोंके चक्करमें फँसकर अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करना छोड़ दिया है, इसीसे आज हमारा और हमारे इस देशका तथा हमारी इस जातिका घोर अध:पतन होना प्रारम्भ हो गया है। यदि यह चाहते हो कि हमारा और हमारे देशका तथा जातिका उत्थान हो और परम कल्याण हो तो सभी लोग पुन: पहलेकी भाँति अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार चलो और आपसमें प्रेमसे रहो, यही कल्याणका एकमात्र मार्ग है।

(३) श्रीभगवन्नामामृतका पान करो

प्रश्न—महाराजजी, भगवत्प्राप्तिका उपाय क्या है?

पूज्य जगद्गुरुजी—श्रीभगवत्प्राप्ति करना चाहते हो तो इस घोर कलिकालमें श्रीभगवत्प्राप्तिका एकमात्र सरल और सुलभ साधन है—**'कलौ केशवकीर्तनम्।'** बस श्रीहरिनामका संकीर्तन करना। भगवान्‌के श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, श्रीदुर्गा आदि परम पवित्र नामोंका बड़े प्रेमसे कीर्तन करो, श्रीभगवन्नाम-जप करो, श्रीभगवन्नाम-स्मरण करो और अहर्निश श्रीभगवन्नामामृतका पान करो। आजका यह युग बड़ा ही महान्—घोर भयंकर कलिकालका युग है, इसलिये इस कलिकालके महान् भयंकर युगमें जप, तप, योग, यज्ञ, त्याग, तपस्या, दान-पुण्य आदिका बनना तो बड़ा ही कठिन है और बड़ा ही दुष्कर है। इसलिये इस युगमें एकमात्र हमारे कल्याणका साधन—भगवत्प्राप्तिका साधन श्रीरामनाम, श्रीकृष्णनामका संकीर्तन करना ही शेष रह गया है, इसलिये बस चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय और हर अवस्थामें—

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम॥

—का बड़े ही प्रेमसे कीर्तन किया करो। श्रीभगवन्नाम-संकीर्तनसे बढ़कर इस युगमें श्रीभगवत्प्राप्तिका सरल साधन और कोई भी अन्य दूसरा साधन नहीं है। जो कार्य बड़े-बड़े योग-यज्ञके करनेसे और बड़े-बड़े त्याग तथा तपस्याके करनेसे, बड़े-बड़े दान-पुण्य करनेसे, बड़ी-बड़ी योग-समाधि लगानेसे नहीं हो सकता, वह कार्य केवल एकमात्र श्रीभगवन्नामका आश्रय लेनेसे, श्रीभगवन्नामका सहारा लेनेसे हो जाता है, यह प्रत्यक्ष देखा गया है। जिन भगवान्‌की हजारों-लाखों वर्षोंतक घोर त्याग-तपस्या करनेसे और लाखों वर्षोंकी योग-समाधि लगानेसे तथा बड़े-बड़े यज्ञोंके करनेसे प्राप्ति नहीं हो सकती थी, उन्हीं श्रीभगवान्‌की प्राप्ति इस कलिकालमें भक्त धन्ना जाटने, सदनकसाईने, कबीर जुलाहेने, रैदास चमारने, चेता चमारने, नामदेव, छीपीने श्रीभगवन्नाम-संकीर्तनके बलपर सहजहीमें कर ली थी। यह है श्रीभगवन्नामका अद्भुत चमत्कार। इन मीराबाई, धन्ना जाट, रैदास चमार, चेता चमार, नामदेव, छीपी, कबीर जुलाहे आदिने कौन-से योग-यज्ञ किये थे और उन्होंने कौन-सी तपस्या की थी? कौन-से दान-पुण्य किये थे? बस, इन सभीने अपने गृहस्थमें रहकर और अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन कर तथा स्वधर्मके अनुसार चलकर श्रीभगवन्नामामृतका पान किया था और इसी श्रीभगवन्नामके बलपर इन सभी भक्तोंने अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परात्पर ब्रह्मको साक्षात् अपने सामने प्रकट कर उनसे खूब बातें की थीं और उनका साक्षात्कार किया था। आज भी यदि कोई अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करता हुआ श्रीभगवन्नामका सहारा ले तो उसे भी श्रीभगवत्प्राप्ति होनेमें और उसका कल्याण होनेमें कोई संदेह नहीं।

(४) दुर्व्यसनोंसे बचो

प्रश्न—केवल श्रीभगवन्नामका सहारा लें तो क्या हमारा कल्याण हो जायगा?

पूज्य जगद्गुरुजी—नि:संदेह, यदि तुम अपने वर्णाश्रम-धर्मको मानोगे और श्रीभगवन्नामका सहारा लोगे तो तुम्हारा कल्याण अवश्य हो जायगा और तुम्हें श्रीभगवत्प्राप्ति अवश्य हो जायगी। श्रीभगवन्नाम सर्वोपरि माना गया है और श्रीभगवन्नाम इस भवसागरसे पार करनेकी सुदृढ़ नौका है। इतना ही नहीं श्रीभगवन्नाम तो भगवान्‌से भी बढ़कर है—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

इसलिये श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन करो। श्रीभगवन्नाम-जप करो, पर साथ ही दुर्व्यसनोंसे भी अवश्य ही बचो। यह भी परमावश्यक है। मछली और मद्यपानसे कोसों दूर

पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। (जैमिनिसूत्र ३। ३। १४)

अर्थात् श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन ६ प्रमाणोंके एकत्र हो जानेपर पूर्व प्रबल तथा उत्तर निर्बल होता है। तात्पर्य यह कि श्रुतिकी अपेक्षा लिङ्ग, लिङ्गकी अपेक्षा वाक्य, वाक्यकी अपेक्षा प्रकरण, प्रकरणकी अपेक्षा स्थान और स्थानकी अपेक्षा समाख्या दुर्बल है। इस तथ्यको सुस्पष्ट करते हुए भाष्यमें बताया गया है कि—लिङ्ग आदि पाँचों प्रमाण श्रुतिके समान साक्षात् विनियोजक नहीं, किंतु श्रुति-कल्पनाके द्वारा लिङ्ग, लिङ्ग एवं श्रुति दोनोंकी कल्पनासे वाक्य, वाक्य और लिङ्ग तथा श्रुति—इन तीनोंकी कल्पनासे प्रकरण, प्रकरण-वाक्य-लिङ्ग एवं श्रुति—इन चारोंकी कल्पनाके द्वारा स्थान तथा स्थान-प्रकरण-वाक्य-लिङ्ग एवं श्रुति—इन पाँचोंकी कल्पनाके द्वारा समाख्यारूप छठा प्रमाण विनियोजक माना गया है। इस प्रकारकी व्यवस्था होनेसे जिसकी अपेक्षा जिसके विनियोजक होनेमें विलम्ब होता है, उसकी अपेक्षा वह निर्बल होता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि शास्त्र अब बहुत प्राचीन हो गये हैं, क्योंकि जिस काल तथा देशकी सीमामें इनकी रचना हुई थी, आजकी परिस्थिति उससे भिन्न हो गयी है। अतः आजके संदर्भोंमें वे संगत नहीं हैं। परिणामतः शास्त्रोंकी नये सिरेसे रचना होनी चाहिये, जिससे उनकी सामयिक परिस्थितियोंके साथ संगति बन सके। किंतु यह कथन सर्वथा अनुचित है, क्योंकि शास्त्रोंमें सभी प्रकारके लोगोंके लिये मार्गनिर्देश किया जा चुका है। तदनुसार प्रत्येक अधिकारी प्रत्येक साधनके अनुसार अपना-अपना कार्य कर सकता है। इसीलिये सभी ऋषियों-महर्षियोंने एकत्र होकर जीवमात्रकी आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए भगवान् मनुसे कहा था—

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान् नो वक्तुमर्हसि॥

(मनु० १। २)

अर्थात् हे भगवन्! ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों एवं एतदतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण जीव-समूहके कर्तव्याकर्तव्यके विनिश्चय तथा आचारोंको यथायोग्य इच्छानुसार कहनेके लिये आप योग्य हैं।

धर्मशास्त्रके अन्तर्गत सीमित बातें नहीं कही गयी हैं। बल्कि इनमें समाज, भूगोल, पर्यावरण, धर्म, नीति, कर्मकाण्ड, व्यवस्था, राष्ट्रियता, अपराध, दण्ड, अर्थ, काम, लोक, परलोक एवं अन्य विषयोंका सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विवेचन विस्तृतरूपमें देखनेको मिलता है। वस्तुतः यदि सभी लोग स्मृति-निरूपित नियमोंके अनुरूप आचरण करें, तो किसीके सामने कोई परेशानी नहीं हो सकती और देशमें सुख-शान्ति तथा संतोषका वातावरण हो जायगा। कहना न होगा कि इन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर ऋषियोंने सभीके सुखी होने, सभीके शान्तिमय और स्वस्थ जीवन जीने एवं सभीके मङ्गलमय होनेकी गौरवपूर्ण कल्पना की थी। मुझे तो ऐसा लगता है कि मानव-जीवनके कोई ऐसे बिन्दु नहीं बचे हैं, जिनपर शास्त्रकारोंकी लेखनी न चली हो। राजा-प्रजा, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, स्त्री-पुरुष, जड़-चेतन, कर्म-अकर्म, खाद्य-अखाद्य, पाप-पुण्य, जीवन-मरण, गुण-दोष एवं समाजके प्रत्येक अंगके लोगोंके स्वभाव और उनकी आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए स्मृतियाँ प्रवृत्त हुई हैं। जो सार्वजनीन, सार्वभौमिक, सार्वकालिक, एवं सर्वजनावगम्य हैं। फलतः नये सिरेसे शास्त्र-रचनाकी कोई आवश्यकता नहीं है।

दूसरा कारण यह है कि स्मृति-परम्परा उन भगवान् मनुसे प्रवृत्त हुई है, जिनके संदर्भमें ऋषियोंने डिंडिमघोष करते हुए कहा था कि 'हे भगवन्! एक आप ही इस सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेदके अग्निष्टोमादि यज्ञकार्य एवं ब्रह्मके ज्ञाता हैं—

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो॥

(मनु० १। ३)

—अन्य कोई नहीं। ऐसी परिस्थितिमें वही स्मृति प्रमाण बन सकती है जो श्रुत्यनुकूल होनेके साथ-साथ मनु, याज्ञवल्क्य-सदृश आप्त ऋषियोंकी ऋतम्भरा प्रज्ञासे अनुमोदित हो, क्योंकि धर्मशास्त्रका मार्गदर्शन आचार्यसे ही होना चाहिये। आचार्यकी परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—

आचिनोति च शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य इष्यते॥

अर्थात् शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी स्थापना तथा उनका प्रचार-प्रसार एवं स्वयं आचरणनिष्ठ होना आचार्यत्व कहा जाता है तथा इस आचार्यत्वका अनुपालन करनेवालेको आचार्य कहा जाता है।

इस प्रकार नवीन शास्त्रोंके निर्माण करने-जैसी बातें अनावश्यक हैं, क्योंकि ऐसा होनेपर पहले तो प्राचीनता और अर्वाचीनताकी सीमा निश्चित करनी पड़ेगी, जो असम्भव है। कारण यह है कि पूर्वकालकी हर इकाई अपने परवर्तीके प्रति प्राचीन और पश्चाद्वर्तीकालकी इकाई पूर्ववर्तीके प्रति अर्वाचीन होती है। ऐसी स्थितिमें अमुक शास्त्र प्राचीन है और अमुक समयमें प्रणीत शास्त्र अर्वाचीन होगा, यह सुनिश्चित करना कठिन है एवं वर्तमान समयमें प्रणीत शास्त्र कुछ वर्षों बाद प्राचीन नहीं हो जायगा, इसकी क्या निश्चितता है और दूसरी बात यह है कि सबके द्वारा लिखित ग्रन्थ शास्त्र नहीं हो सकता, यदि यह मान लिया जाय कि हर व्यक्तिद्वारा हर समयमें लिखा हुआ ग्रन्थ शास्त्र है (जो उचित नहीं है), तो शास्त्रोंकी संख्या अनन्त हो जानेसे कोई आधारभूत प्रामाणिक व्यवस्था नहीं रह जायगी। अतः नवीन शास्त्रोंका निर्माण उचित नहीं है।

आजकल अनेक बुद्धिजीवी यह कहते हैं कि हम तो मानवताके उपासक हैं। धर्म और सम्प्रदायोंसे हमारा कोई सरोकार नहीं है। परंतु हम उनसे यह पूछना चाहेंगे कि मानवताकी पूजा तथा उसकी रक्षा क्या सनातनधर्मसे कोई पृथक् वस्तु है? अथवा यों कहें कि क्या सनातनधर्ममें मानवताके प्रति जो भावना या धारणा है, वह सनातनधर्म भारतीय संस्कृति और उसकी अनादि-अविच्छिन्न परम्परासे भिन्न कुछ है ही नहीं। आप मानवताके पुजारी अवश्य बनें, किंतु शास्त्र भी पढ़ें, और सुनें, जिससे आपका भ्रम दूर हो जायगा। पशु एवं मानवमें यही अन्तर है कि पशु शास्त्रसम्मत धर्मके आचरणसे विहीन होता है और मनुष्य शास्त्रसम्मत धर्मका अनुपालन करता है। जो मनुष्य ऐसा नहीं करता उसे पशु-सदृश कहा गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् भोजन, निद्रा, भय एवं मैथुन—ये सभी आचरण पशु और मनुष्य दोनोंमें समान होते हैं, किंतु धर्म

ब्रह्माण्डके स्रष्टा भगवान्‌को भी मत्स्य बनकर प्रस्तुत होना पड़ा। हम उस गौरवशाली संस्कृतिकी देन हैं, जिसके समक्ष परब्रह्म भी कभी वामन, कभी पुत्र, कभी नृसिंह और कभी कच्छप बनते रहते हैं। जिस भूमिपर मानव बननेके लिये देवगण तरसते रहते हैं और जहाँके हर व्यक्तिका जीवन धर्मसे चलकर मोक्षतककी यात्रा करता है। दूसरी भाषामें कहें तो हम अमृतपुत्रके रूपमें जाने जाते हैं—

'अमृतस्य पुत्राः'

और हमारेमेंसे ही कुछ ऐसे सपूत हैं जो अपनेको 'सोशल एनीमल' कहने-कहलानेमें गौरवकी अनुभूति करते हैं—राष्ट्रके लिये यह कितने दुर्भाग्यकी बात है।

हमारे धर्मशास्त्र, वेद एवं सभी श्रुतिसम्मत स्मृति-ग्रन्थ ही कहते हैं कि हम कहीं बाहरसे आये नहीं, बल्कि यहींके परम्परागत मूल निवासी हैं। हाँ, बाहरके लोगोंने मानवताकी शिक्षा हमसे अवश्य ली है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २। २०)

ध्यातव्य है, कुछ लोगोंका कुचक्रपूर्ण कथन यह भी है कि हम बाहरसे आये हैं। जरा सोचिये तो कि ऐसे लोग मूल भारतवासियोंके लिये क्या कहना चाहते है। और इस प्रकारके इतिहास-लेखनसे देशमें किस प्रकारके भविष्यका निर्माण करना चाहते हैं। ऐसे लोग भीतरसे जनतामें राष्ट्रव्यापी विषका बीज बोकर ऊपर-ऊपर शान्ति, एकता, एवं सद्भावकी स्थापना तथा नकली मानवता एवं कृत्रिम राष्ट्रियताकी रक्षा करनेका खोखला दावा करते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं। सच तो यह है कि धर्मशास्त्र अर्थात् स्मृतियाँ ऐसे ही कुचक्रोंके जालको विनष्ट करनेके निमित्त एकमात्र साधन हैं। ऐसी स्थितिमें मानवताकी रक्षा, आधुनिक शास्त्र-संरचना अथवा इसी तरहकी अन्यान्य बातें करके तथाकथित लोग धर्मशास्त्ररूपी गङ्गाको भी दूषित करनेमें लगे हुए हैं, जिनसे उन्हें भय है, क्योंकि ये स्मृतियाँ और श्रुतियाँ ही हमें या हमारे देशको दूषणसे बचा सकती हैं, अन्य कोई नहीं। षड्यन्त्री लोगोंका चिन्तन यह है कि करोड़ों प्रकारकी विपत्तियोंके आनेपर भी इस देशकी सनातन परम्पराको इसी धर्मशास्त्रने बचा लिया था। अतः यदि अपना प्रभाव कुछ भी जमाना है तो इससे पहले यह आवश्यक है कि उस मूल स्रोतस्विनीको ही सुखा दिया जाय, जिससे भारतको जीवनीशक्ति प्राप्त होती रही है और होती रहती है। जिस प्रकार ग्रीष्मकालका सूखा अंकुर भी मेघजलको पाकर हरा हो जाता है, उसी प्रकार विदेशी सत्तासे आक्रान्त भारतीयताका अंकुर भी समय पाकर विकसित हो जाता है, अतः बाहरी शक्तियाँ अब असली जीवनीशक्तिके मूल अंकुरको ही खत्म करनेपर लगी हुई हैं। इसीलिये बाह्य शक्तियोंके एजेन्ट कभी स्मृति, कभी धर्म, कभी वेद और कभी तन्निरूपित सिद्धान्तों एवं व्यवस्थाका विरोध करते रहते हैं।

देखिये धर्मको कर्तव्य कहते हैं और यह अतिव्यापक है, क्योंकि जीवनकी प्रत्येक चेष्टा धर्म और अधर्म बन जाती है। यदि शास्त्रानुकूल चेष्टा हुई तो धर्म और यदि शास्त्र-प्रतिकूल चेष्टा हुई तो अधर्म है। इसलिये खाना-पीना-देखना-सुनना तथा सोना-जागना सभी धर्माधर्मके अन्तर्गत आते हैं। उदाहरणके लिये यदि बलिवैश्वदेवपूर्वक तथा भगवदाराधनपूर्वक भोज्य-भोजन हुआ तो धर्म हुआ, किंतु बिना भगवत्स्मरणके तथा अभक्ष्य भक्षण किया तो अधर्म होगा। देव-दर्शन करें, शास्त्र-वचन सुनें तो पुण्य और यदि अनुचित दृष्टिसे किसीको देखें या निन्दा सुनें अथवा करें तो पाप हो जायगा, इसलिये धर्मको छोड़कर कोई भी व्यक्ति रह ही नहीं सकता।

शास्त्रोंमें पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। उनमें धर्म प्रधान है। धर्मसे अर्थ, धर्मसे काम, धर्मसे धर्म अर्थात् परलोकके लिये सुखद पुण्य और मोक्ष—ये चारों धर्मसे ही प्राप्य हैं। इस जन्मके धर्मसे परलोकमें सुख प्राप्त होता है और निष्काम-भावसे भगवत्पाद-पंकजानुष्ठित कर्मोंसे चित्तशुद्धि एवं भगवद्भक्तिपूर्वक तत्त्वज्ञानद्वारा प्राणीको मोक्ष मिलता है। अतः संसारमें मनुष्यका श्रेष्ठ सुहृद् धर्म ही है। वही परलोकमें साथ देता है। वहाँ इसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं होता—वहाँ तो '**धर्मस्तिष्ठति केवलम्**'। शास्त्रके अनुसार प्राणीका धन भूमितक साथ देता है, पशु गोष्ठतक, नारी घरके द्वारतक, प्रियजन श्मशानतक और

शरीर चितातकका साथी है, किंतु परलोककी अखण्ड एवं निरभ्र यात्रामें धर्म अन्ततक साथ देता है। कहा भी गया है—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीवलोकः॥

भगवान् भी उसीपर प्रसन्न होते हैं, जो धर्मनिष्ठ होते हैं। यदि धर्महीनोंपर वे अनुग्रह करते हैं तो भी उन्हें धर्मनिष्ठ बनानेके ही लिये, क्योंकि हम सभी प्राणी उसी अखण्ड निर्विकार शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चैतन्य सत्ताकी संतान हैं। भगवान् धर्म और धार्मिकके ही रक्षक हैं। कुछ पाश्चात्य सभ्यतासे प्रभावित जन यह समझते हैं कि धर्म करनेवाले दुःखी रहते हैं और अधर्म करनेवाले सुखी तथा उन्नत होते जा रहे हैं, लेकिन ऐसे लोगोंकी उन्नति वास्तविक उन्नति नहीं है और न उनका सुख वास्तविक सुख ही है, वह तो मरुमरीचिका है। इसलिये उनसे सावधान रहकर और यदि कष्ट भी सहना पड़े तो सहकर धर्मका अनुपालन करना चाहिये तथा धर्मशास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि धर्म और धर्मशास्त्र ही भारतकी आत्मा हैं। इसके बिना हमारा और हमारे राष्ट्र तथा समूची मानवताका अस्तित्व खतरेमें पड़ सकता है।

'धर्मो रक्षति रक्षितः'
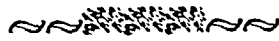
सिद्धि, सुख और परमगतिप्रद सनातनधर्म

(दण्डी स्वामी श्री १०८ श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वतीजी 'जज स्वामी')

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

(महानारायणोपनिषद्)

'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥' (महाभारत, कर्णपर्व ६९। ५८)—आदि वचन धर्मके व्यापक अर्थको व्यक्त करते हैं। इन वचनोंके अनुसार 'धर्म' वह तत्त्व है 'जो जगत्को धारण करता है। जिसके सेवन और पालनसे अर्थात् धारणसे प्राणी परम उत्कर्षको प्राप्त होता है।'

धर्मकी उक्त परिभाषाके अनुसार जो कुछ है, वह धर्म ही है, धर्मके बाहर कुछ भी नहीं है। ऐसा होनेपर भी जिससे जीवन और जगत्की स्थितिमें गतिरोध (रुकावट) उत्पन्न हो, वह अधर्म है और जिससे जीवन और जगत्की स्थिति सम्भव और सुचारु हो, वह धर्म है। अभिप्राय यह है कि जीवन और जगत्को असंतुलित करनेवाला तत्त्व 'अधर्म' है तथा जीवन एवं जगत्को संतुलित रखनेवाला तत्त्व 'धर्म' है।

गीतोक्त दैवीसम्पत्के द्वारा जीवन और जगत्की स्थिति व्यवस्थित—संतुलित अर्थात् नियमित रहती है, अतः अभय, अन्तःकरणकी संशुद्धि और ज्ञानयोगव्यवस्थिति आदिका नाम 'धर्म' है। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्के द्वारा जीवन और जगत्की स्थिति अव्यवस्थित-असंतुलित अर्थात् डाँवाडोल हो जाती है। अतः दम्भ, दर्प, अभिमान आदिका नाम 'अधर्म' है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहना दैवीसम्पत्सम्पन्नोंका स्वभाव है—**'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५। २५, १२। ४)। इसके विपरीत सम्पूर्ण प्राणियोंके हितपर पानी फेरना अर्थात् कुठाराघात करना आसुरी सम्पत्सम्पन्नोंका स्वभाव है—**'क्षयाय जगतोऽहिताः'** (गीता १६। ९)।

यम-नियमोंके द्वारा जीवन संतुलित रहता है, अतः मन्वादि धर्मशास्त्रोंने यम-नियमोंके अन्तर्गत सिद्ध होनेवाले धृति आदिको धर्म कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(नारदपरिव्राजकोपनिषत् ३। २४, मनुस्मृति ६। ९२)

धृति (संतोष), क्षमा, दम (मनका दमन, निर्विकार मनःस्थिति, द्वन्द्वसहिष्णुता), अस्तेय (अचौर्य), शौच (देहशोधन), इन्द्रियनिग्रह, धी (शास्त्रज्ञान, अपराविद्या), विद्या (आत्मज्ञान, पराविद्या), सत्य, अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं। योगदर्शनके अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। उक्त दशविध लक्षणोंमें धृतिका अर्थ संतोष नामक योगोक्त

नियम हैं। इसीमें अपरिग्रह नामक नियमका अन्तर्भाव कर लेना उपयुक्त है। क्षमा और अक्रोधमें अहिंसा नामक यमका अन्तर्भाव अपेक्षित है। अस्तेय नामक यम और शौच नामक नियमका स्वतः उल्लेख है। इन्द्रियनिग्रहमें ब्रह्मचर्य नामक यमका तथा धीमें स्वाध्याय नामक नियमका अन्तर्भाव अपेक्षित है। विद्यामें ईश्वरप्रणिधानका अन्तर्भाव उपयुक्त है। 'सत्य' नामक यमका स्वतः उल्लेख है।

धृति आदि सामान्य धर्म हैं। शास्त्रोक्त वर्णाश्रम-धर्म विशेष धर्म हैं। सामान्य धर्मको जीवनमें अवतरित करनेकी स्वस्थ प्रणालीका नाम विशेष धर्म है। इस तथ्यको न जाननेवाले आधुनिक मानवतावादी सम्पूर्ण अहिंसादिको जीवनमें उतारनेके नामपर हिंसादिके प्रबल पक्षधर हो जाते हैं। साथ ही अधिकांश वर्णाश्रमी बाह्य आचारतक सीमित रहकर अहिंसा, सत्य और अस्तेय आदिकी उपेक्षा कर स्वयंको आदर्श और स्तुत्यरूपसे न प्रस्तुत कर अनादर, उपहास और अपमानके पात्र बन बैठते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि शास्त्रोक्त परिसंख्या-विधिका ध्यान रखकर अनादि परम्पराप्राप्त वर्णाश्रमका मखौल उड़ाना आधुनिक मानवतावादियोंका स्वभाव-सा बन गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि यमोंकी अवहेलना कर केवल बाह्य वेशके बलपर पुजवानेकी आशा रखना कतिपय वर्णाश्रमियोंका स्वभाव-सा बन गया है। इसीलिये शास्त्रकारोंने नियमोंकी अपेक्षा यमोंका मुख्य स्थान माना है—

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

(मनुस्मृति ४। २०४)

'विद्वान् यमोंका सदा सेवन करे, नियमोंका नित्य सेवन न करे; क्योंकि यमोंका सेवन न करता हुआ केवल नियमोंका ही सेवन करनेवाला पतित होता है।'

ध्यान रहे, नियमोंमें ईश्वरप्रणिधान मुख्य नियम है। इसके अविरुद्ध और अनुकूल शौचादि अन्य नियमोंका सेवन अपेक्षित है। ऐसा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका वचन है—

'यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।'

(श्रीमद्भा० ११। १०। ५)

यद्यपि शास्त्रोंमें यम और नियमोंका उल्लेख एक-जैसा नहीं है। एक स्थलपर जिसे यम कहा गया है, दूसरे स्थलपर उसीको नियम कहा गया है। परंतु देहेन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणको संयत करनेमें साक्षात् उपयोगी आभ्यन्तर आचारका नाम यम है। देह, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणको संयत करनेमें परम्परासे उपयोगी बाह्य आचारका नाम नियम है। दम्भपूर्वक यमोंका पालन असम्भव है, जबकि नियमोंका पालन सम्भव है। उदाहरणार्थ आत्मज्ञानरूप धर्मके श्रद्धा, तत्परता और संयतेन्द्रियता—ये अन्तरंग साधन हैं। इनका दम्भपूर्वक सेवन असम्भव है। आत्मज्ञानरूप धर्मके प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा—ये बहिरंग साधन हैं। दम्भपूर्वक भी इनका सेवन सम्भव है। यही कारण है कि श्रद्धापूर्वक प्रणिपातका तथा तत्परतापूर्वक परिप्रश्नका और संयतेन्द्रियतापूर्वक सेवाका महत्त्व है।

यह तो हुई धर्मकी परिभाषा और उसके प्रभेदकी बात। अब फलकी बात सुनिये। वैशेषिकदर्शन (१। २) ने कहा—**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**—'जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।' श्रीमद्भगवद्गीताने (१६। २३ में) प्रकारान्तरसे 'सुख', 'सिद्धि' और परमगतिको धर्मका फल बताया। भौतिकवादियोंको परमगति अर्थात् निःश्रेयस-रूप मोक्ष भले ही नहीं चाहिये, परंतु ऐहिक सिद्धि और सुखरूप आंशिक अभ्युदय तो चाहिये ही। आपको वैरत्यागरूप सिद्धि चाहिये तो अहिंसाका पालन कीजिये। वाक्सिद्धिरूप सिद्धि चाहिये तो सत्यका पालन कीजिये। विश्वासपात्र होना चाहें और विविध प्रकारके धन-वैभवसे सम्पन्न होना चाहें तो अस्तेयका पालन कीजिये। अद्भुत बल-पराक्रम चाहें तो ब्रह्मचर्यका पालन कीजिये। अकुण्ठित स्मृति (अमोघ स्मरणशक्ति) और पूर्वजन्ममें आस्था तथा पूर्वजन्मोंकी स्मृति चाहें तो अपरिग्रहका पालन कीजिये। समयपर वर्षा चाहें तो कारीर-यागका अनुष्ठान कीजिये। पुत्ररत्न चाहें तो पुत्रेष्टियाग कीजिये और पितरोंको श्राद्ध-तर्पणादिसे संतुष्ट रखिये। स्वर्ग चाहें तो अग्निहोत्रका आलम्बन लीजिये। यमराज्य चाहें तो अग्निष्टोमका आलम्बन लें। सोमराज्य चाहें तो उक्थका आलम्बन लें। सूर्यराज्य चाहें तो षोडशी नामक

कर्मका अनुष्ठान करें। स्वाराज्य चाहें तो अतिरात्र नामक कर्मका आलम्बन लें। प्राजापत्य चाहें तो सहस्रसंवत्सरपर्यन्त क्रतुका आलम्बन लें। इसी प्रकार योग-दर्शनके विभूतिपादमें बताये गये संयमोंको साधकर उनसे होनेवाली सिद्धियोंको प्राप्त करें। कदाचित् सिद्धिजन्य सुखोंसे भी उपरामता आ गयी हो तो योगालम्बनसे प्राप्त आत्मदर्शनरूप परम धर्मका आलम्बन लेकर परम सुख और परागतिको प्राप्त कर लें—

'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।'

(याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, ८)

कदाचित् परलोक और परागतिकी बात न रुचे तो सुखदायिनी लोकयात्राके लिये धर्मशास्त्रोंकी इतनी-सी बात मान लीजिये कि '**श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥**' (विष्णुधर्म० ३। २५३। ४४)—'जैसा व्यवहार आपको अपने प्रति न रुचता हो, वैसा व्यवहार आप अन्योंके प्रति न करें। आप दूसरोंके प्रति वैसा व्यवहार अवश्य करें जैसा आप दूसरोंसे चाहते हैं।'

आप नहीं चाहते कि आपकी कोई हिंसा करे तो आप भी अन्योंकी चाहकी रक्षा करते हुए किसीकी हिंसा न करें। आप नहीं चाहते कि आपसे कोई झूठ बोलकर आपको धोखेमें रखे तो आप भी झूठ बोलकर दूसरेको धोखेमें रखना छोड़ दें। आप नहीं चाहते कि आपकी सम्पत्ति कोई चुरा ले या लूट ले तो आप भी किसीकी सम्पत्ति न चुरायें, न लूटें। आप नहीं चाहते कि आपकी बहू-बेटीको कोई बुरी निगाह (दृष्टि)-से देखे तो आप भी किसीकी बहू-बेटीको बुरी निगाहसे न देखें। आदि-आदि।

पापीसे पापी भी अपने प्रति न्याय (पुण्य)-की अपेक्षा अवश्य रखता है। अधर्मके फलस्वरूप असफलताकी दशामें धर्मको अवश्य कोसता है। साथ ही जिसके प्रति उसने आततायियों-जैसा वर्ताव अनेकों बार किया हो, असमयमें उसके चंगुलमें फँस जानेपर अपने प्रति धर्मपालनकी भावनासे उसे अवश्य उपदेश देता है। उदाहरण प्रसिद्ध ही है। विजय नामक तेजस्वी ब्राह्मणके शापसे जब कर्णका रथ डगमग करने लगा और श्रीपरशुरामजीसे प्राप्त भार्गव नामक अस्त्र जब भूल गया तथा घोर सर्पमुख बाण अर्जुनके द्वारा काट डाला गया, तब उस अवस्थामें उन संकटोंको न सहन कर सकनेके कारण कर्ण खिन्न हो गया और दोनों हाथ हिला-हिलाकर धर्मकी निन्दा करने लगा—

धर्मप्रधानं किल पाति धर्म
इत्यब्रुवन् धर्मविदः सदैव।
वयं च धर्मे प्रयताम नित्यं
चर्तुं यथाशक्ति यथाश्रुतं च॥
स चापि निघ्नाति न पाति भक्तान्
मन्ये न नित्यं परिपाति धर्मः॥

(महा०, कर्णपर्व ९०। ८६)

'धर्मज्ञ मनुष्योंने सदा ही यह बात कही है कि धर्मपरायण पुरुषकी धर्म सदा रक्षा करता है, किंतु हम अपनी शक्ति और जानकारीके अनुसार सदा धर्मपालनके लिये प्रयत्न करते रहते हैं। किंतु वह भी हमें मारता ही है, भक्तोंकी रक्षा नहीं करता, अतः मैं समझता हूँ कि धर्म सदा किसीकी रक्षा नहीं करता।'

जब पृथ्वीने कर्णके पहियेको ग्रस लिया, तब वह शीघ्र ही रथसे उतर पड़ा। उसने उद्योगपूर्वक अपनी दोनों भुजाओंसे पहियेको थामकर उसे ऊपर उठानेका विचार किया। कर्णने उस रथको ऊपर उठाते समय ऐसा झटका दिया कि सात द्वीपोंसे युक्त पर्वत, वन और काननोंसहित यह सम्पूर्ण पृथ्वी चक्रको निगले हुए ही चार अंगुल ऊपर उठ आयी। पहिया फँस जानेके कारण कर्ण क्रोधसे तिलमिलाने लगा और अर्जुनकी ओर देखकर इस प्रकार बोला—

'महाधनुर्धर कुन्तीकुमार! दो घड़ी प्रतीक्षा करो, जिससे मैं इस फँसे हुए पहियेको पृथ्वी-तलसे निकाल सकूँ। दैवयोगसे मेरे इस बायें पहियेको धरतीमें फँसा हुआ देखकर तुम कापुरुषोचित कपटपूर्ण बर्तावका परित्याग करो। जिस मार्गपर कायर चला करते हैं, उसीपर तुम भी न चलो, क्योंकि तुम युद्धकर्ममें विशिष्ट वीरके रूपमें विख्यात हो। तुम्हें तो अपने-आपको और भी विशिष्ट ही सिद्ध करना चाहिये। जो केश खोलकर खड़ा हो, युद्धसे मुँह मोड़ चुका हो, ब्राह्मण हो, हाथ जोड़कर शरणमें आया

हो, हथियार डाल चुका हो, प्राणोंकी भीख माँगता हो, जिसके बाण, कवच और दूसरे-दूसरे आयुध नष्ट हो गये हों, ऐसे पुरुषपर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शूरवीर शस्त्रोंका प्रहार नहीं करते। अर्जुन तुम लोकमें महान् शूर और सदाचारी माने जाते हो। युद्धके धर्मोंको जानते हो। वेदान्तका अध्ययनरूपी यज्ञ समाप्त करके तुम उसमें अवभृथ-स्नान कर चुके हो। तुम्हें दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है। तुम अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न तथा युद्धस्थलमें कार्तवीर्यार्जुनके समान पराक्रमी हो। जबतक मैं इस फँसे हुए पहियेको निकाल रहा हूँ, तबतक तुम रथारूढ़ होकर भी मुझ भूमिपर खड़े हुएको बाणोंकी मारसे व्याकुल न करो। मैं वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण अथवा तुमसे तनिक भी डरता नहीं हूँ। तुम क्षत्रियके पुत्र हो, एक उच्चकुलका गौरव बढ़ाते हो, इसलिये तुमसे ऐसी बात कहता हूँ। पाण्डव! तुम दो घड़ीके लिये मुझे क्षमा करो।'

इसपर अर्जुनके रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने कर्णसे कहा—'राधानन्दन! सौभाग्यकी बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्मकी याद आ रही है। प्रायः यह देखनेमें आता है कि नीच मनुष्य विपत्तिमें पड़नेपर दैवकी ही निन्दा करते हैं, अपने किये हुए कुकर्मोंकी नहीं। जब तुमने तथा दुर्योधन, दुःशासन और सुबलपुत्र शकुनिने एक वस्त्र धारण करनेवाली रजस्वला द्रौपदीको सभामें बुलवाया था, उस समय तुम्हारे मनमें धर्मका विचार नहीं उठा था? जब कौरवसभामें जूएके खेलका ज्ञान न रखनेवाले राजा युधिष्ठिरको शकुनिने जान-बूझकर छलपूर्वक हराया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? वनवासका तेरहवाँ वर्ष बीत जानेपर भी जब तुमने पाण्डवोंका राज्य उन्हें वापस नहीं दिया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? जब राजा दुर्योधनने तुम्हारी ही सलाहपर भीमसेनको जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और उन्हें सर्पसे डँसवाया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? उन दिनों वारणावत नगरमें लाक्षाभवनमें सोये हुए कुन्तीकुमारोंको जब तुमने जलानेका प्रयत्न कराया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? भरी सभामें दुःशासनके वशमें पड़ी हुई रजस्वला द्रौपदीको लक्ष्य करके जब तुमने उपहास किया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? याद है न, तुमने द्रौपदीसे कहा था—'कृष्णे! पाण्डव नष्ट हो गये हैं, सदाके लिये नरकमें पड़ गये। अब तू किसी दूसरे पतिका वरण कर ले।' जब तुम ऐसी बात कहते हुए गजगामिनी द्रौपदीको निकटसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? राज्यके लोभमें पुनः पड़कर जब तुमने शकुनिकी सलाहके अनुसार पाण्डवोंको दुबारा जूएके लिये बुलवाया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? जब युद्धमें तुमने बहुतसे महारथियोंके साथ मिलकर अभिमन्युको चारों ओरसे घेरकर मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? यदि उन अवसरोंपर यह धर्म नहीं था तो आज भी यहाँ सर्वथा धर्मकी दुहाई देकर तालु सुखानेसे क्या लाभ? कर्ण! अब यहाँ धर्मके कितने ही कार्य क्यों न कर डालो, तथापि जीते-जी तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता।'

उक्त रीतिसे आप सुखद व्यवहारकी सिद्धिके लिये यमोंको अपनानेके हेतु बाध्य हो जायँगे। यमोंके पालनके फलस्वरूप आपकी परलोक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म और देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें आस्था अवश्य होगी और आप शनैः-शनैः पूर्ण सनातनी होने लगेंगे।

समाजमें व्याप्त अराजकताका मूल कारण धर्मके प्रति उत्पन्न की गयी अनास्था है, जबकि देशविभाजन और स्वतन्त्रताके बाद धर्ममें आस्था बढ़नी चाहिये थी। समाजमें व्याप्त नास्तिकताकी चपेटसे स्वयंको और समाजको बचाना अत्यावश्यक है और यह हम सबका परम धर्म है।

अधर्मसे दुःख और धर्मसे सुख

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्। धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम्॥

'शरीरधारियोंके सब दुःख अधर्मसे होते हैं और अक्षय सुखका संयोग धर्मसे होता है।' (मनु० ६। ६४)

धर्म-मीमांसा

[परिभाषा, प्रमाण, प्रभेद, परमफल, परिष्यन्द और परिष्यन्द]

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

परिभाषा—'धर्म' सम्पूर्ण जगत्की प्रतिष्ठा है और धर्मपर ही सम्पूर्ण संसार टिका है। धर्मात्मा सबका आश्रय है। धर्मात्मा पुरुषके पास सभी लोग आश्रय या सहायताके लिये जाते हैं। धर्मके आचरणसे पाप नष्ट हो जाते हैं। धर्ममें सब कुछ प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि धर्मज्ञ मनीषी धर्मको सर्वोपरि मानते हैं—**'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।'** (श्रीमन्नारायणोपनिषद्)

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

(मनुस्मृति ८। १५)

धर्मपालकका रक्षक स्वयं धर्म होता है। जो धर्मका तिरस्कार करता है, वह अधोगति प्राप्त करता है।

'धृञ्' धातुसे निष्पन्न **'धर्म'** शब्दका अर्थ धारण करना, पालन करना, आश्रय देना आदि है—**'धरति लोकोऽनेन, धरति लोकं वा'**, धरति विश्वम् इति, धरति लोकान् ध्रियते **वा जनैरिति** (अमरकोष १। ६। ३)।

वैदिक वाङ्मयमें जगत्के धारण-तत्त्वका नाम धर्म है—**'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः'** (महाभारत)। अभ्युदय-निःश्रेयसप्रद-तत्त्व जगत्को धारण करनेवाले माने गये हैं। लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष तथा आवागमनके बन्धनसे निवृत्ति-रूप—मोक्षके ज्ञानादि उपायोंकी समुपलब्धि अभ्युदय है। अभिप्राय यह है कि 'प्रेय'की उपलब्धि और श्रेयकी ओर उन्मुख होना—यही अभ्युदय है। देहेन्द्रियादि अनात्मभावोंसे विविक्त—गुणमयभावोंसे अतीत आत्मस्थिति निःश्रेयस है। अस्तु, याग, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया, अलोभ आदि साध्यपदार्थोंको जहाँ शास्त्रोंने धर्म कहा है, वहाँ आत्मादि सिद्ध तत्त्वोंको भी धर्म कहा है।

'यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति।'

(महानारायणोपनिषद्)

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

(महा०, वनपर्व २। ७५)

—आदि स्थलोंमें यज्ञादिको साध्य धर्म माना गया है। साथ ही **'सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते। आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।'** (विष्णुसहस्रनाम १३७), **'ये च वेदविदां विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः। ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मसनातनम्॥'** (महाभारत), **'सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः'** (माण्डूक्यकारिका ४। ५८), **'एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति'** (कठोपनिषद् २। १। १४) आदि स्थलोंमें सिद्ध धर्म आत्माका प्रतिपादन किया गया है।

अलौकिक श्रेयःसाधनको 'धर्म' कहते हैं। उससे प्राप्त परमात्मा भी धर्म कहा जाता है। वैशेषिक दर्शनके अनुसार जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है—**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** (वैशेषिक दर्शन १। २)। यह लक्षण साधन और सिद्ध दोनों धर्मोंमें चरितार्थ है। वेदान्तवेद्य भगवत्तत्त्व स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश है। उसीसे अन्तःकरणके शोधक और भगवत्तत्त्वके प्रापक, यज्ञादि, शमादि, श्रवणादि और भगवत्तत्त्वविज्ञानरूप धर्मोंकी सिद्धि सम्भव है। इस प्रकार लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक कल्याण तथा इनके उपायोंकी सिद्धि भगवत्तत्त्वसे होनेके कारण भगवत्तत्त्व धर्म है। परमात्मासे अभ्युदय और निःश्रेयस-प्रतिपादक शास्त्रों तथा साधनोंकी सिद्धि (अभिव्यक्ति और स्थिति) होनेसे परमात्मा धर्म है। परमात्मासे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धिमें **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८। ४६), **'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'** (गीता १०। १०), **'स्वर्गापवर्गदे देवि'** (दुर्गासप्तशती ११। ८), **'स्वर्गमुक्तिप्रदायिनी'** (दुर्गा० ११। ७), **'त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः'**, (दुर्गा० ११। ५), **'सदाभ्युदयदा'** (दुर्गा० ४। १५) आदि वचन प्रमाण हैं।

परमात्मासे शास्त्रोंकी अभिव्यक्तिमें '**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि**' (बृहदारण्यक २। ४। १०), '**शास्त्रयोनित्वात्**' (ब्रह्मसूत्र १। १। ४) आदि वचन प्रमाण हैं। परमात्मासे पञ्चभूत, स्थावर-जङ्गम, यज्ञ, दान, तप, व्रत और वेदादि साधनोंकी अभिव्यक्ति और सिद्धिमें निम्नलिखित वचन प्रमाण हैं—

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्॥
योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादि कर्म च।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वं जनार्दनात्॥

(महा०, अनुशासन० १४९। १३८-१३९)

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥

(श्रीमद्भा० २। १०। १२)

ग्रह, नक्षत्र, पञ्चभूत और स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्चके धारक होनेसे भगवान् वासुदेवको धर्म मानना उपयुक्त ही है—

द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः॥
ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्।
जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्॥

(महा०, अनुशासन० १४९। १३४-१३५)

यही कारण है कि भगवद्भक्तिको सर्वोपरि धर्म माना गया है—'**एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः। यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा॥**' (विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् ८), 'सम्पूर्ण धर्मोंमें मैं इसी धर्मको सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ कि मनुष्य कमलनयन भगवान् वासुदेवका भक्तिपूर्वक गुणसंकीर्तनरूप स्तुतियोंसे सदा अर्चन करे।', '**एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥**' (भागवत ६। ३। २२), 'इस लोकमें जीवोंके लिये बस, यही सबसे बड़ा कर्तव्य—परमधर्म है कि वे नामकीर्तनादि उपायोंसे भगवान् श्रीहरिके चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें।' '**स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥**' (भागवत १। २। ६)—'जिस भक्तिसे अन्तःकरण भलीभाँति प्रसन्नता (निर्मलता) को प्राप्त हो, वह अहैतुकी है। जो फलानुसंधानरूप हेतुके बिना ही अनुष्ठित हो, विघ्नोंसे अनभिभूत हो, जिससे अच्युत भगवान्में विमल भक्ति हो, वही पुरुषके लिये परम धर्म है। उससे पुरुषका परम श्रेय सम्भव है।'

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १। ८)

आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप।

(महाभारत)

—आदि स्थलोंमें आत्मदर्शन—आत्मज्ञानको परमधर्म और साधारण धर्म कहा गया है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्गुण-निराकार-निर्धर्मक परब्रह्म निज मायाशक्तिके योगसे ही वेदादिके अभिव्यञ्जक होते हैं। वेद, यज्ञादिके परम तात्पर्य जहाँ भगवान् वासुदेव हैं, वहाँ वेद, यज्ञादिरूप भी वासुदेव ही हैं। काल, देश, यज्ञादि क्रिया, कर्ता और स्रुवा आदि करण, यज्ञादिरूप अपूर्वसंज्ञक कर्म, आगम (वेद, मन्त्र), शाकल्यादि द्रव्य और स्वर्गादिफल—इन नौ रूपोंमें मायाके द्वारा भगवान् श्रीहरि ही अभिहित (निरूपित) होते हैं—

कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः॥'

(श्रीमद्भा० १२। ११। ३१)

उक्त रीतिसे वेद और वेदसम्मत यज्ञ, दान और तप आदि पवित्रकर कर्मोंकी, अनुग्राहक देवोंकी, कर्मधारक (कर्मसाधक) द्रव्य, काल, स्वभाव और जीवकी, सांख्य और योगरूप साधनोंकी, वेदार्थ-परिज्ञानकी, अभ्युदयके द्योतक लोकोंकी और निःश्रेयसरूपा गतिकी वासुदेवरूपता उक्त रीतिसे सिद्ध है।

उक्त विवेचनसे यह तथ्य सिद्ध है कि जगत्को धारण करनेवाली माहेश्वरी शक्ति, उसके आश्रय महेश्वर तथा उसकी प्राप्तिके साक्षात् और परम्पराप्राप्त साधनों (उपायों) का नाम 'धर्म' है। वैशेषिक दर्शनका यह कथन—'जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है' ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि 'जिससे तुष्टि, पुष्टि और

क्षुन्निवृत्ति हो, वह भोजन है।' 'जिससे रोगकी निवृत्ति और स्वास्थ्यकी अभिव्यक्ति हो, वह औषधि है।' 'जिससे उल्लास और आनन्दकी अभिव्यक्ति हो, वह जीवन है।' इसी प्रकार **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** (पूर्वमीमांसा १।१२), **'वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः'** (भागवत ६।१।४०) आदि वचन धर्मकी साक्षात् परिभाषा करनेवाले हैं।

उक्त वचनोंके अनुसार स्वाधिकारसम्पदाके अनुरूप **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** (मैत्रायण्युपनिषत् ६।३६), **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** (बृहदारण्यक० २।४।५) आदि विधि और विधिछायरूप प्रेरक वचनसिद्ध अभ्युदय और निःश्रेयसरूप अर्थप्रद तत्त्व 'धर्म' है। अभिप्राय यह है कि प्रमाणान्तरसे अनधिगत और अबाधित अतीन्द्रिय अर्थके ज्ञापक और उनमें साध्य-साधन-भावके निर्धारक तथा स्वाधिकारानुरूप उनके प्रति प्रेरक वेदादि शास्त्रवचन सिद्ध तत्त्व 'धर्म' है। अर्थात् वेदादिशास्त्रैकसमधिगम्य अभ्युदय-निःश्रेयसप्रद तत्त्व 'धर्म' है।

प्रमाण—धर्म और ब्रह्म—वेदोंके अपूर्व (प्रमाणान्तरसे असिद्ध) प्रतिपाद्य हैं। अधिकारसम्पदाकी चर्चा वेदादि शास्त्रोंकी अपूर्वता है। जिस प्रकार प्रकृतिप्रदत्त योग्यताका अतिक्रमण (बाध) करके भी चिकित्सा-शास्त्रकी अधिकारसम्पदाके अनुसार ओषधि आदिका सेवन रोगकी निवृत्ति और स्वास्थ्यकी अभिव्यक्तिरूप समान फलको प्रदान करनेवाला है, उसी प्रकार प्रकृतिप्रदत्त योग्यताका अतिक्रमण करके भी प्रवृत्त होनेवाली धर्मशास्त्रकी अधिकार-सम्पदाके अनुसार साधनादिका सेवन भवरोगकी निवृत्ति और स्वरूपस्थितिरूप स्वास्थ्यकी अभिव्यक्तिरूप समान फलको प्रदान करनेवाला है। अभिप्राय यह है कि चिकित्साशास्त्रके समान ही सनातनधर्ममें भी फलचौर्य नहीं है। रोगी चाहे तो स्वर्णभस्मके स्थानपर संखिया और संखियाके स्थानपर स्वर्णभस्मका सेवन कर सकता है, परंतु चिकित्साशास्त्रके अनुसार स्वर्णभस्मका अधिकारी स्वर्णभस्मका और संखियाका अधिकारी संखियाका स्वानुरूप अनुपानके योगसे सेवन कर रोग-मुक्त होकर स्वास्थ्यलाभ करता है। दोनोंको समान फलकी प्राप्ति होती है। उसी प्रकार धर्मशास्त्रके अनुसार अपने अधिकारकी सीमामें रहकर धर्मानुष्ठान करनेवाला अभ्युदय और निःश्रेयसरूप समान फलको प्राप्त करता है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८।४६), **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८।४५)।

जब फलचौर्य (फलमें दुराव) नहीं है और नेत्रसे रूपाधिगमके तुल्य अभ्युदय और निःश्रेयसका अन्य कोई उपाय भी नहीं है, तब वैदिक मार्गका अनुगमन ही उपयुक्त है। समानाधिकारके नामपर वैदिक अधिकार-सम्पदाका उच्छेद कर अर्थ-कामकी किङ्करता तथा प्रेय और श्रेय दोनोंसे विमुखता अनुपयुक्त ही है।

शास्त्रोक्त फलकी प्राप्तिके लिये शास्त्रीय मार्गका अनुगमन अनिवार्य है। शास्त्रविधिका परित्याग कर कामचार, कामभक्षादि होनेसे सिद्धि और सुखरूप अभ्युदयनामक फलसे तथा परागतिरूप निःश्रेयसनामक फलसे वञ्चित रहना ही सम्भव है। कहा भी है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६।२३)

**शास्त्रविधिमनुत्सृज्य वर्तते शास्त्रसारतः।
स हि सिद्धिमवाप्नोति सुखं चैव परां गतिम्॥**

पञ्चभूतात्मक प्रपञ्चमें प्रत्यक्ष और अनुमान(तर्क)-की गति है, प्रकृतिसे अतीत अप्रमेय-अचिन्त्य परब्रह्ममें और अनुष्ठेय धर्ममें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी गति नहीं है—

'तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः। तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते। अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।' (महाभारत, भीष्मपर्व ५।११-१२)।

ध्यान रहे, जो मनुष्य ऋषिदृष्ट वेद तथा तन्मूलक स्मृतिशास्त्रोंको वेदानुकूल तर्कसे विचारता है, वही धर्मज्ञ है, दूसरा नहीं—

**आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥**
(मनुस्मृति १२।१०६)

महाभारत, मनुस्मृति, अङ्गोंसहित चारों वेद और आयुर्वेद—ये चारों सिद्ध उपदेश देनेवाले हैं, अतः तर्कद्वारा

परमात्मासे शास्त्रोंकी अभिव्यक्तिमें '**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि**' (बृहदारण्यक २। ४। १०), '**शास्त्रयोनित्वात्**' (ब्रह्मसूत्र १। १। ४) आदि वचन प्रमाण हैं। परमात्मासे पञ्चभूत, स्थावर-जङ्गम, यज्ञ, दान, तप, व्रत और वेदादि साधनोंकी अभिव्यक्ति और सिद्धिमें निम्नलिखित वचन प्रमाण हैं—

> ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः।
> जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्॥
> योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादि कर्म च।
> वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वं जनार्दनात्॥
>
> (महा०, अनुशासन० १४९। १३८-१३९)

> **द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।**
> **यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥**
>
> (श्रीमद्भा० २। १०। १२)

ग्रह, नक्षत्र, पञ्चभूत और स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्चके धारक होनेसे भगवान् वासुदेवको धर्म मानना उपयुक्त ही है—

> **द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः।**
> **वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः॥**
> **ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्।**
> **जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्॥**
>
> (महा०, अनुशासन० १४९। १३४-१३५)

यही कारण है कि भगवद्भक्तिको सर्वोपरि धर्म माना गया है—'**एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः। यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा॥**' (विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् ८), 'सम्पूर्ण धर्मोंमें मैं इसी धर्मको सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ कि मनुष्य कमलनयन भगवान् वासुदेवका भक्तिपूर्वक गुणसंकीर्तनरूप स्तुतियोंसे सदा अर्चन करे।', '**एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥**' (भागवत ६। ३। २२), 'इस लोकमें जीवोंके लिये बस, यही सबसे बड़ा कर्तव्य—परमधर्म है कि वे नामकीर्तनादि उपायोंसे भगवान् श्रीहरिके चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें।' '**स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥**' (भागवत १। २। ६)—'जिस भक्तिसे अन्तःकरण भलीभाँति प्रसन्नता (निर्मलता)को प्राप्त हो, वह अहैतुकी है। जो फलानुसंधानरूप हेतुके बिना ही अनुष्ठित हो, विघ्नोंसे अनभिभूत हो, जिससे अच्युत भगवान्में विमल भक्ति हो, वही पुरुषके लिये परम धर्म है। उससे पुरुषका परम श्रेय सम्भव है।'

> इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
> अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥
>
> (याज्ञवल्क्यस्मृति १। ८)

> **आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप।**
>
> (महाभारत)

—आदि स्थलोंमें आत्मदर्शन—आत्मज्ञानको परमधर्म और साधारण धर्म कहा गया है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्गुण-निराकार-निर्धर्मक परब्रह्म निज मायाशक्तिके योगसे ही वेदादिके अभिव्यञ्जक होते हैं। वेद, यज्ञादिके परम तात्पर्य जहाँ भगवान् वासुदेव हैं, वहाँ वेद, यज्ञादिरूप भी वासुदेव ही हैं। काल, देश, यज्ञादि क्रिया, कर्ता और स्रुवा आदि करण, यज्ञादिरूप अपूर्वसंज्ञक कर्म, आगम (वेद, मन्त्र), शाकल्यादि द्रव्य और स्वर्गादिफल—इन नौ रूपोंमें मायाके द्वारा भगवान् श्रीहरि ही अभिहित (निरूपित) होते हैं—

> **कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः।**
> **द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः॥'**
>
> (श्रीमद्भा० १२। ११। ३१)

उक्त रीतिसे वेद और वेदसम्मत यज्ञ, दान और तप आदि पवित्रकर कर्मोंकी, अनुग्राहक देवोंकी, कर्मधारक (कर्मसाधक) द्रव्य, काल, स्वभाव और जीवकी, सांख्य और योगरूप साधनोंकी, वेदार्थ-परिज्ञानकी, अभ्युदयके द्योतक लोकोंकी और निःश्रेयसरूपा गतिकी वासुदेवरूपता उक्त रीतिसे सिद्ध है।

उक्त विवेचनसे यह तथ्य सिद्ध है कि जगत्को धारण करनेवाली माहेश्वरी शक्ति, उसके आश्रय महेश्वर तथा उसकी प्राप्तिके साक्षात् और परम्पराप्राप्त साधनों (उपायों) का नाम 'धर्म' है। वैशेषिक दर्शनका यह कथन—'जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है' ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि 'जिससे तुष्टि, पुष्टि और

क्षुन्निवृत्ति हो, वह भोजन है।' 'जिससे रोगकी निवृत्ति और स्वास्थ्यकी अभिव्यक्ति हो, वह औषधि है।' 'जिससे उल्लास और आनन्दकी अभिव्यक्ति हो, वह जीवन है।' इसी प्रकार **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** (पूर्वमीमांसा १।१२), **'वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः'** (भागवत ६।१।४०) आदि वचन धर्मकी साक्षात् परिभाषा करनेवाले हैं।

उक्त वचनोंके अनुसार स्वाधिकारसम्पदाके अनुरूप **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** (मैत्रायण्युपनिषत् ६।३६), **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** (बृहदारण्यक० २।४।५) आदि विधि और विधिछायरूप प्रेरक वचनसिद्ध अभ्युदय और निःश्रेयसरूप अर्थप्रद तत्त्व 'धर्म' है। अभिप्राय यह है कि प्रमाणान्तरसे अनधिगत और अबाधित अतीन्द्रिय अर्थके ज्ञापक और उनमें साध्य-साधन-भावके निर्धारक तथा स्वाधिकारानुरूप उनके प्रति प्रेरक वेदादि शास्त्रवचन सिद्ध तत्त्व 'धर्म' है। अर्थात् वेदादिशास्त्रैकसमधिगम्य अभ्युदय-निःश्रेयसप्रद तत्त्व 'धर्म' है।

प्रमाण—धर्म और ब्रह्म—वेदोंके अपूर्व (प्रमाणान्तरसे असिद्ध) प्रतिपाद्य हैं। अधिकारसम्पदाकी चर्चा वेदादि शास्त्रोंकी अपूर्वता है। जिस प्रकार प्रकृतिप्रदत्त योग्यताका अतिक्रमण (बाध) करके भी चिकित्सा-शास्त्रकी अधिकारसम्पदाके अनुसार ओषधि आदिका सेवन रोगकी निवृत्ति और स्वास्थ्यकी अभिव्यक्तिरूप समान फलको प्रदान करनेवाला है, उसी प्रकार प्रकृतिप्रदत्त योग्यताका अतिक्रमण करके भी प्रवृत्त होनेवाली धर्मशास्त्रकी अधिकार-सम्पदाके अनुसार साधनादिका सेवन भवरोगकी निवृत्ति और स्वरूपस्थितिरूप स्वास्थ्यकी अभिव्यक्तिरूप समान फलको प्रदान करनेवाला है। अभिप्राय यह है कि चिकित्साशास्त्रके समान ही सनातनधर्ममें भी फलचौर्य नहीं है। रोगी चाहे तो स्वर्णभस्मके स्थानपर संखिया और संखियाके स्थानपर स्वर्णभस्मका सेवन कर सकता है, परंतु चिकित्साशास्त्रके अनुसार स्वर्णभस्मका अधिकारी स्वर्णभस्मका और संखियाका अधिकारी संखियाका स्वानुरूप अनुपानके योगसे सेवन कर रोग-मुक्त होकर स्वास्थ्यलाभ करता है। दोनोंको समान फलकी प्राप्ति होती है। उसी प्रकार धर्मशास्त्रके अनुसार अपने अधिकारकी सीमामें रहकर धर्मानुष्ठान करनेवाला अभ्युदय और निःश्रेयसरूप समान फलको प्राप्त करता है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८।४६), **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८।४५)।

जब फलचौर्य (फलमें दुराव) नहीं है और नेत्रसे रूपाधिगमके तुल्य अभ्युदय और निःश्रेयसका अन्य कोई उपाय भी नहीं है, तब वैदिक मार्गका अनुगमन ही उपयुक्त है। समानाधिकारके नामपर वैदिक अधिकार-सम्पदाका उच्छेद कर अर्थ-कामकी किङ्करता तथा प्रेय और श्रेय दोनोंसे विमुखता अनुपयुक्त ही है।

शास्त्रोक्त फलकी प्राप्तिके लिये शास्त्रीय मार्गका अनुगमन अनिवार्य है। शास्त्रविधिका परित्याग कर कामचार, कामभक्षादि होनेसे सिद्धि और सुखरूप अभ्युदयनामक फलसे तथा परागतिरूप निःश्रेयसनामक फलसे वञ्चित रहना ही सम्भव है। कहा भी है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६।२३)

शास्त्रविधिमनुत्सृज्य वर्तते शास्त्रसारतः।
स हि सिद्धिमवाप्नोति सुखं चैव परां गतिम्॥

पञ्चभूतात्मक प्रपञ्चमें प्रत्यक्ष और अनुमान(तर्क)-की गति है, प्रकृतिसे अतीत अप्रमेय-अचिन्त्य परब्रह्ममें और अनुष्ठेय धर्ममें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी गति नहीं है—

'तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः। तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते। अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।' (महाभारत, भीष्मपर्व ५।११-१२)।

ध्यान रहे, जो मनुष्य ऋषिदृष्ट वेद तथा तन्मूलक स्मृतिशास्त्रोंको वेदानुकूल तर्कसे विचारता है, वही धर्मज्ञ है, दूसरा नहीं—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

(मनुस्मृति १२।१०६)

महाभारत, मनुस्मृति, अङ्गोंसहित चारों वेद और आयुर्वेद—ये चारों सिद्ध उपदेश देनेवाले हैं, अतः तर्कद्वारा

इनका खण्डन नहीं करना चाहिये—

भारतं मानवो धर्मो वेदाः साङ्गाश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

(महा० आश्व० ९२)

प्रभेद—श्रुतियों तथा मन्वादि धर्मशास्त्रोंने मनुष्योंके कल्याणके लिये धृति (संतोष), क्षमा, दम (मनःस्थैर्य), अस्तेय (न्यायपूर्वक धनार्जन), शौच (देहशोधन), इन्द्रियनिग्रह, धी (शास्त्रादिपरिज्ञान), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य (यथार्थ भाषण) और अक्रोध—इन दशविध धर्मोंका उपदेश किया है। इनके सेवनसे मनुष्य मोक्षलाभ करता है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(श्रीनारदपरिव्राजकोपनिषत् ३। २४, मनुस्मृति ६। ९२)

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्॥

(मनु० ६। ९३)

वैदिक धर्म दो प्रकारके हैं—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। प्रवृत्तिपरक धर्म यज्ञ, दान और तप आदि हैं। निवृत्तिपरक धर्म भगवद्भक्ति, ब्रह्मात्मविचार और ब्रह्मात्मविज्ञानादि हैं। प्रवृत्तिलक्षण धर्मका फल लौकिक-पारलौकिक उत्कर्षरूप अभ्युदय है। निवृत्तिलक्षण धर्मका फल आवागमनसे निवृत्तिरूप निःश्रेयस है। निःश्रेयसके साधनोंको भी कहीं-कहीं अभ्युदय माना गया है। पूर्वमीमांसाके अनुसार लौकिक उत्कर्ष अभ्युदय है और मरणोपरान्त स्वर्गोपलब्धि (सुखोत्कर्षकी प्राप्ति) निःश्रेयस है। प्रवृत्तिपरक सामान्यधर्म धृति, क्षमा, दम, शम और सत्यादि निवृत्तिमार्गियोंके भी उपकारक हैं—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥

(मनु० १२। ८८-८९)

परमफल—वर्णाश्रमाचाररूप यज्ञ, दान और तप आदि प्रवृत्तिपरक विशेष धर्म धृति, क्षमा और अहिंसादि यम-नियमोंको जीवनमें शनैः-शनैः अवतरित करनेवाले हैं। शौचादि नियमोंके साथ अहिंसादि यमोंके स्ववर्णाश्रमानुरूप पालनसे जीवनमें अहिंसादिकी पूर्ण प्रतिष्ठा होनेसे प्रवृत्तिलक्षणधर्म निवृत्तिपर्यवसायी हो जाते हैं। कर्मासक्ति, फलासक्ति और अहङ्कृतिको शिथिल कर धृत्युत्साहपूर्वक भगवदर्थ स्वकर्मोंके अनुष्ठानरूप कर्मयोगसे भगवद्ध्यानके उपयुक्त अन्तःशुद्धि प्राप्त होती है। भगवद्ध्यानकी प्रगल्भता और परिपक्वतासे ब्रह्मात्मविचारके उपयुक्त चित्ताभिव्यक्ति सम्भव है। ब्रह्मात्मविचारसे ब्रह्मात्मतत्त्वका एकत्वविज्ञान सम्भव है। ब्रह्मात्मतत्त्वके एकत्वविज्ञानसे भवबन्धकी निवृत्ति और निःश्रेयसोपलब्धि सम्भव है।

परिष्यन्द—ध्यान रहे, प्रवृत्तिका पर्यवसान जब निवृत्तिमें हो तभी प्रवृत्तिकी सार्थकता है—'**प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला**' (मनु० ५। ५६)। जिस प्रवृत्तिके गर्भसे प्रवृत्ति ही प्राप्त होती रहे, उसकी सार्थकता नहीं है। निवृत्तिका पर्यवसान प्रवृत्तिमें हो, यह तो कथमपि शोभनीय नहीं है। निवृत्तिका पर्यवसान निवृत्ति अर्थात् परमानन्दस्वरूप मोक्षोपलब्धिमें हो तभी निवृत्ति सार्थक है।

परिष्पन्द—वर्णसंकरता, कर्मसंकरतादि दोषोंसे बचनेके लिये यह जानकारी अत्यन्त आवश्यक है कि पूर्व अभुक्त कर्मानुरूप जन्म मान्य है। योगादि शास्त्रोंमें जाति, आयु और भोग पूर्व-कर्मोंके ही फल माने गये हैं। सनातनधर्ममें जन्मनियन्त्रित वर्णव्यवस्था, वर्णनियन्त्रित आश्रम-व्यवस्था और वर्णाश्रमनियन्त्रित कर्मव्यवस्था मान्य है। वर्णाश्रमानुरूप कर्मको स्वकर्म अर्थात् स्वधर्म कहा गया है। स्वधर्म ही वस्तुतः 'धर्म' कहने योग्य है। परधर्म तो अधर्म ही है। देहेन्द्रियादिके अनुरूप प्रकृतिप्रवाहसे उत्थ अहम्को शास्त्रोक्त वर्णाश्रमाचारके सेवनसे ही शनैः-शनैः दूर कर पाना सम्भव है। प्राकृत आरोपपर शास्त्रीय आरोपसे विजय प्राप्त करना सम्भव है। कहा गया है—

'**न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।**' (छान्दोग्य० ५। ११। ५)

मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है तथा न अदाता, न मद्यप, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान् और न परस्त्रीगामी ही है फिर कुलटा स्त्री तो आयी ही कहाँसे?

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

(महा०, शान्ति० ५९। १४)

पहले न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देनेवाला, समस्त प्रजा धर्मके द्वारा ही एक-दूसरेकी रक्षा करती थी।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

मनुष्योंका अधिकार केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्तिको जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।

—आदि वचनोंके अनुसार मद्य, चोरी, जारी, जूआ, अराजकता, आलस्य और कदर्यता आदि दोषोंसे विमुक्त स्वस्थ समाजकी रचना जिन मन्वादिशास्त्रोंके आधारपर हुई, उन्हींके प्रति और उनके मार्गपर चलनेवालोंके प्रति अधिकांश राजनेताओंके द्वारा घृणा तथा विद्वेषका वातावरण उत्पन्न करना अति विचित्र विडम्बना है। शास्त्रीय परम्पराके अनुसार आहार-विहारका परिपालन घृणामूलक नहीं है और राष्ट्र-हितमें अपेक्षित भी है। शिक्षा, रक्षा, अर्थ और सेवाकी व्यवस्था देशमें संतुलित बनी रहे तथा जनसंख्यामें अनावश्यक न्यूनता या अधिकता न हो, इसके लिये वर्णानुपातमें आश्रमव्यवस्था अपेक्षित है। ब्राह्मणोंके लिये संन्यासपर्यन्त चतुर्विध, क्षत्रियोंके लिये वानप्रस्थपर्यन्त त्रिविध, वैश्योंके लिये गृहस्थपर्यन्त द्विविध तथा शूद्रोंके लिये समयानुसार केवल गार्हस्थ्यजीवनकी वैज्ञानिकता और महत्ताका विस्मरण अनुचित है। धर्मराज युधिष्ठिर और भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा विदुर और संजयको प्राप्त समादर, शास्त्रीय शासनप्रणालीद्वारा सबके सम्मानको स्वीकार करनेके लिये पर्याप्त दृष्टान्त है।
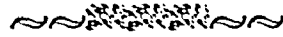
धर्म और भागवतकी मर्मकथा

(डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

द्वापर और कलियुगके संधिकालमें श्रीमद्भागवत-ग्रन्थका आविर्भाव हुआ है। इसी संधिकालमें जन्म लिया था महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने। युगसंधि-कालके आघातसे सम्भव था कि यह जाति उसी प्रकार नष्ट हो जाती, जिस प्रकारसे ग्रीस, रोम, मिस्र, बैबिलोनियाकी महान् सभ्यताएँ नष्ट हो गयीं, परंतु महर्षि वेदव्यासके अनुपम दानसे यह सभ्यता बच गयी।

महर्षि वेदव्यासने वेदोंका विभाग किया। अनेकों पुराण और उपपुराणोंकी रचना की। महत्काय महाभारत महाग्रन्थका प्रणयन किया। महाभारतके भीतर श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना की। गीताको वेदरूपी गायका दुग्ध कहा है और खुले हाथों इस दुग्धको परोसकर महर्षि वेदव्यासने इस युग-संधिकालमें आर्यजातिकी कल्याणकारिणी संस्कृतिकी रक्षा की है।

इन ग्रन्थोंकी रचना करके भी श्रीकृष्णद्वैपायनके चित्तको शान्ति प्राप्त न हुई। मानो किसी महामूल्यवान् बातकी घोषणा अभी बाकी रह गयी थी। एक दिन इसी चिन्तासे विषण्णचित्त हुए वे सरस्वतीके तीरपर बैठे थे। उसी समय देवर्षि नारदका शुभागमन हुआ। देवर्षि और महर्षिके बीच मधुर आलाप-आलोचना हुई। क्यों इतना करनेपर भी उनके चित्तको शान्ति नहीं मिली, यह महर्षिने देवर्षिसे जानना चाहा। देवर्षिने उनको चित्तकी अशान्तिका कारण बतलाया।

देवर्षिने कहा कि इस युगसंधिकालमें जातिके कल्याणके लिये आपने बहुत कुछ किया है, परंतु गीतामें जिनके श्रीमुखकी वाणी सुनायी है, उनकी सर्वाङ्गीण जीवन-लीला कीर्तन किये बिना जीवका परम कल्याण नहीं हो सकता; क्योंकि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके प्रिय भक्तगणके जीवनमें ही गीताकी महावाणी मूर्तिमान् हो रही है। अतएव श्रीकृष्णकी समस्त लीला-कथाका सर्वाङ्गसुन्दर रूपमें वर्णन कीजिये—श्रीमद्भागवतकी रचना कीजिये। देवर्षि नारदके कृपानुग्रहसे महर्षि वेदव्यासने श्रीमद्भागवतके शास्त्रको प्रकट किया। भागवतकी रचना करके उनको तृप्ति मिली। श्रीमद्भागवतका आस्वादन करके सारे भक्तगण आनन्दमें मग्न हो जाते हैं। जीवको पराशान्ति प्राप्त करनेके लिये सहज सुन्दर पथ खुल जाता है।

इस ग्रन्थमें निश्चय ही ऐसी कोई बात है, जो पूर्ववर्ती ग्रन्थोंमें प्रकट नहीं हुई है। श्रीमद्भागवतमें वह अभिनव बात क्या है, इसकी विवेचना संक्षेपसे इस निबन्धमें की जायगी।

श्रीमद्भागवत एक शास्त्र है। अतएव सब शास्त्रोंका जो मूल अभिधेय है, वह श्रीमद्भागवतमें होगा ही। इसके सिवा श्रीमद्भागवतमें उसकी एक निजी अभिधेय वस्तु है। इसलिये पहले निखिल शास्त्रोंके धर्मतत्त्वकी संक्षेपमें आलोचना करके तदनन्तर श्रीमद्भागवतके रहस्यकी बात कही जायगी।

निखिल शास्त्रोंके धर्मतत्त्व

निखिल शास्त्रोंका सार है श्रुति—वेद और उपनिषद्। उपनिषद् ही वेदान्त है। वेदान्त विश्वमानवको पुकार कर कहता है—

'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'

—'हे अमृतके पुत्रगण! सुनो।' सबका आह्वान करके सबके नित्यकल्याणका वेदान्त जगत्को उपदेश देता है।

श्रुतिकी धर्मकथा यही है कि हमारा जीवन दुःखमय है, दुःख दूर करनेके लिये हम सदा चेष्टाशील हैं, हमारी लौकिक चेष्टासे दुःख दूर नहीं होता, कुछ समयके लिये आंशिक भावसे दूर होता है। दुःखका सदाके लिये निर्वापण, आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। सब दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिका उपाय श्रुतिने जगत्को बताया है।

शास्त्र हमारे परम सुहृद् हैं। हम दुःखकी ज्वालासे जर्जर हो रहे हैं। उससे छुटकारा पानेके लिये सदा सचेष्ट हैं; परंतु किसी भी प्रकारसे दुःखके आघातसे अपनी रक्षा नहीं कर पाते। इस दुःखमें शास्त्र हमारे सर्वश्रेष्ठ सहायक हैं। शास्त्र वैज्ञानिक प्रणालीसे अपने विषयका प्रतिपादन करते हैं। पहले दुःखका कारण निर्धारित करते हैं, पश्चात् उसके निराकरणका उपाय बतलाते हैं।

श्रुति दुःखका कारण बतलाती है—'**नाल्पे सुखमस्ति।**' अल्पतामें सुख नहीं है। सीमाबद्धता ही दुःखका हेतु है। संकीर्णता सारी अशान्तिका मूल कारण है। श्रुतिने दुःख दूर करनेके उपायकी भी घोषणा की है—'**यद्वै भूमा तत्सुखम्।**' भूमाके साथ मिलन होना ही सुख है। असीमके साथ योग होनेपर ही दुःख दूर हो सकता है। असीम, अनन्त, शाश्वत वस्तुका नाम है—भूमा या ब्रह्म। इस ब्रह्म-वस्तुके साथ योग होनेपर जीवके सारे दुःख सदाके लिये निवृत्त हो जाते हैं। 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है 'सबसे बड़ा'। बड़ेको पानेपर ही सारे दुःखोंकी चरम निवृत्ति हो जाती है।

'ब्रह्मका स्वरूप क्या है, किस उपायसे उसकी प्राप्ति हो सकती है'—यही वेद-वेदान्तका सार कथन है। ब्रह्म-प्राप्तिके उपायका नाम '**उपासना**' है। उपासनाका अर्थ है 'निकट आना'। जितना ही जीव ब्रह्मके निकट आयेगा, उतना ही उसके दुःखका अवसान होगा। निकटतर होते-होते जब वह ब्रह्मभूत हो जायगा, तभी जीव दुःखातीत हो जायगा। यही निखिल शास्त्रका सार धर्म है।

श्रीमद्भागवतकी विशेष बात

सब शास्त्रोंका जो अभिधेय है, वह श्रीमद्भागवतमें भी है। इसके अतिरिक्त उसमें अपनी निजी एक नयी बात है। वह बात और किसी शास्त्रमें नहीं है। श्रीमद्भागवत शास्त्रके प्रधान श्रोता कलिग्रस्त संसारी जीव हैं—'**संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यम्।**'

अति करुणाके वश होकर श्रीमद्भागवत कलिग्रस्त दुःखसंतप्त सांसारिक जीवोंसे कहता है कि 'तुमलोग इतना दुःख भोग कर रहे हो। उपासना करके ब्रह्म-सांनिध्य प्राप्त करनेकी योग्यता तुमलोगोंमें नहीं है। मैं लाया हूँ तुम्हारे लिये अभिनव संवाद। सुनो'—

(१) भगवान् आये हैं

जीव! तुम असमर्थ हो। उनके पास जानेकी शक्ति तुममें नहीं है। यह जानकर परब्रह्म करुणा करके तुम्हारे पास आये हैं। तुम गोलोक जानेमें असमर्थ हो, इसी कारण गोलोकविहारी आये हैं तुम्हारे लिये श्रीवृन्दावनमें यमुनाके तटपर। यह श्रीमद्भागवतकी पहली वाणी है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं तनुमाश्रितम्।

संसारके प्रति अशेष अनुग्रह-परायण होकर मानुषी तन धारण किया है श्रीभगवान्‌ने। आओ, उनको देख जाओ व्रजमें, वंशीवटमें, गोचारणके मैदानमें। कितनी दूरकी वस्तु आज घरकी वस्तु हो गयी है। 'वे हैं'—यह पुरानी बात है, 'वे आये हैं'—यह भागवतीय वार्ता है।

(२) भगवान् पुकार रहे हैं

श्रीमद्भागवतने संवाद दिया है कि 'जीव! तुम उनको पुकारना नहीं जानते। तुम्हारे क्षीण कण्ठकी ध्वनि उनके गोलोकके आसनतक नहीं पहुँचती। तुम अब कहाँतक पुकारोगे? कान लगाकर सुनो। सुनो वे तुमको पुकार रहे हैं।

मधुर मुरलीकी तानमें मुरलीधर तुम्हें व्याकुल-प्राणसे आह्वान कर रहे हैं। तुम्हारी अपेक्षा सहस्रगुना आर्तभाव लेकर वे तुमको अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। आकर्षण करते हैं, इसी कारण वे 'कृष्ण' हैं। केवल मधुर तानमें ही वे पुकारते हैं। इस कारण वे 'मुरलीधर' हैं। उनकी वंशी **'सर्वभूतमनोहरम्'** है। सब जीवोंकी मनोहारिणी है, मन-प्राणको आकर्षण करनेवाली है। यह श्रीमद्भागवतकी दूसरी वाणी है—वे हैं, वे आये हैं और वे पुकार रहे हैं।'

(३) भावनामें भावनातीत

वेदान्त 'ब्रह्म'की बात कहता है। परंतु क्या कहता है?—कुछ भी कहा नहीं जा सकता। वह कहता है कि 'ब्रह्म' अशब्द है। वह शब्दके द्वारा अवाच्य है, केवल इतना ही कहा जा सकता है। वह अरूप, अस्पर्श और अव्यय है। वह इन्द्रियातीत है, मनके अतीत है, बुद्धिके परे है। ध्यान-धारणाके परे है—यहाँतक कि आलोचनासे भी परे है अथवा उससे ऊपर स्थित है। इस भावातीत, अचिन्त्यके विषयमें चिन्तन करना साधारण जीवके लिये भयकी बात है। चिन्तनके द्वारा जिसका संधान नहीं प्राप्त होता, उसको चिन्तनका विषय कौन बना सकेगा? श्रीमद्भागवत बतलाता है—'जीव! भयकी बात नहीं है। भावातीत प्रभु भावनाके बीच उतर आये हैं। ध्यानातीत सत्ता ध्यानके बीच आ गयी है। निर्गुण, निर्विशेष, निराकारकी भाषा हमारे वशकी नहीं है, हम उसको पढ़ना नहीं जानते। अज्ञेय (न जानी हुई) भाषा आज ज्ञेय (जानी हुई) भाषामें अनूदित हो गयी है। निर्गुण, निराकार, निर्विशेष परब्रह्मका सगुण, साकार, सविशेष अनुवाद ही हैं—व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण। जो ब्रह्म हैं, परमात्मा हैं, निखिल जीवोंके आत्माके आत्मा हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें नन्दनन्दन हैं।

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५५)

श्रीकृष्ण 'गूढ़कपट-मानुष' हैं। मानुष होकर भी वे मानुष नहीं हैं। वे परात्पर ब्रह्मके सर्वश्रेष्ठ मानवीय अनुवाद हैं', यही भागवतकी तृतीय वाणी है। जो अचिन्त्य है, वह चिन्तामणि होकर भजनका धन बन गया है। ब्रह्म अकथनीय है। यदि ईश्वरके विषयमें कुछ कहना-सुनना है तो श्रीकृष्णकी कथा ही कहनी-सुननी पड़ेगी। श्रीभगवान्की कथा कहनी-सुननी हो तो श्रीमद्भागवतका ही आश्रय लेना पड़ेगा।

(४) कोई अनधिकारी नहीं

सभी शास्त्र कहते हैं कि भगवान्को प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। इसमें सबका अधिकार नहीं है। स्त्री-शूद्रका अधिकार नहीं है। वैश्य-क्षत्रियका अधिकार नहीं है। ब्राह्मण भी जन्मसे शूद्र होनेके कारण अनधिकारी है। परंतु उपनयन होनेके बाद नित्य गायत्री-मन्त्रका जप करनेपर वह द्विज होता है। पश्चात् वेद-पाठ करके वह विप्र होता है। वेदमें जो ब्रह्मतत्त्व है, उसको जान लेनेपर ब्राह्मण होता है। वही व्यक्ति अधिकारी है। अन्य सब अनधिकारी हैं। यह पुरानी बात है।

श्रीमद्भागवतने नया संदेश दिया है। सबको पुकारा है। किसीको भी छोड़ा नहीं है। कहा है कि ईश्वरको प्राप्त करनेके अधिकारी सभी नर-नारी हैं। ईश्वरको प्राप्त करनेमें केवल एक ही वस्तुकी आवश्यकता होती है, जो सबके पास है। हृदयके सहज शुद्ध प्रेमके द्वारा ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है।

सहज शुद्ध प्रेम क्या है?

सहज प्रेमका अर्थ है वह प्रेम, जिसके द्वारा मनुष्य माता-पिता, स्त्री-पुत्रादिसे प्रेम करता है। यह सहज-सहजात प्रेम आत्माका स्वाभाविक धर्म है। आत्माके तीन धर्म हैं—अस्ति, भाति और प्रियत्व। यह प्रियत्व-धर्म ही प्रेम है। इस प्रेमको श्रीकृष्णमें अर्पित करनेसे ही श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है। शुद्ध प्रेमसे यह ध्वनि निकलती है कि प्रेममें स्वार्थपरता नहीं है, कोई स्वार्थ या अभिसंधि नहीं है। जिससे प्रेम है, उसके सुख-विधानके सिवा अन्य कोई वाञ्छा नहीं है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'क्या यह शुद्ध प्रेम सबके पास है?' इसका उत्तर है कि 'हाँ, है।' हमारे प्रेममें जो मलिनता है, वह प्रेमका स्वभाव नहीं है। मालिन्य आगन्तुक है। उसको हटा देनेपर स्वाभाविक शुद्धता व्यक्त हो जाती है।

किसी सरोवरका जल यदि मैला होकर अपेय (न पीने योग्य) हो जाय, तो उसे उबालना, डिस्टिल करना एवं फिल्टर करना आदि क्रियाओंके द्वारा निर्मल कर सकते हैं, पेय (पीने लायक) बना सकते हैं, क्योंकि जल स्वभाव निर्मल होता है, उसमें मलिनता आगन्तुक होती है उसे

कर सकते हैं। इसी प्रकार चित्तका प्रेम शुद्ध ही होता है, उसमें जो अशुद्धि आ गयी है, उसे हटाया जा सकता है, मार्जनके द्वारा दूर किया जा सकता है। साधनका उद्देश्य ही है चित्तका परिमार्जन करना, यह मार्जन ही भजन है।

भजनके द्वारा सुमार्जित होनेपर सबके हृदयका सहज प्रेम शुद्ध होता है। उसे श्रीनन्दनन्दनमें समर्पित करते ही उनकी प्राप्ति हो जाती है। इस महान् सत्यकी श्रीमद्भागवतने केवल घोषणा ही नहीं की है, बल्कि श्रीकृष्णके लीला-जीवनमें उसे मूर्तिमान् करके दिखला दिया है। अखण्ड ब्रह्माण्डके कारणोंके कारण लीलापुरुषोत्तमको वृन्दावनकी एक ग्वालिन रज्जुके द्वारा बाँध लेती है। यह एक नयी बात श्रीमद्भागवत-महाग्रन्थने बतलायी है।

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'

हृदयके सहज शुद्ध प्रेमके द्वारा सभी श्रीकृष्ण-धनको अपना बना ले सकते हैं, यह श्रीमद्भागवतकी अपूर्व घोषणा है।

जो भजता, है वही बड़ा, हो चाहे दीन अभक्त असार।
कृष्णभजनमें नहीं जाति-कुलका कुछ भी है कहीं विचार॥

वंशीध्वनि क्यों नहीं सुन पड़ती?

'**सर्वभूतमनोहरम्**' मुरली बजाकर मुरलीवाले निरन्तर पुकारते हैं। श्रीमद्भागवतकी यह वाणी सुनकर कलिग्रस्त जीवके मनमें प्रश्न उठता है कि 'ध्वनि कहाँ? वह तो हमारे सुननेमें नहीं आती?' श्रीमद्भागवत कहता है कि 'संसारके कर्म-कोलाहलसे तुमलोगोंके कान बहरे हो गये हैं।' इसी कारण तुम नहीं सुन पा रहे हो। इस बहरेपनको दूर करनेकी दवा है, मुरलीकी पुकार सुनकर जो लोग बड़े वेगसे भागे जा रहे हैं, उनकी बात नित्य सुनो। सुनते-सुनते कानोंका बहरापन मिट जायगा। तब वंशीकी ध्वनि सुन पड़ेगी। बाँसुरी सदा ही बजती है। जो कान सुनने योग्य होता है, वही सुन पाता है।

उपाय क्या है?

हृदयका सहज प्रेम श्रीकृष्णके अर्पित हो जानेपर श्रीकृष्णकी प्राप्ति होगी। श्रीमद्भागवतकी यह बात सुननेपर यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'हृदयका प्रेम तो पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, धन-ऐश्वर्यकी ओर ही दौड़ता है। श्रीकृष्णकी ओर लगानेका उपाय क्या है?'

श्रीमद्भागवत वह उपाय बतलाता है। जिनका प्रेम श्रीकृष्णकी ओर ही लगा है, उनका संग करो। दैहिक संग न हो सके तो मानस संग करो। मानस संग तो सभीके लिये सम्भव है। नित्य नियमितरूपसे उनकी कथाका श्रवण-मनन करनेसे मानस संग होता है। व्रजमें उन्होंने ऐसी लीला की है कि जिसको सुनते ही चित्त तत्पर हो जाता है अर्थात् श्रीकृष्णपर हो जाता है, श्रीकृष्णानुप्राणित हो जाता है—श्रीकृष्णके रंगमें चित्त रँग जाता है।

भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।

भागवती कथाके सुननेमात्रसे अशेष मङ्गल होता है—'**श्रवणमङ्गलम्**।' अतएव श्रीमद्भागवतका श्रवण-कीर्तन करना जीवके लिये सर्वश्रेष्ठ तथा अति सहज साधन है।

वे सुन्दरतम हैं

श्रीमद्भागवतकी चरम और परम वाणी है—'सुन्दरतमका संदेश'।

वेदान्तदर्शनका श्रेष्ठ संदेश है—'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**।' जीवके भीतर ऐसी योग्यता प्रसुप्त है, जो साधनके द्वारा उन्नत होते-होते ब्रह्मभूत हो सकती है। यह एक महान् संदेश है। वेदान्तके इस संदेशका गान श्रीमद्भागवतने भी किया है। इस महान् संदेशके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत एक और अति सुन्दर संदेश प्रदान करता है, जो वेद-वेदान्तमें नहीं है। इस महान् संदेशसे हमारी आँखें खुल जाती हैं, यह सुन्दर संदेश हृदयको शीतल कर देता है। बुद्धिवृत्ति महान्को ग्रहण करती है और हृदयवृत्ति सुन्दरको ग्रहण करती है।

श्रीमद्भागवतका सुन्दर संदेश यह है कि जिस प्रकार मनुष्य तपस्याके द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्त करता है, परब्रह्म भी उसी प्रकार तपस्याके द्वारा मानवत्वको प्राप्त करता है। मनुष्यकी तपस्याका नाम 'साधना' है और ईश्वरकी तपस्याका नाम 'करुणा' है। साधनासे मनुष्य उठता है, करुणासे ईश्वर अवतरित होता है—नीचे उतरता है। अवतरित होकर भगवान् जब एकदम मनुष्य हो जाते हैं—मेरे पुत्र, मेरे सखा, मेरे प्राणनाथ हो जाते हैं, तब वे सुन्दरतम हो जाते हैं। सुन्दरतम माधुर्यसे पूर्ण! माधुर्य ही भगवत्ताका सार है, यही श्रीमद्भागवतकी परम वाणी है।

श्रीमद्भागवतके सभी संवाद भक्तलोग सुनते हैं, श्रद्धाके साथ सुनते हैं। पर व्रजके सुन्दरतमका संवाद प्राप्त करके वे उन्मत्त हो उठते हैं, पागल हो जाते हैं, क्योंकि सुन्दरतमका

माधुर्यमय संवाद ही श्रीमद्भागवतकी अन्तरतम वाणी है, सब जीवोंके हृदयको हिला देनेवाली वाणी है।

चार प्रकारके माधुर्य

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके माधुर्यकी चार बातें बतायी गयी हैं। विश्वसाहित्यमें कहीं भी ऐसी बातें नहीं हैं। रूप-माधुर्य, वेणु-माधुर्य, प्रेम-माधुर्य और लीला-माधुर्य—ये चार माधुर्य नन्दनन्दनमें अनन्य-साधारण हैं।

रूप-माधुर्य— श्रीकृष्णका जन्म जिस प्रकार अजन्माका जन्म है, दिव्य जन्म है, उनका रूप भी उसी प्रकार अरूपका रूप है, शाश्वत नित्य-रूप है, नवकिशोर नटवर-रूप है। उस रूपसे केवल जगत् ही मुग्ध नहीं होता, वे आप भी उस अपने रूपसे विमुग्ध हैं।

वेणु-माधुर्य— श्रीमद्भागवतके प्रतिपाद्य देवता वेणुधर हैं। संसारको बुलाते वे अपनी ओर वंशीकी तानसे। जब वंशीमें फूँक देते हैं, तब अधरोंकी माधुर्य-राशिको छिद्रोंके मार्गसे अंदर ढाल देते हैं। वही नादरूपमें परिणत होकर समस्त विश्व-जगत्में व्याप्त हो जाती है।

> वंशी-छिद्राकाशमें कर मधु शब्द प्रवेश।
> नाद रूपसे निकलकर छाया सारे देश॥
> योगी भूले योगको, टूटा मुनिका ध्यान।
> कामिनि काननको चली, तज कुल-लज्जा-मान॥

उस ध्वनिसे निखिल विश्वमें आलोडन उपस्थित हो जाता है। तब गिरि गोवर्धनकी शिला गल जाती है, वेगवती यमुना स्थिर होकर रुकी रह जाती है, गौएँ पूँछ उठाकर दौड़ने लगती हैं, नर-नारियोंका चित्त श्रीकृष्णकी लालसासे आकुल हो उठता है। और भी क्या-क्या होता है? श्रीमद्भागवतने प्राण भरकर मुरलीके मोहनीय माधुर्यका गान किया है।

प्रेम-माधुर्य— व्रजके शुद्ध प्रेमके वशीभूत हो षडैश्वर्यमय श्रीभगवान् अपने स्वरूपको, सम्पूर्णरूपसे भूल जाते हैं—कितने बड़े कितने छोटे हो जाते हैं! यही प्रेम-माधुर्य है। जिसके भयसे यमराज डरते हैं, वह माँके भयसे भीत होकर काँपते हुए झूठ बोलने लगते हैं। स्वतन्त्र पुरुष होकर भी श्रीभगवान् शुद्ध प्रेमके द्वारपर पूर्णतः अधीन हो जाते हैं। इस भक्ताधीनताके वशवर्ती होनेमें ही व्रजेन्द्रनन्दनकी इतनी मधुरिमा है। इस प्रेम-माधुर्यकी गहराईका थाह नहीं लगता।

लौकिक साहित्यकारोंने प्रधानतः कान्ता-प्रेमका ही विस्तार किया है। श्रीमद्भागवतने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच रसोंका आस्वादन किया है। इनमें श्रीवृन्दावनमें वात्सल्य, सख्य और मधुर—इन तीनों रसोंका जो मिष्टान्न श्रीमद्भागवतशास्त्रने प्रस्तुत किया है, उसकी निखिल विश्व-साहित्यमें कहीं तुलना नहीं है। श्रीभगवान् भक्त-हृदयके प्रेम-माधुर्यके भोक्ता हैं। इसी कारण श्रीमद्भागवतने अशेष-विशेष प्रेमरसके जितने वैचित्र्यमय प्रकार हो सकते हैं, उनको साङ्गोपाङ्ग प्रपञ्चित किया है।

लीला-माधुर्य— लीलामय श्रीहरिकी लीलामें ऐश्वर्य और माधुर्य दो वस्तुएँ हैं। ऐश्वर्यमें उनके महत्त्व और माधुर्यमें उनके प्रियत्वका प्रकाश है। दोनों मानो दो प्रान्त हैं। किंतु वृन्दावनलीलामें दोनों मिलकर एक अनिर्वचनीय मधुरिमाका विकास कर रहे हैं।

श्रीभगवान्ने पूतनाका वध किया है स्तन्यपान करते-करते। पूतनाके वधमें ऐश्वर्य है, स्तन्यपानमें माधुर्य है। दोनोंका यह मिलन चमत्कारपूर्ण है।

नाचते-नाचते कालियनागके फणोंको चूर-चूरकर उसका दमन किया है। कालिय-दमनमें ऐश्वर्य है। मधुर नृत्यमें अपूर्व माधुर्य है। दोनोंका यह मिलन अभिनव है, चित्तके लिये चमत्कारिक है। व्रजका यह लीलामाधुर्य असीम मधुरिमासे मण्डित है। इसके वर्णनमें श्रीमद्भागवतकी निपुणता विस्मयोत्पादक है।

इन चारके माधुर्यसे मधुमय होकर श्यामसुन्दर सुन्दरतम हो गये हैं। इस सुन्दरतमको निजजन बना लेनेका सहज उपाय है—'हृदयकी सर्वापेक्षा सुन्दर वस्तु—शुद्ध प्रेमको पूर्णरूपेण श्रीकृष्णमें समर्पण कर देना।' यह प्रेम सभी जीवोंके अन्तस्तलमें है। अतएव जाति, वर्ण, गोत्रका भेद न करके सभी नर-नारी इस सुन्दरतमको हृदय-सर्वस्व बना लेनेके अधिकारी हैं। यही भागवतधर्म है।

श्रीमद्भागवतका धर्म ग्रहण करनेपर दुःखकी निवृत्ति, प्रेमकी प्राप्ति, आनन्दरसके आस्वादनसे चिरतृप्ति होती है। और ग्रहण न करनेपर अशेष दुर्गति तथा जातीय संगठनकी महान् हानि है। जय जगद्बन्धु हरि!
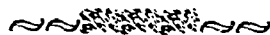
'धर्म' भगवान्‌का स्वरूप है

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्‌गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्र सरस्वतीजी महाराज)

'धारणाद्धर्मः' प्रत्येक वस्तुको जिस प्रयोजनके लिये भगवान्‌ने रचा है, उस प्रयोजनकी परिपूर्ति करना ही उस वस्तुका धर्म है। अग्निका धर्म है ताप देना—पका देना। जलका धर्म है—शुद्ध करना और पीनेसे प्राणरक्षण करना।

इसी तरह मानवका धर्म है जगत्‌में जितने प्राणी उत्पन्न हैं, उन सबकी जीवन-यात्रा सुविधासे जैसे चले, ऐसा लक्ष्य निर्धारित कर जो धर्म वेदोंमें और शास्त्रोंमें विहित हैं, उनके आचरणसे अपना और जनसमुदायका भला करना यही धर्मका रक्षण है।

इस तरह रक्षित हुआ धर्म प्राणिमात्रका पालन करता है। धर्माचरणमें लगनेवाले मानवोंको उचित सुख-भोग देकर जो आत्मज्ञानका पात्र बनाता है, वह धर्म है। मानव आत्मज्ञानसे ब्रह्ममें अभिन्न-रूप होकर सच्चिदानन्द परमात्मामें लीन होता है। यही मानवजन्मकी परिपूर्ति और परम प्रयोजन है।

धर्मके आचरणसे अधर्मकी रुचि बंद होती है। अपने कुटुम्बमें सद्‌बुद्धि, सच्चे आहार-व्यवहारकी व्यवस्था बढ़ती है। ऐसे सच्चे व्यवहारवाले कुटुम्बके सम्बन्धसे गाँवमें रहनेवालों और नगरवास्तव्योंको मान्यता मिलती है। उनके आचरणके अवलम्बनके बारेमें दूसरोंकी रुचि होती है। ऐसे धर्मानुष्ठाताके आचरणसे अपना, स्वधर्मका और जगत्‌के धर्मका रक्षण होता है एवं रक्षित हुआ धर्म जगत्‌का रक्षण करता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि मानवजातिमात्रके सामान्य धर्म हैं। हिंसासे, असत्य बोलनेसे, चोरी करनेसे दूसरोंको बाधा होती है। जानवरोंके स्वभावमें जो हिंसा होती है, वह आत्मरक्षणके लिये शायद युक्त होगी, परंतु मानवको आत्मरक्षाके लिये परहिंसाकी सहायता लेनी नहीं पड़ती। स्वबुद्धिसे, प्रेमसे, दूसरोंके विरोध-भावको मानव मिटा सकता है। इस कारण अहिंसा और प्रेम मानवजातिमात्रका सर्वप्रथम धर्म है।

असत्य-भाषण तो मानव-जातिका एकमात्र दुर्गतिका मार्ग है। अल्प विषयोंके लिये अलक्ष्यभावसे असत्य बोलनेकी जो आदत है, वह दूसरोंकी हानि करनेवाले असत्य-भाषणकी ओर मानवको ले जाती है। यदि अल्प विषयोंके बारेमें असत्य बोलनेसे किसी हानिकी सम्भावना न हो तो फिर यह आदर तो मानवके असत्य-भाषणमें जो लज्जा है, उसे मिटा देगी। इसलिये अल्पविषयके लिये भी असत्यभाषण सर्वथा वर्जनीय है। दूसरोंकी वस्तु चुरा लेनेसे न केवल दूसरोंकी हानि होती है बल्कि अपनी भी हानि होती है। स्तेयसे अहिंसा और सत्य दोनोंका नाश होता है। इसलिये चोरी करना पाप है। मनुष्यमात्रके लिये, जनसमुदायकी सच्ची व्यवस्थाके लिये सत्य, अहिंसा आदि सामान्यधर्मका पालन परम आवश्यक है।

वर्णाश्रमधर्म तो आत्मोन्नतिके लिये अतीव आवश्यक है। जिस वर्णका, जिस आश्रमवालेका जो धर्म वेद-शास्त्रोंमें विहित है, उसका आचरण करना उनको अनिवार्य है। अनिवार्य कहनेसे ऐसा मालूम होना चाहिये कि उनके आचरणके बिना उस मानवकी आत्मोन्नति ही नहीं होती। केवल यही नहीं, मानव पतित हो जाता है। मानव-जन्म पाकर उसे पतित करनेसे बड़ा और इससे कोई आत्मनाश नहीं है।

दुर्भाग्यवश किसी मनुष्यका स्वधर्ममें श्रद्धाके लोपसे कुछ वैगुण्य भी होता है तो उसके उद्धारका मार्ग भी है। मनुष्य किसी भी अवस्थामें हो पतितपावन भगवान्‌के नामोच्चारणसे उसकी पुनः स्वधर्ममें प्रवृत्ति हो जाती है। स्वधर्मका स्वरूप जाननेसे उसके आचरणमें श्रद्धा बढ़ती है। भगवान्‌की कृपासे वह स्वधर्मनिरत हो सकता है। उसे आत्मोन्नति प्राप्त हो सकती है।

भगवान्‌का स्वरूप है धर्म। हमारे धर्माचरणसे भगवान्‌का स्वरूप हमारे हृदयमें प्रकाशित होता है। इससे सच्चा आनन्द मिलता है।
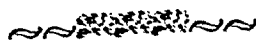
धर्मशास्त्र-समीक्षा

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपालवैष्णवपीठाधीश्वर १००८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

अखिल ब्रह्माण्डनायक जगत्पिता परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण भगवान्‌की क्रीडा करनेके लिये योगमायाद्वारा विश्वकी सृष्टि की गयी है। समस्त भुवनोंमें पृथ्वीको श्रेष्ठ माना गया है। सप्तदीपवती पृथ्वीमें जम्बूद्वीपकी वरीयता पुराणोंमें प्रसिद्ध है। नव खण्डोंसे संयुक्त जम्बूद्वीपमें भरतखण्ड है, इसीमें भारतवर्ष है, जिसे श्रेष्ठतम घोषित किया गया है। यह भारतवर्ष 'कर्म-क्षेत्र' है। इसमें सात्त्विक, राजस और तामस कर्मोंसे देव, तिर्यग् एवं मनुष्योंकी सृष्टि हुई है। पुण्य-कर्मसे देवयोनि, पाप-कर्मसे तिर्यग्-योनि एवं मिश्रित-कर्मसे मनुष्य-योनि और जीव-जन्तु पैदा होते हैं। ईश्वरके निःश्वाससे प्रकटित वेद एवं वेदानुकूल स्मृति-शास्त्रोंमें मानवोंमें चार वर्णों एवं चार आश्रमोंकी मर्यादा स्थिर की गयी है। यह वर्णाश्रम-व्यवस्था ईश्वरसे विहित होनेसे मानव-कल्पित नहीं है।

सभी वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र)-के कर्म, गुण और स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। भगवान्‌के मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, जाँघसे वैश्य और चरणसे शूद्र पैदा हुए हैं। पृथ्वीपर मानवोंके गुरु-पदपर ब्राह्मण रखे गये हैं। अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा लेनेके लिये अग्रजन्मा ब्राह्मणोंको नियुक्त किया गया है। सभी मानवोंको सदाचार-सच्चरित्रताकी शिक्षा-दीक्षा लेनेका उद्देश्य धर्मशास्त्रोंमें लिखित है। इसलिये धर्मशास्त्र सबके लिये परम उपयोगी है।

'धर्म' वह है, जो सम्पूर्ण प्रजाको धारण करे—**'धारणाद् धर्ममित्याहुः।'** वह धर्म वेदविहित है और तदनुकूल स्मृतियोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है। ये श्रुति-स्मृति ब्राह्मणोंकी दो आँखें हैं। एकके बिना वह काना और दोनोंके बिना अंधा माना जाता है। अतः शास्त्रदृष्टिसे उपदेश देना तथा उसे व्यवहारमें लाना कल्याणकारक है, लोकदृष्टिसे नहीं। **'शास्यते अनेनेति शास्त्रम्'** इस व्युत्पत्तिसे जो मानवोंको शासित-अनुशासित करता है, वह शास्त्र कहलाता है। उपदेशक गुरु एवं शास्त्रपर विश्वास करना ही श्रद्धा है। श्रद्धासे किया हुआ सत्कर्म ही सफल होता है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७। २८)

भगवान्‌की इस वाणीसे सिद्ध है कि बिना श्रद्धासे किया गया दान, जप-तप तथा होम आदि कर्म निष्फल होता है। उससे इस लोक-परलोकमें कुछ प्राप्त नहीं होता। इसलिये शास्त्रानुसार कर्तव्यका पालन करना श्रेष्ठ है। जो शास्त्र-विधानका परित्याग कर स्वेच्छाचारी होता है, वह मुक्तिसे वञ्चित हो जाता है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

—इस भगवद्वचनामृतसे सिद्धान्तकी दृढ़ता होती है।

धर्मशास्त्रोंमें मनु, याज्ञवल्क्य आदि अनेक स्मृतियाँ परिगणित हैं। उनमें निर्दिष्ट नियमोंसे अपने अधिकारके अनुसार मर्यादापूर्वक जीवनशैलीको अपनानेसे सब प्रकारका अभ्युदय प्राप्त होता है, सुख-शान्ति बढ़ती है और अन्तमें परा गति भी प्राप्त हो जाती है।

इस कलियुगमें सभी धर्मोंका लोप होता जा रहा है। अनाचार-अत्याचार-व्यभिचार आदिकी दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। इसके लिये आवश्यक है कि धर्मशास्त्रोंमें निर्दिष्ट नियमोंका पालन किया जाय। १-संध्या, २-स्नान, ३-जप, ४-देवताओंकी पूजा, ५-अतिथि-सत्कार तथा ६-बलिवैश्वदेव—इन छः कर्मोंको अधिकारभेदसे नित्य-नियमितरूपसे करनेका विधान है। द्विज—वटुकोंको शास्त्रोक्त, विहित समयमें उपनीत करके स्नान-संध्या-गायत्री-जप-वेदाध्ययन आदि करना-कराना अधिकृत कर्तव्य है। बिना चोटीके, बिना जनेऊ धारण किये जो कर्म किया जाता है वह निष्फल होता है। अतः सदा उपवीती एवं शिखा-समन्वित रहना चाहिये। यही भारतीय धर्म है। भारतीय संस्कृति धर्मशास्त्रों तथा पुराणेतिहासादिमें भरी पड़ी है। उनका पठन-पाठन न होनेसे भारतीय जनता संस्कृतिकी

रक्षा करनेमें अक्षम होती जा रही है। इसलिये राष्ट्र-निर्माणके लिये सुसंस्कृत-सच्चरित्रवान् व्यक्तियोंको भारतीय धर्मकी उन्नतिके लिये आगे कदम बढ़ाना आवश्यक है। संध्या ब्राह्मणत्वका मूल है। वेद शाखाएँ हैं। धर्म-कर्म पत्ते हैं। इसलिये मूल-जड़की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये। मूल कट जानेपर न डाली रहेगी न पत्ते रहेंगे। पेड़ सूखकर नष्ट हो जायगा।

संध्या भी देहादिकी शुद्धिके बिना निरर्थक है और देहादिकी शुद्धि स्नानके बिना सम्भव नहीं। प्रतिदिन स्नान करनेसे देहकी शुद्धि होती है। स्नानके पहले मल-मूत्र त्यागकर दाँत और जीभकी शुद्धि करनी चाहिये, अशुद्ध मुखसे किया गया जप-पाठादि निष्फल होता है। स्नान करके शुद्ध वस्त्र छूने चाहिये, पुनः धारण करने चाहिये।

कामचार तथा कामभक्षको रोकनेके लिये धर्मशास्त्रोंमें निर्देश दिये गये हैं। स्वेच्छाचारिता तथा अभक्ष्य-भक्षण, अपेयपान, अगम्यागमन, अस्पृश्यका स्पर्श, असत्य-भाषण, वाचिक तथा मानसिक कर्मोंकी निन्दासे तथा हिंसा और जुआ आदि खेलनेसे सर्वथा दूर रहकर उनका नियम न करनेका उल्लेख है। जिससे पातकसे बचा जा सके। अन्यथा प्रायश्चित्त करनेका विधान है। 'प्रायः' शब्दको पाप, और 'चित्त' को शुद्धि कहते हैं—इस प्रकार पापकी शुद्धिके निमित्त किया जानेवाला कर्म—व्रत, उपवास आदि प्रायश्चित्त कहलाता है। निषिद्ध कर्म करने और विहित कर्मोंके न करनेसे यमलोकमें गमन करना पड़ता है तथा पुण्य कर्मोंके करनेसे पापकी हानि हो जाती है और पुण्य लोकोंकी प्राप्ति होती है। परंतु ये पुण्य-पाप दोनों सांसारिक बन्धनके कारण हैं। अतः भगवत्प्रीत्यर्थ सब कर्मोंको करे। इससे वे बन्धनके हेतु नहीं बनते।

समावर्तन-संस्कारके बाद गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका विधान है। सद्गृहिणी ही गृहस्थधर्मका मूल है। कुलवती, निर्दोष लक्षणोंवाली, सवर्णा, अपनेसे छोटी कन्यासे धर्मपूर्वक विवाह करे। पुनः उसका भरण-पोषण करे। उसे निष्कारण दुःख न दे, वस्त्र-आभरणादिसे संतुष्ट रखे। जहाँ दम्पतिमें अनुकूलता रहती है वहाँ लक्ष्मी शीघ्र बढ़ती है, कलहसे दरिद्रता आती है। अतः प्रेमपूर्वक गृहस्थाश्रममें धर्मका निर्वाह करे।

कलत्रवान् पुरुषका कर्तव्य है कि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासियोंको साथ लेकर चले। अर्थात् सबकी सेवा करे, सबका आदर-मान करे भिक्षा तथा अतिथि-सत्कार आदिद्वारा सबका पूजन करे। सभी प्राणी गृहस्थीके आश्रित होते हैं। आतिथ्य-सत्कार गृहस्थाश्रमका मुख्य धर्म है। जिस घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है तो वह अपना पाप उसे समर्पित कर उसका पुण्य लेकर चला जाता है।[१] सत्कार्यसे घरमें सुख और शान्ति बढ़ती है।

धर्मशास्त्रोंमें बतलाया गया है कि गृहस्थको नित्य पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि गृहस्थके घरमें पाँच ऐसे स्थान हैं, जहाँ प्रतिदिन न चाहनेपर भी जीवहिंसा होनेकी सम्भावना रहती है। चूल्हा (अग्नि जलानेमें), चक्की (पीसनेमें), बुहारी (बुहारनेमें), ऊखल (कूटनेमें) तथा जल रखनेके स्थान (जलपात्र रखनेपर नीचे जीवोंके दबने) से जो पाप होते हैं, उन पापोंसे मुक्त होनेके लिये (१) ब्रह्मयज्ञ—वेदवेदाङ्गादि तथा पुराणादि आर्ष ग्रन्थोंका स्वाध्याय, (२) पितृयज्ञ—श्राद्ध तथा तर्पण, (३) देवयज्ञ—देवताओंका पूजन एवं हवन, (४) भूतयज्ञ—बलिवैश्वदेव तथा पञ्चबलि और (५) मनुष्ययज्ञ—अतिथि-सत्कार—इन पाँच यज्ञोंको प्रतिदिन करना चाहिये (मनु० ३। ६८-७०)। इनके अनुष्ठानसे गृहस्थ निष्पाप रहता है।

वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना तथ लेना—ये छः ब्राह्मणोंके नियम बनाये गये हैं। षोडश संस्कारोंमें तथा व्रतोद्यापन, यज्ञादि कार्योंकी समाप्ति ब्राह्मणोंको भोजन करानेका विधान है। न करनेपर किये गये धर्म विलुप्त हो जाते हैं। आशौचमें मुण्डन करनेकी आज्ञा ऋषियोंने दी है। सात पीढ़ीतक दस दिनका आशौच एवं दस पीढ़ीतक तीन दिनका और चौदह पीढ़ीतक पक्षिणी (डेढ़ दिन) का तथा उसके बाद स्नानमात्रसे शुद्धिका प्रावधान है। आशौची पुरुष देव-पितृकार्य करनेके अयोग्य

१-अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते। स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥ (महा०, शान्ति० १९१। १२)

हैं। उनके हाथका अन्न-जल अग्राह्य है। इसी प्रकार रजस्वला स्त्रीका भी अग्राह्य है। ऋतुकालमें चार दिनकी अवधि शुद्धिके लिये दी गयी है, चौथे दिन शुद्धि होती है, पर वह पतिकी सेवाके लिये होती है, देव-पितृ-कार्योंमें पाँचवें दिन अधिकार होता है।

क्षत्रिय वर्णके लिये कहा गया है कि वह क्षतग्रस्तोंका त्राण करनेके कारण क्षत्रिय कहलाता है। क्षत्रियकी पालिनीशक्ति हरिकी पालिनी शक्ति कहलाती है। ब्राह्मण क्षत्रियकी एवं क्षत्रिय ब्राह्मणकी रक्षा करे। इससे सभी वर्णोंमें सौहार्द बढ़ता है। ब्राह्मणोंसे कर लेनेका एवं मृत्युदण्डका निषेध है।

अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् होता है। आग लगानेवाले, जहर पिलानेवाले, शस्त्र धारण करनेवाले, धन लूटनेवाले, क्षेत्र एवं कलत्रका अपहरण करनेवाले—ये छः प्रकार आततायियोंके कहे गये हैं।

धर्मशास्त्रमें कहे हुए नियम ही मान्य हैं। यदि राजा अदण्ड्यको दण्डित करे तथा दण्ड्यको दण्डित न करे तो वह अयशस्वी होता है, परलोककी भी हानि होती है। प्रजासे कर वसूल कर प्रजाका पालन न करनेसे नरकपात होता है। अतः राजाका कर्तव्य है कि दुर्भिक्षमें सहायता दे तथा सुभिक्षमें कर वसूल करे उसी प्रकार जैसे कि सूर्य आठ महीने किरणोंद्वारा जल ग्रहण करता है और चातुर्मास्यमें बरसाता है। राजा , गौ, ब्राह्मण, साधु-संतोंका पालन सादर करते हुए न्यायमार्गसे प्रजाका पालन करे तो उसे इस लोकमें सुख प्राप्त होता है। यदि राजा अन्याय करे तो प्रजा भी अन्याय करेगी, क्योंकि जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है।

वैश्यके लिये खेती करना, गोपालन करना, वाणिज्य-व्यापार करना धान्य-रस आदि जीवनोपयोगी वस्तुओंका निष्कपट-भावसे क्रय-विक्रय करनेका नियम है। शास्त्र, गुरु तथा विप्रके वचनोंमें विश्वास रखनेपर बल दिया है। कूट-तुला निषिद्ध है। वैश्यके लिये आस्तिकता, सदाचारिता, धर्मपरायणता विशेष कल्याणकारी है।

शूद्रका विशेष कर्तव्य है कि द्विजातिकी सेवा-शुश्रूषा करे। परम्परागत धर्मका पालन कर अपना जीवन-यापन करनेसे वह महान् कल्याणका भागी होता है।

चोरी न करना, झूठ न बोलना, शराब न पीना, जुआ न खेलना, वेश्यागमन न करना—ये सब साधारण धर्म हैं। कन्या एवं वरका परीक्षण कर विवाह करे। कन्या-विक्रय न करे। स्त्रियोंको पातिव्रत्य-धर्मका पालन करना इष्ट है। गृह-शुश्रूषा, पतिसेवा करते हुए स्वेच्छाचारितासे बचकर चलना तथा सीता-सावित्री आदि पतिव्रताओंका अनुसरण करना स्त्रियोंका परम धर्म है। सद्व्यवहार करनेसे सभी उसके अनुकूल रहते हैं। इसलिये दुःसाहसपूर्ण कोई भी कार्य न करे, ऐसा स्त्री-धर्म-प्रकरणमें कहा गया है।

उपर्युक्त सभी वर्ण यदि अपने-अपने वर्ण एवं आश्रमधर्मके अनुसार धर्म-कर्मका पालन करेंगे तो इससे भक्तिपूर्वक विष्णुकी आराधना कर सकेंगे। भगवान् भी प्रसन्न होंगे। सभीका कल्याण करेंगे। इस घोर कलिकालमें स्वधर्मकी रक्षा करते हुए जीवन-यापन करेंगे तो उनके कल्याणका मार्ग खुला है। फिर उनके लिये लोक-परलोककी कोई चिन्ता शेष नहीं रहती।

अश्वत्थं रोचनां गां च पूजयेद् यो नरः सदा॥
पूजितं च जगत् तेन सदेवासुरमानुषम्।
कल्य उत्थाय यो मर्त्यः स्पृशेद् गां वै घृतं दधि। सर्षपं च प्रियङ्गुं च कल्मषात् प्रतिमुच्यते॥

जो मनुष्य अश्वत्थ वृक्ष, गोरोचना और गौकी सदा पूजा करता है, उसके द्वारा देवताओं, असुरों और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण जगत्की पूजा हो जाती है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर गाय, घी, दही, सरसों और राईका स्पर्श करता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है। (महा०, अनु० १२६)

धर्मका स्वरूप और माहात्म्य

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशी सुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)

'धर्म वह है जो हमें सम्पूर्ण विनाश और अधोगतिसे बचाकर अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करे।' '**यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**' अतएव '**धारणाद्धर्मः**', '**धिन्वनाद्धर्मः**', '**धरति इति धर्मः**', '**ध्रियते अनेन इति धर्मः**'—धर्मकी ऐसी व्युत्पत्ति हैं। वेदोक्त सनातन धर्म ही अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद होनेसे उक्त लक्षणोंसे युक्त है। प्रवृत्ति-निवृत्तिके भेदसे यह वेदोक्त धर्म दो प्रकारका होता है—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः॥

(महाभा॰, शान्ति॰ २४१। ६)

ब्रह्मपुराण (२३६। ६) में भी यही बात शब्दान्तरसे कही गयी है। इसका अर्थ यह है कि प्रवृत्तिलक्षण धर्म और निवृत्तिके उद्देश्यसे प्रतिपादित धर्म, ये दो मार्ग हैं, जहाँ वेद प्रतिष्ठित है। प्रवृत्तिलक्षणधर्म 'कर्मयोग' नामसे अभिहित किया जाता है और निवृत्तिलक्षणधर्म 'सांख्ययोग' (ज्ञानयोग) के नामसे अभिहित किया जाता है। फलानुसंधानपूर्वक अनुष्ठित यज्ञ, दान, तप आदि रूप प्रवृत्तिलक्षणधर्मका फल लौकिक-पारलौकिक उत्कर्षरूप अभ्युदय है। फलाभिसंधिविनिर्मुक्त धर्मका फल भगवत्प्राप्ति और आत्मज्ञानके उपयुक्त अन्तःशुद्धि है।

पूर्वमीमांसाका प्रतिपाद्य धर्म है—'**अथातो धर्मजिज्ञासा।**' मीमांसादर्शनके अनुसार लौकिक एवं पारलौकिक उत्कर्षरूप अभ्युदयको देनेवाली क्रियामें प्रवर्तित करनेवाले शास्त्राचार्य-वचनका नाम चोदना (नोदना) है। चोदना ही धर्म है—'**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**' उक्त रीतिसे जो कुछ श्रेयस्कर हो वह धर्म है—

'**य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते**'

(विश्वकोषमें मीमांसा १। २ सू॰ भा॰)। उत्तरमीमांसाका प्रतिपाद्य ब्रह्म है—'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' (ब्र॰ सू॰ १। १। १) ब्रह्मज्ञानका फल निःश्रेयसकी प्राप्ति है, अतएव ब्रह्म निःश्रेयसप्रद है। यज्ञ, दान और तप आदि जहाँ जगत्के धारक तत्त्व होनेसे धर्म मान्य हैं, वहाँ ब्रह्म, प्रकृति आदि तत्त्व जगत्के धारक होनेसे धर्म मान्य हैं।

अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंमें उपकारक अद्रोह, अलोभ, बाह्येन्द्रियनिग्रह, प्राणिमात्रके प्रति दया, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य, करुणा, क्षमा और धैर्य—ये दस सनातनधर्मके दुर्लभ मूल हैं—

अद्रोहोऽप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः।
ब्रह्मचर्यं ततः सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम्॥

(मत्स्यपुराण)

प्रकारान्तरसे श्रीमनुने धृति (धैर्य, संतोष), क्षमा, दम (मनोनिग्रह), अस्तेय (अचौर्य), शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी (कर्तव्याकर्तव्यविवेक), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य और अक्रोध—इन दसोंको धर्म माना है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु॰ ६। ९२)

उक्त दशविध धर्मको अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रहरूप पञ्चविध धर्ममें श्रीमनुने सूत्रित किया है। ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके लिये इनका पालन अपेक्षित है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

(मनु॰ १०। ६३)

उक्त पञ्चविध और दशविध धर्मोंका विस्तार श्रीनारदने त्रिंशल्लक्षण (३०) धर्मोंके रूपमें किया है। सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनःसंयम, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शिता, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल उलटा ही होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंको अन्नादिका यथायोग्य विभाजन, पशु आदि प्राणियोंमें तथा विशेष करके मनुष्योंमें अपने आत्मा तथा इष्टदेवका भाव, संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी

सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य तथा आत्मसमर्पण—यह तीस प्रकारका आचरण मानवमात्रका परम धर्म है। इसके पालनसे सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न होते हैं—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ८—१२)

ध्यान रहे, उक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षणात्मक द्विविध वैदिक धर्मोंमें—आवागमनकी प्राप्ति अर्थात् प्रेयोपलब्धि प्रवृत्तिलक्षणधर्मका फल है और आवागमनकी निवृत्ति निवृत्तिलक्षणधर्मका फल है—

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्तेत प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। ४७)

इसी अभिप्रायसे वैशेषिक दर्शनके आचार्य महर्षि कणादने जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, उसे 'धर्म' माना है—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

(वै० द० १। २)

धर्मजिज्ञासुओंका यह दायित्व है कि वे अधर्म-त्यागकी भावनासे अधर्मका भी ज्ञान प्राप्त करें। उक्त अभिप्रायसे श्रीमद्भागवतमें अधर्मकी पाँच शाखाओंका वर्णन है। विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल—ये अधर्मकी पाँच शाखाएँ हैं। धर्मज्ञ पुरुषका यह दायित्व है कि वह अधर्मके तुल्य ही इनका भी त्याग कर दे। जिस कार्यको धर्मबुद्धिसे करनेपर भी अपने धर्ममें बाधा पड़े, वह 'विधर्म' है, किसी अन्यके द्वारा अन्य पुरुषके लिये उपदेश किया हुआ धर्म 'परधर्म' है। पाखण्ड या दम्भका नाम 'उपधर्म' अथवा उपमा है। शास्त्रके वचनोंका अन्य प्रकारका अर्थ कर देना 'छल' है। मनुष्य अपने आश्रमके विपरीत स्वेच्छासे जिसे धर्म मान लेता है, वह आभास है। अपने-अपने स्वभावके अनुरूप जो वर्णाश्रमोचित धर्म हैं वे भला किसे शान्ति नहीं देते—

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्॥
धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः॥
यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये॥

(भागवत ७। १५। १२-१४)

सहिष्णुता-अहिंसाके रक्षक देवता

एक संत अपने एक साथी साधकके साथ कहीं जा रहे थे। रास्तेमें एक मनुष्य मिला, जो झूठे दोष लगाकर साधकको गालियाँ बकने लगा। कुछ समयतक तो साधकने उसकी गालियोंको सहा, पर अन्तमें उत्तेजित होकर वह भी गालियाँ देने लगा। दोनोंको लड़ते देखकर संत आगे बढ़ गये कि अब ये दोनों आपसमें निबट लेंगे। कुछ देर बाद साधक दौड़कर संतके पास आ गया और बोला—'महाराज! आप मुझे वहाँ उस दुष्टके पास अकेला छोड़कर क्यों चले आये?' संतने कहा—'तुम अकेले कहाँ रहे, तुमने भी दुष्ट हिंसा तथा गालियोंको साथी बना लिया। तभी उसे गाली देने तथा मारनेकी धमकी देने लगे। तब मैंने समझा कि अब इसको मेरी जरूरत नहीं है। दूसरे, मैंने यह भी देखा कि जब वह आदमी तुमको बुरी-बुरी गालियाँ दे रहा था और तुम चुप थे, तब देवता तुम्हारी रक्षा कर रहे थे और उसका उत्तर भी ऐसा दे रहे थे, जिससे वह दबा जा रहा था। पर जब तुमने भी गाली बकना आरम्भ कर दिया, तब वे सब देवता हट गये और मैं भी चला आया।'

धर्मशास्त्रोंमें निरूपित चतुर्विध पुरुषार्थ

(जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीश्यामनारायणाचार्यजी)

विश्ववन्द्य श्रीगोस्वामीजी महाराजने अपने मानसमें मानव-शरीरको सभी साधनोंका धाम एवं मोक्षका द्वार बताया है। भोजन, निद्रा, भय तथा मैथुनका सेवन मनुष्य एवं पशुयोनि दोनोंमें समान है, किंतु मानवमें धर्म ही ऐसा तत्त्व है जो उसे पशुसे अलग करता है। अतः दुर्लभ मानव-जीवन प्राप्तकर हम पशुवत् जीवन न बितायें, बल्कि धर्मका आश्रय ग्रहणकर नरसे नारायण बननेकी सतत चेष्टा करते रहें। यह हमारे धर्मशास्त्रोंका मुख्य उपदेश है। किंतु यह बड़ी विडम्बना है कि मनुष्य धर्म-अधर्म, भला-बुरा, नफा-नुकसान सब कुछ जानते हुए भी गलत काम करने लग जाता है, इसीलिये सदैव दुःखी रहता है। अतः अपनी दैनिक क्रिया शास्त्रानुकूल बनानी चाहिये। मानव-जीवनका परम लक्ष्य है परम पुरुषार्थको प्राप्त करना, परंतु ऐसा बहुत ही कम लोग करते हैं। श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण आदिमें तथा मन्वादि धर्मशास्त्रोंमें पुरुषार्थ-चतुष्टयका भलीभाँति निरूपण किया गया है।

श्रीमद्भागवत जो भगवद्धर्मका महान् प्रतिपादक ग्रन्थ है, उसके चौथे स्कन्धमें ३१ अध्याय हैं, जिनमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूपसे पुरुषार्थ-चतुष्टयकी व्याख्या की गयी है। अतः चौथे स्कन्धके एकतीस अध्यायको चार भागोंमें बाँटा जा सकता है। जिनमें पहला प्रकरण धर्म, दूसरा अर्थ, तीसरा काम और चौथा प्रकरण मोक्षका है। धर्मप्रकरणमें सात अध्यायोंका निरूपण किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि सात प्रकारकी शुद्धि होनेपर ही धर्ममें सिद्धि मिलती है। वे सात हैं—देशशुद्धि, कालशुद्धि, मन्त्रशुद्धि, देहशुद्धि, विचारशुद्धि, इन्द्रियशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि।

अर्थप्रकरणमें पाँच अध्यायका निरूपण है। इसमें यह बताया गया है कि अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति पाँच साधनोंसे होती है—(१) माता-पिताका आशीर्वाद, (२) गुरु-कृपा, (३) उद्यम, (४) प्रारब्ध और (५) प्रभुकी कृपा। इसमें ध्रुवजीकी कथासे भलीभाँति ज्ञान मिलता है। पिता श्रीउत्तानपादकी गोदीसे छोटी माँ सुरुचि हाथ पकड़कर ध्रुवको उतार देती है, फिर भी उनकी माता श्रीसुनीतिदेवीके मनमें तनिक भी बुरे विचार नहीं आते। देवी सुनीति स्वयं अपने बालक ध्रुवको समझाती हैं—'बेटा! राजा तो तुम्हारे पिता हैं, उनकी बातोंपर ध्यान नहीं देना चाहिये। उन्होंने तो तुम्हारे कल्याणके लिये ही ऐसा किया है। इससे तुम्हें स्वयं परमपिता परमेश्वर एक दिन अवश्य मिलेंगे।' मातासे प्रेरित हो बालक ध्रुवने भगवद्दर्शनके लिये तपस्याका निश्चय किया।

जो प्रभुको प्राप्त करनेकी इच्छासे आगे चलता है, उसे मार्गमें संत स्वयं मिल जाते हैं। ध्रुवको भी देवर्षि नारदने दर्शन देकर कृतार्थ किया और अन्तमें उनपर प्रभु-कृपा बरस पड़ी। इस प्रकार ध्रुवके अभीष्ट-साधनमें पाँचों हेतु बने।

तीसरे कामप्रकरणमें ग्यारह अध्याय हैं। काम ग्यारह स्थानोंपर अपना अधिकार रखता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं मन। इन्हीं ग्यारह स्थानोंमें कामका वास रहता है। काम इन्द्रियोंसे चला भी जाय, परंतु मनसे जल्दी जाता नहीं।

मोक्षप्रकरणके आठ अध्याय हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(गीता ७। ४)

जो इस अष्टधा प्रकृतिको अपने वशमें रखता है, उसीका मोक्ष होता है। वास्तवमें प्रकृतिपर विजय पानेवालेको ही मुक्ति मिलती है। प्रकृतिका अर्थ है स्वभाव। जो स्वभावको सुधारता है, उसीका मोक्ष होता है। प्रकृतिके वशमें जो रहे वही जीव है तथा जिसके वशमें प्रकृति है वही ईश्वर है। स्वभावको जो वशमें रखता है, वह ईश्वर-जैसा ही है।

पुरुषार्थ-चतुष्टयमें प्रथम धर्म है तथा अन्तमें मोक्ष। अर्थात् धर्म और मोक्षके बीचमें जो अर्थ एवं कामका विवेकपूर्ण उपभोग करता है, वही सबसे बड़ा बुद्धिमान् है तथा वही मानव-जीवनके लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है। वही सफल जिज्ञासु है। इसके विपरीत जो दिन-रात अर्थ

एवं कामके पीछे दौड़ लगाते हैं, उनका धर्म एवं अन्तिम मोक्षका लक्ष्य भी निष्क्रिय हो जाता है, क्योंकि अर्थ एवं कामकी ऐसी मीठी मार है कि आदमी जीवनभर उनका उपभोग करते-करते स्वयंको कालके हवाले कर देता है तथा सदाके लिये चौरासीके चक्करमें फँस जाता है। इन चार पुरुषार्थोंमें पहले धर्मको ही बताया गया है। जो धर्मानुकूल आचरण करता है, उसकी रक्षा स्वयं धर्म करता है और जो धर्मको छोड़ता है, उसको धर्म भी छोड़ देता है।—

'धर्मो रक्षति रक्षितः'
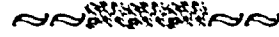
अतिथिदेवो भव

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'-के वेद-वाक्यको हृदयंगम कर उसमें परिगणित मानवके चूडान्त आदर्श **'अतिथिदेवो भव'** 'अतिथि देवस्वरूप है' के वास्तविक अर्थको समझना नितान्त आवश्यक है। संसारके किसी भी देशकी संस्कृतिमें ऐसी उदात्त भावना एवं सभ्यता परिलक्षित नहीं होती।

भारतीय मनीषियोंकी हजारों वर्षोंकी चिन्तन-साधनाका सर्वोत्कृष्ट रत्न है अतिथिको देव मानना। आतिथ्य-सत्कारकी सुदीर्घ परम्परा भारतीय सद्‌गृहस्थका धर्म बन गयी है। द्वारपर आये अतिथिका यथोचित स्वागत-सत्कार करना मानवीय प्रकृतिके भ्रातृभाव, सहृदयता और सौजन्य-जैसे उदात्त गुणोंका परिचायक है। आध्यात्मिक सजगता और सामाजिक दक्षता न केवल परस्पर अनुस्यूत हैं, अपितु एक-दूसरेकी पूरक भी हैं। अतः अतिथि-सत्कारका धर्म और कर्तव्यके रूपमें निर्वहन करना ही श्रेयस्कर है।

तैत्तिरीय उपनिषद्‌की भृगुवल्ली तो आतिथ्य-सत्कारको व्रतकी संज्ञा देती है। उपनिषद्‌का उपदेष्टा इसी आतिथ्य-सत्कार-व्रतकी सिद्धिके लिये गृहस्थको उद्बोधित करता है—

अन्नं बहु कुर्वीत। तद व्रतम्। न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद व्रतम्। (तै० उप० ३। ९, १०)

तात्पर्य यह है कि गृहागत अतिथिके सत्कारके लिये अन्नप्राप्ति-हेतु प्रयास करे। वह एक व्रत है। निवास-हेतु पधारे हुए किसी भी अतिथिको प्रतिकूल वचन न बोले, उसे निराश न करे। वह एक व्रत है।

महाभारतमें महात्मा विदुर अतिथिरूपमें आये भद्रपुरुषके आतिथ्यका क्रम समझाते हुए धृतराष्ट्रसे कहते हैं—

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः॥

(महा०, उद्यो० ३८। २)

राजन्! धीर पुरुषको चाहिये कि जब कोई सज्जन अतिथिके रूपमें घर आये तो पहले आसन देकर एवं जल लाकर उसके चरण पखारे, फिर उसकी कुशल पूछकर अपनी स्थिति बताये, तदनन्तर आवश्यकता समझकर उसे भोजन कराये।

भगवान् वेदव्यासने अतिथि-यज्ञकी व्याख्या करते हुए कहा है—'अतिथिको नेत्र दे (प्रेमभरी दृष्टिसे देखे), मन दे (हृदयसे उसका हित-चिन्तन करे) तथा मधुर वाणी प्रदान करे। जब वह प्रस्थान करे तो कुछ पग उसके साथ जाय और जबतक घर रहे, तबतक उसकी सेवामें निरत रहे। इस प्रकार पाँच प्रकारकी दक्षिणासे युक्त यह अतिथि-यज्ञ है—

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः॥

(महा०, वन० २। ६१)

और फिर गृहस्थके घरमें चाहे कितना भी अभाव हो, पर इन चार वस्तुओंका अभाव तो कभी होता ही नहीं है—आसनके लिये तृण, बैठनेको स्थान, जल और मधुर वाणी। महाभारतमें कहा गया है—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

(महा०, वन० २। ५४)

जो गृहस्थ अपरिचित, थके-माँदे पथिककी क्षुधा-तृप्ति कराता है, उसे महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है—

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत्॥

(महा०, वन० २। ६२)

रंतिदेवके द्वारा स्वयं भूखे रहकर भी अतिथि-सत्कारकी घटना ऐसा आदर्श है जो भारतीय संस्कृतिके साथ सदियोंसे जुड़ा है। उनचासवें दिन अतिथिके रूपमें आये दो व्यक्तियोंको भोजन करानेके बाद रंतिदेवका परिवार भूखा ही रह गया। केवल जल पीकर ही संतोष करनेवाले रंतिदेवके पास चाण्डालरूपमें आये श्रीहरिको जल दे देनेके पश्चात् अब तो वह भी नहीं था। उनके मुखसे सहसा कल्याण-भावनाके ये शब्द फूट पड़े—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'मुझे न अष्ट सिद्धियोंकी कामना है, न मोक्षकी। मैं तो भगवान्‌से यही कामना करता हूँ कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर भोक्ता बनकर उनका दुःख सहन करता रहूँ।'

धर्मराज युधिष्ठिरके पूछनेपर महर्षि नारद गृहस्थ-सम्बन्धी सदाचारका निरूपण करते हुए कहते हैं—'पुरुषार्थ-चतुष्टयके सम्पादनहेतु गृहस्थ अर्थ-संचय करे, परंतु मनुष्योंका अधिकार केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उसकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्तिको जो अपनी मानता है, वह चोर है और चोर तो दण्डका भागी है ही—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

वनवासकालमें काम्य-वनमें विचरण करते युधिष्ठिर तथा मार्कण्डेयका आतिथ्यधर्मके विषयमें किया गया वार्तालाप निःसंदेह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

न तथा हविषो होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः।
अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिभोजने॥
तस्मात् त्वं सर्वयत्नेन यतस्वातिथिभोजने।
पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम्॥
प्रयच्छन्ति तु ये राजन् नोपसर्पन्ति ते यमम्।

(महा०, वन० २००। २२—२४)

'कुन्तीनन्दन! अग्निदेवको जितना संतोष हविष्यका हवन करने तथा पुष्प और चन्दन चढ़ानेसे नहीं होता, उतना उन्हें किसी अतिथिको भोजन करानेसे होता है। इसलिये तुम्हें हर सम्भव प्रयासद्वारा अतिथिको भोजन कराना चाहिये। जो लोग अतिथिको चरण-प्रक्षालन-हेतु जल, पैरकी मालिशके लिये तेल, प्रकाश-हेतु दीपक, भोजनके लिये अन्न और आवास-हेतु स्थान देते हैं, वे कभी यमद्वार नहीं देखते।'

अतिथिके रूपमें शरणमें आये विभीषणके विषयमें जब श्रीराम अपने मन्त्रियोंसे सम्मति प्रकट करनेको कहते हैं तो सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान्, मैन्द तथा लक्ष्मण—प्रायः सभी विभीषणको शरण देनेका विरोध करते हैं, तब श्रीराम सभीको समझाते हुए उस कबूतरका उदाहरण देते हैं, जिसने व्याधका यथोचित आतिथ्य करते हुए अपने मांसका भोजन कराया था। उन्होंने कहा—

एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्॥

(वा० रा० यु० १८। ३१

शरणागतकी रक्षा न करनेमें महान् दोष है। शरणागतक त्याग स्वर्ग और सुयशकी प्राप्तिको मिटा देता है अ मनुष्यके बल तथा वीर्यका नाश करता है।

अतः सभीको यह चाहिये कि आतिथ्य-धर्मका पाल करते हुए समस्त प्राणियोंमें व्याप्त विश्वात्मा भगवान्क सेवाका पुण्य-फल प्राप्त करनेका संकल्प ग्रहण कर ले

धर्मकी महत्ता और आवश्यकता

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। यद्यपि विवेक प्राणिमात्रमें विद्यमान है, तथापि सत्-असत् और कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक मनुष्यशरीरमें ही है। यह विवेक व्यवहार और परमार्थमें, लोक और परलोकमें सब जगह काम आता है। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेशमें भगवान्ने सबसे पहले सत्-असत्, शरीरी-शरीरके विवेकका विवेचन किया (गीता २। ११—३०)। परंतु जिन मनुष्योंकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है और वैराग्य भी कम है, उनके लिये सत्-असत्के विवेकको समझना कठिन पड़ता है। इसलिये ऐसे मनुष्योंके लिये भगवान्ने कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन किया (गीता २। ३१—३८) और अकर्तव्यका त्याग करके कर्तव्यका अर्थात् धर्मका पालन करनेकी प्रेरणा की। कारण कि सत्-असत्के विवेकको महत्त्व देनेसे जो तत्त्व मिलता है, वही तत्त्व अपने कर्तव्यका अर्थात् स्वधर्मका पालन करनेसे भी मिल जाता है*।

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका निःस्वार्थभावसे पालन करनेका नाम 'स्वधर्म' है। कर्तव्य और धर्म—दोनों एक ही हैं। मनुष्यको परिस्थिति-रूपसे जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसका पालन करना भी मनुष्यका धर्म है। जैसे, कोई विद्यार्थी है तो तत्परतासे विद्या पढ़ना उसका धर्म है। कोई शिक्षक है तो विद्यार्थियोंको तत्परतासे पढ़ाना उसका धर्म है। कोई साधक है तो तत्परतासे साधन करना उसका धर्म है। जिसमें दूसरेके अहितका, अनिष्टका भाव होता है, वह चोरी, हिंसा आदि कर्म किसीके भी धर्म नहीं हैं; प्रत्युत कुधर्म अथवा अधर्म हैं।

मनुष्यमात्रका खास धर्म है—स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करना और किसीको कभी किंचिन्मात्र भी दुःख न देना। दूसरेका कर्तव्य देखना अथवा दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार करना भी किसीका कर्तव्य अर्थात् धर्म नहीं है। वास्तवमें धर्म वही है, जिससे अपना भी हित हो और दूसरेका भी हित हो, अभी (वर्तमानमें) भी हित हो और परिणाम (भविष्य)-में भी हित हो, लोकमें भी हित हो और परलोकमें भी हित हो—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिक० १। २)

अर्जुन क्षत्रिय थे; अतः क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

(गीता २। ३७)

'अगर युद्धमें तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्गकी प्राप्ति होगी और अगर युद्धमें तू जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा। अतः हे कुन्तीनन्दन! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा।'

तात्पर्य है कि अपने धर्मका पालन करनेसे लोक और परलोक दोनों सुधर जाते हैं अर्थात् लोकमें सुख-शान्ति हो जाती है, समाज सुखी हो जाता है और परलोकमें स्वर्गादि ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति होती है। यदि सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर अपने धर्मका पालन किया जाय तो मनुष्य पाप और पुण्य दोनोंसे ऊँचा उठकर जन्म-मरणसे मुक्ति पा लेता इसलिये भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको सम करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे (अ धर्मका पालन करनेसे) तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८

'हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको क

---

*सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५। ४-५)

क्योंकि समत्व ही योग कहलाता है।'

वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार सभी मनुष्योंका अपना-अपना धर्म (कर्तव्य) कल्याणकारक है। परंतु दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका धर्म देखनेसे उसकी अपेक्षा अपना धर्म कम गुणोंवाला दीख सकता है। जैसे ब्राह्मणके धर्म (शम, दम, तप, क्षमा आदि) की अपेक्षा क्षत्रियके धर्म (युद्ध आदि)-में अहिंसा आदि गुणोंकी कमी दीख सकती है। ऐसा दीखनेपर भी वास्तवमें अपना धर्म ही कल्याण करनेवाला है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

'अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणोंकी कमीवाला अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

जो धर्मकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है—'**धर्मो रक्षति रक्षितः**' (मनु० ८। १५)। अतः जो धर्मका पालन करता है, उसकी रक्षा अर्थात् कल्याणका भार धर्मपर और धर्मके उपदेष्टा भगवान्, वेदों, शास्त्रों, ऋषियों, मुनियों आदिपर होता है तथा उन्हींकी शक्तिसे उसका कल्याण होता है। जैसे, शास्त्रोंमें आया है कि पातिव्रतधर्मका पालन करनेसे स्त्रीका कल्याण हो जाता है तो वहाँ पातिव्रतधर्मकी आज्ञा देनेवाले भगवान्, वेद, शास्त्र आदिकी शक्तिसे ही कल्याण होता है, पतिकी शक्तिसे नहीं। पति चाहे कैसा ही हो, सदाचारी हो अथवा दुराचारी हो, तो भी पातिव्रतधर्मके कारण स्त्रीका कल्याण हो जाता है।

प्रायः लोग कर्मोंका आश्रय लिया करते हैं कि अमुक कर्म करके हम अमुक फलको प्राप्त कर लेंगे*। परंतु कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला फल नाशवान् होता है। कारण कि जब कर्मोंका भी आदि और अन्त होता है, तो फिर उसका फल अविनाशी कैसे होगा? अतः भगवान् कहते हैं कि कर्तव्य-कर्मका आश्रय न लेकर मेरा (भगवान्‌का) ही आश्रय लेना चाहिये—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।'

तात्पर्य है कि अपने धर्मका पालन तो अवश्य करना चाहिये, पर आश्रय धर्मका न लेकर भगवान्‌का ही लेना चाहिये। धर्मका पालन तो शरीरको लेकर होता है,पर भगवान्‌का आश्रय स्वयंको लेकर होता है। धर्मका निष्कामभावपूर्वक पालन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, पर भगवान्‌का आश्रय लेनेसे मोक्षके साथ-साथ परमप्रेमकी भी प्राप्ति होती है। मोक्षमें तो अखण्ड (एकरस) आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त (प्रतिक्षण वर्धमान) आनन्द है।

भगवान्‌ने मनुष्यको दूसरोंकी सेवाके लिये 'कर्म-सामग्री' दी है, असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद करके सत्-तत्त्वको जाननेके लिये 'विवेक' दिया है और अपने (भगवान्‌के) साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये 'प्रेम' दिया है। परंतु मनुष्य भगवान्‌की दी हुई सामग्रीका दुरुपयोग करके कर्म-सामग्रीको अपने सुखभोगमें लगा देता है, विवेकको दूसरोंका नाश करनेके उपायोंमें लगा देता है और प्रेमको संसारमें (आसक्ति-रूपसे) लगा देता है। इस प्रकार भगवान्‌से मिली हुई वस्तुका दुरुपयोग करनेसे अपना और दूसरोंका, सबका पतन होता है। इस पतनसे धर्म ही रक्षा कर सकता है। कारण कि धर्म ही मनुष्योंको अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंका हित करना सिखाता है। धर्म ही मनुष्योंको मर्यादामें रखता है, उनको उच्छृंखल नहीं होने देता। धर्म ही समाजमें संघर्षको मिटाकर शान्तिकी स्थापना करता है। धर्म ही मनुष्यमें मनुष्यता लाता है। धर्म (कर्तव्य)-का पालन करनेसे ही मनुष्य ऊँचा उठता है। यदि मनुष्य धर्मका त्याग कर दे तो वह पशुओंसे भी नीचा हो जायगा! इसलिये मनुष्यको किसी भी अवस्थामें अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतके अन्तमें भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं—

*काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ (गीता ४। १२)

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
(महा०, स्वर्गा० ५। ६३)

'कामनासे, धनसे , लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी अपने धर्मका त्याग न करे; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु (राग) अनित्य है।'

महाभारतमें धर्मका स्वरूप

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

भारतीय संस्कृतिके प्रतिपादक ग्रन्थोंमें 'महाभारत' की अनुपम प्रतिष्ठा है। यह एक उपजीव्य महाप्रबन्धात्मक काव्य होनेपर भी मूलतः 'इतिहास' संज्ञासे अभिहित किया जाता है—

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥
(महा०, आदिपर्व २। ३८५)

इसके प्रणेता महर्षि वेदव्यासने स्वयं इसे 'इतिहासोत्तम' बतलाया है, जिसका आश्रय लेकर कवि-प्रतिभा नूतन काव्योंकी—गीतिकाव्यों तथा महाकाव्योंकी और नवीन रूपकोंकी संघटनामें सफल हुई है। इतना ही नहीं, यह एक साथ एककालावच्छेदेन अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र है, जिसकी समता इस वैचित्र्यके कारण किसी भी अन्य ग्रन्थसे नहीं हो सकती। महाभारत अपनी इसी विशिष्टताके कारण अनुपमेय है—

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥
(आदिपर्व २। ३८३)

महाभारतका धर्मशास्त्रीय स्वरूप आख्यानादिकोंके साथ आज जो उपलब्ध है, वह भी नवीन निर्माण नहीं है। यह तो निश्चित है कि यह स्वरूप महाभारतके आदिमरूपमें- 'जय' नामक पाण्डवोंकी विजयगाथाके मूलतः वर्णनात्मक ग्रन्थमें वर्तमान नहीं था, क्योंकि शतसाहस्त्री-संहितामें ही आख्यानोंका अस्तित्व विद्यमान है, इसका प्रमाण महाभारतमें मिलता है—

इदं शतसहस्त्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्॥
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्।
(आदिपर्व १। १०१-१०२)

महाभारतमें आख्यानोंकी प्राचीनताका प्रमाण हमें कात्यायनके वार्तिक तथा पतञ्जलिके महाभाष्यसे भलीभाँति मिलता है। '**आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च**' (पाणिनिसूत्र ४। २। ६० पर कात्यायन वार्तिक)-के ऊपर अपने महाभाष्यमें पतञ्जलिने 'यवक्रीत', 'प्रियङ्गु' तथा 'ययाति' के आख्यानोंका उल्लेख किया है। इनमेंसे 'यवक्रीत' तथा 'ययाति' महाभारतमें क्रमशः वनपर्व (अ० १३५—१३८)-में तथा आदिपर्व (अ० ७६—८५)-में आज उपलब्ध होता है। फलतः इन आख्यानोंसे संवलित महाभारतका प्रणयन पतञ्जलिसे पूर्वकालमें निष्पन्न हो चुका था। इतना ही नहीं, आश्वलायन गृह्यसूत्रमें तर्पणके अवसरपर 'भारत' तथा 'महाभारत' दोनों ग्रन्थोंके धर्माचार्योंका पृथक्-पृथक् तर्पणविधानका निर्देश किया गया है—'**सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्या...तृप्यन्तु।**' फलतः महाभारतका धर्मशास्त्रीय रूप अत्यन्त प्राचीन है।

महाभारतमें धर्मकी व्यापक तथा विशद कल्पना की गयी है। इस विशाल विश्वके विभिन्न अवयवोंको एक सूत्रमें, एक शृंखलामें बाँधनेवाला जो सार्वभौम तत्त्व है, वही धर्म है। धर्मके विना प्रजाओंको एक सूत्रमें धारण करनेवाला तत्त्व दूसरा नहीं है। यदि धर्मका अस्तित्व इस जगत्‌में न होता तो यह जगत् कबका विशृंखल होकर छिन्न-भिन्न हो गया होता। युधिष्ठिरके धर्मविषयक प्रश्नके

उत्तरमें भीष्मपितामहका यह सर्वप्रथम कथन धर्मकी महनीयता तथा व्यापकताका स्पष्ट संकेत देता है—

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया॥

(शान्तिपर्व १७४। २)

इस महत्त्वपूर्ण श्लोकका आशय यह है कि सब आश्रमोंमें वेदके द्वारा धर्मका विधान किया गया है जो वस्तुतः अदृष्ट फल देनेवाला होता है। सद्वस्तुके आलोचन (तपः)-का फल मरणसे पूर्व ही प्राणीको प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञान-दृष्ट फल होता है। धर्मके द्वार बहुत-से हैं, जिनके द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति करता है। धर्मकी कोई भी क्रिया विफल नहीं होती—धर्मका कोई भी अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता। अतः धर्मका आचरण सर्वथा श्लाघनीय है।

परंतु सांसारिक स्थिति श्रद्धालुजनोंके हृदयमें भी श्रद्धाका उन्मूलन करती है। वनवासमें युधिष्ठिरको अपनी दुरवस्थापर, अपनी दीन-हीन दशापर, बड़ा ही क्षोभ उत्पन्न हुआ था। अपनी स्थितिका परिचय देकर वे लोमश ऋषिसे धर्मकी जिज्ञासा करते हुए दीख पड़ते हैं। वे पूछते हैं—'भगवन्! मेरा जीवन अधार्मिक नहीं कहा जा सकता, तथापि मैं निरन्तर दुःखोंसे प्रताड़ित होता रहा हूँ। धर्म करनेपर भी इतना दुःखका उदय? और उधर अधर्मका सेवन करनेवाले सुख-समृद्धिके इतने भाजन? इसका क्या कारण है?' इसके उत्तरमें धर्मकी महत्ता प्रतिपादित करनेवाले लोमश ऋषिके ये वचन ध्यातव्य हैं—

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(वनपर्व ९४। ४)

अधर्मके आचरणसे मनुष्यकी वृद्धि जो दीख पड़ती है, वह स्थायी न होकर क्षणिक ही होती है। मनुष्य अधर्मसे बढ़ता है, उसके बाद कल्याणको देखता है। वह शत्रुओंको भी जीतता है, परंतु अन्तमें वह समूल नष्ट हो जाता है। अधार्मिक स्वयं ही नष्ट नहीं होता, प्रत्युत अपने पुत्र-पौत्रादिकोंके साथ ही सर्वदाके लिये नष्ट हो जाता है।

मानव-जीवनका स्वारस्य धर्मके आचरणमें है—जो सकामभावसे सम्पादित होनेपर ऐहिक फलोंको देता है और निष्कामभावसे आदृत होनेपर आमुष्मिक फल—मोक्षकी उपलब्धि कराता है। फलतः महान् फलको देनेवाले, परंतु धर्मसे विहीन, कर्मका सम्पादन मेधावी पुरुष कभी न करे, क्योंकि ऐसा आचरण कथमपि हितकारक नहीं माना जा सकता—

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते॥

(शान्तिपर्व अ० २९३। ८)

इस धर्मका साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत, व्यापक तथा सार्वभौम होता है। इसके द्वार अनेकत्र परिदृष्ट होते हैं। यदि किसी सभामें न्यायके लिये व्यक्ति उपस्थित हो और उस सभाके सभासद् उसके वचनोंकी उपेक्षा कर न्याय करनेके लिये उद्यत नहीं होते तो उस समय व्यासजीकी दृष्टिमें धर्मको महती पीड़ा पहुँचती है। ऐसे दो प्रसंग महाभारतमें बड़े ही महत्त्वके तथा आकर्षक हैं—सभापर्व (अ० ६८)-में द्रौपदीके चीरहरणके अवसरपर विदुरका वचन तथा उद्योगपर्व (अ० ९५)-में कौरव-सभामें दौत्यके अवसरपर श्रीकृष्णका वचन। विदुरका यह वचन कितना मार्मिक है—

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति ह्यनाथवत्।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते॥

(सभापर्व ६८। ५९)

किसी राजसभामें आर्त व्यक्ति, जो दुःखोंसे प्रताड़ित होकर न्याय माँगनेके लिये जाता है, जलते हुए आगके समान होता है। उस समय सभासदोंका यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे सत्य धर्मके द्वारा उस प्रज्वलित आगको शान्त करें। यदि अधर्मसे विद्ध होकर व्यक्ति धर्मसभामें उपस्थित हो तो सभासदोंका यह धर्म होता है कि वे उस काँटेको काटकर निकाल बाहर करें। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उस सभाके वे सदस्य स्वयं ही अधर्मसे विद्ध हो जाते हैं। ऐसे समयके पापका विभाजन भी महाभारतकी सूक्ष्म धार्मिक भावनाका पर्याप्त अभिव्यञ्जक है। महाभारतका कथन है कि 'जिस सभामें निन्दित व्यक्तिकी निन्दा नहीं की जाती, वहाँ उस सभाका श्रेष्ठ पुरुष आधे पापको स्वयं लेता है, करनेवालेको चौथाई पाप मिलता है और चौथाई पाप

सभासदोंको प्राप्त होता है।' (सभापर्व अ० ६८)

यही विवेचन उद्योगपर्वमें भी दृष्टिगोचर होता है, जब श्रीकृष्ण धृतराष्ट्रकी सभामें संधि करानेके उद्देश्यसे स्वयं दौत्यकर्म स्वीकारते हैं। सभापर्व अ० ६८का '**विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण**' *यह श्लोक यहाँ भी उद्धृत किया गया है। (अ० ९५, श्लोक ४९)*

इस श्लोकसे पीछे तथा आगे भी दो श्लोक नितान्त मार्मिक तथा तथ्य-प्रतिपादक हैं, जिनमेंसे प्रथम श्लोकका तात्पर्य यह है कि जहाँ सभासदोंके देखते हुए भी धर्म अधर्मके द्वारा और सत्य असत्यके द्वारा मारा जाता है, वहाँ सभासदोंकी हत्या जाननी चाहिये—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च॥
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः।

(उद्योगपर्व ९५। ४८-४९)

द्वितीय श्लोकका भी आशय इसीसे मिलता-जुलता है कि जो सभासद् अधर्मको देखते हुए भी चुपचाप बैठे रहते हैं और उस अन्याय या अधर्मका प्रतिकार नहीं करते, उन्हें वह धर्म उसी भाँति तोड़ डालता है जिस प्रकार नदी किनारेपर उगनेवाले पेड़ोंको अपने वेगसे तोड़कर गिरा डालती है—

धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्॥
ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते।

(उद्योगपर्व ९५। ५०-५१)

विराटपर्वमें भी ऐसा ही प्रसंग तब उपस्थित होता है, जब द्रौपदीके साथ किये गये कीचकके दुष्कृत्योंपर राजा विराट ध्यान नहीं देता तथा उसे अन्यायके रास्तेसे रोकनेका प्रयत्न नहीं करता। सैरंध्री नामसे महारानीकी परिचर्या करनेवाली अपमानिता द्रौपदी भरी सभामें विराटको चुनौती देती हुई कहती है—

न राजा राजवत् किंचित् समाचरति कीचके।
दस्यूनामिव धर्मस्ते न हि संसदि शोभते॥

(विराटपर्व १६। ३१)

'राजाका धर्म *अन्यायीको* दण्ड देना है, परंतु तुम राजा होकर भी कीचकके प्रति राजवत्—राजाके समान कुछ भी नहीं करते हो। यह तो डाकुओंका धर्म है। सभामें यह तुम्हें कथमपि शोभा नहीं देता।' कितनी उग्र है यह भर्त्सना। कीचक परस्त्रीके साथ जघन्य अत्याचार करनेपर तैयार है। ऐसी दशामें राजा विराटको (जिसकी सेनाका वह अधिपति है उसे) उचित दण्ड देना सर्वथा न्यायसंगत है। इस न्यायसे पराङ्मुख होनेवाले राजाका धर्म डाकुओंका धर्म है।

महाभारतका समय बौद्धधर्म तथा ब्राह्मणधर्मके उत्कट संघर्षका युग था। बौद्धधर्म अपने नास्तिक विचारोंके कारण जनसाधारणका प्रिय पात्र बना हुआ था। उस युगमें ऐसे *व्यक्ति जिन्हें अभीतक मूँछ भी नहीं जमी थी* घर-द्वारसे नाता तोड़, माता-पिता तथा गुरु-बन्धुओंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर संन्यासीका बाना पहन जंगलमें तपस्या करने लगे थे—

केचिद् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः॥
धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत॥

(शान्तिपर्व ११। २-३)

महाभारतके प्रणेताके सामने यह समाज-ध्वंसकी अनिष्टकारी प्रथा अपना कराल मुख खोलकर खड़ी थी। विकट समस्या थी समाजको इन विनाशकारी प्रवृत्तियोंसे बचानेकी। शान्तिपर्वके प्रारम्भमें इस संघर्षकी भीषणताका पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है। युधिष्ठिर *यहाँ वर्णाश्रम धर्मकी अवहेलना* कर निवृत्तिमार्गके पथिकके रूपमें चित्रित किये गये हैं। वे अरण्य-निवासके प्राकृतिक सौख्य, सुषमा तथा स्वच्छन्दताका वर्णन बड़ी *मार्मिकता तथा युक्तिके सहारे करते हैं।* इस प्रसंगमें उनके वचन मञ्जुल तथा हृदयावर्जक हैं (शान्तिपर्व अ० ९)। मेरी दृष्टिमें महाभारत-युद्धमें भूयसी नरहत्यासे विषण्णचित्त युधिष्ठिर मानवके शाश्वत मूल्योंकी अवहेलना कर संन्यास-जीवनके प्रति *अत्यासक्तिके* कारण बौद्ध भिक्षुका प्रतिनिधित्व करते हैं और यदि उन्हें अपने चारों अनुजोंके, श्रीकृष्ण तथा व्यासदेवके स्वस्थ उपदेश-वर्णाश्रमधर्मके समुचित पालनके विषयमें उचित समयपर नहीं मिलते, तो वे भी वही कार्य कर बैठते जो उनके शताब्दियों पीछे कलिङ्ग-विजयमें सम्पन्न नरसंहारसे ऊबकर सम्राट् अशोकने किया था। मनुस्मृतिमें भी इस संघर्ष तथा विरोधकी हल्की झलक हमें हठात् इन शब्दोंमें मिलती है—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥

(मनु० ६। ३७)

ऋणत्रयकी कल्पना

ऋणत्रयकी कल्पना वैदिक आचारकी पीठस्थली है। अपने ऋषियों, पितरों तथा देवोंके ऋणोंका वेदाध्यापन, पुत्रोत्पादन तथा यज्ञविधानके द्वारा बिना निष्क्रय—सम्पादन किये संन्यासका ग्रहण विडम्बना है, धर्मके नितान्त प्रतिकूल है। इसीलिये मानव-जीवनके लिये महाभारतका आदर्श है—वर्णाश्रमधर्मका विधिवत् पालन। अन्य तीन आश्रमोंका निर्वाह करनेके कारण गृहस्थ-धर्म ही हमारा परम ध्येय है। इसका उपदेश महाभारतमें नाना प्रकारोंसे, नाना प्रसंगोंमें किया गया है, जिनमेंसे एक दो प्रसंग ही यहाँ संकेतित किये जाते हैं। इन विशिष्ट धर्मोंके अतिरिक्त महाभारतमें सामान्य धर्मका सर्वस्व इस प्रख्यात पद्यमें निर्दिष्ट है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अपने लिये जो वस्तु प्रतिकूल हो वह दूसरोंके लिये कभी न करनी चाहिये—धर्मका यह मौलिक तत्त्व महाभारतकी दृष्टिमें धर्मका सर्वस्व (समस्त धन) है और इसे ऐसा होना भी चाहिये। कारण यह कि जगत्‌के बीच सबसे प्रिय वस्तु तो आत्मा ही है। उसी आत्माकी कामनासे ही जगत्‌की वस्तुएँ प्यारी लगती हैं—स्वतः उन वस्तुओंका अपना कुछ भी मूल्य नहीं है—**'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** इस आत्मतत्त्वकी कसौटीपर कसनेसे इस उपदेशसे बढ़कर धर्मका अन्य उपदेश क्या हो सकता है? इस लक्षणका निर्देश निषेधमुखेन किया जाना भी अपना महत्त्व रखता है। अपने प्रतिकूल वस्तुओंका आचरण तो दूसरोंके साथ कथमपि कदापि होना ही नहीं चाहिये। बाइबिलमें क्राइस्टका उपदेश भी इन्हीं शब्दोंमें है। इसी तथ्यका प्रतिपादन महाभारतमें अन्य शब्दोंमें भी उपलब्ध होता है—

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथा युक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥

(महा०, शान्ति० २९०। २४)

दूसरे व्यक्तियोंके जिस कार्यकी हम निन्दा किया करते हैं, उसे हमें कभी स्वयं नहीं करना चाहिये। इस कथनके भीतर जनजीवनको उदात्तपथपर ले चलनेका बड़ा ही गम्भीर तत्त्व अन्तर्निहित है। समाजके प्राणी धर्मके इन सामान्य नियमोंका जितना ही समादर अपने जीवनमें करते हैं, उतना ही महत्त्वशाली वह समाज होता है—इस विषयमें दो मत नहीं हैं।

शान्तिपर्वके ११ वें अध्यायमें अर्जुनने प्राचीन इतिहासके रूपमें तापस शक्रके जिस संवादका उल्लेख किया है, वह इस प्रसंगमें अवश्यमेव अवधार्य है। अजातश्मश्रु बाल-संन्यासियोंकी टोलीके सामने शक्रने 'विघसाशी' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 'विघसाशी' का फलितार्थ है—गृहस्थ। जो सायं-प्रातः अपने कुटुम्बियोंको अन्नका विभाजन करता है, अतिथि, देव, पितृ तथा स्वजनको देनेके बाद अवशिष्ट अन्नको स्वयं ग्रहण करता है वही 'विघसाशी' के महत्त्वपूर्ण अभिधानसे वाच्य होता है (विघस=पञ्चमहायज्ञोंका अवशिष्ट अन्न, आशी=भोक्ता)—

सायंप्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि।
दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः॥

(शान्तिपर्व ११। २३-२४)

फलतः पञ्चमहायज्ञोंका विधिवत् अनुष्ठाता गृहस्थ ही सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ माना गया है। असामयिक वैराग्यसे उद्विग्नचित्त युधिष्ठिरकी, गृहस्थाश्रमको छोड़कर असमयमें निवृत्तिमार्गके पथिक होनेके कारण नकुलने गहरी भर्त्सना की है। उनके ये वाक्य बड़े ही महत्त्वके हैं—'हे प्रभुवर युधिष्ठिर! महायज्ञोंका बिना सम्पादन किये, पितरोंका श्राद्ध यथार्थतः बिना किये तथा तीर्थोंमें बिना स्नान किये यदि प्रव्रज्या लेना चाहते हैं तो आप उस मेघखण्डके समान विनष्ट हो जायँगे, जो वायुके झोंकेसे प्रेरित किया जाता है। वह व्यक्ति तो **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** के अनुसार दोनों लोकोंसे भ्रष्ट होकर अन्तरालमें ही झूला करता है, फलतः पूर्वोक्त कर्मोंका अनुष्ठान किये बिना संन्यासका सेवन अति निन्दनीय कर्म है—

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम्।
तीर्थेष्वनभिसम्प्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम्।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः॥

(शान्तिपर्व १२। ३३-३४)

[क्रमशः]
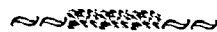
धर्म और परम धर्म

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

(श्रीमद्भा० ६। १। ४०)

'वेदोंमें जिन कर्मोंका विधान है, वे धर्म हैं और उनके विपरीत कर्म अधर्म हैं। वेद स्वयंप्रकाश साक्षात् नारायणके स्वरूप हैं, ऐसा हमने सुना है।'

यह बात यमराजके दूतोंने विष्णुदूतोंसे कही। जो जीवके कर्मोंका निर्णय करके उसे शुभ अथवा अशुभ गति देनेवाले हैं, उन धर्मराजके दूतोंसे अधिक धर्मको कौन समझ सकता है। धर्मके सम्बन्धमें उनका निर्णय भ्रान्तिहीन होना ही चाहिये।

किंतु उस दिन धर्म और परम धर्मका संघर्ष हो गया था। माता-पिता तथा साध्वी पत्नीकी उपेक्षा करके कुलटा दासीको पत्नी बनाकर रख लेनेवाला तथा उस दासीके भरण-पोषणमें न्याय-अन्याय न देखकर जीवनभर अर्थोपार्जन करनेवाला पापी अजामिल मरणासन्न था। उसने मरते समय घबराहटमें दूर खेलते अपने छोटे पुत्रको उच्चस्वरसे पुकार लिया था। यह भिन्न बात है कि उस छोटे पुत्रका नाम 'नारायण' था।

अजामिलको लेने यमदूत आये थे। पापीको लेने जब यमराजके दूत आते हैं, बड़ी भयंकर आकृति होती है उनकी। अजामिल कोई पुण्यात्मा तो था नहीं कि वे सौम्य, सुन्दर, विनम्र बनकर आते। उन्होंने अजामिलके सूक्ष्मदेहको पाशमें बाँध लिया था, लेकिन इतनेमें भगवान् विष्णुके पार्षद यमदूतोंपर टूट पड़े। पाश उन्होंने काट फेंका। बलपूर्वक धक्के देकर यमदूतोंको अजामिलके सूक्ष्मदेहसे दूर हटा दिया।

'आप सब कौन हैं?' यह देखकर कि इन अद्भुत तेजस्वी लोगोंसे वे जीत नहीं सकते, यमदूत नम्रतासे बोले—'हम तो धर्मराजके सेवक हैं और यहाँ अपना कर्तव्यपालन करने आये हैं। आप सब तेजस्वी हैं, धर्मज्ञ हैं, फिर धर्मराजके हम सेवकोंके कार्यमें बाधा क्यों देते हैं?'

'तुमलोग धर्मराजके सेवक हो?' विष्णुपार्षद ऐसे बोले जैसे पहचानते ही न हों—'धर्मका तत्त्व हमें बतलाओ। धर्मका लक्षण क्या है? दण्डपात्र कौन होता है?'

धर्मराजके सेवकोंने सीधा मार्ग लिया। उन्होंने **'चोदनालक्षणो धर्मः'**—'वेद-विहित आज्ञाका पालन धर्म है' यह कह दिया। जो धर्मका पालन न करके अधर्माचरण करे, उसका अन्तःकरण मलिन हो जाता है। दयामय भगवान्‌की व्यवस्थामें दण्ड नामकी कोई वस्तु नहीं है, लेकिन अधर्मके मलको दूर करके जीवको स्वच्छ तो करना ही चाहिये। अतः पापी जीवको यमलोक ले जाया जाता है—

यत्र दण्डेन शुध्यति।

यमराजका दण्ड-विधान पापीकी शुद्धिके लिये है। वह अपराधका कोई प्रतिशोध नहीं है और न क्रोध अथवा बदलेकी भावनासे दिया जाता है। लेकिन इस दण्डके भागी तो सब होते हैं, क्योंकि—

'देहवान् न ह्यकर्मकृत्'

कोई देहधारी तो कर्म किये बिना रह नहीं सकता। कर्म करेगा तो—

सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः।
कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति०

(श्रीमद्भा० ६। १। ४४)

मनुष्य त्रिगुणोंमें आसक्त है। अतएव उससे पुण्य भी होते हैं, पाप भी होते हैं। अतएव—

सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः॥

(श्रीमद्भा० ६। १। ४३)

कर्म करनेवालेको कर्मका मल लगेगा ही। कर्मासक्त

सभी लोग कर्मके अनुसार दण्ड पाते हैं।

कर्मके साक्षी

सूर्योऽग्निः खं मरुद्गावः सोमः संध्याहनी दिशः।
कं कुः कालो धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः॥
(श्रीमद्भा० ६। १। ४२)

'सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियाँ, चन्द्रमा, संध्या, रात-दिन, दिशाएँ, जल, पृथ्वी, काल और धर्म—ये देहधारीके कर्म-साक्षी हैं।'

सूर्य रात्रिमें नहीं रहता और चन्द्रमा दिनमें नहीं रहता, प्रज्वलित अग्नि भी सामने न हो, यह सम्भव है, किंतु रात-दिन अथवा संध्याका समय तो होगा ही। दिशाएँ होंगी। आकाश, वायु, पृथ्वी, जलको छोड़कर आप कहाँ चले जायँगे? आपकी अपनी इन्द्रियाँ, काल तथा धर्म तो शून्याकाशमें घूमते 'राकेट' में भी आपके साथ रहेंगे। आपके कर्मोंके इतने साक्षी हैं। देहधारीके अधर्म करनेपर इनपर प्रभाव पड़ता है।

आजके अनास्था-भरे युगमें सूर्य, चन्द्र तथा अग्निकी उपासना लोगोंकी समझमें नहीं आती। अन्यथा इनके अधिदेवता हैं और वे प्रसन्न-अप्रसन्न होते हैं। इनकी पूजा-विधि है शास्त्रमें। इसी प्रकार आकाश, वायु, संध्या, दिन, रात्रि, जल, पृथ्वी एवं कालके भी अधिदेवता हैं। धर्म साक्षात् देवता हैं और प्रत्येक इन्द्रियके पृथक्-पृथक् देवता हैं।

कोई भी कर्म इन्द्रिय-चेष्टाद्वारा होगा, किसी कालमें होगा, उस कर्मका प्रभाव पञ्चमहाभूतोंपर तथा ग्रह-नक्षत्रोंपर भी पड़ेगा। धर्मदेव उसके साक्षी हैं ही। इस प्रकार ये साक्षी जब अधर्मकी सूचना देते हैं, तब देही दण्डपात्र निश्चित होता है।

धर्मसे प्राप्त होनेवाली गतियाँ

यमदूतोंने सामान्य धर्मकी यह बात बतलायी थी। उनका अधिकार-क्षेत्र सामान्य कर्तातक ही है। कर्मके विशेष कर्ता, योगी, ज्ञानी आदि उनके शासन-क्षेत्रमें नहीं हैं। अतएव उन लोगोंकी गतिकी चर्चा उन्होंने नहीं की। *यहाँ संक्षिप्तरूपसे उन गतियोंका उल्लेख किया जा रहा है—*

साधारण कर्ता—पुण्यात्मा हुआ तो धर्मराजके दूत सौम्यरूपमें आकर उसे यमलोक ले जायँगे। वहाँसे वह अपने पुण्यकर्मोंके अनुसार स्वर्गादि उच्च लोकोंमें जायगा। गन्धर्वलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतक पुण्यकर्मीकी गति है। पुण्यभोग समाप्त होनेपर उसे पृथ्वीपर जन्म लेना पड़ता है।

यदि वह पापकर्मा है तो उसे यमदूत भयानक वेशमें मिलते हैं। मार्गमें भी उसे असह्य क्लेश होता है। यमराज उसे भयंकर वेशमें दीखते हैं। उसे नरकोंमें डाला जाता है। पापके उत्कट भोग समाप्त होनेपर उसे पृथ्वीपर कर्मानुसार वृक्ष अथवा कीटादि तिर्यक्-योनियोंमें पहले जन्म मिलता है।

मनुष्य एक दिन एक मुहूर्तमें ऐसे पुण्य या पाप कर सकता है—करता है कि उसका भोग सहस्र वर्षमें भी पूर्ण न हो। पृथ्वीपर जो देह हैं, उनमें एक सीमातक ही दुःख या सुख भोगनेकी क्षमता है। जो पुण्य या पाप पृथ्वीके किसी देहमें भोगने सम्भव नहीं, उनका फल स्वर्ग या नरक आदिमें जीव भोगता है। पाप अथवा पुण्य जब इतने रह जायँ कि पृथ्वीपर उनका भोग सम्भव हो, तब वह पृथ्वीपर किसी देहमें जन्म लेता है।

पितृलोक—यह एक प्रकारका प्रतीक्षा-लोक है। एक जीवको पृथ्वीपर अमुक माता-पितासे जन्म लेना है, अमुक भाई-बहिन, पत्नी पाना है। अमुक लोगोंके द्वारा उसे सुख या दुःख मिलना है। वे सब जीव भिन्न-भिन्न कर्म करके स्वर्ग या नरकमें हैं। जबतक वे सब भी पृथ्वीपर इस जीवके अनुकूल योनिमें जन्म लेनेकी स्थितिमें न आ जायँ, इसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। पितृलोक इस प्रकार प्रतीक्षा-लोक है।

प्रेतलोक—अनेक बार मनुष्य पृथ्वीके किसी बहुत प्रबल राग, द्वेष, लोभ या मोहका आकर्षण लिये देह छोड़ता है; क्योंकि मनुष्यको अन्तिम इच्छाके अनुसार गति प्राप्त हो, यह नियम है, अतः वह मृत पुरुष वायवीय देह पाकर अपने राग-द्वेषके बन्धनसे बँधा उस राग-द्वेषके कारणके आस-पास भटकता रहता है। यह बड़ी यातनाभरी योनि है। इससे छुटकारेके उपाय शास्त्रोंमें अनेक कहे गये हैं।

विशेष कर्ता—उत्कट पुण्यकर्मा, तीव्र तापस तथा

योगी यमलोक नहीं जाते। इनकी दो गतियाँ हैं। गीतामें शुक्ल तथा कृष्णमार्ग कहकर इन गतियोंका वर्णन है। इनमेंसे जिनमें वासना शेष है, वे धूम्र, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके देवताओंद्वारा ले जाये जाते हैं। ऊर्ध्वलोकमें अपने पुण्य भोगकर ये फिर पृथ्वीपर जन्म लेते हैं। जिनमें वासना शेष नहीं है, वे अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायणके देवताओंद्वारा ले जाये जाते हैं। वे फिर पृथ्वीपर जन्म लेने नहीं लौटते।

सती नारियाँ, धर्मयुद्धमें मारे गये क्षत्रिय तथा उत्तरायणके शुक्ल-मार्गसे जानेवाले योगी सूर्यमण्डल भेदकर मुक्त हो जाते हैं।

ब्रह्मलोकमें दो प्रकारके पुरुष पहुँचते हैं। एक यज्ञ-तप आदि करनेवाले पुण्यात्मा। ये लोग ब्रह्माकी आयुतक वहाँ सुख भोगते हैं। प्रलयके समय ब्रह्माजीमें लीन रहते हैं, किंतु अगली सृष्टिमें जन्म लेते हैं। दूसरे वे योगी अथवा ज्ञानी, जिनके कर्मभोग समाप्त हो चुके हैं—जो शुद्धान्तःकरण हैं। प्रलयसे पूर्व ब्रह्माजी उन्हें तत्त्व-ज्ञानका उपदेश कर देते हैं। इससे वे मुक्त हो जाते हैं। आगामी सृष्टिमें वे जन्म नहीं लेते।

मुक्त पुरुष—तत्त्वज्ञानी पुरुष ज्ञान-समकाल मुक्त हो जाते हैं। उनका आवागमन नहीं होता। उनके विषयमें श्रुतिने कहा है—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। तत्रैव प्रविलीयन्ते।

उसके प्राण कहीं निकलकर जाते नहीं। वहीं सर्वात्मामें लीन हो जाते हैं।

भक्त अपने आराध्यके लोकमें जाते हैं। भगवान्के लोकमें कुछ भी बनकर रहना सालोक्य-मुक्ति है। भगवान्के समान ऐश्वर्य प्राप्त करना सार्ष्टि-मुक्ति है। भगवान्के समान रूप पाकर वहाँ रहना सारूप्य-मुक्ति है। भगवान्के आभूषणादि बनकर रहना सामीप्य-मुक्ति है। भगवान्के श्रीविग्रहमें मिल जाना सायुज्य-मुक्ति है।

भगवद्धाम-प्राप्त भक्त भगवान्की इच्छासे उनके साथ या पृथक् भी संसारमें दिव्य जन्म ले सकता है, वह कर्मबन्धमें बँधा नहीं होता। भगवत्कार्य सम्पन्न करके वह पुनः भगवद्धाम चला जाता है।

परम धर्म

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान् नार्हति यातनाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। २। १४-१५)

'संकेतमें (इशारेसे या दूसरे अभिप्रायसे), हँसीमें, तान लेनेमें, अवहेलनापूर्वक भी कोई भगवन्नाम ले ले तो वह नामोच्चारण उसके समस्त पापोंको दूर करनेवाला होता है, यह बात महापुरुष जानते हैं। गिरते समय, पैर फिसलनेपर, अङ्ग टूटनेपर, जलनेपर, चोट लगनेपर विवशतासे भी 'हरि' यह भगवन्नाम लेनेवाला यमयातनाका पात्र नहीं है।'

विष्णुदूतोंने यमदूतोंको परम धर्मका यह विचित्र प्रभाव सुनाया। जिनके कार्यक्षेत्रमें केवल सामान्य कर्ता ही आते हैं, उन यमदूतोंको पता ही नहीं था कि अजामिलने पुत्रको पुकारनेके लिये जो 'नारायण' यह भगवन्नाम लिया, वह नामाभास भी उसे यमयातनासे मुक्ति दिलानेवाला है।

मनुष्य बिना कर्म किये नहीं रह सकता, कर्म करेगा तो पाप-पुण्य दोनों होंगे। यह बात ठीक है, लेकिन क्रिया स्वयं जड है। कर्ताकी श्रद्धाके अनुसार कर्मका निर्णय होता है। कर्ता यदि सर्वत्र भगवान्को देखकर, भगवदाज्ञा-पालनके लिये, भगवत्सेवाके लिये, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करता है तो वह कर्म करते हुए भी अकर्मा है। उसके कर्म उसे मायाके बन्धनमें नहीं ले जाते। वे तो उसे भगवान्के समीप रखते हैं। वह तो संसारमें रहते हुए भी नित्यमुक्त है।

भगवान्के नाम, गुण, लीला, स्वरूपका चिन्तन, मनन, श्रवण, कथन करनेवाला नित्य भगवान्के सांनिध्यमें है। इस प्रकार नवधा भक्तिका प्रत्येक अङ्ग परम धर्म है और उसका आचरण—सेवन करनेवाला परम तत्त्व श्रीभगवान्को प्राप्त करता है।

धर्मदेवताका परिचय

[संक्षिप्त जीवनवृत्त]

वेद-पुराणोंमें धर्मको ही सर्वलोक-सुखावह कहा गया है। ये यमराजसे सर्वथा पृथक् हैं; क्योंकि यमराज सूर्यपुत्र हैं। सूर्य कश्यपके, कश्यप मरीचिके और मरीचि ब्रह्माके पुत्र हैं, किंतु धर्म तो साक्षात् ब्रह्माके ही मानसपुत्र हैं। मत्स्यपुराण (३। १०) तथा महाभारत, आदिपर्व (६६। ३१)-के अनुसार इनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके दाहिने स्तनसे हुई थी—

स्तनं तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः।
निःसृतो भगवान् धर्मः सर्वलोकसुखावहः॥

इनका वर्ण श्वेत है। इनके वस्त्र, कुण्डल, आभूषण, गन्ध, माल्यादि भी सभी श्वेत ही हैं—'**प्रादुर्बभूव पुरुषः श्वेतमाल्यानुलेपनः। …श्वेतकुण्डलः**' (नृसिंहप्रसाद, तत्त्वनिधि)।

त्रयोदशी इनकी तिथि मानी गयी है—

अद्य प्रभृति ते धर्म तिथिरस्तु त्रयोदशी।

(वराहपुराण)

'तत्त्वनिधि' ग्रन्थमें इनकी तिथि एकादशी मानी गयी है और नमस्कार-ध्यानका मन्त्र इस प्रकार लिखा गया है—

श्रुतिवेद्यस्वरूपाय यागादिक्रतुमूर्तये।
भूरिश्रेयःसाधनाय धर्माय महते नमः॥

धर्मका परिवार

[धर्मदेवताकी धर्मपत्नियाँ]

महाभारत (१। ६६। १४-१५)-के अनुसार इनकी स्त्रियोंकी संख्या दस है—

कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा॥
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश।

किंतु भागवतमें धर्मकी कहीं दस और कहीं तेरह पत्नियाँ बतायी गयी हैं, यथा—

भानुर्लम्बा ककुब्जामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती।
वसुर्मुहूर्ता संकल्पा धर्मपत्न्यः सुताञ्छृणु॥

(श्रीमद्भा० ६। ६। ४)

त्रयोदशादाद्धर्माय०

श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः॥

(श्रीमद्भा० ४। १। ८। ४८-४९)

धर्मदेवके पुत्र

महाभारत, आदिपर्वमें शम, काम और हर्षको इनका पुत्र कहा गया है (६६। ३२), भागवत (४। १। ५०-५१), ब्रह्माण्ड० (२। ९। ५०) आदिमें शुभ, प्रसाद, अभय, सुख, मुद, स्मय, योग, अर्थ, स्मृति, क्षेम और प्रश्रय—इनके पुत्र कहे गये हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी कुछ भिन्न नाम हैं।

धर्मदेवताका साक्षात्कार

धर्मदेवके दर्शन—धर्मदेवताके साक्षात्कारके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें बहुधा चर्चा आयी है। वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड अ० ८३ के १५वें श्लोकमें लक्ष्मणजी निर्विण्ण होकर कहते हैं कि 'प्रभो! जैसे और जड-चेतनात्मक जीव दीखते हैं, धर्मको हमलोगोंने उस प्रकार कहीं नहीं देखा है—मुझे लगता है कि धर्म नामकी कोई वस्तु नहीं है—

भूतानां स्थावराणां च जंगमानां च दर्शनम्।
यथास्ति न तथा धर्मस्तेन नास्तीति मे मतिः॥

पद्मपुराण, भूमिखण्ड (३। ६)-में ऐसी ही बात है—'**धर्म एवं यतो लोके न दृष्टः केन वै पुरा।**'

—पर वाल्मीकिरामायण, पुराणों आदिमें श्रीराम, ययाति, युधिष्ठिर आदिको धर्मविग्रह भी कहा गया है—

'रामो विग्रहवान् धर्मः'

(वा०, अर० ३७। १३)

दृष्टोऽस्माभिरसौ धर्मो दशाङ्गः सत्यवल्लभः।
सोमवंशसमुत्पन्नो नहुषस्य महागृहे।
हस्तपादमुखैर्युक्तः सर्वाचारप्रचारकः॥

(पद्म०, भूमि० ८३। ७)

तथापि पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर किन्हीं तपस्वी ऋषि-मुनियोंके सामने धर्मदेवताके विग्रहसहित प्रकट होनेकी बात भी सुस्पष्टरूपसे आयी है। पद्मपुराण, भूमिखण्ड (१२। ५१)-में सोमशर्मा अपनी विदुषी स्त्री सुमनासे पूछता है कि धर्मकी मूर्ति (आकार-प्रकार, रूप-रंग) किस प्रकारकी होती है और उनके कितने हाथ-पाँव हैं, यह मुझे बतलाओ—

कीदृङ्मूर्तिस्तु धर्मस्य कान्यङ्गानि च भामिनि।
प्रीत्या कथय मे कान्ते श्रोतुं श्रद्धा प्रवर्तते॥

इसपर सुमना कहती है—'ब्राह्मणश्रेष्ठ! इस विश्वमें धर्मदेवताके मूर्त विग्रहको तो किसीने देखा नहीं। वे सत्यात्मा होते हुए भी अदृश्यवर्त्मा हैं। उन्हें देवता-दानवोंने भी नहीं देखा; किंतु हाँ, अत्रिकुलोत्पन्न अनसूयानन्दन महर्षि दत्तात्रेयजीको सदा ही धर्मका साक्षात्कार होता रहा है। और उनके भाई दुर्वासाजीको भी स्वरूपतः धर्मका दर्शन हुआ है—

लोके धर्मस्य वै मूर्तिः कैर्दृष्टा न द्विजोत्तम।
अदृश्यवर्त्मा सत्यात्मा न दृष्टो देवदानवैः॥
अत्रिवंशे समुत्पन्नो अनसूयात्मजो द्विजः।
तेन दृष्टो महाधर्मो दत्तात्रेयेण वै सदा॥
दुर्वाससा च मुनिना दृष्टो धर्मः स्वरूपतः॥

(पद्म०, भूमि० १२। ५२—५४)

एक अद्भुत कथा

एक बार महात्मा दत्तात्रेयजी और दुर्वासाजीने धर्मपूर्वक रहकर कठोर तपस्या आरम्भ की। ये लोग १० हजार वर्षतक वनमें रहकर बिना कुछ खाये-पीये केवल वायुके आधारपर तपस्या करते रहे। इन्होंने धर्मदेवताके दर्शनके लिये पुनः १० हजार वर्षतक पञ्चाग्निका साधन किया। पुनः निराहार होकर ये उतने ही वर्षोंतक जलके भीतर खड़े रहे। अबतक ये दोनों ही जन अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। अन्तमें महर्षि दुर्वासाके मनमें धर्मके प्रति भीषण क्रोध उत्पन्न हुआ। अब उन महात्माके मनमें क्रोध उत्पन्न होते ही धर्मदेवता अपना स्वरूप धारणकर उनके सामने तत्काल साक्षात् आ पहुँचे। साथ ही उनके सहचर तप, ब्रह्मचर्य आदि भी मूर्तिमान् होकर उनके साथ-साथ वहाँ उपस्थित हुए। सत्य, ब्रह्मचर्य, तप तथा इन्द्रियसंयम—ये उत्तम विद्वान् ब्राह्मणोंका रूप धारण करके आये। दम और नियमने महाप्राज्ञ पण्डितोंका रूप बना रखा था। दानका रूप अग्निहोत्रीका था। क्षमा, शान्ति, लज्जा, अहिंसा और अकल्पना (निःसंकल्पावस्था)—ये सब भी वहाँ स्त्री-रूप धारण कर पहुँची थीं। बुद्धि, प्रज्ञा, दया, श्रद्धा, मेधा, सत्कृति और शान्ति भी स्त्री-रूप ही धारण किये थीं। पञ्चयज्ञ तथा परम पावन छहों अङ्गोंसहित वेद भी अपना-अपना दिव्य रूप धारण किये हुए थे। वस्तुतः ये सब मुनिको पहलेसे ही सिद्ध हो चुके थे। इनके अतिरिक्त अश्वमेधादि यज्ञ तथा अग्न्याधान आदि पुण्य भी दिव्य रूप, लावण्य, आचरण तथा गन्ध-माल्यादिसे विभूषित वहाँ उपस्थित हुए।

इस तरह सपरिवार-सपरिकर धर्मदेवता महर्षि दुर्वासाके पास आकर प्रत्यक्ष खड़े हुए और उनसे कहने लगे—'महर्षे! आपने तपस्वी होकर भी क्रोध कैसे किया है? क्रोध तो मनुष्यके श्रेय और तप दोनोंको ही नष्ट कर डालता है। इसे एक प्रकारसे सर्वनाशक ही समझना चाहिये। तपका फल परम उत्कृष्ट होता है। अतः आप कृपया स्वस्थ हो जायँ।'

इसपर दुर्वासाजी बोले—इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ पधारे हुए आप कौन हैं? तथा ये श्रेष्ठ रूप एवं आभरणोंसे अलंकृत स्त्रियाँ कौन हैं? धर्मदेवता बोले—सर्वतेजोयुक्त दण्ड-कमण्डलुधारी ये जो आपके सामने ब्राह्मणरूपमें उपस्थित हैं, इन्हें आप 'ब्रह्मचर्य' समझें। इन पीतवर्णवाले तथा भूरी आँखोंसे युक्त तेजस्वी ब्राह्मणका नाम 'सत्य' है। तीसरे ये विश्वेदेवताओंकी आकृतिवाले 'तप' हैं। दीप्तिमान् दयालु स्वभाववाले ये 'दम' देवता हैं और जटाधारी तथा हाथमें तलवार लिये हुए ये 'नियम' हैं। हाथमें दतुवन-कमण्डलु लिये स्फटिकवर्णवाले ये 'शौच' हैं। ये सभी ब्राह्मणवेषमें हैं।

इसी प्रकार स्त्रियोंमें यह शुश्रूषा है, जो परम साध्वी, सौभाग्यवती तथा सत्यसे विभूषित है। जिसका स्वभाव अत्यन्त धीर है, जिसके सभी अङ्गोंसे मानो प्रसन्नता झर (टपक) रही है, जिसका रंग गोरा है और जिसके मुखपर हास्यकी छटा विराजित है, वह पद्मनेत्रा, पद्महस्ता साक्षात् धात्री (सरस्वती) देवी है। परम शान्त तथा अनेक मङ्गलोंसे युक्त यह क्षमा देवी है। यह शान्ति देवी है, जो दिव्य आचरणोंसे युक्त परम शान्त दीखती है। परोपकार, मितभाषण आदि गुणोंसे युक्त यह अकल्पना देवी है। इसीके साथ क्षमा भी रहती है। इन दोनोंको एक साथ रहनेमें बड़ी प्रसन्नता होती है। यह श्यामवर्णवाली यशस्विनी अहिंसा है। अनेक श्रेष्ठ बुद्धियों एवं ज्ञानोंसे युक्त यह श्रद्धा देवी है। यह ध्यानमग्न, गौरवर्णके श्रेष्ठ वस्त्र-माल्यादिसे

विभूषित मेधा देवी है, यह हाथमें पुस्तक-कमलपुष्प लिये प्रज्ञा देवी हैं, और लाखके समान रंगवाली पीले पुष्पोंसे अलंकृत परम शीलवती अत्यन्त वृद्धा भावदेवताकी भार्या तथा हमारी माता ये दया देवी हैं—और मैं स्वयं धर्म हूँ—

लाक्षारससमा वर्णा सुप्रसन्ना सदैव हि।
पीतपुष्पकृता माला हारकेयूरभूषणा॥
मुद्रिकाकङ्कणोपेता कर्णकुण्डलमण्डिता।
पीतेन वाससा देवी सदैव परिराजते॥
त्रैलोक्यस्योपकाराय पोषणायाद्वितीयका।
यस्याः शीलं द्विजश्रेष्ठ सदैव परिकीर्तितम्॥
सेयं दया सुसम्प्राप्ता तव पार्श्वे द्विजोत्तम।
इयं वृद्धा महाप्राज्ञ भावभार्या तपस्विनी॥
मम माता द्विजश्रेष्ठ धर्मोऽहं तव सुव्रत।

(पद्मपुराण, भूमिखण्ड १२। ९६—१००)

इसपर दुर्वासाजीने कहा—'धर्मदेवता! अब आप मेरे क्रोधका कारण सुन लें। आप देखते ही हैं कि मैंने दम, शौच आदि अनेक कायक्लेशकारी नियमोंके द्वारा लक्षवर्षतक घोर तपस्या की है; किंतु मैं देखता हूँ कि आपकी मुझपर तनिक भी कृपा नहीं है। अतः मैं क्रुद्ध हुआ हूँ और आपको शाप देना चाहता हूँ।'

इसपर धर्मदेवता बोले—'प्रभो! यदि आपने शाप देकर मेरा नाश किया तो यह निश्चय ही समझ लें कि यह सारा लोक नष्ट हो जायगा। यह बात अवश्य है कि मैं दुःखमूलक ही हूँ—पहले मेरे अनुष्ठानमें साधकको भीषण क्लेशका अनुभव होता ही है; तथापि वह यदि मेरा परित्याग नहीं करता तो पीछे मैं उसे परम सुख भी अवश्य प्रदान करता हूँ। यदि कदाचित् साधक धर्मानुष्ठानमें प्राणतक छोड़ देता है तो मैं उसे परलोकमें महान् सुख देता हूँ।'

दुर्वासाने कहा कि 'यह उचित नहीं है कि अनुष्ठाताके धर्म करनेवाले उस शरीरको फल न मिलकर परलोकमें उसके मनोमय आदि अथवा जन्मान्तरमें अन्य शरीरोंको परिणाम प्राप्त हो। जैसे चौरादिके अपराधी अङ्गोंपर ही दण्ड दिया जाता है, वैसे ही साधकके उसी शरीरको सुख मिलना कैसे उचित नहीं है? अतः आपके न्यायको मैं उचित न मानकर तीन शाप देना चाहता हूँ। धर्मदेवता बोले—'यदि आपने ऐसा ही निश्चय कर लिया है तो मैं आपको प्रणाम कर रहा हूँ। बस, आप मुझे कृपया राजा, दासी-पुत्र और चण्डाल बनाकर अपने तीनों शापोंको चरितार्थ करें।'

इस प्रकार धर्मदेवता राजा होकर भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ 'धर्मराज युधिष्ठिर' हुए थे और दासीपुत्रके रूपमें वे ही 'विदुर' के रूपमें उत्पन्न हुए थे और जब महर्षि विश्वामित्रने हरिश्चन्द्रको बहुत कष्ट पहुँचाया था, उस समय परम बुद्धिमान् धर्मदेवता उनके स्वामी 'चण्डालराज' के स्वरूपको प्राप्त हुए थे और उन्होंने राजा हरिश्चन्द्रको आश्रय प्रदान कर उनकी रक्षा की थी—

भरतानां कुले जातो धर्मो भूत्वा युधिष्ठिरः।
विदुरो दासीपुत्रस्तु अन्यं चैव वदाम्यहम्॥
यदा राजा हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रेण कर्षितः।
तदा चण्डालतां प्राप्तः स हि धर्मो महामतिः॥

(पद्मपुराण, भूमि० १२। १२७-२८)

धर्मके वृषरूपकी कथा

वेद, पुराण तथा स्मृतियोंमें धर्मके वृषरूपकी बात सर्वत्र आयी है—

वृषो हि भगवान् धर्मः।

(मनु० ८। १६, वृद्धगौतमस्मृति २१। १३, भागवत १। १६। १८ आदि)

'चतुःशृङ्गो त्रिपाच्चैव द्विशिरा सप्तहस्तवान्। त्रिधैव बद्धो...।'
'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यांऽआ विवेश[1]॥

—इस मन्त्रमें धर्मका वृषरूप सुस्पष्ट है, पर इसकी विस्तृत कथा स्कन्दपुराण सेतु-माहात्म्यके धर्मतीर्थ—धर्मपुष्करिणी-प्राकट्य-कथा-वर्णनमें आती है। तदनुसार दक्षिण समुद्रके तटपर साक्षात् धर्मदेवताने भगवान् शंकरका जप-ध्यान करते हुए घोर तपस्या की थी। जब भगवान् शंकरने प्रकट होकर वर माँगनेको कहा, तब आपने उनके वाहन बननेमें ही अपनी कृतार्थता व्यक्त की।

१-(ऋग्वेद ४। ५८। ३, यजुर्वेद १७। ९१, तैत्तिरीयारण्यक १०। १०। २, निरुक्त १३। ७, स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ६६। ७७, मीमांसादर्शन, तन्त्रवार्तिक पृ० १५५, व्याकरणमहाभाष्य २० आदि)

'तवोद्वहनमात्रेण कृतार्थोऽहं भवामि भोः।' (स्कन्द०, ब्राह्म०, सेतु०, धर्मपुष्कर ३। ६४)। तबसे धर्मदेवताका वृष-नन्दीश्वर बैलका स्वरूप हो गया और भगवान् शंकर उनपर आरूढ़ हो गये। तबसे उस तीर्थका नाम 'धर्मपुष्करिणी' पड़ा—

धर्मपुष्करिणीत्येषा लोके ख्याता भविष्यति।

स्मृतियों, भागवत १२। ३, पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड आदिमें इनके ४ पैर बतलाये गये हैं। उनमें कहीं तो सत्य, यज्ञ, तप, दान हैं, कहीं सत्य, ज्ञान, यज्ञ, दान हैं और कहीं सत्य, शौच, तप और दान हैं। इनमेंसे कलियुगमें केवल 'दान' बच जाता है (श्रीमद्भा० १। १६—१९ अध्याय)—

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥

(रा० च० मा० ७। १०३)

दानमेकं कलौ युगे।

धर्मका दृष्ट और अदृष्ट फल

भगवान् मनुने सामान्य धर्मका लक्षण इस प्रकार किया है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

(२। १)

'राग और द्वेषसे रहित वेदज्ञ विद्वानोंद्वारा अनुष्ठित कार्यको धर्म कहा जाता है।'

महर्षि जैमिनिने धर्मका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

वेदविहितप्रयोजनवदर्थो धर्मः।

'वेदविहित और फल देनेवाला अर्थ धर्म कहलाता है।'

महर्षि कणादने धर्मका लक्षण यों किया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिससे इहलोकमें अभ्युदय और परलोकमें मोक्षकी प्राप्ति हो, वह धर्म कहा जाता है।'

—वह धर्म दो प्रकारका कहा गया है—'दृष्टजन्मवेदनीय' और 'अदृष्टजन्मवेदनीय।' दृष्टजन्मवेदनीयको 'ऐहिक धर्म' और अदृष्टजन्मवेदनीयको 'पारलौकिक धर्म' कहते हैं। पुत्रेष्टियाग, हरिवंशपुराणश्रवण एवं संतानगोपाल-मन्त्रजपादि ऐहिक धर्म (दृष्टजन्मवेदनीय) कहे जाते हैं। श्रीसूक्तके द्वारा हवन तथा रोगनिवृत्त्यर्थ महामृत्युञ्जय-जपादि वैदिक कर्म ऐहिक अर्थात् इष्टफलप्रद कर्म—जो इसी जन्ममें फल देनेवाले हैं, उन्हें दृष्टफल-धर्म कहते हैं।

सोमयाग और दर्श-पौर्णमासयागादि, संध्योपासनादि नित्यकर्म तथा पितृयागादि पारलौकिक धर्म (अदृष्टजन्मवेदनीय) कहे जाते हैं। इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट फलोंकी दृष्टिसे धर्म भी द्विविध कहे गये हैं। धर्मके विषयमें मीमांसकोंका मत है कि यागादि कर्म ही धर्म हैं। अतः यज्ञ करनेवाले धार्मिक कहे जाते हैं। नैयायिकोंका मत है कि यागादि कर्म तो इसी जन्ममें नष्ट हो जाते हैं, वे कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गादि फलोंका सम्पादन नहीं कर सकते। इसलिये उन कर्मोंसे जायमान पुण्यको ही 'धर्म' कहते हैं, जो सर्वदा चिरस्थायी रहता है। वह धर्म जबतक स्वर्गादि फल नहीं देता, तबतक जीवात्मामें स्थायी रूपसे संचित रहता है और वह धर्म जब नष्ट हो जाता है, तब पुनः उस प्राणीको मर्त्यलोकमें आना पड़ता है—

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'

(गीता ९। २१)

वेदान्तमतसे और सांख्यमतसे जीवात्मा निर्गुण है, अतः उसमें धर्म नहीं रह सकता। इसलिये इन दोनोंके मतसे धर्म मनुष्यके अन्तःकरणमें विद्यमान रहता है। धर्मकी तरह अधर्म भी अन्तःकरणमें रहता है तथा अनर्थरूप फल देकर ही नष्ट होता है।

मनुष्य शास्त्रोंके अध्ययन करनेका अधिकारी है, क्योंकि उसे धर्माधर्मका विवेक रहता है। वह धर्मानुष्ठानसे अपना कल्याण-सम्पादन करता है और अधर्मसे बचनेकी चेष्टा करता है। धर्म और अधर्म—ये दोनों अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये हैं, जिससे विशेष शास्त्रज्ञान न होनेपर भी इनका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यको कुछ-न-कुछ रहता ही है। इसीलिये

शुक्राचार्यजीने कहा है—

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचाण्डालं मनुष्याणां समं शास्त्रप्रयोजनम्॥

'यह पुण्य (धर्म) है और यह पाप (अधर्म) है, इन दोनोंको जाननेके लिये ब्राह्मणसे लेकर चण्डालतकको शास्त्रका प्रयोजन समान ही मान्य है।'

मनुष्य-जीवन बहुत जन्मोंके पुण्योंसे प्राप्त होता है। मनुष्य-जन्मसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ जन्म नहीं है। अतः मनुष्यको प्रमाद त्यागकर धर्मानुष्ठान यथासमय, यथाशक्ति करना चाहिये। कहा भी है—

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥

(मनु० ४। २३८)

'समस्त प्राणियोंको परलोकके सहायतार्थ धर्मका शनैः-शनैः उसी प्रकार संचय करना चाहिये, जिस प्रकार दीमकें बाँबीको संचय कर लेती हैं।'

मनुष्यके पास धन-धान्यादि जो सम्पत्तियाँ रहती हैं, वे इसी जन्मकी साधिका हैं, जन्मान्तरकी नहीं। किंतु धर्म एक ऐसा अपूर्व साधन है, जो परलोकमें भी मनुष्यके लिये सहायक होता है।

मनुष्य अपने बाल-बच्चोंके रक्षार्थ अपनी सम्पत्ति बैंक आदि खजानोंमें रखते हैं, वह भी इसी लोकमें काम देती है, किंतु परलोकके लिये यहाँ कोई बैंक या खजाना नहीं है, जिसमें द्रव्य जमा करनेसे परलोकमें द्रव्य प्राप्त हो सके। परलोकमें द्रव्यादि प्राप्त करनेके लिये केवल धर्माचरण ही एकमात्र साधन है। अतः भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग रखते हुए भगवत्प्रसादार्थ पारलौकिक धर्मानुष्ठान करना चाहिये। पारलौकिक धर्मानुष्ठानोंको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित करनेसे वे प्रसन्न होते हैं और मनुष्यके समर्पित किये हुए सत्कर्मोंको सहर्ष स्वीकार करते हैं, जिससे मनुष्य जन्मान्तरमें विशेष लाभ प्राप्त करता है। इस विषयमें गीतामें भी कहा गया है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(१८। ४६)

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९। २७)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

पौराणिकोंका मत है कि ईश्वरप्रसाद ही कर्मोंका फल है और वह कर्ताको फल देकर ही रहता है। अतः कर्मानुष्ठानका अधिकार मनुष्यको है और फल देना भगवान्‌के अधीन है।

गीतामें भी कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२। ४७)

अतः वैदिक तथा स्मार्त कर्मोंका रहस्य जानना परमावश्यक है। इनका रहस्य जाने बिना किये गये कर्म यथेष्ट फलप्रद नहीं होते, प्रत्युत अनर्थ भी कर देते हैं। कर्मोंके यथार्थ रहस्यका ज्ञान ईश्वरमें श्रद्धा-भक्ति रखनेसे ही होता है। ईश्वरमें श्रद्धा-भक्तिके बिना किया हुआ कर्म व्यर्थ होता है। अतएव—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(१७। २८)

पौराणिकी कथा है कि एक बार दक्षप्रजापतिने 'यज्ञ' किया था। उस यज्ञमें देवगण सदस्य थे और महर्षिगण ऋत्विक्। यज्ञमें सभी प्रकारकी सामग्री पर्याप्तरूपमें एकत्रित थी, किंतु दक्षप्रजापतिकी भगवान् शंकरमें श्रद्धा-भक्ति नहीं थी, जिससे उनका यज्ञ नष्ट-भ्रष्ट हो गया और वह यज्ञ दक्षप्रजापतिके लिये मारणप्रयोगकी तरह आभिचारिक हो गया। इसलिये धर्मानुष्ठान भगवदनुरागपूर्वक करना चाहिये।

गीताके रहस्यको भलीभाँति न समझनेवाले कुछ लोगोंको भ्रम है कि भगवान्‌में अनुरक्त होकर कर्म करना भी 'निष्काम-कर्म' नहीं होता, क्योंकि भगवत्प्रसादकी कामना तो बनी ही रहती है। रहस्य यह है कि सांसारिक विषयोंकी कामना करके कर्म करना 'सकाम कर्म' कहलाता है। भगवच्चरणोंमें अनुराग करना कामना नहीं कहलाता;

क्योंकि वह कामना तो आगे चलकर भगवच्चरणोंमें विलीन हो जाती है। भगवान् वेदव्यासजीने भी कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २७)

इस प्रकार रागको बन्धनका हेतु कहा गया है, किंतु भगवान्‌में किया गया राग भगवत्प्राप्तिका साधन है, बन्धन नहीं। इसलिये मठ, मन्दिर, वापी, कूप, तडागादिका निर्माण भगवत्प्रीत्यर्थ करना कल्याणका साधन है और अपने लिये निर्माण करना बन्धनका कारण है। आज भी भगवत्परितोषार्थ राग-भोगादिके लिये धनिकवर्ग अपने धनको जो समर्पित करते हैं, वह वृद्धिंगत होकर जन्मान्तरमें उन्हें प्राप्त होता है। भगवान्‌के निमित्त अर्पित किया हुआ मूल धन भगवान्‌के खजानेमें सर्वदाके लिये जमा रहता है और उसी मूल धनके ब्याजसे भगवान् उस प्राणीकी सदा रक्षा करते हैं। यही परलोकमें सुख-प्राप्तिका साधन है, इसके सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है। यही 'अदृष्टफलक धर्म' कहा जाता है। 'दृष्टफलक धर्म'के उदाहरण पूर्व दिये जा चुके हैं। अतः अत्यन्त सावधानीसे कर्माकर्म और विकर्मके रहस्योंको जानकर मनुष्यको अपने वर्णाश्रमानुकूल कर्म करने चाहिये। दूसरेका कर्म अनर्थ कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३। ३५)

आजकल मनुष्य भौतिकवादमें पड़कर दृष्टफल कर्मोंको भी नहीं करना चाहते; क्योंकि उनका शास्त्रीय वाक्योंमें विश्वास नहीं है। मनुष्योंके कर्म करनेके लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

अतः शास्त्रोंमें विश्वास करके दृष्टफलक कर्मसे प्रत्यक्ष फल देखकर मनुष्यकी अदृष्टफलक कर्ममें भी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इसलिये मनुष्यमात्रको प्रत्यक्ष फल देनेवाले कर्मोंको अवश्य करके देख लेना चाहिये कि शास्त्र यथार्थ कहते हैं या नहीं।

जिस प्रकार धन और संतति इत्यादिकी प्राप्तिके लिये जो धर्म (कर्म) वेदोंमें तथा स्मृतियोंमें लिखा मिलता है, उसके विधानके अनुसार सुयोग्य विद्वानोंके द्वारा कर्म कराकर और स्वयं भी कर्म करके फल देखना आवश्यक है। प्रत्यक्षमें अधिक श्रद्धा होती है। जैसे हमलोग देशान्तरमें जाते हैं तो वहाँपर भी हमारा धन हमको मिल जाता है, उसी तरह यदि परलोकके लिये हम कुछ त्याग करते हैं तो वह हमको परलोकमें अवश्य प्राप्त होता है। और इस लोकमें रोगनिवृत्तिके लिये हम औषध तथा मन्त्र-जपादि करते हैं तो उससे हमारा रोग प्रत्यक्ष निवृत्त हो जाता है। इसी तरह परलोकके कष्टनिवारणार्थ यदि हम पवित्र पञ्चगव्यादिका सेवन तथा गायत्री-जपादि अनुष्ठान करते हैं तो हमारे ऐहलौकिक ही नहीं, पारलौकिक कष्ट भी अवश्य निवृत्त होते हैं। कर्मोंमें विलक्षण शक्ति है। उन शक्तियोंको परमेश्वर और परम ऋषि जानकर उनमें विश्वास रखना चाहिये।

कर्मोंमें शक्ति नहीं है, ऐसी व्यर्थकी कुकल्पना हमलोगोंको अपने तर्कसे नहीं करनी चाहिये। यह निश्चित है कि थोड़ा-सा भी किया गया विहित कर्म हमको महान् अनर्थोंसे बचाता है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२। ४०)

इसलिये इहलोक और परलोक दोनोंके सुख-साधनार्थ शास्त्रोंमें कहा गया है कि जो मनुष्य प्रमादवश और पापोंके कारण धर्ममें श्रद्धा-विश्वास नहीं करते, वे आधि-व्याधि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी प्रभृति विविध अनर्थोंको भोगते हैं। अतः देव-दुर्लभ मनुष्य-जन्म प्राप्तकर श्रेष्ठ पुरुषोंको धर्मानुष्ठानके द्वारा आत्मकल्याण और विश्व-कल्याण करना चाहिये।

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

अधर्मसे पहले उन्नति होती (दीखती) है, फिर सब प्रकारके वैभव दिखायी देते हैं, शत्रुओंपर [एक बार] विजय प्राप्त होती है पर [कुछ समयके बाद ही] सब जड-मूलसे नाश हो जाता है। (मनु० ४। १७४)

धर्म-तत्त्व-मीमांसा

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

धर्मकी व्युत्पत्ति और अर्थ

'धृञ्—धारणे' धातुसे 'अर्तिस्तुसु.......' इस उणादि-सूत्रद्वारा 'मन्' प्रत्यय होनेपर 'धर्म' शब्द बना है। (माधवीया धातुवृत्ति० १। ८८४, सिद्धान्तचं० पृ० २७१, दशपादी उणादि वृ० पृ० १४)। मत्स्यपुराण (१३४। १७), महाभारत, कर्णपर्व (६९। ५७-५८), शान्तिपर्व (१०९। १०-११) आदिमें भी यही कहा गया है—

धर्मेति धारणे धातुर्माहात्म्ये चैव पठ्यते।
धारणाच्च महत्त्वेन धर्म एष निरुच्यते॥
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

कोशकारोंने धर्म, पुण्य, न्याय और आचारादिको पर्याय माना है—

धर्मः पुण्ये यमे न्याये स्वभावाचारयोः क्रतौ।

(मेदिनी २५। १६, अमरकोष नानार्थवर्ग १३९, विश्व-प्रकाश)

धर्मका स्वरूप, परिभाषा और लक्षण

'विश्वामित्र-स्मृति' कहती है—

यमार्याः क्रियमाणं तु शंसन्त्यागमवेदिनः।
स धर्मो यं विगर्हन्ते तमधर्मं प्रचक्षते॥

अर्थात् आगमवेत्ता आर्यगण जिस कार्यकी प्रशंसा करते हैं, वह तो धर्म है तथा जिसकी निन्दा करते हैं, वह अधर्म है।

मनु (२। १ में) कहते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

मीमांसाकी 'ललाम' टीकामें गागाभट्टका कथन है—'**अलौकिकश्रेयःसाधनत्वेन विहितक्रियात्वं हि धर्मत्वम्॥**' मूलमीमांसा (१। १। २)-में वेदोक्त प्रेरणाको धर्म माना गया है। वैशेषिकदर्शनके प्रशस्तपादभाष्यमें ईश्वरचोदनाको धर्म कहा है—'**तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेः**' (ग्रन्थ-प्रयोजन-प्रकरण २)। इसके भाष्य-विवरणमें ढुण्ढिराजने लिखा है—'**ईश्वरचोदना ईश्वरेच्छाविशेषः।**[१]' उदयनाचार्य ईश्वरचोदनाका अर्थ वेद करते हैं। वैशेषिकसूत्रवृत्तिमें भरद्वाज महर्षिने 'अभ्युदय' का अर्थ सुख किया है। पर इसकी उपस्कार-व्याख्यामें शंकरमिश्रने 'अभ्युदय'का अर्थ तत्त्वज्ञान किया है। गीताभाष्यके आरम्भमें आचार्य शंकरने प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षणोंसे धर्मको द्विविध माना है। वैशेषिक-व्याख्यादिमें भी इसका समर्थन है।[२] 'लक्षणकोश' तथा सिद्धान्त-लक्षण-संग्रहमें धर्मके अनेक लक्षण प्रभाकरादिके मतानुसार दिये गये हैं, पर लौगाक्षिभास्करादि अधिकांशने वेदोक्त योगादिको ही धर्म माना है। (द्रष्टव्य पृष्ठ १०४)

धर्मके स्रोत तथा प्रमापक

मनु तथा याज्ञवल्क्यके अनुसार वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, उभय मीमांसा तथा वेदविद् संतोंके शील एवं सदाचार धर्मके स्रोत तथा प्रमापक हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञ० १। ३)

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

(मनु० २। ६)

विधि तथा श्रद्धापूर्वक वेद-पुराणोंके अधिगन्ता विद्वान्को मनुने शिष्ट कहा है और उनके आचारको शिष्टाचार कहकर प्रमाण माना है—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥

(मनु० १२। १०९)

सम्प्रदाय, कुलाचार एवं देशाचार

मनु आदिके अनुसार सम्प्रदाय-क्रमागत तथा कुल-क्रमागत धर्म आचरणीय हैं। यथा—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन् न रिष्यते॥

(मनु० ४। १७८)

१-राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥

२-द्र० वैशेषिकसूत्रभाष्यादि० १। १। २, यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

देवलके अनुसार देशाचार भी मान्य है। यथा—

येषु देशेषु ये देवा येषु देशेषु ये द्विजाः।
येषु देशेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः।
तत्र तान् नावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः॥
यस्मिन् देशे पुरे ग्रामे त्रैविद्यनगरेऽपि वा।
यो यत्र विहितो धर्मस्तं धर्मं न विचालयेत्॥

(स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड, पृ० २५ में देवल-वचन)

युगानुरूप धर्म

मनुस्मृति (अध्याय १। ८६), पद्मपुराण (१। १८। ४४०-), पराशरस्मृति (१। २३), लिङ्गपुराण (१। ३९। ७), भविष्यपुराण (१। २। ११९) आदिमें युगानुरूप धर्म इस प्रकार बतलाया गया है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥

अर्थात् सत्ययुगमें तपकी, त्रेतामें ज्ञानकी, द्वापरमें यज्ञकी और कलियुगमें दान-धर्मकी प्रधानता होती है। इसी प्रकार कलियुगमें स्वल्पानुष्ठानसे ही विशेष धर्मकी प्राप्ति कही गयी है। यथा—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ॥

(बृहत्पा० स्मृ०, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराणादि)

युगानुरूप तीर्थ

कलियुगमें गङ्गाकी विशेष महिमा कही गयी है। यथा—

पुष्करं तु कृते सेव्यं त्रेतायां नैमिषं तथा।
द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गां समाश्रयेत्॥

(स्मृतिचन्द्रिका पृ० २८ पर विष्णुधर्मोत्तरका वचन)

योनियोंके अनुरूप धर्म

वामनपुराणके ११वें अध्यायमें ऋषियोंने सुकेशीसे धर्मका तत्त्व कहा है। तदनुसार यज्ञ और स्वाध्याय देवताओंके धर्म हैं। दैत्योंका धर्म युद्ध, शिवभक्ति तथा विष्णुभक्ति है। ब्रह्मविज्ञान, योगसिद्धि आदि सिद्धोंके धर्म हैं। नृत्य, गीत, सूर्यभक्ति—ये गन्धर्वोंके धर्म हैं। ब्रह्मचर्य, योगाभ्यासादि पितरोंके धर्म हैं। जप, तप, ज्ञान, ध्यान और ब्रह्मचर्य ऋषियोंके धर्म हैं। इसी प्रकार दान, यज्ञ, दया, अहिंसा, शौच, स्वाध्याय, भक्ति आदि मानव-धर्म हैं—

स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च।
अकार्पण्यमनायासो दया हिंसाक्षमादमः॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिरच्युते।
शंकरे भास्करे देव्यां धर्मोऽयं मानवः स्मृतः॥

(वामनपुराण ११। २३-२४)

इसी प्रकार वहाँ गुह्यक, राक्षस, पिशाचादिके भी धर्म बतलाये गये हैं। पुनः मानवधर्मको विस्तारसे बतलाया गया है और अधर्मसे होनेवाले नरकोंको भी बतलाया गया है। (अ० १२)

धर्म-सर्वस्व-सार

महाभारतादि अनेक स्थलोंमें धर्म-सर्वस्व-सार इस प्रकार बतलाया गया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थात् धर्मका सार सुनिये और सुनकर उसे हृदयमें धारण भी कर लीजिये। वह है यह कि अपने-आपको जो बुरा लगे, उसे दूसरेके लिये भी न करें। जो अपनेको भला लगे, उसे ही करें।

धर्माचरण

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च॥
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च। प्रदक्षिणं च कुर्वीत परिज्ञातान् वनस्पतीन्॥
चतुष्पथान् प्रकुर्वीत सर्वानेव प्रदक्षिणान्।

ब्राह्मण, गाय, राजा, वृद्ध पुरुष, गर्भिणी स्त्री, दुर्बल और भारपीड़ित मनुष्य यदि सामनेसे आते हों तो स्वयं किनारे हटकर उन्हें जानेका मार्ग देना चाहिये। मार्गमें चलते समय अश्वत्थ आदि परिचित वृक्षों तथा समस्त चौराहोंको दाहिने करके जाना चाहिये। (महाभा०, अनु० प० १०४। २५—२७)
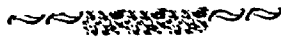
धर्मके परम आदर्श धर्ममूर्ति भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या

महर्षि मनुने अपनी स्मृतिमें—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—के अनुसार धर्मके दस लक्षण लिखे हैं तथा विष्णुशर्माने हितोपदेशमें—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

—के अनुसार धर्मके आठ मार्ग बतलाये हैं।

दोनोंके मतमें धैर्य, क्षमा, सत्य, अध्ययन, अलोभ—विषयोंमें साम्य है। मनुजी विषयोंसे विरक्ति, शुचिता, इन्द्रियनिग्रह तथा विवेकशीलताको एवं विष्णुशर्मा यज्ञ करना, दान करना, तप करना—धर्मके लक्षण मानते हैं। दोनोंका मत एक साथ ही माननेवालोंको धर्मके उपर्युक्त बारह लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें उपर्युक्त सभी लक्षण हैं।

महर्षि वाल्मीकिके अनुसार वे धैर्यमें हिमालयके समान '**धैर्येण हिमवानिव**' तथा क्षमामें पृथ्वीके समान '**क्षमया पृथिवीसमः**' हैं। सत्यभाषणमें तो उनका वंश प्रसिद्ध ही है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥

और इस वंशमें श्रीरामजी तो दो बार भी नहीं बोलते, मुँहसे एक बार ही जो कह दिया, उसे ही पूर्ण करते हैं। '**रामो द्विर्नाभिभाषते**' वाक्य हमारे लिये आदर्श है। अध्ययनमें वह—

'**सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्**'

—के अनुसार सारे शास्त्रोंके अर्थके तत्त्वके ज्ञाता हैं। अलोभके लिये उन्होंने विमाताकी इच्छापूर्तिके हेतु राज्यतकका त्यागकर आदर्श प्रस्तुत किया। वे नियतात्मा हैं, शुचिर्वश्य हैं तथा '**बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी**' के अनुसार वे विवेकशील हैं। वे यज्ञोंके रक्षक हैं और स्वयं यज्ञकर्ता भी हैं।

उन्होंने विश्वामित्रजीके यज्ञ-रक्षणार्थ राक्षसोंसे संघर्ष किया। अरण्यवासी ऋषियोंके यज्ञोंकी उन्होंने रक्षा की।

वे बड़े तपस्वी हैं, उनका शत्रु रावण भी उनको तापस कहकर अंगद-रावण-संवादमें—

गर्भ न गयहु ब्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख तापस दूत कहायहु॥

—सम्बोधित करता है। अतः यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीरामने धर्मके सभी लक्षणोंका पालन कर हमारे समक्ष आदर्श प्रस्तुत किया है। महर्षि वाल्मीकि तो सत्यपालनमें '**सत्ये धर्म इवापरः**' कहकर उनको द्वितीय धर्मराजके समान मानते हैं।

भगवान् श्रीराम धर्मावतार हैं। उनके पावन चरितसे शिक्षा ग्रहण करके हमको तदनुरूप व्यवहार करना चाहिये। अच्छा हो यदि हम उनकी दिनचर्याके अनुकूल अपनी दिनचर्या बनायें।

भगवान् श्रीरामजीकी दिनचर्याका आनन्दरामायणके राज्यकाण्डके १९वें सर्गमें बड़े विस्तारसे वर्णन है। श्रीरामदासके द्वारा महर्षि वाल्मीकिजी अपने शिष्यको उपदेश करते हैं—

शृणु शिष्य वदाम्यद्य रामराज्ञः शुभावहा।
दिनचर्या राज्यकाले कृता लोकान् हि शिक्षितुम्॥
प्रभाते गायकैर्गीतैर्बोधितो रघुनन्दनः।
नववाद्यनिनादांश्च सुखं शुश्राव सीतया॥
ततो ध्यात्वा शिवं देवीं गुरुं दशरथं सुरान्।
पुण्यतीर्थानि मातॄश्च देवतायतनानि च॥

(आ० रा०, राज्य० १९। १—३)

भगवान् श्रीरामजी नित्य प्रातःकाल चार घड़ी रात्रि शेष रहते मङ्गलगीत आदिको श्रवण कर जागते थे। फिर शिव, देवी, गुरु, देवता, माता-पिता, तीर्थ, देव-मन्दिर तथा पुण्य क्षेत्रों एवं नदियोंका स्मरण करते थे, फिर शौचादिके पश्चात् दन्त-शुद्धि करते थे। इसके अनन्तर कभी घरपर और कभी सरयूमें जाकर स्नान करते थे।

स्नात्वा यथाविधानेन ब्रह्मघोषपुरःसरम्॥
प्रातःसंध्यां ततः कृत्वा ब्रह्मयज्ञं विधाय च।

(आ० रा०, राज्य० १९। १०-११)

ब्राह्मणोंके वेदघोषके साथ विधिवत् स्नान करते थे। तदनन्तर प्रातःसंध्या तथा ब्रह्मयज्ञ करके ब्राह्मणोंको दान देकर महलमें आकर हवन करके शिवपूजन करते थे और इसके बाद कौसल्या आदि तीनों माताओंका पूजन करते थे। फिर गौ, तुलसी, पीपल आदि एवं सूर्यनारायणका पूजन करते

थे। इसके पश्चात् सद्ग्रन्थों तथा गुरुदेवका पूजन करके उनके मुखसे पुराण-कथाका श्रवण करते थे और तब भ्राता एवं ब्राह्मणोंके साथ कामधेनुप्रदत्त गव्य ग्रहण करते थे।

तदनन्तर वस्त्रादि तथा अस्त्र-शस्त्र धारण करके वैद्य तथा ज्योतिपियोंका स्वागत कर वैद्यको नाड़ी-परीक्षण कराते तथा ज्योतिपियोंसे नित्य पञ्चाङ्ग-श्रवण करते थे, क्योंकि—

'लक्ष्मीः स्यादचला तिथिश्रवणतो वारात् तथायुश्चिरम्'

—के अनुसार तिथिके श्रवणसे लक्ष्मी, वारसे आयुवृद्धि, नक्षत्रसे पाप-नाश, योगसे प्रियजन-वियोगनाश तथा करण-श्रवणसे सब प्रकारकी मनःकामना पूर्ण होती है।

पञ्चाङ्ग-श्रवणके अनन्तर श्रीरामजी पुष्पमाला धारणकर तथा दर्पण देखकर महलसे बाहर आकर अपनी प्रजाके लोगोंसे, मित्रोंसे तथा आगन्तुकोंसे भेंट करते थे।

इसके अनन्तर उद्यानमेंसे निकलकर सेनाका निरीक्षण करते थे, फिर राजसभामें जाकर राज्य-कार्योंपर अपने भाइयों, पुत्रों तथा अधिकारियोंसे विचार करके आवश्यक व्यवस्था करते थे। तब मध्याह्न-कृत्योंके लिये श्रीरामजी पुनः महलमें पधारते थे।

यहाँ आकर मध्याह्नमें स्नान करके पितरोंका तर्पण, देवताओंको नैवेद्य तथा बलिवैश्वदेव, काक-बलि आदि देकर भूत-बलि देते थे। फिर अतिथियोंको भोजन कराकर ब्राह्मणों तथा यतियोंके भोजन कर लेनेके पश्चात् स्वयं भोजन करते थे। भोजनके अनन्तर ताम्बूल खाते तथा ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर सौ पद चलकर विश्राम करते थे।

विश्रामके पश्चात् क्षणिक मनोरंजन करके पिंजरोंमें पाले गये महलके पक्षियोंका निरीक्षण करके महलकी छतपर चढ़कर अयोध्या नगरीका निरीक्षण करते। फिर गोशालामें जाकर गायोंकी देख-रेख करते। इसके पश्चात् अश्वशाला, गजशाला, उष्ट्रशाला तथा अस्त्रशाला आदिका निरीक्षण करते थे।

इन सब कार्योंके बाद वे दूतावास एवं तृण-काष्ठागारोंका निरीक्षण करते हुए दुर्गके रक्षार्थ बनी खाईंकी देख-भाल करते और रथारूढ़ हो अवधपुरीके राजमार्गसे दुर्गके द्वारों तथा द्वाररक्षकोंका निरीक्षण करते थे। फिर बन्धुओंके साथ सरयूके तटपर भ्रमण कर सैनिक शिविरोंका निरीक्षण कर महलोंमें लौटकर राज्य-कार्यकी व्यवस्था करके सायंकालके समय सायं-संध्या तथा पूजनादिके पश्चात् भोजन करते थे। फिर देव-मन्दिरोंमें जाकर देवदर्शन तथा कीर्तन-श्रवण करके महलमें लौट आते थे।

यहाँ बन्धुओंसे पारिवारिक विषयोंपर चर्चा करके भगवान् डेढ़ पहर रात्रि व्यतीत हो जानेपर (**सार्धयामां निशां नीत्वा**) शयनकक्षमें प्रवेश करके विश्राम करते थे।

भगवान्की यह नियमित दिनचर्या हम सभीके लिये एक आदर्श दिनचर्या है। यदि हम इसके अनुरूप व्यवहार करें तो हमारा इहलोक तथा परलोक दोनोंमें ही कल्याण हो सकता है। यह दिनचर्या जहाँ एक सत्-नागरिकके लिये आदर्श दिनचर्या है, वहाँ यह शासकोंको भी कुशल प्रशासक बनानेवाली है।

ऐसी मूढ़ता या मनकी।
परिहरि राम-भगति-सुर-सरिता, आस करत ओसकनकी॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घनकी।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचनकी॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तनकी।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आननकी॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गति जनकी।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पनकी॥
(विनय-पत्रिका)

धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी दिनचर्या

अचिन्त्यगति भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा वेदों, पुराणों, उपनिषदों एवं अन्यान्य शास्त्रोंमें बहुत प्रकारसे गायी गयी है। अनेकों ऋषियों, मुनियों, संतों, भक्तों एवं विद्वानोंने उनकी ही महिमाका गान करके अपनी वाणीको सफल किया है। अनेकों संत-महात्माओंने भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणोंका गान तथा चरणोंकी सेवा करके अपने जीवनको धन्य माना और परमगति प्राप्त की। श्रीकृष्णद्वैपायन मुनि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके ही कलावतार हैं। उन्होंने महाभारत नामक इतिहास तथा श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें भगवान्‌की जिन रहस्यमयी मधुर मनोहर लीलाओंका विशद वर्णन किया है, वे बुद्धिवादी लोगोंके सूक्ष्म चिन्तनकी गतिसे परे हैं, परंतु श्रद्धालु भक्तोंके लिये वे परमानन्द-प्रदायिनी हैं। भगवान्‌की लीलाओंका गान भगवती शारदा देवी वीणा बजाकर कल्प भर करती रहें, भगवान् गणेशजी अपनी लेखनीसे कल्पोंतक लिखते रहें और भगवान् शेषनाग अपने सहस्र मुखोंसे कल्पोंतक गान करते रहें तो भी पार नहीं पा सकते। फिर तुच्छबुद्धि मनुष्य भला, उनकी लीलाओंका क्या गान कर सकते हैं!

हमारा यह देश भारतवर्ष धर्मप्राण (धर्मप्रधान) देश कहा जाता है। यहाँके बड़े-बड़े लोगोंने, राजाओं एवं सम्राटोंने भी भोगोंको लात मारकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवा की, अरण्यका आश्रय लिया और विशुद्ध धर्मका आचरण करके लोगोंको शिक्षा दी है। भगवान् श्रीकृष्णने ही चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की, उन्होंने ही चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास)-की स्थापना की और उन्होंने ही उनमें प्रविष्ट होकर तदनुकूल आचरण करके लोगोंको समय-समयपर शिक्षा दी। भगवान्‌के विश्वासी अनेकों संतोंने अपने आचरणोंके द्वारा उच्चतम आदर्श उपस्थित किया।

भगवान् श्रीकृष्ण ही धर्मके परम आदर्शस्वरूप हैं, यह उनकी विभिन्न लीलाओंसे स्पष्ट सिद्ध होता है। भगवान्‌का तो यह कहना ही है कि—'जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अजन्मा, अविनाशी तथा लोकमहेश्वर रहते हुए ही साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मकी संस्थापनाके लिये युग-युगमें अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ।'

मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, कपिल, हंस, कृष्णद्वैपायन आदि भगवान्‌के अनेकों अवतार शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं, जिनमें कुछ उनके अंशावतार, कुछ कलावतार कहलाते हैं, किंतु भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। इन अवतारोंमें भगवान्‌ने जो-जो लीलाएँ की हैं, वे संत-महात्माओंद्वारा गेय हैं। धर्माचरणके विशुद्ध आदर्श भगवान्‌के इन अवतारोंमें दर्शनीय हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही अपने एक अवतारमें नर-नारायणरूपसे बदरिकाश्रममें तप करते हुए परमहंस संन्यासियोंको आचरणकी शिक्षा देते हैं, कपिलके रूपमें सांख्ययोगके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं, परशुराम, श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें अनेकों असुर-प्रकृति राजाओं तथा दैत्योंका दलन करते हैं, संतोंकी रक्षा करते हैं, बुद्धके रूपमें अवतार लेकर यज्ञके अनधिकारियोंको यज्ञ करनेसे रोकते हैं, अपने विशुद्ध तर्कके द्वारा वे ब्राह्मणोंके रूपमें पैदा हुए राक्षसोंको मोहित कर देते हैं। आगे भी कलियुगके अन्तमें वे भगवान् कल्कि-रूपमें अवतार लेकर इस धरापर फैले हुए समस्त म्लेच्छोंका संहार करेंगे और अपने आश्रित संतोंकी रक्षा करेंगे। कहाँतक कहा जाय, भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा अपार है। भगवान् श्रीकृष्ण धर्मके परम आदर्श हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्याका बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके उनहत्तरवें और सत्तरवें अध्यायमें पढ़ने-सुननेको मिलता है। भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्या देखनेके लिये देवलोकसे स्वयं नारदजी पधारे थे और इन्द्रकी सभामें जाकर उन्होंने उसका गान किया था।

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—प्रातःकाल भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्ममुहूर्तमें जब कुक्कुट (मुर्गे) बोलने लगते थे, उठते थे। उस समय पारिजातके पुष्पोंकी भीनी-भीनी सुगन्ध लेकर वायु बहने लगती थी, भ्रमरसमूह तालस्वरके साथ मधुर संगीतकी तान छेड़ देते थे और पक्षी मधुर स्वरसे कलरव करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण शय्यासे उठकर हाथ-मुँह धोते और अपने मायातीत आत्मस्वरूपका ध्यान करने लगते थे। उस समय उनका रोम-रोम आनन्दसे खिल उठता था। इसके बाद विधिपूर्वक शौचादि कृत्य समाप्त करके वे विधिपूर्वक निर्मल और पवित्र जलमें स्नान

करते थे। पश्चात् शुद्ध धोती पहनकर चादर ओढ़कर यथाविधि नित्यकर्म—संध्यावन्दन आदि करते थे। इसके बाद हवन करते और मौन होकर गायत्रीका जप करते थे। तदनन्तर सूर्योदयके समय सूर्योपस्थान करते और अपने कलास्वरूप देवता, ऋषि तथा पितरोंका तर्पण करते थे। इसके बाद कुलके बड़े-बूढ़ों और ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा करते थे। तदनन्तर परम मनस्वी भगवान् श्रीकृष्ण दुधार, पहले-पहल ब्यायी हुई, बछड़ोंवाली सीधी-शान्त तेरह हजार चौरासी गौओंका दान करते थे। उन गौओंको सुन्दर वस्त्र, मोतियोंकी माला पहना दी जाती थी। सींगोंमें सोना और खुरोंमें चाँदी मढ़ दी जाती थी। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार ब्राह्मणोंको वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित करके रेशमी वस्त्र, मृगचर्म और तिलके साथ प्रतिदिन गौएँ दान करते थे। तदनन्तर अपनी विभूतिरूप गौ, ब्राह्मण, देवता, कुलके वयोवृद्ध, गुरुजन और समस्त प्राणियोंको प्रणाम करके माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करते थे। सहज सौन्दर्यकी खान होते हुए भी भगवान् अपनेको पीताम्बर आदि दिव्य वस्त्र, कौस्तुभ आदि आभूषण, पुष्पोंके हार और चन्दनादिके अङ्गरागसे अलंकृत करके घी और दर्पणमें अपना मुख देखते थे तथा गाय, बैल, ब्राह्मण और देवप्रतिमाओंके दर्शन करते थे। फिर पुरवासी, अन्तःपुरके लोगोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण करते थे। पश्चात् अन्यान्य प्रजाकी कामना-पूर्ति करके उन्हें संतुष्ट करते और इस प्रकार सबको प्रसन्न देखकर स्वयं भी आनन्दित होते थे। भगवान् श्रीकृष्ण पुष्पमाला, ताम्बूल, चन्दन, अङ्गराग आदि वस्तुएँ पहले ब्राह्मण, स्वजन-सम्बन्धी, मन्त्री और रानियोंको बाँटकर बची हुई वस्तु स्वयं काममें लेते थे। जबतक भगवान् यह सब करते होते, तबतक उनका सारथि दारुक सुग्रीव आदि घोड़ोंको रथमें जोतकर ले आता और भगवान्‌को प्रणाम करके उनके सामने खड़ा हो जाता था। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा उद्धव और सात्यकिके साथ अपने सारथि दारुकका हाथ अपने हाथसे पकड़कर रथपर सवार होते और सुधर्मा सभाको जाते थे। यदुवंशियोंसे भरी हुई उस सुधर्मा सभाका ऐसा प्रभाव था कि उसमें जो लोग प्रवेश करते थे, उनको शरीरकी छः ऊर्मियाँ—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु—नहीं सताती थीं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके महलोंसे अलग-अलग निकलकर एक ही रूपमें सुधर्मा-सभामें प्रवेश करते और श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान होते थे। उस सभामें नट, मागध, सूत, वन्दीजन भगवान्‌की विभिन्न लीलाओंका बखान करके नाचते, गाते और उन्हें प्रसन्न करते थे। मृदङ्ग, वीणा, पखावज, बाँसुरी, झाँझ और शङ्ख आदि बजने लगते थे। कोई-कोई व्याख्याकुशल ब्राह्मण वहाँ बैठकर वेदमन्त्रोंकी व्याख्या करते और कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण शास्त्रों-पुराणोंकी कथाएँ कहते, कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण पूर्वकालीन पवित्रकीर्ति नरपतियोंके चरित्रोंका बखान करते थे। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण यदुवंशियोंके बीचमें अपने ब्रह्मरूपको छिपाकर श्रेष्ठ मनुष्योंके धर्मका आचरण करते थे। वे अपने आचरणसे लोगोंको सदैव सद्धर्म एवं शुभ आचरणकी शिक्षा दिया करते थे।

हस्तिनापुरमें गये हुए भगवान् श्रीकृष्णकी प्रातःकालीन चर्याकी बात महाभारतमें आती है। वहाँ कहा गया है—'आधा पहर रात्रि शेष रह गयी, तब श्रीकृष्ण जागकर उठ बैठे। तदनन्तर वे माधव ध्यानमें स्थित हो सम्पूर्ण ज्ञानोंको प्रत्यक्ष करके अपने सनातन ब्रह्मस्वरूपका चिन्तन करने लगे। फिर अपनी धर्ममर्यादा तथा महिमासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर स्नान किया, पश्चात् गूढ़ गायत्रीमन्त्रका जप करके हाथ जोड़े हुए वे अग्निके समीप जा बैठे। वहाँ अग्निहोत्र करनेके अनन्तर भगवान् माधवने चारों वेदोंके विद्वान् एक हजार ब्राह्मणोंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक हजार गौएँ दान कीं और उनसे वेदमन्त्रोंका पाठ एवं स्वस्तिवाचन करवाया। इसके बाद माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करके भगवान्‌ने स्वच्छ दर्पणमें अपने स्वरूपका दर्शन किया (महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५३)।

भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य जन्म, दिव्य कर्म, उनकी मुनिमनमोहिनी लीला और महिमाका कोई पार नहीं पा सकता। वे ही धर्मके मूल हैं, वे ही धर्म हैं, वे ही धर्मरक्षक हैं, वे ही धर्माचरण करनेवाले हैं। वे अकारण करुणामय भगवान् श्रीकृष्ण कलिकालसे ग्रस्त हम मूढ़ मनुष्योंका उद्धार करें तथा विश्वमें बढ़ते हुए अधर्मके प्रवाहको सुखाकर धर्मकी सुधाधारा बहा दें, यही प्रार्थना है।

'बोलिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!'
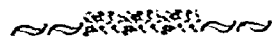
रामचरितमानसमें धर्म-निरूपण

(मानसमराल डॉ० श्रीजगेशनारायणजी 'भोजपुरी')

विश्वविश्रुत धर्मग्रन्थ श्रीरामचरितमानसमें धर्मका निरूपण आदिसे अन्ततक विविध प्रसंगोंमें कई प्रकारसे किया गया है। कहीं सूत्ररूपसे तो कहीं विस्ताररूपसे।

सर्वप्रथम बालकाण्डमें नाम-वन्दनाके पश्चात् गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज युगधर्मकी व्याख्या करते हैं और बताते हैं कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें धर्मकी स्थिति इस प्रकारसे रही है—

ध्यानु प्रथम जुग मखबिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें॥
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

(रा० च० मा० १। २७। ३—५)

अर्थात् सत्ययुगमें ध्यानकी महिमा रही है। त्रेतामें नाना प्रकारके यज्ञोंका विधान होता रहा है। द्वापरमें भगवान्‌की प्राप्ति उपासना और पूजनद्वारा बतलायी गयी है, किंतु पापग्रस्त कलिकालमें मनुष्य केवल नामस्मरणद्वारा संसार-सागरसे पार जा सकता है। अतः कलिकालमें धर्मका सारतत्त्व भगवान्‌का नाम-स्मरण है।

गोस्वामीजीने परोपकारको परम धर्म कहकर प्रतिष्ठित किया है। जो परोपकारके लिये शरीर धारण करते हैं अथवा शरीरका उत्सर्ग करते हैं, उन्हें धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ माना गया है—

पर हित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥

(१। ८४। २)

इसी प्रकार—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(७। ४१। १)

संत स्वभावसे ही परोपकारी होते हैं। उनका मन, वचन और कर्म निरन्तर परोपकारमें निरत रहता है—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥

(७। १२१। १४)

परमात्माके अवतारका प्रधान हेतु भी गोस्वामीजीने धर्मके ह्रासको ही कहा है। धर्मकी ध्वजा जब धराशायी होने लगती है, तब उसकी पुनः प्रतिष्ठाके लिये परमात्मा अवतार लेते हैं। जब गौ, देवता और ब्राह्मण तथा धरणीपर अत्याचार बढ़ने लगता है तो करुणानिधान दयार्द्र होकर शरीर धारण करते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

(रा० च० मा० १। १२१। ६—८)

धर्मविग्रह भगवान् श्रीराम जब अवतरित हुए तो उनके राज्यमें धर्मके चारों चरण धरतीपर प्रतिष्ठित हो गये। रामराज्यका अजेय प्रासाद धर्मकी नींवपर आधारित है। धर्म अपने चारों चरणोंसे रामराज्यमें भरपूर है। वर्णाश्रम-धर्मकी पूरी प्रतिष्ठा है। सभी नर-नारी वैदिक धर्मका पालन करते हैं, जिसके कारण त्रितापसे पीड़ित कोई भी नहीं है। न तो कहीं वैर-भाव है, न पाप और न विषमता। दरिद्र, दुःखी, अबुध और लक्षणहीन लोग रामजीके राज्यमें हैं ही नहीं। रामके समान आदर्श राज्य कोई भी पृथ्वीपर स्थापित नहीं कर सका। द्रष्टव्य है रामराज्यकी एक अल्प झाँकी—

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥

(७। २०। ७-८, २१। १—३)

शेषावतार श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रमें धर्मकी एक निराली व्याख्या मिलती है। उन्हें प्रभुकी सेवाके लिये तथा प्रभुपदरतिके लिये सबका परित्याग करनेमें भी कोई संकोच नहीं हुआ—

जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

(२। ७२। ५-६)

चित्रकूटके प्रकरणमें वाल्मीकि मुनिने धर्मकी एक अनी

व्याख्या कर दी। श्रीरामने जब मुनिसे अपना निवास पूछा तो उसी संदर्भमें उन्होंने प्रेमकी महिमाका वर्णन किया। उन्होंने कहा कि जो समस्त धर्मोंको भगवत्प्रेमके लिये न्योछावर कर दे, हे राम! तुम उनके हृदयमें अवश्य अपना निवास बना लो—

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥

(२। १३१। ५-६)

गोस्वामीजीने कहा है कि जो लोग मोहके कारण धर्मपथका त्याग करते हैं, उनकी स्थिति शोचनीय है तथा जो संन्यासी वैराग्य और ज्ञानको तिलाञ्जलि देकर प्रपञ्ची हो जाते हैं' वे भी शोचनीय हैं—

सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥

(२। १७२)

गोस्वामीजीने श्रीभरतलालको धरम-धुरीन तथा धर्म-धुरंधर कहा है। वे धर्मके उच्चतम सिंहासनपर प्रतिष्ठित हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और तपस्वी भी भरतजीकी साधनाको देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं—

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥

(२। ३२५। ७-८)

× × ×

सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥

(२। ३२६। ४)

अरण्यकाण्डमें नारीधर्मकी व्याख्या सीताजीके ब्याजसे अनसूया माताने विस्तारसे की है। पतिव्रता स्त्रियोंके लिये पति-सेवा ही सर्वोत्तम धर्म है। तन-मन-वाणी और क्रियासे पतिकी सेवा करना नारीका एकमात्र धर्म है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥

(३। ५। १०)

लक्ष्मणजीको उपदेश देते हुए भगवान्ने भक्ति-प्राप्तिके लिये धर्माचरणको प्रथम सोपान बताया है। उन्होंने कहा है कि भक्तिसे वैराग्य और योगसे ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानका फल मोक्ष है, किंतु जिससे मेरा हृदय द्रवित होता है वह है हमारी भक्ति—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

(३। १६। १—३)

शबरीको नवधाभक्तिका उपदेश देते हुए भगवान् श्रीरामने कहा कि जो मनुष्य धर्मस्वरूप मुझको प्राप्त करना चाहता है, उसे मेरी अनन्य भक्ति स्वीकार करनी पड़ती है; क्योंकि जाति-पाँति, कुल-धर्म और मान-बड़ाईसे सम्पन्न होनेपर भी जो भक्तिविहीन है, वह जलहीन बादलकी तरह है—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(३। ३५। ४—६)

रावणकी धर्मपरायणा पत्नी मन्दोदरीने धर्मकी व्याख्या एक नये परिप्रेक्ष्यमें प्रस्तुत की है। उसकी मान्यता है कि जब मनुष्यको काल मारना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे धर्मभ्रष्ट करता है, फिर उसके बल, बुद्धि और विचारका हरण कर लेता है। रावणमें इन चारों चीजोंका अभाव हो गया है। अतः वह उसे सावधान कर रही है—

काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥
निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥

(६। ३७। ७-८)

संक्षेपमें कहा जाय तो धर्मका सार है निष्कामभावसे भगवान्का भजन करना। संसारकी सम्पूर्ण इच्छाओंको त्यागकर जो सेवारत होकर भगवान्के भजनमें लीन हो गया है, उसीने धर्मके मर्मको समझा है। इसी भगवत्सेवारूप भगवद्भजनरूप धर्मको श्रीरामचरितमानसमें बार-बार निरूपित किया गया है।

सामान्य धर्म और विशेष धर्म

धर्म दो प्रकारके हैं—सामान्य और विशेष[1]। सामान्य धर्म सर्वलोकोपकारी, शास्त्रसम्मत, सबके लिये यथायोग्य अधिकारानुसार आचरणीय और सर्वथा वैध होता है। वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, पिता-माता, पति-पत्नी, पुत्र-सखा, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा आदिके विभिन्न आदर्श व्यक्ति-धर्म भी—सब सामान्य धर्ममें आ जाते हैं। इसमें शास्त्रविरुद्ध विचार और आचार सर्वथा निषिद्ध हैं। अपने-अपने क्षेत्र तथा अधिकारानुसार शुभका ग्रहण तथा अशुभका परित्याग सावधानीके साथ किया जाता है। पिता, पति, गुरु, राजा आदिकी सेवा पूर्णरूपसे की जाती है, संतानका पालन-पोषण, पत्नीका सुख-हित-साधन, शिष्यका प्रिय-हित-साधन, प्रजाका पालन पूर्णरूपसे किया जाता है। पर यह सब होता है शास्त्रसम्मत। पिताकी, पतिकी, गुरुकी और धर्मात्मा राजाकी आज्ञा वहींतक स्वीकार की जाती है, जहाँतक उस आज्ञाके पालनसे उन आज्ञा देनेवाले पूजनीय जनोंका अहित न हो, भले ही अपने लिये कुछ भी त्याग करना पड़े। परंतु जो आज्ञा शास्त्रविरुद्ध होती है, जिसके अनुसार कार्य करनेसे आज्ञा देनेवालोंका भी अहित होता है, वह आज्ञा नहीं मानी जाती। जैसे पिताकी आज्ञासे पुत्रका चोरी, डकैती, खून करना और पतिकी आज्ञासे पत्नीका पर-पुरुषसे मिलना या पतिके व्यभिचारादि कुकर्मोंमें सहायक होना। इसी प्रकार पिता, पति, गुरु, राजा, मित्र, देश एवं जातिके लिये भी बड़े-से-बड़ा त्याग करके वही कार्य किये जाते हैं, जो वैध—शास्त्रसम्मत होते हैं और ऐसा ही करना भी चाहिये। 'जो शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाना आचरण करते हैं, उनको परिणाममें न सफलता मिलती है, न सुख मिलता है और न परम गति ही प्राप्त होती है' (गीता १६। २३)।

जो निज-सुखके लिये इन्द्रियोंकी वासना-तृप्ति या काम-क्रोध-लोभवश अवैध कर्म—शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं, वे तो प्रत्यक्ष पाप करते ही हैं, परंतु जो दूसरोंके लिये भी शास्त्र-विपरीत आचरण करते हैं, वे भी पापी हैं। अतएव शास्त्र-विरुद्ध आचरण किसी भी समय किसी भी हेतुसे किसीके भी लिये नहीं करना चाहिये। यही सर्वसाधारणके लिये पालनीय सनातन धर्म है।

पर एक विशेष धर्म होता है, जिसमें निज-स्वार्थका त्याग तो होता ही है, प्रिय-से-प्रिय सम्बन्धियों, वस्तुओं और परिस्थितियोंका त्याग भी सुखपूर्वक कर दिया जाता है। एक परम धर्मके लिये सभी छोटे-छोटे धर्मोंका त्याग हो जाता है। इसी प्रकार आत्मीय-स्वजनोंका त्याग भी होता है—

> तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
> बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥

'भगवान्‌से द्रोह रखनेवाले पिताकी बात प्रह्लादने नहीं मानी, विभीषणने बड़े भाई रावणका त्याग कर दिया। भरतने रामविरोधिनी मातासे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, बलिने गुरु शुक्राचार्यकी बात न मानकर वामनभगवान्‌को दान किया और व्रजाङ्गनाओंने अपने-अपने पतियोंको छोड़ दिया। पर ये कोई भी पापी नहीं हुए, न परिणाममें इन्होंने दुःख ही भोगा, वरं सारे संसारके लिये इनका चरित्र कल्याणकारी हो गया।'

इनमें प्रह्लाद तथा बलिका त्याग तो बड़े धर्मके लिये छोटे धर्मका त्याग है। विभीषणका त्याग कुछ विशेष धर्मका है, क्योंकि उसमें रावणसे द्रोह किया गया है। भरतका त्याग उससे भी ऊँचा विशेष धर्मका है; क्योंकि उसमें माताके प्रति भरतका क्रोध है तथा उनके प्रति अपशब्दोंके प्रयोगके साथ ही उनका बहिष्कार है। श्रीगोपाङ्गनाओंका त्याग सर्वथा विशुद्ध विशेष धर्मका है, जिसमें स्व-सुख-वाञ्छासे रहित केवल प्रियतम-सुखार्थ लोक-वेद-मर्यादाका—शास्त्रका प्रत्यक्ष उल्लंघन है। जहाँ कोई स्व-सुख-कामना है, जहाँ शुभ-अशुभका ज्ञान है और जहाँ कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध है, वहाँ शास्त्र-उल्लङ्घनरूप विशेष धर्मका आचरण नहीं हो सकता। बड़े धर्मके लिये छोटे धर्मका त्याग बुद्धिमानी है, विशेष लाभका

१-मनुस्मृतिमें कथित धृति और क्षमा आदिके सदृश मानवमात्रके लिये पालन करने योग्य धर्मोंको 'सामान्य धर्म' और वर्णधर्म, आश्रमधर्म, व्यक्तिधर्म आदिको 'विशेष धर्म' माना जाता है—यह सर्वथा ठीक और माननीय है। यहाँ इस लेखमें 'सामान्य धर्म' और 'विशेष-धर्म'पर दूसरे दृष्टिकोणसे विचार किया गया है।

परिचायक है। पर जहाँ धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकर्तव्य, शुभ-अशुभका कोई बोध ही नहीं है, जहाँ केवल विशुद्ध अनुराग है, वहाँ केवल एकमात्र सम्बन्ध रह जाता है। उसीका अनन्य चिन्तन होता है। उसीकी एकान्त स्मृति रहती है, जीवनका प्रत्येक स्तर और प्रत्येक कार्य सहज-स्वाभाविक ही उसी 'एक' से सम्बन्धित हो जाता है। जहाँ अपना जीवन, अपना कार्य है ही नहीं, वहीं इस विशेष धर्मका पूर्ण प्रकाश हुआ करता है और इसका एकमात्र सर्वोच्च उदाहरण है—'महाभाग्यवती श्रीगोपाङ्गनाएँ'।

भगवान्‌ने स्वयं अपनेको उनका चिर ऋणी माना है और उनके लिये कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

वे मेरे मनवाली, मेरे प्राणवाली हैं और मेरे लिये उन्होंने अपने सारे दैहिक सम्बन्धों तथा कर्मोंको छोड़ दिया है। अर्थात् वे मेरे ही मनसे मनस्विनी हैं, मेरे ही प्राणोंसे अनुप्राणित हैं और केवल मुझसे ही सम्बन्ध रखकर मेरे लिये ही कर्म किया करती हैं।

इनसे निम्नकोटिके भी बहुत-से उदाहरण हैं। एकमात्र पितृभक्तिके लिये परशुरामजीके द्वारा माताका वध, भ्रातृभक्त लक्ष्मणका पिता दशरथ आदिपर क्रोध, पतिभक्ता शाण्डिलीका पतिको वेश्यालय ले जाना, पतिव्रता ओघवतीका पतिके आज्ञानुसार अतिथिको देह समर्पण कर देना आदि। इन सभीमें उनके धर्मकी रक्षा हुई है। वे पापसे बचे ही नहीं, पापकर्म-सम्पादनसे भी प्रायः बचा लिये गये हैं। ऐसे ही गुरुभक्तिके, आतिथ्यके, मातृभक्तिके, देशभक्तिके बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। पर इस विशेष धर्मका आचरण विशेष परिस्थितिमें पहुँचे हुए परम सदाचारी, त्यागी, विरागी, एकनिष्ठ व्यक्तियोंके द्वारा ही सम्भव है। देखादेखी न तो इसका आचरण करना चाहिये, न उससे लाभ ही है, वरं उलटे हानि हो सकती है। पाप तो पल्ले बँध जाते हैं, निष्ठा रहती नहीं, इससे पतन ही हो जाता है। यहाँ विशेष धर्मके चार उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१)

प्रेमधर्मकी विशिष्ट सजीव प्रतिमाएँ— श्रीगोपाङ्गनाएँ

श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णप्रेमरूप 'अनन्य विशेष धर्म' की सजीव मूर्तियाँ थीं। उनका चित्त-मन, बुद्धि-अहंकार—सब कुछ प्रियतम श्रीकृष्णके समर्पित हो चुका था। शारदीय पूर्णिमाकी उज्ज्वल-धवल सुधा-शीतल रात्रिमें प्रकृतिकी अपरिसीम शोभा-सुषमासे संयुक्त रमणीय अरण्यमें भगवान् श्रीकृष्णने रसमयी रासक्रीडा करनेका—दिव्य प्रेमरसास्वादनरूप निज स्वरूपानन्द-वितरणका संकल्प करके मधुर मुरलीकी मधुमयी तान छेड़ी, बड़े ही मधुर स्वरमें श्रीगोपाङ्गनाओंका आवाहन किया। गोपाङ्गनाएँ तो 'श्रीकृष्णगृहीत-मानसा' थीं ही। मुरलीकी मधुर ध्वनिने उनकी प्रेमलालसाको अदम्यरूपसे बढ़ा दिया। वे सब उन्मत्त होकर चल दीं—

मुरलीके मधु स्वरमें सुनकर प्रियतमका रसमय आह्वान।
हुईं सभी उन्मत्त, चलीं तज लज्जा, धैर्य, शील, कुल, मान॥
पति, शिशु, गृह, धन-धान्य, वसन, भूषण, गौ, कर भोजनका त्याग।
चलीं जहाँ जो जैसे थीं, भर मनमें प्रियतमका अनुराग॥

जो गोपियाँ गाय दुह रही थीं, वे दुहना छोड़कर; जो चूल्हेपर दूध औटा रही थीं, वे उफनता हुआ दूध छोड़कर; जो भोजन बना रही थीं, वे अधूरा ही बना छोड़कर; जो भोजन परस रही थीं, वे परसना छोड़कर; जो छोटे-छोटे बच्चोंको दूध पिला रही थीं, वे दूध पिलाना छोड़कर; जो पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं, वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर; जो स्वयं भोजन कर रही थीं, वे भोजन छोड़कर प्रियतम श्रीकृष्णके पास चल दीं। जो अपने शरीरमें अङ्गराग, चन्दन और उबटन लगा रही थीं और जो आँखोंमें अञ्जन आँज रही थीं, वे इन सब कामोंको अधूरा छोड़कर—यहाँतक कि वस्त्रोंको भी उलटे-पलटे (ओढ़नी पहन तथा घाघरा ओढ़कर) पहनकर तुरंत चल पड़ीं। किसीने एक-दूसरीको न बताया, न कुछ कहा। कहतीं-बतातीं कैसे? मन-इन्द्रियाँ तो सब श्रीकृष्णमें तन्मय थीं। वे सब प्रियतम श्रीकृष्णके समीप पहुँच गयीं।

श्रीकृष्णने उनके विशेष धर्म—एकमात्र प्रेम-धर्मकी परीक्षाके लिये अथवा उनके प्रेमधर्मकी महिमाका विस्तार करनेके लिये उन्हें भाँति-भाँतिके भय दिखलाये, गृहस्थीके कर्तव्य तथा समस्त जनोंके अवश्य पालन करने योग्य सामान्य धर्मकी महत्त्वपूर्ण बातें समझायीं और उनसे लौट जानेका अनुरोध किया। भगवान् बोले—

'महाभागाओ! तुम्हारा स्वागत है, कहो तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? इस समय तुम क्यों आयीं? व्रजमें कुशल तो है न? देखो—घोर रात्रि है, भयानक जीव-जन्तु

घूम रहे हैं, तुम सब लौट जाओ। घोर जंगलमें रातके समय रुकना ठीक नहीं। तुम्हारे माता-पिता, पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव तुमको न देखकर भयभीत हुए ढूँढ़ रहे होंगे। तुमने वनकी शोभा देख ही ली। अब जरा भी देर न करके तुरंत लौट जाओ। तुम सब कुलीन महिलाएँ हो, सती हो। जाओ, अपने पतियोंकी सेवा करो। देखो, तुम्हारे छोटे-छोटे बच्चे रो रहे होंगे और गायोंके बछड़े रँभा रहे होंगे। बच्चोंको दूध पिलाओ, गौओंको दुहो। मेरे प्रेमसे आयी हो सो उचित ही है। मुझसे सभी जीव प्रेम करते हैं। परंतु कल्याणी गोपियो! स्त्रियोंका परम धर्म ही है पतियोंकी, उनके भाई-बन्धुओंकी सेवा करना और संतानका पालन-पोषण करना। जिन स्त्रियोंको श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति अभीष्ट हो, वे एक पातकी (भगवद्विमुख) पतिको छोड़कर बुरे-स्वभाववाले, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी और निर्धन पतिका भी त्याग न करके उसकी सेवा करे। कुलीन स्त्रियोंके लिये उपपतिकी सेवा करना सब तरहसे निन्दनीय, लोकमें अकीर्ति करनेवाला, परलोकको बिगाड़नेवाला और स्वर्गसे वञ्चित करनेवाला है। इस अत्यन्त तुच्छ क्षणिक कुकर्ममें कष्ट-ही-कष्ट है। यह सर्वथा परम भय—नरक-यातना आदिका हेतु है। मेरा प्रेम तो दूर रहकर कीर्तन-ध्यानसे प्राप्त होता है। अतएव तुम तुरंत लौट जाओ।'

श्रीकृष्णका यह भाषण सुनकर गोपियाँ एक बार तो बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं, पर पवित्र प्रेमका स्मरण आते ही उन्होंने कहा—'प्रियतम! तुम हमारे मनकी सब जानते हो। हमारे तो एकमात्र धर्म-कर्म सब कुछ तुम ही हो; तुम्हारे चरणकमलोंको छोड़कर हम कहाँ जायँ और कहीं जाकर भी क्या करें।' भगवान्ने उनकी परम त्यागमयी तथा अनन्य भावमयी—रसमयी प्रीतिका आदर किया और उन्हें पहलेसे ही अपना रखा है—इसका प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। श्रीगोपाङ्गनाएँ इस विशेष धर्मकी प्रत्यक्ष जीवित प्रतिमाएँ हैं। उनका भाव और मनोरथ है—

स्वर्ग जायँ या पड़ी रहें हम घोर नरकमें आठों याम।
यश पायें या कहलायें व्यभिचारिणि-कुलटा, हों बदनाम॥
सुख पायें या घिरी रहें हम नित दुःखोंमें ही अविराम।
देखे बिना न रह सकतीं पल हम मोहन-मुख-चन्द्र ललाम॥
पड़े पैर-हाथोंमें बेड़ी-कड़ी, बँधे बन्धन विकराल।
पीना पड़े हलाहल विष, फिर पड़े खिंचानी कच्ची खाल॥
रहे झूलती जीवन-उरपर नित भीषण दुःखोंकी माल।
भूलें नहीं भूलकर, पलभर, हम प्राणप्रियतम नँदलाल॥
तन-धन परिजन रहें, जायँ या, मिटे-रहे सुन्दर संसार।
धर्म-कर्म-लज्जा-कुलमर्यादाका हो चाहे संहार॥
मिटे मान-सम्मान, मिले अपमान, छिनें सारे अधिकार।
उतरें नहीं हृदयसे पलभर चित्त-वित्त-हर नन्दकुमार॥
आयें काले काले बादल, आये भीषण झंझावात।
घन गरजे, घन बरसे पत्थर, बार-बार हो विद्युत्-पात॥
कष्ट-अशान्ति-क्लेश सब आकर करें नित्य नूतन उत्पात।
डूबीं रहें मधुरतम प्रियकी मधुमय स्मृतिमें हम दिन-रात॥
पुण्य बने या लगे पाप भीषण, हो चाहे कर्म-अकर्म।
हो अतिशय यातना घोर, सब मिट जायें वाञ्छित सुख-शर्म॥
चुभती रहे शूल उर संतत, बिंधता रहे सदा ही मर्म।
छूटें नहीं कभी मनमोहन—यही परम सुख, यही सुधर्म॥
प्रियतम स्वयं न चाहें चाहे, चाहे करें नहीं स्वीकार।
विनय-प्रार्थना करनेपर भी मिले मार, चाहे दुत्कार॥
पहरेदार भले बैठा दें, बंद करा दें सारे द्वार।
तनिक न दोषदृष्टि हो, पल-पल प्रिय-पद बढ़े प्रेम अविकार॥

(२)

पितृभक्त परशुराम

महर्षि जमदग्नि परम तपस्वी थे। उनकी पत्नी थी राजा प्रसेनजित्की पुत्री रेणुका। रेणुका बड़ी धर्मशीला-पतिव्रता थीं। एक दिन वे स्नान करने गयी थीं। स्नान करके लौटते समय दैवयोगसे उन्होंने जलक्रीड़ा करते हुए राजा चित्ररथको देख लिया। जल-विहार-रत राजाको देखते ही क्षणभरके लिये उनके मनमें कुछ क्षोभ हो गया। पर वे इस मानस-विकारसे अत्यन्त घबरा गयीं और बहुत डरती-डरती तुरंत आश्रममें लौट आयीं। जमदग्नि मुनिने अपनी सिद्धिके बलसे सारी बातें जान लीं और रेणुकाको मानस-पापके कारण ब्राह्मतेजसे च्युत हुई देखकर बहुत धिक्कारा।

रेणुकाके पाँच पुत्र थे—रुक्मवान्, सुषेण, वसु, विश्वावसु और परशुराम। परशुराम उस समय नहीं थे। जमदग्निने क्रमशः अपने चारों पुत्रोंसे कहा कि 'तुम अपनी इस

माताको तुरंत मार डालो।' किंतु वे इस आज्ञाको न मान सके और चुपचाप सहमे हुए-से खड़े रह गये। तब मुनिने शाप देकर उन चारोंको विचारशक्तिसे शून्य पशु-पक्षियोंके सदृश जडबुद्धि बना दिया। इसके बाद परशुराम आये। परशुराम बड़े तेजस्वी और महान् पराक्रमी थे और थे पिताके अनन्य भक्त। वे पिताकी आज्ञाका पालन करना ही अपना एकमात्र धर्म मानते थे। जमदग्निने परशुरामसे कहा—'पुत्र! अपनी इस पापिनी माताको तू अभी मार डाल और मनमें किसी प्रकारका खेद मत कर।' परशुरामजीने पिताकी आज्ञा पाते ही उसी क्षण फरसा लेकर माताका मस्तक काट दिया।

रेणुकाके मरते ही जमदग्निका क्रोध सर्वथा शान्त हो गया और वे प्रसन्न होकर कहने लगे—'बेटा! तूने मेरी बात मानकर वह काम किया है, जिसे करना बहुत कठिन है। इसलिये तू अपनी मनमानी सब चीजें माँग ले। पिताकी बात सुनकर विचारशील परशुरामजीने कहा—'पिताजी! मेरी माता जीवित हो जायँ और उन्हें मेरे द्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे। उनके मानस-पापका सर्वथा नाश हो जाय। मेरे चारों भाई पूर्ववत् स्वस्थ, बुद्धिमान् हो जायँ। युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं दीर्घ आयु प्राप्त करूँ।' जमदग्निजीने वरदान देकर परशुरामजीकी सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं। इस प्रकार पितृ-आज्ञा-पालनरूप विशेष धर्मके पालनसे परशुरामजी पापसे ही मुक्त नहीं हुए, वरं उच्च स्थितिको प्राप्त हो गये।

(३)

भ्रातृभक्त लक्ष्मण

भगवान् श्रीरामके वनगमनकी बात सुनकर लक्ष्मणजीको बड़ा क्षोभ हुआ और वे इसे पिता दशरथ एवं माता कैकेयीका अन्याय मानकर उन्हें दण्ड देनेको तैयार हो गये। उन्होंने कहा—'भाईजी! मैं पिताकी, और जो आपके अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रको राज्य देनेके प्रयत्नमें लगी हुई है, उस कैकेयीकी सारी आशाको जलाकर भस्म कर दूँगा'—

अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव।
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते॥
(वा० रा०, अयोध्या० २३। २३)

फिर जब राम वन जाने लगे, तब तो लक्ष्मण रो पड़े और श्रीरामजीके पैर पकड़कर बोले—'भैया! मैं आपके बिना यहाँ नहीं रह सकता। अयोध्याका राज्य तो क्या है—मैं आपके बिना स्वर्ग जाने, अमर होने या देवत्व प्राप्त करने तथा समस्त लोकोंका ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी भी इच्छा नहीं रखता।'

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥
(वा० रा०, अयोध्या० ३१। ५)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी उस समयका वर्णन करते हुए लक्ष्मणजीकी उन्हें साथ ले चलनेके लिये विनीत प्रार्थनाका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—भगवान् राम जब लक्ष्मणको नीतिका उपदेश करके घर रहनेका अनुरोध करते हैं, तब लक्ष्मण अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, प्रेमवश उत्तर नहीं दे पाते और अकुलाकर चरण पकड़ लेते हैं तथा कहते हैं—

नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ॥
दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराई
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला
गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई

इसके पहले जनकपुरमें धनुषयज्ञके अवसरपर भगव[ान्] श्रीरामके वहाँ समुपस्थित रहते जब जनकजीने 'वसुंधरा [...] वीरविहीन' बता दिया, तब लक्ष्मणजीने उसे श्रीराम[का] अपमान समझा और वे जनकका तिरस्कार कर बैठे। फि[र] परशुरामजीके साथ जो खरी-खोटी चर्चा हुई, उससे [...] स्पष्ट होता है कि लक्ष्मणजी श्रीरामका किसी प्रकार तनिक सा भी तिरस्कार नहीं सह सकते।

चित्रकूटमें जब भरतजीके सदल-बल आनेकी बा[त] सुनी, तब राम-प्रेमवश वहाँ भी आप उत्तेजित हो उठे भगवान् रामने अयोध्यामें भी, यहाँ भी लक्ष्मणको समझाय सँभाला, पर लक्ष्मणजी अपने विशेष धर्म भ्रातृ-प्रेमके लि[ये]

सब कुछ करनेको तैयार थे।

(४)

पतिपरायणा शाण्डिली

नाम तो था शैव्या, किंतु शाण्डिल्य-गोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण लोग उन्हें शाण्डिली कहते थे। उनका विवाह प्रतिष्ठानपुरके कौशिक नामके ब्राह्मणसे हुआ था। विधाताका विधान भी कैसा है—शाण्डिली परम सुन्दर, शीलवान् एवं धर्मनिष्ठ थीं और कौशिक अपने दुष्कर्मोंके कारण कोढ़ी हो गया था। इतनेपर भी उसकी इन्द्रियलोलुपता मिटी नहीं थी।

'पतिकी सेवा ही नारीका परम धर्म है'—यह निश्चय रखनेवाली वे महनीया कोढ़ी पतिके घाव धोतीं, उसके पैरोंमें तेल लगातीं, उसे नहलातीं, वस्त्र पहिनातीं और अपने हाथसे भोजन करातीं। लेकिन ब्राह्मण कौशिक क्रोधी था। वह अपनी पत्नीको डाँटता-फटकारता रहता था।

एक दिन उस कोढ़ी ब्राह्मणने घर बैठे-बैठे मार्गसे जाती वेश्याको देख लिया। उसका चित्त बेचैन हो गया। स्वयं तो कहीं जा सकता नहीं था, निर्लज्जतापूर्वक पत्नीसे ही उसने अपनेको वेश्याके पास ले चलनेको कहा। पतिव्रता पत्नीने चुपचाप पतिकी बात स्वीकार कर ली। कमर कस ली और पर्याप्त शुल्क ले लिया, क्योंकि अधिक धन पाये बिना तो वेश्या कोढ़ीको स्वीकार करनेवाली नहीं थी। इसके बाद पतिको कंधेपर बैठाकर वे घरसे चलीं।

संयोगकी बात, उसी दिन माण्डव्य ऋषिको चोरीके संदेहमें राजाने शूलीपर चढ़वा दिया था। शूली मार्गमें पड़ती थी। अन्धकारपूर्ण रात्रि, आकाशमें मेघ छाये, केवल बिजली चमकनेसे मार्ग दीखता था। पतिको कंधेपर बैठाये शाण्डिली जा रही थीं। शूली शरीरमें चुभी होनेसे माण्डव्य ऋषिको वैसे ही बहुत पीड़ा थी, अन्धकारमें दीख न पड़नेके कारण कंधेपर बैठे कौशिकके पैर शूलीसे टकरा गये। शूली हिली तो ऋषिको और पीड़ा हुई। ऋषिने क्रोधमें शाप दे दिया—'जिसने इस कष्टकी दशामें पड़े मुझे शूली हिलाकर और कष्ट दिया है, वह पापात्मा, नराधम सूर्योदय होते ही मर जायगा।'

बड़ा दारुण शाप था। सुनते ही शाण्डिलीके पद रुक गये। उसने भी दृढ़ स्वरमें कहा—'अब सूर्योदय ही नहीं होगा।'

प्राणका भय बड़ा कठिन होता है। मृत्यु सम्मुख देखकर कौशिक ब्राह्मणकी भोगेच्छा मर गयी। उसके कहनेसे शाण्डिली उसे लेकर घर लौट आयीं। किंतु समयपर सूर्योदय नहीं हुआ तो सारी सृष्टिमें व्याकुलता फैल गयी। धर्म-कर्म—सबका लोप होनेकी सम्भावना हो गयी। देवता व्याकुल हो गये। ब्रह्माजीकी शरण ली देवताओंने। ब्रह्माजीने उन्हें महर्षि अत्रिकी पत्नी अनसूयाजीके पास भेजा। देवताओंकी प्रार्थनासे अनसूयाजी उस सतीके घर पधारीं। शाण्डिलीने अनसूयाजीको प्रणाम करके उनकी पूजा की और उनसे पूछा—

'देवि! आपने पधारकर मुझे कृतार्थ किया। पतिव्रताओंमें आप शिरोमणि हैं। आपके आनेसे मेरी श्रद्धा पतिसेवामें और बढ़ गयी। मैं और मेरे पतिदेव आपकी क्या सेवा करें?'

'तुम्हारे वचनसे सूर्योदय नहीं हो रहा है। इससे धर्मकी मर्यादा नष्ट हो रही है। तुम सूर्योदय होने दो, क्योंकि पतिव्रता नारीके वचनको टालनेकी शक्ति त्रिलोकीमें दूसरे किसीमें नहीं है।' अनसूयाजीने कहा।

'देवि! पति ही मेरे परम देवता हैं। पति ही मेरे परम धर्म हैं। पतिसेवा छोड़कर मैं दूसरा धर्म-कर्म नहीं जानती।' शाण्डिलीने कातर प्रार्थना की।

'डरो मत! सूर्योदय होनेपर ऋषिके शापसे तुम्हारे पति प्राणहीन तो हो जायँगे; किंतु मैं उन्हें पुनः जीवित कर दूँगी।' अनसूयाजीने आश्वासन दिया।

'अच्छा, ऐसा ही हो!' ब्राह्मणीने कह दिया। तपस्विनी अनसूयाजीने अर्घ्य उठाया और सूर्यका आवाहन किया तो तत्काल क्षितिजपर सूर्यबिम्ब उग आया। सूर्य उगते ही ब्राह्मण कौशिक प्राणहीन होकर गिर पड़ा।

'यदि मैंने पतिको छोड़कर संसारमें और कोई पुरुष जाना ही न हो तो यह ब्राह्मण जीवित हो जाय। रोगहीन युवा होकर पत्नीके साथ दीर्घकालतक सुख भोगे।' अनसूयाजीने यह प्रतिज्ञा की। ब्राह्मण तुरंत जीवित होकर बैठ गया। उसके शरीरमें रोगके चिह्न भी नहीं थे। वह सुन्दर, स्वस्थ युवा हो गया था। इस प्रकार पातिव्रत्य-रूप विशेष धर्मके बलपर शाण्डिलीने सब कुछ पा लिया।
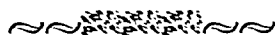
सनातनधर्म ही सार्वभौम धर्म है

(श्रीगंगाधर गुरुजी, एडवोकेट)

येन विश्वमिदं नित्यं धृतं चैव सुरक्षितम्।
सनातनोऽक्षरो यस्तु तस्मै धर्माय वै नमः॥
आयुःप्राणधनादिसर्वविषयो विद्युन्निभश्चञ्चलः
संसारे परिवर्तिनि ध्रुवमिदं किंचिच्च नाचञ्चलम्।
धर्मः केवलमेव निश्चलपदं प्राप्नोति मृत्युञ्जय-
स्तस्मात् संततमेकनिष्ठमनसा सेवस्व धर्मामृतम्॥

जिसने इस सम्पूर्ण विश्वको नित्य धारण कर रखा है और जो सतत इसका सब प्रकारसे पालन-पोषण तथा रक्षा करता है, उस सनातन अविनाशी धर्मको नमस्कार है। इस सतत परिवर्तनशील संसारमें प्राणियोंकी आयु, प्राण, धन इत्यादि जो कुछ भी है, सब कुछ विद्युत्के समान चञ्चल है, प्रतिपल विनष्ट होनेवाला है। इस संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो नित्य ध्रुव रहनेवाला हो और जो नष्ट होनेवाला न हो। निश्चल तथा सदा स्थिर रहनेवाला यदि कोई है तो वह है केवल कालजयी धर्म। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह एकनिष्ठ-मनसे अमृतस्वरूपी धर्मका ही सदा सेवन करे, आचरण करे।

दुःख-भिन्न आनन्द-सुख-भोगकी लिप्सा मनुष्योंकी जन्मगत प्रवृत्ति है—स्वभाव है। महर्षि याज्ञवल्क्यने ठीक ही कहा है—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

(बृहदारण्यक उप० २।४।५ एवं ४।५।६)

इस वैज्ञानिक युगमें आमोद-प्रमोदके लिये विविध उपकरण प्रस्तुत दीखते हैं। व्योमयानसे हम आकाशमें पक्षीकी तरह उड़ते, जलचरोंकी भाँति जलयानोंद्वारा जलमें विहार करते और स्थलयानोंसे शीघ्र सुदूरकी यात्रा भी कर लेते हैं। दूरस्थ बन्धुओंसे भी टेलीफोन आदिद्वारा हम बातचीत कर लेते तथा टेलीविजनद्वारा दूरस्थ बन्धुओंको देख लेते हैं। बाह्य प्रकृतिको तो वैज्ञानिकोंने जीत-सा लिया है। विज्ञानके द्वारा इस समय कुछ भी असाध्य नहीं दीखता। इतना होनेपर भी हम अन्तरसे शान्त-सुखी नहीं हैं। अधिक क्या, पूरे विश्वमें ही शान्तिका कहीं दर्शन नहीं होता। सर्वत्र युद्ध तथा शस्त्रास्त्रोंकी विभीषिका व्याप्त है। दुर्बल देश भी इस समय अण्वादि तीक्ष्णतम मारण-यन्त्रोंके उद्भावन—निर्माणमें तत्पर दीख रहे हैं। वस्तुतः इस भोग-तृष्णा-विवर्धिनी भौतिक उन्नतिकी होड़में कभी भी प्राणी शान्ति-सुधाका पान नहीं कर सकेगा। कहा भी गया है—

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥

(महाभा०, वनपर्व २। ३५)

अर्थात् तृष्णा सर्वाधिक पापमयी है और यह प्राणीको सदा उद्विग्न करती रहती है। इसके ही कारण घोर पाप तथा अधर्मका आचरण करना पड़ता है। इस तृष्णाके परित्यागमें ही व्यक्ति, देश तथा समाजका श्रेय है। व्यासजीने ठी कहा है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

(महाभा०, शान्ति० १७४।

अर्थात् जो कुबुद्धियोंके लिये दुस्त्यज है, जो श जीर्ण हो जानेपर भी जीर्ण नहीं होती, जो प्राण रोग बनकर रहती है, उस तृष्णाको तो छोड़ देने कल्याण है।

इस पतनकारी तृष्णा आदिका परित्याग धर्मके ब ही सम्भव है और वह धर्म सत्यरूप है। सत्य, समता, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता), अन त्याग, परमात्माका ध्यान, श्रेष्ठ आचरण, धैर्य और अहिंसा १३ सत्य धर्मके ही रूप हैं। (महा०, शान्ति० १६२।८- भीष्म आदिने धारण-गुणयुक्त होनेसे ही इसे धर्म कहा भागवतमें इस धर्मके सत्य, दया आदि ३० लक्षण बत गये हैं।

इसी तरह जो अधर्म है वह तम है, जो तम है दुःख है। सत्यके बिना प्रकाश सम्भव नहीं है। मेघा तमसाच्छन्न आकाशमें जिस प्रकार सूर्य-प्रभा नहीं दीख उसी प्रकार छलपूर्ण जीवनमें सत्य प्रकाशित नहीं हो

महात्मा विदुरने ठीक ही कहा है—'**न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्।**' (महाभारत, विदुर-प्रजागरपर्व ३४)। जहाँ धर्म विराजता है, वहीं जय होती है—

यतो धर्मस्ततो जयः।

(महा०, भीष्म० २१। ११)

अतः धर्मानुसरणमें ही शान्ति है, मुक्ति है। धर्मपरायण व्यक्तिको अपने सारे धर्म-कर्मोंको ब्रह्मार्पण करना चाहिये—ऐसा ईशोपनिषद्का उपदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतःसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोप० २)

जिस देश या समाजमें धर्म—चरित्रसम्पन्न नियमानुवर्ती कर्तव्यपरायण सभ्य लोग रहते हैं, वहाँ सौभाग्यलक्ष्मी प्रकाशित होती है। वहाँ समता, सुख, समृद्धिकी वृद्धि होती है। अहिंसा, सत्य, संयम, दया, मैत्री, परोपकार, कर्मकुशलता, स्वार्थत्याग, मुमुक्षा आदि देवदुर्लभ गुण जिस देशके लोगोंमें रहते हैं, वह देश उन्नतिके शिखरपर जा पहुँचता है। पर जहाँके लोग अधर्ममुखापेक्षी, विलासी, भोगपरायण, आलसी तथा स्वार्थी हो जाते हैं, वहाँ सुख-शान्तिकी कल्पना वैसी ही निरर्थक है, जैसी मरुभूमिमें प्रबल धारायुक्त महानदीकी और गगनमें प्रासाद-निर्माणकी कल्पना व्यर्थ है। वहाँ तो सत्त्वद्वेषी काम-क्रोध, लोभ, दमन, वैर-हिंसा आदिका ही पैशाचिक ताण्डव-नृत्य दृष्टिगोचर होता है। गीतामें इन्हें ही नरकका द्वार कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(१६। २१)

धर्मशास्त्रोंका उपदेश है—पर-स्त्रीको माताके तुल्य, परद्रव्यको मिट्टीके तुल्य तथा समस्त भूतोंको आत्मवत् ही समझो—

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

पितामह भीष्मके द्वारा किसीपर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धनको बाँटकर भोगना, समभाव रखना, अपनी ही पत्नीसे संतान पैदा करना, बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, किसीसे द्रोह न करना, सरल भाव रखना और भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका पालन करना—ये नौ सामान्य धर्म कहे गये हैं जो सभी वर्णोंके द्वारा अनुपालनीय हैं—

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।

(महाभारत, शान्ति० ६०। ७-८)

महाराज मनुके अनुसार धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्म सभीके लिये उन्नतिकारक हैं, शान्ति-स्थापनामें सहायक हैं, अभ्युदय एवं निःश्रेयसके हेतु हैं, अतः इनका पालन करना धर्म है।

अमरकोषके अनुसार धर्मका अर्थ—पुण्य, यम, नीति (न्याय), स्वभाव, आचार एवं यज्ञ होता है। यमका अर्थ इन्द्रियसंयम तथा मृत्युपति धर्मराज भी है। ये मृत्युपति यम वस्तुतः संयमकी प्रतिमूर्ति हैं। वे निरपेक्षतापूर्वक पुण्यात्मा एवं पापियोंके लिये दण्ड धारण करते हैं, अतः यम हैं। इसी प्रकार दमनार्थक सत्य, क्षमा, सरलता, अहिंसा, कोमलता, प्रीति, माधुर्य आदि भेदसे यम भी दस प्रकारके कहे गये हैं—

सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ध्यानमानृशंस्यमहिंसनम्।
दमः प्रसादो माधुर्यं मृदुतेति यमा दश॥

इसी प्रकार स्वाभाविक विशेषता भी धर्म है—जैसे सूर्यका तेज या अग्निकी दाहिकाशक्ति स्वाभाविकरूपसे उसमें प्रतिष्ठित रहती है, इसी प्रकार अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम-धर्मके अनुरूप कर्तव्यों—धर्मोंका अनुपालन उसका विशेष धर्म है। जैसे ब्राह्मण-धर्म, क्षत्रिय-धर्म, गृहस्थ-धर्म, संन्यास-धर्म इत्यादि। इन सबका लक्ष्य है आत्मोद्धार तथा विश्वकल्याण।

सनातनधर्म इहामुत्र कल्याणकर है। यही मनुष्यको ब्रह्मतक प्राप्त कराता है। जिस नीति तथा धर्मके आचरणद्वारा परस्पर संघर्ष न हो, उसीका अनुष्ठान करना चाहिये। इसी प्रकार शिक्षक, विद्यार्थी, शासक आदिको तथा पिता, माता, पुत्रादि—सबको अपने-अपने धर्मको समझकर ठीक-ठीक

उसका पालन करना चाहिये। सभीको दूसरेके अधिकारोंकी रक्षा तथा स्वकर्तव्यका पालन करना चाहिये। कर्तव्यत्यागी तथा अधिकारलिप्सु होना समाज तथा देशकी शान्तिमें बाधक होता है। कर्तव्यपरायण होनेपर अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था सनातन वैदिक धर्मकी विशेषता है। यह युक्तिसिद्ध तथा विज्ञानसिद्ध है। जैसे शरीरमें हाथ, पैर, नाक, कान, आँख आदिकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं और सबके अपने-अपने कर्तव्य हैं, वैसे ही चारों वर्णोंकी उपयोगिता है। अपने कुलक्रमागत स्वधर्मका कभी परित्याग नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने यथार्थ ही कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

(गीता १८। ४८)

अतः सभी वर्णोंको स्वार्थका परित्याग करके जनता-जनार्दनकी सेवाके लिये अपने-अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

इसी प्रकार आश्रम-धर्मकी भी परम उपादेयता है। इसमें विपर्यास करनेसे जीवनमें कठिनाइयाँ अवश्य आयेंगी, असफलता ही मिलेगी।

यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि सारी वसुधा ही अपना कुटुम्ब है—'**वसुधैव कुटुम्बकम्।**' एक ही अमृत परमात्माके पुत्र होनेसे ज्येष्ठ-कनिष्ठके समान हम सभी एक ही परिवारके सदस्य हैं। सनातनधर्मी तो सदा ही सबके कल्याणकी ही कामना करते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग्भवेत्॥

इस तरह सनातनधर्म ही वास्तवमें कल्याणकारी धर्म है। यही सार्वभौम मानव-धर्म है। इसके बिना विश्व-शान्ति असम्भव है। अतः रक्षा एवं शान्तिकी कामना करनेवालोंको धर्मकी ही रक्षा करनी चाहिये—

धर्मे वर्धति वर्धन्ते सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन् ह्रसति ह्रीयन्ते तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥

(महाभा०, शा० ९०। १७)

'सभी प्राणी धर्मकी वृद्धि होनेपर बढ़ते हैं तथा धर्मके घटनेपर क्षीण होते हैं, अतः धर्मको कभी लुप्त न होने दे।'—(प्रेषक—श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु)
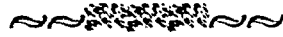
(२)

(योगी श्रीआदित्यनाथजी)

सनातनधर्म मानवताका मर्म और वर्म है। यह किसी विशेष मतवाद, उपासना-पद्धति अथवा आचारनिष्ठाका नाम नहीं है, प्रत्युत जगन्नियन्ता परमात्माद्वारा लोकयात्राको सुगम बनानेके लिये बनाया गया अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रवर्तमान रहनेवाला वह विधि-विधान है, जो सभी देशों, कालों एवं सभी सभ्य समाजोंमें सुखी और समृद्ध जीवनके लिये आवश्यक है।

जब हम सनातनधर्मके सार्वभौम धर्म होनेकी बात करते हैं, तब हमारी दृष्टिमें निर्विशेष साधारण धर्म होता है, जिसका सम्यक् स्वरूप धर्मशास्त्रकारोंने तथा राग-द्वेष-विनिर्मुक्त पारदृश्वा मनीषियोंने बहुधा समझा और समझाया है; क्योंकि धर्मकी गति बहुत ही सूक्ष्म और गहन है और इसे एक निश्चित परिभाषामें बाँधना कठिन है, इसलिये आद्य व्यवस्थापक भगवान् मनुने सनातनधर्मके निरूपणमें दस प्रमुख लक्षणोंकी चर्चा की है, जिससे महान् धर्म संकेतित होता है। उन्होंने कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

मानवेन्द्र मनुद्वारा प्रकट धर्मके धृति, क्षमा आदि उक्त दस लक्षण बहुचर्चित और सर्वज्ञात हैं। ये सभी अपने स्वरूपमें न हिन्दू हैं न मुसलमान, न यहूदी हैं न मुहम्मदी, न ईसाई हैं और न अन्य कोई, बल्कि ऐसे जीवन-मूल्य हैं जो दैवी सम्पत्तिके रूपमें, कल्याणकारी दिव्य गुणोंके रूपमें सर्वमान्य हैं। इसीलिये सभी धर्म-सम्प्रदायों, मज़हबों, पंथों और उपपंथोंमें इनका समानरूपसे समादर है तथा सभी देशों और कालोंमें इनकी मान्यता और महिमा

सर्वोपरि है। इन जीवन-मूल्योंकी महिमाकी प्रशंसा करते हुए हमारे मनीषियोंने—'**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**' अर्थात् धर्म सम्पूर्ण चराचर जगत्का आधार है तथा '**विश्वं धर्मे प्रतिष्ठितम्**' अर्थात् सब कुछ धर्मपर ही टिका है-जैसी सुविचारित घोषणाएँ की हैं! इसीलिये महामति वेदव्यासने तो यहाँतक कह दिया है कि '**न धर्मं त्यजेजीवितस्यापि हेतोः**' अर्थात् जहान तो क्या जानकी रक्षाके लिये भी धर्म नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि '**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः**' यह भूतार्थ वचन अनुभूतार्थ भी है। भागवतमें सबको संतोष देनेवाले सत्य, दया, तप, शौच, शम आदि तीस लक्षणोंसे युक्त जिस धर्मकी चर्चा हुई है, वह भी अपनी व्याप्तिमें सार्वभौम है, सनातन है।

भारतीय ज्ञान-गङ्गाके भगीरथ श्रीवेदव्यासजीने सत्य सनातनधर्मकी व्याख्या करते हुए बड़ी ही उदात्त और उदार विवेचना की है। उन्होंने महाभारतमें कहा है—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

अर्थात् धारण करनेके कारण 'धर्म' कहा जाता है। धर्म समाजके विभिन्न प्राणियोंको उनके बलाबलके बावजूद धारण करता है। प्राणियोंमें परस्पर अहिंसात्मक सद्भावनाके लिये 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्तपर चलनेके लिये धर्मका उपदेश किया गया है। अतः जो अहिंसासे युक्त हो वही धर्म है, ऐसा धर्मात्माओंका निश्चय है। इहलोकमें प्राणियोंका अभ्युदय और उन्नतिके लिये धर्मका प्रवचन किया गया है। अतः जो इस उद्देश्यसे युक्त हो, वही धर्म है। ऐसा शास्त्रवेत्ताओंका निश्चय है।

धर्मकी यह व्यापक उदार अवधारणा किसी भी देश, काल और समाजके लिये सर्वथा ग्राह्य है, इसलिये इसकी उपादेयता स्वयंसिद्ध है। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि सत्य सनातनधर्म ही ऐसा सार्वभौम धर्म है, जिसका स्वल्प भी आचरण महान् भयसे रक्षा करता है, गीतामें भगवान्की वाणी है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(२। ४०)

यदि यह धर्म अपने वास्तविक रूपमें जीवनमें व्यक्त होने लगे तो मनुष्य देवत्वको प्राप्त कर सकता है।
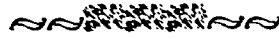
पापी और पुण्यात्माओंके लोक

आसंयोगात् पापकृतामपापांस्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावान्न मिश्रः स्यात् पापकृद्भिः कथंचित्॥
पुण्यस्य लोको मधुमान् घृतार्चिर्हिरण्यज्योतिरमृतस्य नाभिः।
तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम्॥
पापस्य लोको निरयोऽप्रकाशो नित्यं दुःखं शोकभूयिष्ठमेव।
तत्रात्मानं शोचति पापकर्मा बह्वीः समाः प्रतपन्नप्रतिष्ठः॥

'जैसे सूखी लकड़ियोंके साथ मिली होनेसे गीली लकड़ी भी जल जाती है, उसी तरह पापियोंके सम्पर्कमें रहनेसे धर्मात्माओंको भी उनके समान दण्ड भोगना पड़ता है; इसलिये पापियोंका संग कभी नहीं करना चाहिये। पुण्यात्माओंको मिलनेवाले सभी लोक मधुर सुखकी खान और अमृतके केन्द्र होते हैं। वहाँ घीके चिराग जलते हैं। उनमें सुवर्णके समान प्रकाश फैला रहता है। वहाँ न मृत्युका प्रवेश है, न वृद्धावस्थाका। उनमें किसीको कोई दुःख भी नहीं होता। ब्रह्मचारीलोग मृत्युके पश्चात् उन्हीं लोकोंमें जाकर आनन्दका अनुभव करते हैं। पापियोंका लोक है नरक, जहाँ सदा अँधेरा छाया रहता है। वहाँ अधिक-से-अधिक शोक और दुःख प्राप्त होते हैं। पापात्मा पुरुष वहाँ बहुत वर्षोंतक कष्ट भोगते हुए अस्थिर एवं अशान्त रहते हैं, उन्हें अपने लिये बहुत शोक होता है।' (महाभारत, शान्तिपर्व ७३। २३, २६-२७)
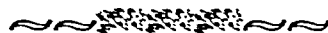
धर्म और सम्प्रदाय

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभा०, क० प० ६९। ५८)

'धृञ् धारणे' धातुसे धर्म-शब्दकी निष्पत्ति होती है। 'धृञ्' धातुका अर्थ है धारण करना। इसी धातुसे 'धर्म' शब्द बना है। अतः धर्मका अर्थ है धारण करनेवाला—'धार्यत इति धर्मः।'

तथा—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। जिससे इस लोकमें उन्नति हो तथा परलोकमें कल्याण हो, वह धर्म कहलाता है। इसका अर्थ हुआ कि लोक तथा परलोक दोनोंको जो धारण करे वह धर्म है।

धर्मसे ही मनुष्य महान् है

अग्निका धर्म है उष्णता। उष्णता ही अग्निके अग्नित्वको धारण करती है। अग्निमें उष्णता न रहे तो वह भस्म होगी, अग्नि नहीं रहेगी। इसी प्रकार मनुष्यमें धर्म न हो तो द्विपाद होकर भी वह पशु या पिशाच भले हो, मनुष्य नहीं कहला सकता। भगवान् व्यासने कहा है—

नहिं मानुषात् परतरं हि किंचित्।

मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है। विश्वकविने इसी स्वरमें स्वर मिलाया—

सर्वोपरि मानुष। मानुषोपरि नाहि।

परंतु मनुष्य सर्वोपरि क्यों है? तड़क-भड़कवाले वस्त्र पहिननेके कारण? ऊँचे महलोंमें रहनेके कारण? मोटर या हवाई जहाजमें घूमनेके कारण? अथवा शीघ्र-से-शीघ्र अधिक-से-अधिक प्राणियोंके संहारके नवीन-नवीन उपायोंको खोज निकालनेके कारण?

देखिये, मनुष्यकी बुद्धिमत्ताकी डींग मत हाँकिये! मनुष्यकी बुद्धिने जितना अनर्थ किया है और कर सकती है, उतना कोई पशु-पक्षी न कर सका, न कर सकता है। योजनापूर्वक विश्वसंहारके शस्त्र पशु नहीं बना सकता। पशु अपने आहारके लिये हिंसा भले करे, पाल-पालकर पशु-पक्षियोंको पेटमें पहुँचानेकी नृशंसता वह नहीं करता।

अच्छा, इसे भी छोड़िये। जंगलमें केवल कौपीन लगानेवाली, पेड़ोंपर रहनेवाली जो जातियाँ हैं, उन्हें आप मनुष्य मानते हैं या कुछ और? हाथी, कुत्ते, घोड़े, कबूतर, चींटियाँ अनेक बार इतनी सूझ-बूझका काम करते देखे गये हैं कि अनेक मनुष्योंमें उतनी समझदारी नहीं होती। इसीलिये बुद्धिके कारण मनुष्य श्रेष्ठ है, यह बात ठीक नहीं है और न भगवान् व्यास अथवा विश्वकविने ही मनुष्य होनेके कारण पक्षपातपूर्वक मनुष्यको श्रेष्ठताका पदक दिया है।

मनुष्य श्रेष्ठ है धर्मके कारण। धर्माधर्म—कर्तव्याकर्तव्यका विचार, मरणके पश्चात् भी जीवकी सत्ताकी मान्यता तथा ईश्वरानुभूतिकी क्षमता केवल मनुष्यमें है। इसीलिये मनुष्य श्रेष्ठ है।

प्रकृतिने ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक्स्रोत तथा अधःस्रोत—ये तीन प्रकारके प्राणी बनाये हैं। वृक्ष ऊर्ध्वस्रोत हैं। उनका रस मूलसे ऊपर जाता है। इसका अर्थ है कि वे विकासोन्मुख हैं। पशु-पक्षी प्रभृति तिर्यक्स्रोत हैं। उनका शरीर भूमिके समानान्तरप्राय रहता है। उनका आहार मुखसे तिर्यक् टेढ़ा चलता है। मनुष्य अवाक् (अधः)-स्रोत प्राणी है। उसका आहार ऊपरसे नीचे जाता है। इसका तात्पर्य है कि प्रकृतिके प्रवाहमें विकासकी अन्तिम सीमापर मनुष्य पहुँच गया। प्रकृतिका चक्र जहाँतक उठा सकता था, उठा चुका। अब वह स्वतः-प्रयत्नसे प्रकृति-प्रवाहसे पार न हो जाय—जन्म-मरणसे मुक्त न हो जाय तो अवाक्गतिके द्वारपर पहुँच गया है। यही जीवन इस प्रकृति-प्रवाहसे मुक्त होनेका द्वार है, इसलिये यह सर्वश्रेष्ठ है।

धर्म सहज सिद्ध है

मनुष्यके इस जीवनमें सहज-सिद्ध, सहज-स्वभाव धर्म है। अधर्म तो मनुष्यकी विकृति है। अधर्मपर निष्ठा रखकर उसका आचरण कोई कर नहीं सकता। हिंसाकी बात छोड़िये, क्योंकि हिंसाका व्रत लेंगे तो फाँसीका तख्ता दो-चार दिनमें ही दीखने लगेगा। चोरी भी कारागारमें बंद करा देगी। लेकिन असत्यके विषयमें ही सोच-देखिये। आप सत्य नहीं बोलने और केवल झूठ बोलनेका व्रत लें तो कितने समय उसका निर्वाह कर सकेंगे? अपना नाम, अपने पिताका नाम, स्थान, व्यवसाय तथा प्रत्येक जानकारी

आपको मिथ्या बतलानी पड़े तो कितने दिन आप कारागारसे बाहर रह सकेंगे? समाजमें कितने समय आपका निर्वाह सम्भव होगा?

असत्यका निर्वाह ही सत्यके सहारे होता है! धर्मकी आड़ लेकर ही अधर्म जी पाता है। वह स्वयं जीवित रहनेमें भी समर्थ नहीं है। उसका अवलम्बन करनेवाला डूबेगा, नष्ट होगा।

धर्म मनुष्यका सहज-स्वभाव है। सत्य बोलनेके लिये, अहिंसा-अस्तेयका पालन करनेके लिये, परोपकारादि धर्मके लिये कोई योजना, कोई बुद्धिपूर्वक चिन्तन नहीं करना पड़ता, यथार्थका पालन करना होता है। धर्मका पालन शक्ति देता है, सत्तावान् बनाता है। लोक-परलोकमें उन्नत करता है। जैसे स्वास्थ्यके नियमोंका पालन शरीरके लिये है, वैसे ही संयमका पालन मनके लिये है।

'धर्मकी दासतासे मुक्तिकी बात आजके प्रगतिशील लोग बड़े गर्वसे करते हैं, किंतु इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है—मन-इन्द्रियोंकी दासताकी स्वीकृति। यह स्वीकृति विनाशकी ओर ले जाती है। संयमकी दासतासे मुक्ति लेकर मनमाना आहार-विहार करनेवाला रोगों तथा मृत्युका शिकार बनता है। इसी प्रकार धर्मकी दासतासे मुक्तिका अर्थ मन-इन्द्रियकी दासता है और उसका फल है रोग, शोक तथा अशान्ति। स्वतन्त्र वह है, जो मन-इन्द्रियका स्वामी है, जो धर्मको अपना मार्गदर्शक बनाकर चलता है, क्योंकि जीवन एवं मनुष्यत्वका धारणकर्ता धर्म उसका आधार है। स्वस्थ जीवन एवं शान्त मन उसके स्वत्व हैं।

धर्म एक ही है

हँसी आती है 'विश्वधर्मपरिषद्' या 'विश्वधर्म-सम्मेलन' की बात सुनकर। जैसे मनुष्य एक प्राणी नहीं, पशु या पक्षीके समान वर्ग है और उसमें बहुत-से प्राणी हैं कि उनके बहुत-से धर्म होंगे? 'विश्वधर्मका' क्या अर्थ? आप मनुष्य, पशु, पक्षी तथा पदार्थादि सबके प्रतिनिधि एकत्र करके उनके धर्मोंकी विवेचना करना चाहते हैं? ऐसा नहीं है तो मनुष्य तो एक प्राणी है। एक प्राणीके दो-चार या दस-बीस धर्म हो कैसे सकते हैं?

मानवधर्म—मनुष्यका धर्म और मनुष्य शाश्वत, सनातन है, अतः मनुष्यका धर्म भी शाश्वत, सनातन है। वह सनातन धर्म ही एकमात्र धर्म है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि जो धर्मके दस लक्षण मनुने गिनाये हैं, इनका अपवाद मिला है कहीं आपको? कोई धर्माचार्य झूठ, चोरी, हत्याको धर्म कहता है? ऐसा तो नहीं है। तब एक ही उपदेश देनेवाले अनेक लोगोंको आप पृथक्-पृथक् धर्मोंका प्रवर्तक क्यों कहते हैं?

देखिये—मनुष्यधर्मके अनिवार्यरूपसे ये लक्षण हैं—

१-उसमें सब मनुष्योंको उनकी वर्तमान स्थितिमें ही उनकी रुचि शक्ति-क्षमताके अनुसार मनुष्य-जीवनके परम लक्ष्य जन्म-मरणसे मुक्त होनेका साधन देनेकी क्षमता होनी चाहिये।

२-जो जहाँ है, वह वहींसे अपने इस लोकमें उन्नति तथा परलोक-कल्याणका साधन प्राप्त कर सके, ऐसी उसमें शक्ति हो।

सनातनधर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसमें मनुष्यकी रुचि, स्थिति तथा अधिकार-भेदको स्वीकार करके साधन-भेद, आचार-भेदकी व्यवस्था है। मनुष्य सनातन प्राणी है, अतः उसका धर्म भी सनातन ही है।

सम्प्रदाय

'सम्यक् प्रदीयत इति सम्प्रदायः'—गुरुपरम्परासे जो सम्यक् रूपसे चला आ रहा है और गुरु जिसमें शिष्यको सम्यक् रूपसे मन्त्र, आराध्य, आराधना-पद्धति तथा आचार-पद्धति प्रदान करता है, उसका नाम सम्प्रदाय है।

सम्प्रदायका अर्थ सीधे शब्दोंमें है—धर्मका पथ-विशेष। एक सम्प्रदाय साधकको—अनुयायीको एक पथ प्रदान करता है, जिसपर चलकर वह धर्मके द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्यतक पहुँच सके। एक ग्रन्थ, एक उपासना, एक आचार-पद्धति जहाँ भी प्रचलित है, जहाँ भी कहा जाता है—कल्याणका यही मार्ग है,वह सम्प्रदाय है।

'सम्प्रदाय' शब्द न संकीर्णतायुक्त है और न हेय है। यह तो विवेकहीन लोगोंकी एक लंबी परम्पराने इस शब्दके प्रति लोकमें अरुचि उत्पन्न कर दी। 'इस साधन एवं मार्गके अतिरिक्त मनुष्यका कल्याण सम्भव ही नहीं। दूसरे सब मार्ग भ्रान्त, हेय तथा त्याज्य हैं।' यह मिथ्या भ्रम अहंकार एवं

अविवेकके कारण पुष्ट हुआ और उसने इस शब्दके प्रति उपेक्षा उत्पन्न कर दी। साम्प्रदायिकका अर्थ ही संकीर्ण मनोवृत्तिका व्यक्ति माना जाने लगा।

'हमारा मार्ग सर्वथा ठीक है। हमारा मन्त्र, ग्रन्थ, गुरु, उपासना, आचार त्रुटिरहित है। हमारे लिये यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।' यह निष्ठा आवश्यक है, किंतु इस निष्ठाके साथ दूसरे मार्गों, मन्त्रों, ग्रन्थों, गुरुओं, उपासना एवं आचार-पद्धतियोंसे द्वेष अथवा घृणा नहीं होनी चाहिये। उनके अनुयायी भ्रान्त ही हैं, यह धारणा अज्ञानमूलक है। वे मार्ग उनके लिये ठीक होंगे, यह उदारता धार्मिक पुरुषोंमें अनिवार्य-रूपसे अपेक्षित है।

साम्प्रदायिकका ठीक अर्थ है—साधनपथारूढ। जो धर्मके लक्ष्यको प्राप्त करना चाहता है, उसे कोई-न-कोई पथ तो अपनाना ही होगा। लक्ष्यतक जाना है तो रास्ता पकड़कर चलना होगा। यह दूसरी बात है कि आपका रास्ता वहाँसे प्रारम्भ होगा, जहाँ आप खड़े हैं। आपके अधिकारके अनुसार आपका साधन-सम्प्रदाय होना चाहिये। लेकिन सम्प्रदायके बिना तो साधन नहीं है। मार्गके बिना तो लक्ष्यतक गति नहीं है।

धर्म तो सार्वभौम वस्तु है। वह तो भूमि है, जिसपर नाना पथ हैं। सब पथ भूमिपर हैं। अतः धर्मका मूल रूप सब सम्प्रदायोंमें स्वीकृत है, लेकिन पथोंकी अपनी विशेषताएँ हैं। चलनेवालेके अधिकारके अनुसार हैं ये पथ।

शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, बौद्ध, जैन, सिख आदि ही सम्प्रदाय नहीं हैं। आज जिन्हें भ्रमवश धर्मका नाम दिया जाता है, वे यहूदी, ईसाई, इसलाम, पारसी आदि भी सम्प्रदाय ही हैं,क्योंकि ये भी लक्ष्यतक पहुँचानेवाले पथ हैं। इनमें एक साधन, एक आचार-पद्धति प्रदान की जाती है। इनको सम्प्रदाय स्वीकार करके आप विश्व-सम्प्रदाय-सम्मेलन बुलायें या विश्व-सम्प्रदाय-परिषद् गठन करें, इसमें किसीको भला क्या आपत्ति हो सकती है?

सम्प्रदाय पथ है, भूमि नहीं। अतः उनका इतिहास है। वे बनते, बदलते और मिटते रहते हैं। महापुरुष नूतन पथका निर्माण सदासे करते रहे हैं और करते रहेंगे। लेकिन भूमि—धर्म तो भूमि है। उसके बदलने या नष्ट होनेका अर्थ है प्रलय। धारण करनेवाले तत्त्वका नाम धर्म है। वह नहीं रहेगा तो मनुष्यता मर जायगी। वह तो नित्य है, सत्य है। इसीलिये 'धर्म' सनातन है।

धर्मशास्त्रोंमें निरूपित स्वधर्म—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'

(डॉ० श्रीसियारामदासजी श्रीवैष्णव, न्याय-वेदान्ताचार्य, पी-एच्० डी०)

सत्यसंकल्प अवाप्तसमस्तकाम, निखिल विज्ञाननिलय परमात्माको प्रलयकालमें अपनी योगनिद्रामें समवस्थित देख श्रीजी उन्हें बार-बार सृष्टि-हेतु प्रेरित करती हैं, इसलिये कि अनादिकालसे कर्मबन्धनोंमें बँधा प्रत्येक जीव कर्मबन्धनोंसे विमुक्त हो अपने परम कल्याण-स्वरूप भगवान्‌को प्राप्त कर सके। भगवान् भी एक कृषककी भाँति इस इच्छासे कि सृष्टि करनेपर जीव अपने वर्णाश्रमानुरूप कर्मानुष्ठानसे चरमफल—मोक्ष अवश्य प्राप्त कर लेंगे—सृष्टि करनेका संकल्प लेते हैं।

चूँकि जीव अपने सुकृत और दुष्कृतके कारण ही नाना योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ कष्ट भोगता रहता है, अतः उससे विमुक्ति-हेतु भगवान् अनेक महर्षियोंके रूपमें सनातनधर्मका उपदेश देते हैं, जिनके संकलित स्वरूपको धर्मशास्त्रकी संज्ञा दी गयी। इन उपदेशोंकी प्राप्ति सर्वप्रथम लोकस्रष्टा ब्रह्माजीको परमेश्वरसे हुई—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१८)

वेदवत् इतिहास-पुराणादि भी परमात्माके निःश्वास हैं—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि।

(बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०)

चौरासी लाख योनियोंमें मात्र मानव ही ऐसी योनि है

जो भगवत्प्राप्तिमें राजप्रासादकी उपलब्धिमें द्वारके समान है। अतएव इसकी प्राप्ति होनेपर शीघ्र ही आत्मकल्याण-हेतु प्रवृत्त हो जाना चाहिये, ऐसी प्रेरणा हमारे आर्ष ग्रन्थ दे रहे हैं—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

(श्रीमद्भा० ११। ९। २९)

बहुत जन्मोंके अन्तमें सुदुर्लभ मनुष्य-शरीर जो अनित्य होनेपर भी मोक्षरूपी नित्य पदार्थ देनेवाला है—पाकर धीर पुरुष मोक्ष-प्राप्तिके लिये शीघ्र ही प्रयत्न कर ले, अन्यथा इसके पीछे मृत्यु लगी है, वह इसे नष्ट कर देगी। विषय-भोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते ही रहते हैं।

अपने परम गन्तव्यतक पहुँचनेके लिये व्यक्तिको आवश्यक है कि वह धर्मशास्त्रोंमें वर्णित मार्गका अवलम्बन करे। सत्का सेवन करे। असत्का परित्याग कर दे। धर्मशास्त्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमोंमें विद्यमान जीवमात्रके धर्मोंका निरूपण किया गया है।

स्मृतिरत्न मनुस्मृतिमें निर्दिष्ट चारों वर्णोंके धर्म निम्नलिखित हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

(१। ८८—९१)

अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणोंके हैं। प्रजाका पालन, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन और विषयोंमें अलोलुप होना—ये क्षत्रियके धर्म हैं। पशुओंका पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन, व्यापार, ब्याज और कृषि—ये वैश्योंके धर्म हैं। असूयारहित होकर इन तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका कर्म है।

धर्मशास्त्रोंमें प्रत्येक वर्णके इन विशेष धर्मोंके साथ कुछ सामान्य धर्म भी निरूपित हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय १२२)

किसी प्राणीकी मन, वचन और शरीरसे हिंसा न करना, यथार्थ भाषण, चोरी न करना, बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, दान, अन्तःकरणका संयम, दया, किसीके अपकार करनेपर भी चित्तमें विकारानुत्पत्ति—ये सभी वर्णोंके धर्म हैं। चूँकि ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम ब्राह्मणादि वर्णोंकी विशेष अवस्थाएँ ही हैं। अतएव इन धर्मोंको सभी आश्रमोंके लिये भी समझना चाहिये।

ब्रह्मचर्याश्रममें वटुको मधु-मांसादिका वर्जन कर गुरुशुश्रूषापूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतमें सुस्थिर रहकर स्वाध्याय करना चाहिये। वेदाध्ययन पूर्ण होनेपर समावर्तन-संस्कारोपरान्त अपने वर्णकी योग्य कन्यासे विवाह करके अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमासादि कर्मोंको करते हुए गृहस्थ-धर्मका पालन करना चाहिये, वानप्रस्थाश्रमीको सपत्नीक अथवा अपत्नीक गृहसे दूर वन आदि पवित्र क्षेत्रोंमें निवास करते हुए अकृष्टपच्य धान्य-फलादिका स्वल्प सेवन करके स्वाध्याय, जप, तप, संयम आदिमें जीवन बिताना चाहिये। संन्यास-आश्रममें काषायवस्त्र, त्रिदण्ड, कमण्डलु धारण कर सम्पूर्ण प्राणियोंसे उदासीन हो भिक्षावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हुए भगवच्चिन्तन करते रहना चाहिये। इस आश्रममें मात्र ब्राह्मणका ही अधिकार है, क्योंकि **'आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्'** (मनु० ६। ३८) इस उपक्रमवाक्यमें ब्राह्मणद्वारा संन्यास-ग्रहणका उल्लेख करके **'एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः'** (मनु० ६। ९७) उपसंहार-वाक्यमें इसी बातकी पुष्टि की गयी है।

ब्राह्मणादि वटुओंको पलाश आदिका दण्ड, कृष्णाजिन, कार्पासादि-निर्मित यज्ञोपवीत और मुञ्जादिकी मेखला धारण

करनी चाहिये—

'दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्।'

(या॰ स्मृति॰ आ॰ २९)

परधर्मो भयावहः

इन वर्णधर्मों एवं आश्रमधर्मोंमें एक वर्णका धर्म दूसरे वर्णके लिये तथा एक आश्रमका दूसरे आश्रमके लिये अनाचरणीय है। इसके आचरणसे कल्याण-मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। जिस वर्णके लिये जिस आश्रममें जो धर्म विहित है, उसे उसीका पालन करना चाहिये। विपरीत आचरणसे अपकीर्ति तथा नरक निश्चित है। अतएव जब अर्जुन-जैसे कृष्ण-भक्त महारथी रणभूमिमें अपने सम्बन्धियोंको उपस्थित देख युद्धसे पराङ्मुख हो कहने लगे कि 'भीष्म-द्रोणादि महानुभाव गुरुजनोंकी हिंसा करके राज्यभोग भोगनेकी अपेक्षा भिक्षावृत्तिसे लब्ध अन्नद्वारा निर्वाह करना ही श्रेयस्कर है'—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

(गीता २। ५)

तब धर्मविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण उसे ऐसा करनेसे रोकते हैं। पृथानन्दन गार्हस्थ्यका निर्वाह करनेवाले एक वीर क्षत्रिय और इन्द्रियजयी योद्धा हैं, किंतु आज समरभूमिमें अपने क्षात्र-धर्मका परित्याग कर भैक्ष्यवृत्ति अपनानेको उद्यत हैं। भैक्ष्य-वृत्ति क्षत्रियके लिये निषिद्ध है, वह उसका स्वधर्म नहीं है। भिक्षा, जो क्षत्रियके लिये निषिद्ध और ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा यतियोंके लिये विहित है, अन्य वर्ण एवं अन्य आश्रमका धर्म है, अर्जुन उसे अङ्गीकार करना चाहते हैं। इसीलिये धर्मसंस्थापन और भक्तरक्षणार्थ अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको धर्मशास्त्रविरुद्ध होनेके कारण उस कार्यसे रोकते हैं। न रोकनेपर कौन्तेयके स्वधर्मका त्याग और अन्य वर्ण एवं आश्रमके भिक्षावृत्तिरूप धर्मके स्वीकारसे महान् अनर्थ हो जाता। जो धर्म जिसके लिये विहित है, वह उससे रक्षित अर्थात् अनुष्ठित होनेपर उसकी रक्षा करता है और हत अर्थात् अननुष्ठित होनेपर उसे नष्ट कर देता है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

अतः धनञ्जयके धर्मनाशसे निश्चित ही उनका नाश हो जाता। इसलिये भक्तवत्सल भगवान् स्ववर्णाश्रम-धर्मको कल्याणका सुनिश्चित साधन घोषित करते हुए कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

भगवान् कहते हैं—हे पार्थ ! अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मृत्यु भी श्रेयस्कर है, किंतु अन्य वर्ण और अन्य आश्रमका धर्म भयदायक है। तात्पर्य यह कि परधर्म पर (दूसरे)-के लिये ही विहित है, अपने लिये निषिद्ध है। अतः निषिद्ध पर-धर्मके अनुष्ठानसे प्रत्यवाय होगा, जो नरकका कारण है।

इस प्रकार भगवान्ने स्व-वर्ण और स्व-आश्रमके लिये विहित स्वधर्मका पालन श्रेयस्कर तथा अन्य वर्ण एवं अन्य आश्रमके लिये विहित अन्य धर्मका सम्यक् अनुष्ठान भी अपने लिये निरय एवं अपकीर्तिका कारण बतलाया, सृष्टिरचनाका मूल उद्देश्य संसार-निवृत्तिपूर्वक भगवत्प्राप्ति कहीं अवशिष्ट न रह जाय, इसलिये भगवान् निष्कामभावसे भगवदर्पणबुद्ध्या ही स्ववर्णाश्रमविहित धर्मोंके अनुष्ठानका आदेश देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

मनुष्यको यह समझना चाहिये कि 'श्रुति-स्मृतिरूप भगवदाज्ञाविहित स्ववर्णाश्रमीय धर्मोंको राजाज्ञापालक भृत्यकी भाँति मैं कर रहा हूँ। ये धर्म मुझ सेवकके न होकर उन परमेश्वरके ही हैं।' इस बुद्धिसे सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्में समर्पित कर, फलाभिसन्धि और ममकारशून्य हो, शोक त्यागकर युद्ध (स्ववर्णाश्रमविहित धर्म)-में प्रवृत्त होना चाहिये।

इस प्रकारकी भगवदाज्ञाके पालनसे जीव समस्त पुण्य और पापोंसे विनिर्मुक्त हो परमपद प्राप्त कर लेता है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३। ३१)

इस श्लोकमें भगवान्ने ब्राह्मणाः (ब्राह्मण) क्षत्रियाः

(क्षत्रिय) या **वैश्याः** (वैश्य) पदोंका प्रयोग न करके **मानवाः** (मानव) पदके द्वारा यह सुस्पष्ट उद्घोष किया कि भगवदर्पण-बुद्धिसे किये गये स्ववर्णाश्रम-सम्बन्धी धर्म प्रत्येक अनुष्ठाताको संसार-सागरसे पार कर देते हैं। इस कथनकी उपपत्ति प्रभु पहले ही कर चुके हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

(गीता ३। २०)

भगवदर्पण-बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक स्ववर्णाश्रमके लिये विहित कर्मसे जनक आदिने मोक्ष प्राप्त कर लिया।

अतः ऐहिक, पारलौकिक या मुक्तिके अभिलाषियोंको अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित धर्मके पालनसे ही अभीष्ट-फलकी प्राप्ति होती है, अन्य वर्ण या आश्रमके धर्माचरणसे नहीं, क्योंकि वह निषिद्ध होनेके कारण अपकीर्ति और प्रत्यवायके द्वारा नरकका कारण है। अतएव भगवदुद्घोष है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

अतः अपने वर्ण और अपने आश्रमके लिये विहित युद्ध हिंसारूप होनेपर भी पुण्योत्पादक ही होगा, पापोत्पादक नहीं। इसी अभिप्रायसे भगवान्ने कहा—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

मानवताके प्रतीक पार्थके युद्धरूप स्वधर्मका त्याग और अन्य वर्ण एवं अन्य आश्रमके हिंसाविरहित भिक्षा-ग्रहणका प्रतिषेध करके स्वधर्ममें मरणको श्रेयस्कर कहकर 'कैमुतिकन्यायसे' भगवान्ने यही शिक्षा दी कि अपने वर्ण एवं अपने आश्रमके लिये विहित धर्म मोक्षपर्यन्त फलजननमें समर्थ है। उसीका पालन करना चाहिये, अन्य वर्ण एवं अन्य आश्रमके धर्मोंका नहीं।

'धर्म' एवं 'शास्त्र' शब्दोंकी व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

(प० पू० दण्डी स्वामी श्रीमद्दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'**धृञ्**'=धारण करना, इस धातुसे 'धर्म' शब्द बनता है। 'धर्म' शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है—'**धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा**' अर्थात् 'जो लोकोंको धारण करता है' अथवा 'जो पुण्यात्माओंद्वारा धारण किया जाता है' वह 'धर्म' है।

ऋग्वेदमें 'धर्म' शब्द लगभग ५६ बार आया है। वह शब्द कई स्थानोंमें 'विशेषण' तो कई स्थानोंमें 'नाम' है। ऋग्वेदमें कहीं 'पोषण करना' इस अर्थमें धर्म शब्द आया है, कहीं 'नैतिक नियम' एवं 'आचार'-अर्थमें और कहीं 'प्राचीन नीति-नियम'-अर्थमें धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद (११। ९। १७)-में 'धर्म' शब्दका अर्थ 'धार्मिक आचारद्वारा मिलनेवाला पुण्य' है, वाजसनेयीसंहिता (२-३)-में '**ध्रुवेण धर्मणा**' अर्थमें 'धर्म' शब्द है, छान्दोग्य-उपनिषद् (२। २३)-में 'चार आश्रमके विशिष्ट कर्तव्य' इस अर्थमें 'धर्म' शब्द आया हुआ है।

तैत्तिरीय-उपनिषद् (१। ११)-में 'सत्यं वद, धर्मं चर' (सत्य बोलो, धर्मानुसार आचरण करो) ऐसा 'धर्म' शब्दका अर्थ है। मनुस्मृति (१। २)-में 'धर्म' शब्दका अर्थ 'वर्णाश्रमविहित कर्तव्य' है। ऐसा ही 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 'श्रीमद्भगवद्गीता' (३। ३५) आदिमें 'धर्म' शब्दका अर्थ कहा गया है।

महर्षि कणादप्रणीत 'वैशेषिक-दर्शन'में कहा गया है—

'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**'

आश्वलायनगृह्यसूत्रमें 'धर्म'के विषयमें कहा है कि '**धारणात् श्रेय आदधाति इति धर्मः।**' अर्थात् जिसके अनुसार चलनेपर मनुष्यका 'श्रेय' (कल्याण) होता है, यश, उन्नति एवं मोक्ष होते हैं, उसे 'धर्म' कहते हैं। महर्षि जैमिनिप्रणीत पूर्वमीमांसामें 'धर्म' के विषयमें कहा है कि '**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।**' अर्थात् उपदेशसे, आज्ञासे किंवा विधिसे ज्ञात होनेवाला श्रेयस्कर अर्थ 'धर्म' है। व्यक्ति और समाजकी ऐहिक (लौकिक) एवं पारमार्थिक (पारलौकिक) उन्नतिके लिये प्राचीन महान् ऋषि-मुनियोंकी आज्ञा ही 'धर्म' है।

'मनुस्मृति' (२। ६)-में धर्मके लक्षण और आधारके विषयमें इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

अर्थात् 'समग्र वेद, स्मृति, वेदवेत्ताओंके शील और आचार तथा धार्मिक संत-सज्जनोंके आत्मसंतोष—ये 'धर्म'के मूल आधार हैं।'

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १। ७)

अर्थात् 'वेद, स्मृति, धर्मसूत्रादि, शिष्टजनोंके किंवा सज्जनोंके आचार (आचरण) और उनके उपदेशके अनुसार तथा अपनी विवेकबुद्धिके अनुसार, आत्मसंतोषके अनुसार, प्रत्येक व्यक्तिको अपना आचरण रखना चाहिये।'

महर्षि याज्ञवल्क्य आगे कहते हैं—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

(या० आ० १। ८)

अर्थात् 'होम—हवन, सदाचार, इन्द्रियदमन, अहिंसा, दान, वेद-शास्त्रका अध्ययन और शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान—इन सबमें 'योग' द्वारा 'आत्मदर्शन' (स्वस्वरूपानुभूति) करना ही सर्वोत्तम 'धर्म' है।'

—इस विवेचनसे यह स्पष्ट होता है कि श्रुति, स्मृति और सदाचार—ये 'धर्म'के मूलाधार हैं। 'उत्तरमीमांसा' (वेदान्तदर्शन)-के प्रवर्तक महर्षि व्यास 'महाभारत'में 'धर्म'के बारेमें कहते हैं—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभा०, शान्ति० १०९। १०)

अर्थात् प्राणियोंके अभ्युदय और कल्याणके लिये ही धर्मका प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्यसे युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओंका निश्चय है।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभा०, शान्ति० १०९। ११)

अर्थात् 'जिस शक्तिके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिक्रिया 'धृत' रक्षित हो रही है, उसका नाम 'धर्म' है।'

'आचारलक्षणो धर्मः' अर्थात् जिस आचरणसे मन एवं हृदयका विकास होता है, उस आचरणको 'धर्म' कहते हैं। महाभारतमें कहा गया है—

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत्॥

(शान्ति० १९३। ३१)

अर्थात् मनुष्यकी स्वाभाविक सात्त्विक प्रवृत्तिको ही 'धर्म' कहते हैं। मनीषी पुरुषोंका कथन है कि समस्त प्राणियोंके लिये मनद्वारा किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है। अतः मनसे सम्पूर्ण जीवोंका कल्याण सोचता रहे। जड-चेतन किसी भी पदार्थमें जिस शक्तिके रहनेसे पदार्थकी सत्ता है और न रहनेसे पदार्थकी सत्ता नहीं रहती, उसका अभाव हो जाता है, उस शक्तिका नाम 'धर्म' है।

नारायण-उपनिषद्में भी कहा है कि **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा.... धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥'** अर्थात् धर्म समस्त संसारकी स्थितिका मूल है। धर्मके द्वारा ही समग्र संसार स्थित है।

'धर्म'द्वारा अभ्युदय (लौकिक सुख-प्राप्ति) एवं निःश्रेयस (अत्यन्त उच्चतर सुख—मोक्षकी प्राप्ति) होते हैं। 'दक्षस्मृति' (३। २३)-में कहा है कि—

सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि तच्च धर्मसमुद्भवम्।
तस्माद् धर्मः सदा कार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः॥

अर्थात् सभी प्राणी सुखकी ही इच्छा रखते हैं। और वह सुख 'धर्म' से ही उत्पन्न होता है, अतः समस्त वर्णोंको सदैव प्रयत्नपूर्वक धर्मका ही आचरण करना चाहिये।

धर्मके तीन भेद किये गये हैं—(१) सामान्य धर्म, (२) विशेष धर्म और (३) आपद्धर्म।

जिसके अनुसार आचरण करनेसे व्यक्ति और समाज 'अभ्युदय' तथा 'निःश्रेयस'को प्राप्त करता है, उसे 'सामान्य

धर्म' कहना उचित है, जैसे—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

'मनुस्मृति' कहती है कि (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (चोरी न करना), (४) शौच (अन्तर्बाह्य-शुचित्व) तथा (५) इन्द्रियोंका निग्रह —ये 'पाँच' चारों वर्णोंके सामान्य धर्म हैं। मनुस्मृतिमें 'अकाम' (निःस्वार्थता), 'अक्रोध', 'अलोभ' तथा सभी प्राणियोंके प्रति 'प्रेमभाव' और 'हितकारीभाव' भी सामान्य धर्मके लक्षणोंमें समाविष्ट किये गये हैं। साथ ही धृति (संतोष), क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी (तत्त्वजिज्ञासुबुद्धि), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण कहे गये हैं (मनु० ६। ९२)। सामान्य धर्मको 'नीतिधर्म' भी कहा गया है। यह सबके लिये समानरूपसे आचरणीय है।

वर्णाश्रमव्यवस्थाके अनुसार चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र एवं चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—इनके लिये विहित स्वधर्मका पालन विशेष धर्म है।

आपत्तिकी असुविधाओंको सामने रखकर देश-काल-पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार जिस धर्मका अनुपालन होता है वह आपद्धर्म कहलाता है। आपद्धर्ममें परधर्मके ग्रहण करनेमें भी शास्त्रमें वैधता ही बतलायी है, किंतु वहाँ भी मनमाना आचरण न करके शास्त्रका ही अवलम्बन मान्य है। आपत्ति दूर हो जानेपर उस व्यक्तिको अपना मूलधर्म पुनः अङ्गीकार करना चाहिये, ऐसा नियम धर्मशास्त्रमें दिया हुआ है। आपद्धर्ममें शिष्टजनोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। जो व्यक्ति ईर्ष्या, अहंकार, दम्भ, लोलुपता, मान, मोह और क्रोधसे रहित है, उसे 'शिष्ट' अर्थात् 'सज्जन' कहते हैं। जो लोग 'आपद्धर्म'का पालन आपत्कालके बाद भी करते रहते हैं वे 'पापके भागी होते हैं,' ऐसा धर्मशास्त्रमें कहा गया है।

शास्त्र शब्दकी व्युत्पत्तिमें कहा गया है—'**शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम्**' अर्थात् जिसके द्वारा शासन किया जाता है या हो सकता है, वह'शास्त्र'कहलाता है। व्यवहारमें 'शास्त्र' के अनेक अर्थ रूढ हैं, उनमेंसे प्रधान अर्थ यह है कि 'विद्या-प्राप्तिमें जो सहायक है वह शास्त्र है।' ऐसी विद्या प्राप्त करनेका विधान जिसमें बताया गया है, वही सच्चा 'शास्त्र' कहा गया है। विद्याप्राप्तिके '१४ प्रस्थान' हैं, जिनमें उपनिषद् और उपवेदोंसहित ४ वेद, ६ वेदाङ्ग और ४ उपाङ्ग समाविष्ट हैं। ये सभी विद्या-प्राप्तिके साधन होनेसे 'शास्त्र' कहे गये हैं।

'शास्त्र' शब्दकी एक व्याख्या इस प्रकारसे है—

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च पुंसां येनोपदिश्यते।
तद्धर्माश्चोपदिश्यन्ते शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः॥

अर्थात् जिसमें प्रवृत्ति, निवृत्ति एवं मनुष्यका धर्म उपदिष्ट हुआ है, उसे शास्त्रवेत्ताओंने शास्त्र कहा है—

'श्रीमद्भगवद्गीता' (१६।२३)-में भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको शास्त्र-मर्यादाका उपदेश देते हुए कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

अर्थात् 'जो अविवेकी व्यक्ति शास्त्रविधिका त्याग करके अपनी इच्छाके अनुसार ही स्वच्छन्दतासे वर्तता है, वह कभी भी सिद्धिको, सुखको तथा उत्तम गतिको प्राप्त नहीं होता।'

तात्पर्य यह है कि 'शास्त्रविधिका परित्याग करके मनमें जैसा आये वैसा मनमाना व्यवहार करनेवाला व्यक्ति अन्तमें अधोगतिको ही प्राप्त होता है।'

ऐसा सिद्धान्त है कि 'परमपद' की प्राप्तिके बिना सच्चा सुख एवं शाश्वत शान्ति कदापि नहीं मिलती, अतः बुद्धिमान् व्यक्तिको शास्त्रविधिके अनुसार ही कर्म करने चाहिये। शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करनेसे ही 'परमपद' की प्राप्ति होती है। 'शास्त्रविधि'का अर्थ है 'शास्त्रकी आज्ञा' किंवा 'शास्त्रके नियम'। शास्त्रकी आज्ञा है—शास्त्रीय नियमोंका आचरण करना। 'वेद' में भी 'विधिवाक्य' का समावेश है। जो 'विधि' हैं वे 'आज्ञावाक्य' हैं। 'वेद' के आज्ञावाक्यका पालन करनेवाला व्यक्ति यथाशीघ्र ही 'परमपद' की प्राप्ति कर सकता है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' (१६। २४)-में भगवान्‌की स्पष्ट आज्ञा है कि 'कार्य' और 'अकार्य'की व्यवस्थामें 'शास्त्र' ही प्रमाण हैं, अतः शास्त्रमें विधान की हुई 'विधि'को जानकर तदनुसार कर्म करना ही योग्य है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

रामस्नेहि संत-साहित्यमें धर्मदृष्टि

[प्रेषक—खेड़ापा-पीठाचार्य श्रीपुरुषोत्तमदासजी रामस्नेही]

'धर्म रहो तन भल पर जावो'

(श्रीद्यालदासजी महाराज)

अधर्म-पथपर चलनेवाले जीवोंका उद्धार करनेके लिये धर्म-पथ-प्रदर्शक इतिहास, पुराण तथा स्मृति आदि धर्मशास्त्रोंके समान ही संतवाणी भी एक अन्यतम धर्मशास्त्र है। इसमें संतवचन—*'परमारथ हित आप पधारे, सूता जीव जगाया'*—को चरितार्थ करनेवाले सत्पुरुषोंने समयकी आवश्यकताके आधारपर 'धर्म' को अपने अनुभवकी कसौटीसे भलीभाँति परखकर उसे अपने जीवनमें उतारा तथा समाजके सामने यथार्थरूपमें प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि संतवाणीके भाव सहजहीमें प्राणीके अन्तर्मनको छूकर उसे धर्ममय बना दिया करते हैं। रामस्नेही आचार्योंने इस धर्मपथको समाजके सामने जिस रूपमें प्रस्तुत किया है, उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की जा रही है।

मुक्तिपदके पथिक बने प्राणी (मनुष्य)-के सामने मानव-जीवन-जैसे सर्वथा मुक्त तिराहे[१]पर कर्म, धर्म तथा नाम-साधनात्मक तीन मार्ग मौजूद हैं। अधिकतर लोगोंको कर्ममार्गपर बढ़ता देख भ्रमित हुआ प्राणी देखादेखी स्वयं भी उस ओर चल देता है। इस तरह वह अपने सच्चे मार्गसे वञ्चित होता हुआ आगे चलकर औरोंके समान स्वयं भी परम भय एवं बन्धनमें पड़ जाता है—

लोभ वडाई वाद में, मारग लया न कोय।
सूक्षम मग पाया नहीं, रामा दुस-भै होय॥ १॥
करम भाखसी[२] करम घर, तीन लोक मुर-द्वार[३]।
रामा भरम कपाट में, सिथल प्रबल संसार॥ २॥

(श्रीद्यालदासजी)

समदृष्टिवाले सत्पुरुष तो सभीका (कर्मी, धर्मी तथा नाम-साधकका) समानरूपसे भला चाहते हैं। अतः वे निरन्तर कर्मोंमें प्रवृत्त प्राणीको उसी स्थितिमें रहते हुए [क्योंकि वह उस कर्मको छोड़नेमें अपनी असमर्थता बताते हैं]—कर्म-बन्धनसे मुक्ति दिलाने-हेतु सर्वप्रथम धर्मसे जोड़ देते हैं—

कर्म करै तो धर्म कर, नहिंतर कर्म न खट्ट[४]।
जन हरिया जुग जेवड़ी[५], ज्यूं ऊबट ज्यूं बट्ट[६]॥ १॥

(श्रीहरिरामदासजी०)

जब कर्मासक्त प्राणी धर्ममें लग जाता है, तब सत्पुरुष उस धर्मको भी आवागमनका कारण बता उस ओरसे विरत कर देते हैं। फिर नाम-साधन-मार्गमें लगाते हुए वे उसे मुक्तिधामका अधिकारी बना देते हैं—

धर्मी जीव धरम के मारग, सुरग लोक ले देवै।
बैठ विवाण देवता होई, देवतणा सुख लेवै॥ १॥
सुख भुगताय घेर ले पूठा[७], पकड़ जम्म ले जावै।
साहिब बिनां परत[८] नहिं छूटै, जीव जूण बहु पावै॥

(श्रीरामदासजी, ग्रन्थ जगजन)

पाप पुण्य सूं रामदास, सुरग नरक में जाय।
सुमिरण बिन छूटै नहीं, कोटिक करो उपाय॥ ३॥

(श्रीराम० साखी)

उपर्युक्त वचनोंमें जैसे पुण्यप्रद धर्म करनेकी मनाही प्रकट होती है, वैसे ही अधोनिर्दिष्ट उद्धरणोंमें पुण्यप्रद धर्मरूपसे अथवा अहंभावसे प्रदत्त वस्तुको अग्राह्य माननेका भाव प्रकट होता है। हाँ, यदि कोई भगवान्‌का बनकर भगवद्भावसे [निःस्वार्थ सेवा-हेतु] कुछ देता हो तो वह वस्तु ग्राह्य होती है—

धर्म करो तो औरां कीजै। कैसे नाते हम तुम लीजै॥
पुन को लेवां कदै न कोई। हरि को लेवां हरिका होई॥ १॥
हम कीयो उपकार एह, मेरी मानै जीव।
रामा लेय न रामजन, माया पातक सीव॥ २॥

(श्रीद्यालदासजी०)

सामान्यतया लोगोंद्वारा कल्याणप्रद माने जानेवाले तीर्थ,

१-नरक सुरग वैकुण्ठ को, राम यहाँ ते पन्थ। दुःख सुख जामण मरण जुग, एक मिलै भगवन्त॥ (द्याल०)

२-पुरातनकालीन यातनाप्रद काष्ठयन्त्र विशेष। ३-काम-क्रोध-लोभात्मक तीन द्वार।

४-पचेंगे नहीं। ५-रस्सी। ६-मोड़के साथ मोड़ देना। ७-पीछे (पुनः)। ८-कतई।

व्रत, शौचाचार, यज्ञ आदि समस्त धर्म-कर्म संत-मतानुसार राम-नाम (नाम-साधन)-के पीछे हैं तथा स्नान, संध्या, जप, देव-पूजन, बलिवैश्वदेव एवं अतिथि-सत्कारादि सभी षट्-कर्मोंका प्रधान धर्म (सार) भी एकमात्र राम-नाम है—

तीरथ व्रत शुचि यज्ञ अचारा। धर्म अनेक नाम की लारा॥
गुरु सा धारण ऐ षट्करमा। राम मन्त्र है सबको धरमा॥

(श्रीद्याल० परची)

इसलिये रामस्नेहीजन एकमात्र संजीवन-मन्त्र राम-नामावलम्बनको ही वास्तविक एवं कल्याणकारी 'धर्म' तथा 'धर्म-सार' मानते हैं—

पावन पतित मोक्षको मारग, ररो ममो तत सारं।
या सम धर्म और नहिं, तोलै, मन्त्र सजीवन सारं॥ १॥

(श्रीद्याल० ग्रन्थ भाग)

रामस्नेही आचार्योंकी वाणीमें रामनामाश्रयात्मक मूल धर्मके अङ्ग-प्रत्यङ्गभूत, सहायकभूत अथवा समादर-प्राप्त जिन अन्य विभिन्न धर्मोंका निरूपण उपलब्ध होता है, उनमेंसे कुछ धर्मोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन इस प्रकार है—

(१) श्रीरामस्नेही धर्म—

श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायके आदि आचार्य श्रीरामदासजी महाराज आदिमें अपने गुरुवर्य श्रीहरिरामदासजी महाराजके इस सिद्धान्तके सच्चे अनुपालक थे—

हरिया रत्ता तत्तका, मतका रत्ता नांहि।
मतका रत्ता जे रहे, तिन तत पाया नांहि॥ १॥

(श्रीहरिराम०)

किंतु एक दिन स्वयं परमात्माने आकाशवाणीके द्वारा उन्हें सम्प्रदाय-संचालनकी आज्ञा प्रदान कर दी—

प्रगट शब्द इक ऐसो भयो। दृष्टि न आवत श्रवणां लयो॥
रामदास पन्थ चले तुमारो। सत्य वचन यह सदा हमारो॥ १॥

(श्रीद्यालदासजी, परची)

आचार्यचरण श्रीरामदासजी महाराजने इस भगवदादेशको परम धर्म मानते हुए स्वीकार लिया और फिर रामस्नेही-सम्प्रदायके माध्यमसे रामस्नेही-धर्मका प्रचुर मात्रामें प्रचार तथा प्रसार हुआ। रामस्नेही-धर्मके प्रमुख पालनीय नियमोंका उल्लेख श्रीद्यालदासजी महाराजकी वाणीके कवित्त-भागमें इस प्रकार मिलता है—

मिलतां पारख प्रसिध, विमल चित रामसनेही।
उर कोमल मुख निर्मल, प्रेम परवाह विदेही॥
दरशण परसण भाव, नेम नित श्रद्धा दासा।
साच वाच गुरुज्ञान, भक्ति प्रणमत इक आशा॥
देह गेह सम्पति सकल, हरि अर्पण परमानिये।
जनरामा मन वच करम, रामसनेही जानिये॥ १॥
खानपान पहरान, निर्मली दशा सदाई।
सात्विक लेत अहार, हिंसा करहै न कदाई॥
नीर छाण तन वरत, दया जीवांपर राखै।
बोले ज्ञान विचार, असत कबहू नहिं भाषै॥
साध संगत पण व्रत सुदृढ़ नेम प्रेम दासा लियां।
रामसनेही रामदास, तन मन धन लेखे कियां॥ २॥
श्रद्धा सुमिरण राम, मीन मन रामसनेही।
गुणग्राही गुणवन्त, लाय लेखे नरदेही॥
अमल तम्बाखू भांग, तजै आमिष मदपानं।
जुवा द्यूत का कर्म, नारि-पर माता जानं॥
साच शील क्षम्या गहै, राम राम सुमिरण रता।
रामा भक्ती भाव दृढ़, रामसनेही ये मता॥ ३॥

(२) गुरु-धर्म (सच्चे गुरु महाराजके धर्म—लक्षण)—

राम महाराज गुरु महाराज तथा संत-महात्माओंको एक-रूप एवं परम इष्ट माननेवाली रामस्नेहि संत-परम्परामें गुरु महाराजको प्रथम वन्दनीय और आदरणीय माना गया है—

प्रथम सेव गुरुदेव की, पीछे हरि की सेव।
जनहरिया गुरुदेव विन, भक्ति न उपजै भेव॥ १॥

(श्रीहरिरामदास०)

ज्ञान भक्ति वैराग्य मुख, दाता श्री गुरुदेव।
रामा जिनकूं पूजिये, मन व्रत साची सेव॥ ८॥

(श्रीद्यालदासजी०)

(३) गुरुधर्म (अनन्य गुरुनिष्ठा)—

सो शिष सुध्रम जानिये, गुरुध्रम सूं आधीन।
हरिया गुरुध्रम बाहिरो, सो शिष तेरे-तीन[1]॥

(श्रीहरिराम०)

गुरुधर्म का रामदास, दर्शण कीजे जाय।
दर्शण सूं औगण मिटै, करम खिरै हुयजाय॥ २॥

(श्रीरामदास०)

[1] १-नष्ट-भ्रष्ट

गुरुधम सजियां[१] सब सजै, ज्यूं जल सींचे मूल।
डाल पान हरिया सबै, वृच्छ बधै अस्थूल[२]॥ ६॥

(श्रीपूरण०)

(४) शिष्य-धर्म—

शिष तो ऐसा चाहिए, रहै सतगुरु सूं रत्त।
सतगुरु जो न्यारा रहै, शिष्य न छाडै तत्त॥ ४॥
गुरु कूं बन्दन कीजिये, मुख सूं कहिए राम।
रामदास सो शिष्य जन, पावै आदू-धाम॥ ५॥

(श्रीरामदास०)

(५) पतिव्रतधर्म—

स्वयंको परमात्मा (पति)-की पत्नी मानते हुए रामस्नेही आचार्योंने पतिके प्रति अनन्य निष्ठा रखनेके लिये जिस पतिव्रत-धर्मका वर्णन अपनी वाणीमें किया है, उसके कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

पतिवरता के रामजी, रामा इक रस नेह॥ ५॥
पीव सहित सूली भली, पतिवरता के सेज।
पीव बिनां वैकुण्ठ दे, सोई नरक नरेज[३]॥ ६॥
जाचै तो इक पीव कूं, बोले तो इक पीव।
सोवै तो इक पीव सूं, पीव हमारे जीव॥ ७॥
जीमे तो इक पीव हित, प्यासा प्राण अधार।
जनरामा इक पीव विन, मरतग सब संसार॥ ८॥

(श्रीद्यालदासजी०)

(६) माता-पिता-धर्म—

बालक कर्म कुसंगत लाग्या, चेत अचेते नांई।
माता पिता करै रुखाली, निजर बालका मांई॥ १॥

(श्रीरामदासजी०)

क्रोड़ गुन्हा छोरू दिन करै। लालां सेडे मूते भरै।
न्हाय धोय माता उर लेई। पिता रमावै आदि सनेई॥
असम[४] शिशर की सब सहै, तरणापै विध और।
बुरो दिखावै बाप को (तो) कदै न घरमें ठौर॥ ३॥
तो पण[५] वाजै बापको, खानपान की सार।
रामा टूंटे[६] पांगले[७], सब को वांट्यो[८] त्यार॥ ४॥

अंस वंश कीरत कथा, उदै दिवस नहिं भेद।
रोवै-रींके[९] शिशर हुय, तबही मेटे खेद[१०]॥ ५॥
क्रोड़ गुन्हा छोरू करै, देखे नहिं माईत।
सदाकाल प्रतिपाल हो, वेद मुनी गाईत[११]॥ ६॥

(श्रीद्यालदासजी०)

(७) पुत्रधर्म—

संत-वाणीमें पुत्रधर्मके उदाहरणार्थ पुत्र रोहिताश्वके ये वचन द्रष्टव्य हैं—

हम कूं कहा बूझत हो राई। घर जायो चेरो बिकजाई।
परा परायण साख सदाई। अज्ञा न मेटे पुत्र कदाई॥ १॥
राय पिलावो कुंवर उचारे। पहली पियां धर्म जिव हारे।
पिता स्वामि गुरु नाथा भारी। पूज पुजाय प्रथम मनवारी॥ २॥
ता प्रसाद अनुचर को धरमा। ऋषि जाणत हो तुम सब करमा[१२]।
मात पिता की टैल[१३] न कीन्ही। कर्म प्रमाण सजा एह लीन्हीं॥ ३॥

(श्रीद्यालदासजी० ग्रन्थ-गुरु-प्रकरण)

(८) सेवक-धर्म—

देश विदेश रु उत्तर दिक्षण। स्वामी आज्ञा वह भृत लक्षण॥
खान पान आज्ञा ज्यूं लेवै। काम पड़ै जब माथो देवै॥ १॥
विकट घाट वन चिन्त न कोई। खाग[१४] पड़ै जब आगे होई[१५]।
आ र सन्तोष आदि सूं गाथा। चाकर जीवण खावेद[१६] हाथा॥ २॥
पराधीन मोलन का लीना। धणी कहै सोइ कारज कीना।
सुखदुःख चाकर कहा विचारै। काम करै आग्या प्रतिपारै॥ ३॥

(श्रीद्यालदासजी०)

(९) पतिव्रता (पत्नी)-धर्म—

भगवद्भक्त सदा विड्द एही। तारण काज पीव हित देही॥
खांवद[१७] श्रूप वचन के मांई। राम सत्त व्रत डिगहै नांई॥ १॥
'घर घरणी की टेक सदाई। अन जल पीछे साख सगाई॥
हर वर भेद न जाणै कोई। एह पतिव्रत त्रिभै पद होई'॥ २॥

(श्रीद्यालदासजी०)

(१०) गृहस्थ-धर्म—

रुत सम अस्त्री गवन, नारि-पर माता याके।
सुत[१८] सम बालक जान, मात सम वृद्धा जाके॥

१-निभ जानेसे। २-विशाल रूपमें। ३-निकृष्ट। ४-अनाचार। ५-फिर भी। ६-विकृत हाथवाला। ७-विकृत पैरवाला। ८-हिस्सा। ९-आर्तभावसे रुदन करता है। १०-पीड़ा। ११-वर्णन किया है। १२-सब बातें। १३-सेवा। १४-तलवार (युद्ध)-के समय। १५-सम्मुख होता है। १६-स्वामी। १७-पति। १८-पुत्रीवत्।

सदा दास दासान, मान वृत खण्डन करहै।
हिम्मत भक्तीपक्ष, कुलक्षण दूजा हर है॥
सार सार चिन्तन सुमत, आन कुसारक परिहरै।
रामा ततवेता सोई, राम नाम मुख उच्चरै॥ १॥
प्रापत होय रा मिलै, उदंम संतोष सदायक।
सब परिपूरण राग, ताय रसनां गुण गायक॥
निर परव न्याव निसाफ[१] वचन सुखदायक भाषै।
हाण वृद्धि सम भाय परम धीरज ता राखै॥
मन वच क्रम आसत[२] सदा, नासत[३] कदै न उच्चरै।
जनरामा भवसिन्धुमें, ऊ गिरस्त सहजां तरै॥ २॥

(श्रीद्यालदासजी०)

(११) द्वाराधर्म (अतिथि-सत्कारधर्म)—

द्वारा-धर्म अनेक फल, जो समझै गुरु ज्ञान।
रामा सेवा साध की, मुक्त होय आसान॥ १॥
आयां कूं आदर देवे, बस्ती जिण घर जाण।
रामा सूना सो भवन, आतम नहीं पिछाण॥ २॥
आश्रमधारी चाहिए, परथम आऊकार[४]।
बैठां ऊभा पावणा, आरुजता[५] उर धार॥ ३॥
मेरा नांही राम का, यो घर धन व्यवहार।
रामा लेखे राम के, खाय खुलावै वार[६]॥ ४॥
सरधा होय स कीजिये, अन पाणी मनवार।
रामा छाजन[७] भोजनां, सुखिया सब संसार॥ ५॥

(श्रीद्याल०)

(१२) परमार्थधर्म (निःस्वार्थ तथा निरभिमानतापूर्वक जनसेवा)—

परमारथ पूरण नदी, राम सरोवर जाय।
दयावन्त झूले[८] अवस, कल्मष तीन मिटाय॥ १॥
रामा अरपै राम कूं, मिलै राम महाराज।
अड़सठ तीरथ घर महीं, छेतर धाम समाज॥ २॥
रामा माया राम की, मत दे आडी पाल।
आई ज्यूंई जाण दे, परमारथ के खाल[९]॥ ३॥
परमारथ पारस रतन, घर में निकसी खान।
रामा समझै गुरुमुखी, लौह कंचन हुय प्रान॥ ४॥
दालद जनमां जनम को, अब के रहै न कोय।
रामा सरधा एक चित, परमारथ नित होय॥ ५॥
लाखां लाहा चौगुणा, क्रोड़ां दीयां होय।
रामा खूटै[१०] नांय कद[११], परमारथ सिध सोय॥ ६॥

(श्रीद्यालदासजी०)

(१३) सत्य-धर्म—

एक वचन सत बोलिये, जावो तन मन गेह।
रामा साच न छांड़िये, साचा राम-सनेह॥ १॥
निर्भय तीनूँ लोक में, साचां राम सहाय।
साचां श्राप[१२] न लागही, साचां कलंक मिटाय॥ २॥

(श्रीद्याल०)

(१४) अक्रोध (जरणा[१३]) धर्म—

गाल् काढियां रामदास, आणै नहिं अहंकार[१४]।
ऐसा साधू जगत में, धिन वाका दीदार[१५]॥ १॥
गाल् काढियां रामदास, तन में न आणे रीस।
सब सेती समता रखे, तिन परस्या जगदीश॥ २॥

(श्रीरामदासजी०)

महरवान महाराज है, रामा दीन दयाल।
दया बड़ी है कोप तें, कारण कृपा विशाल॥ ७॥

(श्रीद्यालदास०)

(१५) धर्महित क्रोध-धर्म—

धर्म शील हित क्रोध सदाई। जामें दोषण नांय कदाई॥
जास कोप तें धर्म रहावै। आगम[१६] साख गरथ मुनि गावै॥ १॥
गुरु निन्दा गुरु इष्ट तजावै। पण[१७] धारण विच अन्त्र[१८] करावै।
दर्शणमें अन्तराय करावै। क्रोध कियां हरि वेग मिलावै॥ २॥

(श्रीद्याल० ग्रन्थ गुरु-प्रकरण)

(१६) दुर्व्यसन-मुक्ति-धर्म—

रामस्नेही आचार्यगण अधर्मके मूर्तरूप बने सभी दुर्व्यसनोंके व्यसन (सेवन करनेकी कुटेव)-को परम निकृष्ट बताते हुए प्राणीको सदैव उससे बचनेकी प्रेरणा देते हैं—

रामा सोई मलेच्छ है, सो नीचां सिर नीच।
मांस अहारी ख्वार[१९] तन, चौरासी लख बीच॥ १॥
सुरापानमें दोष यह, आयुत[२०] सहस प्रवान।
रामा धिग मतवाल[२१] यह, भूत राकसी खान॥ ४॥

शास्त्रोंके समान रामस्नेहीजनोंने भी सप्तव्यसन-सेवनको

१-सही-सही। २-आस्तिक भाव। ३-नकारात्मक (मनाहीके रूपमें) उत्तर। ४-आइये, स्वागतम् आदि आगमनके आदर वचन। ५-सरलता। ६-उऋण-मुक्त। ७-घर-वार। ८-नहाते हैं। ९-प्रवाहके रास्ते। १०-नष्ट होना। ११-कभी भी। १२-अभिशाप। १३-सहनशीलता। १४-क्रोध। १५-दर्शन। १६-पुरातन। १७-गुरु-शरणागत होना। १८-व्यवधान। १९-बर्बाद। २०-दस हजार। २१-मदमस्ती।

परम निकृष्ट माना है। अतः प्राणीको अवश्य ही आधि-व्याधिके गृहभूत इन सप्त अधर्मोंसे बचे रहना चाहिये।—

सप्त विसन जिनके हृदय, सो नर नीच कहाय।
द्यूत जुवा अहमुख[1] सुरा, आखेटक[2] दुःखदाय॥ १॥
चोरी परनारी रता, रामा मिद्धम सोय।
अन्तर दीरघ कलपना[3] आधि व्याधि दुःख दोय॥ २॥
मन रे! आ' र[4] निहार, कीजै सदा विचार के।
मांस अहारी ख्वार[5] द्यालबाल सतगुरु कह्यो॥ ३॥

(श्रीद्यालदासजी०)

रामस्नेही संतकवि श्रीशालगरामजीने इन सप्त व्यसनोंको नरकमें गिरनेके सप्त सोपानकी संज्ञा दी है। नरकसे निकलनेके लिये सप्त सोपानीय निःश्रेणी (निसैनी) भी कविने बता दी है—

गणिका परदारा-गमन, द्यूत मांस मधु पान[6]।
मृगया[7] चोरी सप्त यह, व्यसन तजिय मतिवान॥ १॥
परिबे कुम्भीपाक में, सप्त व्यसन सोपान।
निःश्रेणी शम दम दया, सत्य' रु जप तप दान॥ २॥

(आशुकवि शालगरामजी)

(१७) परम-धर्म—

धरम परम गुरु मन्त्र, अवय[8] आनन्द सरूपं।
ब्रह्म कला आवेश, कहा वरणन्त अनूपं॥
निरभै नित्य दयाल, कोटि दर्शन ता मांई।
बिशन भगत अनेक, मुगत गुरु-मन्तर सांई॥
तरण मंत्र तारण तरण, सास सास जप लीजिये।
जनरामा अतुलत अमय, नमन नित्तता कीजिये॥ १॥
गुरु मन्तर निध[9] सकल, अकल[10] तारण सिध कारण।
परम तंत[11] रर मंत्र, एह तत्काल स पारण[12]॥
अनत जोत उद्दोत, विद्धआ[13] वैकुण्ठ स या में।
परम धरम निज-धाम, साम दर्शन[14] नित ता में॥
अक्षर नित आनन्द सा, परम पार विधि मिल वरम।
एह प्रताप गुरु मन्त्रको, जनरामा भगवद् धरम॥ २॥

(श्रीद्यालदासजी०)

परम धर्माश्रयको सुदृढ़ करने-हेतु संगासंग करनेके विषयमें आचार्य श्रीद्यालदासजी महाराज कहते हैं कि—

धर्महीण के वचन सुन, धर्महीण दे कान।
गुरुधर्मी श्रवणां सुणे, तबही तूटे तान[15]॥ १॥
धर्मी सूं धर्मी मिले, करै धरम की बात।
कर्मी[16] सूं कर्मी मिले, हिरदे काली-रात[17]॥ २॥

अतः शुभेच्छुजनोंको सदैव कर्मी (धर्महीन प्राणी)-के संगसे बचे रहना तथा धर्मी (धर्मवान्)-के संगमें पगे रहना चाहिये। ऐसा करनेसे हमारा परम धर्म सुदृढ़ हो सकता है।

(१८) षड्दर्शन-धर्म—

धर्मोपदेशक विविध धर्मावलम्बी जनोंको उनका अपना मूल धर्म (कर्तव्य) समझानेके लिये श्रीरामदासजी महाराजने 'ग्रन्थ षट दरसणी' लिखा है। इसमें षट्-दर्शनोंके साथ अन्यान्य अनेक नामाभिमानियोंको भी उनका सही धर्म-पथ सुझाया गया है।

इस तरह रामस्नेही संतवाणीके कुछ एक प्रमुख धर्म-बिन्दुओंके विचार-मन्थनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राणीको आत्मोद्धारार्थ मिले इस मानव-तनको सफल करनेके लिये सदैव 'कर्मबन्धन'से बचे रहना चाहिये। इसके लिये सहज, सरल तथा अचूक उपाय हैं—(१) पारमार्थिक धर्मका आश्रय रखना तथा (२) परात्पर ब्रह्मके सर्वोत्तम नाम 'राम' नामका निरन्तर स्मरण करते रहना।

अखादन्ननुमोदंश्च भावदोषेण मानवः। योऽनुमोदति हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते॥

जो स्वयं [मांस] नहीं खाता, पर खानेवालेका अनुमोदन करता है, वह मनुष्य भी भावदोषके कारण मांसभक्षणके पापका भागी होता है। इसी प्रकार जो मारनेवालेका अनुमोदन करता है, वह भी हिंसाके दोषसे लिप्त होता है। (महाभारत, अनुशासन० ११५। ३९)

१-आमिष (मांस)। २-शिकार। ३-चिन्ता। ४-अहार। ५-नष्ट। ६-मदिरा-पान। ७-शिकार करना। ८-अव्यय (निर्विकारी)। ९-निधि (सम्पत्ति)। १०-सबका। ११-परम तत्त्व। १२-पार करनेवाला। १३-विधि (रीति)। १४-स्वामी (परमपिता परमात्मा)। १५-सम्बन्ध। १६-धर्महीन प्राणी। १७-घोर अन्धकार।

आर्य धर्मशास्त्र

(श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

कुछ वर्ष पहलेकी बात है। संयुक्त राज्य अमेरिकाके मिचिगन नामक स्थानमें अन्ताराष्ट्रिय नैतिक शस्त्रीकरण (मारल रिआर्मामेन्ट)-सम्मेलन हो रहा था। एक दिन इस सम्मेलनमें बड़े-बड़े वक्ता अपने किये हुएपर पश्चात्ताप प्रकट कर रहे थे। मेरी पारी भी आयी। मुझे हिन्दू वक्ता कहकर पुकारा गया तो मैंने शुरूमें ही कहा कि हमारे लिये 'हिन्दू' शब्द ही गलत है। सिन्धु नदीके नामपर हमारी जो 'हिन्दू' संज्ञा बनी वह भ्रामक है। हम सनातन आर्य धर्मावलम्बी हैं। इसीलिये संसारमें हमारा सबसे प्रबल एक शक्तिशाली वचन तथा संकल्प है—

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।

संसारभरको हम आर्य बना दें।

'आर्य' शब्दके अनेक अर्थ हैं, पर हमारा मुख्य अर्थ है 'सभ्य'। हम संसारभरको सभ्य बना देना चाहते हैं। इसपर एक व्यक्तिने खड़े होकर पूछा—'क्या हम सभ्य नहीं हैं? क्या हम हिन्दू या आर्य नहीं हैं?'

—इसपर दिया गया उत्तर लोगोंके लिये बड़ी जानकारी पैदा करनेवाला था। उत्तर था—'सभ्यताका अर्थ यदि आजकलका संसार-व्यापी सम्पर्क, व्यभिचार, तृष्णा, युद्ध तथा परस्पर वैमनस्य है तो हमारे धर्मके अनुसार आप—हम सब कोई भी जो ऐसा आचरण करता है सभ्य नहीं है, अनार्य है। संसारमें केवल आर्य यानी हिन्दू धर्म ही ऐसा धर्म है जिसने अध्यात्म, परलोक, मुक्ति आदिकी महान् व्याख्या तथा उपदेश तो दिया ही, साथ ही उसे कर्तव्यकी परिधिमें भी बाँध दिया है। मानव पूजा-पाठ न करके उपासनामें समय न भी दे, पर उसके कल्याणके लिये आवश्यक है कि वह जीवनके साधारण कर्तव्योंका पालन अवश्य करे। इसीसे संसार बनेगा, यह लोक तथा परलोक आपसे-आप बन जायगा। 'स्वच्छन्द जीवन—मर्यादाहीन जीवन कोई जीवन नहीं है।' इसपर एक अन्य विद्वान्ने पूछा—'यदि हिन्दू-धर्मका यही मूल मन्त्र है जो अन्तमें मोक्षको ले जाता है तो आपके यहाँ कहा जाता है कि गुफाओंमें, कन्दराओंमें लोग तपस्या कर रहे हैं, वे लोग संसारमें किस कर्तव्यका पालन कर रहे हैं?' इसपर कहा गया—'कर्तव्य-पथका पालन करते-करते एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि व्यक्ति कर्मके ऊपर उठ जाता है और कर्म उसमें लिप्त नहीं होते एवं न उसे कर्मफलकी कोई लिप्सा ही रहती है।' इसी स्थितिको भगवान् श्रीकृष्णने गीताके चौथे अध्यायके चौदहवें श्लोकमें कहा है—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

मुक्त व्यक्तिमें न तो कर्म रह जाता है, न उसका फल।

धर्मका अर्थ हम अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' या उर्दू शब्द 'मज़हब' करके अनर्थ करते हैं। मज़हब आदि एकाङ्गी होता है और धर्म व्यापक। मानवके हर कार्यके साथ धर्म लगा हुआ है। आज हमने धर्मकी अपनी मनमानी व्याख्या की है। आज हम एक-दूसरेपर उँगलियाँ ही उठाते रहते हैं और यह भूल जाते हैं कि दूसरेके प्रति तो एक ही अँगुली उठती है, पर चार अँगुलियाँ अपनी ओर लगी रहती हैं। वे अँगुलियाँ मानो कहती हैं—'जिस बातके लिये दूसरेपर उँगली उठाते हो, जरा देखना वह दोष तुम्हारे मुहल्लेमें तो नहीं है! दूसरी अँगुली कहती है कि वह दोष तुम्हारे घरमें तो नहीं है! तीसरी कहती है कि वह दोष तुममें तो नहीं है और चौथी कहती है कि इन प्रश्नोंका उत्तर देकर तब दूसरेपर उँगली उठाओ।'

हमारा आर्य-धर्म इस प्रकारके छिद्रान्वेषणके सख्त खिलाफ है। आर्य-धर्म ईश्वरपर तथा श्रुति, पुराण एवं स्मृतिपर निर्भर करता है और वह कहता है कि अपना कर्तव्य करो। बस वही सब कुछ है।

धर्मका अर्थ है—'व्यक्तिगत जीवनमें न्यायसंगत कार्य'। न्यायसंगत कार्यसे ही मानव-जीवन सार्थक है। उपासना, पूजा-पाठ, यज्ञ, वैदिक अनुशासन सब इसीके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिये पुराणोंके निचोड़-रूपमें कहा गया है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

परोपकार करना पुण्य है और दूसरोंका अपकार करना, अकल्याण करना पाप है, यही धर्म है और इसीलिये

कलियुगकी भावी पापप्रवृत्तिका अनुमान कर भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

धर्मके सेवनसे ही चतुर्विध पुरुषार्थकी प्राप्ति हो जाती है, फिर उस कल्याणकारी धर्मका आचरण क्यों नहीं किया जाता? पर वह धर्म क्या है? इसका उत्तर युधिष्ठिरने महाभारतमें दिया है—

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः।

धर्मका तत्त्व बड़ा गूढ है। धर्म क्या है, इसकी व्याख्या करना बड़ा कठिन है। अतः जिस मार्गसे महापुरुष चले हों, चलते हों, वही धर्मका मार्ग है। आप ईश्वरको मानें या न मानें यह तो अपनी आस्था तथा विश्वासकी बात है, पर सनातनधर्म इसे कर्तव्यकी परिधिमें मानता है। समूचे जगत्में कल्याणके कार्यको ही मानव-धर्म माना गया है। ईश्वरवादी सारे धर्म कर्तव्यको प्रधानता देते हैं। मुस्लिम धर्मशास्त्र 'हदीस' है। उसमें एक कथा है—एक संत क़ाबामें हज़ करने जा रहे थे तो उन्हें मार्गमें एक बीमार कुत्ता मिला। वे उसकी सेवा-चिकित्सामें तीन दिनतक व्यस्त रहे। जब कुत्ता अच्छा हो गया तो वे हज़की यात्रापर चले, तभी आकाशवाणी हुई कि तुमने एक रोगीकी सेवा कर दी है। बस, तुम्हारा हज़ हो गया। अब इस यात्राकी आवश्यकता नहीं है।

बौद्ध अहिंसाको परम धर्म मानता है। जैनधर्मकी शिक्षा है क्रोधसे प्रीति नष्ट होती है। अभिमानसे शालीनता नष्ट होती है तथा मायासे मित्रता नष्ट होती है और लोभसे तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। बाइबिलमें स्थान-स्थानपर लोक-सेवाका उल्लेख है।

अस्तु, धर्मशास्त्र कर्तव्यशास्त्र है। जिसका पालन प्रत्येक आर्य-धर्मावलम्बीके लिये अनिवार्य है। आज संसारमें जो नैतिक पतन हो रहा है, उसका केवल एकमात्र कारण है धर्मशास्त्रमें वर्णित मौलिक कर्तव्योंका पालन न करना।

सूतसंहितामें विशिष्ट धर्म

(डॉ० श्रीरमाकान्तजी झा)

अष्टादश पुराणोंमें स्कन्दपुराणका विशिष्ट स्थान है। यह विपुलकाय पुराण संहितात्मक और खण्डात्मक दो रूपोंमें उपनिबद्ध है। स्कन्दपुराणके संहितात्मक रूपमें छः संहिताएँ और पचास खण्ड हैं। इस पुराणकी छः संहिताओंमें दूसरी संहिता 'सूतसंहिता' है—

आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूतसंहिता॥

(सूतसं० १। १। २०)

'सूतसंहिता' में विवेचित धर्मशास्त्रीय विषयोंके अन्तर्गत वर्ण, आश्रम, तीर्थ, दान, विशिष्ट धर्म, पातक एवं प्रायश्चित्त आदिका विशेषरूपसे साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है और विशिष्ट धर्मकी साधनाको ही मुख्य लक्ष्य निर्धारित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (७। १७)-में 'धर्म' शब्द सम्पूर्ण धार्मिक कृत्योंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् (२। २३। १)-में 'धर्म' का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ प्राप्त होता है, जिसके अनुसार धर्मकी तीन शाखाओंका निर्देश है—(१) यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थधर्म। (२) तपस्या अर्थात् तापस-धर्म। (३) ब्रह्मचारित्व।

धर्मशास्त्रोंमें 'धर्म' शब्दका व्यापक अर्थ गृहीत हुआ है। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें भी 'धर्म'का व्यापक अर्थ विवक्षित है। इसी आधारपर स्मृतिके व्याख्याता मेधातिथिने 'धर्म'के पाँच स्वरूपों—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिकधर्म और गुणधर्मका उल्लेख किया है।

धर्मके महत्त्वके विषयमें श्रुतिका कथन है कि धर्म सम्पूर्ण संसारकी प्रतिष्ठा है। संसारमें लोग धर्मशीलके समीप ही जाते हैं। धर्माचरणसे पाप दूर होता है। धर्मपर सब कुछ आधृत है, अतः धर्म सर्वश्रेष्ठ है—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति'

(तै० आरण्यक १०। ६३। ७)

भगवद्गीतामें धर्मकी स्थापनाके लिये ही ईश्वरके अवतारका

प्रयोजन बताया गया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ८)

इसी ईश्वरज्ञानरूप—परमात्मज्ञानरूप विशिष्ट धर्मका निरूपण 'सूतसंहिता' के यज्ञवैभवखण्डके बीसवें अध्यायमें विस्तारसे किया गया है। सूतसंहितामें आत्मस्वरूपको नित्य कहा गया है। उसका ज्ञान करानेवाला वेदान्त-वाक्य मुख्य प्रमाण है, अतः मुख्य प्रमाणजन्य परशिवात्मविषयक ज्ञान ही परम धर्म है। यद्यपि सूतसंहितामें वर्णाश्रमादि सामान्य धर्मोंका यथास्थान वर्णन है, तथापि मोक्षदायक परमात्म-शिवरूप परम धर्मका विवेचन अध्यात्म-दृष्टिसे हुआ है। इस संदर्भमें सूतसंहितामें निर्मूल तथा समूल दो प्रकारके धर्मका प्रतिपादन किया गया है। श्रद्धापूर्वक स्वबुद्धि-कल्पित तपश्चरण भी धर्म है, यह आगमरहित होनेके कारण निर्मूल कहलाता है, किंतु यही धर्म देवाराधनपरक होनेपर वेदमूलक होनेसे समूल कहलाता है और पूर्वापेक्षया श्रेष्ठ हो जाता है—

स्वमनीषिकयोत्पन्नो निर्मूलो धर्मसंज्ञितः।
श्रद्धया सहितो यस्तु सोऽपि धर्म उदाहृतः॥
निर्मूलोऽपि स्वबुद्ध्यैव कल्पितोऽपि महर्षयः।
देवताराधनाकारो धर्मः पूर्वोदिताद्वरः॥

(सूतसंहिता ४। २०। १३-१४)

निर्मूल धर्मकी अपेक्षा समूल वेदमूलक धर्म श्रेष्ठ होता है और उसमें भी शैवागम श्रेष्ठ है। शैवागम-धर्मके दो भेद हैं—अधःस्रोतोद्भव और ऊर्ध्वस्रोतोद्भव। यथा—

अधःस्रोतोद्भवस्त्वेक ऊर्ध्वस्रोतोद्भवोऽपरः॥

(सू० सं० ४। २०। २१)

शैवागमके उपर्युक्त दो धर्मोंमें लीलाविग्रहधारी परशिवकी नाभिके अधोभागसे उत्पन्न धर्म अधःस्रोतोद्भव और नाभिके ऊर्ध्वभागसे उत्पन्न धर्म ऊर्ध्वस्रोतोद्भव कहलाता है। प्रथम धर्मकी अपेक्षा द्वितीय धर्म श्रेष्ठ है। ऊर्ध्वस्रोतोद्भवधर्मके भी कामिक आदि अनेक भेद हैं—

अधःस्रोतोद्भवधर्मादूर्ध्वस्रोतोद्भवः परः।
कामिकादिप्रभेदेन स भिन्नोऽनेकधा द्विजाः॥

(सू० सं० ४। २०। २२)

आगमशास्त्रमें ऊर्ध्वभागसे उत्पन्न धर्मके पाँच भेदोंका उल्लेख मिलता है। नाभिके ऊर्ध्वभागमें शिवके सद्योजात, वामदेव, अघोर, पुरुष और ईशान नामके पाँच मुख हैं, जिनसे क्रमशः कामिकादि, दीप्तादि, आप्तिविजयादि, भैरवादि और प्रोद्गीतादि अनेक धर्म उत्पन्न हुए हैं।[1]

इसी प्रकार अधःस्रोतोद्भवधर्मके भी कापालादि अनेक प्रकार हैं। ऊर्ध्वस्रोतोद्भवधर्मकी अपेक्षा मन्वादि-प्रतिपादित स्मार्तधर्म, स्मार्तके श्रौतधर्म और श्रौतधर्ममें भी शान्त्यादि धर्म श्रेष्ठ है।[2]

पूर्वोक्त सभी धर्मोंकी अपेक्षा मोक्षसाधनभूत शिवज्ञानरूप धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। ईश्वर-ज्ञानसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है—

वरिष्ठं सर्वधर्मेभ्यो ज्ञानं मोक्षैकसाधनम्।
ज्ञानान्नास्ति परो धर्म इति वेदार्थनिर्णयः॥

(सू० सं० ४। २०। २७)

ज्ञानके कारणोंमें श्रुति ही श्रेष्ठ है। ज्ञानोंमें भी शम्भुविज्ञान वरिष्ठ है। वेदान्तवाक्यजनित परशिव-स्वरूप-विषयक ज्ञानके निरूपणमें धर्मका विवेचन है। धर्मके साक्षात् निरूपणमें वेदवाक्य-प्रतिपादित धर्मका यही लक्षण अभिप्रेत है, अन्य लक्षण तो व्यवहारबुद्धिके विषय हैं—

चोदनालक्षणो धर्मो धर्मः साक्षान्निरूपणे।
इतरो व्यवहारे तु धर्म इत्यभिशब्द्यते॥

(सू० सं० ४। २०। ३२)

जैमिनिसूत्र 'चोदनालक्षणो धर्मः' के अनुसार भी वेदवाक्य-

१-सद्योजातमुखाज्जाताः पञ्चाद्याः कामिकादयः। वामदेवमुखाज्जाता दीप्ताद्याः पञ्च संहिताः॥
अघोरवक्त्रादुद्भूताः पञ्चाप्तिविजयादयः। पुंवक्त्रादपि चोद्भूताः पञ्च वै भैरवादयः॥
ईशानवदनाज्जाताः प्रोद्गीताद्यष्टसंहिताः।

(सू० सं० ४। २०। २१-२२ तात्पर्यटीका)

२-अधःस्रोतोद्भवो धर्मो बहुधा भेदितस्तथा। ऊर्ध्वस्रोतोद्भवाद्धर्मात् स्मार्ता धर्मा महत्तराः॥
स्मार्तेभ्यः श्रौतधर्माश्च वरिष्ठा मुनिसत्तमाः। तेषां शान्त्यादयः श्रेष्ठास्तेषां भस्मावगुण्ठनम्॥

(सू० सं० ४। २०। २३-२४)

प्रतिपादित धर्म ही वस्तुत: धर्म है। श्रौतधर्मसे भिन्न धर्मोंमें धर्माभासतया 'धर्म' शब्दका प्रयोग गौण माना गया है। अन्य धर्मोंमें धर्म शब्दके गौण प्रयोगमें श्रद्धा ही कारण है। इतर धर्म वस्तुत: धर्म न होकर धर्माभास ही हैं। मुख्य धर्म तो वेदमूलक है—

आस्तिक्यान्वयमात्रेण धर्माभासेऽपि सुव्रताः।
प्रयुक्तो धर्मशब्दस्तु मुख्यो धर्मस्तु वेदजः॥

(सू० सं० ४। २०। ३३)

जिस प्रकार देवताओंमें शिव, मनुष्योंमे ब्राह्मण, नगरोंमें वाराणसी, मन्त्रोंमें षडक्षर और रक्षकोंमें गुरु अनुपम हैं, उसी प्रकार सभी प्रमाणों—धर्मोंमें श्रुति-प्रमाणधर्म अनुपम है। इस प्रकार वेद-प्रमाणजन्य शिव-ज्ञान ही परम (विशिष्ट) धर्म है—

अतश्च संक्षेपमिमं वदामि वः
श्रुतिः प्रमाणं शिव एव केवलः।
वरिष्ठ उक्तः सितभस्मगुण्ठनं
विशुद्धविद्या च न चेतरत् परम्॥

(सू० सं० ४। २०। ४२)

सूतसंहिताका यह विशिष्ट धर्मप्रतिपादन स्मृतिसम्मत है। मनुस्मृतिमें मुनियोंके धर्मविषयक प्रश्न किये जानेपर मनुने जगत्कारण-रूपसे ब्रह्म-प्रतिपादनके द्वारा धर्मका ही कथन किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

यहाँ धृति आदि दशविध धर्मलक्षणोंमें 'विद्या' शब्दसे अभिहित आत्मज्ञानरूप धर्म है। महाभारतमें भी '**आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो मतः**' इस कथनमें आत्मज्ञानको धर्म माना गया है। आत्मज्ञानके परम धर्म होनेके कारण ही मनुने मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायमें प्रधानतया जगत्कारण ब्रह्मात्मरूपका निरूपण करके आगे द्वितीयादि अध्यायोंमें संस्कारादिरूप धर्मका उस आत्मज्ञानरूप परमधर्मके अङ्गरूपसे वर्णन किया है। याज्ञवल्क्यने भी आत्मज्ञानको स्पष्टरूपसे परम धर्म स्वीकार किया है—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

(याज्ञ० स्मृति० १। ८)

जगत्कारणत्व ब्रह्मका लक्षण है। इसीलिये ब्रह्ममीमांसा-प्रसंगमें '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' (ब्रह्मसूत्र १। १। १) इस सूत्रके बाद ब्रह्मके लक्षण-कथनके लिये '**जन्माद्यस्य यतः०**' (ब्रह्मसूत्र १। १। २) इस सूत्रकी रचना भगवान् बादरायणने की। इस सूत्रके अनुसार इस संसारकी सृष्टि, स्थिति और विनाश जहाँसे हो, वह ब्रह्म है। फलतः ब्रह्म जगत्का कारण सिद्ध होता है। श्रुति भी '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते...तद् ब्रह्म**' इस कथनके द्वारा ब्रह्मकी जगत्कारणताका प्रतिपादन करती है।

लोकको धारण करनेवाला तत्त्व धर्म है, यह ऊपर कहा जा चुका है। लोकका धारक धर्म है और वह धर्म साक्षात् ब्रह्म है, अतः ब्रह्मकी धर्मात्मकता भी सिद्ध होती है। ब्रह्मकी जो शक्ति भौतिक पदार्थोंको अपने-अपने स्वरूपमें व्यवस्थित रखे, वही धर्म है। सम्पूर्ण विश्वकी प्रत्येक वस्तुमें तथा प्रत्येक परमाणुके भीतर आकर्षण और विकर्षण नामक दो शक्तियाँ हैं। इन उभयात्मक शक्तिकी समानता रखकर सृष्टिकी रक्षा करनेवाली ईश्वरीय शक्ति ही धर्म है। विश्वमें धर्मकी धारिका शक्तिका प्रभाव दो रूपोंमें दिखायी देता है—(१) एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे पृथक् रखकर उसको ठीक अपनी अवस्थामें रखना। (२) क्रमशः उन्नति प्रदान कर पदार्थकी पूर्णताकी ओर ले जाना। क्रमाभिव्यक्तिके नियमके अनुसार जीवभावका विकास उद्भिज्जसे आरम्भ होकर मनुष्य-योनिमें पूर्ण होता है। जीवभावका यह क्रमिक विकास धर्मका ही कार्य है। फलतः यह सिद्ध होत है कि जो शक्ति जीवको जडतत्त्वसे पृथक् रखकर क्रमशः उन्नत करती हुई मोक्ष दिलाती है वही धर्म है। इसी संदर्भमें कणादका वह धर्मलक्षण, जिसमें लौकिक अभ्युदय और निःश्रेयससिद्धि—मोक्ष-प्राप्तिका कथन है, युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्रह्मात्मरूप धर्मका स्वरूप व्यापक है और सूतसंहिता इसी व्यापक परम धर्म—विशिष्ट धर्मको विशेष महत्त्व देती है—

विशिष्टधर्मः कथितः समासतो
मयैव वेदार्थविचारणक्षमः।
इतोऽतिरिक्तं सकलं पलालवद्
वृथा न लाभाय विशुद्धचेतसाम्॥

(सू० सं० ४। २०। ४१)
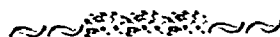
आयुर्वेद और धर्मशास्त्र

जनसाधारणकी दृष्टिमें आयुर्वेद और धर्मशास्त्र पृथक्-पृथक् विषयके प्रतिपादन करनेवाले दो भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं, परंतु गम्भीर अध्ययन करनेवाले इस बातसे पूर्ण परिचित हैं कि ये दोनों शास्त्र एक ही उद्देश्यके प्रतिपादक हैं, दोनोंका उद्देश्य है मानव-जीवनको इस लोकमें सुखी, समृद्ध एवं नीरोग बनाकर पूर्ण शतवर्षकी आयु प्राप्त कराना तथा अन्तमें जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा दिलाकर मुक्त करा देना।

आयुर्वेद, संसारमें प्रचलित और अत्यन्त उन्नत मानी जानेवाली चिकित्सापद्धतियोंके सदृश, केवल पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरकी भौतिक स्थूल यन्त्रोंसे परीक्षा करके उसके विकारको औषधों या यन्त्रोंकी सहायतासे हटा देनेकी चेष्टाको अधूरी चिकित्सा-पद्धति मानता है।

—क्योंकि आयुर्वेद शरीर और मन तथा जीवात्मा—इन तीनोंके संयोगको जीवन मानता है—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(च० सू० १। १८)

'सत्त्व (मन), आत्मा, शरीर—ये तीनों जबतक एक-दूसरेके सहारेसे त्रिदण्डके सदृश संयुक्त होकर रहते हैं तभीतक यह लोक है। इसीका नाम जीवन या आयु है।'

स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः॥

(च० सू० १। १९)

'सत्त्व-आत्मा-शरीरकी संयुक्तताको ही पुरुष कहते हैं, यह संयुक्त पुरुष ही चिकित्साका अधिकरण है। समस्त आयुर्वेद इसके हितके लिये ही प्रकाशित हुआ है।'

इन तीनों अर्थात् शरीर, मन एवं आत्माकी संयुक्तावस्थाके रहते हुए भी आत्मा निर्विकार होनेसे सुख-दुःख और रोग-आरोग्यका आश्रय नहीं हो सकता। क्योंकि—

निर्विकारः परस्त्वात्मा......द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः।

(च० सू० १। [illegible])

'आत्मा निर्विकार, पर और द्रष्टा है, दृश्यके गुण-दोषसे द्रष्टा कभी लिप्त नहीं होता।'

सुख-दुःख, रोग एवं आरोग्यका आधार शरीर और मन ही है।

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः॥

(च० सू० १। ५७)

'शरीर और मन—ये दोनों ही व्याधियोंके आश्रय माने गये हैं तथा सुख (आरोग्य)-के आश्रय भी ये ही हैं।'

आहार आचार-विचार-व्यवहारका सम, उचित प्रयोग ही सुखोंका कारण है। वास्तवमें सच्चा सुख आरोग्य है। रोग ही दुःख है—

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च॥

रोगको हटाने या उत्पन्न न होने देनेकी विधि बतलाना आयुर्वेद और धर्मशास्त्र दोनोंका समान उद्देश्य है।

रोग या दुःखके कारण

अविकृत वात, पित्त एवं कफ शरीरको धारण करते हैं और जब ये मिथ्या आहार-विहारसे विकृत हो जाते हैं, तब शरीरका नाश कर देते हैं। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण मनके दोष हैं। ये जब विकृत होते हैं, तब मनको रुग्ण बना देते हैं। शारीरिक और मानसिक दोषोंकी सम अवस्था ही आरोग्य या सुख है। इन दोषोंकी विषमता ही रोग या दुःख है—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।
वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥

(च० सू० १। ५८)

विकृत हुए शारीरिक दोषोंको और मानस दोषोंको समान अवस्थामें स्थापित कर देना ही आयुर्वेद और धर्मशास्त्रका लक्ष्य है। चरकने शारीरिक और मानसिक रोगोंकी निवृत्तिका उपाय इस प्रकार बतलाया है—

प्रशाम्यन्त्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥

([illegible])

'शारीरिक रोग दैव और युक्तिके आश्रित औषध-प्रयोगोंसे [illegible]

स्मृति, समाधि आदि मानस उपायोंसे शान्त होते हैं।'

जिसका मन और शरीर दोनों प्रसन्न हैं, वही स्वस्थ है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

'जिसके शारीरिक दोष सम हों, अग्निबल सम हो, धातुओं और मलोंकी क्रिया समान हो तथा आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न रहता हो, वह पुरुष ही स्वस्थ है।' यह नियम है कि स्वस्थ शरीरमें ही मन स्वस्थ रहता है और जिसका मन स्वस्थ है, उसीका शरीर स्वस्थ रहता है।

मन अस्वस्थ और शरीर स्वस्थ या शरीर स्वस्थ और मन अस्वस्थ कभी नहीं रह सकते, दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अतः दोनोंका उपचार बतलाना आयुर्वेदका लक्ष्य है। यही कारण है कि—

आहार, आचार-विचार, व्यवहार-दिनचर्यामें आयुर्वेद और धर्मशास्त्र एकमत हो जाते हैं। दोनोंका लक्ष्य है—मानवको सुख प्राप्त कराना—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद् धर्मपरो भवेत्॥

(वा० सू० २। २)

'सब प्रकारके प्राणियोंकी प्रवृत्ति सुखके लिये ही होती है, सुख धर्मपालन किये बिना नहीं मिलता। अतः सुख चाहनेवालेको धर्मपरायण रहना चाहिये।'

अधार्मिक पुरुष सुखी नहीं रह सकता—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥

(मनु० ४। १७०)

'जो पुरुष अधार्मिक है, जिसका झूठ बोलना ही धनागमका साधन है, जो मन-वाणी-शरीरसे दूसरोंकी हिंसा करता है या प्राणवियोग करता है, वह इस लोकमें कभी सुखी नहीं रह सकता।'

धर्माचरणमें कष्ट उठाना पड़े तो भी उठाओ। अधार्मिक पुरुषोंकी आपातरमणीय उन्नति देखकर अधर्ममें मन मत लगाओ, क्योंकि अधार्मिकोंकी उन्नति अचिरस्थायी है, पतन शीघ्र और अवश्यम्भावी है—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम्॥

(मनु० ४। १७१)

'अधार्मिक पुरुषोंका धन, मान, सुख, भोग-विलास शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, अधर्मका वृक्ष समय आनेपर अवश्य अनिष्ट फल देता है।'

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥

(मनु० ४। १७२)

'पृथ्वीमें बोये हुए बीज सद्यः फल नहीं देते, पर समय आनेपर धीरे-धीरे बढ़ते हुए जब वृक्षके रूपमें विकसित होते हैं, तब ही उनके फल लगते हैं। ऐसे ही अधर्मके वृक्षका स्वभाव है, वह तत्काल फल नहीं देता, जब बढ़कर फलता है तब कर्ताके मूलका ही छेदन कर देता है।'

अधर्मसे मनुष्य एक बार बढ़ता है, अन्तमें समूल नष्ट हो जाता है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनु० ४। १७४)

'अधर्मसे मनुष्य पहले तो एक बार बढ़ता है, फिर मौज-शौक-आनन्द भी करता है और अपने छोटे-मोटे शत्रुओंपर धनके बलसे विजय भी प्राप्त कर लेता है, किंतु अन्तमें वह देह, धन और संतानादिसहित समूल नष्ट हो जाता है।' इसीलिये मनुजी कहते हैं—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।

(मनु० ४। १७६)

'जो धन धर्मविरुद्ध कर्मोंसे मिलता हो, जो भोग धर्मरहित हो—उन दोनोंका त्याग कर दे, क्योंकि उनका परिणाम बुरा होगा।'

दुराचारी पुरुष दीर्घजीवी नहीं होता

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

(मनु० ४। १५७)

'दुराचारी पुरुष लोकमें निन्दित माना जाता है, निरन्तर दुःख भोगता है, व्याधिग्रस्त रहता है और अल्पायु होता है।'

सदाचारी पुरुष ही शतायु होता है

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(मनु० ४। १५८)

'सब शुभ लक्षणोंसे हीन पुरुष भी यदि सदाचारी हो, ईश्वर तथा धर्मशास्त्रपर श्रद्धा रखनेवाला हो, परदोष देखने-कहनेवाला न हो तो वह सौ वर्षतक जीता है।'

सौ वर्ष जीना मानव-जीवनकी पूर्ण सफलता है

एतद्वा मनुष्यस्य अमृतत्वं यत् सर्वमायुरेति वसीयान् भवति॥ (ताण्ड्य० ब्रा०)

य एवं शतं वर्षाणि जीवति यो वा भूयांसि जीवति स ह एतदमृतं प्राप्नोति। (शतपथ ब्रा०)

सार यह है कि वेदों और ब्राह्मणग्रन्थोंमें १०० वर्ष और इससे अधिक नीरोग और सम्पन्न होकर जीनेको मनुष्यकी पूर्णता और मोक्षका हेतु कहा है, '**जीवेम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्।**' इन दो प्रार्थनाओंमें ही मानव-जीवनकी सफलताका बीज अन्तर्निहित है।

सदाचारके अनुपालनसे आगन्तुक रोग नहीं होते

ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः॥
त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥
आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः।
प्राज्ञः प्रागेव तत् कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः॥

(च० सू० ७। २५—२७)

'ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, मान तथा द्वेष आदि सब मनके रोग हैं, जो प्रज्ञापराधसे उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञापराधोंका त्याग, इन्द्रियोंका उपशम, धर्मशास्त्रोंके तथा आयुर्वेदके उपदेशोंको याद रखना, देश-काल-आत्माका विज्ञान, सद्वृत्तका अनुवर्तन—ये सब आगन्तुक व्याधियोंसे बचनेके उपाय हैं। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि रोग उत्पन्न होनेके पहले ही आत्महितके इन उपायोंका पालन करे, जिससे आगन्तुक रोग हों ही नहीं।'

आयुर्वेदमें आयुकी रक्षाके उपाय

हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥
इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्॥

(च० वि० ३। ८—१०)

'मङ्गलमय स्वास्थ्यप्रद शान्त देशोंमें निवास करना, ब्रह्मचर्यका पालन, ब्रह्मचारियोंकी सेवा, धर्मशास्त्रोंकी कथाओंका श्रवण करना, जितात्मा महर्षियोंके चरित्रोंका श्रवण-पठन एवं मनन करना, जिन धार्मिक सात्त्विक पुरुषोंकी ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध धार्मिक पुरुष प्रशंसा करें, उनके साथ निरन्तर रहनेकी चेष्टा—आयुके परिपालनके ये सब उत्तम भेषज हैं।'

महामारी और युद्धसे होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका कारण भी अधर्म ही है

महामारीके समय देश, काल, जल और वायु दूषित होकर सामूहिकरूपसे नरसंहार हो जाता है तथा देश-के-देश उजड़ जाते हैं। देश, काल, जल और वायुमें एक साथ विकृति उत्पन्न होनेका कारण सामूहिक अधर्माचरण ही है—

सर्वेषामप्यग्निवेश वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते यत्, तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं चासत्कर्म पूर्वकृतम्, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद् यथा—यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां प्रवर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति। ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते। तेषां तथाविधान्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते। तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति न वा वर्षति, विकृतं वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयश्च स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम्, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात्॥

(च० वि० ३। १२)

'अग्निवेश! इन वायु आदिका—सबका एक साथ ही दूषित होनेका मूल कारण अधर्म है। अधर्मका मूल असत्कर्म है। अधर्म और असत्कर्मका मूल प्रज्ञापराध है

जब देश-नगर-निगमके प्रधान अधिकारी पुरुष धर्मका उल्लंघन करके अधर्ममें प्रजाके साथ बर्ताव करते हैं, तब इनके आश्रित-उपाश्रित नीचेके कर्मचारी और पुर तथा जनपदके निवासी एवं व्यापारी उस अधर्मकी वृद्धि करते हैं। वह अधर्म धर्मको बलपूर्वक अन्तर्हित कर देता है। जब मनुष्योंका धर्म अन्तर्हित हो जाता है और उनमें अधर्मकी प्रधानता हो जाती है, तब उनके रक्षक आधिभौतिक-आध्यात्मिक देवता उन्हें त्याग देते हैं। ऋतुओंका स्वभाव बदल जाता है। मेघ यथाकाल नहीं बरसता अथवा बरसता ही नहीं, या विकृत वर्षा करके जलप्लावन कर देता है, वायु विकृत होकर बहता है, पृथ्वी व्यापन्न हो जाती है, जल सूख जाते हैं, ओषधियाँ अपने स्वभावको छोड़कर विरुद्ध गुणवाली हो जाती हैं, विकृत वायु आदिके संस्पर्श एवं विकृत खाद्यपदार्थोंके आहारसे देश-के-देश एक साथ महामारीके फैलनेसे उजड़ जाते हैं।'

युद्धजन्य नरसंहारका हेतु भी अधर्म ही है

शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति। येऽतिप्रवृद्धलोभरोषमोहमानास्ते दुर्बलानवमत्यात्मस्वजन-परोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति।

(च० वि० ३। १३)

'शस्त्रप्रभव अर्थात् युद्धसे होनेवाले सामूहिक नरसंहारसे भी देश उजड जाते हैं। उसका हेतु भी अधर्म ही है। जब मनुष्योंमें मर्यादातीत अत्यन्त लोभ, रोष, मोह, मान बढ़ जाते हैं, तब प्रबल शक्तिशाली शक्तिके, धनके बलसे दुर्बल और दीन पुरुषोंका तिरस्कार करते हैं, फिर वे अपने-पराये सब पुरुषोंका नाश करनेके लिये शस्त्रास्त्रोंसे आक्रमण करते हैं। इस प्रकार युद्धसे होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका मूल कारण भी अधर्म ही है।'

अभिशापसे होनेवाले नरसंहारका हेतु भी अधर्म ही है

अभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति। ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति।

(च० वि० ३। १४)

'अभिशापसे भी होनेवाले जनपदोद्ध्वंसका कारण भी अधर्म ही है। जब मनुष्योंकी धार्मिक भावना लुप्त हो जाती है, धन और शक्तिका मद बढ़ जाता है, तब वे पूज्य गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषिजनोंका तिरस्कार करते हैं और उनके अभिशापसे एक साथ समूल नष्ट हो जाते हैं।'

यह निश्चित सिद्धान्त है कि रोग, दुःख और अकालमृत्यु आदि असदाचार या पापका फल है। समाजमें यह जब सामूहिक रूपसे बढ़ जाता है, तब यह सामूहिक विनाश करता है, व्यक्तिगत पाप व्यक्तिको ही नष्ट करता है, दीर्घकालीन असाध्य बीमारियोंके द्वारा, धन-मान-विनाशके द्वारा कष्ट पहुँचाता है। मनुष्यकी आयु साधारणतः १०० वर्षकी मानी गयी है, आयुकी समाप्तिपर निधन निश्चित है, पर इससे पहले मरना उसके अपने अपराधोंका फल है।

आयुर्वेदका सिद्धान्त है कि १०१ मृत्यु हैं, जिनमें मनुष्यकी एक मृत्यु तो निश्चित है, वह किसी उपायसे टाली नहीं जा सकती। शेष १०० मृत्युओंको अकालमृत्यु कहा जाता है, वे आयुर्वेदोक्त एवं धर्मशास्त्रोक्त सद्वृत्तके अनुष्ठानसे टल जाती हैं—

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते।
तत्रैकः कालसंज्ञस्तु शेषास्त्वागन्तवः स्मृताः॥ १८॥

सार यह है कि आगन्तुक मृत्युएँ हितोपचारसे हटायी जा सकती हैं। '**हितोपचारमूलं जीवितमतो विपर्ययान्मृत्युः**'—चरकका सिद्धान्त है कि जीवनका मूल हितोपचार है, अहितोपचार ही मृत्युका कारण है। हम यहाँ चरकोक्त हितोपचारोंका थोड़ा-सा निदर्शन करा देते हैं। शेष स्वयं पाठक चरक सूत्रस्थानके ८ वें अध्यायमें देखें।

तत् सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश।

(च० सू० ८)

अब हम सम्पूर्ण सद्वृत्त—सदाचारका उपदेश करेंगे। देव, गौ, ब्राह्मण, सिद्ध, आचार्यकी अर्चना करना, प्रतिदिन अग्निहोत्र करना, प्रशस्त औषधका सेवन और रत्न धारण करना, दोनों समय स्नान-संध्या करना, प्रसन्न रहना, मिलनेवालोंसे प्रथम स्वयं कुशल-प्रश्न करना, पितरोंका पिण्ड-दान-श्राद्ध-तर्पण करना, हित-मित-मधुर भाषण और हित-मित-मधुर आहार यथासमय करना, निश्चिन्त, निर्भीक, क्षमावान्, धार्मिक, आस्तिक होकर रहना—इत्यादि अनेक सद्वृत्त हैं। जिनका संक्षेपमें वाग्भटने एक ही श्लोकमें वर्णन कर दिया है—

नित्यं हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

(अष्टाङ्गहृदय सू० ४। ३६)

'प्रतिदिन हित आहार-विहार करनेवाला, सोच-समझकर कार्य करनेवाला, विषयोंमें अनासक्त, दान देनेवाला, हानि-लाभमें सम रहनेवाला, सत्यपरायण, क्षमावान्, आप्त पुरुषोंकी सेवा करनेवाला, उनकी शिक्षाके अनुसार चलनेवाला पुरुष ही नीरोग और शतायु होता है।'

सार यह है कि आयुर्वेदने जिन आहार-विहार-आचारोंको रोगोत्पादक बतलाया है, धर्मशास्त्रोंने उन्हें पापजनक कहा है। यही आयुर्वेदका स्वस्थ-वृत्त है।

स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति।
स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते॥

(च० सू० ८। १०)

नृलोकमापूरयते यशसा साधुसम्मतः।
धर्मार्थावेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति॥ ११॥
परान् सुकृतिनो लोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते।
तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा॥ १२॥

'जो इस आयुर्वेदोक्त सद्वृत्तका सम्यक् पालन करता है, वह १०० वर्षतक नीरोग रहकर जीता है, नरलोकको यशसे पूरित करता है, सुकृतियोंके पुण्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त करता है, धर्म और अर्थको प्राप्त होता है और सब प्राणियोंकी बन्धुताको प्राप्त होता है। अतः सभी मनुष्योंको इसका पालन करना चाहिये।'
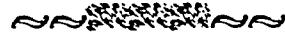
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्

(डॉ० श्रीभुवनेश्वरप्रसादजी वर्मा 'कमल', एम्० ए०, डी० लिट्०)

अनन्त शास्त्र हैं, विद्याएँ भी बहुत हैं और हमारी आयु इतनी स्वल्प है कि रोग-शोकादि विघ्न-बाधाओंसे आवृत इस छोटी अवधिमें उनका पार पाना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। अतः बुद्धिमत्ता इसीमें है कि उन शास्त्रोंकी सारभूत बातोंको ग्रहण करके आत्मोद्धार कर लिया जाय।

शास्त्रोंकी इसी अनन्तता और मानव-जीवनकी क्षणभङ्गुरताको ध्यानमें रखकर धर्मसंस्थापनार्थ अवतार ग्रहण करनेवाले साक्षात् परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने मानवोंके कल्याणके लिये उन समस्त ज्ञान-विज्ञान-विषयक विविध शास्त्रोंके साररूप 'गीता-ग्रन्थ'को हमारे लिये उपलब्ध करा दिया।

यह 'श्रीमद्भगवद्गीता-ग्रन्थ' समस्त वेदोपनिषदोंका सार-रूप है। इसकी अनन्त महिमा है। यह वह ब्रह्मविद्या है, जिसे जान लेनेके बाद मनुष्य जन्म-मरणके चक्रसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। यह भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगसे समन्वित एक समग्र योगशास्त्र है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रगाढ़ और प्रभावपूर्ण ढंगसे योगके विविध रूपोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली मानव-पुरुषार्थकी विभिन्न उपलब्धियोंका, जीवनके लक्ष्यका, धर्मके निगूढ़ तत्त्वोंका, भक्ति-ज्ञान और कर्मके मर्मका बड़ी ही सरल शब्दावलीमें रहस्योद्घाटन किया है।

गीताग्रन्थकी इन्हीं विशेषताओंपर रीझकर इसके माहात्म्यमें कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

भाव यह है कि सारी उपनिषदें गायें हैं,साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उन दुग्धवती गायोंको दूहनेवाले गोपाल हैं,(चूँकि गीताका यह ज्ञान सर्वप्रथम अर्जुनको मिला, इसलिये अर्जुन उन गायोंके बछड़े हैं, पहले बछड़ा ही गायोंके थनमें मुँह लगाता है, तब गायें पेन्हाती हैं और उनके थनोंमें दूध उतरता है) जिन्होंने पहले उस अमृतरूप दूधका पान किया (और शेष दूधको अन्य समस्त मानव-प्राणियोंके उपभोगके लिये छोड़ दिया है, जो वस्तुतः अशेष और अनन्तकालिक है)।

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं इस गीताशास्त्रकी प्रशंसामें कहा है कि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

अर्थात् जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों (श्रीकृष्ण और र्जुन)-के संवादरूप इस गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है। जो ष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीता-स्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर ग्म कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा।

यह निर्विवाद है कि अनन्त शास्त्रोंका साररूप शास्त्र त्र एक 'श्रीमद्भगवद्गीता' है जो साक्षात् पद्मनाभ ावान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निःसृत है। अतः भवसागर नेकी इच्छा रखनेवालेको इस गीताशास्त्ररूपी जहाजका श्रय ग्रहण करना चाहिये।

इसीलिये कहा गया है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

अर्थात् शास्त्र तो एक ही है—देवकीपुत्र भगवान् कृष्णप्रणीत 'श्रीमद्भगवद्गीता', एक ही आराध्यदेव -देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण, एक ही मन्त्र है—उनका । (कृष्ण, गोविन्द, माधव, हरि, गोपाल आदि) और ारा एक ही कर्म-कर्तव्य है—उस देव (भगवान् कृष्ण)-की सेवा-अर्चा।

यह गीताशास्त्र शास्त्रोंका भी शास्त्र है। भगवान्‌की ग्र आज्ञा है कि कर्तव्याकर्तव्य-विवेकके लिये शास्त्र ही न प्रमाण है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

इसका तात्पर्य यह है कि सभी लोग अपने वर्ण एवं श्रम-मर्यादामें स्थिर रहें, मनमाना आचरण करनेका सीको कोई अधिकार नहीं। जो लोग शास्त्रकी ज्ञाको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करते वे न सिद्धिको प्राप्त होते हैं, न परम गतिको और न ख्रको ही—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

अपना वर्णधर्म, कुलधर्म जो परम्परागतरूपसे प्राप्त है । कर्तव्य है, क्योंकि परधर्म उसके लिये भयावह और पतनकारी है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

स्वधर्मपालनमें प्राण त्याग करना भी श्रेष्ठ है, किंतु पर-धर्मका आचरण नहीं करना चाहिये। यह अनधिकार चेष्टा है, अपनी मर्यादाका हनन करना है। शास्त्रकी ऐसी आज्ञा नहीं है। अपने स्वाभाविक कर्मोंके अनुष्ठानसे परम सिद्धि मिल जाती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८। ४५)

इस कल्याणकारी धर्मका स्वल्प भी आचरण जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

अतः गीताशास्त्रकी आज्ञा है कि काम,क्रोध, लोभ और मोह आदिका सर्वथा परित्याग करते हुए सर्वत्र सभी प्राणियोंमें भगवद्बुद्धि करते हुए **'वासुदेवः सर्वम्'** ऐसा भाव रखते हुए अपने कर्तव्य-पथमें आगे बढ़ते हुए सभी कर्म भगवान्‌को समर्पित कर दे और उन्हींके शरणागत हो जाय, तभी वह दैवीसम्पत्तिवान् हो सकता है। गीताका उपदेश है, गीता हमें बताती है कि संसारमें जड़-चेतन जितने प्राणी हैं, सबमें भगवान्‌का वास है, अतः सबके साथ समताका बर्ताव रखो। किसी भी प्राणीके साथ मन, वाणी और शरीरसे किसी भी प्रकारका वैर न रखो, सबके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करो, किसीसे तनिक भी द्वेष न करो और सबके कल्याणमें लगे रहो। करुणाको अपनाओ, असत्यका आश्रय न लो, सत्य-पथको अपनाओ, हिंसामें प्रवृत्त न होओ, पवित्रतासे रहो, अपने आहार-विहारको शुद्ध, पवित्र तथा परिमित रखो। सभी प्राणियोंकी सेवा करो, माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा करो और काम, क्रोध, लोभ तथा मोहको पास फटकने न दो। भगवान्‌का स्मरण करते रहो, यह मत भूलो कि यह संसार क्षणिक है, नश्वर है, नित्य परिवर्तनशील है, एकमात्र भगवान् ही हमारे सच्चे सुहृद् हैं, अतः सर्वभावसे उन्हींकी शरण ग्रहण करना परम कर्तव्य है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)
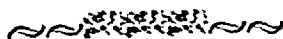
धर्म और विज्ञान

(प्राध्यापक श्रीहिमांशुशेखरजी झा, एम्० ए०)

धर्म और विज्ञानमें कोई मौलिक विरोध नहीं है। दोनोंकी प्रक्रियाओंमें अन्तर इतना ही है कि जहाँ विज्ञान बाह्य जगत्की आधारशिलापर स्थित जिज्ञासाके प्रासादमें बैठकर सत्यकी खोज करता है, वहाँ धर्म अन्तर्जगत्में प्रतिष्ठित होकर सत्यका साक्षात्कार करता है।

जडवादियोंके एक बहुत बड़े समुदायने समूचे संसारमें यह भ्रम फैला रखा है कि विज्ञान धर्मका विरोधी है, किंतु वास्तविकता यह है कि धर्मकी निन्दा करनेवाले और विज्ञानकी प्रशंसाके पुल बाँधनेवाले इन जडवादियोंको न तो विज्ञानका ज्ञान है और न धर्मका ही परिचय! वे न तो धार्मिक चेतनाका अर्थ समझते हैं और न वैज्ञानिक प्रक्रियाओंका। यही कारण है धर्म और विज्ञानकी गलत व्याख्या करके वे सामान्य लोगोंके बीच भ्रम फैलाते रहते हैं।

संसारके श्रेष्ठ वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि विज्ञान और धर्ममें कोई झगड़ा नहीं है, प्रत्युत वे एक-दूसरेके पूरक हैं। आधुनिक युगके सबसे बड़े वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्सटाइनको धर्ममें पूर्ण विश्वास था और वे धर्म तथा विज्ञान दोनोंको एक-दूसरेके लिये आवश्यक समझते थे। उन्हींके शब्दोंमें—'धर्मके बिना विज्ञान लँगड़ा है और विज्ञानके बिना धर्म अंधा[1]।'

विज्ञान धर्मका विरोध नहीं करता और यदि वह ऐसा करना चाहे भी तो उसे कोई आधार नहीं मिलेगा। वैज्ञानिक खोज और धार्मिक जिज्ञासा दोनों एक ही सत्यको उद्घाटित करनेकी चेष्टाएँ हैं। माध्यमगत विभिन्नताओंके आधारपर दोनोंकी मौलिक एकरूपतापर प्रश्नचिह्न नहीं लगाये जा सकते। चाहे धर्म हो अथवा विज्ञान—दोनों सत्यपर ही आधारित हैं। यह दूसरी बात है कि उनके विकासके क्षितिज भिन्न-भिन्न हैं और उनके आयामोंमें अन्तर है। किंतु इससे उनकी मौलिक एकरूपतापर कोई आघात नहीं पहुँचता। एक ही पेड़में दो शाखाएँ भिन्न-भिन्न दिशाओंमें रह सकती हैं और उनके बाहरी रूपमें भी काफी अन्तर हो सकता है, परंतु दोनोंके फलोंमें कोई अन्तर नहीं रहता। उसी तरह धर्म और विज्ञान जिज्ञासारूपी पेड़की दो शाखाएँ हैं और दोनोंका फल एक ही है। और वह है—'सत्यकी उपलब्धि'।

पूर्वाग्रहोंसे आक्रान्त जडवादियोंका मत है कि ईश्वर और विज्ञान दोनोंका एक साथ अवस्थान असम्भव है, किंतु यह बात बिलकुल निराधार और व्यर्थ है। सच तो यह है कि विज्ञान ईश्वरीय सत्ताका सबसे बड़ा प्रमाण है। जिन लोगोंको विज्ञान और धर्म दोनोंमें किसीका ज्ञान नहीं है, वे ही यह मिथ्या प्रचार करते हैं कि विज्ञान ईश्वरकी सत्ताको नहीं मानता। ऐसे जडवादियोंको चाहिये कि वे सर्वप्रथम विज्ञान और धर्मका गहराईसे अध्ययन करें और उसके बाद अपने विचार लोगोंके सामने रखें। यह ध्रुव है कि एक बार यदि उन्हें पूर्ण ज्ञान हो गया तो उनके हृदयमें किसी प्रकारकी शंका नहीं रहेगी और वे धर्म तथा विज्ञानको एक समझने लगेंगे—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक उ० २। २। ८)

अर्थात् ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर हृदयकी गाँठ टूट जाती है, सभी शंकाएँ दूर हो जाती हैं और कर्मोंका भी क्षय हो जाता है।

जडवादियोंको चाहिये कि वे पहले धर्म अथवा विज्ञानके सहारे ब्रह्मको समझनेका प्रयास करें। जब उन्हें ब्रह्मका बोध हो जायगा, तब वे यह मान लेंगे कि वैज्ञानिक और धार्मिक जिज्ञासाओंका मूल स्रोत एक ही है और उनके परिणामोंमें भी कोई अन्तर नहीं है।

हमारे धर्मग्रन्थोंमें विभिन्न लोकोंकी बात आती है और ब्रह्मको अण्डाकार माना गया है। इन दोनों तथ्योंको संसारके सामने पहले-पहल हमारे ऋषियोंने ही रखा। आज वैज्ञानिक बन्धु भी मानने लगे हैं कि धरतीके अलावा अनन्त ब्रह्माण्डमें अन्यान्य लोक हैं और उनमें प्राणियोंके रहनेकी भी सम्भावना है। वैज्ञानिकोंने हमारे धर्म-ग्रन्थोंमें प्रयुक्त 'ब्रह्माण्ड' शब्दको भी स्वीकार कर लिया है। इस तरहके और भी कई भेद खुलते जा रहे हैं और एक ऐसा

1-Science without Religion is Lame and Religion without Science is blind. (Einstein)

समय निकट भविष्यमें अवश्य उपस्थित होगा, जब धार्मिक सिद्धान्तोंकी सत्यताको वैज्ञानिक जगत् पूरी तरह स्वीकार कर लेगा। वैज्ञानिक जिज्ञासा धार्मिक चेतनासे विच्छिन्न नहीं है, प्रत्युत उसीका एक अनिवार्य अङ्ग है। विज्ञान अपनी अतिविकसित अवस्थामें धर्मसे एकाकार हो जायगा—इसमें तनिक भी संदेह नहीं। ब्रह्माण्डके सम्बन्धमें जो नयी-नयी खोजें आज हो रही हैं, उनके बारेमें हमारे त्रिकालदर्शी मनीषियोंने हजारों साल पहले ही संकेत कर दिये थे। आज आवश्यकता इस बातकी है कि हम पूर्ण धार्मिक निष्ठा और वैज्ञानिक स्फूर्तिसे सम्पन्न होकर उन संकेतोंको समझ सकनेकी योग्यता प्राप्त कर लें। यदि हमने ऐसा कर लिया तो इस संसारको स्वर्ग बना लेनेमें देर नहीं लगेगी। विज्ञान और धर्मके सम्बन्धसे ही यह अनुष्ठान पूरा हो सकता है।

जडवादियोंके द्वारा उत्पन्न संशयकी समस्त शृंखलाओंको तोड़नेमें आजका मानव सक्षम होता जा रहा है। विज्ञानने उसे इस दिशामें सहायता ही पहुँचायी है। संशयवादकी लौह दीवारें वैज्ञानिक मान्यताकी जिस आधार-भूमिपर खड़ी हैं, वह अब नीचेसे खिसकने लगी हैं। जडवादके विशाल प्रासादकी प्रत्येक ईंटमें कम्पन शुरू हो गया है, क्योंकि उसे आधार प्रदान करनेवाले भौतिक उपलब्धियोंके समस्त शिलाखण्ड टूटकर बिखरनेकी स्थितिमें आ रहे हैं।

ऐसी दशामें जडवादी चिन्तकके लिये यह आवश्यक हो गया है कि वह अपने मूल्योंमें परिवर्तन लाये और धर्म तथा विज्ञानको एक-दूसरेके लिये आवश्यक समझे। सम्भवतः जडवादियोंकी धर्मके प्रति अश्रद्धाका सबसे बड़ा कारण धर्ममें निहित कोई मौलिक दोष नहीं, प्रत्युत धर्मके बारेमें उनकी जानकारीका अभाव है। अर्थलोलुप और पाखंडी धर्मयाजकों और स्वार्थी सम्प्रदायोंके द्वारा धर्मके नामपर किये जानेवाले अत्याचारोंको ही धर्मका यथार्थ रूप मान—समझ लेनेके कारण जडवादियोंको ईश्वरकी सत्तामें अश्रद्धाकी अनुभूति हुई। किंतु उन्हें यह समझना चाहिये कि धर्मके नामपर होनेवाला कुकृत्य धर्म नहीं है। धर्म क्या है, इस सम्बन्धमें 'महाभारत' में कहा गया है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

(वनपर्व १३१। ११)

अर्थात् जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा पहुँचाये, दूसरे धर्मसे लड़नेके लिये प्रेरित करे, वह धर्म नहीं, वह तो कुधर्म है। सच्चा धर्म तो वह है, जो धर्मविरोधी नहीं होता।

विज्ञानके साथ भी यही बात है। वैज्ञानिक आविष्कारोंके मूलमें सृष्टिको जानने और उसकी शक्तियोंको ढूँढ़ निकालनेकी प्रवृत्ति रहती है। लेकिन सांसारिकतामें डूबे हुए स्वार्थान्ध व्यक्ति और सत्ताएँ विज्ञानका दुरुपयोग करते हैं और समाजको हानि पहुँचाते हैं। इसमें विज्ञानका क्या दोष है?

इसलिये यह आवश्यक है कि विज्ञान और धर्मका सुन्दर समन्वय हो। भौतिकवादी चिन्तकोंको धार्मिक निष्ठाके महत्त्वको समझना होगा और धार्मिक चेतनासे सम्पन्न व्यक्तियोंको वैज्ञानिक उपलब्धिकी आवश्यकताका अनुभव करना होगा। विज्ञान और धर्मके समन्वय और सदुपयोगसे ही संसारका कल्याण हो सकता है।

समन्वय हिंदू-धर्म और भारतीय संस्कृतिका प्राण है। अब तो संसारके प्रसिद्ध वैज्ञानिक भी समन्वयकी आवश्यकतापर जोर देते हैं। कई लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिकोंने यह स्वीकार किया है कि मानव-समाजके कल्याणके लिये विज्ञानके साथ-साथ धर्मकी भी आवश्यकता है।

धर्म और विज्ञानका समन्वय मानव-समाजके लिये एक आवश्यकता ही नहीं, बल्कि एक अनिवार्यता भी है। विज्ञान स्वयं आगे बढ़कर धर्मके साथ एकाकार हो जायगा, क्योंकि दोनोंका उद्देश्य मानव-कल्याण ही है और दोनों सत्यपर आधारित हैं। जडवादी दर्शनकी भ्रममूलक व्याख्याएँ इस विराट् समन्वयको नहीं रोक सकतीं। कारण यह है कि स्वयं विज्ञान अपनी अतिविकसित अवस्थामें जडवादी संशयका समूल नाश कर देगा और धार्मिक चेतनासे संयुक्त होकर पृथ्वीको स्वर्ग बनानेमें लग जायगा। अमेरिकाके प्रख्यात वैज्ञानिक डॉ० अलेक्सिस कैरेलने भी इस सत्यकी उद्घोषणा की है कि विज्ञान जडवादके मूलको नष्ट कर देगा। आधुनिक वैज्ञानिक विकासने जडवादके गढ़ोंपर भीषण प्रहार किये हैं और अब वह धर्म तथा विज्ञानके बीच दीवार बनकर खड़ा नहीं रह सकता।

हमें उस समयकी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब विज्ञान और धर्म एक साथ मिलकर मानव-कल्याणका मार्ग आलोकित करेंगे।

भगवान् मनु और उनका धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति'

(डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा, साहित्याचार्य, एम्० ए० (संस्कृत, हिन्दी, दर्शनशास्त्र) एम्० एड्०, पी-एच्० डी०)

भगवान् मनु और उनके धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति'का भारतीय साहित्यमें विशेष स्थान है। धर्मशास्त्रकारोंमें मनुका अत्यन्त गौरव है। इसलिये शास्त्रकारोंका कथन है— मनुस्मृतिके विपरीत धर्मादिका प्रतिपादन करनेवाली स्मृति प्रशस्त नहीं है, क्योंकि वेदार्थके अनुसार रचित होनेसे मनुस्मृतिकी प्रधानता है—

मनुस्मृतिविरुद्धा या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते।
वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतिः॥

इतना ही नहीं मनुस्मृतिके विषयमें यह भी कहा गया है— सर्वज्ञ मनुने जो कुछ जिसका धर्म कहा है, वह सब वेदोंमें कहा गया है—

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

(२। ७)

मनु मानव-जातिके आदि पिता हैं और सभी क्षेत्रोंमें मानव-जातिके पथप्रदर्शक हैं। इनके द्वारा रचित धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति' विश्वका सर्वप्रथम विधान है, जिसके अनुकरणपर संसारके विधानोंका समय-समयपर निर्माण हुआ है।

मनुकी सर्वत्र प्रसिद्धि

भगवान् मनुकी सम्पूर्ण भारतीय साहित्यमें प्रसिद्धि है। इसी नामके आधारपर सम्पूर्ण मनुष्यवाची शब्द बने हैं, अंग्रेजीका मैन (Man) शब्द भी 'मनु' शब्दसे सम्बद्ध है। मनुका उल्लेख ऋग्वेद (१। ८०। १६, ८। ६३। १, १०। १००। ५, १। ११४। २, २। ३३। १३)-में मानव-जातिके आदि पिता प्रजापतिके रूपमें मिलता है। मनुके मार्ग (धर्मशास्त्र)-से च्युत न होनेकी प्रार्थना भी ऋग्वेदमें की गयी है—

मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः।

(ऋ० ८। ३०। ३)

अन्य मन्त्रानुसार वे प्रथम यज्ञकर्ता थे (ऋग्वेद १०। ६३। ७)। तैत्तिरीयसंहिता (२। २। १०। २)-के अनुसार उनका कथन परम भेषज है—

मनुर्वै यत्किंचिदवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः।

ताण्ड्यब्राह्मण (२३। १६। १७), शतपथब्राह्मण (१। १। ४। १४) तथा मत्स्यपुराणमें मनु और जलप्लावनकी कथा वर्णित है। मत्स्यपुराणमें भगवान् मत्स्यरूपमें प्रकट हुए। भगवान् नारायणद्वारा मनुको दिये हुए उपदेशका भी वर्णन है। निरुक्त (अ० ३)-में मनुको स्मृतिकारके रूपमें स्मरण किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता (१०। ६)-में चौदह मनुओंका उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार गीताके चौथे अध्यायके प्रारम्भमें यह वर्णन मिलता है कि सृष्टिके आरम्भमें भगवान् नारायणने जिस योग-ज्ञानका उपदेश सूर्यको दिया था, उसी ज्ञानका उपदेश सूर्यने अपने पुत्र मनुको और मनुने अपने पुत्र सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकुको दिया था।

स्वायम्भुव मनु

श्रीमद्भागवत (३। १२)-के अनुसार सृष्टिकी उत्पत्तिके लिये ब्रह्माजीने अविद्या, माया, सनकादि ऋषि, रुद्र तथा मरीचि आदि दस मानस-पुत्र उत्पन्न किये। इनसे सृष्टिकी वृद्धि न देखकर उन्होंने मनु-शतरूपाको उत्पन्न किया। वस्तुतः ब्रह्माजीके शरीरके दो भाग हो गये। उन दोनों भागोंसे प्रकट स्त्री-पुरुष ही मनु-शतरूपाके नामसे विख्यात हुए। इन दोनोंसे ही मानव-सृष्टि हुई। स्वयम्भू (ब्रह्माजी)-से उत्पन्न ये सबसे पहले मनु हैं और ये ही इतिहासमें स्वायम्भुव मनुके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये भगवद्भक्त थे। इन्होंने धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करके धर्मराज्यका आदर्श प्रस्तुत किया। ये एकाग्रचित्त होकर प्रेमसे हरिचरित सुना करते थे और भगवान्में ही अनुरक्त रहते थे। उनका थोड़ा समय भी व्यर्थ व्यतीत नहीं होता था। गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें श्रीरामावतारके जो कारण प्रतिपादित किये हैं, उनमें एक कारण इन्हीं मनु और शतरूपाकी कठोर तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् विष्णुका उनके पुत्र-रूपमें उत्पन्न होना बताया गया है। उनकी तपस्याका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजीने इस प्रकार किया है—
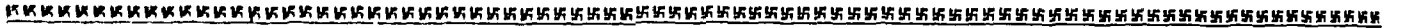
एहि विधि बीते बरष षट सहस बारि आहार।
संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥
बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ॥
बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥
मागहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥
अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा॥

• उनके ऐसे महान् त्याग, तप और वैराग्यको देखकर मुनिगणोंने जब उनके पास आकर धर्मकी जिज्ञासा की, तब उन्होंने अनेक प्रकारके कल्याणकारी धर्मोंमें साधारण और वर्णाश्रम-धर्म आदिका उपदेश उन्हें प्रदान किया, वही धर्मशास्त्ररूपमें सर्वमान्य तथा सर्व-प्रामाणिक हुआ। गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य तथा पराशर आदि स्मृतिकारोंने मनुको प्रमाणरूपमें बड़े ही आदरसे उद्धृत किया है। इतना ही नहीं, आचार्य शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ आदि आचार्योंने भी मनुको ही प्रमाण मानकर तत्त्व और अपनी आचारमीमांसा प्रस्तुत की है।

मनुस्मृति

महाभारत (शान्तिपर्व ५७। ४३)-के अनुसार वेदोंके गहन विषयमें असमर्थ मनुष्योंके लिये लोकपितामह ब्रह्माजीने अपने मानसपुत्र मनुको वेदोंका सारभूत धर्मका उपदेश एक लाख श्लोकोंमें दिया। तत्पश्चात् उन्होंने भी इतने विस्तृत उपदेशको ग्रहण करनेमें असमर्थ मानवके लिये उसे संक्षिप्त कर मरीचि आदि मुनियोंको उसका उपदेश दिया। उनका यही उपदेश 'मनुस्मृति'के नामसे प्रसिद्ध है। ग्रन्थके प्रारम्भमें ऋषियोंके द्वारा मनुजीके पास जाकर सब वर्णोंके धर्मकी जिज्ञासा किये जानेपर उन्होंने जो उत्तर दिये उनसे पता चलता है कि मनुजीने इस ग्रन्थकी रचना कर न केवल वैदिक आचार-विचार-व्यवस्थाकी रक्षा की, बल्कि एक ऐसे समाजकी संरचना भी की, जिसमें जातीय, प्रजातीय और व्यक्तिगत विवाद हों ही न, तथा सहयोग, सद्भाव एवं स्नेह-जैसे सद्गुणोंका समाज प्रतिष्ठित हो सके—ऐसे स्वस्थ समाजकी स्थापनाके उद्देश्यसे उन्होंने समाजको वर्ण (मनुष्यके पूर्व-जन्मोंके शुभाशुभ कर्मोंसे बनी प्रकृति) और आश्रम (आध्यात्मिक क्षमता)-के आधारपर संगठित किया था। विभिन्न वर्गों और जातियोंको वर्णव्यवस्थामें तथा व्यक्तिगत जीवनको चार आश्रमोंमें समन्वित कर उन्होंने मानवको चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)-को प्राप्त करनेके लिये प्रोत्साहित किया था। मनुस्मृतिकी सबसे बड़ी शिक्षा मनुष्यके लिये यही है कि मनुष्य जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है और जिस आश्रममें स्थित है, उसके शास्त्रोक्त धर्मोंका पालन करनेमें ही उसका कल्याण है। वर्णाश्रमधर्मको भगवद्गीतामें 'स्वधर्म' बताकर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३। ३५)

अर्थात् अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरे (वर्णाश्रम) धर्मकी अपेक्षा साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान न किया हुआ भी अपना (वर्णाश्रम) धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें मरना कल्याणकारी है और दूसरेका धर्म भय देनेवाला होता है।

स्वधर्मके महत्त्वको गीतामें अन्यत्र भी प्रतिपादित किया है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(१८। ४७)

अर्थात् भलीप्रकारसे अनुष्ठान किये हुए परधर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। पूर्वजन्मके कर्मानुसार उत्पन्न स्वभावके आधारपर शास्त्रद्वारा नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता।

सम्पूर्ण धर्मशास्त्र

मनुस्मृति सम्पूर्ण धर्मशास्त्र है। इसमें सम्पूर्ण मानव-जीवनदर्शनको इतने सुन्दर ढंगसे प्रतिपादित किया गया है कि ऐसा सम्पूर्ण धर्मशास्त्र अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। वर्णाश्रमधर्मके अतिरिक्त मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रसे सम्बन्धित विषयोंका इस धर्मशास्त्रमें प्रतिपादन हुआ है। इसके प्रथम अध्यायमें संसारोत्पत्तिका, द्वितीय अध्यायमें जातकर्म आदि संस्कार-विधि, ब्रह्मचर्यविधि और गुरु-अभिवादन-विधिका, तृतीय अध्यायमें समावर्तन-संस्कार, पञ्चमहायज्ञविधि और नित्य-श्राद्धविधिका, चतुर्थ अध्यायमें गृहस्थके नियम आदिका, पञ्चम अध्यायमें दूध-दही आदि

भक्ष्य तथा प्याज-लहसुन आदि अभक्ष्य पदार्थों और दशाहादिके द्वारा जनन-मरण-अशौचमें ब्राह्मणादिके धर्म और स्त्रीधर्मका, षष्ठ अध्यायमें वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रमका, सप्तम अध्यायमें मुकदमोंके निर्णय तथा कर-ग्रहण आदि राजधर्मका, अष्टम अध्यायमें साथियोंसे प्रश्न पूछनेकी विधिका, नवम अध्यायमें साथ तथा अलग रहनेपर स्त्री एवं पुरुषके धर्म, वैश्य और शूद्रके अपने-अपने धर्मके अनुष्ठानका, दशम अध्यायमें अनुलोमज और प्रतिलोमज जातियोंकी उत्पत्ति और आपत्तिकालमें कर्तव्य-धर्मका, एकादश अध्यायमें पापकी निवृत्तिहेतु कृच्छ्र-सान्तपन-चान्द्रायण आदि व्रतोंकी प्रायश्चित्त-विधिका, बारहवें अध्यायमें कर्मानुसार उत्तम, मध्यम एवं अधम गतियोंका, मोक्षप्रद आत्मज्ञान, विहित तथा निषिद्ध गुण-दोषोंकी परीक्षा, देशधर्म, जातिधर्म आदिका वर्णन किया गया है।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि भगवान् मनु मानव-जातिके आदि पिता हैं। उन्होंने मानव-संस्कृतिके निर्माणके लिये जिस मानव-धर्मशास्त्रकी रचना की, वही मानव-जातिका आदि संविधान है। मनुष्यको सही अर्थोंमें मनुष्य बनाकर उसे नारायण बनाना इस महान् ग्रन्थका सबसे बड़ा संदेश है। पिता-पुत्र, भाई-बहन, माता-पिता, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, मित्र-शत्रु, भाई-भाई, पति-पत्नी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी आदि सभीके वेदशास्त्रोक्त धर्मोंका निरूपण कर तथा इन धर्मोंके आधारपर समाजका निर्माण कर भगवान् मनुने जो महनीय कार्य किया है, उसीसे धर्म, संस्कृति और सभ्यताकी रक्षा हो सकी है। अतः हम सभीको उनकी इस शिक्षाका सदैव पालन करना चाहिये—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

(मनु० ८। १५)
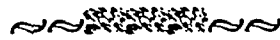
धर्मनियन्त्रित राजनीति ही आदर्श राष्ट्र बना सकती है

(श्रीशिवकुमारजी गोयल, पत्रकार)

जो धर्मप्राण भारत कभी पूरे संसारमें अपने देशकी महान् संस्कृति, धर्मशास्त्रोंके शाश्वत सिद्धान्तों, यहाँके ऋषि-मुनियोंकी दिव्यातिदिव्य अनुभूतियों तथा महान् राष्ट्र-पुरुषोंके समर्पण-भावकी घटनाओंके कारण 'जगद्गुरु'के रूपमें विख्यात था, आज वही भारत राजनीतिसे लेकर सामाजिक संगठनोंतकमें व्याप्त भ्रष्टाचार, घोर अनैतिकता, अराजकता, आतंकवाद, अलगाववादके कारण पूरे संसारमें चर्चित होता है। ऐसी स्थितिमें देशके प्राचीन संस्कृतिके भक्त, बुद्धिजीवियोंके हृदयको पीड़ा होना स्वाभाविक है। हालहीमें जब दिल्लीके एक होटलके 'तंदूर'में एक महिलाको जलाये जानेकी शर्मनाक घटना पूरे संसारके समाचारपत्रोंमें छपी तो मारीशसके एक प्रवासी भारतीय मित्रने मुझे लिखा था—'हमारे पूर्वजोंके, ऋषि-मुनियोंके देशको, धर्मप्राण भारतको यह क्या ग्रहण लग गया है? नारियोंकी पूजा एवं सम्मानकी प्रेरणा देनेवाले हमारे पूर्वजोंके धर्मप्राण देशमें जब नारियोंको तंदूरमें झोंककर नृशंस हत्याएँ होती हैं, तो हम प्रवासी भारतीयोंका सिर शर्मसे झुक जाता है।' अपने मित्रके पत्रमें उनके हृदयकी पीड़ाकी अनुभूति कर मैं स्वयं इस बातके चिन्तनके लिये मजबूर हो जाता हूँ कि भारतके इस अधःपतनका असली कारण क्या हो सकता है?

भारत धर्मप्राण देश है। हमारे धर्मशास्त्र, वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता, पुराण आदि सदासे नागरिकोंको उनके कर्तव्य, नैतिकताकी प्रेरणा देते रहे हैं। धर्मशास्त्रोंका कहना है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २। १२)

अर्थात् 'वेद-स्मृति एवं सत्पुरुषोंका आचार तथा जिसके कारण आत्माको सहज संतोष—प्रसन्नताकी अनुभूति हो, वह 'आत्मप्रिय' परोपकार आदि—ये धर्मके साक्षात् लक्षण कहे गये हैं।

धर्मशास्त्र ही हमें मानवता, परोपकार, निष्काम सेवा,

राष्ट्रके प्रति समर्पण, ईमानदारी, सात्त्विकता आदिकी प्रेरणा देते हैं। हमारा अपने माता-पिता, भाई-बहन और पड़ोसीके प्रति क्या कर्तव्य है, गरीब एवं असहायोंकी सेवा कितनी जरूरी है, नारियोंके प्रति हमें क्या भावना रखनी चाहिये, यह सब हमें धर्मशास्त्रोंसे ही पता चलता है।

हमारे धर्मशास्त्र ही हमें संकीर्णतासे ऊपर उठकर मानवताकी सेवाकी प्रेरणा देते रहे हैं। सबमें समदर्शी-भाव रखनेवालेको पण्डित बताते हुए धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है—

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

इसी प्रकार '**वसुधैव कुटुम्बकम्**'—पूरे विश्वको अपना परिवार माननेकी प्रेरणा धर्मग्रन्थोंसे ही मिलती है।

प्रत्येक महिलामें माताके दर्शन करने तथा दूसरेके धनको मिट्टीके समान माननेकी प्रेरणा देनेवाले प्रेरणादायक आदर्श वाक्य—'**मातृवत् परदारेषु**' तथा '**परद्रव्येषु लोष्टवत्**' हमारे धर्मशास्त्रोंमें ही मिलते हैं। धर्मशास्त्र पग-पगपर 'आदर्श मानव' बननेकी प्रेरणा देते रहे हैं। हमारे सनातनधर्मके किसी भी धर्मशास्त्रमें यह नहीं कहा गया कि हमारे अमुक धर्मग्रन्थको न मानोगे तो काफिर करार कर दिये जाओगे। इसीलिये सनातनधर्मके अनुयायी किसी भी शासकने कभी तलवार या धनके बलपर किसीका धर्मान्तरण नहीं करवाया। हमारे धर्मशास्त्र तो कहते हैं—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अपने धर्ममें रहकर ही कल्याण सम्भव है। यही प्रेरणा पग-पगपर दी गयी है। अपने-अपने धर्म तथा कर्तव्यका पालन करते हुए, राष्ट्रभक्तिको सर्वोपरि महत्त्व देते हुए, सन्मार्गपर चलनेवाले हर मानवका कल्याण होता है—यह केवल सनातनधर्म ही कहता है।

माता-पिताके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है, यह हमें '**रामचरितमानस**' तथा भगवान् श्रीरामके आदर्श चरित्रसे पता चलता है। श्रवणकुमारने अपने माता-पिताकी सेवाके बलपर किस प्रकार भगवद्दर्शन प्राप्त किये, यह सर्वविदित है। हमारे देशमें सबेरे उठते ही माता-पिताके चरण-स्पर्श कर उनका आशीर्वाद ग्रहण करनेकी परम्परा रही है। आधुनिकीकरणके इस भौतिकवादी युगमें माता-पिता तथा बड़ोंके अभिवादनकी परम्परा क्षीणप्राय हो गयी है। अब तो संयुक्त परिवार टूटनेके साथ-साथ वृद्ध माँ-बापको कथित 'पढ़े-लिखे' पुत्र 'भार' तक माननेमें नहीं हिचकिचाते। माता-पिताके यदि दो पुत्र हैं तो वे एक-दूसरेपर माता-पिताके रहनेकी जिम्मेदारी डालना चाहते हैं। अनेक वृद्धोंको तो पश्चिमी देशोंकी तरह 'वृद्धाश्रमों'की शरण लेनेको बाध्य होना पड़ता है। माँ-बापका नियन्त्रण हट जानेके कारण संतति निरंकुश तथा स्वच्छन्द होकर पथभ्रष्ट होती चली जा रही है। उसका खान-पान बिगड़ रहा है। परिवारमें किसी अनुभवी वृद्धका नियन्त्रण न रहनेसे अनेक समस्याएँ खड़ी होने लगी हैं।

धर्मशास्त्रोंमें वृद्धोंके प्रति सम्मान व्यक्त करने, उनसे आशीर्वाद लेनेके महत्त्वको निम्न श्लोकमें व्यक्त किया गया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

नित्यप्रति वृद्धोंका अभिवादन करनेसे आयु, विद्या, यश तथा बलकी वृद्धि होती है।

आज धर्मशास्त्रोंकी अवहेलनाका ही यह दुष्परिणाम है कि अति भौतिकवादकी चपेटमें आये हमारे परिवारोंमें वृद्ध माता-पिताकी पग-पगपर अवहेलना ही नहीं होती, अपितु कुछ 'अत्याधुनिक' कहे जानेवाले परिवारोंमें तो उनका खुला अपमान तथा उत्पीडनतक होने लगा है। अनेक वृद्धोंको उनकी संतान भोजनतक देनेको भार मानने लगी है। इससे ज्यादा शर्मनाक क्या होगा?

हमारे धर्मशास्त्रोंमें नारीको पुरुषोंसे कहीं ऊँचा स्थान दिया गया है। सनातनधर्ममें पग-पगपर नारियोंकी पूजाका, उनके सम्मानका, उनके प्रति कर्तव्य-पालनका स्पष्ट निर्देश दिया गया है। यहाँतक कहा गया है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

'जहाँ नारियोंकी पूजा होती है, वहाँ देवता वास करते हैं।' हमारे धर्मशास्त्र आदर्श नारियोंके, पतिव्रता महिलाओंके बड़े-बड़े देवी-देवताओं तकके द्वारा आदर पानेकी घटनाओंसे भरे पड़े हैं। किंतु जबसे हमने धर्मशास्त्रों तथा धर्मके आदेशोंकी, प्रेरणाओंकी अवहेलना की, तभीसे समाजमें नारियोंका उत्पीडन बढ़ा है। नारीको सम्मानकी जगह उपभोगकी वस्तु बनानेमें भौतिकवादी विकृतियोंका अन्धानुकरण ही मुख्य कारण है। आधुनिकता तथा पश्चिमी देशोंकी क्लब-संस्कृतिके प्रभावने भारतकी नारियोंकी गरिमाको खत्म कर डाला है। दूरदर्शनके भौंड़े कार्यक्रमोंने नारियोंके

प्रति हमारे दृष्टिकोणको दूषित ही किया है।

धर्मके प्रति घृणाका दुष्प्रचार

देशका यह घोर दुर्भाग्य रहा है कि देशके स्वाधीन होते ही हमारे पश्चिमी सभ्यताकी चकाचौंधके शिकार नेताओंने 'धर्म' को 'रिलीजन' या मज़हबका पर्यायवाची मान लिया तथा देशको 'धर्मनिरपेक्ष' राज्य घोषित कर दिया गया। 'धर्म-निरपेक्षता'के नामपर पाठ्य-पुस्तकोंमेंसे धर्मशास्त्रों तथा इतिहासके प्रेरक अंश हटा दिये गये। कुछ ही दिन बाद देशकी कुछ तथाकथित शक्तियोंने बच्चोंको पढ़ाई जानेवाली पुस्तकमें 'ग' से 'गणेश' पर आपत्ति करते हुए कहा कि हमारे बच्चे 'गणेश' नहीं पढ़ेंगे। धर्मनिरपेक्षतावादियोंने विवेकको ताकपर रखकर वोटोंके लालचमें 'गणेश' हटाकर 'ग' से 'गधा' कर दिया, जिसे स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षताकी आड़में हमारे अदूरदर्शी शासकोंने धार्मिक एवं नैतिक शिक्षासे बच्चोंको विमुख कर डाला।

धर्म तथा नैतिक शिक्षाके अभावमें बच्चोंका संस्कारशून्य होते जाना स्वाभाविक ही है। संस्कारहीन युवापीढ़ी पश्चिमी देशोंकी विकृतिकी शिकार होने लगी। 'खाओ-पिओ-मौज करो' उसका लक्ष्य होता गया और आज संयुक्त परिवारोंका टटना. समाजमें स्वच्छन्द 'प्रेम' तथा प्रेम-विवाहोंका राजनीतिसे धर्मको अलग करनेका विधेयक तक लाया गया, किंतु वह पारित नहीं हो पाया।

धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज तथा जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज कहा करते थे—'धर्मनियन्त्रित राजनीति ही कल्याणकारी है, जबकि धर्मविहीन राजनीति 'दुर्नीति' बनकर तमाम विकृतियोंको जन्म देनेवाली होती है। राजनीतिपर धर्मका नियन्त्रण न रहा तो वह अधर्मी एवं अवाञ्छनीय तत्त्वोंका अड्डा बन जायगी।'

आज इन दोनों धर्मविभूतियोंकी लगभग चालीस वर्ष पूर्व की गयी भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध होकर सामने आ रही है। राजनीतिक क्षेत्रमें आगे रहनेवाले अधिकांश नेतागणोंके भ्रष्टाचारमें आकण्ठ डूबे रहनेके मामले प्रायः प्रकाशमें आते रहते हैं। उनके स्वच्छन्द कदाचरणकी घटनाएँ प्रायः समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित होती रहती हैं। अब तो संसद्में खुलकर 'राजनीतिका अपराधीकरण' होनेकी बात स्वीकारी जा चुकी है। यह सब धर्म तथा धर्मशास्त्रोंकी घोर अवहेलना एवं धर्मके पालनकी जगह उसके प्रति घृणा फैलानेका ही दुष्परिणाम कहा जा सकता है।

हिंदू-धर्मके आधार-ग्रन्थ

हिंदूशास्त्र बहुत विस्तीर्ण है। धार्मिक ग्रन्थोंका बहुत बड़ा भाग विदेशी-विधर्मी आक्रमणकारियोंद्वारा नष्ट कर दिया गया। उनसे बचे-खुचे ग्रन्थोंका भी बड़ा भाग प्रकृतिके प्रकोपसे, लोगोंकी असावधानीसे, दीमक तथा कीड़ोंके खानेसे नष्ट हो गया। अब जो कुछ बचा है, उसमें भी सहस्रों ग्रन्थ लोगोंके घरोंमें पड़े हैं। उनका पता औरोंको नहीं है।

यह सब कुछ होनेपर भी यदि प्रकाशित तथा उपलब्ध ग्रन्थोंकी सूचीमात्र दी जाय तो एक बड़ा ग्रन्थ उस सूचीसे ही बनेगा। इसलिये बहुत संक्षिप्तरूपमें मुख्य-मुख्य ग्रन्थोंकी नामावली ही यहाँ दी जा रही है।

हिंदू-धर्मके आधार-ग्रन्थोंके मुख्य भाग ये हैं—१-वेद, २-वेदाङ्ग, ३-उपवेद, ४-इतिहास और पुराण, ५-स्मृति, ६-दर्शन, ७-निबन्ध तथा ८-आगम।

वेद

वेदके छः भाग हैं—१-मन्त्रसंहिता, २-ब्राह्मणग्रन्थ, ३-आरण्यक, ४-सूत्रग्रन्थ, ५-प्रातिशाख्य और ६-अनुक्रमणी।

वेद चार हैं—१-ऋग्वेद, २-यजुर्वेद, ३-सामवेद और ४-अथर्ववेद। किंतु ये चार वेदके विभाजन हैं। मूलतः वेद एक ही है। वेदोंका यह विभाजन करनेके कारण ही महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास कहे जाते हैं।

यज्ञोंमें चार मुख्य ऋत्विज् होते हैं—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। ऋग्वेदके ऋत्विज्को होता, यजुर्वेदवालेको अध्वर्यु, सामवेदवालेको उद्गाता तथा अथर्ववेदके ऋत्विज्को ब्रह्मा कहते हैं। ये क्रमसे चारों दिशाओंमें बैठते हैं।

त्रयी भी वेदोंका एक नाम है—वेदत्रयीका यह अर्थ है कि पहले प्रधान वेद तीन ही रहे—

स्त्रियामृक्सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी।

(अमरकोष १। ६। ३)

वेद अनादि हैं। उनका कोई निर्माता नहीं है। वे शाश्वत ईश्वरीय ज्ञान हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माके हृदयमें उन्हें भगवान्ने प्रकट किया। एक-दूसरेसे सुनकर ही वैदिक मन्त्रोंका ज्ञान होता है, इसलिये वेदमन्त्रोंको श्रुति कहते हैं।

मन्त्रोंके छन्द, ऋषि, देवता तथा विनियोग निर्दिष्ट हैं। छन्दके द्वारा जाना जाता है कि उस मन्त्रका कैसे उच्चारण करना चाहिये। उनकी पूरी व्याख्या निरुक्त या व्याकरणसे नहीं होती। समाधिमें जिसने जिस मन्त्रका अर्थ-दर्शन किया, वह उस मन्त्रका ऋषि कहा जाता है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा होते हैं।

वेदके प्रत्येक मन्त्रकी आनुपूर्वी नित्य है। मन्त्रोंके शब्दोंमें उलट-पलट सम्भव नहीं। मन्त्रोंका संकलन-क्रम बदल सकता है। इसलिये वेदपाठकी अनेक प्रणालियाँ हैं। इन्हें क्रम, घन, जटा, शिखा, रेखा, माला, ध्वज, दण्ड और रथ कहते हैं।

शाखाएँ—ऋषियोंने अपने शिष्योंको अपने सुविधानुसार मन्त्रोंको पढ़ाया। किसीने एक छन्दके सब मन्त्र एक साथ पढ़ाये। दूसरेने एक देवताके सब मन्त्र साथ पढ़ाये। तीसरेने मन्त्रोंको उनके विषय अथवा उपयोगके अनुसार रखा। इस प्रकार सम्पादन-क्रमसे एक वेदकी अनेक शाखाएँ हो गयीं।

ऋग्वेदकी २१ शाखाएँ कही जाती हैं। उनमेंसे शाकलशाखा शुद्धरूपमें प्राप्त है। यजुर्वेदके दो प्रकारके पाठ हैं। एकको शुक्लयजुर्वेद तथा दूसरेको कृष्णयजुर्वेद कहते हैं। शुक्ल यजुर्वेदकी १५ तथा कृष्णयजुर्वेदकी ८६ शाखाएँ थीं। इनमेंसे शुक्लयजुर्वेदकी काण्व तथा माध्यन्दिनी शाखाएँ प्राप्त हैं। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, कापिष्ठल और श्वेताश्वतर—ये पाँच शाखाएँ मिलती हैं। सामवेदकी एक सहस्र शाखाओंका उल्लेख है, परंतु उनमें केवल तीन प्राप्त हैं—१-कौथुमी, २-जैमिनीया और ३-राणायनीया। उनमें भी कौथुमी शाखा तथा जैमिनीया ही पूर्णरूपमें मिलती हैं। राणायनीयाका भी कुछ अंश प्राप्त है। अथर्ववेदकी तो शाखाओंमेंसे अब पैप्पलादी तथा शौनकीया शाखाएँ शुद्धरूपमें मिलती हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थ

वेदमन्त्रोंका यज्ञमें कैसे उपयोग हो, यह इनमें बतलाया गया है। इस समय जो ब्राह्मण-ग्रन्थ मिलते हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

ऋग्वेदके—१-ऐतरेय-ब्राह्मण और शाङ्खायन-ब्राह्मण (अथवा कौषीतकि-ब्राह्मण)।

कृष्णयजुर्वेदके—तैत्तिरीय-ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय-संहिताका मध्यवर्ती ब्राह्मण।

शुक्लयजुर्वेदका—शतपथ-ब्राह्मण (यह भी दो प्रकारका है—काण्वशाखावाला १७ काण्डोंका है और माध्यंदिन शाखाका १४ काण्डोंका है)।

सामवेदके—ताण्ड्य (पञ्चविंश) ब्राह्मण, २-षड्विंश-ब्राह्मण, ३-सामविधान-ब्राह्मण, ४-आर्षेय-ब्राह्मण, ५-मन्त्रब्राह्मण, ६-दैवताध्याय-ब्राह्मण, ७-वंशब्राह्मण, ८-संहितोपनिषद्-ब्राह्मण, ९-जैमिनीय ब्राह्मण और १०-जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण।

अथर्ववेदका—गोपथब्राह्मण।

आरण्यक और उपनिषद्

ब्राह्मण-ग्रन्थोंके जो भाग वनमें पढ़ने योग्य हैं, उनका नाम आरण्यक है। इस समय प्राप्त उपनिषद् लगभग २७५ हैं। 'कल्याण'के 'उपनिषद्'-अङ्कमें उनकी सूची दी गयी है। तेरह उपनिषदें मुख्य मानी जाती हैं, जिनपर आचार्योंने भाष्य लिखे हैं। उनके नाम ये हैं—

१-ईश, २-केन, ३-कठ, ४-मुण्डक, ५-माण्डूक्य, ६-प्रश्न, ७-ऐतरेय, ८-तैत्तिरीय, ९-छान्दोग्य, १०-बृहदारण्यक, ११-श्वेताश्वतर, १२-कौषीतिकी और १३-नृसिंहतापिनी। इनमेंसे ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेदकी मूल संहितामें ही है।

श्रौतसत्र

गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र

जैसे श्रौतसूत्र चारों वेदोंके हैं, वैसे ही गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र चारों वेदोंके होते हैं।

धर्मसूत्रोंमें धर्माचारका वर्णन होता है। गृह्यसूत्रोंमें कुलाचारका वर्णन रहता है।

ऋग्वेदके—१-आश्वलायन-गृह्यसूत्र तथा २-शांखायन-गृह्यसूत्र हैं। इसका वसिष्ठ-धर्मसूत्र भी है, जिसपर संस्कृतमें कई टीकाएँ हैं।

कृष्णयजुर्वेदके—१-मानव-गृह्यसूत्र, २-काठक-गृह्यसूत्र, ३-आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, ४-बौधायन गृह्यसूत्र, ५-वैखानस-गृह्यसूत्र और ६-हिरण्यकेशीय-गृह्यसूत्र तथा इन्हीं नामोंके धर्मसूत्र भी प्राप्त हैं।

शुक्लयजुर्वेदका—पारस्कर गृह्यसूत्र (इसपर कर्क, जयराम, गदाधर आदि सात संस्कृत टीकाएँ प्राप्त हैं) तथा कात्यायन एवं विष्णु-धर्मसूत्र प्राप्त हैं।

सामवेदके—१-जैमिनीय गृह्यसूत्र, २-गोभिल-गृह्यसूत्र, ३-खादिर-गृह्यसूत्र, ४-द्राह्यायण-गृह्यसूत्र तथा ५-गौतम-धर्मसूत्र (इसपर मस्करिभाष्य तथा मिताक्षरावृत्ति प्राप्त हैं) तथा छान्दोगपरिशिष्ट मिलते हैं।

अथर्ववेदके—कौशिक, वाराह एवं वैखानस-गृह्यसूत्र मिलते हैं। पर धर्मसूत्र प्राप्त नहीं है।

प्रातिशाख्य

१०-आश्वलायन-परिशिष्ट तथा ११-ऋक् प्रातिशाख्य प्राप्त हैं।

कृष्णयजुर्वेदके—१-आत्रेयानुक्रमणी, २-चारायणीयानुक्रमणी और तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य प्राप्त हैं।

शुक्लयजुर्वेदके—१-प्रातिशाख्य-सूत्र, २-कात्यायनानुक्रमणी।

वेदाङ्ग

वेदके छः अङ्ग माने जाते हैं। इन अङ्गोंके बिना वैदिक ज्ञान अपूर्ण रहता है। १-वेदका नेत्र है ज्योतिष, २-कर्ण है निरुक्त, ३-नासिका है शिक्षा, ४-मुख है व्याकरण, ५-हाथ हैं कल्प और ६-पैर हैं छन्द।

शिक्षा

शिक्षामें मन्त्रके स्वर, अक्षर, मात्रा तथा उच्चारणका विवेचन होता है। इस समय प्रायः निम्नलिखित शिक्षाग्रन्थ उपलब्ध हैं—

ऋग्वेदकी—पाणिनीय शिक्षा।

कृष्णयजुर्वेदकी—व्यासशिक्षा।

शुक्लयजुर्वेदके—याज्ञवल्क्य आदि २५ शिक्षाग्रन्थ हैं।

सामवेदकी—गौतमी, लोमशी और नारदीय शिक्षा।

अथर्ववेदकी—माण्डूकी शिक्षा।

व्याकरण

व्याकरणका काम भाषाका नियम स्थिर करना है। शाकटायन व्याकरणके सूत्र तथा आजका पाणिनीय व्याकरण यजुर्वेदसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। पहलेके भी बहुत-से व्याकरण ग्रन्थ थे, जिनके सूत्र पाणिनीयमें हैं। पाणिनि-व्याकरणपर कात्यायन ऋषिका वार्तिक और महर्षि पतञ्जलिका महाभाष्य है। इसके पश्चात् इसपर व्याख्या, टीका तथा विवेचनात्मक ग्रन्थोंकी तो बहुत बड़ी संख्या है।

इनके अतिरिक्त सारस्वत-व्याकरण, कामधेनु-व्याकरण, हेमचन्द्र-व्याकरण, प्राकृत-प्रकाश, प्राकृत-व्याकरण, कलापव्याकरण, मुग्धबोध-व्याकरण आदि बहुत-से व्याकरण-शास्त्रके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन सबपर भी भाष्य, टीका और विवेचन हैं।

निरुक्त

जैसे पाणिनीय व्याकरणके प्रचारसे अन्य प्राचीन व्याकरण लुप्त हो गये, वैसे ही निरुक्त-ग्रन्थ भी लुप्त हो गये। निरुक्त वेदोंकी व्याख्या-पद्धति बतलाते हैं। इन्हें वेदोंका विश्वकोष कहना चाहिये। अब केवल यास्काचार्यका निरुक्त मिलता है। इसपर बहुत-से भाष्य, टीकादि ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार कश्यप, शाकपूणि आदिके निरुक्त ग्रन्थोंका पता चलता है।

छन्द

इस समय वैदिक छन्दोंके निर्देशक मुख्यतः इतने ग्रन्थ उपलब्ध हैं—गार्ग्यप्रोक्त उपनिदानसूत्र (सामवेदीय), पिङ्गलनागप्रोक्त छन्दःसूत्र (छन्दोविचिति), वेङ्कट माधवकृत छन्दोऽनुक्रमणी और जयदेवका छन्दःसूत्र। लौकिक छन्दोंपर भी छन्दःशास्त्र (हलायुधवृत्ति), छन्दोमञ्जरी, वृत्तरत्नाकर, श्रुतबोध, जानाश्रयी छन्दोविचिति आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

कल्प और ज्योतिष

कल्पसूत्रोंमें यज्ञोंकी विधिका वर्णन है। ज्योतिषका मुख्य प्रयोजन संस्कार तथा यज्ञोंके लिये मुहूर्त बतलाना और यज्ञस्थली, मण्डपादिका माप बतलाना है। व्याकरणके समान ज्योतिषशास्त्र भी व्यापक है। इस समय लगधाचार्यके वेदाङ्ग-ज्योतिषके अतिरिक्त सामान्य ज्योतिषके बहुतसे ग्रन्थ हैं।

नारद, पराशर, वसिष्ठ आदि ऋषियोंके बड़े-बड़े ग्रन्थोंके अतिरिक्त वराहमिहिर, आर्यभट्ट, ब्राह्मगुप्त और भास्कराचार्यके ज्योतिषके ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं।

उपवेद

प्रत्येक वेदका एक उपवेद होता है। ऋग्वेदका अर्थवेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्ववेदका उपवेद आयुर्वेद है।

अर्थवेद

'बृहस्पतेः अर्थाधिकारिकम्' से बार्हस्पत्य अर्थशास्त्रका पता चलता है। पर आजका ग्रन्थ छोटा है। कौटिल्यका अर्थशास्त्र इस विषयका बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सोमदेवभट्टका नीतिवाक्यामृतसूत्र, चाणक्यसूत्र, कामंदक, शुक्रनीति आदि ग्रन्थ भी हैं, जो पीछेके हैं।

धनुर्वेद

इस विषयके वैशम्पायनका धनुर्वेद (वैशम्पायननीति-प्रकाशिका), वृद्ध शार्ङ्गधर, युक्तिकल्पतरु, समराङ्गणसूत्रधार

आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

धनुर्वेदमें अस्त्र-शस्त्रोंके निर्माण तथा प्रयोगका वर्णन है। प्रयोग करके सीखनेका यह शास्त्र है। प्रयोगकी परम्परा बंद हो जानेसे इसका लोप हो गया।

गान्धर्ववेद

इसमें नृत्य तथा गायनका विषय है। राग-रागिनी, ताल-स्वर, वाद्य तथा नृत्यके भेदोपभेदोंका वर्णन इसका तात्पर्य है। गानविद्या प्राचीन कालसे चली आ रही है और उसके पुराने 'घराने' अब भी हैं; फिर भी सामगानकी अरण्यगान तथा गेयगान—इन दोनों प्रणालियोंका लोप हो गया है। प्राचीन गायन-शास्त्रके इस समय भी बहुत-से ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें मुख्य ये हैं—भरतमुनिका भरतनाट्यशास्त्र (इसपर अभिनवगुप्तकी टीका है), दत्तिलमुनिका दत्तिलम्, शार्ङ्गदेवका संगीतरत्नाकर (इसपर मल्लिनाथ आदिकी टीकाएँ हैं) और दामोदरकृत संगीतदर्पण आदि।

आयुर्वेद

शरीर-रचना, रोगके कारण, लक्षण, ओषधि, गुण, विधान तथा चिकित्साका वर्णन यह शास्त्र करता है। आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें अश्विनीकुमारसंहिता, ब्रह्मसंहिता, भेलसंहिता एवं आग्नीध्रसूत्रराज बहुत प्राचीन ग्रन्थ हैं। सुश्रुतसंहिता, धातुवाद, धन्वन्तरिसूत्र, मानसूत्र, सूपशास्त्र, सौभरिसूत्र, दाल्भ्यसूत्र, जाबालिसूत्र, इन्द्रसूत्र, शब्दकुतूहल तथा देवलसूत्र भी प्राचीन ग्रन्थ हैं। चरकसंहिता और अष्टाङ्गहृदय आदि भी प्राचीन ग्रन्थ ही हैं।

आयुर्वेदके सहस्रों ग्रन्थ हैं। उनमें मनुष्योंके अतिरिक्त अश्व, गौ, गज तथा अन्य पशु-पक्षियोंकी चिकित्साके उपायोंका भी वर्णन मिलता है।

हरिवंशपुराण महाभारतका परिशिष्ट होनेसे इतिहास ही माना जाता है। इनके अतिरिक्त अध्यात्मरामायण, योगवाशिष्ठ आदि इतिहासके बहुत ग्रन्थ हैं।

पुराण

पुराण चार प्रकारके हैं—(१) महापुराण, (२) पुराण, (३) अतिपुराण, (४) उपपुराण। इनमेंसे प्रत्येककी संख्या अठारह बतायी जाती है। सर्वसाधारणमें महापुराणोंको ही पुराणके नामसे जाना जाता है। इन महापुराणोंके नाम निम्न हैं—

१. ब्रह्मपुराण, २. पद्मपुराण, ३. विष्णुपुराण, ४. शिवपुराण/वायुपुराण, ५. श्रीमद्भागवत, ६. नारदीयपुराण, ७. मार्कण्डेयपुराण, ८. अग्निपुराण, ९. भविष्यपुराण, १०. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ११. लिङ्गपुराण, १२. वराहपुराण, १३. स्कन्दपुराण, १४. वामनपुराण, १५. कूर्मपुराण, १६. मत्स्यपुराण, १७. गरुडपुराण और १८. ब्रह्माण्डपुराण। पुराणोंमें वेदोंके सभी पूर्वोक्त विषय विस्तारसे प्रतिपादित हैं।

दर्शन

'दृश्यते यथार्थतया वस्तु पदार्थज्ञानमिति दर्शनम्'के अनुसार 'तत्त्व-ज्ञानसाधक' शास्त्रोंका नाम दर्शन-शास्त्र है।

सृष्टि तथा जीवके जन्म-मरणके कारण तथा गतिपर जो शास्त्र विचार करे, उसे दर्शन कहते हैं। मुख्य दर्शन छः हैं—१. वैशेषिक, २. सांख्य, ३. योग, ४. न्याय, ५. पूर्वमीमांसा और ६. उत्तरमीमांसा।

इनमेंसे प्रत्येकके कई भेद आचार्योंके मतोंके कारण हो गये हैं। इनमेंसे सांख्यदर्शनके मूल सूत्र-ग्रन्थपर संदेह किया जाता है। उसकी 'कारिका' ही मुख्य है। उत्तरमीमांसादर्शन (ब्रह्मसूत्र)-के भाष्यके रूपमें ही वैदिक सम्प्रदाय बने हैं। इस

इस समय प्रायः सौसे अधिक स्मृतियाँ उपलब्ध हैं। उनमेंसे यहाँ थोड़े-से ही, मुख्य-मुख्य स्मृतियोंके नाम दिये जा रहे हैं—मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, औशनस, आङ्गिरस, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वसिष्ठ, प्रजापति आदि।

इनमें भी मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति अधिक विख्यात हैं। कलियुगके लिये पराशर-स्मृति मुख्य मानी गयी है।

निबन्ध-ग्रन्थ

ये भी एक प्रकारके स्मृति-ग्रन्थ ही हैं। यद्यपि इनकी रचना मध्यकालमें हुई, फिर भी ये स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। स्मृतियों तथा पुराणोंमें जो धर्माचरणके निर्देश हैं, उनका ही इनमें बड़े विस्तारसे संकलन हुआ है। उनमें जो परस्पर वैभिन्न्य दीख पड़ता है या जो बातें स्पष्ट नहीं हैं, उनका स्पष्टीकरण तथा एकवाक्यता निबन्धकारोंने की है। विस्तार-पूर्वक प्रमाण देकर प्रत्येक विषयका इनमें विवेचन है। इसलिये धर्मशास्त्रके विद्वान् इन्हें स्मृतियोंके समान प्रमाण मानते हैं। मुख्य निबन्ध-ग्रन्थोंके नाम यहाँ दिये जा रहे हैं।

जीमूतवाहनके तीन ग्रन्थ हैं—दायभाग, कालविवेक, व्यवहारमातृका। शूलपाणिका 'स्मृतिविवेक' सम्पूर्ण नहीं मिलता। उसके चार खण्ड मिलते हैं। रघुनन्दनका स्मृतितत्त्व विशाल अट्ठाईस भागका ग्रन्थ है। अनिरुद्धके तीन ग्रन्थ हैं—हारलता, आशौचविवरण, पितृदयिता। बल्लालसेनके चार ग्रन्थ हैं—आचारसागर, प्रतिष्ठासागर, अद्भुतसागर और दानसागर। ये ग्रन्थ बंगालके निबन्धकारोंके हैं।

श्रीदत्त उपाध्यायके तीन ग्रन्थ हैं—आचारादर्श, समयप्रदीप, श्राद्धकला। चण्डेश्वरका विशाल ग्रन्थ है स्मृति-रत्नाकर, वाचस्पति मिश्रके विवाद-चिन्तामणि; इसके अतिरिक्त ग्यारह ग्रन्थ और हैं—आचारचिन्तामणि, आह्निकचिन्तामणि, कृत्यचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि, व्यवहारचिन्तामणि, शुद्धि-चिन्तामणि, श्राद्धचिन्तामणि, तिथिनिर्णय, द्वैतनिर्णय, शुद्धिनिर्णय और महादान—ये ग्रन्थ मैथिल निबन्धकारोंके हैं।

देवण्णभट्टकी स्मृतिचन्द्रिका विस्तृत ग्रन्थ है। हेमाद्रिका चतुर्वर्गचिन्तामणि धर्मशास्त्रका विश्वकोष ही है। माधवाचार्यके सात ग्रन्थ हैं—कालमाधव, पराशरमाधव, दत्तकमीमांसा, गोत्र-प्रवर-निर्णय, मुहूर्तमाधव, स्मृतिसंग्रह एवं व्रात्यस्तोमपद्धति।

नारायणभट्टके तीन ग्रन्थ हैं—त्रिस्थलीसेतु, अन्त्येष्टिपद्धति और प्रयोगरत्नाकर। नन्द पण्डितके ग्रन्थ हैं—श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका, तत्त्वमुक्तावली और दत्तकमीमांसा। कमलाकरभट्टके बाईस ग्रन्थोंमें निर्णयसिन्धु, शूद्रकमलाकर, दानकमलाकर, पूर्तकमलाकर, वेदरत्न, विवादताण्डव तथा प्रायश्चित्तरत्न मुख्य हैं। नीलकण्ठ भट्टका भगवन्तभास्कर तथा मित्रमिश्रका वीरमित्रोदय—ये बहुत बड़े ग्रन्थ हैं। लक्ष्मीधरका कृत्यकल्पतरु भी कई भागोंमें है। जगन्नाथ तर्कपञ्चाननका विवादार्णव कानूनकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। ये काशीके निबन्धकारोंके ग्रन्थ हैं।

इनके अतिरिक्त काशीनाथ उपाध्याय आदिके धर्मसिन्धु, निर्णयामृत, पुरुषार्थचिन्तामणि आदि भी बहुत-से निबन्ध हैं।

भाष्य, टीकाएँ तथा साम्प्रदायिक ग्रन्थ

वैदिक ग्रन्थोंसे लेकर निबन्ध-ग्रन्थोंतकपर टीकाएँ हुई हैं। उनमें भाष्य हैं, टीकाएँ हैं, कारिकाग्रन्थ हैं, संक्षिप्त सारसंग्रह हैं। इन भाष्य-टीकाओंपर भी टीकाएँ हैं। इन भाष्य और टीकाओंका स्वतन्त्ररूपमें बहुत महत्त्व है। इनके कारण स्वतन्त्र सम्प्रदाय चले हैं।

श्रीशंकराचार्यका अद्वैतवाद, श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद, श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद, श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद तथा श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद सम्प्रदाय और गौडीयसम्प्रदायका अचिन्त्यभेदाभेदवाद—सब भाष्योंपर ही अवलम्बित हैं। इनके अतिरिक्त भी शैव, शाक्त आदि सम्प्रदाय भी भाष्योंपर ही प्रतिष्ठित हैं। इन भाष्योंपर प्रतिष्ठित मतोंके आधारपर संस्कृत तथा हिंदीमें प्रत्येक सम्प्रदायमें सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गये हैं। इसी प्रकार न्याय, पूर्वमीमांसा आदि दर्शनोंके भी भाष्य हैं और उनके आधारपर उनके सम्प्रदाय हैं। उन सम्प्रदायोंमें भी सैकड़ों-सहस्रों ग्रन्थ हैं। हिंदू-धर्म बहुत विशाल धर्म है। उसकी शाखाएँ ही सैकड़ों हैं। जैनधर्म, बौद्धधर्म, सिक्खधर्म आदि हिंदूधर्मकी ही शाखाएँ हैं। इसी प्रकार कबीरपंथ, राधा-स्वामीमत, दादूपंथ, रामस्नेही, प्रणामी, चरणदासी आदि बहुत-से सम्प्रदाय हिंदू-धर्मके भीतर हैं। जैनधर्मके ग्रन्थोंकी संख्या सहस्रोंमें है। बौद्ध धर्मके ग्रन्थ भी बड़ी संख्यामें हैं।

सिक्ख, कबीरपंथी, दादूपंथी, राधास्वामी, रामसनेही, प्रणामी आदि मतोंमें उनके गुरुओंके ग्रन्थ ही परम प्रमाण ग्रन्थ माने जाते हैं। उन सबकी संख्या भी बहुत बड़ी है।

आगम या तन्त्रग्रन्थ

वेदोंसे लेकर निबन्ध-ग्रन्थोंतककी परम्पराको 'निगम' कहा जाता है। इसीके समान जो दूसरी अनादि परम्परा है, उसे 'आगम' कहा जाता है।

आगमके दो भाग हैं—दक्षिणागम (समयमत) और वामागम (कौलमत)। सनातनधर्ममें निगम तथा आगम (दक्षिणागम) दोनोंको प्रमाण माना जाता है। श्रुतियोंमें ही दक्षिणागमका मूल है और पुराणोंमें उसका विस्तार हुआ है। इस आगम-शास्त्रका विषय है—उपासना।

वैष्णवागम

देवताका स्वरूप, गुण, कर्म, उनके मन्त्रोंका उद्धार, मन्त्र, ध्यान, पूजाविधिका विवेचन आगम-ग्रन्थोंमें होता है। वैष्णवागम स्मृतिके समान प्रमाण माना जाता है। वैष्णवागममें पाञ्चरात्र तथा वैखानस-आगम—ये दो प्रकारके ग्रन्थ मिलते हैं।

इनके अतिरिक्त स्पन्दसर्वस्व, शिवदृष्टि, परात्रिंशिका, त्रिवृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, सिद्धित्रयी, शिवस्तोत्रावली, तन्त्रालोक आदि इस मतके प्रधान ग्रन्थ हैं।

शाक्तागम

इसमें सात्त्विक ग्रन्थोंको तन्त्र या आगम, राजसको यामल तथा तामसको डामर कहा जाता है। सृष्टिके प्रारम्भसे ही राजस, तामस स्वभावके प्राणी रहे हैं। दैत्य, दानव, असुर अथवा उनके समान स्वभावके मनुष्योंको भी साधन तो मिलना ही चाहिये। अतः उनके लिये इन राजस-तामस ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। असुरोंकी परम्पराका मुख्य शास्त्र वामागम है।

शाक्तागममें भी ६४ ग्रन्थ मुख्य माने जाते हैं। ये सब प्राप्त नहीं होते। कौलोपनिषद्, अरुणोपनिषद्, अद्वैतभावोपनिषद्, कालिकोपनिषद्, भावनोपनिषद्, बह्वृचोपनिषद्, त्रिपुरोपनिषद् तथा तारोपनिषद् तन्त्रमतके प्रतिपादक माने जाते हैं। इनकी भी भाष्य-टीकाएँ हैं।

मिश्रमार्गके आठ ग्रन्थ हैं—चन्द्रक, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कलार्णव, कलेश्वरी, भवनेश्वरी, बार्हस्पत्य तथा दुर्वासा।

स्मृतियोंकी दृष्टिमें शास्त्रका स्वरूप

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

शास्त्र भगवान्‌की आज्ञा है—वाधूलस्मृतिने बताया है कि श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र भगवान्‌की आज्ञा हैं, किसी मनुष्यकी रचना नहीं—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे०।

(वाधूल० १८९)

भगवान् कहते हैं कि श्रुति अर्थात् वेद और मन्वादि स्मृतियाँ मेरी ही आज्ञा हैं। आज्ञाका पर्यायवाची शब्द है—शास्त्र। शास्त्र शब्दकी परिभाषा है—**निदेशग्रन्थयोः शास्त्रम्। निदेशः आज्ञा** (रामाश्रमी टीका)(अमरकोष ३। ३। १७९) फलितार्थ हुआ कि श्रुति और स्मृति भगवान्‌की आज्ञा हैं, जिन्हें 'शास्त्र' कहा जाता है।

महर्षि पराशरने बताया है कि भगवान्‌ने श्रुति-स्मृतिरूप जो आज्ञा दी है, वह हमारे ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वके हितके लिये दी है और यही सम्पूर्ण विश्वका शासन-विधान भी है—'**शासनाच्छंसनाच्छास्त्रम्**'। जब छोटे-से-छोटे राष्ट्रके संचालनके लिये भी शासन-विधानकी आवश्यकता होती है, तब सम्पूर्ण विश्वके संचालनके लिये ईश्वरको विधान बनाना ही पड़ता है। भगवान्‌के द्वारा निर्मित उसी शासन-विधानका नाम है—'शास्त्र'।

मनुस्मृतिने वेदके लिये 'विधान' शब्दका उपयोग भी किया है—

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो॥

(मनु० १। ३)

अर्थात् भृगु आदि महर्षि मानवधर्मकी जिज्ञासा करते हुए मनुजीसे कहते हैं कि हे प्रभो! अकेले आप ही वेदके यज्ञ-कर्म और उसके प्रतिपाद्य ब्रह्म-तत्त्वके जानकार हैं। अतः हमलोग आपसे ही इनके सम्बन्धमें पूछ रहे हैं।

यहाँ ऋषियोंने वेदके लिये '**विधानस्य**' पदका प्रयोग किया है और इसके चार विशेषण देकर वेदके स्वरूपको समझाया भी है। (१) पहला विशेषण है '**अस्य सर्वस्य**'—अर्थात् अनन्त होनेसे वेदका कुछ अंश तो प्रत्यक्ष श्रुत है और जो अंश श्रुत नहीं है, वह स्मृतिके द्वारा अनुमेय होता है।

(२) दूसरा विशेषण है '**स्वयम्भुवः**।' स्वयम्भूका अर्थ है—अपने-आप प्रकट होनेवाला अर्थात् जिसका कोई उत्पादक न हो। जिस तरह भगवान् स्वयम्भू हैं, उसी तरह वेद भी स्वयम्भू है। अर्थात् प्राप्त होता है। जैसे भगवान्‌को बनानेवाला कोई नहीं है वैसे वेदका भी बनानेवाला कोई नहीं है। वेद तो भगवत्स्वरूप है—'**वेदो नारायणः साक्षात्**' (स्कन्दपुराण)। इसी तथ्यको स्पष्ट करनेके लिये वेदको अपौरुषेय कहा गया है। अर्थात् वेद किसी पुरुषका बनाया हुआ नहीं है। भगवान् सत्-स्वरूप, चित्-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप होते हैं। जैसे उनका 'सत्' अपौरुषेय है, 'आनन्द' अपौरुषेय है, वैसे उनका 'चित्' (ज्ञान और उसमें अनुविद्ध शब्द) भी अपौरुषेय ही है।

(३) मनुस्मृतिने वेदका तीसरा विशेषण दिया है—'**अचिन्त्यस्य**।' इसका भाव यह है कि वेदकी शाखाओंका कोई अन्त नहीं है—'**अनन्ता वै वेदाः**'। अतः वेदकी इयत्ताका चिन्तन सम्भव नहीं है। जिस कल्पमें ब्रह्माका हृदय भगवान्‌के द्वारा भेजी गयी शाखाओंका जितने अंश ग्रहण कर पाता है और उनका प्रतिफलन कर उनके मुखोंसे विनिर्गत कर पाता है, उस कल्पमें वेदकी उतनी ही शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। इस कल्पमें ब्रह्माने एक हजार एक सौ एकतीस शाखाओंको प्राप्त किया, अतः इस कल्पमें वेदकी इतनी ही शाखाएँ मानी जाती हैं (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)। अन्य कल्पोंमें इससे अधिक भी शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। जैसे मुक्तिकोपनिषद्के (१। १२-१३में) एक हजार एक सौ अस्सी शाखाएँ बतायी गयी हैं।

इन्हीं अनन्त शाखाओंके कारण 'वेदकी इतनी ही शाखा है' यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। इसी तथ्यको '**अचिन्त्यस्य**' कहकर प्रकट किया गया है। अर्थात् वेदकी इतनी ही शाखाएँ हैं यह कोई सोच नहीं सकता।

(४) मनुस्मृतिने '**वेदस्य**'का चौथा विशेषण दिया है—'**अप्रमेयस्य**।' इसका भाव यह है कि मीमांसा, पुराण आदि शास्त्रोंकी सहायताके बिना वेदके वास्तविक अर्थका समझ पाना कठिन है।

मनुस्मृतिने उपसंहार करते समय भी वेदके स्वरूपका निर्देश किया है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥

(मनु॰ १२। ९४)

यहाँ मनुस्मृतिने वेदके लिये '**अशक्यं**' पद देकर इसकी अपौरुषेयता दिखलायी है अर्थात् किसी भी पुरुषके द्वारा वेदशास्त्रका बनाना शक्य नहीं है—'**अशक्यं च वेदशास्त्रं कर्तुम्**'। (मनु०, मन्वर्थमुक्तावली) यहाँ '**अप्रमेयं**' पद वही रखा गया है जो प्रारम्भमें आया है। भाव भी वही है कि मीमांसा, पुराण आदि ग्रन्थोंके बिना वेदका वास्तविक अर्थ समझा नहीं जा सकता। इसलिये वेदार्थ जाननेके लिये मीमांसा-पुराण-निरुक्त आदि वेदाङ्गोंका उपयोग आवश्यक है—'**ततश्च मीमांसया व्याकरणाद्यङ्गैश्च सर्वब्रह्मात्मकं वेदार्थं जानीयात्**' (मनु॰, मन्वर्थमुक्तावली १२। ९४)।

मनुस्मृतिने प्रारम्भमें वेदके लिये 'विधान' शब्द और उपसंहारमें 'शास्त्र' शब्द देकर एवं '**पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्**'—यह कहकर व्यक्त कर दिया है कि वेद परमात्माका वह शासन-विधान है जिसका उपयोग अवसर आता है, तब भगवान् उस शासन-विधानका फिरसे उपयोग करने लगते हैं। स्वयं तो भूत-सृष्टि (तत्त्वोंकी सृष्टि) कर देते हैं और उसके बाद भौतिक सृष्टि चलानेका भार ब्रह्मापर सौंपते हैं। जबतक ब्रह्माके पास भगवान् वेदको नहीं भेजते, तबतक ब्रह्मा सृष्टिकर्ममें असमर्थ रहते हैं। तपस्याके द्वारा जब उनका हृदय सशक्त बन जाता है, तब भगवान्‌के द्वारा भेजे हुए वेद उनके हृदयमें प्रतिफलित होकर उसी आनुपूर्वी और उसी स्वरके साथ उनके मुखसे उच्चरित होने लगते हैं—

'**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति॰**'

वेदके प्राप्त होनेपर सृष्टिका सारा रहस्य ब्रह्माको ज्ञात हो जाता है। फिर वे वेदके शब्दोंकी सहायतासे पहली सृष्टिकी तरह इस सृष्टिका भी उत्पादन प्रारम्भ कर देते हैं। मनुस्मृतिमें लिखा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

(२) विश्वनियन्ताकी आज्ञा है—अर्थात् विश्वनियन्ताका शासन-विधान है, जो इसी आनुपूर्वी और इसी स्वरमें सदा ब्रह्माके हृदयमें प्रतिफलित होकर मुखोंसे उच्चरित होता है और परम्परासे हमको प्राप्त होता है।

(३) विश्वके निर्माण आदिमें सच्चा सहायक होता है।

(४) जैसे भगवान् प्रलयमें विद्यमान रहते हैं, वैसे उनका स्वरूप—वेद भी विद्यमान रहता है। मृत्यु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र तथा पृथ्वी—सभी निरन्तर उसी आदेशस्वरूप वेदका पालन करते रहते हैं।

यह तो हुआ '**श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे०**'—इस स्मृतिके वचनमें आये श्रुतिका कुछ परिचय। अब रह गया भगवान्की आज्ञाके दूसरे अंश स्मृतिका परिचय।

'**स्मर्यत इति स्मृतिः।**' यह स्मृतिका यौगिक अर्थ है। अर्थात् वह ग्रन्थ जो ब्रह्मा आदि ऋषियोंके द्वारा स्मरण कर लिखे गये। ऋषि लोग समाधिमें स्थित होकर वेदके नित्य-नूतन अर्थोंको स्मरण करते हैं और उसको अपने शब्दोंमें बाँधते हैं। इसलिये मनुस्मृति आदिके जितने अर्थ हैं, वे सब-के-सब वेदके ही हैं। किंतु शब्द वेदके नहीं हैं, शब्द तो ऋषियोंके द्वारा कृत हैं। यह हुआ स्मृतिका स्वरूप।

श्रुति और स्मृति दोनों ही नित्य-नूतन हैं। दोनोंमें पार्थक्य बस इतना ही है कि श्रुतिके शब्द, अर्थ और उच्चारण तीनों नित्य-नूतन होते हैं, जब कि स्मृतिके केवल अर्थ नित्य-नूतन होते हैं। इसके शब्द कभी भृगुके द्वारा निर्मित होते हैं, कभी याज्ञवल्क्य आदिके द्वारा।

इसलिये स्मृतिकी महत्ता भी श्रुतिसे कम नहीं है। स्मृतिकी एक-एक विशेषता बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है। लिखा जा चुका है कि अनन्त वेदकी जिस कल्पमें जिस वेदकी जितनी शाखाएँ ब्रह्मा प्राप्त कर पाते हैं, उतनी ही शाखाएँ हमको अध्ययन-परम्परासे प्राप्त होती हैं। ब्रह्मा भी स्मरण करते हैं, ऋषि भी स्मरण करते हैं। ऐसी स्थितिमें उनकी ऋतम्भरा प्रज्ञासे वेदके कुछ ऐसे अर्थ भी स्मृत हो जाते हैं, जो विद्यमान वेदकी शाखाओंमें उपलब्ध नहीं हैं। वैसी स्थितिमें इस स्मृत अर्थके द्वारा अनुपलब्ध श्रुतिकी कल्पना करनी पड़ती है। इस तरह स्मृतिकी अपनी विशेषता यह हुई कि बहुतसे वेदके अर्थ वेदमें उपलब्ध नहीं हैं, किंतु स्मृतियोंके द्वारा हम उन्हें प्राप्त करते हैं। यह स्मृतियोंकी बहुत बड़ी विशेषता है। इसी अभिप्रायसे अत्रिस्मृतिने कहा है कि वेद पढ़ लेनेके बाद भी स्मृतियोंका पढ़ना आवश्यक होता है। यदि कोई सम्पूर्ण वेदको पढ़ ले और स्मृतियोंकी अवहेलना करे तो उसको भयानक पाप लगेगा। इक्कीस जन्मतक उसे पशु बनना पड़ेगा—

वेदं गृहीत्वा यः कश्चिच्छास्त्रं चैवावमन्यते।
स सद्यः पशुतां याति संभवानेकविंशतिम्॥

(अत्रिसंहिता १। ११)

यही कारण है कि श्रुतिकी तरह स्मृतिको भी आँख माना जाता है। आँखें दो होती हैं। एक आँख है श्रुति, दूसरी आँख है स्मृति। इन दोनोंमेंसे यदि एक न रहे तो वह विद्वान् काना माना जाता है और यदि दोनों ही न रहें तो अन्धा ही माना जाता है—

श्रुतिस्मृती तु विप्राणां चक्षुषी द्वे विनिर्मिते॥
काणस्तत्रैकया हीनो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः।

(वाधूलस्मृति १९०-१९१)

इस तरह हिन्दू-धर्म भगवान्का बनाया धर्म है। अतः साङ्गोपाङ्ग पूर्ण है और नित्य है। किंतु आजकल लोग हिन्दूधर्मको ब्राह्मणधर्म कहकर इसकी महत्ता कम करनेमें जुट गये हैं। हिन्दूधर्मको ब्राह्मणधर्म कहनेवाले पाश्चात्य विद्वान् या तो हिन्दूधर्मको समझ नहीं पाये हैं या उनका विचार दुरभिसंधिसे ग्रस्त है। जो राजनैतिक पाश्चात्त्य विद्वान् हैं, वे दुरभिसंधिसे ग्रस्त होकर ही हिन्दुओं और हिन्दूधर्मको बहुत हानि पहुँचा रहे हैं। जैसे उनकी एक थोथी कल्पना है कि भारतमें पहले अनार्य और द्रविड़ रहते थे। आर्य लोग बाहरसे आकर यहाँके मूलनिवासियोंको हराकर यहीं बस गये। यहाँके मूलनिवासी द्रविड़को उत्तर भारतसे भगाते-भगाते समुद्रके किनारेतक पहुँचा दिया।

जैसे इस दुरभिसंधिग्रस्त कल्पनाने भारतको बहुत बड़ी हानि पहुँचायी है, वैसे भगवान्के धर्मको 'ब्राह्मणका धर्म' बताकर लोगोंने हिन्दुओंमें आपसमें कलह उत्पन्न कर दिया है।

'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'

धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः

[धर्मशास्त्रोंका परिचय और उनके आख्यान]

'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर' 'धर्मं चर'

'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'—इस शास्त्रवचनसे सिद्ध होता है कि स्मृतिग्रन्थ ही हमारे धर्मशास्त्र हैं। परम करुणावान् ऋषि-मुनियोंद्वारा लिखित 'मनुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 'वसिष्ठस्मृति' और 'कपिलस्मृति' आदि अनेक स्मृतिग्रन्थ प्राप्त हैं।

मनुष्य धर्मका मर्म समझ सके, शुद्ध आचरणका महत्त्व जान सके, पाप-पुण्य, नीति-अनीतिको पहचाननेकी सामर्थ्य प्राप्त कर सके तथा देव, पितृ, अतिथि, गुरु आदिके प्रति अपना कर्तव्य समझे एवं अपने कर्तव्य-पथपर बढ़ता रहे—यह स्मृतिग्रन्थोंका प्रधान उद्देश्य है।

वास्तवमें श्रुति-स्मृति आदि भगवान्‌की आज्ञा हैं, किसी मनुष्यकी नहीं '**श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे**' *(वाधूल० १८९)। भगवान् कहते हैं कि श्रुति अर्थात् वेद और मन्वादि स्मृतियाँ मेरी ही आज्ञा हैं। आज्ञाका पर्यायवाची शब्द है—शास्त्र।*

महर्षि पराशरने लिखा है कि भगवान्‌ने श्रुति और स्मृतिरूप जो आज्ञा दी है, वह हमारे हितके लिये दी है और यही सम्पूर्ण विश्वका शासन-विधान भी है—'**शासनाच्छंसनाच्छास्त्रम्।**' *जब छोटे-से-छोटे राष्ट्रके संचालनके लिये भी शासन-विधानकी आवश्यकता होती है, तब सम्पूर्ण विश्वके संचालनके लिये ईश्वरको विधान बनाना ही पड़ता है। उसी शासन-विधानका नाम है—'शास्त्र'। इसीलिये वेदको 'विधान' शब्दसे भी प्रतिपादित किया गया है—*

'**त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।**' (मनु० १। ३)

स्मृतियाँ मुख्यरूपसे वेदार्थका ही प्रतिपादन करती हैं तथा वैदिक धर्मकी ही व्याख्या करती हैं। धर्माचरण और सदाचार ही इनका मुख्य विषय है। धर्मशास्त्रमें स्मृतियोंके साथ ही वेदधाराके सूत्र-साहित्यका भी विशेष महत्त्व है। सूत्रसाहित्यमें 'श्रौतसूत्र', 'गृह्यसूत्र, 'धर्मसूत्र' तथा 'शुल्बसूत्र' आदि ग्रन्थोंकी मुख्यतया प्रधानता है। धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र स्मृतियोंकी पूर्वपीठिकाके रूपमें प्रसिद्ध हैं।

धर्मसूत्रोंमें 'गौतम', 'आपस्तम्ब,' 'वसिष्ठ', 'बौधायन', 'हिरण्यकेशी', 'हारीत', 'वैखानस' तथा 'शंखलिखित'-धर्मसूत्र विशेष प्रसिद्ध एवं मान्य हैं। इन समस्त सूत्रोंमें धर्मशास्त्रका व्यापक विवेचन तथा विश्लेषण हुआ है। आचार, विधि-नियम तथा क्रिया-संस्कारोंकी विधिवत् चर्चा करना ही इन सूत्रोंका मुख्य उद्देश्य है।

*दाय (सम्पत्ति)-के अधिकारी, दायका अंश, स्त्रीधन और कर-ग्रहणकी व्यवस्था आदि विषय भी स्मृतियोंमें वर्णित हैं। प्रायश्चित्त-खण्डमें धार्मिक तथा सामाजिक कृत्योंके न करने तथा उनकी अवहेलना करनेसे जो पाप होते हैं, उनके प्रायश्चित्तका विधान बताया गया है। इस प्रायश्चित्त-विधानके अन्तर्गत कृच्छ्र—चान्द्रायण, सांतपन आदि व्रत, गोदान, भूमिदान, तुलादान आदि विविध दानके प्रसंग तथा जप, तप, उपवास एवं तीर्थयात्रा और पञ्चगव्य-सेवन आदि कृत्योंका विधान बताया गया है। प्रायश्चित्त न करनेपर तथा पाप छिपानेपर परलोकमें भीषण नरक-यातनाओंका विवरण भी प्राप्त होता है। '**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्**'—इस दृष्टिसे शुभ-अशुभ कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है, अतः 'कर्मविपाक' भी स्मृतियोंका एक मुख्य विषय है। धर्मशास्त्रोंमें दुष्कर्मों या पापोंका फलवान् होना 'कर्मविपाक' शब्दसे अभिव्यंजित है। जीव जब दुष्कर्म या पापकर्म करता है और वह इन कृत्योंका प्रायश्चित्त भी नहीं करता, तब धर्मशास्त्र ऐसे जीवोंको नारकीय यातनाएँ भोगनेके उपरान्त पापकृत्योंके चिह्नस्वरूप पशु, पक्षी, कीट-पतंग या निम्न कोटिके जीव अथवा वृक्ष आदि योनियोंमें जन्म लेनेकी बात बताते हैं। किसी प्रकार पापसे संयुक्त जीव अपने पापोंको समाप्त कर मानवरूप धारण करता है तो प्रायश्चित्त न करनेके कारण रोगों एवं शारीरिक दोषोंसे ग्रसित होता है। इस प्रकार कर्मविपाकके भोगोंसे अनावृत होनेपर ही सांसारिक जीव जन्म-मरणके दारुण दुःखोंसे मुक्त होकर अनन्त आनन्दमें विलीन हो जाता है। अर्थात् परमात्मपदको प्राप्त करनेका अधिकारी बनता है।*

स्मृतियोंमें वर्णधर्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रधर्म), आश्रम-धर्म (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास-धर्म), सामान्य धर्म, विशेष धर्म, गर्भाधानसे अन्त्येष्टितकके संस्कार, दिनचर्या, पञ्चमहायज्ञ, बलिवैश्वदेव, भोजनविधि, शयन-विधि, स्वाध्याय, यज्ञ-यागादि, इष्टापूर्तधर्म, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, शुद्धितत्त्व, पाप-पुण्य, तीर्थ, व्रत, दान, प्रतिष्ठा, श्राद्ध, सदाचार-शौचाचार, आशौच (जननाशौच, मरणाशौच), भक्ष्याभक्ष्यविचार, आपद्धर्म, दाय-विभाग (सम्पत्तिका बँटवारा), स्त्रीधन, पुत्रोंके भेद, दत्तक-पुत्रमीमांसा और राजधर्म तथा मोक्षधर्म एवं अध्यात्मज्ञान इत्यादिका विस्तारसे वर्णन हुआ है।

स्मृतिग्रन्थोंपर अनेक आचार्योंकी टीकाएँ, भाष्य हुए हैं, तथा इन विविध विषयोंमें एक-एक विषयको लेकर स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थोंकी रचना भी हुई है, जिनमें विविध विषयोंका एकत्र संग्रह किया गया है। अनेक भाष्यकारों एवं निबन्धकारोंने अपनी रचनाओंके माध्यमसे धर्मशास्त्रको विकसित एवं प्रकाशित कर एक अहम् भूमिकाका निर्वाह किया है।

इस प्रकार धर्मशास्त्रोंमें मनुष्यके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सभी पक्षोंका विस्तारसे विवेचन हुआ है। धर्मशास्त्र हमें अच्छे आचारवान् बननेकी शिक्षा देते हैं, सद्व्यवहार सिखाते हैं। सच्चा मानव बननेकी प्रेरणा देते हुए अपने कर्तव्योंका अवबोध कराते हैं, इस दृष्टिसे धर्मशास्त्रीय नियम सभीके लिये सब समयोंमें परम कल्याणकारी हैं।

प्रस्तुत प्रकरणमें उपलब्ध सभी स्मृतियों एवं धर्मसूत्रोंका परिचय और सार-संक्षेपमें उनके मुख्य विषयोंका प्रतिपादन तथा उन विषयोंसे सम्बन्धित कुछ प्रेरणाप्रद आख्यान प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है। साथ ही तत्तत् स्मृतियोंके उपदेष्टा ऋषि-महर्षियोंका भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

धर्मशास्त्रकारोंमें मनुका प्रमुख स्थान है। मनु मानव-जातिके आदि पिता हैं और सभी क्षेत्रोंमें मानव-जातिके पथप्रदर्शक हैं। इनके द्वारा रचित 'मनुस्मृति' विश्वका सर्वप्रथम विधान है, जिसे मानवमात्रका धर्मशास्त्र कहा जा सकता है। वेदार्थके अनुसार रचित होनेके कारण स्मृतियोंमें मनुस्मृतिकी प्रधानता है—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतेः।

अतः यहाँ सर्वप्रथम मनु और उनकी सम्पूर्ण मनुस्मृतिका संक्षिप्त भावानुवाद प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जा रहा है, आशा है, पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

[सम्पादक]
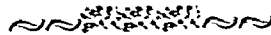
मनुस्मृति—मानवधर्मशास्त्र

वेदने स्वायम्भुव मनुको मनुष्यमात्रका पिता बताया है—'**मनुष्पिता**' ऋग्वेद (१। ८०। १६)—'**सर्वासां प्रजानां पितृभूतो मनुः**' (सायण)। पिताको अपनी संतानको हितकी बातें सिखानी पड़ती हैं और सच्चा हित केवल वेदसे जाना जा सकता है। इसलिये स्वायम्भुव मनुने अपने पिता ब्रह्मासे जो वेदोंका सारभूत लाख श्लोकोंवाला[1] ग्रन्थ पढ़ा था, उसे ही संक्षिप्त कर भृगु, नारद आदि अपने दस मानस पुत्रोंको सिखाया[2]। इन महर्षियोंने अपने शिष्योंको सिखाया। इस तरह परम्परासे वेदकी सीख मनुके माध्यमसे हम भी सीखते आ रहे हैं।

इन महर्षियोंने स्वायम्भुव मनुकी उस सीखको ग्रथित भी कर लिया था। उनमें महर्षि नारदमुनिके द्वारा ग्रथित 'नारदीय मनुस्मृति' और महर्षि भृगुद्वारा ग्रथित 'मनुस्मृति'—ये दो स्मृतियाँ हमें आज उपलब्ध हैं। इनमें नारदीय मनुस्मृतिमें प्रधानतया व्यवहारपर ही विचार किया गया है और भृगुप्रोक्त मनुस्मृतिमें धर्मके प्रायः सभी अङ्गोंपर प्रकाश डाला गया है। भृगुप्रोक्त इस मनुस्मृतिमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंका सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। दूसरे अध्यायमें ब्रह्मचर्याश्रमका वर्णन है। इस आश्रममें केवल धर्म-ही-धर्मका प्रतिपादन हुआ है; क्योंकि इसमें न तो कामकी गुंजाइश है और न अर्थकी ही। हाँ, इसमें अन्तिम पुरुषार्थ मोक्षका अनुप्राणन अवश्य हुआ है, जो धर्मके ही अन्तर्गत है। सच पूछिये तो मोक्ष धर्म ही नहीं अपितु परम धर्म है—'**अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्**' (याज्ञ० १। ८)। तीसरे अध्यायमें कामरूप पुरुषार्थका वर्णन है—'**उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्**' (मनु० ३। ४)। चौथे अध्यायमें अर्थका प्रतिपादन हुआ है—'**अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्**' (४। ३)। फिर अन्तिम अध्यायमें मोक्षका प्रतिपादन किया गया है—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥

(मनु० १२। १२५)

अर्थात् जो सब जीवोंमें अनुस्यूत परमात्माको आत्मस्वरूपसे देखता है, वह समबुद्धि प्राप्त कर ब्रह्मरूप मोक्षको प्राप्त होता है।

ध्यान देनेकी बात यह है कि मनुस्मृतिने धर्मसे नियन्त्रित ही काम और अर्थको पुरुषार्थ माना है। इसलिये कि उच्छृंखल काम और अर्थ मनुष्यको पथभ्रष्टकर उसके मूल्यवान् जीवनको ही नष्ट कर डालते हैं। इसीलिये स्मृतियोंको धर्मशास्त्र कहा जाता है—'**धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः**' (मनु० २। १०)। यही कारण है कि मनुस्मृति काम और अर्थके प्रतिपादनके अवसरपर पदे-पदे धार्मिक निर्देशों—नियमोंका निरूपण करती है। इस तरह हम देखते हैं कि यहाँ धर्म शब्द अपने व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। जो विश्वको धारण करे वह धर्म है—'**धरति विश्वमिति धर्मः।**' अर्थ-रूप धर्मके बिना विश्वका धारण नहीं हो सकता, अतः 'अर्थ' भी धर्म है। 'काम' के बिना सृष्टिका बढ़ाव ही रुक जाय, इसलिये काम भी धर्म है। 'मोक्ष' के बिना मानव-जीवनकी सार्थकता ही नष्ट हो जाय, अतः मोक्ष भी धर्म है। धर्मके इस व्यापक लक्षणको न समझ सकनेके कारण ही प्रश्न उठता है कि महर्षियोंने जब मनुसे धर्मके विषयमें प्रश्न किया, तब उन्होंने धर्मका प्रतिपादन न कर प्रलय और सृष्टिकी बातें क्यों सुनायीं? मनुस्मृतिके पहले श्लोकमें आता है कि महर्षियोंने मनुसे पूछा कि हमें समस्त मनुष्योंका धर्म बताइये—'**धर्मान्नो वक्तुमर्हसि**' (१। २), किंतु मनुजीने इस प्रश्नके उत्तरमें ५८ श्लोकोंतक जो कुछ कहा है, उसमें 'धर्म' शब्दकी चर्चातक नहीं हुई है। उत्तर

१-इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः। विधिवद् ग्राहयामास.........॥ (मनु० १। ५८)

ब्रह्मणा शतसाहस्रमिदं धर्मशास्त्रं कृत्वा मनुरध्यापित आसीत्, ततस्तेन च स्ववचनेन संक्षिप्य शिष्येभ्यः प्रतिपादितम् तथा च नारदः 'शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थः' इति स्मरति स्म॥ (मन्वर्थमुक्तावली टीका)

२-'मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्।' (मनु० १। ५८)

देते समय सबसे पहले उन्होंने प्रलयकी दशा बतायी, उसके बाद सृष्टिका निरूपण किया, फिर उसका प्रलय बताकर अपना कथन समाप्त कर दिया। इस तरह महर्षियोंके धर्म-सम्बन्धी प्रश्नका उत्तर कहाँ हुआ?

बात यह है कि ब्रह्म धर्मोंका धर्म है और मनुष्य-जीवनका अन्तिम लक्ष्य भी वही है। ब्रह्मका तटस्थ लक्षण बताते हुए श्रुतिने लिखा है कि जिससे जगत्का जन्म, स्थिति और संहार हो वह ब्रह्म है[1]। व्यासजीने इसी श्रुतिके आधारपर—'**जन्माद्यस्य यतः**' (ब्रह्मसूत्र १। १। २)-में ब्रह्मका यह लक्षण किया है। मनुजीने भी इसी श्रुति और सूत्रकी ५८ श्लोकोंमें व्याख्या की है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म वह है, जिससे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है और इस ब्रह्मका ज्ञान होना ही मोक्ष है जो कि मनुष्य-जीवनका परम धर्म है। इस परम धर्मका निरूपण तो स्वायम्भुव मनुने अपने शब्दोंमें कर देना आवश्यक समझा था और इस ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करनेका साधन-स्वरूप जो वेदका कर्मकाण्ड-भाग है, उसके निरूपणके लिये उन्होंने भृगुको नियुक्त किया था। इस तरह मनुने ५८ श्लोकोंमें ऋषियोंके प्रश्नोंका ही उत्तर दिया है, कोई अप्रासंगिक बात नहीं कही है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वायम्भुव मनुकी मनुस्मृतिमें मनुष्य-जीवनके जितने उपयोगी तत्त्व हैं उन सभीका वर्णन आ जाता है। ये सभी तथ्य वेदसे प्रतिपादित हैं। अतः ये सदा तथ्य ही बने रहते हैं। इसलिये भृगुजीने कहा है—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

(२। ७)

भृगुजीने ही नहीं अपितु स्वयं वेदने कहा है कि मनुजीने जो कुछ कहा है, वह सब मनुष्योंके लिये औषधोंका भी औषध है—

'यत्किं च मनुरवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः'

(ताण्ड्य० २३। १६। ७)

मनुष्य कहीं किसीके बहकावेमें आकर मनुके उपदेशपर संदेह न कर बैठे, इसलिये वेदने अपनी यह उक्ति बार-बार दोहरायी है—जैसे—कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय संहितामें (२। २। १०। २)-में कहा गया है '**यद् वै किं च मनुरवदत् तद् भेषजं**'। इसी तरह कृष्णयजुर्वेदकी मैत्रायणी संहिता (१। १५) तथा काठकसंहिता (११। ५। ९)-में भी यही बात कही गयी है। इस तरह हम देखते हैं कि वेदने मनुजीके प्रत्येक उपदेशको मनुष्यके लिये हितकारी घोषित किया है। बृहस्पतिस्मृति भी वेदका अनुसरण करती हुई कहती है—

'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्'

(मनु० १। १ की मन्वर्थमुक्तावली टीका)

अर्थात् मनुस्मृतिके अक्षर-अक्षरमें वेदके अर्थोंका ही ग्रथन हुआ है—इसलिये सभी स्मृतियोंमें मनुस्मृति प्रधान है। इसलिये कोई अन्य स्मृति यदि मनुस्मृतिके विपरीत कहती है तो वह मान्य नहीं होती—

'मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥'

(मनु० १। १ की मन्वर्थमुक्तावली टीका)

आज विश्वका मानव अपने लक्ष्य और पथको ढूँढ़नेमें व्यामोहित हो गया है। भारतकी जनतामें यह व्यामोह अधिक फैला दिया गया है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक मानवका कर्तव्य है कि वह वेदके स्वरमें अपना स्वर मिलाकर अपने उपास्य देवतासे प्रार्थना करे कि 'हे भगवन्! मनुष्यमात्रके पिता मनुके बताये हुए और परम्परासे उनसे प्राप्त पथसे हम दूर न होने पावें'—

'मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरम्०'

(ऋग्वेद ८। ३०। ३)

मनुके पथसे दूर होकर आज मानव किस तरह विनाशके मुखमें जा पड़ा है, यह छिपी हुई बात नहीं है। मनुने जिस रास्तेपर चलनेसे हमें रोका है, बीसवीं सदीका मानव उस रास्तेसे रुका नहीं। इसका परिणाम आज सबके सामने है। आज प्रत्येक मानव ज्वालामुखीके मुखपर बैठा है। जब भी ज्वालामुखी फटेगा एक भी मानवका अस्तित्व

१-यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति। (तैत्ति० उप० ३। १)

नहीं रह जायगा। मनुजीने उपपातक-प्रकरणमें कहा है कि महायन्त्र-प्रवर्तन उपपातक है, इसलिये महायन्त्रका प्रवर्तन न होने दें—

'महायन्त्रप्रवर्तनम्' (११। ६३)

किंतु विश्वके मानवने मनुकी इस चेतावनीको अनसुनी कर दिया। धड़ाधड़ वह महायन्त्रका प्रवर्तन करता चला गया; परमाणु बम, हाइड्रोजन बम आदि बनाता चला गया। आज स्थिति यह आयी है कि कहीं इन अस्त्रोंसे द्वन्द्वयुद्ध हो गया तो विश्वमें एक भी मनुष्य जीवित नहीं रहेगा। महायन्त्रका आविष्कार मौतके मुखमें गिरानेवाला है, यह बात आज साफ दीख रही है?

मनुकी एक चेतावनीकी उपेक्षा कर हम जिस परिणामपर पहुँचे हैं, उसकी अब अनदेखी नहीं होनी चाहिये और प्रत्येक मानवका कर्तव्य है कि वह अब मनुके प्रत्येक निर्देशके आधारपर ही चले।

यहाँ मनुस्मृतिके उपदेशोंका अध्याय-क्रमसे संक्षेपमें निर्देश किया जा रहा है—

पहला अध्याय

ऋषियोंका धर्म-सम्बन्धी प्रश्न—एक समयकी बात है, स्वायम्भुव मनु एकाग्रचित्त होकर सुखपूर्वक बैठे हुए थे। उस समय कुछ महर्षिलोग उनके सम्मुख उपस्थित हुए। स्वायम्भुव मनुने उनका स्वागत किया और आसन आदि देकर सत्कार किया। तब महर्षियोंने भक्ति और श्रद्धासे अवनत होकर उनसे पूछा—भगवन्! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र —इन चार वर्णोंमेंसे जिसका जैसा धर्म है, उसे हम जानना चाहते हैं और इसी तरह संकीर्ण जातियोंके धर्मोंका भी आप प्रतिपादन करें। धर्म अपौरुषेय, अचिन्त्य और अतर्क्य, वेदसे एकमात्र वेद्य है और आप उस वेदके अग्निष्टोम आदि अनुष्ठेय यज्ञको एवं वेदके अन्तिम भागसे वेद्य ब्रह्मको अच्छी तरह जानते हैं। अतः उन सबका आप उपदेश करें। (१—३)

[महर्षियोंने वेदोक्त कर्मकाण्डके साथ-साथ ब्रह्मतत्त्वको भी जानना चाहा है। इन दोनोंमें ब्रह्मज्ञान तो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है और निष्कामकर्म उसकी प्राप्तिका साधन है। वेदसे प्रतिपादित कर्म और ज्ञान—इन दोनोंमेंसे अत्यन्त आवश्यक होनेके कारण स्वायम्भुव मनुने केवल ब्रह्मज्ञानका उपदेश श्रीमुखसे सुनाया। शेष कर्मकाण्डका भाग भृगुजीके द्वारा मनुजीने महर्षियोंको सुनवाया। जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहार जिससे होता है, उसे ब्रह्म कहा जाता है, यह वेदकी उक्ति है। इसलिये जगत्के प्रलय और सृष्टिसे स्वायम्भुव मनुने अपने कथनका प्रारम्भ किया।]

स्वायम्भुव मनुका उत्तर

(क) प्रलयके बाद सृष्टिका आरम्भ—महर्षियोंद्वारा इस तरह पूछे जानेपर अमित तेजस्वी मनुने उन लोगोंका सत्कार कर कहा कि आप लोग सुनें—प्रलयके समय यह जगत् प्रकृतिमें लीन हो गया था, अतः उसका ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और तर्कनासे परे था। उस समय स्थूल स्वप्न न रहनेके कारण शब्दज्ञानसे भी वह नहीं जाना जा सकता था। इस तरह यह जगत् सोये हुएके समान था। (४-५)

(ख) परमात्माके द्वारा भूतोंकी सृष्टि—प्रलयका अवसान होनेपर अपनी इच्छासे शरीर धारण करनेवाले अव्यक्त परमात्माने प्रकृतिको प्रेरित किया।[1] उनकी प्रेरणा पाकर प्रकृति महत्तत्त्वसे प्रारम्भ कर पञ्चमहाभूतोंके रूपमें परिणत होती चली गयी। इस तरह अव्यक्तावस्थामें पड़े आकाश आदिको व्यक्त करते हुए परमात्मा प्रकट हो गये। उस परमात्माने विविध प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करनेकी इच्छा की। 'जलकी सृष्टि हो जाय', ऐसा ध्यान कर सबसे पहले जलकी सृष्टि की।

(ग) ब्रह्माण्डकी सृष्टि—उस जलमें शक्ति-रूप बीजको छोड़ा। परमेश्वरकी इच्छासे वह बीज सोनेकी तरह चमकता हुआ अंडा (ब्रह्माण्ड) हो गया। उसमें समस्त लोकोंकी सृष्टि करनेवाले हिरण्यगर्भके रूपमें परमात्मा ही प्रकट हुए। जलको 'नारा' कहा जाता है, क्योंकि जल नररूप परमात्माकी संतान है, वह 'नारा' अर्थात् जल परमात्माका

१-'तमोनुदः प्रकृतिप्रेरकः।' (मन्वर्थमुक्तावली (१। ६) की टीका)

प्रथम निवास-स्थान है, इसलिये परमात्माको नारायण कहा जाता है। (६—१०)

वह परमात्मा सबका कारण है, बाहरी इन्द्रियोंसे अगोचर है, उत्पत्ति और विनाशसे रहित है। वेदान्तसे सिद्ध होनेके कारण सत्-स्वभाववाला है और प्रत्यक्षादि प्रमाणका अविषय होनेके कारण असत्-स्वभाववाला है। उस परमात्मासे उत्पन्न पुरुषको लोकमें ब्रह्मा कहा जाता है।

(घ) **ब्रह्माण्ड-रूप शरीरवाले ब्रह्माकी उत्पत्ति और उनके द्वारा भौतिक सृष्टिका उद्घाटन**—उस अण्डेमें ब्रह्मा एक वर्षतक रहे। उसके बाद उन्होंने अपने ध्यानके द्वारा अर्थात् यह ब्रह्माण्ड दो टुकड़ोंमें बँट जाय, इस इच्छामात्रसे उसके दो टुकड़े कर दिये। उस अण्डेके दो टुकड़ोंसे स्वर्ग तथा पृथ्वीका निर्माण किया। उन दोनोंके बीचमें आकाश, आठ दिशाओं और समुद्रकी सृष्टि की। ब्रह्माने परमात्मासे सत् और असत्-स्वरूप मनकी सृष्टि की। इस मनसे पहले अहं इस अभिमानसे युक्त और कार्य करनेमें समर्थ अहंकारको उत्पन्न किया तथा अहंकारसे भी पहले महत्तत्त्वकी, सत्, रज और तम—इन तीन गुणोंसे युक्त रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंकी, इनको ग्रहण करनेवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी, हस्त, चरण आदि पाँच कर्मेन्द्रियोंकी तथा पाँच तन्मात्राओंकी भी सृष्टि की। अहंकार और पाँच तन्मात्राओंके जो सूक्ष्म अवयव हैं, उन छहोंको उन्हींके विकारोंसे मिलाकर सभी प्राणियोंका निर्माण किया। [अविकारी ब्रह्म विकारी प्रकृतिके सम्पर्कसे ब्रह्माण्डरूप मूर्ति (शरीर)-को धारण करता है। इस मूर्तिके सम्पादक (कारण) छः अवयव होते हैं—अहंकार तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन छहों कारणोंमें अहंकारसे पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और मन—ये ग्यारह कार्य उत्पन्न होते हैं। पञ्च तन्मात्राओंसे आकाश आदि पाँच भूतोंकी उत्पत्ति होती है। इसी तथ्यको सूत्ररूपमें मनुजी महाराज कहते हैं।]

ब्रह्माण्ड ब्रह्मकी मूर्ति (शरीर) है, इस मूर्तिके अहंकार तथा शब्दादि पञ्च तन्मात्राएँ—ये छः सूक्ष्म अवयव अपने कार्यरूपसे पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मेन्द्रियों और मनको तथा पञ्च महाभूतोंको उत्पन्न करते हैं, इसलिये भगवान्‌की ब्रह्माण्डरूप मूर्तिको 'शरीर' शब्दसे कहा जाता है। इस तरह अविनाशी सबके स्रष्टा ब्रह्मसे अपने-अपने कर्मोंसे पञ्चमहाभूतोंके साथ मनकी सृष्टि हुई। इस तरह उस अविनाशी ब्रह्मसे सामर्थ्यशाली सात (महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध) कारणोंकी सूक्ष्म मूर्तिके अंशोंसे विनाशी जगत्‌की उत्पत्ति हुई। [इस तरह परम कारण जो ब्रह्म है, उसकी उपासना हमें करनी चाहिये।]

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत कहे जाते हैं। इनमें आकाशका गुण है—शब्द, वायुका स्पर्श, अग्निका रूप, जलका रस और पृथ्वीका गन्ध। ये पाँचों गुण पाँचों भूतोंके अपने-अपने विशेष गुण हैं, किंतु चार महाभूत अपने पहले-पहले महाभूतका भी गुण ग्रहण करते हैं। इस तरह जो भूत जितनी संख्याके पूरक हैं, उनमें उतने ही गुण प्राप्त होते हैं। जैसे आकाश पहला भूत है, इसलिये उसमें एक गुण 'शब्द' है, वायु दूसरा महाभूत है, इसलिये उसमें दो गुण 'शब्द' और 'स्पर्श' हैं। अग्नि तीसरा महाभूत है, इसलिये इसमें तीन गुण हैं—शब्द, स्पर्श और रूप। जल चौथा महाभूत है, इसलिये इसमें चार गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पृथिवी पाँचवाँ महाभूत है, इसलिये इसमें पाँच गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इस तरह जो तत्त्व जितनी संख्याका पूरक है, उसमें उतने गुण होते हैं। (११—२०)

वेदके आधारपर पूर्व सृष्टिकी तरह इस सृष्टिमें भी नाम, कर्म और व्यवस्था—हिरण्यगर्भ-रूपमें अवस्थित उस परमात्माने सृष्टिके आदिमें वेदके शब्दोंसे ही जानकर सबोंके नाम और उनके कर्म तथा लौकिक व्यवस्थाको पृथक्-पृथक् बनाया। उन्होंने इन्द्र आदि देवताओं, साध्यों और कर्मस्वभाव प्राणी एवं अप्राणी पत्थर आदिकी तथा सनातन यज्ञकी सृष्टि की। उन्होंने यज्ञोंकी सिद्धिके लिये अग्नि, वायु और सूर्य देवतासे क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको, जो इन देवताओंमें पहलेसे विद्यमान थे, अभिव्यक्त कर दिया। समय, उनके विभागों, नक्षत्रों, ग्रहों, नदियों, पर्वतोंकी सृष्टि की। प्राजापत्य आदि तप, वाणी, चित्तका परितोष, इच्छा और क्रोधकी भी सृष्टि की। प्रजाओंकी सृष्टिकी इच्छा होनेपर ब्रह्माने यज्ञ कर्तव्य है, ब्रह्महत्या अकर्तव्य है, इस तरह कर्मोंकी विवेचनाके लिये धर्म और अधर्मका पृथक्-पृथक् निर्देश

किया, फिर समस्त प्रजाओंको सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे संयुक्त कर दिया। पञ्चमहाभूतोंके कारण जो पञ्चतन्मात्राएँ कही गयी हैं, वे स्वयं विनाशी हैं। उन्हींके साथ क्रमसे सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे स्थूलतर सृष्टि उत्पन्न होती है। सृष्टिके आदिमें ब्रह्माने जिस जातिको जिस कर्ममें नियुक्त किया था वह जाति वही कर्म करने लगी। जैसे सिंहके लिये हिंसा, हिरनके लिये अहिंसा, ब्राह्मणके लिये मृदु, क्षत्रियके लिये क्रूर, ब्रह्मचारीके लिये गुरु-शुश्रूषा आदि धर्म और मैथुन आदि अधर्म, देवताओंके लिये ऋत (सत्य) और मनुष्योंके लिये असत्य आदि कर्मोंको प्रजापतिने जिसके लिये बनाया था, वे कर्म उन्हें अदृष्टवश प्राप्त होने लगे। जिस प्रकार परिवर्तन होनेपर छहों ऋतुएँ स्वयं ही अपने-अपने चिह्नोंको प्राप्त कर लेती हैं, वैसे प्राणी भी अपने-अपने हिंसा आदि उपर्युक्त कर्मोंको प्राप्त कर लेते हैं। (२१—३०)

चार वर्णोंकी सृष्टि—ब्रह्माजीने पृथ्वी आदि लोकोंकी वृद्धिके लिये अपने मुखसे ब्राह्मणकी, बाहुओंसे क्षत्रियकी, जंघाओंसे वैश्यकी और पैरोंसे शूद्रकी सृष्टि की।

मनु-शतरूपाकी सृष्टि—ब्रह्माजीने अपने शरीरके दो भाग किये। आधे भागसे पुरुष और आधे भागसे स्त्रीके रूपमें प्रकट हो गये और मैथुन-धर्मसे उस स्त्रीसे विराट् नामक पुरुषको उत्पन्न किया। उस विराट् पुरुषने तपस्या करके जिस व्यक्तिको उत्पन्न किया, वही व्यक्ति मैं स्वायम्भुव मनु हूँ। और मैंने ही संसारको रचा। प्रजाओंकी सृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर मैंने कठोर तपस्या की। उससे मैंने दस प्रजापतियोंकी रचना की। उनके नाम ये हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद। ये दस प्रजापति महान् तेजस्वी हैं। इन्होंने चौदह मन्वन्तरोंमेंसे सात मनुओंकी सृष्टि की और भिन्न-भिन्न देवों, उनके वासस्थानोंकी भी सृष्टि की। इस तरह यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, मेनका आदि अप्सराएँ, विरोचन आदि असुर, वासुकि आदि नाग, सर्प, गरुड आदि पक्षी, आज्यप आदि पितरोंकी भी सृष्टि की। बिजली, वज्र, मेघ, दण्डाकार बिजली, इन्द्रधनुष, उल्का, धूमकेतु और अनेक प्रकारके छोटे-बड़े तारों एवं ध्रुव, अगस्त्य, किन्नर, वानर, मछली, पक्षी, पशु, मृग, सिंह, ऊपर-नीचे दाँतवाले पशु, कृमि, छोटे कीड़े, टिड्डी, जूँ, मक्खी, सब प्रकारके दंश, मच्छर आदि जंगम तथा अनेक प्रकार स्थावरकी सृष्टि की। स्वायम्भुव मनु कहते हैं कि मेरे आदेशसे दस महाप्रजापतियोंने अपने तपोबलके द्वारा इस तरह इन स्थावर तथा जंगम प्राणियोंकी उनके कर्मके अनुसार सृष्टि की। (३१—४१)

चार प्रकारके प्राणी—प्राणियोंको चार श्रेणियोंमें बाँटा गया है—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। उनमें सिंह आदि पशु, मृग, दोनों तरफ दाँतवाले, राक्षस, पिशाच और मनुष्य—ये सब जरायुज जीव हैं। अर्थात् गर्भसे झिल्लीमें लिपटे हुए पैदा होते हैं। पक्षी, साँप, मगर, मछलियाँ, कछुए तथा इस प्रकारके जो थलचर और जलचर जीव हैं, वे सब अण्डज कहलाते हैं। अर्थात् ये गर्भसे अंडेके रूपमें पैदा होते हैं और फिर अंडेसे फूटते हैं। दंश, मच्छर, जूँ, मक्खी, खटमल और इस प्रकारके अन्य जीव जो उष्मासे पैदा होते हैं, ये सब स्वेदज कहलाते हैं। बीज तथा शाखाको तोड़कर मिट्टीमें गाड़ देनेसे लगनेवाले वृक्ष आदि स्थावर जीव उद्भिज्जकी श्रेणीमें आते हैं। इनमें ओषधि वे जीव कहलाते हैं, जिसके पौधे फलके पकनेपर नष्ट हो जाते हैं और जिनमें बहुत फूल-फल होते हैं, जैसे धान, जौ आदि फल पकनेके बाद नष्ट हो जाते हैं और उनमें फल-फूल भी खूब लगते हैं। वनस्पति वे कहलाते हैं, जो बिना फूलके ही फल दे देते हैं। फूल लगनेके बाद फल लगनेवालेको वृक्ष कहते हैं। जो जड़से ही लतासमूह हो जाते हैं, उसे गुच्छ कहते हैं—जैसे मल्लिका। जिसमें जड़ तो एक हो, किंतु वे अनेक बन जाते हों, उसे गुल्म कहते हैं, जैसे ईख आदि। जिनमें तन्तुएँ होती हैं, उन्हें प्रतान कहते हैं जैसे लौकी आदि। गुरुच आदिको वल्ली कहते हैं। ये सब बीजसे तथा डाल—दोनोंसे लगते हैं। ये वृक्ष पूर्व जन्मके कर्मोंके कारण अत्यधिक तमोगुणसे युक्त होते हैं, इसलिये अन्तश्चेतनावाले होते हैं। इन्हें भी सुख-दुःख होता है। (४२—४९)

सृष्टि आदिका वर्णन मोक्षोन्मुख होनेके लिये—स्वायम्भुव मनुजी कहते हैं, इस तरह मैंने ब्रह्मासे लेकर स्थावर

जगत्‌की उत्पत्ति बतायी। यह संसार जन्म और मरणसे बहुत ही भयानक दीखता है और यह निरन्तर विनाशशील है, इसकी सदा उत्पत्ति एवं प्रलय हुआ ही करता है। इसलिये इस संसारसे विरक्त होकर मोक्षकी ओर बढ़ना चाहिये। इस स्थावर और जङ्गमरूप जगत्‌की सृष्टि कर अचिन्त्य पराक्रमवाले ब्रह्माजीने अपनेहीमें अपनेको अन्तर्धान कर लिया, इस तरह प्रलयकालसे सृष्टिकालको विनष्ट करते हुए वे प्राणियोंके कर्मके अनुसार पुनः-पुनः सृष्टि और प्रलय करते रहते हैं। जब ब्रह्मा जागते हैं, तब सारा संसार चेष्टा किया करता है और जब वे सो जाते हैं, तब सारे संसारका प्रलय हो जाता है। ब्रह्माके सो जानेपर जीव जो अपने कर्मसे देह प्राप्त करते हैं, उससे वे निवृत्त हो जाते हैं और उनका मन भी वृत्तिरहित हो जाता है। प्रलयकालमें जब एक साथ सभी प्राणी परमात्मामें लीन हो जाते हैं, तब वे समष्टि आत्मारूप ब्रह्मा सुखपूर्वक सुषुप्ति-अवस्थामें चले जाते हैं। प्रलय हो जानेपर जीव अज्ञानका आश्रयण कर इन्द्रियोंके साथ बहुत दिनोंतक निश्चेष्ट पड़ा रहता है और कोई कर्म नहीं करता। इसके बाद वह अपने शरीरसे निकल जाता है। इस तरह यह जीव अणुमात्र होकर वृक्षादिके हेतु हो मनुष्यादि जंगमोंके कारणभूत बीजमें प्रवेश करता है, तब पुर्यष्टकसे युक्त होकर अपने कर्मके अनुरूप देहको प्राप्त करता है। इस तरह वह अविनाशी ब्रह्मा जाग्रत् तथा स्वप्न-अवस्थाओंसे इस चर और अचर जगत्‌को जिलाता है या नष्ट करता है। [इस तरह इस जगत्‌का सृष्टि, स्थिति और प्रलय जिससे होता है, वही ब्रह्म कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्योंको संसारमें न लगकर ईश्वरकी ओर ही अभिमुख होना चाहिये।]

एक लाख श्लोकवाले धर्मशास्त्रका संक्षिप्त रूप—ब्रह्माजीने एक लाख श्लोकवाले इस धर्मशास्त्रको बनाकर मुझे पढ़ाया और मैंने उसे संक्षिप्त कर मरीचि आदि महर्षियोंको पढ़ाया। अब भृगुमुनि आपलोगोंको समस्त मनुस्मृति सुनायेंगे, क्योंकि भृगुजीने मुझसे ही इसे प्राप्त किया है। (५०—५९)

स्वायम्भुव मनुका इस प्रकारका आदेश पाकर भृगु मुनिने उन महर्षियोंसे प्रसन्नतापूर्वक कहा कि आपलोग सुनें—स्वायम्भुव मनुके वंशमें उत्पन्न महान् तेजस्वी तथा महात्मा छः मनुओंने अपने-अपने कालमें अपनी-अपनी प्रजाओंकी सृष्टि की। उन मनुओंके नाम हैं—स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत। अमित-तेजस्वी स्वायम्भुव आदि सात मनुओंने अपने-अपने अधिकारकालमें चर और अचर जीवोंको उत्पन्न कर उनका पालन किया।

कालका परिमाण—भृगुजी आगे कालका परिमाण बता रहे हैं। १८ निमेषकी एक काष्ठा, ३० काष्ठाकी एक कला, ३० कलाका एक मुहूर्त और ३० मुहूर्तका एक अहोरात्र होता है। मनुष्यों तथा देवताओंके दिन और रातका विभाजन सूर्य करता है। जीवोंके सोनेके लिये रात और कर्म करनेके लिये दिन होता है। मनुष्योंका एक महीना पितरोंका एक अहोरात्र होता है। इस अहोरात्रमें दो पक्षोंका विभाग है। अर्थात् दो पक्षोंका एक मास होता है। कृष्णपक्षके १५ दिन पितरोंके दिन होते हैं तथा शुक्लपक्षके १५ दिन पितरोंकी रात होती है। मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंका एक अहोरात्र होता है। उसमें उत्तरायण देवोंका दिन होता है और दक्षिणायन देवोंकी रात्रि।

इस तरह मनुष्य, पितर और देवताओंके दिन-रातका परिमाण बताया गया। अब ब्रह्माके अहोरात्रका और चारों युगोंका परिमाण बताया जा रहा है। चार हजार दिव्य वर्षोंका सत्ययुग होता है, देवोंके चार सौ वर्ष उस सत्ययुगकी पूर्व संध्या और ४०० वर्षकी उत्तर संध्या होती है, जिसे संध्यांश कहते हैं। सत्ययुगके संध्या और संध्यांशसहित १००-१०० वर्ष प्रत्येकमें क्रमशः कम कर देनेसे त्रेता, द्वापर और कलिका काल-परिमाण होता है। अर्थात् त्रेतायुग तीन हजार वर्षोंका, तीन सौ वर्षोंकी संध्या और ३०० वर्षोंकी संध्यांश होता है। इसी तरह दो हजार वर्षका द्वापर, २०० वर्षोंकी संध्या और २०० वर्षोंका संध्यांश होता है। एक हजार वर्षका कलियुग, १०० वर्षकी संध्या और १०० वर्षका संध्यांश होता है। मनुष्योंके जो चारों युगका काल-परिमाण कहा गया है, वह काल देवताओंका एक युग होता है अर्थात् बारह सौ दिव्य वर्षोंका देवोंका एक युग होता है। देवोंके एक हजार युगका ब्रह्माका एक दिन और एक हजार युगकी ही ब्रह्माकी एक रात मानी जाती है। इस

तथ्यको जो जानते हैं, वे अहोरात्रके जानकार माने जाते हैं। ब्रह्मा अपने अहोरात्रके अन्तिम भागमें सोकर जागते हैं और जागकर सत्-असत्-स्वरूप महत्तत्त्वकी सृष्टि करते हैं। सृष्टिके उत्पादनकी इच्छासे प्रेरित मन तीनों लोकोंकी सृष्टि करता है। क्रमसे आकाश उत्पन्न होता है, जिसका गुण शब्द है। जब आकाश विकार-जननमें समर्थ होता है तो उससे गन्ध-गुणयुक्त पवित्र और बलवान् वायुकी उत्पत्ति होती है। वायु जब विकारको उत्पन्न करनेमें सक्षम होता है, तब उससे तेजस्वी अन्धकारके नाशक अग्निकी उत्पत्ति होती है। अग्निका गुण है रूप। जब अग्निमें विकार उत्पन्न करनेकी क्षमता हो जाती है, तब उससे जलकी उत्पत्ति होती है। जिसका गुण रस है और उस जलसे गन्ध-गुणयुक्त भूमिकी उत्पत्ति होती है। इस तरह प्रलयके बाद सृष्टिके आदिमें भूतोंकी सृष्टि होती है। बारह हजार दिव्य वर्षोंका देवताओंका एक युग होता है, उससे इकहत्तर गुना दिव्य वर्षोंका एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तर, सृष्टि और प्रलय—इनकी कोई संख्या नहीं है, यद्यपि चौदह मन्वन्तर पुराणोंमें गिनाये गये हैं, फिर भी सृष्टि और प्रलय ही अनन्त हैं, इसीलिये मन्वन्तर आदि भी अनन्त हैं। ब्रह्मा लीलाके लिये संसारकी सृष्टि किया करते हैं। (६०—८०)

युगानुरूप धर्म—सत्ययुगमें धर्म और सत्य चारों पादोंसे युक्त था। तब धन आदिकी प्राप्ति अधर्मके द्वारा नहीं होती थी। अन्य त्रेता आदि युगोंमें अधर्मके द्वारा धन, विद्याके अर्जनसे याग आदि धर्म प्रत्येक युगमें एक-एक पादसे हीन होता चला गया और जो धर्म धन और विद्यासे उपार्जित किया जाता है वह भी चोरी, असत्य और कपटके द्वारा एक-एक पाद कम होता जाता है। सत्ययुगमें मनुष्य नीरोग, सभी सिद्धियों तथा अर्थोंसे युक्त और चार सौ वर्ष जीते थे। शेष त्रेता आदि अन्य युगोंमें आयु क्रमसे १००-१०० वर्ष कम होती चली गयी। वेदोंमें कही गयी मनुष्योंकी आयु, कर्मोंके फल और प्रभाव युगोंके अनुरूप होते हैं, सत्ययुगमें धर्म दूसरे होते हैं और त्रेता, द्वापर तथा कलियुगमें दूसरे-दूसरे धर्म होते हैं। इस तरह युगके ह्रासके अनुरूप धर्मका ह्रास होता है। सत्ययुगमें तप, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें दानको परम धर्म माना गया है।[1] [यद्यपि तप, ज्ञान, यज्ञ आदि सभी युगोंमें अनुष्ठेय हैं, फिर भी सत्ययुगमें तपकी प्रधानता रहती है और त्रेतामें आत्मज्ञानकी, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें दानकी प्रधानता रहती है।] (८१—८६)

वर्णोंके अनुसार कर्मका निरूपण—महान् तेजस्वी ब्रह्माने समग्र सृष्टिकी रक्षाके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्मोंको पृथक्-पृथक् कर दिया। ब्राह्मणोंके कर्म हैं—पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। क्षत्रियोंके संक्षिप्त कर्म हैं—प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, रूप आदि विषयोंमें आसक्त न होना। वैश्योंके कर्म हैं—पशुओंकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना और खेती करना तथा शूद्रोंका प्रधान कर्म है—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णोंकी सेवा करना और उनकी निन्दा न करना, दान और सामान्य धर्म शूद्रके लिये भी विहित है। पुरुषके नाभिसे ऊपरका भाग पवित्र कहा गया है। उसमें भी अधिक पवित्र मुख है।

ब्राह्मणवर्णका महत्त्व—ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न होनेके कारण, ज्येष्ठ होनेके कारण और वेदके धारण करनेके कारण धर्मशास्त्रके अनुसार ब्राह्मण इस समस्त जगत्का स्वामी है। ब्रह्माने अपने मुखसे सर्वप्रथम ब्राह्मणको इसलिये उत्पन्न किया कि ये देवताओंके लिये हव्य और पितरोंके लिये कव्य पहुँचा सकेंगे तथा सम्पूर्ण सृष्टिकी रक्षा करेंगे। जिसके मुखसे देवतागण हव्यको और पितर लोग कव्यको खाते हैं, उस ब्राह्मणसे बढ़कर और कौन बड़ा हो सकता है! स्थावर और जंगमोंमें कीट आदि प्राणी श्रेष्ठ हैं, प्राणियोंमें बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं, बुद्धिमानोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणोंमें भी विद्वान्, विद्वानोंमें भी शास्त्रानुष्ठानमें रुचि रखनेवाले, उनमें भी शास्त्रोक्त कर्मके आचरण करनेवाले, उनमें भी ब्रह्मवेत्ता अधिक श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणका उत्पन्न होना ही धर्मका विग्रह माना जाता है; क्योंकि वह धर्मके लिये उत्पन्न हुआ है और

१-तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ (मनु० १। ८६)

धर्मानुगृहीत आत्मज्ञानसे मोक्षको प्राप्त करता है। ब्राह्मण उत्पन्न होते ही पृथ्वीपर श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि वह धर्मरूप कोषकी रक्षाके लिये समर्थ होता है। इस जगत्में जो कुछ है, वह ब्राह्मणके धनकी तरह है, क्योंकि वह ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न हुआ है और ज्येष्ठ है, इसलिये वह सभी धन ग्रहण करनेके योग्य है। ब्राह्मण जो दूसरेका अन्न खाता है, दूसरेका वस्त्र धारण करता है और दूसरेसे लेकर दूसरेको दान देता है, वह भी ब्राह्मणका स्वत्व-सा है। ब्राह्मणकी उदारतासे ही दूसरे लोग भोजनादि करते हैं। (८७—१०१)

मनुस्मृतिकी प्रशस्ति—बुद्धिमान् स्वायम्भुव मनुने ब्राह्मण तथा अन्य मानवोंके धर्मज्ञानके लिये इस मनुस्मृतिशास्त्रको बनाया है। विद्वान् ब्राह्मणोंको चाहिये कि इस धर्मशास्त्रको प्रयत्नपूर्वक पढ़ें और अपने शिष्योंको पढ़ायें, अन्य किसीके द्वारा यह शास्त्र नहीं पढ़ाया जाना चाहिये। इस मनुस्मृतिके अनुसार व्रतका अनुष्ठान करनेवाला जो ब्राह्मण इस शास्त्रको पढ़ता है, वह मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मोंके दोषसे लिप्त नहीं होता, इस शास्त्रको पढ़नेवाला ब्राह्मण पंक्तिको पवित्र कर देता है और अपने कुलके आगे-पीछे होनेवाली सात पीढ़ियोंको तार देता है। वह सम्पूर्ण पृथ्वीको ग्रहण करनेके योग्य हो जाता है। अभिप्रेत अर्थको देनेवाला यह धर्मशास्त्र बुद्धिको बढ़ानेवाला तथा यश, आयु और मोक्ष प्रदान करनेवाला है। इस मनुस्मृतिमें सम्पूर्ण धर्म बताये गये हैं। विहित और निषिद्ध कर्मोंके इष्ट और अनिष्ट फल तथा चारों वर्णोंके परम्परागत आचार बतलाये गये हैं। (१०२—१०७)

आचारकी महिमा—श्रुतियों और स्मृतियोंसे प्रतिपादित आचार ही श्रेष्ठ धर्म है। इसलिये आत्माका हित चाहनेवाले द्विजको चाहिये कि इस आचारमें सदा प्रयत्नशील रहे।[1] आचारसे च्युत ब्राह्मण वेदोक्त फलको नहीं प्राप्त कर सकता। जो आचारनिष्ठ है, वही इस फलको पा सकता है। आचारसे ही धर्मका लाभ हो सकता है, यह जानकर मुनियोंने तपस्याके मूल इस आचारको अपनाया है।

मनुस्मृतिकी अनुक्रमणिका—[इसके बाद भृगुजी मनुस्मृतिके अर्थोंको संक्षेपसे जाननेके लिये प्रत्येक अध्यायकी अनुक्रमणिका दे रहे हैं।] पहले अध्यायमें संसारकी उत्पत्ति, दूसरे अध्यायमें संस्कार-विधि, ब्रह्मचर्य-व्रतका आचरण, गुरुके अभिवादन और सेवाकी विधि प्रतिपादित है। तीसरे अध्यायमें गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेसे पहले स्नानरूप संस्कारका विधान, विवाहोंके भेद और उनके लक्षण, बलिवैश्वदेव तथा श्राद्धकी विधि बतायी गयी है। चौथे अध्यायमें जीविकाके उपाय, ऋत आदिके लक्षण, गृहस्थाश्रमवासियोंके नियम बताये गये हैं। पाँचवें अध्यायमें भक्ष्य-अभक्ष्य, मरणाशौचकी शुद्धि और द्रव्योंकी शुद्धिके प्रकार तथा स्त्रियोंके धर्म वर्णित हैं। छठे अध्यायमें वानप्रस्थधर्म, मोक्ष और संन्यास-धर्म बताये गये हैं। सातवें अध्यायमें राजाके सम्पूर्ण धर्म बताये गये हैं। आठवें अध्यायमें ऋण आदिका व्यवहार और गवाहोंसे जिरह करनेके विधान बताये गये हैं। नवें अध्यायमें पत्नी और पतिका संयुक्त रहनेपर क्या कर्तव्य होता है और पृथक् रहनेपर क्या कर्तव्य होता है, इसका विधान है, धनका बँटवारा, जुआरियों और चोरोंसे कैसे बचा जाय इसका उपाय बताया गया है। इसके साथ यह भी बताया गया है कि वैश्य और शूद्रोंके क्या कर्तव्य हैं। दसवें अध्यायमें वर्णसंकरोंकी उत्पत्ति और आपत्तिकालमें जीविकाका क्या साधन है, इनका निर्देश दिया गया है। ग्यारहवें अध्यायमें प्रायश्चित्तका विधान है। बारहवें अध्यायमें वर्णके अनुसार सांसारिक गति, आत्मज्ञानकी मोक्षदायकता एवं निषिद्ध कर्मोंके गुण-दोषका परीक्षण बताया गया है। देश-धर्म, जाति-धर्म और पाखंडियोंके आचरण आदिका भी निर्देश किया गया है। (१०८—११८)

१-आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च। तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥ (मनु० १। १०८)

दूसरा अध्याय

[पहले अध्यायमें जगत्‌के कारण ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है। अब ब्रह्मज्ञानके साधनभूत धर्मका प्रतिपादन किया जाता है। पहले धर्मका सामान्य लक्षण दिया जा रहा है—]

राग-द्वेषसे शून्य वेदविद् विद्वानोंद्वारा अनुष्ठित और हृदयसे अनुमत जो धर्म है, उसे आपलोग सुनें। [उपर्युक्त विशेषणोंसे जिसमें वेद प्रमाण हो और जो श्रेयका साधन हो, उसे धर्म कहा जाता है, यह अर्थ फलित होता है।]

कर्म-फलकी इच्छा न करे—कर्मके फलकी इच्छा करना प्रशंसनीय नहीं है; क्योंकि वह बन्धनका कारण है। निष्काम कर्मकी इच्छा करना निषिद्ध नहीं है। नित्य और नैमित्तिक कर्म आत्मज्ञानके सहकारी होनेके कारण मोक्षके कारण हैं, इसलिये इच्छामात्रका निषेध नहीं है; क्योंकि वेदका ज्ञान और वेदविहित कर्म इच्छासे ही होते हैं। इस कर्मसे मेरा अभिलषित फल मिलेगा, इस तरहका संकल्प होता है, इसके बाद उसमें इच्छा हो जाती है और तब उसके लिये लोग प्रयत्न करते हैं। इस तरह जितने व्रत आदि हैं, सब संकल्पसे ही किये जाते हैं। इच्छाके बिना कोई काम हो ही नहीं सकता। हम लोकमें भी देखते हैं कि कोई मनुष्य इच्छाके बिना कोई काम नहीं करता है। मनुष्य जो कुछ करता है, उसके मूलमें इच्छा ही रहती है अतः इच्छामात्रका निषेध नहीं है, निषेध है सकाम कर्मका। (१—४)

धर्ममें प्रमाण—धर्ममें चार प्रमाण हैं—(१) सम्पूर्ण वेद, (२) वेद जाननेवालोंकी स्मृति तथा शील, (३) वेदानुकूल महात्माओंका किया हुआ कर्म और (४) अपने मनकी प्रसन्नता।[१] मनुने ब्राह्मण आदि वर्णोंका जो कुछ धर्म बताया है, वह सब वेदमें प्रतिपादित है; क्योंकि मनु सर्वज्ञ हैं।[२] विद्वान् मनुष्यको चाहिये कि ज्ञानरूपी नेत्रोंसे प्रत्येक वस्तुका पर्यालोचन कर वेदके प्रामाण्यसे अनुष्ठेयधर्मका निश्चय कर उसका अनुष्ठान करे। वेद और धर्मशास्त्रसे विहित धर्मका अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य इस संसारमें यश पाता है और मरनेके बाद अत्युत्तम सुख पाता है।[३] [इसलिये वही काम करे जो शास्त्रसे विहित है।]

कोरे तर्ककी पङ्गुता—वेदको श्रुति और धर्मशास्त्रको स्मृति जानना चाहिये। श्रुति और स्मृतिपर तर्कका प्रयोग न करे। [क्योंकि तर्क प्रत्यक्ष और अनुमानतक जा सकता है और शास्त्र प्रत्यक्ष और अनुमानसे परेकी बात बताता है।] यदि कोई व्यक्ति तर्कशास्त्रके आधारपर श्रुति और स्मृतिकी अवहेलना करे तो उसे नास्तिक और वेदनिन्दक समझकर सज्जन लोग उसका बहिष्कार करते हैं।

धर्मके लक्षण—धर्मके चार प्रमाण हैं—(१) वेद, (२) वेदानुगत स्मृति, (३) वेदानुगत आचार और (४) वेदसे संस्कृत मनकी प्रसन्नता।[४] अर्थ और काममें जो आसक्त नहीं हुए हैं, उन्हींके लिये धर्मका उपदेश किया जाता है। जो लोग धर्म जानना चाहते हैं, उनके लिये सबसे प्रकृष्ट प्रमाण वेद हैं। (५—१३)

जिस कर्ममें दो श्रुतियोंका विरोध हो उसमें दोनों ही वचन प्रमाण हैं; क्योंकि मनु आदि मनीषियोंने उन दोनोंको प्रमाण माना है। जैसे एक श्रुति है कि सूर्यके उदय होनेपर यज्ञ करे, दूसरी श्रुति है सूर्यके उदयके पहले ही यज्ञ करे, तीसरी श्रुति है सूर्य और नक्षत्रसे वर्जित कालमें यज्ञ करना चाहिये। इस तरह इन श्रुतियोंमें परस्पर विरोध है। वेद सदा प्रमाण माना जाता है, अतः इन मतोंमें कोई भी अप्रामाणिक नहीं है। अपनी-अपनी शाखाके अनुसार इन कर्मोंको करना चाहिये। इस तरह विरोधका परिहार हो जाता है। गर्भाधान-संस्कारसे प्रारम्भ कर अन्त्येष्टि-संस्कार-पर्यन्त वेदमन्त्रोंके द्वारा जिनके कर्मोंका अनुष्ठान होता है, उन्हींका शास्त्रमें अधिकार जानना चाहिये, अन्यका नहीं। (१४—१६)

धर्मानुष्ठानके योग्य देश—[धर्मानुष्ठानके योग्य कौन-कौन देश हैं यहाँ बताया जा रहा है।] सरस्वती एवं दृषद्वती—इन दो देवनदियोंके बीचका जो देश है, उसे देव-

---

१-वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

२-यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

३-श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

४-वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (२। ६-७, ९, १२)

निर्मित 'ब्रह्मावर्त' कहते हैं। इस देशमें कुलपरम्परासे आता हुआ जो सवर्णों एवं असवर्णोंका आचार है, उसे ही 'सदाचार' कहते हैं। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल (पंजाब) और शूरसेन—ये 'ब्रह्मर्षि देश' कहे जाते हैं। ये ब्रह्मावर्तसे कुछ कम महत्त्व रखते हैं। इन्हीं देशोंमें उत्पन्न ब्राह्मणोंसे पृथ्वीपर सब मनुष्य अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा लें।[१] हिमाचल और विन्ध्याचलके बीचका तथा कुरुक्षेत्रके पूर्व एवं प्रयागके पश्चिमका भाग 'मध्यदेश' कहलाता है। बंगालकी खाड़ी तथा अरबका समुद्र एवं हिमालय और विन्ध्याचल पर्वतके मध्यका जो देश है उसे पण्डित लोग 'आर्यावर्त' कहते हैं। जिस देशमें काला मृग स्वभावतः विचरण करता है, उसे 'यज्ञीय देश' समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त 'म्लेच्छ देश' है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन देशोंमें निवास करें। शूद्र अपनी जीविका-सम्पादनके लिये कहीं भी निवास कर सकता है। (१७—२४)

वर्णधर्मका निरूपण—कुछ संस्कार—भृगुजी कहते हैं कि अबतक मैंने आपलोगोंसे धर्मका कारण तथा सम्पूर्ण संसारकी सृष्टि संक्षेपमें बतायी है। अब वर्णके धर्मोंको सुनिये। द्विजोंको गर्भाधान आदि सभी संस्कार वैदिक मन्त्रोंसे करना चाहिये; क्योंकि ये संस्कार इस लोकमें तथा मरनेके बाद परलोकमें पवित्र करनेवाले होते हैं। शरीर वीर्य एवं रजसे उत्पन्न होता है, इसलिये यह अपवित्र होता है। गर्भको शुद्ध करनेवाले हवन, चूड़ाकरण और यज्ञोपवीत-संस्कारोंसे वीर्य और रजसे होनेवाले दोष नष्ट हो जाते हैं। वेदाध्ययन, व्रत, हवन, त्रैविद्य नामक व्रत, देवर्षि-पितृ-तर्पण, पुत्रोत्पादन, पाँच महायज्ञों और ज्योतिष्टोम आदिसे यह शरीर ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनाया जाता है। **'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'**॥ (२। २८) जातकर्म-संस्कार नाभिके छेदनके पहले ही कर लेना चाहिये। इस संस्कारमें अपने गृह्यसूत्रोक्त मन्त्रोंके द्वारा स्वर्ण, मधु और घृतका प्राशन कराया जाता है। नामकरण-संस्कार जन्मसे ग्यारहवें (शंखस्मृतिका वचन) या बारहवें दिन करना चाहिये अथवा किसी पुण्य तिथि, मुहूर्त और नक्षत्रमें करना चाहिये। ब्राह्मणका उपनाम शर्मा शब्दसे, क्षत्रियका रक्षासूचक शब्दसे, वैश्यका पुष्टिसूचक शब्दसे और शूद्रका दास शब्दसे युक्त करना चाहिये। स्त्रियोंका नाम ऐसा होना चाहिये, जिसका सुखपूर्वक उच्चारण किया जा सके, उसका अर्थ सुस्पष्ट हो। किसी तरह क्रूरता व्यक्त न हो। नाम मनोहर, मङ्गलसूचक और अन्तमें दीर्घ स्वरवाला तथा आशीर्वादसूचक अर्थवाला होना चाहिये। बच्चोंका निष्क्रमण-संस्कार चौथे मासमें करना चाहिये और अन्नप्राशन-संस्कार छठे मासमें करना चाहिये। इन दोनों संस्कारोंमें कुलाचारका महत्त्व ज्यादा है। अर्थात् जैसे कुलका आचार हो वैसे ही इन दोनों संस्कारोंको करें। चूड़ाकरण-संस्कार सभी द्विज बालकोंके लिये पहले या तीसरे वर्षमें विहित है। यज्ञोपवीत-संस्कार ब्राह्मण बालकका गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रिय बालकका ग्यारहवें वर्षमें और वैश्य बालकका बारहवें वर्षमें करना चाहिये। यदि वेद और ज्ञानका आधिक्य प्राप्त करना हो तब ब्राह्मण बालकका गर्भसे पाँचवें वर्षमें, पराक्रम आदिकी प्राप्तिके लिये क्षत्रिय बालकका छठे वर्षमें, धनादिकी प्राप्तिके लिये वैश्य बालकका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये। सोलह वर्षतक ब्राह्मणके, बाईस वर्षतक क्षत्रियके और चौबीस वर्षतक वैश्यके उपनयन-कालका अतिक्रमण नहीं होता। इसके बाद समयानुसार यज्ञोपवीत-संस्कारसे रहित ये तीनों ही वर्ण सावित्रीसे पतित हो जाते हैं और शिष्टोंसे निन्दित 'व्रात्य' कहलाते हैं। ब्राह्मणको चाहिये कि वह इन अपवित्र व्रात्योंके साथ आपत्तिमें भी विद्याध्ययन अथवा विवाह आदि सम्बन्ध न करे। (२५—४०)

यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर तीनों वर्णोंके ब्रह्मचारी क्रमसे कृष्णमृग, रुरुमृग और बकरेके चमड़ोंका उत्तरीय तथा क्रमसे सन, क्षौम (रेशम) और भेड़के बालके बने कपड़ेको पहने। ब्राह्मण ब्रह्मचारी तिगुनी, बराबर और चिकनी मूँजकी बनी मेखला पहने, क्षत्रिय ब्रह्मचारी मूर्वा नामकी लतासे बनी मेखला पहने और वैश्य ब्रह्मचारी सनकी रस्सीसे बनी मेखला पहने। यदि मूँज आदि उपलब्ध न हो तो ब्राह्मणादि ब्रह्मचारी क्रमसे कुश, अश्मन्तक और बल्वज (तृण)-की बनी मेखला पहने। ब्राह्मणका यज्ञोपवीत कपासकी रूईसे बने सूतका, क्षत्रियका सनके बने सूतका और वैश्यका भेड़के बने सूतका ऊपरकी ओरसे ऐंठा हुआ तीन लड़ीका होना चाहिये। ब्राह्मण ब्रह्मचारी बेल या

१-एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (२।२०)

पलाशका, क्षत्रिय बड़ या कैथा और वैश्य पीलू या गूलरका दण्ड धारण करे। ब्राह्मणका दण्ड केशतक, क्षत्रियका ललाटतक और वैश्यका नाकतक लंबा होना चाहिये। ये सभी दण्ड सीधे, अक्षत, देखनेमें सुन्दर, उद्विग्न न करनेवाले, छिलकोंके सहित और बिना जले हुए होने चाहिये।

भिक्षाचर्याकी विधि—अपने अभिलषित दण्डको धारण कर सूर्योपस्थान एवं अग्निकी प्रदक्षिणा कर विधिपूर्वक भिक्षा माँगनी चाहिये। उपवीत ब्राह्मण ब्रह्मचारीको भिक्षा माँगते समय '**भवति**' शब्दका प्रयोग वाक्यसे पहले करना चाहिये, जैसे—'**भवति भिक्षां देहि**'। क्षत्रिय ब्रह्मचारीको '**भवति**' इस शब्दका वाक्यके बीचमें उच्चारण करना चाहिये, जैसे—'**भिक्षां भवति देहि**' और वैश्य ब्रह्मचारीको '**भवति**' शब्दका वाक्यके अन्तमें उच्चारण करना चाहिये, जैसे—'**भिक्षां देहि भवति**।' ब्रह्मचारी सबसे पहले भिक्षा माता, बहन, मौसी या जो अपमान न करे ऐसे व्यक्तिसे माँगनी चाहिये।

भोजनकी विधि—उस भिक्षाको बहुतोंसे इकट्ठा कर कपटरहित होकर गुरुको निवेदित कर देना चाहिये, फिर उनकी आज्ञा पाकर आचमन करके पूर्व दिशाकी ओर मुख कर भोजन करना चाहिये। [कामनाके अनुसार भोजन करते समय दिशाका परिवर्तन किया जा सकता है।] आयुके लिये पूर्वकी ओर, यशके लिये दक्षिणकी ओर, धनके लिये पश्चिमकी ओर और सत्यके लिये उत्तरकी ओर मुख करके भोजन करना चाहिये। द्विज सावधान होकर आचमन करके भोजनका प्रारम्भ करे। भोजनके बाद भी आचमन करे और शास्त्रके अनुसार जलसे दोनों नाकके छिद्रों, दोनों कानों, दोनों आँखोंका स्पर्श करे। (४१—५३)

भोजनका यह समझकर सत्कार करे कि यह प्राणप्रद है और बिना निन्दा किये हुए उसे खाये। अन्नको देखकर प्रसन्न होवे और यह अन्न मुझे सर्वदा प्राप्त हो इस प्रकार उसका सदा अभिनन्दन करे। इस प्रकार पूजित अन्न सामर्थ्य और वीर्यको बढ़ाता है तथा अपूजित होनेपर वह अन्न सामर्थ्य और वीर्यका नाश कर देता है।[1] किसीको जूठा अन्न न दे और न स्वयं खाये। प्रातः और सायं भोजन करे। बीचमें भोजन न करे। ठूँस-ठूँसकर न खाय और आचमन एवं कुल्ला किये बिना कहीं न जाय। ठूँस-ठूँसकर भोजन करना अत्यन्त अहितकर है। यह आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यके लिये हितकर नहीं होता, इससे लोकनिन्दा भी प्राप्त होती है, इसलिये अतिभोजनको छोड़ देना चाहिये। (५४—५७)

ब्राह्मण ब्राह्मतीर्थ, प्रजापतितीर्थ अथवा दैवतीर्थसे आचमन करे। पितृतीर्थसे आचमन कभी न करे। हाथके अँगूठेकी जड़के पास ब्राह्मतीर्थ, कनिष्ठा अँगुलीके मूलके पास प्रजापतितीर्थ और अंगुलियोंके आगे दैवतीर्थ तथा अंगुष्ठ और तर्जनीके बीच पितृतीर्थ होता है। (५८-५९)

आचमनका अनुष्ठान-क्रम—[अबतक आचमनका सामान्यतया निर्देश किया गया है, अब उसके विशेष प्रकार बतला रहे हैं।] पहले तीन बार आचमन करे, फिर दो बार अँगूठेके मूल भागसे मुखको पोंछे, उसके बाद नाक, नेत्र और कानके दोनों छिद्रोंका, हृदयका और सिरका जलसे स्पर्श करे। पवित्रता चाहनेवाला धर्मज्ञ व्यक्ति फेनरहित, ठंडे जलसे ब्राह्म आदि विहित तीर्थोंसे एकान्तमें पूर्व या उत्तर मुँह बैठकर आचमन करे। आचमनका जल इतना होना चाहिये कि वह ब्राह्मणके हृदयतक, क्षत्रियके कण्ठतक और वैश्यके मुखतक पहुँचे। शूद्र इतना जल ले कि उससे ओठका स्पर्श हो जाय।

उपवीती, प्राचीनावीती तथा निवीतीके लक्षण—[उपवीत होकर ही आचमन करना चाहिये, यह नियम है, इसलिये उपवीतीका लक्षण और प्रसंगवश प्राचीनावीती और निवीतीका लक्षण कहते हैं—] जब बायें कंधेके ऊपर स्थित यज्ञोपवीत और वस्त्रको रखा जाय तो उस द्विजको उपवीती (सव्य) कहा जाता है और दाहिने कंधेपर यज्ञोपवीतको रखनेपर प्राचीनावीती (अपसव्य) कहते हैं। मालाकी तरह कण्ठमें लटके हुए यज्ञोपवीत पहननेपर निवीती कहा जाता है। (६०—६३)

मेखला, चर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलु यदि छिन्न-भिन्न हो जाय तो इन्हें जलमें छोड़कर अपने-अपने गृह्यसूत्रोक्त मन्त्रोंके द्वारा दूसरा ग्रहण करना चाहिये।

१-पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्। दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति। अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥ (२। ५४-५५)

केशान्त-संस्कार ब्राह्मणका गर्भसे १६ वें वर्षमें, क्षत्रियका २२ वें वर्षमें और वैश्यका २४ वें वर्षमें करना चाहिये। (६४-६५)

स्त्रियोंके संस्कार—स्त्रियोंके जातकर्म आदि सभी संस्कार शरीरकी शुद्धिके लिये यथोक्त समय और क्रमसे विना मन्त्रके ही करने चाहिये। [इस कथनसे स्त्रियोंके लिये उपनयन-संस्कार भी प्राप्त हो जाता है, अतः मनुजीने विशेष बातें बतायी हैं] स्त्रियोंका विवाह-संस्कार ही उपनयन-संस्कार मानना चाहिये। पतिसेवा ही उनका गुरुकुलका निवास है और घरके कार्य ही उनका अग्निहोत्रका कार्य है। (६६-६७)

यज्ञोपवीत हो जानेके बादके कर्म—अबतक द्विजोंके द्वितीय जन्मके व्यञ्जक, उपनयन-सम्बन्धी पुण्यवर्धक संस्कार कहे। अब उन उपनीतोंका कर्म बताया जा रहा है। गुरु शिष्यका उपनयन-संस्कार करके सबसे पहले पवित्रता, आचार, संध्योपासनका कर्म सिखाये। जो शिष्य अध्ययन करना चाहता है, उसे शास्त्र-विधिसे आचमन करना चाहिये। ब्रह्माञ्जलि बाँध लेनी चाहिये और हलका वस्त्र पहनना चाहिये। उसके लिये इन्द्रियोंको संयत रखना भी आवश्यक है। इस तरहके शिष्य ही पढ़ानेके योग्य होते हैं। ब्रह्माञ्जलिका लक्षण यह है कि वेद पढ़नेके पहले और बादमें गुरुके दोनों चरणोंका स्पर्श करना चाहिये और हाथ जोड़कर ही पढ़ना चाहिये। गुरुके चरण छूकर प्रणाम करनेका विधान यह है कि बायें हाथसे बायाँ पैर और दाहिने हाथसे दाहिना पैर छूना चाहिये। इसीको व्यत्यस्तपाणि कहते हैं।[1] गुरुको आलस्यहीन होकर पढ़ाना चाहिये। अध्यापन आरम्भ करनेके पहले '**अधीष्व भोः**' कहना चाहिये तथा पढ़ानेके बाद '**विरामोऽस्तु**' ऐसा कहकर विराम करना चाहिये। शिष्यको चाहिये कि वेदके आरम्भमें और अन्तमें 'ॐ' शब्दका उच्चारण करे। यदि पहले 'ॐ' शब्दका उच्चारण नहीं किया जाता तो अध्ययन नष्ट हो जाता है। यदि अन्तमें 'ॐ' शब्दका उच्चारण नहीं किया जाता है तो वह ठहरता ही नहीं। 'ॐ'कारके उच्चारण करनेका नियम यह है कि शिष्य पूर्वकी ओर मुख करके कुशासनपर बैठकर दोनों हाथोंमें पवित्री पहन ले और तीन प्राणायाम करे। उसके बाद 'ॐ' शब्दका उच्चारण करे। प्रजापतिने ऋग्वेदसे 'अ', यजुर्वेदसे 'उ' और सामवेदसे 'म' ॐकारके इन तीनों अक्षरोंको निकाला है। इसी तरह क्रमसे 'भूः', 'भुवः' और 'स्वः'—इन तीन महाव्याहृतियोंको निकाला है। ब्रह्माने उपर्युक्त तीनों वेदोंसे क्रमशः गायत्रीके तीन पादोंको भी निकाला है।

गायत्री-जपका महत्त्व—संध्याकालमें 'ॐ' और तीनों महाव्याहृतियोंके साथ गायत्री-मन्त्रका जप करता हुआ द्विज वेद पढ़नेके पुण्यको प्राप्त करता है। प्रणव (ॐ) व्याहृति (भूः, भुवः, स्वः) और सावित्री (**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य०**) इस मन्त्रको घरसे बाहर प्रतिदिन एक हजार बार एक मासतक जप करनेवाला द्विज महान् पापसे उसी तरह छूट जाता है, जैसे केंचुलसे सर्प छूट जाता है। जो द्विज प्रणव-व्याहृतिसहित गायत्रीका जप नहीं करता और समयपर होनेवाली अग्निहोत्र आदि क्रियाओंको नहीं करता, वह निन्दनीय होता है। 'ॐ'कारपूर्वक तीनों महाव्याहृतियाँ अनश्वर हैं और त्रिपदा गायत्री वेदोंका मुख भाग है अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिका द्वार है। जो द्विज प्रतिदिन आलस्यरहित होकर तीन वर्षतक 'ॐ'कार और महाव्याहृतिसहित गायत्रीका जप करता है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। 'ॐ'कार ही ब्रह्मस्वरूप है, तीन प्राणायाम श्रेष्ठ तपस्या है, गायत्रीसे श्रेष्ठ दूसरा कोई मन्त्र नहीं है और मौनसे बढ़कर सत्य बोलना श्रेष्ठ है। वैदिक यज्ञ आदि क्रियाएँ नश्वर हैं। केवल 'ॐ' ही ब्रह्मस्वरूप है। [भाव यह है कि यज्ञ आदि क्रियाएँ फल देकर नष्ट हो जाती है। 'ॐ'कारका जप नाम और नामीमें अभेद होनेके कारण अनश्वर है] अमावास्या और पूर्णिमाको किये जानेवाले दर्श और पौर्णमास यज्ञोंके साथ जो वैश्वदेव आदि चार पाक होते हैं, ये जप-यज्ञके सोलहवें भागके भी बराबर नहीं हैं। ब्राह्मण जपसे ही सिद्धिको प्राप्त करता है। इसमें कोई संदेह नहीं है। अन्य वैदिक याग आदि करे या न करे, जापक केवल जपमात्रसे ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है और वह सभी प्राणियोंके लिये मित्रके समान हितैषी हो जाता है। (६८—८७)

१-व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः। सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः।। (२। ७२)

इन्द्रिय-संयम—[इन्द्रियोंका संयम सभी वर्णोंके लिये अनुष्ठेय है और चारों पुरुषार्थोंके लिये भी उपयुक्त है। इसलिये स्मृतिकार इन्द्रिय-संयमके सम्बन्धमें लिख रहे हैं।] विद्वान् मनुष्य रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंमें आसक्त होनेवाली इन्द्रियोंके संयम करनेका उसी तरह प्रयास करे जैसे सारथी इधर-उधर भागनेवाले घोड़ोंको नियन्त्रित करता है। मनुने जिन ग्यारह इन्द्रियोंको बताया है, उनका नाम क्रमसे कह रहा हूँ—कान, त्वचा, आँख, जीभ, नाक, गुदा, लिंग, हाथ-पैर और वाणी। इनमें पहली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पिछली पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ग्यारहवीं इन्द्रियका नाम मन है। यह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी। इसलिये इसको उभय-इन्द्रिय कहा जाता है। यदि मनको जीत लिया जाय तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँचों कर्मेन्द्रियाँ स्वयं वशमें हो जाती हैं।[1] रूप, रस आदि विषयोंमें यदि इन्द्रियाँ आसक्त हो जायँ तो मनुष्य दृष्ट और अदृष्ट-दोषसे ग्रस्त हो जाता है और यदि इन इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है तो सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। रूप, रस आदि विषयोंके उपभोगसे इच्छा कभी शान्त नहीं होती, किंतु जैसे अग्निमें घी डालनेसे अग्नि और बढ़ती है, वैसे विषयके सेवनसे वह इच्छा और बढ़ती ही रहती है।[2] कोई ऐसा मनुष्य है जो सब विषयोंको प्राप्त कर लेता है और दूसरा ऐसा मनुष्य है, जिसने सब विषयोंका त्याग कर दिया है—इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें सब विषयोंको प्राप्त करनेवाले मनुष्यकी अपेक्षा विषयोंका त्याग करनेवाला मनुष्य प्रशस्त है। इन्द्रिय-संयमका उपाय यह है कि विषयोंके क्षयित्व आदि दोषके ज्ञानसे उससे विरक्त हो जाय। इस तरह विषयोंके दोषोंके ज्ञानसे इन्द्रियोंका जैसा संयम हो सकता है वैसा शुष्क वैराग्यसे नहीं। [इन्द्रियोंका नियन्त्रण इसलिये आवश्यक है कि] इसके बिना वेदाध्ययन, दान-यज्ञ, नियम और तप कभी फलदायक नहीं होता। मनुष्य अपनेको जितेन्द्रिय तब समझे, जब स्तुति-वाक्य सुनकर प्रसन्नता न हो और निन्दा-वाक्य सुनकर दुःख न हो। इसी तरह सुखस्पर्श और दुःखस्पर्शको छूकर, सुरूप या कुरूपको देखकर, स्वाद अथवा स्वादहीन वस्तुको खाकर, सुगन्धि या दुर्गन्धिको सूँघकर, जब उसमें हर्ष या विषाद न हो, तब समझना चाहिये कि वह जितेन्द्रिय है। [एक इन्द्रियको भी असंयत न रहने दे] क्योंकि सब इन्द्रियोंमें यदि एक इन्द्रिय भी विषयोन्मुख हो जाता है, तब मनुष्यकी बुद्धि वैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे चमड़ेके बर्तनमें एक भी छेद होनेसे सब पानी बह जाता है। इन्द्रियसंयम चारों पुरुषार्थोंका कारण है। इसलिये इन्द्रियोंको एवं मनको वशमें करके शरीरको बिना कष्ट देते हुए मनुष्य चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध कर ले। (८८—१००)

संध्याकी प्रक्रिया—[संध्योपासनकी प्रक्रिया बताते हुए भृगुजी कहते हैं—] प्रातः संध्योपासनके बाद आसनसे उठकर जबतक सूर्योदय न हो तबतक गायत्रीका जप किया करे। इसी तरह सायंकालका संध्योपासन ताराओंके निकलनेतक बैठकर करे। प्रातः-संध्यामें खड़े होकर जप करनेवाला मनुष्य रात्रिमें किये गये पापोंको नष्ट कर देता है और सायंकालकी संध्यामें बैठकर जप करनेवाला मनुष्य दिनमें किये पापोंको नष्ट कर देता है। इन्द्रियोंको संयत कर नित्यकर्म करनेवाला व्यक्ति एकान्त-स्थानमें जाकर जलके समीप गायत्रीका जप करे। [यदि समस्त वेदका अध्ययन न कर सके तो गायत्री-] जप करनेसे ही वेदाध्ययनका फल मिल जाता है। वेदाङ्गोंमें, ब्रह्मयज्ञमें और हवन-मन्त्रोंमें अनध्याय-प्रयुक्त दोष नहीं होता; क्योंकि नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं होता। गायत्री-जपको ब्रह्मयज्ञ कहा गया है। ब्रह्मरूपी अग्निमें किया गया हवन अनध्यायका वषट्कार भी पुण्यरूप होता है। जो व्यक्ति एक वर्षतक विधिपूर्वक संयमसे रहकर पवित्र हो वेदाध्ययन करता है, उसे यह अध्ययन दूध, दही, घी, मधु देता है। (१०१—१०७)

अध्यापनके योग्य शिष्य—यज्ञोपवीत संस्कार हो जानेपर समावर्तनके पहलेतक शिष्यको चाहिये कि प्रातः और सायं अग्निमें हवन करे। भिक्षावृत्ति, पृथ्वीपर शयन और गुरुकी सेवा करे। जो आचार्यका पुत्र हो, सेवामें लगा रहता हो, जिससे दूसरा ज्ञान प्राप्त होता हो, धर्मात्मा हो, पवित्र हो, यथार्थवक्ता हो, जिसमें धारणाशक्ति हो, धन देनेवाला हो, शुभ चाहनेवाला हो और जो अपना हो—ऐसे दस शिष्य

१-एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ॥ (२। ९२)

२-न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ (२। ९४)

धर्मके अनुसार पढ़ाने योग्य माने जाते हैं। गुरुको चाहिये कि बिना पूछे और भक्ति-श्रद्धासे हीन होकर पूछनेवालोंको न बताये। ऐसी स्थितिमें जानता हुआ भी विद्वान् गूँगेकी तरह चुप्पी लगा ले; क्योंकि अधर्मसे पूछनेपर भी जो व्यक्ति कहता है और जो अधर्मसे पूछता है—इन दोनोंमेंसे कोई एक मर जाता है, अथवा उसके साथ द्वेष कर लेता है। जिस शिष्यको पढ़ानेपर पढ़ानेवालेको न धर्म मिले न धन मिले और सेवा भी प्राप्त न हो, ऐसे शिष्यको न पढ़ाये। उसका पढ़ाना वैसे ही व्यर्थ हो जाता है, जैसे ऊसरमें उत्तम बीजका बोना। वेदाध्यापकको अपनी विद्याके साथ मर जाना अच्छा है, किंतु अध्यापनके अयोग्य शिष्यको पढ़ाना अच्छा नहीं; क्योंकि वह ऊसरकी तरह है। विद्या ब्राह्मणके पास आकर कहती है कि मैं तुम्हारा खजाना हूँ, मेरी रक्षा करो, निन्दा करनेवालेको मुझे मत दो, तभी मैं बलवान् रहूँगी। जिस शिष्यको तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी जानते हो, उसी शिष्यको मुझे प्रदान करो; क्योंकि वह विद्यारूपी कोशकी रक्षा करनेवाला है और प्रमादरहित है।[1] कोई वेद पाठ कर रहा हो या किसी दूसरे शिष्यको पढ़ा रहा हो, उससे बिना पूछे यदि [ग्रहण] कर लेता है तो वह वेदका चोर माना जाता है और नरकमें जाता है। इसलिये ऐसा न करे। जिस अध्यापकसे लौकिक, वैदिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करे, उसे बहुत माननीयोंके बीचमें सबसे पहले प्रणाम करे।[2] कोई व्यक्ति तीनों वेदोंका पारगामी विद्वान् हो, किंतु निषिद्ध आहार-विहार रखता हो और निषिद्ध वस्तुको बेचता हो, वह ब्राह्मण मान्य नहीं है। उसकी अपेक्षा शास्त्रके अनुसार आचरण करनेवाला, गायत्री-मन्त्र जप करनेवाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है। गुरुजनोंकी शय्या और आसनपर न बैठे, यदि स्वयं बैठा हो और गुरुजन आ जायँ तो स्वयं उठकर उन्हें प्रणाम करे। वृद्ध जनोंके आनेपर छोटी अवस्थावाले लोगोंके प्राण ऊपर उठने लगते हैं। उस स्थितिमें उठने और अभिवादन करनेसे वे फिर अपने स्थानपर आ जाते हैं। जो उठकर गुरुजनका अभिवादन करता है और वृद्धोंकी सेवा-शुश्रूषा करता है, उसकी चार चीजें बढ़ जाती हैं—आयु, विद्या, यश और बल।[3] (१०८—१२१)

अभिवादनके नियम—[अब अभिवादनका क्रम बताया जाता है—] वृद्धजनोंके अभिवादन करनेके समय 'मैं अमुक नामवाला हूँ' (**अभिवादयेऽमुकनामाहं भोः!**) इस तरह कहे। जो व्यक्ति इस अभिवादन-विधिको नहीं जानते, उनको तथा सभी स्त्रियोंको 'मैं नमस्कार करता हूँ' —ऐसा कहकर अभिवादन करे। अभिवादन करते समय जो अपने नामका प्रयोग किया गया है, उसके अन्तमें '**भोः**' शब्द कहे, जैसे—'**अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः।**' अभिवादन करनेपर गुरुजन 'सौम्य! तुम आयुष्मान् होओ' (**आयुष्मान् भव सौम्य**) ऐसा कहकर आशीर्वाद दें। अभिवादन करनेवालेके नामके अन्तिम स्वरको प्लुत करना चाहिये। जैसे '**आयुष्मान् भव सौम्य** देवदत्त३'। जो गुरुजन अभिवादनके अनुरूप प्रत्यभिवादन करना नहीं जानते तो उनको पूर्वोक्त विधिसे अभिवादन न करे; क्योंकि जैसे शूद्र प्रत्यभिवादन करना नहीं जानता, वैसे वह व्यक्ति भी नहीं जानता। ब्राह्मणसे मिलनेपर कुशल, क्षत्रियसे अनामय अर्थात् 'नीरोग तो हो', वैश्यसे क्षेम तथा शूद्रसे आरोग्य पूछे [स्वस्थ तो हो]। यज्ञमें दीक्षा ले लेनेपर अपनेसे छोटेके लिये भी '**भोः**' या '**भवत्**' शब्दका प्रयोग करे। उसे नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिये। जिस स्त्रीसे अपने रक्तका सम्बन्ध न हो, उसे '**भवति**'! '**भगिनि**'! या '**सुभगे**'!-आदि शब्दसे सम्बोधित करे [कन्या आदिको 'आयुष्मती' पदसे सम्बोधित करे]। यदि मामा, चाचा, ससुर, ऋत्विक् और गुरुजन—ये उम्रमें छोटे हों तो उठकर 'मैं देवदत्त हूँ' ऐसा बोले। मौसी, मामी, सास, बुआ—इन लोगोंका गुरुपत्नीके समान अभिवादन आदिसे सम्मान करना चाहिये; क्योंकि ये सभी गुरुजनकी स्त्रीके समान हैं। भाभीका अभिवादन प्रतिदिन पैर छूकर करना चाहिये। अन्य [चाची आदि और मामी आदि] स्त्रियोंका परदेशसे आनेके बाद पैर छूकर प्रणाम करना चाहिये। मौसी, बुआ और बड़ी बहनके साथ माताके समान व्यवहार करना चाहिये; परंतु इन सबोंमें माता ही सबसे

१-विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्। असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम्। तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने॥ (२। ११४-११५)

२-लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च। आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥

३-अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ (२। ११७, १२१)

श्रेष्ठ है।

प्रतिष्ठाके पाँच कारण—धन तथा चाचा आदि बन्धु, अधिक उम्र होना, श्रुति और स्मृतियोंसे विहित-कर्म और विद्या—ये पाँच मान्यता या प्रतिष्ठाके स्थान हैं। इन पाँचोंमें पूर्वकी अपेक्षा अगला कर्म अधिक श्रेष्ठ है।[१] तीनों वर्णोंमें पाँचों गुणोंमेंसे बहुतसे गुण जिसमें हों, वह सम्मानके योग्य है और नब्बे वर्षसे अधिक आयुवाला शूद्र भी माननीय है। [प्रसंगसे सम्मानका दूसरा प्रकार भी बताया जा रहा है।] सवारीमें बैठे हुएको, नब्बे वर्षसे अधिक आयुवालेको, रोगीको, बोझ ढोनेवालेको, स्त्रीको, स्नातकको (जिसका समावर्तन-संस्कार हो चुका हो उसे), राजाको और दूल्हेको जानेके लिये मार्ग दे देना चाहिये। उपर्युक्त रथी आदि पुरुषोंमें स्नातक तथा राजा अधिक मान्य हैं और स्नातक तथा राजामें भी स्नातक अधिक मान्य है, अत: राजाको स्नातकके लिये मार्ग छोड़ देना चाहिये। (१२२—१३९)

आचार्य, उपाध्याय तथा गुरुके लक्षण—जो ब्राह्मण शिष्यको यज्ञोपवीत पहनाकर कल्प तथा उपनिषद्के साथ वेद पढ़ाये, वह आचार्य कहलाता है और जो ब्राह्मण जीविकाके लिये वेदका एक भाग (मन्त्र या ब्राह्मण) तथा वेदाङ्गोंको पढ़ाये, वह उपाध्याय कहलाता है। (१४०-१४१)

पिताका दूसरा नाम गुरु है। गुरुके लक्षणमें बताया गया है कि जो शास्त्रविधिके अनुसार किसीके गर्भाधान आदि संस्कारोंको करता है और अन्न आदिके द्वारा पोषण करता है, उसे गुरु कहते हैं और जो ब्राह्मण संकल्प वरण कराकर अग्न्याधान (अष्टकादि पाक) और अग्निष्टोम यज्ञोंको करता है, उसे ऋत्विक् कहते हैं। (१४२-१४३)

जो अध्यापक वेद पढ़ाकर कानोंको निर्दोष बनाता है उस अध्यापकको माता-पिता समझना चाहिये, उससे कभी द्रोह न करे। दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्योंकी अपेक्षा पिता, हजारों पिताओंकी अपेक्षा माता गौरवमें अधिक है।[२]

विद्यादाता गुरुकी महिमा—जन्म देनेवाले पिता और वेद प्रदान करनेवाले आचार्य—इन दोनोंमें वेद पढ़ानेवाला आचार्य श्रेष्ठ है, क्योंकि यज्ञोपवीत-संस्कार देकर और वेद पढ़ाकर आचार्य शिष्यको दूसरा जन्म देता है जो लोक और परलोकमें श्रेयस्कर है। जो माता-पिता पुत्रको कामके वशीभूत होकर उत्पन्न करते हैं, यह काम तो पशु आदि भी करते हैं, क्योंकि पशुकी तरह बच्चा भी माताकी कोखमें अपने अवयवका विकास प्राप्त करता है, इसलिये वेद प्रदान करनेवाला आचार्य माता-पितासे बड़ा माना जाता है, क्योंकि यज्ञोपवीत-संस्कार करके वह जिस जन्मको देता है, वह जन्म सत्य एवं अजर-अमर है और इसीसे उसका अभ्युदय होता है। जो ब्राह्मण थोड़ा या अधिक वेद पढ़ाता है, उसे भी गुरु ही समझना चाहिये। (१४४—१४९)

यदि कोई वृद्ध किसी छोटे ब्राह्मण बालकसे यज्ञोपवीत-संस्कार कराकर वेद पढ़ता है तो वह बालक भी वृद्धका पिता होता है। अंगिरा ऋषिका पुत्र बचपनमें ही वेदका पारदर्शी विद्वान् बन गया। उसने अवस्थामें बड़े चाचा आदि सम्बन्धियोंको भी 'पुत्र' कहकर पुकारा, इसपर उसके चाचा आदि क्रुद्ध हो गये और उन्होंने देवताओंसे 'पुत्र' शब्दका अर्थ पूछा। देवताओंने सर्वसम्मतिसे निर्णय दिया कि आंगिरसने जो तुम्हें पुत्र कहा है वह ठीक ही कहा है; क्योंकि वृद्ध भी यदि अज्ञानी है तो वह बालक ही होता है और बालक यदि वेदज्ञ है तो वह पिता होता है। यही बात प्राचीन मुनियोंने निर्णीत की है। अधिक उम्र हो जानेसे, बालोंके पक जानेसे, चाचा आदि होनेसे कोई बड़ा नहीं माना जाता, किंतु साङ्गोपाङ्ग वेदका पढ़नेवाला बड़ा माना जाता है। (१५०—१५४)

ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता विद्यासे मानी जाती है, क्षत्रियोंकी पराक्रमसे, वैश्योंकी धनसे और शूद्रोंकी श्रेष्ठता आयुसे मानी जाती है। बालके पक जानेसे कोई बड़ा-बूढ़ा नहीं माना जाता, किंतु युवा भी यदि विद्वान् हो तो उसको बूढ़ा माना जाता है। लकड़ीका बना हाथी, चामका बना मृग और मूर्ख ब्राह्मण—ये तीनों केवल नाम धारण करते हैं। जैसे स्त्रियोंमें नपुंसक निष्फल है, गौओंके बीचमें दूसरी गाय जैसे निष्फल है और अज्ञानीको दान देना जैसे निष्फल है, वैसे वेद न जाननेवाला ब्राह्मण निष्फल है। (१५५—१५८)

मानवमात्रका धर्म—वाणी-संयम—धर्मकी इच्छा करनेवालोंको चाहिये कि अहिंसाके द्वारा ही अनुशासित

१-वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ (२। १३६)

२-उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ (२। १४५)

करें और मधुर एवं स्नेहयुक्त वचन ही बोलें। जिस पुरुषके वचन और मन—ये दोनों संयत और राग-द्वेष आदिसे रहित हैं, वह व्यक्ति वेदान्तमें कथित सम्पूर्ण फलको प्राप्त कर लेता है। किसीसे पीड़ित होते हुए भी मर्मवेधी कर्म न करे। दूसरेका अपकार करनेकी बात न सोचे। जिस वाणीसे किसीको पीड़ा पहुँचे ऐसी वाणी न बोले, क्योंकि वह परलोकको बिगाड़नेवाली होती है[१]।

ब्राह्मणको तो सम्मानसे वैसा ही उद्विग्न होना चाहिये, जैसे मनुष्य विषसे उद्विग्न होता है [क्योंकि गर्व हो जायगा] उसे तो अपमानकी ही आकांक्षा सदा उसी तरह करनी चाहिये जैसे लोग अमृतकी आकांक्षा किया करते हैं। अपमानित होनेपर [उस अपमानको अमृत समझनेवाला] सुखपूर्वक सोता है और सुखपूर्वक जागता है तथा जागकर फिर सुखपूर्वक प्रत्येक कार्यको भी करता है। ऐसी स्थितिमें उसका अपमान करनेवाला व्यक्ति विनष्ट हो जाता है।[२] जातकर्मसे उपनयन-संस्कारपर्यन्त संस्कारसे संस्कृत द्विज गुरुके समीप रहकर वेद पढ़नेके लिये तपस्याका आचरण करे। विधिपूर्वक बतलाये गये विशेष तपस्याओं और व्रतों तथा उपनिषदोंके साथ सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करना चाहिये। [वेदाध्ययनके लिये सबसे बड़ी तपस्या वेदका अध्ययन ही है। इसी बातको भृगुजी कह रहे हैं।] तपस्या करनेवाले ब्राह्मणको चाहिये कि वह वेदाध्ययनका ही सर्वदा अभ्यास करे, क्योंकि ब्राह्मणके लिये इस लोकमें वेदाध्ययन ही सबसे बड़ी तपस्या कही गयी है। जो ब्राह्मण माला धारण करके भी (अर्थात् ब्रह्मचर्यके नियमोंमें जो माला धारण करना निषेध है उसको पहनकर भी) नित्यप्रति शक्तिके अनुसार वेद पढ़ता है, वह चरणके नखोंतक अर्थात् सर्वदेहव्यापी बड़ा भारी तप करता है। जो द्विज वेद न पढ़कर अर्थशास्त्र आदिमें श्रम करता है, वह पुत्र-पौत्रादि पूरे वंशके साथ शूद्रभावको प्राप्त होता है।

यज्ञोपवीत-संस्कारसे दूसरा जन्म—वेदके विधानके अनुसार द्विजके तीन जन्म होते हैं। पहला जन्म मातासे, दूसरा जन्म यज्ञोपवीत-संस्कारसे और तीसरा जन्म ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंकी दीक्षासे प्राप्त होता है। इन तीनों जन्मोंमें यज्ञोपवीतसे जो दूसरा जन्म होता है, उसमें उसकी माता गायत्री तथा उसके पिता आचार्य रहते हैं, क्योंकि यज्ञोपवीत-संस्कारके पहले वह द्विज वैदिक या स्मार्त कोई काम नहीं कर सकता। यज्ञोपवीत-संस्कार होनेके पहले श्राद्धकर्मके अतिरिक्त और किसी कर्ममें वेदका उच्चारण न करे। क्योंकि यज्ञोपवीत-संस्कार कराकर जबतक वह वेदका अधिकारी नहीं होता, तबतक वह शूद्र होता है। यज्ञोपवीत-संस्कार होनेके बाद ही वेदको गुरुसे पढ़नेका विधान है। ब्रह्मचारीके लिये जो चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड, वस्त्र और यज्ञोपवीत विहित हैं, उनको ही अन्य व्रतोंमें भी ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह गुरुके समीप रहकर इन्द्रियोंको वशमें करके तपोवृद्धिके लिये आगे कहे जानेवाले नियमोंका पालन करे। (१५९—१७६)

ब्रह्मचारीके कर्तव्य—ब्रह्मचारी नित्य स्नानसे शुद्ध होकर देव, ऋषि, पितृतर्पण और देवताओंका पूजन तथा हवन करे। ब्रह्मचारीको मद्य, मांस एवं कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ, फूलोंकी माला, सिरका आदि रस, तथा स्त्री, शुक्त (मधुरसे बिगड़कर जो खट्टा हो) और जीवोंकी हिंसा—इन सबको छोड़ दे। मालिश करना, आँखोंमें अंजन लगाना, जूता पहनना, छाता लगाना तथा काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना और बजाना छोड़ दे। जूआ खेलना, लोगोंके साथ बकवाद करना, दूसरोंकी निन्दा करना, झूठ बोलना, बुरी इच्छासे स्त्रियोंको देखना या आलिंगन करना और दूसरेका अपकार करना छोड़ दे। ब्रह्मचारीको सर्वत्र अकेले ही सोना चाहिये। स्वेच्छासे वीर्यपात न करे, क्योंकि ऐसा करनेसे वह अपने ब्रह्मचर्य-व्रतको नष्ट कर देता है। बिना इच्छाके स्वप्नमें वीर्य स्खलन हो जानेपर स्नान तथा सूर्यकी पूजा कर **'पुनर्मामेत्विन्द्रियम्'** इस मन्त्रका तीन बार जप करे। ब्रह्मचारीको चाहिये कि अपने गुरुजीके लिये पानीका घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी और कुशोंको उतना ही लाये, जितनी उनकी आवश्यकता हो और प्रतिदिन भिक्षा माँगे। भिक्षा माँगने उनके पास जाय जो वेदाध्ययन, पञ्चमहायज्ञ और विहित कर्मोंको करते हों और जितेन्द्रिय हों। अपने गुरुके परिवारमें, अपने जाति-भाइयोंसे, मामा-मौसासे भिक्षा न

१-नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः। ययास्योद्विजते वाचाऽनालोक्यां तामुदीरयेत्॥ (२। १६१)

२-सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥
सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ (२। १६२-१६३)

माँगे। यदि भिक्षा न मिले तो पूर्व-कुलका त्याग करके उत्तरोत्तर लोगोंसे भिक्षा-याचना करे अर्थात् पहले मामा आदि बान्धवोंसे, वहाँ न मिले तो जाति-भाइयोंसे और वहाँ न मिले तो गुरुके कुलसे ही भिक्षा माँग लेनी चाहिये। भिक्षा न मिलनेपर दूसरा उपाय यह है कि योग्य घरोंके अभावमें मौन धारणकर गाँवभरमें घूम-घूमकर भिक्षा माँगे, किंतु महापातकियोंके घरको छोड़ दे। दूर जाकर समिधा लाये और उसे खुले स्थानमें रख दे। उन्हीं समिधाओंसे आलस्य-रहित होकर प्रात:काल और सायंकाल हवन करे। नीरोग रहता हुआ कोई ब्रह्मचारी यदि सात दिन भिक्षा न माँगे अथवा हवन न करे तो इस पापके लिये उसे अवकीर्णि नामक व्रत करना चाहिये।[१] ब्रह्मचारीको चाहिये कि प्रतिदिन भिक्षा माँगे, किंतु किसी एक व्यक्तिका दिया हुआ पूरा अन्न भोजन न करे; अपितु बहुत घरोंसे मिले हुए भिक्षान्नके भोजनसे ब्रह्मचारीको उपवासका लाभ होता है, इसलिये उसको भिक्षा अवश्य माँगनी चाहिये। (१७७—१८८)

यज्ञ आदिमें निमन्त्रित ब्रह्मचारी अपने व्रतके अनुरूप यदि एक व्यक्तिका भी भोजन करता है तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता। इसी तरह पितरोंके उद्देश्यसे किये जानेवाले श्राद्धादि कर्ममें निमन्त्रित ब्रह्मचारी अपने व्रतानुकूल एक व्यक्तिके अन्नका भी भोजन करता है तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता। किंतु यह जो यज्ञ और श्राद्धमें एक व्यक्तिके अन्नका विधान किया गया है वह केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारीके लिये है, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारीके लिये यह विधान नहीं है। (१८९-१९०)

ब्रह्मचारीको चाहिये कि अपने अध्ययनमें और गुरुके हितमें स्वयं लगा रहे। इन दोनों कामोंके लिये आचार्यकी प्रेरणापर निर्भर न रहे। ब्रह्मचारीको चाहिये कि शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रिय और मनको नियन्त्रित कर हाथ जोड़कर गुरुका मुख देखते हुए खड़ा रहे। अपने दुपट्टेसे दक्षिण हाथको बाहर निकालकर रखे, सुन्दर आचरण करे, देहको वस्त्रोंसे ढका रखे, गुरुके कहनेपर कि तुम बैठ जाओ, उन्हींके सामने बैठ जाय। ब्रह्मचारी अन्न, वस्त्र और वेषको गुरुकी अपेक्षा न्यून ही रखे। गुरुके सोनेके बाद सोये और उनके सोकर उठनेके पहले उठ जाय। गुरुकी आज्ञाको शिरोधार्य करना या उनसे सम्भाषण करना—ये दो बातें न तो सोये हुए करे, न आसनपर बैठकर करे, न खाते हुए करे और न गुरुके सामने पीठ किये हुए करे, गुरु यदि बैठे हों तो आसनसे उठकर, यदि वे खड़े हों तो सामने जाकर, आते हों तो आगे बढ़कर, दौड़ते हों तो दौड़कर गुरुकी आज्ञाको शिरोधार्य करे या उनसे बात करे। यदि गुरु पीठ-पीछे आज्ञा देते हैं तो उनके सामने जाकर आज्ञा स्वीकार करनी चाहिये। गुरुजी यदि दूरसे आज्ञा दे रहे हैं तो उनके पास जाकर, लेटकर यदि आज्ञा देते हैं तो झुककर या समीपमें ही स्थित हों तो भी झुककर ही आज्ञाको स्वीकार करे और उसी तरहसे बातचीत करे।

गुरुके समीप ब्रह्मचारीका आसन गुरुकी अपेक्षा नीचा रहना चाहिये। गुरुके सामने अनुचित हाथ-पैर न फैलाये। उपाध्याय आदि उपाधिके बिना परोक्षमें भी गुरुके नामका उच्चारण न करे तथा उनके उपहासकी बुद्धिसे उनकी चाल और बोलीकी नकल न करे। जिस जगह गुरुमें रहनेवाले दोषोंका वर्णन होता हो या गुरुमें नहीं रहनेवाले दोषोंको कहा जा रहा हो, वहाँ शिष्यको चाहिये कि या तो कान बंद कर ले या अन्यत्र चला जाय।[२] यदि शिष्य गुरुमें वर्तमानके दोषोंका वर्णन करता है तो गधा होता है और गुरुमें न रहनेवाले दोषोंको कहता है तो कुत्ता होता है। यदि गुरुके धनका उपभोग करता है तो कृमि बनता है और यदि गुरुकी उन्नतिको नहीं सहन कर पाता तो कीट होता है। शिष्यका यह कर्तव्य नहीं है कि वह स्वयं अलग रहकर किसी अन्यके द्वारा गुरुको माला पहनाये या वस्त्र दे। यह दोष तब नहीं लगेगा जब किसी तरह शिष्यको चलनेकी शक्ति नहीं है। झुँझलाकर और स्त्रीके समीप बैठकर भी गुरुकी पूजा न करे। यदि शिष्य किसी सवारीपर बैठा हो या किसी आसनपर बैठा हो और गुरु आ जायँ तो शिष्यका कर्तव्य है कि वह उस सवारी और आसनसे उतरकर गुरुको प्रणाम करे। (१९१—२०२)

यदि गुरुकी ओरसे शिष्यकी ओर हवा आती हो अथवा

१-अकृत्वाभैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्। अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्॥ (२। १८७)

२-गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥ (२। २००)

शिष्यकी ओरसे गुरुकी ओर हवा जाती हो तो वहाँ शिष्यको चाहिये कि गुरुके साथ न बैठे। इसी तरह जहाँ गुरु नहीं सुन सकते हैं, वहाँ भी कोई बातचीत न करे। [कुछ ऐसे अपवाद-स्थल हैं जहाँ शिष्य गुरुके साथ बैठ सकता है] बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊँटगाड़ी, छतपर, बिछौना, चटाई, पत्थर, लकड़ीका तख्ता और नावपर शिष्य गुरुके साथ बैठ सकता है। यदि गुरुजीके गुरु आ जायँ तो शिष्यका कर्तव्य है कि उनके साथ गुरुके समान ही आचरण करे। यदि शिष्य गुरुकुलमें वास कर रहा है और उसके सामने अन्य गुरुजन माता-पिता आदि आ जायँ तो अपने गुरुकी आज्ञाके बिना उनको प्रणाम न करे। उपाध्याय आदि अन्य गुरुओंमें, अपने चाचा, मामा आदि बन्धुओंमें, अधर्मसे बचनेके लिये जो उपदेश देनेवाले हैं उन लोगोंमें गुरुके समान ही आचरण करना चाहिये। जो गुरुके पुत्र विद्या और तपसे समृद्ध हों, उनमें और गुरुके आत्मीय जनोंमें गुरुके समान ही आचरण करे। गुरुका पुत्र यदि अवस्थामें अपनेसे छोटा हो या बराबर हो या ज्येष्ठ हो, अध्ययन करता हो या अध्यापन करता हो और यज्ञ-कर्ममें ऋत्विक् हो तो वह भी गुरुके समान पूजनीय है। शिष्य गुरुपुत्रके शरीरमें उबटन लगाना, स्नान कराना, उसका जूठा भोजन करना और पैर धोना आदि कर्म न करे। गुरुकी सवर्ण स्त्रियाँ तो गुरुके समान पूजनीय हैं और जो असवर्ण स्त्रियाँ हैं वे प्रत्युत्थान और अभिवादनसे ही पूज्य हैं। गुरुकी स्त्रियोंकी मालिश करना, उन्हें स्नान कराना, उबटन लगाना, उनके केशोंको सँवारना—इन कृत्योंको शिष्य न करे। यदि शिष्य बीस वर्षका हो और गुरुपत्नी युवती हो तो अभिवादनके गुण-दोषको जानकर वह चरण छूकर गुरुपत्नीका अभिवादन न करे। इन्द्रियाँ बहुत बलवान् हैं वे विद्वान्‌को भी अपने वशमें कर लेती हैं। इसलिये नियम यह है कि माता, बहन और पुत्रीके साथ भी एकान्तमें न रहे।[1] (२०३—२१५)

तरुण शिष्य तरुण गुरुपत्नीको मैं अमुक नामवाला हूँ [**अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः**] ऐसा कहकर पृथ्वीका स्पर्श कर अभिवादन करे। वही शिष्य यदि प्रवाससे लौटकर आया हो तो उस दिन सत्पुरुषोंके धर्मको याद करता हुआ वह गुरुपत्नीका चरण स्पर्श करे। इसके बाद प्रतिदिन बिना चरण स्पर्श किये अभिवादन करे। जिस प्रकार मनुष्य खंतीसे जमीनको खोदता हुआ पानीको पा जाता है, उसी प्रकार सेवा करनेवाला शिष्य गुरुकी विद्याको प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचारीके तीन भेद—[अब ब्रह्मचारीके तीन भेदको बता रहे हैं—] या तो ब्रह्मचारी मुण्डित-मस्तक रहे या जटा बढ़ाकर रहे अथवा शिखामात्र रखे। [इन तीनों ब्रह्मचारियोंके लिये सामान्य नियम यह है कि] सोते रहनेपर न तो सूर्योदय हो और न सूर्यास्त। यदि कोई ब्रह्मचारी इच्छानुसार सूर्योदयतक सोता रहे तो उसको अपने इस पापको मिटानेके लिये दिनभर गायत्री-जप करते हुए उपवास करना चाहिये। यदि भ्रमसे सूर्यास्त हो जाय तो वह गायत्री-जप करता हुआ आगेवाले दिन उपवास करे। यदि ब्रह्मचारी इस प्रायश्चित्तको नहीं करता तो उसे बहुत बड़े पापसे लिप्त होना पड़ेगा। [इसलिये प्रायश्चित्त करना आवश्यक है।]

[संध्याके अतिक्रमणसे बहुत बड़ा पाप संक्रान्त हो जाता है इसलिये] ब्रह्मचारी सावधान होकर पवित्र स्थानमें सावित्रीका जप करता हुआ दोनों समय संध्याका अनुष्ठान करे। स्त्री और शूद्र यदि कोई कल्याणकारक अनुष्ठान करते हों तो वे लोग भी संयत होकर उस अनुष्ठानको करते रहें। कोई आचार्य कामके कारण होनेसे धर्म और अर्थको कल्याणकारक मानते हैं, कुछ आचार्य सुखके जनक होनेसे अर्थ और कामको कल्याणकारक मानते हैं, कुछ आचार्य अर्थ और कामके जनक होनेसे धर्मको कल्याणकारक मानते हैं, कुछ आचार्य धर्म और अर्थका साधन होनेसे अर्थको ही कल्याणकारक मानते हैं। किंतु ये तीनों पुरुषार्थ हैं, इसलिये धर्म, अर्थ और काम तीनों ही कल्याणकारक हैं। ऐसा निश्चय है। (२१६—२२४) [यह सांसारिक जनोंके लिये उपदेश है। मोक्षाभिलाषियोंके लिये मोक्ष ही कारण है। यह आगे स्वयं ग्रन्थकार कहेंगे।]

परम धर्म—माता-पिता और गुरुकी सेवा—आचार्य, पिता, माता और बड़ा भाई—ये लोग यदि कोई अपमान करें तो भी उनका अपमान नहीं करना चाहिये। विशेषकर ब्राह्मण तो ऐसा कभी न करे; क्योंकि आचार्य परमात्माकी मूर्ति है। पिता प्रजापतिकी मूर्ति है, माता पृथ्वीकी मूर्ति है

१-मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ (२। २१५)

और ज्येष्ठ सहोदर भाई अपनी मूर्ति है। अतः इनसे अपमानित होनेपर भी इनका अपमान नहीं करना चाहिये। पुत्रके उत्पन्न होनेमें माता-पिता जिस कष्टको झेलते हैं उसका बदला सैकड़ों वर्षोंमें भी नहीं चुकाया जा सकता। इसलिये माता-पिताको नित्य संतुष्ट रखे और इसी तरह आचार्यको भी नित्य संतुष्ट रखे। यदि माता-पिता और गुरु—ये तीनों संतुष्ट हो गये तो सभी तपस्याओंका फल प्राप्त हो जाता है। इन तीनोंकी शुश्रूषा ही सबसे बड़ा तप माना गया है। इन तीनोंकी आज्ञाके बिना किसी दूसरे धर्मके पालनकी आवश्यकता नहीं। माता-पिता और गुरु—ये ही तीनों लोक, ये ही तीनों आश्रम, ये ही तीनों वेद और ये ही तीनों अग्नि हैं। [इन तीनों अग्नियोंमें] पिता गार्हपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीयाग्नि हैं। अतः ये तीनों ही श्रेष्ठ हैं। माता, पिता तथा आचार्य—इन तीनोंकी प्रमादरहित होकर सेवा करे तो वह तीनों लोकोंको जीत लेता है और इतना दीप्तिमान् बन जाता है कि सूर्य आदि देवताओंके समान स्वर्गमें आनन्द करता है। मातृभक्तिसे भूलोक, पिताकी भक्तिसे अन्तरिक्षलोक और आचार्यकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है। जिस व्यक्तिने माता-पिता और गुरुका आदर किया, उसने सभी धर्मोंका आदर कर लिया। जिसने इन तीनोंका अनादर किया, उसकी सब क्रियाएँ व्यर्थ हो गयीं। जबतक माता-पिता और गुरु जीते हैं, तबतक किसी अन्य धर्माचरणकी आवश्यकता नहीं है। अपितु उन्हींके प्रिय और हित-कार्यमें लगकर उनकी नित्य शुश्रूषा करता रहे। यदि माता-पिता और गुरुकी सेवाका अप्रतिबन्धक कोई पुण्य कर्म इन तीनोंकी आज्ञासे करे तो उस कर्मको उन तीनोंको अर्पित कर दे। माता, पिता और आचार्यकी सेवामें सभी शास्त्रोक्त कर्म पूर्ण हो जाते हैं; क्योंकि इन तीनोंकी सेवा ही परम धर्म है। अन्य अग्निहोत्रादि तो उपधर्म हैं।[१] (२२५—२३७)

यदि अपनेसे हीन वर्णके पास कोई विद्या हो तो उसे भी श्रद्धालु बनकर सीख लेना चाहिये। किसी चाण्डाल आदि अन्त्यजके पास भक्ति या आत्मज्ञान हो तो उसे उससे ग्रहण कर लेना चाहिये और दुष्कुलमें भी कोई सुयोग्य स्त्री हो तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। यदि विषमें भी अमृत मिल गया हो तो उस विषसे भी अमृतको ले लेना चाहिये। बच्चेसे भी हितकर बात ग्रहण कर लेनी चाहिये। शत्रुसे भी संतोंका आचरण सीख लेना चाहिये और अपवित्र जगहसे भी सुवर्णको ले लेना चाहिये। इस तरह स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, सुभाषित और तरह-तरहके शिल्प सबसे ले लेने चाहिये। यदि आपत्काल हो तो ब्रह्मचारी अब्राह्मणसे भी वेदाध्ययन करे और अध्ययन-कालतक उस अब्राह्मण गुरुका अनुगमन और शुश्रूषा करे। यदि गुरुकुलमें ही जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहनेकी इच्छा हो तो सावधान होकर यावज्जीवन गुरुकी सेवा करनी चाहिये। इस तरह जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवनपर्यन्त गुरुकी सेवा करता है, वह अनश्वर ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है। अध्ययनकालमें ब्रह्मचारी गुरुको वस्त्र तथा धन आदि देनेका प्रयत्न न करे। [केवल अध्ययनमें ही मन लगाये रहे।] समावर्तन-संस्कारके समय स्नान करनेसे पहले यथाशक्ति गुरुको गुरुदक्षिणा दे। गुरुदक्षिणामें भूमि, सोना, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, अन्न, शाक तथा वस्त्रोंको देकर गुरुको प्रसन्न करे और उनकी प्रसन्नता प्राप्त करे। यदि सम्भव हो तो इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी दे और यदि अशक्त हो तो

१-आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः। नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः। माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा। तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते। न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः। त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही। दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्। गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः। अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥
यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्। तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् प्रियहिते रतः॥ (२। २२५—२३७)

श्रद्धापूर्वक शाक ही भेंट कर दे, नैष्ठिक ब्रह्मचारीके मरनेके पहले यदि उसके गुरु ही मर जायँ, तब वह ब्रह्मचारी अपने गुरुपुत्रमें, उनके अभावमें गुरुपत्नीमें, उनके अभावमें गुरुके भाई आदिमें गुरुकी तरह श्रद्धा रखे और उनकी शुश्रूषा करे। यदि ये भी नहीं रह जायँ तब नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्यके अग्निके समीप ही स्नान आदि करे और अग्नि-शुश्रूषासे शरीरको ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनाये। इस तरह आचार्यके मरनेपर भी उनके स्वजनोंसे लेकर अग्नितककी सेवा करनेवाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मपदको प्राप्त करता है और फिर इस संसारमें जन्म नहीं पाता। (२३८—२४९) (ला० मि०)

स्थानाभावके कारण यहाँ मनुस्मृतिका इतना ही अंश दिया जा रहा है। शेष आगेके अध्याय अगले अङ्कोंमें क्रमशः देनेका विचार है।

आख्यान—

अधर्माचरणका परिणाम—एक दृष्टान्त

मनुस्मृतिका एक मार्मिक श्लोक इस प्रकार है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनु० ४। १७४)

उपर्युक्त श्लोकका अक्षरार्थ यह प्रतीत होता है कि मनुष्य अधर्मसे पहले उन्नति करता है, उसके बाद कल्याण देखता है, फिर शत्रुओंको जीतता है, इसके बाद वह बान्धव, भृत्य और पुत्र आदिके साथ समूल नष्ट हो जाता है[१]।

मनुस्मृतिके इस श्लोकका अच्छा उदाहरण है दुर्योधन, जो कलिके अंशसे उत्पन्न हुआ था (महाभारत, आदि० ६७। ८७)। पातालवासी दैत्यों और दानवोंने पृथ्वीपर अपने पक्षके पोषणके लिये तपस्याके द्वारा दुर्योधनको पाया था (महा०, वनपर्व १५२। ६)। दुर्योधनके ९९ भाई पुलस्त्य-कुलके राक्षसोंके अंशसे उत्पन्न हुए थे (महा०, आदि० ६७। ८८-८९)। यही कारण है कि दुर्योधनके सभी सहोदर भाई इसके पापकर्ममें एकमत रहते थे। दुर्योधनके जन्मके समय बहुत ही अमङ्गलकारी अपशकुन हुए थे। उन अपशकुनोंको देखकर महात्मा विदुरने बताया था कि इस बच्चेको त्याग दिया जाय, नहीं तो यह बच्चा कुलका संहार कर डालेगा, परंतु धृतराष्ट्रने मोहवश विदुरकी यह बात नहीं मानी।

'अधर्मेणैधते तावत्'

उम्रके साथ-साथ दुर्योधनके खोटे विचार भी बढ़ते गये। एक दिन उसने अपने भाइयोंसे कहा—'भीमसेन बड़ा बलवान् है। हमलोग सौ मिलकर भी उसका बालबाँका नहीं कर पाते। उलटे वही भारी पड़ जाता है। उस दिन तुम लोगोंने देखा ही था कि भीमने पेड़पर एक लात जमा दी; बस, पूरा-का-पूरा पेड़ बेतहाशा हिल उठा और फलोंके साथ-साथ तुमलोग भी पेड़से टपक पड़े। पाँचों भाइयोंमें वही अजेय है। अतः मेरा विचार है कि भीमको किसी तरह अपने रास्तेसे हटा दिया जाय और फिर उसके बाद उसके चारों भाइयोंको कैद कर सारा राज्य हथिया लिया जाय। तब इस योजनाके सफल होनेपर सारी पृथ्वीपर हमारा ही राज्य होगा।'

सभी भाइयोंने दुर्योधनके इस प्रस्तावका ज़बरदस्त समर्थन किया। तदनन्तर पहले विषमिश्रित भोजनका प्रस्ताव रखा गया। जल-विहारके नामपर दुर्योधनने यह घातक योजना कार्यान्वित की। दुर्योधन भोजन स्वयं परसने लगा। उस समय उसकी बोलीसे तो अमृत झर रहा था, किंतु जो परसता था, उस भोजनमें विष भरा हुआ था। दुर्योधन परसता गया और भीमसेन खाते गये। यह देख दुर्योधन बहुत प्रसन्न हो रहा था और अपनेको कृतार्थ मान रहा था। उसके बाद जल-विहारकी योजना बनी। जलसे निकलनेके बाद भीमसेन गहरी नींदमें सो गये और विषके प्रभावसे धीरे-धीरे निश्चेष्ट हो गये। तब दुर्योधन और उसके भाइयोंने हाथ-पैर बाँधकर भीमसेनको गङ्गाजीमें फेंक दिया।

भाग्यवश भीम बच गये। दुर्योधनने इस योजनाको फिर लागू किया। इस बार भीमसेनके भोजनमें कालकूट नामक

१-इस श्लोकका तात्पर्यार्थ भी समझ लेना चाहिये। यहाँ 'अधर्मेण' में जो तृतीया विभक्ति है, वह 'इत्थंभूतलक्षणे' में लक्षण-अर्थमें भी है। जैसे सीताजीने रावणके साधुवेशसे उसका साधु होना लक्षित किया था। उसी तरह अधर्मसे बढ़ना यह लक्षित हो रहा है अर्थात् दीख रहा है कि वह अधर्मसे बढ़ता है। वस्तुतः वह प्राक्तन धर्मसे ही बढ़ता है। मनुस्मृतिके सर्वज्ञनारायण टीकामें 'क्रियमाणे लक्षितः' लिखकर इस तथ्यका संकेत कर दिया गया है।

विष भर दिया गया। भीम तो भीम थे, वे इस कालकूटको भी पचा गये। इस घटनाके बाद पाँचों भाई खूब सावधान रहने लगे। दुर्योधन बहुत चिन्तित हो गया। उसने अपना क्रोध भीमके सारथिपर उतारा, बेचारेको गला घोटकर मार डाला, किंतु दुर्योधनके इन पापकर्मोंको जनता न जान सकी; क्योंकि पाण्डवोंने इस रहस्यको किसीसे कहा ही नहीं। इस तरह इस पापकर्मसे दुर्योधनकी लौकिक कोई क्षति नहीं हुई, अभ्युदय-पर-अभ्युदय होता ही गया, क्योंकि इसके बाद कर्ण इसका मित्र बन गया। उधर अश्वत्थामा भी दुर्योधनका अटूट अनुयायी हो गया। अश्वत्थामाका अनुयायी होना कम महत्त्व नहीं रखता था, क्योंकि अश्वत्थामा जिधर रहेगा, उधर ही पुत्रस्नेहसे द्रोणाचार्यको भी रहना पड़ेगा और जिधर अश्वत्थामा तथा द्रोण होंगे उधर ही कृपाचार्यको भी रहना ही होगा। अपने बहनोई और भानजेको वे भला कैसे छोड़ सकते थे। (महा०, आदिपर्व १४१। २०-२१)

यह हुआ '**अधर्मेणैधते तावत्**' इस पदका अक्षरार्थ, अर्थात् अधर्मसे पहले उन्नति होती है। यहाँ अधर्मसे लक्षित हो रहा है कि दो बार विष देनेके बाद दुर्योधनको चार महारथियोंकी प्राप्ति-रूप अभ्युदय हुआ।

ततो भद्राणि पश्यति

दुर्योधनकी पाप-भावना और गहराती गयी। कर्ण, शकुनि और सहोदर भाइयोंकी रायसे दुर्योधनने माताके साथ पाँचों भाइयोंकी हत्या करनेकी योजना बनायी। योजनाके अनुसार वारणावत भेजकर उन्हें लाक्षागृहमें जला डालना था। यह काम पुरोचनको सौंपा गया। थोड़े दिनोंके बाद सब लोगोंने सुना—'मातासहित पाँचों पाण्डव वारणावतमें जलकर मर गये।' इस समाचारको लाक्षागृहमें सोयी हुई भीलनी और उसके पाँचों पुत्रोंके जले शवोंने पुष्ट कर दिया, किंतु किसी प्रकार माताके साथ पाण्डव बच गये।

इस पापकर्मके बाद दुर्योधन चारों ओर कल्याण-ही-कल्याण देखने लगा। युधिष्ठिरके न रहनेसे उनके रिक्त पदपर दुर्योधनको युवराज घोषित कर दिया गया। दुर्योधन इसी पदको पानेके लिये बहुत दिनोंसे लालायित था। उसने अपने पितासे पहले ही कहा था—'युधिष्ठिर आज युवराज है, कल वही राजा होगा, इसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यका अधिकारी होगा और उसके बाद उसीके पुत्र। इस प्रकार युधिष्ठिरकी परम्पराके लोग राज्यके अधिकारी होते चले जायँगे, फिर हम और हमारी पुत्र-परम्परा उनके दिये हुए टुकड़ेपर पलती रहेगी। पिताजी! इस विडम्बनाको हम कभी नहीं सह सकते। आप पाण्डवोंको वारणावत भेज दें, फिर सब कुछ हमारा हो जायगा। इसके बाद धृतराष्ट्रके आदेशसे योजनाके अनुसार कार्य हुआ और दुर्योधन युवराज-पदपर अभिषिक्त हो गया (महा०, आदिपर्व १४०। ३५—३७)।

सचमुच दुर्योधनका युवराजके पदपर अभिषिक्त हो जाना उसके लिये बहुत ही कल्याणकारी हुआ। युधिष्ठिर बच भी गये तो भी अब दुर्योधनको उस पदसे कैसे वञ्चित कर सकते थे? दो युवराज तो होते नहीं। फलतः संघर्ष टालनेके लिये भीष्म और द्रोणके कहनेसे युधिष्ठिरको केवल आधे राज्यका अधिकारी बनाया गया। पाण्डवोंको आगसे जलाने-जैसे अधर्मसे दुर्योधनको आधा राज्य तो प्राप्त ही हो गया, यह उसके लिये कम सफलताकी बात नहीं थी। इस तरह दुर्योधनका अधर्मसे कल्याण-पर-कल्याण होता गया। इस प्रकार '**ततो भद्राणि पश्यति**' मनुकी यह पंक्ति सफल चरितार्थ हुई।

ततः सपत्नाञ्जयति

परंतु दुर्योधनको इतनेसे संतोष कैसे होता, वह तो सारी पृथ्वीका राज्य चाहता था। इस बार उसने फिर पापका सहारा लिया। कपट-द्यूतसे पाण्डवोंको हराकर उनका राज्य हड़प लिया। इस तरह उसने अपने शत्रुओंको जीत लिया।

समूलस्तु विनश्यति

भीमको दो बार विष देकर, पाण्डवोंको आगमें जलाकर, कपटपूर्ण द्यूतविद्यासे पाण्डवोंको वनवास देकर दुर्योधन फूलता-फलता रहा। पाण्डव जब वनवास और अज्ञातवासकी अवधि समाप्त कर प्रकट हुए, तब दुर्योधन उनको सूईकी नोकके बराबर भी पृथ्वी देनेके लिये तैयार नहीं हुआ। इसके परिणामस्वरूप युद्धमें दुर्योधनका समूल विनाश हो गया।

इस प्रकार अधर्माचरणसे अभ्युदय होता दिखायी देता है, किंतु अन्तमें वही अधर्माचरण समूल विनाशका कारण बनता है, अतः भगवान् मनुका आदेश है कि अधर्माचरणसे सर्वथा दूर रहकर सर्वदा धर्मका ही आश्रय करना चाहिये, इसी धर्माचरणसे सच्चा अभ्युदय और सच्चा परम कल्याण प्राप्त होता है।

महर्षि वेदव्यासप्रणीत धर्मशास्त्र

तं नमामि महेशानं मुनिं धर्मविदां वरम्।
श्यामं जटाकलापेन शोभमानं शुभाननम्॥
मुनीन् सूर्यप्रभान् धर्मान् पाठयन्तं सुवर्चसम्।
नानापुराणकर्तारं वेदव्यासं महाप्रभम्॥

(बृहद्धर्मपुराण १। १। २४-२५)

'जो धर्मके निगूढ़ तत्त्वको जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनका वर्ण श्याम है और जिनका मङ्गलकारी मुखमण्डल जटाजूटसे सुशोभित है तथा जो सूर्यके समान प्रभावाले मुनियोंको धर्मशास्त्रोंका पाठ पढ़ानेवाले हैं, ज्योतिर्मय हैं, अत्यन्त कान्तिमान् हैं, सभी पुराणों तथा उपपुराणोंके रचयिता हैं, उन महेशान वेदव्यासजीको बारंबार नमस्कार है।'

साक्षात् नारायण ही जगद्गुरु व्यासके रूपमें अज्ञानान्धकारमें निमग्न प्राणियोंको सदाचार एवं धर्माचरणकी शिक्षा देनेके लिये अवतीर्ण हुए और प्रसिद्धि यही है कि व्यासजी आज भी अजर-अमर हैं। सच्चे भक्तोंको आज भी उनके दर्शन होते हैं। वे वसिष्ठजीके प्रपौत्र, शक्ति ऋषिके पौत्र, पराशरजीके पुत्र तथा महाभागवत शुकदेवजीके पिता हैं। वे शंकराचार्य, गोविन्दाचार्य और गौडपादाचार्य आदि विभूतियोंके परमगुरु रहे हैं। पुराणोंमें प्रसिद्धि है कि यमुनाके द्वीपमें उनका प्राकट्य हुआ, इसलिये वे 'द्वैपायन' कहलाये और श्याम (कृष्ण) वर्णके थे, इसलिये 'कृष्णद्वैपायन' कहलाये। वेदसंहिताका उन्होंने विभाजन किया, इसलिये वे 'व्यास' किंवा 'वेदव्यास'के नामसे प्रसिद्ध हुए। इतिहास, पुराण, उपपुराण, ब्रह्मसूत्र, व्यासस्मृति आदि धर्मशास्त्रों, योगदर्शन आदिके भाष्योंके वे ही रचयिता हैं। आजके विश्वका सारा ज्ञान-विज्ञान महर्षि वेदव्यासजीका ही उच्छिष्ट है, अतः **'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्'**की उक्ति प्रसिद्ध है। **'यन्न भारते तन्न भारते'**के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष आदिके विषयमें उनके द्वारा विरचित महाभारतमें जो कुछ कहा गया है, वही अन्य लोगोंने कहा है और जो उन्होंने नहीं कहा, वह अन्यत्र भी नहीं मिलता अर्थात् अन्यत्र कोई नवीनता नहीं है, जो व्यासजीने कह दिया, वही सबके लिये आधेय बन गया।

भगवान् व्यासदेवका शुद्ध सत्संगरूपी धर्म-सत्र विविधरूपसे निरन्तर चलता रहता था। उनकी धर्मगोष्ठीमें ब्रह्मतत्त्वका निरूपण, परमात्माके निर्गुण-सगुण स्वरूपोंका विचार, धर्म-कर्मोंकी व्यापकता तथा उनके फलाफलकी मीमांसा, धर्माचरणकी महिमा आदि विषयोंपर गहन चर्चा होती रहती थी। वे स्वयं भी धर्मके आचरण तथा सदाचारके पालनमें निरन्तर निरत रहते थे।

वस्तुतः धर्म-तत्त्वके विषयमें आज संसार जो कुछ भी जानता है, वह वेदव्यासजीकी ही देन है। वेद तो धर्मसंहिताएँ ही हैं। पुराणोंमें धर्म, दर्शन एवं आचार-मीमांसा पद-पदपर भरी पड़ी है। महाभारत तो धर्मविषयक कोश ही है। वह व्यासजीकी ही रचना है। स्मृतियाँ तो 'व्यास', 'लघुव्यास' इस प्रकारसे उनके नामसे ही प्रसिद्ध हैं। अतः धर्मशास्त्रकी मर्मज्ञताके सम्बन्धमें व्यासजीसे अधिक और कौन हो सकता है? वस्तुतः सच्चा धर्म और सम्यक् आचारदर्शन व्यासदेवकी वाणीमें ही संनिहित है। इसके लिये सारा विश्व अनन्तकालतक उनका ऋणी रहेगा। उनकी महिमा अपार है। शास्त्रोंमें उनका दिव्य चरित्र अनेक प्रकारसे गुम्फित है, यहाँ संक्षेपमें उनके धर्मशास्त्रोंकी कुछ चर्चा की जा रही है—

(१) व्यासस्मृति

महर्षि वेदव्यासप्रणीत 'व्यासस्मृति'का स्मृति-वाङ्मयमें विशिष्ट स्थान है। उन्होंने अपने दिव्य प्रातिभ-ज्ञान एवं तपस्याके बलपर धर्मके सूक्ष्मतम तत्त्वोंका दर्शन कर सर्वसामान्यके कल्याणके लिये वाराणसीमें[1] जिज्ञासु महर्षियोंको जो वर्णाश्रमधर्म-सम्बन्धी उपदेश प्रदान किये, वे ही 'व्यासस्मृति'के नामसे प्रसिद्ध हो गये। निबन्ध-ग्रन्थोंमें इस स्मृतिके अनेक वचनोंको उद्धृत किया गया है। वर्तमान उपलब्ध व्यासस्मृतिमें चार अध्याय तथा लगभग २५० श्लोक हैं। मुख्यरूपसे इसमें धर्माचरणके योग्य उत्तम देश, वेदप्रामाण्यकी प्रधानता, षोडश संस्कारोंका नाम-परिगणन तथा उनकी संक्षिप्त विधि, ब्रह्मचारीके नियम, गुरु-महिमा,

१-वाराणस्यां सुखासीनं वेदव्यासं तपोनिधिम्। पप्रच्छुर्मुनयोऽभ्येत्य धर्मान् वर्णव्यवस्थितान्॥ (व्याससमृति १। १)

विवाहविधि, विवाह-योग्य कन्याके लक्षण, गृहस्थधर्म, स्त्रीधर्म, स्त्रीके नित्य-नैमित्तिक कर्म, पातिव्रत्य-धर्मकी महिमा, रजोधर्मकी इतिकर्तव्यता, गृहस्थके नित्य-नैमित्तिक तथा काम्य—इन तीन प्रकारके कर्मोंका वर्णन, तर्पण-विधि, वैश्वदेव तथा पञ्चबलि-विधान, अतिथिपूजन, गृहस्थाश्रमकी महिमा, सदाचारकी महिमा तथा ब्राह्मण-महिमा आदिका वर्णन है। इसके चौथे अध्यायके ५० श्लोकोंमें दानधर्मका विशेष माहात्म्य प्रतिपादित है। इसमें दानकी महिमा, दानके योग्य पात्र तथा दानका स्वरूप आदि विषय विवेचित हैं। दान-सम्बन्धी व्यासजीका यह विवेचन अत्यन्त महत्त्वका है, इसीलिये व्यासजी 'दानव्यास' भी कहलाते हैं।

यहाँ इस स्मृतिके कुछ विषयोंका सार दिया जा रहा है—

षोडश संस्कार

वेदशास्त्रों—मुख्यतः गृह्यसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों (स्मृतियों)-का 'संस्कार' एक मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। संस्कारके करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और संस्कार मनुष्यको पाप तथा अज्ञानसे दूर रखकर आचार-विचार एवं ज्ञान-विज्ञानसे संयुक्त करते हैं। संस्कारोंसे मानव पूर्ण सुसंस्कृत बनता है। जिसके संस्कारादि कर्म नहीं किये जाते, वह धर्म-कर्मादि किसी भी कर्मको करनेका अधिकारी नहीं होता। अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रोंमें संस्कार करानेके विधान वर्णित हैं और इसकी अनिवार्य आवश्यकता बतलायी गयी है। जैसे खानसे लोहा, सोना और हीरा आदि निकलनेपर उसका संस्कार करके उसे शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार व्यक्तिका भी संस्कार कर उसे सुसंस्कृत किया जाता है। मलापनयन और अतिशयाधान—यह संस्कारोंकी दो प्रकारकी मुख्य क्रिया है।

संस्कारोंकी संख्यामें विद्वानोंमें प्रारम्भसे ही कुछ मतभेद रहा है। गौतमस्मृतिमें ४८ संस्कार बताये गये हैं। महर्षि अङ्गिराने २५ संस्कार निर्दिष्ट किये हैं. परंतु उनमें मुख्य तथा आवश्यक षोडश (१६) संस्कार हैं। महर्षि वेदव्यासजीने अपनी व्याससमृतिमें षोडश संस्कारोंका परिगणन कर उनकी संक्षिप्त विधि भी दी है। वे षोडश संस्कार इस प्रकार हैं—(१) गर्भाधानं, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन, (८) वपन-क्रिया (चूडाकरण—मुण्डन), (९) कर्णवेध, (१०) व्रतादेश (उपनयन—यज्ञोपवीत), (११) वेदारम्भ, (१२) केशान्त (गोदान), (१३) वेदस्नान (समावर्तन), (१४) विवाह, (१५) विवाहाग्निपरिग्रह तथा (१६) त्रेताग्निसंग्रह[1]।

इनमेंसे प्रारम्भके तीन संस्कार गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन जन्मसे पूर्व सम्पादित होते हैं और शेष संस्कार यथासमय किये जाते हैं। कुछ आचार्योंने मृत-शरीरकी अन्त्येष्टिक्रियाको भी एक संस्कार माना है। इस संस्कारमें मुख्यतः दाहक्रियासे लेकर द्वादशाहतक अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार दशगात्रविधान, षोडश श्राद्ध, सपिण्डीकरणके साथ ही जलाञ्जलि-विधान तथा श्राद्धादि कर्म भी सम्मिलित हैं।

गर्भाधानसे लेकर कर्णवेधतक जो ९ संस्कार कहे गये हैं, वे स्त्रियोंके अमन्त्रक किये जाते हैं, परंतु विवाह-संस्कार समन्त्रक होता है। शूद्रके ये दसों संस्कार बिना मन्त्रके ही सम्पादित होते हैं—

> नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः॥
> विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश।
>
> (व्यासस्मृति १। १५-१६)

गर्भाधान प्रथम संस्कार है। विधिपूर्वक संस्कारयुक्त गर्भाधानसे अच्छी एवं योग्य संतान उत्पन्न होती है। इस संस्कारसे वीर्यसम्बन्धी तथा गर्भसम्बन्धी दोष-पाप दूर होते हैं तथा क्षेत्रका संस्कार होता है। यही 'गर्भाधान'-संस्कारका फल है। जब गर्भ लगभग ३ मासका हो जाता है तथा गर्भिणीमें गर्भके चिह्न स्पष्ट हो जाते हैं, तब 'पुंसवन' संस्कारका विधान है। इस संस्कारका एक यह भी

१-गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च। नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः। केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः॥ (व्यासस्मृति १। १३—१५)

फल है कि इससे असमयमें गर्भ च्युत नहीं होता। 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार ८वें महीनेमें किया जाता है। बालकके जन्म होते ही नालछेदनसे पूर्व 'जातकर्म' संस्कार होता है। जन्मसे ग्यारहवें दिन कुलक्रमानुसार शास्त्रीय विधिसे 'नामकरण' संस्कार किया जाता है। इस संस्कारका फल आयु तथा तेजकी वृद्धि एवं लौकिक व्यवहारकी सिद्धि बताया गया है। पुरुष और स्त्रियोंका नाम किस प्रकार रखा जाय इन सारी विधियोंका धर्मशास्त्रोंमें विस्तारसे वर्णन है। चौथे मासमें 'निष्क्रमण' संस्कार होता है। सूर्य तथा चन्द्रादि देवताओंका पूजन करके बालकको सूर्य-दर्शन कराना—इस संस्कारकी मुख्य प्रक्रिया है। छठे मासमें 'अन्नप्राशन' और 'चूडाकरण (मुंडन)' संस्कार कुलकी परम्पराके अनुसार करना चाहिये। चूडाकरणके बाद 'कर्णवेध' संस्कार होता है। तदनन्तर ब्राह्मणका गर्भसे आठवें वर्ष, क्षत्रियका ग्यारहवें वर्ष तथा वैश्यका बारहवें वर्षमें 'यज्ञोपवीत' संस्कार करानेका विधान है। इन समयोंका दुगुना समय बीत जानेपर (जैसे ब्राह्मण-बालकका १६ वर्ष इत्यादि) वह वेदव्रतसे च्युत होकर 'व्रात्य' कहलाता है और 'व्रात्यहोम'से शुद्ध होता है। 'उपनयन' हो जानेपर बालकका वेदारम्भमें अधिकार प्राप्त हो जाता है। 'वेदारम्भ' संस्कारमें ब्रह्मचारी गुरुकुलमें वेदोंका स्वाध्याय तथा अध्ययन करता है। ब्रह्मचारीके अनेक नियमोंमें केश, श्मश्रु (दाढ़ी), मौञ्जी-मेखला धारण करनेका विधान है। विद्याध्ययन पूर्ण हो जानेपर 'केशान्त' संस्कार या श्मश्रु-संस्कार होता है। यह संस्कार गुरुकुलमें ही होता है। विद्याध्ययनका अन्तिम संस्कार 'वेदस्नान'—समावर्तन है। इसमें गुरुकी आज्ञा प्राप्त करके स्नातक जब अपने घर लौटता है, तब घरपर अभिभावकों आदिद्वारा उसका पूर्ण अर्चन-पूजन किया जाना चाहिये। अनन्तर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके लिये योग्य सुलक्षणा कन्याके साथ 'विवाह'-संस्कार सम्पन्न होता है। विवाह-संस्कारमें लाजाहोम आदि क्रियाएँ जिस अग्निमें सम्पन्न की जाती हैं वह 'आवसथ्य' या 'विवाहाग्नि' कहलाती है। उस अग्निका गृहमें आहरण तथा उसकी परिसमूहन आदि क्रियाएँ इस संस्कारमें सम्मिलित हैं। स्मार्त या पाक-यज्ञ-संस्थाके सभी कर्म वैवाहिक अग्निमें तथा हविर्यज्ञ एवं सोमसंस्थाके सभी श्रौत-कर्मानुष्ठानादि कर्म वैतानाग्नि (श्रौताग्नि—त्रेताग्नि—दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि)-में सम्पादित होते हैं, यह 'त्रेताग्नि' संस्कार कहलाता है। इन कर्मोंसे कर्ता सुसंस्कृत होता है और उसे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है।[1]

दानव्यास

धर्मशास्त्रोंमें दान-धर्मकी विशेष महिमा बतलायी गयी है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने तो कलियुगमें दानको ही मुख्य धर्म माना है और उसे महान् कल्याणकारी बतलाया है—

> प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
> जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥

'दानमेकं कलौ युगे' इसमें भी कलियुगमें दानको विशेष महत्त्वका बतलाया गया है। दानधर्मपर शतशः ग्रन्थ हैं। स्मृतियों तथा पुराणोंमें इसपर प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इसी प्रकार महाभारत तथा वाल्मीकीय रामायण आदिमें दानपर महत्त्वपूर्ण विवरण मिलता है। महाभारतका तो एक

१-गर्भाधानं प्रथमतस्तृतीये मासि पुंसवः॥
सीमन्तश्चाष्टमे मासि जाते जातक्रिया भवेत्। एकादशेऽह्नि नामार्कस्येक्षा मासि चतुर्थके॥
षष्ठे मास्यन्नमश्नीयाच्चूडाकर्म कुलोचितम्। कृतचूडे च बाले च कर्णवेधो विधीयते॥

× × ×

उपनीतो गुरुकुले वसेन्नित्यं समाहितः।

× × ×

केशान्तकर्मणा तत्र यथोक्तचरितव्रतः। समाप्य वेदान् वेदौ वा वेदं वा प्रसभं द्विजः॥
स्नायीत गुर्वनुज्ञातः प्रवृत्तोदितदक्षिणः। एवं स्नातकतां प्राप्तो द्वितीयाश्रमकांक्षया।
प्रतीक्षेत विवाहार्थमनिन्द्यान्वयसम्भवाम्॥

× × ×

स्मार्तं वैवाहिके वह्नौ श्रौतं वैतानिकाग्निषु। (व्यासस्मृति अ० १-२)

पूरा पर्व ही 'दानधर्मपर्व' कहलाता है। इसके अतिरिक्त हेमाद्रि, वीरमित्रोदय, कृत्यकल्पतरु तथा अपरार्क आदिके दानखण्ड बहुत प्रसिद्ध हैं, इसी प्रकार 'दानसागर' आदि भी अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ दानपर हैं। पर इनमें महर्षि वेदव्यासजीद्वारा 'दान' पर लिखा गया विवरण विशेष महत्त्वका है। पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थ महर्षि वेदव्यासरचित ही हैं, अत: उनमें निर्दिष्ट दान-विवरण महर्षि वेदव्यासजीका ही ठहरता है। कलेवरमें अत्यधिक बृहत् होनेके साथ ही महत्त्वकी दृष्टिसे भी महर्षि वेदव्यासजीकी सामग्री विशेष उपयोगी है। उनके नामसे जो 'व्यासस्मृति' उपलब्ध है, वह यद्यपि पूर्ण नहीं है तथापि इसमें उन्होंने दानके विषयमें जो लिखा है, वह अत्यन्त दिव्य और विशेष प्रेरणाप्रद है। व्यासस्मृतिकी यह सामग्री इतनी उपयोगी है कि 'दानव्यास'के नामसे प्रसिद्ध है। कूर्मपुराणमें वर्णित दानमहिमासे यह सामग्री बहुत अंशोंमें मिल जाती है, वह भी वेदव्यासरचित ही है। व्यासस्मृतिके चौथे अध्यायके लगभग ५० श्लोक दानधर्मसे सम्बद्ध हैं। विशेष महत्त्वके होनेसे यहाँ उस प्रकरणके कुछ श्लोकोंका भावानुवाद दिया जा रहा है—

महर्षि व्यासजी कहते हैं—जो विशिष्ट सत्पात्रोंको जो कुछ दान देता है और जो कुछ अपने भोजन-आच्छादनमें प्रतिदिन व्यवहृत करता है, उसीको मैं उस व्यक्तिका वास्तविक धन या सम्पत्ति मानता हूँ, अन्यथा शेष सम्पत्ति तो किसी अन्यकी है, जिसकी वह केवल रखवालीमात्र करता है। दानमें जो कुछ देता है और जितने मात्रका वह स्वयं उपभोग करता है, उतना ही उस धनी व्यक्तिका अपना धन है। अन्यथा मर जानेपर उस व्यक्तिके धन आदि वस्तुओंसे दूसरे लोग आनन्द मनाते हैं अर्थात् मौज उड़ाते हैं। तात्पर्य यह है कि सावधानीपूर्वक अपनी धन-सम्पत्तिको दान आदि सत्कर्मोंमें व्यय करना चाहिये। जब आयुका एक दिन अन्त निश्चित है तो फिर धनको बढ़ाकर उसे रखनेकी इच्छा करना मूर्खता ही है, वह धन व्यर्थ ही है, क्योंकि जिस शरीरकी रक्षाके लिये धन बढ़ानेका उपक्रम किया जाता है वह शरीर ही अस्थिर है, नश्वर है, इसलिये धर्मकी ही वृद्धि करनी चाहिये, धनकी नहीं। धनके द्वारा दान आदि करके धर्मकी वृद्धिका उपक्रम करना चाहिये, निरन्तर धन बढ़ानेसे कोई लाभ नहीं। धर्म बढ़ेगा तो धन अपने-आप आने लगेगा। (**धर्मादर्थो भवेद्ध्रुवम्**)। 'शरीरधारियोंके सभी शरीर नश्वर हैं और धन भी सदा साथ रहनेवाला नहीं है, साथ ही मृत्यु भी निकट ही सिरपर बैठी है' ऐसा समझकर प्रतिक्षण धर्मका संग्रह—धर्माचरण ही करना चाहिये; क्योंकि कालका क्या ठीक कब आ जाय, अत: अपने धन एवं समयका सदा सदुपयोग ही करना चाहिये। जो धन धर्म, सुखभोग या यश—किसी काममें नहीं आता और जिसे छोड़कर एक दिन यहाँसे अवश्य ही चले जाना है, उस धनका दान आदि धर्मोंमें उपयोग क्यों नहीं किया जाता? जिस व्यक्तिके जीनेसे ब्राह्मण, साधु-संत, मित्र, बन्धु-बान्धव आदि सभी जीते हैं—जीवन धारण करते हैं, उसी व्यक्तिका जीवन सार्थक है—सफल है, क्योंकि अपने लिये कौन नहीं जीता? पशु-पक्षी आदि क्षुद्र प्राणी भी जीवित रहते ही हैं, अत: स्वार्थी न बनकर परोपकारी बनना चाहिये। कीड़े-मकोड़े भी एक-दूसरेका भक्षण करते हुए क्या जीवन नहीं धारण करते? पर यह जीवन प्रशंसनीय नहीं है। परलोकके लिये जो दान-धर्मपूर्वक जिया गया जीवन है, वही सच्चा जीवन है। केवल अपने पेटको भरकर पशु भी किसी प्रकार अपना जीवन-धारण करते ही हैं। पुष्ट होकर तथा बली होकर भी जो लम्बे समयतक जीता है, धर्म नहीं करता ऐसे निरर्थक जीवनसे क्या लेना-देना! वह तो पशुके समान ही जीना है। अपने भोजनके ग्रासमेंसे भी आधा या चतुर्थ भाग आवश्यकतावालों या माँगनेवालोंको क्यों नहीं दे दिया जाता, क्योंकि इच्छानुसार धन तो कब किसको प्राप्त होनेवाला है अर्थात् अबतक तो किसीको प्राप्त नहीं हुआ है और न आगे किसीके पास होगा। यह नहीं सोचना चाहिये कि इतना धन और आ जायगा तो फिर मैं दान-पुण्य करूँगा। अत: जितना भी प्राप्त हो, उसीमें संतोष कर उसीमेंसे दान इत्यादि सब धर्मोंका अभ्यास करना चाहिये। जो पवित्र सत्पात्र ब्राह्मणको दान दिया जाता है और जो प्रज्वलित अग्निमें हवन किया जाता है, उतना ही धन वास्तविक रूपमें धन कहा गया है, शेष धन तो निरर्थक ही है। अच्छे—उपजाऊ क्षेत्रमें ही अन्नके बीज डालने चाहिये और धनका दान भी सत्पात्र गुणवान्‌को ही देना चाहिये। अच्छे क्षेत्र और अच्छे पात्रमें प्रयुक्त पदार्थ कभी दूषित नहीं होता, कभी नष्ट नहीं होता। शूरवीर व्यक्ति

तो सौमेंसे खोजनेपर एक प्राप्त हो जाता है, हजारमें ढूँढ़नेपर एक विद्वान् व्यक्ति भी मिल जाता है, इसी प्रकार एक लाखमें सभापर नियन्त्रण करनेवाला कोई वक्ता भी प्राप्त हो जाता है, किंतु असली दाता खोजनेपर भी मिल जाय यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अर्थात् दानी व्यक्ति संसारमें सबसे अधिक दुर्लभ है। शूरवीर वही है जो वास्तवमें इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करता है, युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला असली शूरवीर नहीं है। मात्र शास्त्रोंका अध्ययन करनेवाला पण्डित नहीं है, बल्कि तदनुकूल धर्माचरण करनेवाला ही सच्चा पण्डित है। केवल लच्छेदार भाषण करनेवाला वक्ता नहीं होता, किंतु मधुर, कल्याणकारी और विश्वहित चाहनेवाला, नीतियुक्त भाषण करनेवाला ही यथार्थ वक्ता है। इसी प्रकार केवल धनका दान करनेवाला दानी नहीं कहलाता, अपितु सम्मानपूर्वक यथोचित यथायोग्य विधिपूर्वक देश-कालके अनुरूप दान करनेवाला दाता ही सच्चा दाता है।

(२) लघुव्याससंहिता

महर्षि वेदव्यासजीके नामसे एक 'लघुव्याससंहिता' या 'लघुव्यासस्मृति' भी उपलब्ध है, जो दो अध्यायोंमें उपनिबद्ध है तथा इसमें लगभग १२५ श्लोक हैं। मुख्यरूपसे इसमें नित्य-कर्मोंमें परिगणित स्नान, संध्या, जप, देवपूजन, बलिवैश्वदेव और अतिथि-सत्कार—इन ६ कर्मोंके सम्पादनकी नित्य आवश्यकता बतलायी है और दैनिक कृत्यों—प्रातः-जागरण, शौच, स्नान, तर्पण, त्रिकाल-संध्या, सूर्यार्घ्यदान, गायत्रीजप, अग्निहोत्र, मध्याह्नस्नान, पञ्चयज्ञ, नित्यश्राद्ध, अतिथिसेवा, देवपूजन, भोजन तथा शयन आदिकी विधियोंका निर्देश है। संक्षिप्त होनेपर भी इस स्मृतिका विशेष महत्व है। इसमें महर्षि मनु तथा कपिल आदि धर्मशास्त्रोंके वचनोंको भी लिया गया है। यहाँ संक्षेपमें इस स्मृतिकी कुछ बातोंको दिया जा रहा है—

ब्राह्ममुहूर्तमें जागरण

सूर्योदयसे चार घड़ी लगभग डेढ़ घंटे पूर्वका समय ब्राह्ममुहूर्त कहलाता है। इस समय सोना शास्त्रमें निषिद्ध तो है ही, बल्कि इस समयकी निद्रा अनेक शारीरिक एवं मानसिक व्याधियोंको जन्म भी देती है। यह समय शरीर एवं मनको अत्यन्त स्फूर्ति एवं बल प्रदान करता है। अतः ब्राह्ममुहूर्तमें जगकर दिन-रातके कार्योंकी एक सूची बना लेनी चाहिये कि आज धर्मके या पुण्यके कौन-कौनसे कार्य करने हैं। जिसमें इन धर्म-कार्योंके सम्पादनके लिये जिस विशुद्ध धनकी आवश्यकता है, उसके लिये क्या प्रयत्न करना है तथा शरीरकी स्थिति कैसी है, यदि शरीरमें कोई आधि-व्याधि है तो उसका निदान कैसे हो एवं स्वाध्याय इत्यादि सभी बातोंका ठीक-ठीक पालन हो, इत्यादिका निर्देश हो ऐसा करनेसे धर्म-मर्यादापूर्वक जीवन व्यतीत होता है और व्यक्ति हमेशा सावधान रहता है, उससे कोई निन्द्य कार्य नहीं होता, यह सब तभी सम्भव है, जब व्यक्ति ब्राह्ममुहूर्तमें ही जग जाय—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय धर्मार्थावनुचिन्तयेत्॥
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च।

(लघुव्यास० १।१-२)

प्रातःस्नानकी महिमा

शौच आदिके अनन्तर किसी नदी, तालाब आदिके शुद्ध जलमें स्नान करना चाहिये। प्रातः-स्नानसे पापोंका विनाश होता है। प्रातःकाल स्नान करनेके अनन्तर ही मनुष्य शुद्ध होकर जप-पूजा-पाठ आदि समस्त कर्म करनेका अधिकारी बनता है; क्योंकि बिना स्नानके ये कर्म नहीं किये जाते। नौ छिद्रोंवाले अत्यन्त मलिन शरीरसे दिन-रात मल निकलता रहता है, अतः प्रातःकाल स्नान करनेसे शरीरकी शुद्धि होती है। रातमें सुषुप्तावस्थामें मुखसे अपवित्र लार आदि पदार्थ निकलते रहते हैं, अतः बिना स्नान किये कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये। प्रातःकाल स्नान करनेसे अलक्ष्मी, दौर्भाग्य, दुःस्वप्न तथा बुरे विचारोंके साथ ही सभी पापोंका विनाश भी हो जाता है, और बिना स्नान किये वह आगेके कार्योंके लिये प्रशस्त भी नहीं होता, इसीलिये प्रातः-स्नानकी विशेष महिमा है—

प्रातःस्नानेन पूयन्ते सर्वपापान्न संशयः।
न हि स्नानं विना पुंसां प्राशस्त्यं कर्मसु स्मृतम्॥

(लघुव्यास० १।७)

अशक्तावस्थामें स्नानकी विधि

स्नान करनेमें असमर्थ होनेपर सिरके नीचेसे स्नान करना चाहिये अथवा गीले वस्त्रसे सारे शरीरको भलीभाँति पोंछ लेना चाहिये या मार्जन (अपने ऊपर जल छिड़कना)-

से भी स्नानकी विधि पूरी हो जाती है—ऐसा महर्षि कपिलजीका अभिमत है। अशक्तावस्थामें ब्राह्म्य आदि मन्त्र-स्नान भी प्रशस्त हैं—

अशक्तोऽवशिरस्कं वा स्नानमात्रं विधीयते॥
आर्द्रेण वाससा चाङ्गमार्जनं कापिलं स्मृतम्।

× × ×

ब्राह्म्यादीन्यथवाशक्तौ स्नानान्याहुर्मनीषिणः।

(लघुव्यास० १। ८—१०)

सात प्रकारके स्नान

यद्यपि शुद्ध जलसे स्नान करना सामान्य स्नान है, तथापि धर्मशास्त्रोंमें स्नानके अनेक भेद बतलाये गये हैं। लघुव्यासस्मृतिमें बतलाया गया है कि (१) ब्राह्म, (२) आग्नेय, (३) वायव्य, (४) दिव्य, (५) वारुण, (६) मानस तथा (७) यौगिक—ये सात प्रकारके स्नान होते हैं।

कुशाओंके द्वारा 'आपो हि ष्ठा०' इत्यादि मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए अपने ऊपर जलसे मार्जन करना 'ब्राह्म-स्नान' कहलाता है। समस्त शरीरमें भस्म लगाना 'आग्नेय-स्नान' है। चूँकि भस्म अग्निजन्य है, अत्यन्त पवित्र है, इसलिये यह अग्नि-सम्बन्धी स्नान 'आग्नेय-स्नान' कहलाता है। गायके खुरकी धूलि अत्यन्त पवित्र है, उसकी अनन्त महिमा है। अतः उस धूलिको पूरे शरीरमें लगाना 'वायव्य-स्नान' है। वायुद्वारा अथवा उड़ायी गयी गोधूलिका शरीरमें पड़ जाना भी एक प्रकारका 'वायव्य-स्नान' ही है। इसमें वायुका विशेष योग रहता है, इसलिये इसकी संज्ञा वायव्य है। सूर्यकिरणमें वर्षाके जलसे स्नान करना 'दिव्य-स्नान' है। जलमें डुबकी लगाकर स्नान करना 'वारुण-स्नान' है। आत्मज्ञान 'मानस-स्नान' है और भगवान् विष्णुका चिन्तन करते रहना—यह योगरूप 'यौगिक स्नान' है[1]।

संध्याकी महिमा एवं अनिवार्यता

संध्योपासनासे विहीन द्विजाति-वर्ग नित्य अपवित्र ही रहता है और वह सभी प्रकारके विहित-कर्मोंके अयोग्य है। संध्यासे रहित होकर वह अन्य जो भी कर्म करता है, उसका फल उसे नहीं प्राप्त होता। तात्पर्य यह है कि संध्या अवश्य करनी चाहिये। प्राचीन कालमें वेदशास्त्रमें पारंगत ब्राह्मणोंने अनन्यमनस्क होकर शान्त एवं स्थिर-भावसे विधिपूर्वक संध्योपासनाके द्वारा ही भगवत्साक्षात्कार किया था, किंवा परमगति प्राप्त की थी। जो द्विजोत्तम संध्या-वन्दन छोड़कर अन्य दूसरे धर्मकार्योंको करनेका प्रयत्न करता है, वह अयुत वर्षोंतक नरकमें निवास करता है। इसलिये बड़े ही प्रयत्नपूर्वक श्रद्धा-भक्तिसे यथोचित विधिसे संध्योपासना करनी चाहिये। उससे मनुष्यका शरीर भगवत्प्राप्तिके परम योग्य बन जाता है[2]।

जपके समय निषिद्ध कार्य

गायत्री-मन्त्रके जप अथवा अन्य किसी मन्त्रके जपमें न तो किसीसे बोलना चाहिये और न अपने शरीरके अङ्गोंको हिलाना चाहिये। न सिर और गर्दन हिलाये, न दाँत दिखाये। पवित्र देशमें—एकान्त-स्थानमें स्थिर-आसनसे बैठकर केवल मन्त्रके अधिष्ठाता देवका चिन्तन करते हुए एकतानतापूर्वक जप करना चाहिये। यदि इसके विपरीत जप होता है तो उस जपका फल गुह्यक, राक्षस तथा सिद्ध बलात् हरण कर लेते हैं[3]।

१-ब्राह्ममाग्नेयमुद्दिष्टं वायव्यं दिव्यमेव च॥
वारुणं यौगिकं चैव सदा स्नानं प्रकीर्तितम्। ब्राह्मं तु मार्जनं मन्त्रैः कुशैः सोदकबिन्दुभिः॥
आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम्। यत्तु सातपवर्षेण तत् स्नानं दिव्यमुच्यते॥
वारुणं चावगाहं च मानसं चात्मवेदनम्। यौगिकं स्नानमाख्यातं योगोऽयं विष्णुचिन्तनम्॥ (लघुव्यास० १। १०—१३)

२-संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलमाप्नुयात्॥
अनन्यचेतसः शान्ता ब्राह्मणा वेदपारगाः। उपास्य विधिवत् संध्यां प्राप्ताः पूर्वे परां गतिम्॥
योऽन्यत्र कुरुते यत्नं धर्मकार्ये द्विजोत्तमः। विहाय संध्याप्रणतिं स याति नरकायुतम्॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन संध्योपासं समाचरेत्। उपासितो भवेत् तेन देवयोगतनुः परः॥ (लघुव्यास० १। २७—३०)

३-जपकाले न भाषेत नाङ्गानि चालयेत् तथा। न कम्पयेच्छिरोग्रीवां दन्तान् नैव प्रकाशयेत्॥
गुह्यका राक्षसाः सिद्धा हरन्ति प्रसभं हि तत्। एकान्ते तु शुचौ देशे तस्माज्जप्यं समाचरेत्॥
(लघुव्यास० १। ३१-३२)

तर्पणके नियम

देवताओं तथा ऋषियोंको अक्षत-मिश्रित जलसे एक-एक अञ्जलि देनी चाहिये और पितरोंका तर्पण तिलमिश्रित जलसे करना चाहिये। देव एवं ऋषि-तर्पणमें सव्य होकर (बाँये कंधेपर यज्ञोपवीत रखकर), ऋषितर्पणमें निवीती (जनेऊको मालाकी भाँति पहनकर) होकर और पितृतर्पणमें अपसव्य होकर तर्पण करना चाहिये। देव तथा ऋषि-तर्पण देवतीर्थ (दायें हाथकी अँगुलियोंके अग्रभाग)-से, दिव्य मनुष्य-तर्पण प्राजापत्य (काय) तीर्थ (कनिष्ठिकाके मूलभाग)-से तथा पितृतर्पण पितृतीर्थ (तर्जनी अँगुलीके मूल भाग)-से करना चाहिये—

देवान् ब्राह्मऋषींश्चैव तर्पयेदक्षतोदकैः।
पितॄन् तिलोदकैश्चैव विधिना तर्पयेद्बुधः॥
यज्ञोपवीती देवानां निवीती ऋषितर्पणे।
प्राचीनावीति पित्र्येषु स्वेन तीर्थेन भाषितम्॥

(लघुव्यास० २। ३६, ३८)

सदाचारके पालनसे परम गति

भोजनसे पूर्व गोदोहनमें जितना समय लगता है, उतने कालतक कोई अतिथि-अभ्यागत न आ जाय, इसलिये प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि उतने समयमें कोई अतिथि उपस्थित हो जाय तो उसे यथाविधि प्रसन्नतासे भोजन कराना चाहिये। देवता, भूतबलि, सेवक, अतिथि तथा पितरोंको बिना भोजन दिये जो मूढात्मा भोजन करता है, वह तिर्यक्-योनिको प्राप्त करता है। प्रतिदिन यथाशक्ति वेदाभ्यास, पञ्चमहायज्ञोंका सम्पादन—(देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव तथा पञ्चबलि), मनुष्य-यज्ञ (अतिथि-यज्ञ), पितृयज्ञ) तथा वेदादिशास्त्रोंका पूजन करनेसे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य अज्ञानसे अथवा लोभसे बिना देवताओंका पूजन किये भोजन करता है, वह अनेक नरकोंमें भटकता रहता है और फिर शूकरकी योनि प्राप्त करता है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक इन नित्य-कर्मोंको* अवश्य करना चाहिये। उत्तर एवं पश्चिमकी ओर सिर करके तथा अधोमुख होकर नहीं सोना चाहिये और नग्न, दूसरेके आसन, टूटी हुई खाट तथा जनशून्य गृहमें नहीं सोना चाहिये—

गोदोहकालमात्रं वै प्रतीक्ष्य ह्यतिथिं स्वयम्॥
अभ्यागतान् यथाशक्ति भोजयेदतिथिं सदा।
अदत्त्वा देवताभूतभृत्यातिथिपितृष्वपि॥
भुञ्जीत चेत् स मूढात्मा तिर्यग्योनिं च गच्छति।

× × ×

यो मोहादथवा लोभादकृत्वा देवतार्चनम्॥
भुङ्क्ते स याति नरकान् शूकरेष्वभिजायते।

× × ×

नोत्तराभिमुखः सुप्यात् पश्चिमाभिमुखो न च॥
अवाङ्मुखो न नग्नो वा न च भिन्नासने क्वचित्।
न भग्नायां तु खट्वायां शून्यागारे तथैव च॥

(लघुव्यास० २। ६२-६६, ८८—८९)
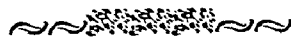
धन अनर्थ तथा दुःखका मूल

अर्थवन्तं नरं नित्यं पञ्चाभिघ्नन्ति शत्रवः। राजा चोरश्च दायादा भूतानि क्षय एव च॥
अर्थमेवमनर्थस्य मूलमित्यवधारय।
अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां तु रक्षणे। नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥

[भगवान् शिव पार्वतीसे कहते हैं—देवि!—] धनवान् मनुष्यपर सदा पाँच शत्रु चोट करते हैं—राजा, चोर, उत्तराधिकारी भाई-बन्धु, अन्यान्य प्राणी तथा क्षय। इस प्रकार तुम अर्थको अनर्थका मूल समझो। धनके उपार्जनमें दुःख होता है, उपार्जन किये हुए धनकी रक्षामें दुःख होता है, धनके नाशमें और व्ययमें भी दुःख होता है, इस प्रकार दुःखके भाजन बने हुए धनको धिक्कार है। (महा०, अनु० १४५)
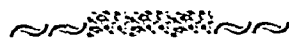
*गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित 'नित्यकर्मपूजा-प्रकाश' पुस्तकसे नित्यकर्मकी विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

धर्माचरण

भगवान् विष्णुप्रोक्त स्मृतिशास्त्र

(१) वैष्णवधर्मशास्त्र या विष्णुधर्मसूत्र

मुख्यतम धर्मशास्त्रोंमें मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदिके बाद वैष्णवधर्मशास्त्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। सूत्रोंमें उपनिबद्ध होनेके कारण यह 'विष्णुधर्मसूत्र' के नामसे भी प्रसिद्ध है। जैसे अन्य धर्मशास्त्र मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम, वसिष्ठ, पराशर, कात्यायन आदि ब्रह्मज्ञ ऋषि-महर्षियोंद्वारा कथित हैं, वैसे यह धर्मशास्त्र किन्हीं ऋषि-महर्षिद्वारा प्रणीत न होकर साक्षात् भगवान् विष्णुद्वारा धरा (पृथ्वी) देवीको उपदिष्ट है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताके समान ही यह भी भगवान्‌की ही वाणी है। इस दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व ठहरता है। इसमें अनेक स्थलोंपर श्रीमद्भगवद्गीताके भी अनेक वचन प्रायः ज्यों-के-त्यों आये हैं, साथ ही इसमें ज्ञान-विज्ञान, योग, भक्ति, सदाचार, वर्णाश्रमधर्म, प्रायश्चित्त, श्राद्ध तथा वैष्णवभक्ति आदिकी उत्कर्षताका निदर्शन हुआ है। वैष्णव-समाज जिसमें रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, विष्णुस्वामी तथा रामानन्द आदि मुख्य माने जाते हैं, इसे अपनी निजी सम्पत्ति और सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ मानते हैं। इसकी प्रतिपादन-शैली अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक है। इसके अधिकांश सूत्र तथा श्लोक सुभाषितके रूपमें कण्ठ करने योग्य हैं। यह धर्मशास्त्रके साथ ही वैष्णव सदाचारका मुख्य प्रौढ ग्रन्थ है।

इसमें छोटे-बड़े १०० अध्याय हैं। प्रायः यह सूत्रोंमें कहा गया है, किंतु कुछ अध्याय गद्य-पद्यात्मक भी हैं। अनेक धर्मग्रन्थोंके प्रणेता आचार्य नन्दपण्डितकी इसपर 'केशव-वैजयन्ती' नामक संस्कृत टीका अत्यन्त ही प्रौढ एवं उपादेय है। इस टीकासे ज्ञात होता है कि यजुर्वेदकी 'कठ' शाखासे इस धर्मशास्त्रका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इसमें मनुस्मृति, श्रीमद्भगवद्गीता, गरुडपुराणके अनेक वचन उद्धृत हैं। मनुस्मृतिके मेधातिथि-भाष्य, याज्ञवल्क्यकी मिताक्षरा टीका, अपरार्क तथा स्मृतिचन्द्रिकामें इस धर्मसूत्रके अनेक वचनोंको प्रमाणरूपमें उपन्यस्त किया गया है। यह धर्मग्रन्थ आद्योपान्त पठनीय, मननीय एवं आचरणीय है।

इसका वराहपुराणसे भी सम्बन्ध है। इसके आरम्भमें ही भगवान् वराहद्वारा पृथ्वीके उद्धारकी कथा और वराहावतारकी कथा आयी है। भगवान् वराहके द्वारा रसातलसे उद्धृत पृथ्वीदेवी मूर्तिमती स्त्रीका रूप धारण करके अपने नियतस्थानपर सुस्थिर करानेके लिये महर्षि कश्यपजीके पास जाकर प्रार्थना करती हैं, क्योंकि पृथ्वीका नाम काश्यपी है और कश्यप ही सर्वप्रथम पृथ्वीके प्रजापति और अधिपति थे। इसपर कश्यपजी पृथ्वीको साक्षात् सर्वज्ञ भगवान् विष्णुके पास क्षीरसागर जाकर अपने स्थिर रहनेका स्थान तथा सारे धर्मोंकी जानकारी प्राप्त करनेके लिये कहते हैं। तब पृथ्वी भगवान् विष्णुके पास जाती है और प्रणाम करके कहती है—'हे देवाधिदेव! मैं रसातलमें चली गयी थी, वहाँसे आपने वराहरूपसे मेरा उद्धार तो कर दिया, पर अब मैं किस आधारपर ठहरूँ या स्थित होऊँ, यह मुझे ज्ञात नहीं हो रहा है, आप कृपा करके मेरे धारण करनेवाले आधारतत्त्वका निर्देश करें।' इसपर भगवान्‌ने कहा—'हे धरे! वर्णाश्रमके सदाचारमें परायण तथा शास्त्र-विधि-विधानके जाननेवाले धर्मात्मा लोग ही तुम्हें धारण करेंगे और उन्हींके बलपर टिकी रहोगी।' भगवान्‌ने बताया कि 'समस्त संसारको धारण करनेवाले धर्म और धर्मको भी धारण करनेवाले संत, महात्मा, धर्मात्मा पुरुषोंद्वारा ही पृथ्वी सदासे सुस्थिर, शान्त और निर्बाधरूपसे स्थिर रहती है, क्योंकि वैष्णव संत-महात्मा लोग विशुद्ध वैष्णवधर्मका ज्ञान रखते हैं और धर्मका ही आचरण करते हैं, इसलिये वे सर्वसमर्थ और सर्वशक्तिमान् होते हैं[1]।'

भगवान्‌के वचनोंको सुनकर धरादेवी अत्यन्त प्रसन्न हो गयीं। तब उन्होंने भगवान्‌से पुनः धर्मके गूढ़तम तत्त्वोंका तथा सदाचार, धर्माचार आदिके विषयमें जिज्ञासा की। इसपर भगवान् विष्णुने जो कुछ उन्हें उपदिष्ट किया, वह विष्णु-धरा-संवादरूपमें वैष्णवधर्मशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध

१-वर्णाश्रमाचाररताः शास्त्रैकतत्परायणाः। त्वां धरे धारयिष्यन्ति [illegible] (विष्णुधर्म० [illegible])

हो गया। (शुश्रुवे वैष्णवान् धर्मान् सुखासीना धरा तदा॥) (विष्णुधर्म० १। ७६)

सूत्रात्मक इस वैष्णवधर्मशास्त्रके १०० अध्यायोंकी एक संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

वैष्णवधर्मशास्त्रके सौ अध्यायोंमें प्रतिपादित विषयोंकी सूची—

(१) वराहावतारकी कथा, भगवान् वराहद्वारा पृथ्वीका उद्धार, पृथ्वीदेवीके द्वारा प्रजापति कश्यपसे अपनी स्थितिके विषयमें चिन्ता करना और कश्यपजीद्वारा पृथ्वीको क्षीरशायी भगवान् विष्णुके पास भेजना, वहाँ पहुँचकर पृथ्वीद्वारा विष्णुकी प्रार्थना करना और भगवान् विष्णुद्वारा पृथ्वीदेवीको धर्मका उपदेश देना तथा यह बतलाना कि धर्म एवं धार्मिक जनोंके बलपर ही तुम्हारी सत्ता टिकी रहेगी। भगवान् विष्णुद्वारा धराको धर्मोपदेशका उपक्रम, (२) वर्णाश्रमधर्म एवं सामान्य धर्म, (३) राजधर्म, (४) कार्षापण एवं अन्य छोटे बटखरोंका विवरण, (५) राजधर्म-विधानमें विस्तारसे दण्ड-प्रक्रिया, (६) ऋण लेने एवं देनेका विधान, (७) तीन प्रकारके लिखित साक्षी-पत्र (गवाही), (८) कूटसाक्षी, (९) गवाहकी दिव्य परीक्षाके विषयमें सामान्य नियम, (१०—१४) अपराधी एवं गवाहकी दिव्य परीक्षाके उपाय—तुला-परीक्षा, अग्निपरीक्षा, जलपरीक्षा, विषपरीक्षा, अभिमन्त्रित जलद्वारा परीक्षा, (१५) बारह प्रकारके पुत्र तथा पुत्र-प्रशंसा, (१६) मिश्रित विवाहसे उत्पन्न अनुलोम या प्रतिलोम पुत्र और उनकी संकर जातियाँ, (१७) दाय-विभाग—पिताकी सम्पत्तिका बँटवारा तथा स्त्री-धन-मीमांसा, (१८) विभिन्न जातियोंवाली पत्नियोंसे उत्पन्न पुत्रोंमें धनका बँटवारा, (१९) शवको वहन करनेका अधिकारी, अशौच तथा ब्राह्मण-महिमा, (२०) दिन-रात, वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प, महाकल्प इत्यादि प्रकारसे काल-विभाग, कालकी महिमा तथा धर्माचरणकी महत्ता, (२१) अशौच पूरा होनेपर सपिण्डीकरण, मासिक श्राद्ध आदिका विधान, (२२) जननाशौच, मरणाशौच एवं स्पर्शजन्य अशौच, (२३) अन्न, द्रव्य एवं पात्र-शुद्धिके उपाय, (२४) विवाह-विधान, (२५) स्त्रीधर्म, (२६) विभिन्न जातियोंकी पत्नियोंमें प्रमुखता, (२७) गर्भाधान, पुंसवन आदि दस संस्कारोंका वर्णन, (२८) ब्रह्मचारीके सदाचार एवं नियमोंका वर्णन, (२९) आचार्य एवं ऋत्विक्के कर्तव्य, (३०) वेदाध्ययनमें अनध्यायोंका वर्णन, (३१) माता-पिता एवं गुरुकी सेवाका माहात्म्य, (३२) सत्कार पाने योग्य अन्य लोग, (३३) पापके तीन कारण—काम, क्रोध, लोभ, (३४) अतिपातक, (३५) पञ्चमहापातक, (३६) महापातकोंके समान अन्य पातक, (३७) उपपातक, (३८—४२) जातिभ्रंशकरण, संकरीकरण, अपात्रीकरण एवं मलिनीकरणसे सम्बद्ध प्रकीर्ण पातक, (४३) २१ प्रकारके नरक, (४४) पापोंके फलस्वरूप होनेवाली गतियाँ (क्षुद्र योनियोंकी प्राप्ति), (४५) कर्मविपाक (प्रायश्चित्त न करनेके कारण होनेवाली व्याधियाँ), (४६—४८) कृच्छ्र, तप्त-कृच्छ्र, पराक, सान्तपन, महासान्तपन, चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्त-व्रतोंका विधान, (४९) एकादशी आदि व्रतों तथा भगवान्‌की पूजन-भक्तिसे पापका प्रतीकार, (५०) ब्राह्मणहत्या तथा गोहत्याका प्रायश्चित्त, (५१—५४) महापातक, उपपातकों तथा प्रकीर्ण पातकोंका प्रायश्चित्त-विधान, (५५) रहस्य-पापोंका प्रायश्चित्त, (५६) जप, होम, वैदिक सूक्तोंके पाठसे पाप-मुक्ति तथा पवित्रीकरण, (५७) प्रतिग्रह-दोष तथा सत्संगकी महिमा, (५८) गृहस्थके शुक्ल, शबल और असित—तीन प्रकारके धन तथा धनकी गति, (५९—७२) गृहस्थधर्म, पञ्चमहायज्ञोंका विधान, गृहस्थ-जीवनके आचार—शौचाचार, सदाचार, गृहस्थके नित्यकर्म—शौच, दन्तधावन, स्नान, संध्या-वन्दन, पूजन, जप, होम, बलिवैश्वदेव, अतिथि-सत्कार, तर्पण, श्राद्ध, ग्रहणमें करणीय एवं त्याज्य कर्म, भोजन-विधि, स्त्रीधर्म, शयन-विधि, इन्द्रिय-निग्रह तथा आत्मसंयमकी महिमा इत्यादि। (७३—८६) श्राद्ध, श्राद्ध-विधि, सपिण्डीकरण, एकोद्दिष्ट, पार्वण-श्राद्ध, अष्टका-श्राद्ध, काम्य-श्राद्ध, विशेष तिथियोंमें किये जानेवाले श्राद्ध, श्राद्धमें निमन्त्रित किये जानेवाले ब्राह्मणोंके लक्षण, पंक्तिपावन ब्राह्मण, श्राद्धके लिये पवित्र तथा अयोग्य देश, श्राद्धमें प्रशस्त वस्तुएँ, पितृगीता, वृषोत्सर्ग इत्यादि। (८७-८८) दान, दानकी महिमा तथा विविध प्रकारके दान, (८९) कार्तिक मास-माहात्म्य तथा कार्तिकमें स्नान-दानकी महिमा, (९०) मार्गशीर्ष आदि द्वादश मासोंकी महिमा तथा उनमें

किये जानेवाले स्नान-दानकी विशेषता, (९१—९३) इष्टापूर्तधर्म तथा अभय आदि विविध प्रकारके दान और दानके अधिकारी ब्राह्मणोंके लक्षण, (९४-९५) वानप्रस्थ-आश्रम तथा वानप्रस्थ-धर्म, (९६-९७) संन्यास-आश्रम तथा संन्यास-धर्म और आत्मचिन्तनकी महिमा, (९८) सर्वत्र भगवद्दर्शन ही श्रेष्ठ धर्म है, इसका प्रतिपादन, (९९) लक्ष्मीके निवास-योग्य स्थान तथा (१००) इस वैष्णवधर्मशास्त्रका माहात्म्य।

यहाँ संक्षेपमें इस स्मृतिकी कुछ सारभूत बातें दी जा रही हैं, विशेषके लिये मूल ग्रन्थ देखना चाहिये—

इस धर्मसूत्रके द्वितीय अध्यायमें संक्षेपमें चारों वर्णोंके अलग-अलग कर्मोंका निर्देश करते हुए बताया गया है कि चारों वर्णोंको स्वधर्मका ही पालन करना चाहिये, किंतु आपत्तिकालमें विशेष परिस्थितिमें अन्य वर्णकी वृत्तिका आश्रय भी लिया जा सकता है—

'आपद्यनन्तरा वृत्तिः'

(अ० २)

सामान्य धर्म

विशेष वर्णधर्मका निर्देश करनेके अनन्तर सर्वसामान्यके लिये सामान्य धर्मका उल्लेख करते हुए बताया गया है कि उसका परिपालन सभीके लिये आवश्यक है। सामान्य धर्मका आचरण किये बिना विशेष धर्मका कोई औचित्य नहीं। क्षमा, सत्य, दम (बाह्य वृत्तियोंका निग्रह), बाह्याभ्यन्तर-शौच, दान, इन्द्रिय-संयम (ब्रह्मचर्य), अहिंसा, गुरु-शुश्रूषा, तीर्थाटन, दया, आर्जव (सरलता), अलोभ, देवता एवं ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा तथा अनभ्यसूया (किसीसे द्वेष न रखना)—ये सामान्य धर्म कहे गये हैं—

लोग अपने-अपने वर्णके अनुसार अपने-अपने धर्मका परिपालन कर रहे हैं या नहीं, यदि नहीं तो इसके लिये यथोचित व्यवस्था करनी चाहिये—

प्रजापरिपालनं वर्णाश्रमाणां स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम्।

(अ० ३)

राजा राज्य-व्यवस्थाके उचित संचालनके लिये ग्रामाध्यक्ष, दशग्रामाध्यक्ष, शताध्यक्ष, देशाध्यक्ष आदिकी नियुक्ति करे। धर्मिष्ठ लोगोंको धर्मकार्यमें लगाये। कुशल लोगोंको धनके कार्यमें लगाये, शूरवीरोंको सेनामें प्रविष्ट करे। प्रजासे लगानके रूपमें वर्षमें कृषिका छठा हिस्सा ले—

प्रजाभ्यो बल्यर्थं संवत्सरेण धान्यतः षष्ठमंशमादद्यात्।

(अ० ३)

किंतु राजाको चाहिये कि वह ब्राह्मणोंसे कर न ले; क्योंकि वे राजाके लिये अपने धर्मानुष्ठानको ही 'कर'के रूपमें देनेवाले होते हैं—

ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात् ते हि राज्ञो धर्मकरदाः।

(अ० ३)

राजा प्रजाके पुण्य और पापके छठे अंशका भागी होता है। अर्थात् यदि प्रजा पुण्यका कार्य करती है तो उस पुण्यका छठा भाग राजाको प्राप्त होता है, इसी प्रकार यदि प्रजा पाप करती है तो राजाको भी उस पापका छठा अंश प्राप्त होता है, अतः राजाको चाहिये कि वह स्वयं भी पुण्यकार्य करे और प्रजाको भी पुण्यकार्यमें लगाये—

राजा च प्रजाभ्यः सुकृतदुष्कृतषष्ठांशभाक्।

यथायोग्य यथाकाल व्यवहार करे।

राजाको चाहिये कि राज्यमें दैवी उत्पात, प्राकृतिक प्रकोप—यथा—अकाल, महामारी, भूकम्प, धूमकेतु-दर्शन इत्यादि होनेपर वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता कुलीन ब्राह्मणोंद्वारा शान्ति एवं पुष्टि-कर्मों तथा स्वस्त्ययन आदि माङ्गलिक पाठोंद्वारा उन्हें शान्त कराये—

शान्तिस्वस्त्ययनैर्दैवोपघातान् प्रशमयेत्।

(अ० ३)

जो राजा प्रजाके सुखसे सुखी और प्रजाके दुःखसे दुःखी होता है अर्थात् प्रजाका समुचित रूपसे पालन-पोषण, रक्षण-वर्धन करते हुए प्रजाको अपनी आत्माके समान समझता है, ऐसा धार्मिक राजा इस लोकमें महान् सुकीर्ति प्राप्त करता है और स्वर्गलोक तथा परलोकमें परम प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। प्रजाका दुःख ही राजाके लिये सबसे भारी दुःख होता है—

प्रजासुखे सुखी राजा तद्दुःखे यश्च दुःखितः।
स कीर्तियुक्तो लोकेऽस्मिन् प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥

(अ० ३)

इसी प्रकार जिस राजाके राज्यमें, नगरमें कोई चोर नहीं होता, न कोई परस्त्रीगामी होता है, न कोई दुष्ट एवं परुष वाणी बोलनेवाला होता है, न कोई बलात् धन हरण कर लेनेवाला साहसिक (डाकू-लुटेरा) होता है और न कोई दण्ड-विधानका उल्लंघन करनेवाला होता है, तात्पर्य यह है कि सभी लोग धार्मिक और स्वधर्माचरणका अनुष्ठान करनेवाले होते हैं, वह राजा इन्द्रलोकको प्राप्त करता है, ऐसा तभी सम्भव है जब स्वयं राजा परम धार्मिक हो—

यस्य चौरः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥

(अ० ५)

प्रेत-सम्बन्धी कृत्य

मृत व्यक्तिके बन्धु-बान्धवोंको चाहिये कि शवदाहके बाद जलमें वस्त्र-सहित स्नान करे। प्रेतके निमित्त उदकाञ्जलि देनी चाहिये। वस्त्र बदलकर नीमके पत्तोंको चबाकर घरके द्वारपर रखे गये पत्थरपर पाँव रखकर गृहमें प्रवेश करना चाहिये। अग्निमें अक्षत चढ़ाये। ऐसा करनेसे दाहस्थलके दूषित परमाणु गृहमें प्रविष्ट नहीं हो पाते और शुद्धता बनी रहती है। चौथे दिन अस्थि-संचय करे और फिर उन्हें गङ्गादि पवित्र नदियोंमें विसर्जित करे। जबतक अशौच रहे तबतक प्रेतके निमित्त उदकाञ्जलि तथा पिण्ड नित्य देना चाहिये।

प्रेत-क्रिया करनेवालेको चाहिये कि वह पवित्र भिक्षादिके अन्न या स्वोपार्जित शुद्ध अन्नको ग्रहण करे। अपवित्र एवं अशुद्ध भोजन न करे। पवित्र भूमिपर शुद्ध आसनपर शयन करे। एकाकी ही सोये। अशौचपर्यन्त इसी प्रकार शुद्धतासे रहे। अशौचके अन्तमें घर या ग्रामसे बाहर दाढ़ी-बाल बनवाकर तिलके खली-मिश्रित जल अथवा सरसोंके खली-मिश्रित जलसे स्नान कर वस्त्र बदलकर गृहमें प्रवेश करे। वहाँ शान्ति-कर्म करके ब्राह्मणोंका पूजन करे। ब्राह्मणोंको चाहिये कि वे मृत व्यक्तिके शोक एवं दुःखसे संतप्त बन्धु-बान्धवोंको अनेक प्रकारकी धर्म-चर्चा और पौराणिक आख्यानोंद्वारा संसारकी नश्वरता तथा दुःखरूपता एवं आत्माकी नित्यता बतलाकर धैर्य प्रदान करे, जैसे उनका दुःख दूर हो तथा वे स्वस्थ होकर अपना कर्तव्य कर्म कर सकें, वैसा प्रयत्न करे—

तत्र शान्तिं कृत्वा ब्राह्मणानां च पूजनं कुर्युः।
दुःखान्वितानां मृतबान्धवानामाश्वासनं कुर्युरदीनसत्त्वाः।

(अ० १९)

कालकी महत्ता

कालकी गति महान् है—अनन्त है। वह सर्वजयी है। ऐसा कोई भी नहीं हुआ, न होगा, जिसकी सत्ता सदा बनी रही हो—

न तद्भूतं प्रपश्यामि स्थितिर्यस्य भवेद् ध्रुवा॥

(अ० २०)

कल्प-कल्पमें, मन्वन्तरोंमें सभी देवता तथा मनु आदि लुप्त हो जाते हैं, अनेकों इन्द्र बदलते रहते हैं तो फिर मनुष्यकी क्या गति है। कालके द्वारा सब कुछ विनष्ट कर दिया जाता है। बहुतसे सर्वगुण-सम्पन्न शक्तिमान् राजर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि आदि कालके गालमें चले जाते हैं। इस संसारको बनाने-बिगाड़नेवाले भी कालद्वारा लीन कर दिये जाते हैं, अतः काल सर्वथा अनतिक्रम्य है, कालका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। प्राणी तो स्वयंके कर्म-बन्धनमें

बँधा हुआ है, अत: उसके लिये शोक करनेसे क्या लाभ? जन्म लेनेवालेकी मृत्यु ध्रुव है और मरनेवालेका जन्म भी ध्रुव सत्य है, अत: इस दुष्परिहार्य विषयमें धर्मको छोड़कर संसारमें अन्य कोई किसीका सहायक नहीं है, कोई कुछ नहीं कर सकता—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
अर्थे दुष्परिहार्येऽस्मिन् नास्ति लोके सहायता॥

(अ० २०)

मृत व्यक्तिके लिये रोना-धोना छोड़कर पिण्डदान, श्राद्धादि कर्म करे

चूँकि मृत व्यक्तिके लिये शोक, दु:ख, विलाप करनेवाले बन्धु-बान्धव उसका कुछ भी उपकार नहीं करते हैं, इसलिये उन्हें चाहिये कि वे रोना-धोना छोड़कर स्वस्थ होकर यथाशक्ति उसके कल्याणके निमित्त और्ध्वदैहिक पिण्डदान, श्राद्ध, ब्राह्मण-भोजन, दान आदि सत्कर्म करें। इससे प्रेत प्रेतत्वसे मुक्त होकर सद्गति प्राप्त करता है। केवल रोना—विलाप करना, शोक मनाना तथा पिण्डदान आदि कुछ भी कर्म न करना मूर्खता है तथा मृत व्यक्तिको अधोगति प्रदान करना है—

शोचन्तो नोपकुर्वन्ति मृतस्येह जना यत:।
अतो न रोदितव्यं हि क्रिया: कार्या: स्वशक्तित:॥

(अ० २०)

मरनेवालेके साथ उसका पाप-पुण्य ही जाता है

क्या श्राद्धका अन्न पितरोंको पहुँचता है, यदि हाँ तो कैसे?

सपिण्डीकरण-श्राद्ध (सपिण्डीकरण-श्राद्धके बाद मृत व्यक्तिकी 'प्रेत' संज्ञा न रहकर पितरोंमें गणना होने लगती है)-से पूर्व जो मृत व्यक्ति 'प्रेत' कहलाता है, वह प्रेतलोकमें जाता है और उसके निमित्त पिण्डदान और उदकुम्भदान करना चाहिये। प्रेतत्व-निवृत्तिके बाद जब वह पितृलोकमें जाता है तो बन्धु-बान्धवोंद्वारा नाम-गोत्रोच्चारणपूर्वक दिये गये स्वधामय श्राद्धके अन्नका ही भक्षण करता है, अत: पितरोंके निमित्त श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। पितर चाहे देवयोनिको प्राप्त करें, चाहे नरकयोनिमें हों, चाहे मनुष्ययोनिमें हों या पशु-पक्षी आदि किसी भी योनिमें हों, अपने बान्धवोंद्वारा दिये गये श्राद्धके पिण्ड आदिको उसी योनिके भोजनके रूपमें अवश्य प्राप्त करते हैं। जैसे पितर देवयोनिमें हों तो श्राद्धका पिण्ड आदि उत्तम गन्धके रूपमें उन्हें प्राप्त होता है, मनुष्य-योनिमें हों तो वही पिण्ड उत्तम व्यञ्जन-पदार्थ बन जाता है। यदि तिर्यक्-योनिमें हों तो उनके खाद्य पदार्थके रूपमें उनके पास पहुँच जाता है। श्राद्धकर्मसे प्रेत तथा श्राद्धकर्ता दोनों ही पुष्ट होते हैं। इसलिये निरर्थक शोकको त्यागकर श्राद्धादिकर्म अवश्य करने चाहिये—

पितृलोकगतश्चान्नं श्राद्धे भुङ्क्ते स्वधामयम्।
पितृलोकगतस्यास्य तस्माच्छ्राद्धं प्रयच्छत॥

सहायक नहीं है, धर्मको छोड़कर बन्धु-बान्धव, नाते-रिश्ते, धन-सम्पत्ति, मकान, पुत्र, पौत्र आदि कोई भी साथ नहीं देता, अतः सच्चे सहायक धर्मका ही वरण करो अर्थात् धर्माचरण ही करो। वही इस लोक तथा परलोकमें सर्वत्र ही कल्याण करनेवाला है। मृत व्यक्तिके साथ कोई अपने प्राण भी दे दे तो वह उस मृत व्यक्तिके पास नहीं पहुँच सकता, अतः प्राण देना भी व्यर्थ ही है। हाँ, यदि कोई पतिव्रता स्त्री है, सती साध्वी है तो केवल वही पतिके साथ जा सकती है। नहीं तो और सबके लिये यमका द्वार बंद ही रहता है। केवल धर्म ही प्राणीके साथ जाता है, अतः ऐसा समझकर इस साररहित संसारमें जितना जल्दी बन सके धर्मका अर्जन कर ले, देर न करे। इस सारहीन नश्वर संसारमें अपने कल्याणके लिये शीघ्र ही धर्मका आश्रय ले लेना चाहिये। कल करूँगा, आज करूँगा, पूर्वाह्णमें करूँगा, अपराह्णमें करूँगा, इस प्रकारसे धर्मके कार्यको कभी टालना नहीं चाहिये, क्योंकि मौत किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती, वह यह नहीं देखती कि इसने कुछ धर्मकार्य किया है या नहीं। 'नहीं किया है' अतः इसे थोड़ा समय और दे देना चाहिये। काल (मृत्यु)-के लिये न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय। आयुके क्षीण हो जानेपर वह बलात् प्राण हर लेता है। सैकड़ों बाणोंद्वारा विद्ध हो जानेपर भी यदि काल नहीं आया तो कोई मर नहीं सकता और यदि काल आ गया है तो कुशकी नोकके भी स्पर्श हो जानेपर वह अवश्य मृत्युको प्राप्त हो जाता है, फिर उसे कोई बचा नहीं सकता। जैसे हजारों गायोंके समूहमें बछड़ा अपनी माँको पहचानकर उसीके पास पहुँचता है, उसी प्रकार व्यक्तिका पूर्वजन्मकृत कर्म उसके पास अवश्य पहुँच जाता है'—

दृष्ट्वा लोकमनाक्रन्दं म्रियमाणांश्च बान्धवान्।
धर्ममेकं सहायार्थं वरयध्वं सदा नराः॥
मृतोऽपि बान्धवः शक्तो नानुगन्तुं नरं मृतम्।
जायावर्जं हि सर्वस्य याम्यः पन्था विरुध्यते॥
श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वाकृतम्॥
न कालस्य प्रियः कश्चिद् द्वेष्यश्चास्य न विद्यते।
आयुष्यकर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरते जनम्॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारं विन्दते ध्रुवम्॥
(अ० २०)

जननाशौच एवं मरणाशौचकी व्यवस्था

सपिण्डीके मृत्यु अथवा जन्ममें ब्राह्मणोंको दस दिनका अशौच लगता है। क्षत्रियको बारह दिनका अशौच होता है। वैश्यको पंद्रह दिनका तथा शूद्रको एक मासका अशौच लगता है। सातवीं पीढ़ीतक सपिण्डता रहती है, उसके बाद सपिण्डता समाप्त हो जाती है। अशौच-कालमें होम, दान, प्रतिग्रह, स्वाध्याय आदि वर्जित हैं। अशौचमें किसी दूसरेका अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये[1]।

गर्भस्राव होनेपर जितने मासका गर्भ रहा हो, उतने अहोरात्रका अशौच होता है—'**मासतुल्यैरहोरात्रैर्गर्भस्रावे।**' पैदा होते ही बच्चेके मर जानेपर या मरा हुआ बच्चा जन्मनेपर सद्यःशौच होता है—'**जातमृते मृतजाते वा कुलस्य सद्यः शौचम्।**' दाँत न निकले हुए बालकके मरनेपर भी सद्यःशौच होता है। इसका न तो अग्नि-संस्कार होता है और न जलाञ्जलि आदि दी जाती है—'**अदन्तजाते बाले प्रेते सद्य एव। नास्याग्निसंस्कारो नोदकक्रिया।**' दाँत निकल गये हों, किंतु चूडाकर्म नहीं हुआ हो ऐसे बालकके मरनेपर एक अहोरात्र (रात-दिन)-का अशौच होता है—'**दन्तजाते त्वकृतचूडे त्वहोरात्रेण।**' चूडाकरण हो गया हो, किंतु यज्ञोपवीत न हुआ हो तो तीन दिनका अशौच होता है—'**कृतचूडे त्वसंस्कृते त्रिरात्रेण।**' स्त्रियोंका विवाह ही मुख्य संस्कार है। विवाहिता स्त्री यदि ससुरालमें मरे तो उसका अशौच (गोत्र आदि भिन्न हो जानेके कारण) मायकेवालोंको नहीं लगता, किंतु यदि वह पिताके घर आयी हो और प्रसवके कारण उसकी मृत्यु हो जाय तो परम्परानुसार एक दिन या तीन दिनका अशौच होता है—

संस्कृतासु स्त्रीषु नाशौचं भवति पितृपक्षे। तत्प्रसवमरणे चेत् पितृगृहे स्यातां तदैकरात्रं त्रिरात्रं च। (अ० २२)

[1] १-ब्राह्मणस्य सपिण्डानां जननमरणयोर्दशाहमशौचम्। द्वादशाहं राजन्यस्य। पञ्चदशाहं वैश्यस्य। मासं शूद्रस्य। सपिण्डता च पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते। अशौचे होमदानप्रतिग्रहस्वाध्याया निवर्तन्ते। नाशौचे कस्यचिदन्नमश्नीयात्। (अध्याय २२)

दो अशौचोंकी व्यवस्था

जन्मका अशौच होनेपर यदि अशौचके मध्य जन्मका दूसरा अशौच हो जाय तो पहले अशौचकी समाप्तिके साथ ही दूसरे अशौचकी भी शुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार दो मरणाशौचोंमें भी पूर्वके अशौचसे दूसरा अशौच समाप्त हो जाता है—

जननाशौचमध्ये यद्यपरं जननाशौचं स्यात् तदा पूर्वाशौचव्यपगमे शुद्धिः। मरणाशौचमध्ये ज्ञातिमरणेऽप्येवम्।

(अ० २२)

देशान्तरमें जन्म या मृत्यु होनेपर अशौचकी व्यवस्था

घरसे बाहर दूर देशमें यदि मृत्यु हो या जन्म हो तो जिस दिन जन्म या मृत्यु हो उसकी सूचना १० दिनके भीतर जिस दिन भी प्राप्त हो, उस दिनसे १० वाँ दिन जब पड़े तो उसीमें अशौच पूरा हो जाता है, जैसे यदि किसीकी ५ तारीखको मृत्यु हो और १२ तारीखको सूचना मिले तो दो दिन बाद अर्थात् १४ तारीखको दसवें दिन अशौच पूरा हो जायगा। किंतु यदि अशौच पूरा होनेके बाद (१० दिनके बाद) सालभरके अंदर जन्म-मृत्युकी सूचना मिले तो एक दिनका अशौच होता है। और यदि सालभर बाद सूचना मिले तो स्नानमात्रसे शुद्धि हो जाती है—

श्रुत्वा देशान्तरस्थजननमरणे शेषेण शुध्येत्। व्यतीतेऽशौचे संवत्सरान्तस्त्वेकरात्रेण। ततः परं स्नानेन। (अ० २२)

तीन दिन और एक दिनका अशौच

आचार्य (गुरु) और नानाका तीन दिनका अशौच लगता है। गुरुपत्नी, गुरुपुत्र, उपाध्याय, मामा, ससुर, ससुरका पुत्र, सहपाठी, शिष्य तथा अपने देशके राजाके मरनेपर एक दिनका अशौच होता है। इसी प्रकार असपिण्डोंके अपने घरमें मरनेपर भी एक दिनका अशौच लगता है—

आत्मत्यागिनः पतिताश्च नाशौचोदकभाजः।

(अ० २२)

गायोंकी महिमा

गायें अत्यन्त पवित्र एवं मङ्गलकारी हैं। गायोंमें सभी लोक प्रतिष्ठित हैं। गायोंसे (गव्य पदार्थों तथा गोबर आदिके बलपर उत्पन्न हविष्यान्नसे) ही यज्ञ सम्पन्न होता है। गायें सभी प्रकारके पापोंको दूर करनेवाली हैं। गोमूत्र, गोमय (गोबर), गोघृत, गोदुग्ध, गोदधि तथा गोरोचना—ये ६ पदार्थ गोषडङ्ग कहलाते हैं। यह गोषडङ्ग परम कल्याणकारी है। गायोंके सींगका जल पुण्यप्रद और सभी प्रकारके पापोंको नष्ट करनेवाला है। गायोंको खुजलाना सभी प्रकारके दोषों-पापों-कलंकोंको मिटा देनेवाला है। गायोंको ग्रास देनेसे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठा होती है। गोमूत्रमें गङ्गाजीका निवास है, इसी प्रकार गोधूलिमें अभ्युदयका निवास है, गोमयमें लक्ष्मीका निवास है और उनके प्रणाम करनेमें सर्वोपरि धर्मका परिपालन हो जाता है, अतः उन्हें निरन्तर प्रणाम करते रहना चाहिये—

गावः पवित्रं मङ्गल्यं गोषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
गावो वितन्वते यज्ञं गावः सर्वाघसूदनाः॥
गोमूत्रं गोमयं सर्पिः क्षीरं दधि च रोचना।
षडङ्गमेतत् परमं मङ्गल्यं सर्वदा गवाम्॥
शृङ्गोदकं गवां पुण्यं सर्वाघविनिसूदनम्।
गवां कण्डूयनं चैव सर्वकल्मषनाशनम्।
गवां ग्रासप्रदानेन स्वर्गलोके महीयते॥
गवां हि तीर्थे वसतीह गङ्गा
　　पुष्टिस्तथा सा रजसि प्रवृद्धा।
लक्ष्मीः करीषे प्रणतौ च धर्म-
　　स्तासां प्रणामं सततं च कुर्यात्॥

(अ० २३)

पतिव्रता स्त्रीके धर्म

टोना तथा अभिमन्त्रण आदि निन्द्य मूलक्रियाओंको कदापि न करे—'**मूलक्रियास्वनभिरतिः।**' सदा कल्याणकारी आचरणमें तत्पर रहे। पतिके प्रवासमें रहनेपर उसके विपरीत कोई भी क्रिया-कर्म न करे। दूसरेके घरमें प्रयत्नपूर्वक न जाय। दरवाजे या खिड़की आदिसे बाहर झाँकती न रहे—'**द्वारदेशगवाक्षकेषु नावस्थानम्।**' बाल्य, यौवन तथा वृद्धावस्थामें वह क्रमशः पिता, पति तथा पुत्रके अधीन रहे। किसी भी कार्यमें स्वतन्त्र न रहे—'**सर्वकर्मस्वस्वतन्त्रता।**' पतिके मर जानेपर या तो वह ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करे या पतिका अनुगमन करे—'**मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा।**' संतान न होनेपर और पतिके मर जानेपर पतिव्रता साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए स्वर्गलोकको वैसे ही प्राप्त करती है जैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपनी तपस्या एवं साधनाके बलपर पुण्यलोकोंको प्राप्त करते हैं—

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥

(अ० २५)

माता-पिता और गुरु-सेवाकी महिमा

माता, पिता और गुरु—ये तीन पुरुषके अतिगुरु—असाधारण गुरु कहलाते हैं। इसलिये नित्य उनकी सेवा-शुश्रूषा अवश्य करनी चाहिये। जो वे कहें वही करना चाहिये। हमेशा उनका प्रिय और हितकारी कार्य करना चाहिये। बिना उनकी आज्ञाके कुछ भी नहीं करना चाहिये—

त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति। माता पिता आचार्यश्च। तेषां नित्यमेव शुश्रूषुणा भवितव्यम्। यत् ते ब्रूयुस्तत् कुर्यात् तेषां प्रियहितमाचरेत्। न तैरननुज्ञातः किंचिदपि कुर्यात्।

(अ० ३१)

जो इन तीनोंका आदर करता है, उसके द्वारा अन्य सभी धर्म आदृत हो जाते हैं और जो इन तीनोंका अनादर करता है वह जो कुछ भी अन्य कार्य करता है, वह सब निष्फल ही होता है—

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥

(अ० ३१)

धन-सम्पत्तिकी तीन कोटियाँ

गृहस्थकी धन-सम्पत्ति तीन प्रकारकी कही गयी है—(१) शुक्ल, (२) शबल तथा (३) असित। '**शुक्लः शबलोऽसितश्चार्थः**' (अ० ५८)

[१] शुक्ल धन—अपनी वृत्ति (अर्थात् अपने-अपने वर्णवृत्ति—स्वधर्म)-से न्यायपूर्वक जो कुछ भी शुद्ध धन-सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह 'शुक्ल धन' कहलाता है। '**स्ववृत्त्युपार्जितं सर्वं सर्वेषां शुक्लम्।**'

[२] शबल धन—दूसरेकी वृत्तिसे उपार्जित तथा उत्कोच (घूस), कर, जो बेचने योग्य नहीं है उसके बेचनेसे प्राप्त, दूसरेसे उपकारके बदलेमें प्राप्त धन 'शबल धन' कहलाता है—

अनन्तरवृत्त्युपात्तं शबलम्।
उत्कोचशुल्कसम्प्राप्तमविक्रेयस्य विक्रये।
कृतोपकारादाप्तं च शबलं समुदाहृतम्॥

(अ० ५८)

[३] असित (कृष्ण) धन—निन्दनीय वृत्तिसे प्राप्त अशुद्ध तथा बेईमानीका धन कृष्ण धन (ब्लैक मनी) कहलाता है। छल-कपट, ठगी, बेईमानी, जुआ, चोरी, मिलावट (प्रतिरूपक), डकैती तथा ब्याज आदिसे प्राप्त धन 'कृष्ण धन' या 'काला धन' कहलाता है—

अन्तरितवृत्त्युपात्तं च कृष्णम्।
पार्श्विकद्यूतचौर्याप्तं प्रतिरूपकसाहसैः।
व्याजेनोपार्जितं यच्च तत्कृष्णं समुदाहृतम्॥

(अ० ५८)

व्यक्ति जिस प्रकारके शुद्ध-अशुद्ध धनसे जैसा कार्य करता है, उसका फल भी उसे उसी प्रकार मिलता है। यदि पवित्र, शुद्ध और न्यायोपार्जित द्रव्यसे कोई कार्य किया जाता है तो उसका फल भी इस लोक तथा परलोक—सर्वत्र कल्याणकारक और सब प्रकारसे अभ्युदय करनेवाला होता है। इसी प्रकार यदि 'शबल धन'से कोई कार्य करता है तो उसका फल भी मध्यम कोटिका होता है, किंतु यदि 'कृष्ण धन' (काले धन)-से, अन्यायोपार्जित द्रव्यसे कोई कार्य करता है तो लाभकी अपेक्षा हानि, सफलताकी अपेक्षा असफलता, अभ्युदयकी अपेक्षा अवनति (पतन) ही होती

जाती है—

यथाविधेन द्रव्येण यत्किंचित् कुरुते नरः।
तथाविधमवाप्नोति स फलं प्रेत्य चेह च॥

(अ० ५८)

काला धन सब प्रकारसे निन्द्य एवं त्याज्य है। शास्त्रोंमें इसकी बड़ी निन्दा की गयी है। अतः उत्तम (सात्त्विक), मध्यम (राजस) तथा अधम (तामस)—इन तीनों प्रकारके धनमेंसे उत्तम धनको प्राप्त करना चाहिये और उसका उपयोग धर्मके कार्योंमें करना चाहिये।

काले धनकी कथा

भगवान् वेदव्यासजीने जब महाराज जनमेजयको देवीकी कृपा-प्राप्तिके लिये यज्ञ करनेको कहा और यह भी बतलाया कि कार्यकी सिद्धि एवं पूर्ण सफलताके लिये द्रव्यकी शुद्धि परमावश्यक है, क्योंकि अन्यायसे उपार्जित द्रव्यद्वारा जो पुण्यकार्य किया जाता है, वह न तो इस लोकमें कीर्ति दे सकता है और न परलोकमें ही उसका कुछ फल मिल सकता है—

अन्यायोपार्जितेनैव द्रव्येण सुकृतं कृतम्।
न कीर्तिरिहलोके च परलोके न तत्फलम्॥

(देवीभा० ३। १२। ८)

अतएव इस लोकमें यश और परलोकमें सुख पानेके लिये न्यायसे कमाये हुए धनके द्वारा ही सदा पुण्यकार्य करना चाहिये।

आगे वेदव्यासजीने दृष्टान्त देते हुए जनमेजयको बतलाया कि 'राजेन्द्र! देखो, पाण्डव सदाचारी थे, महाराज युधिष्ठिर धर्मराज थे, धर्मके ही अवतार थे, उन्होंने 'राजसूय' नामक महान् यज्ञ किया था। यज्ञकी समाप्तिपर प्रचुर दक्षिणाएँ बाँटीं। उस यज्ञमें साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण पधारे थे, भरद्वाज आदि महान् ऋषि-महर्षियोंका समाज जुटा था, पवित्र वेदध्वनियोंसे आहुतियाँ दी गयी थीं, एक महीनेतक विधिपूर्वक यज्ञ चला, अन्तमें पूर्णाहुति भी हुई, इस प्रकार विधि-विधान तथा भावमें कोई अशुद्धि नहीं थी। किंतु उस यज्ञमें जिस धनका प्रयोग हुआ था, वह महाराज युधिष्ठिरको लूट-पाटद्वारा प्राप्त हुआ था, शुद्ध धर्मके मार्गसे प्राप्त नहीं हुआ था, वह एक प्रकारका कृष्ण धन (काला धन) ही था। तो फिर सफलता कैसे मिलती? और इस कृष्ण धनका ही यह परिणाम हुआ कि पाण्डवोंको अत्यन्त कष्टप्रद वनवास भोगना पड़ा। महामहिषी पाञ्चाली (द्रौपदी)-को विपत्ति झेलनी पड़ी। जुएमें पाण्डव हार गये। अज्ञातवासमें उन्हें राजा विराटके घर नौकरी करनी पड़ी। कीचकने द्रौपदीको कितना कष्ट दिया अर्थात् उन्हें सब प्रकारसे कष्ट-ही-कष्ट हुआ।'

अतः इस दृष्टान्तसे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि साक्षात् धर्मराज आदिकी जब काले धनने ऐसी स्थिति कर दी तो फिर सामान्य मनुष्यकी क्या बात? इसलिये वित्तोपार्जनमें बहुत ही सावधान रहना चाहिये। तनिक भी काला धन विनाश ही नहीं सर्वनाशका कारण बन जाता है।

सदाचरण—धर्माचरणकी महिमा

जो बुद्धिमान् व्यक्ति अपने कल्याणकी कामना रखता हो, धर्मात्मा बनना चाहता हो, धर्माचरण करनेकी इच्छा रखता हो, उसे चाहिये कि वह सर्वप्रथम अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करे और वेदादि शास्त्रों तथा स्मृतियों (धर्मशास्त्रों)-में प्रतिपादित धर्म-कर्मोंका प्रयत्नपूर्वक ठीक-ठीक प्रकारसे प्रतिपालन करे। साधुओं, संत-महात्माओं-भक्तों तथा महापुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये गये श्रेष्ठ कर्मोंको सम्पादित करे; क्योंकि शास्त्रोक्त धर्म तथा संतोंका आचरण ही सदाचार कहा गया है। उस सदाचार—धर्माचारके अनुपालनसे ही कल्याण हो सकता है, अन्य किसी उपायसे नहीं। इस प्रकारके सदाचरणसे दीर्घ आयु, मनोऽभिलषित उत्तम गति तथा अक्षय धन प्राप्त होता है और सदाचरण सारे दुर्गुण, दुर्लक्षण एवं दोष-पापोंको नष्ट कर व्यक्तिको परम पवित्र और भगवत्प्राप्तिके योग्य बना देता है—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक् साधुभिर्यश्च सेवितम्।
तमाचारं निषेवेत धर्मकामो जितेन्द्रियः॥
आचाराल्लभते चायुराचारादीप्सितां गतिम्।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

लक्ष्मीके निवासयोग्य स्थान

'लक्ष्मी कहाँ निवास करती हैं', यह प्रश्न प्रायः राजनीतिक ग्रन्थ, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा इतिहास-पुराणोंमें बहुधा चर्चित, विचारित है और लक्ष्मीके निवासयोग्य स्थानोंकी चर्चा काव्यों एवं महाकाव्योंमें भी सुन्दर ढंगसे उपन्यस्त है। शाक्तागमों और लक्ष्मीतन्त्र आदि पाञ्चरात्र आगमोंका तो यह मुख्य विषय है। इस वैष्णव धर्मशास्त्रमें भी सर्वसुखप्रद लक्ष्मीके लिये धार्मिक या धर्मात्मा व्यक्तिको ही मुख्य पदभागी बताया गया है। यहाँ उसके कुछ महत्त्वपूर्ण वचनोंको ही उद्धृत किया जा रहा है।

प्रायः सभी आगमोंके अनुसार वसुधादेवी (भूदेवी-धरादेवी) तथा लक्ष्मी भगवान् विष्णुकी उभयपार्श्ववर्तिनी हैं और लक्ष्मीका स्थान भगवान्‌के हृदय तथा पादपद्मोंमें भी बताया गया है, अतः स्वाभाविक है कि वसुधादेवी लक्ष्मीकी विशेष महत्ता देखकर उनसे प्रश्न करती हैं कि हे देवि! आप विष्णुभगवान्‌के अतिरिक्त और कहाँ निवास करती हैं—'**पृच्छाम्यहं ते वसतिं विभूत्याः**'। उनका ऐसा प्रश्न करनेपर देवी महालक्ष्मी बड़े ही संयत शब्दोंमें अपने निवास-स्थानोंको बताती हुई कहती हैं[1]—

हे उत्तप्त हेमके समान पीतवर्णवाली वसुधादेवि! मैं मधुसूदन भगवान् विष्णुकी अर्धाङ्गिनी हूँ और सदा ही उनके पार्श्वभागमें स्थित रहती हूँ और उनकी आज्ञाका मनसे स्मरणकर मैं जहाँ वे कहते हैं वहाँ चली जाती हूँ। और जिसके पास जाती हूँ, उसे ही संतजन लक्ष्मीसे सम्पन्न कहते हैं। ऐसे ही मैं गायके नवीन गोमयमें, उन्मत्त गजराजमें, युवा अश्वमें, दर्पयुक्त युवा वृषभमें तथा अध्ययनमें निरत ब्राह्मणमें निवास करती हूँ। आँवलेमें (**आमलके**), बिल्वमें (**बिल्वे**), गोदुग्ध, गोघृत, गोदधि, मधु, हरित घासयुक्त गोचरभूमि, युवती स्त्री, कुमारी कन्या, देवता, तपस्वी और यज्ञ आदि सदनुष्ठानोंका आयोजन करनेवाले व्यक्तिमें मैं निवास करती हूँ। शुक्ल पुष्पमें, पर्वतमें, फलमें, रमणीय श्रेष्ठ नदियोंमें, जलसे परिपूर्ण सरोवरोंमें, सस्यसम्पन्न पृथ्वीमें तथा कमलमें रहती हूँ। इसी प्रकार वन, गोवत्स, छोटे बालक, साधु, धर्मपरायण व्यक्ति, सदाचारका पालन करनेवाले, नित्य शास्त्राध्ययन या शास्त्र-चर्चा (सत्संग) करनेवाले और सौम्यवेश तथा सुन्दर वेशवालेके पास रहती हूँ, जो शुद्ध हो, पवित्र हो, इन्द्रियजयी हो, निर्मल हो ऐसे व्यक्ति या पदार्थमें, मिष्टान्नमें, अतिथि-सेवा-परायण व्यक्तिमें, अपनी स्त्रीमें संतुष्ट रहनेवालेमें, धर्मपरायण व्यक्तिमें, श्रेष्ठ धर्मात्माओंमें तथा युक्त आहार करनेवाले व्यक्तिमें मैं निवास करती हूँ। साथ ही हे पृथ्वीदेवि! मैं सत्य-धर्ममें स्थित व्यक्तिमें, समस्त प्राणियोंके कल्याणमें लगे व्यक्तिमें, क्षमाशीलमें, क्रोधसे रहित व्यक्तिमें, अपने कार्यमें कुशल व्यक्तिमें, दूसरेके कार्यमें कुशल व्यक्तिमें, विनीतमें तथा जो निरन्तर दूसरेके कल्याण-मङ्गलकी कामना करता रहता है और वैसी चेष्टा भी करता रहता है, ऐसे व्यक्तिमें निवास करती हूँ, साथ ही प्रियवादिनी पतिव्रता नारियोंमें (**पतिव्रतासु प्रियवादिनीषु**), धर्ममें निरत रहनेवाली तथा दयालु स्त्रियोंमें और सदा ही भगवान् मधुसूदनमें अवश्य ही निवास करती हूँ (**धर्मव्यपेक्षासु दयान्वितासु स्थिता सदाहं मधुसूदने तु**) (अ० ९९)।

मुख्यरूपसे धर्मात्माके पास ही लक्ष्मी जाती है, लक्ष्मी

---

[1]-सदा स्थिताहं मधुसूदनस्य देवस्य पार्श्वे तपनीयवर्णे॥
अस्याज्ञया यं मनसा स्मरामि श्रियायुतं तं प्रवदन्ति सन्तः।
सद्यः कृते चाप्यथ गोमये च मत्ते गजेन्द्रे तुरगे प्रहृष्टे। वृषे तथा दर्पसमन्विते च विप्रे तथैवाध्ययनप्रपन्ने॥
क्षीरे तथा सर्पिषि शाद्वले च क्षौद्रे तथा दध्नि पुरंध्रिगात्रे। देहे कुमार्याश्च तथा सुराणां तपस्विनां यज्ञभृतां च देहे॥
पुष्पेषु शुक्लेषु च पर्वतेषु फलेषु रम्येषु सरिद्वरासु। सरःसु पूर्णेषु तथा जलेषु सशाद्वलायां भुवि पद्मखण्डे॥
वने च वत्से च शिशौ प्रहृष्टे साधौ नरे धर्मपरायणे च॥
आचारसेविन्यथ शास्त्रनित्ये विनीतवेशे च तथा सुवेशे। सुशुद्धदान्ते मलवर्जिते च मिष्टाशने चातिथिपूजके च॥
स्वदारतुष्टे निरते च धर्मे धर्मोत्कटे चात्यशनाद्विरक्ते।
सत्ये स्थिते भूतहिते निविष्टे क्षमार्चिते क्रोधविवर्जिते च। स्वकार्यदक्षे परकार्यदक्षे कल्याणचित्ते च सदा विनीते॥ (अ० ९९)

ही धर्मात्माका अनुगमन करती है, धर्मात्माको लक्ष्मीसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं, वह तो सदा धर्माचरण करते हुए भगवान्‌की भक्तिमें लगा रहता है, ऐसेमें यदि धार्मिक व्यक्ति धर्मकार्यके लिये लक्ष्मीको ग्रहण कर लेते हैं तो इसमें लक्ष्मी अपनेको धन्य मानती हैं। चूँकि समग्र धर्म भगवान्‌में निहित है, समग्र श्री एवं ऐश्वर्य भी भगवान्‌में निहित है तो जहाँ धर्मरूपी भगवान् रहेंगे वहाँ स्वाभाविक रूपसे लक्ष्मीको जाना ही पड़ेगा। अतः लक्ष्मी-प्राप्तिके लिये धर्माचरण करनेकी अपेक्षा न रखकर केवल शुद्ध धर्मका ही अर्जन हो, इस दृष्टिसे धर्मका सतत अनुष्ठान करना चाहिये। इससे कल्याण-ही-कल्याण, मङ्गल-ही-मङ्गल है। यही वैष्णव धर्मशास्त्रका निचोड़ है।

(२) लघुविष्णुस्मृति

'विष्णुस्मृति' (विष्णुधर्मसूत्र) तथा 'लघुविष्णुस्मृति' साक्षात् नारायण भगवान् विष्णुप्रणीत मानी गयी है। इन स्मृतियोंमें इन्हें महर्षि इत्यादि नामोंसे भी सम्बोधित किया गया है। त्रिदेवोंमें भगवान् विष्णु पालन-शक्तिके अधिष्ठाता देव हैं और स्वयं धर्मकी मूर्ति हैं। अतः अपनी प्रजाओंके हितकी दृष्टिसे उन्होंने धर्माचरणके प्रतिपादकके रूपमें जो विधि-विधान एवं व्यवस्थाएँ निर्दिष्ट कीं, वे ही ग्रन्थरूपमें 'विष्णुस्मृति' इत्यादि नामसे प्रसिद्ध हो गयीं। यद्यपि आज ये अपने पूर्वरूपमें प्राप्त नहीं होतीं, तथापि जिस रूपमें उपलब्ध हैं, उसका कुछ संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

लघुविष्णुस्मृति, जैसा कि नामसे स्पष्ट है, यह कलेवरकी दृष्टिसे संक्षिप्त है। पाँच अध्यायोंमें उपनिबद्ध इस स्मृतिकी श्लोक-संख्या लगभग ११५ है। इसके प्रारम्भमें ही यह निर्देश है कि सत्ययुगके बीतनेपर त्रेतायुगमें 'कलाप' ग्राममें निवास करनेवाले मुनियोंने श्रुति एवं स्मृतिशास्त्रोंके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ द्विजोत्तम विष्णुजीसे वर्णाश्रमधर्मके विषयमें जिज्ञासा की। इसपर उन्हें जो धर्मोपदेश प्राप्त हुए, वे 'लघुविष्णुस्मृति' के नामसे प्रसिद्ध हो गये। मुख्यरूपसे इसमें चारों वर्णोंके धर्म, ब्रह्मचारीके नियम, गृहस्थधर्म, वानप्रस्थधर्म तथा संन्यासधर्मका वर्णन है।

गृहस्थाश्रमीके लिये इसमें कहा गया है कि श्रौत तथा स्मार्त आदि जितने भी धर्मके साधनरूप कर्म विहित हैं, गृहस्थमें रहते हुए उन सभीका अनुष्ठान उसे ठीक-ठीक प्रकारसे अवश्य करना चाहिये, अन्यथा वह दोषभागी होता है—

श्रौतं स्मार्तं च यत्किंचिद्विधानं धर्मसाधनम्।
गृहे तद्वसता कार्यमन्यथा दोषभाग्भवेत्॥

(लघुविष्णु० २। १८)

इस प्रकार ठीक-ठीक रूपसे गृहस्थधर्मका पालन करनेवाला मनुष्य प्रजापतिके परम स्थानको प्राप्त करता है, इसमें कोई संदेह नहीं—'**प्रजापतेः परं स्थानं सम्प्राप्नोति न संशयः॥**' (लघुविष्णु० २। १९)

वानप्रस्थ-धर्मका निरूपण करते हुए कहा गया है कि वानप्रस्थीको वनमें निवास करते हुए वल्कल-वस्त्रोंको धारण करना चाहिये, बिना जोते-बोये—स्वयं समुत्पन्न अन्न अर्थात् फल-मूलादिका भक्षण करते हुए मुनियोंकी भाँति रहना चाहिये। कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों तथा तपोऽनुष्ठानोंसे अपनेको परम पवित्र बनाना चाहिये। जितेन्द्रिय एवं निष्काम होकर मोक्षधर्मकी कामनामें निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये।

संन्यासीके लिये आवश्यक कर्तव्य-कर्मोंका निरूपण करते हुए बताया गया है कि संन्यासीको अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, सभी प्राणियोंमें दया तथा अफल्गुता (गाम्भीर्य) आदि धर्मोंका नित्य ही पालन करना चाहिये—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमफल्गुता।
दया च सर्वभूतेषु नित्यमेतद् यतिश्चरेत्॥

(लघुविष्णु० ४। ४)

यतिको चाहिये कि वह ग्रामसे बाहर किसी वृक्षके नीचे निवास करे। कीटकी भाँति इधर-उधर मानापमानकी परवा न कर भ्रमण करता रहे। एक स्थानमें न रहे। वर्षा ऋतुमें एक स्थानपर रहे। किंतु जो संन्यासी अत्यन्त वृद्ध हों, आतुर हों, भयभीत हों, अनासक्त हों, वे ग्राम या नगरमें एक स्थानमें रहते हुए भी दोषयुक्त नहीं होते—

वृद्धानामातुराणां च भीरूणां संगवर्जिनाम्।
ग्रामे वापि पुरे वापि वासो नैकत्र दुष्यति॥
(लघुविष्णु० ४। ६)

संन्यासीको कौपीन तथा आच्छादन आदिके सामान्य वस्त्र एवं पादुकाके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुका संग्रह नहीं करना चाहिये। स्त्रीके साथ सम्भाषण, उसका दर्शन, स्पर्श, नाच-गान, बातचीत, सभा और वाद-विवाद इत्यादि उसके लिये वर्जित है। वह वानप्रस्थी तथा गृहस्थसे सम्पर्क न रखे। उसे कुछ भी परिग्रहका संग्रह न करके नित्य एकाकी भ्रमण करना चाहिये तथा याचित या अयाचित भिक्षाके अन्नपर निर्वाह करके ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न रहना चाहिये। वह आत्मचिन्तन या परमात्मचिन्तनसे कभी भी च्युत नहीं रहे।

संन्यासीके चार भेद[१]

संन्यासी चार प्रकारके कहे गये हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें कुटीचकसे बहूदक, बहूदकसे हंस और हंससे परमहंस उत्तम है—

चतुर्विधा भिक्षुकाः स्युः कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च पश्चाद् यो यः स उत्तमः॥
(लघुविष्णु० ४। ११)

आस्वादका परित्याग करके यत्नपूर्वक ममता एवं आसक्तिको छोड़कर अनासक्त-भावसे कुटी बनाकर पुत्रोंके साथ निवास करे। दूसरेके घरमें भोजन न करे, क्योंकि इससे वह दोषका भागी होता है। काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या तथा असत्य आदि सब दोषोंका परित्याग कर दे; अन्न, धन आदि सब पुत्रके लिये छोड़ दे। भिक्षाटन आदिमें अशक्त होनेपर वह पुत्रके आश्रयमें रहे। इस प्रकारके धर्मोंका निर्वाह करनेवाला संन्यासी 'कुटीचक' कहलाता है।[२]

(२) बहूदक—बहूदक संन्यासीको उचित है कि वह निज-बान्धवोंको त्यागकर त्रिदण्ड, कमण्डलु और भिक्षाका पात्र तथा जनेऊ धारण करे। प्राणायाममें तत्पर रहकर सदा गायत्रीका जप करे। हृदयमें विश्वरूप, विश्वात्मा भगवान्‌का ध्यान करता हुआ जितेन्द्रिय होकर समय व्यतीत करे। गेरुआ वस्त्रका चिह्न धारण करे।[३]

(३) हंस—जो संन्यासी पुत्रादिकोंका परित्याग करके योगमार्गमें स्थित रहता है और मन तथा इन्द्रियोंको प्रयत्नपूर्वक वशमें रखता है, उसे 'हंस' संन्यासी कहते हैं। उसको चाहिये कि मोक्षपदकी इच्छा करता हुआ वह कृच्छ्र, चान्द्रायण एवं तुलापुरुष नामक व्रतों और अन्य व्रतोंके द्वारा अपने शरीरको सुखा दे, पवित्र कर दे।

हुआ और प्राणायामोंको करता हुआ तथा सब प्रकारसे अनासक्त रहता हुआ आत्मनिष्ठ रहता है—परमात्मनिष्ठ रहता है एवं गृह आदि सभी परिग्रहोंको त्यागकर योगैकप्राण होकर पृथ्वीपर विचरण करता रहता है, वह चौथा संन्यासी श्रेष्ठ है, वह 'ध्यानभिक्षु' अर्थात् 'परमहंस' कहलाता है। उसको उचित है कि वह त्रिदण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत और भिक्षापात्र, मच्छर तथा दंश आदि जन्तुओंके निवारणार्थ वस्त्र—इन सबको त्याग दे। केवल कौपीन तथा ओढ़नेका वस्त्र और एक दण्ड धारण करे। न किसीके आदर करनेसे प्रसन्न हो और न निरादर करनेपर क्रोध करे, तृष्णाका सर्वथा परित्यागकर गूँगेके समान पृथ्वीपर विचरण करे[१]।

आख्यान—

गुरुभक्त दीपककी कथा

विष्णुस्मृति (अध्याय २)-में मानवमात्रके लिये क्षमा, सत्य, अहिंसा आदि सामान्य धर्म बताये गये हैं, उनमें गुरु-शुश्रूषाकी भी गणना है। अर्थात् गुरु-भक्ति या गुरु-शुश्रूषा मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। यहाँ गुरु-सेवापर पुराणकी एक कथा दी जा रही है—

दीपक नैष्ठिक ब्रह्मचारी था। उसने शास्त्रमें पढ़ा था कि जैसे पत्नीके लिये एकमात्र देवता उसका पति होता है, पुत्रके लिये एकमात्र देवता उसके माता-पिता होते हैं, वैसे ही शिष्यके लिये एकमात्र देवता उसके गुरु होते हैं। गुरु परब्रह्मकी मूर्ति हैं। शिष्यके लिये गुरुकी सेवाके अतिरिक्त व्रत, तीर्थ आदिके सेवनका कोई महत्त्व नहीं है। दीपकने इस अध्ययनको अपने जीवनमें उतार लिया था।

दीपकके गुरुदेवका नाम वेदधर्मा था। गोदावरीके तटपर उनका आश्रम था। उनकी शिष्य-सम्पत्ति बहुत बड़ी थी और ख्याति भी प्राप्त कर चुकी थी। दीपक गुरुसे वेद, धर्मशास्त्र, पुराण आदि पढ़कर उन्हींकी सेवामें लगा रहता था। एक दिन गुरुने दीपकको बुलाकर पूछा—'दीपक! मैं पूर्व-जन्मोंमें अर्जित अनेक पापोंका प्रायश्चित्त कर चुका हूँ, केवल दो पापोंका प्रायश्चित्त करना अवशिष्ट है। मैं चाहता हूँ कि यह प्रायश्चित्त वाराणसीमें जाकर करूँ; क्योंकि वहाँ थोड़ा-सा भी किया हुआ प्रायश्चित्त बड़े-से-बड़े पापोंको ध्वस्त कर देता है। हाँ, जब उन दोनों पापोंका मैं आवाहन करूँगा तो उनके परिणामस्वरूप मेरा सारा शरीर गलित कुष्ठसे गलने लगेगा और मैं अंधा भी बन जाऊँगा। उन पापोंका मेरे स्वभावपर भी असर पड़ेगा। तब सम्भव है कि मुझसे वे कुचेष्टाएँ होने लगेंगी, जिन्हें मैं सोच भी नहीं सकता। उस समय मैं पापके अधीन रहूँगा और मुझे सेवाकी अत्यन्त आवश्यकता होगी। बताओ, वह सेवा तुमसे हो सकेगी क्या?'

दीपक तो गुरुभक्त था ही। बोला—'गुरुजी! उन पापोंको आप अपने ऊपर आमन्त्रित न करें। उन्हें मेरे सिरपर थोप दें। मैं कोढ़ी और अंधा बनकर आपका प्रायश्चित्त कर लूँगा।' वेदधर्माने कहा—'बेटा! पापका भोग उसके करनेवालेको ही भोगना पड़ता है, उसे दूसरेके माथे नहीं मढ़ा जा सकता। दूसरी बात यह है कि पापके भोगमें उतना कष्ट नहीं होता, जितना कि उस पापसे पीड़ित व्यक्तिकी सेवामें होता है'—

भोगादपि महत्कष्टं शुश्रूषायां भविष्यति।

(काशीरहस्य १। ९१)

दीपकको गुरुकी सेवामें तो रस मिलता ही था। अतः

१-आध्यात्मिकं ब्रह्म जपन् प्राणायामांस्तथाचरन्। वियुक्तः सर्वसंगेभ्यो योगी नित्यं चरेन्महीम्॥
आत्मनिष्ठः स्वयं युक्तस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः। चतुर्थोऽयं महानेषां ध्यानभिक्षुरुदाहृतः॥
त्रिदण्डं कुण्डिकां चैव सूत्रं चाथ कपालिकाम्। जन्तूनां वारणं वस्त्रं सर्वं भिक्षुरिदं त्यजेत्॥
कौपीनाच्छादनार्थं च वासोऽधश्च परिग्रहेत्। कुर्यात् परमहंसस्तु दण्डमेकं च धारयेत्॥
प्राप्तपूजो न संतुष्येदलाभे त्यक्तमत्सरः। त्यक्ततृष्णः सदा विद्वान् मूकवत् पृथिवीं चरेत्॥ (लघुविष्णु० अ० ४)

सेवाके लिये वह सहर्ष तैयार हो गया। गुरुजीको काशीमें मणिकर्णिकाके उत्तर कमलेश्वर महादेवके पास ठहराया गया। गुरुदेव महान् पुण्यात्मा थे। उन्होंने बाबा विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णाकी पूजाकर संकल्पके द्वारा अपने पूर्व जन्मके दोनों पापोंका आवाहन किया। पापोंके आते ही तन, मन, स्वभाव सब कलुषित हो गये। गलित कुष्ठ होनेसे अङ्ग-अङ्गसे मवाद रिसने लगा। अंधे होनेसे सब ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दीखने लगा। स्वभाव बदल जानेसे दीपकपर उनका सहज अनुराग भी लुप्त हो गया। दीपक गुरुजीकी यह दुर्दशा देखकर रो पड़ा। उनकी सेवामें वह जी-जानसे जुट गया। वह न रातको रात समझता न दिनको दिन। बिना किसी घृणाके गुरुके मल-मूत्रको हटाता, मवाद पोंछता, दवा देता और घावोंको धो-पोंछकर पट्टी बाँधता। भिक्षा माँगकर लाता और गुरुको सब निवेदित कर देता। पापवश गुरुका स्वभाव तो बदल ही गया था। भिक्षामें मिला सारा भोजन स्वयं खा डालते। दीपकके लिये कुछ नहीं छोड़ते। कभी कहते—'कैसा अन्न लाये हो, यह तो गलेके नीचे उतरता ही नहीं है।' दिन-रात दीपकको खरी-खोटी सुनाना उनका काम रह गया था। दीपक मलहम-पट्टी करता और वे उसपर डंडे बरसाते। एक क्षण भी दीपकको चैनसे बैठने नहीं देते।

ऐसी विषम परिस्थितिमें यदि मनुष्यमें धर्मनिष्ठा न हो तो वह मार्गभ्रष्ट हो सकता है। धर्मनिष्ठा प्रत्येक स्थितिमें मनुष्यको संतुष्ट रखती है। इसीके बलपर दीपक भी समझता कि गुरुने आजतक तो मुझे प्रेम ही प्रदान किया है। इस बार उनसे जो भर्त्सना मिल रही है, यह मेरे लिये तपश्चर्या बनकर आयी है। चाहे जैसे भी बने, गुरु-सेवामें त्रुटि नहीं आने देनी चाहिये।

दीपकको पाकर सचमुच धर्मनिष्ठा निखर उठी थी। प्रत्येक परिस्थितिमें वह अपने गुरुदेवको भगवान् विश्वनाथ ही समझता था। दिनोंदिन गुरुके प्रति उसकी श्रद्धा बढ़ती ही गयी। उसने न कभी खेदका अनुभव किया, न बुद्धिमें विषमता ही आने दी। दीपककी सेवासे बाबा विश्वनाथ बहुत संतुष्ट हो गये। वे दीपकके सामने प्रकट हो गये। बोले—'बेटा! तुम वर माँगो।' उस समय दीपक एकाग्र-मनसे अपने गुरुको पंखा झल रहा था। उसने देखा कि बाबा विश्वनाथने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया है और वर माँगनेको कहा है। तब दीपकने उनका स्वागत किया और कहा—'भगवन्! मैं गुरुको छोड़कर कुछ जानता नहीं, मैं गुरुसे पूछकर ही आपसे कुछ वर माँगूँगा। इस समय गुरुदेव सो रहे हैं।' जागनेके बाद उसने गुरुदेवसे पूछा कि 'भगवान् विश्वनाथ वर देने आये हैं। बताइये, उनसे क्या वर माँगूँ। कहिये तो आपके रोगके नाशके लिये वर माँग लूँ।' गुरुने मना किया कि मेरे लिये रोग-नाशका वर मत माँगना; क्योंकि पाप भोगनेसे ही मिटता है। इसलिये मेरे लिये कोई वर मत माँगो। दीपकका व्यक्तित्व गुरुमें मिलकर एकाकार हो गया था। उसे तो गुरुकी प्रसन्नताके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये था, इसलिये विश्वनाथजीके दरबारमें जाकर कहा कि 'महाराज! मुझे कोई वर नहीं चाहिये।' भगवान् विश्वनाथ दीपककी इस ऊँची आध्यात्मिक स्थितिसे बहुत प्रसन्न हुए। वे पार्वतीजीके साथ निर्वाण-मण्डपमें आये, जहाँ विष्णु और सारे देवता बैठे हुए थे। भगवान् विश्वनाथने सुनाया कि आज हमने अद्भुत गुरुभक्ति देखी है, उससे मुझे संतोष हो गया है। भगवान् विष्णु भी दीपकका वृत्तान्त सुनकर प्रसन्न हुए। भगवान् विष्णु भी दीपकके पास पहुँचे। उन्होंने भी कहा—'बेटा! वर माँगो।' दीपकने गद्गद होकर भगवान् विष्णुको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और क्षमा-याचना करते हुए कहा कि 'भगवन्! मैं तो आपका कभी स्मरण भी नहीं करता, फिर आप मुझे वर देने कैसे आ गये?' विष्णुजीने बताया—'जो गुरुभक्त है, उसपर तो सब देवता प्रसन्न होते ही हैं। तुम कोई वर माँगो।' दीपकने कहा कि 'आप मुझे वर ही देना चाहते हैं तो मुझे आत्मज्ञान आदि कुछ भी नहीं चाहिये, मुझे केवल गुरुभक्ति ही दीजिये।' और फिर अविचल गुरुभक्ति पाकर दीपक कृतार्थ हो गया।
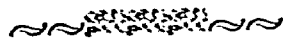
महर्षि आपस्तम्ब और उनका धर्मशास्त्र

महर्षि आपस्तम्ब अत्यन्त प्राचीन वैदिक ऋषि हुए हैं। ये महान् योगी, वेद-वेदान्तादि शास्त्रोंके मर्मज्ञ और परम दयालु संत महात्मा थे। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने अपनी याज्ञवल्क्यस्मृति (१। ४)-में विशिष्ट धर्मशास्त्रकारोंमें बड़े ही समारोह एवं आदरके साथ इनके नामका परिगणन किया है। ये कृष्ण यजुर्वेदके मुख्य आचार्योंमेंसे एक माने गये हैं और गोत्र-निर्देशक पाणिनिके 'विदादि'—गण-सूत्र (४। १। १०४)-में इनका नाम परिगृहीत हुआ है। इनके गोत्रवाले दक्षिण भारतमें अभी भी प्राप्त होते हैं। प्राचीन ऋषियोंकी तरह ये पूर्णतया सर्वज्ञ और दिव्यदृष्टिसे सम्पन्न थे। इतना होते हुए भी ये सर्वाधिक कृपालु थे। मत्स्यपुराण (७। ३३-३४)-में आया है कि ये कश्यपपत्नी दिति देवीके पुत्रेष्टि-यज्ञके मुख्य आचार्य रहे हैं। राजा नाभागके समय इनके दीर्घकालीन जलसमाधिकी कथा पुराणोंमें प्राप्त होती है, जिससे इनकी जीवमात्रके प्रति विशेष दयालुता, परोपकारिता और धर्माचरण करनेकी प्रवृत्तिका ख्यापन होता है। इनका सभीके प्रति प्रेम था, किंतु गायोंके प्रति इनकी विशेष श्रद्धा-भक्ति रही है। स्कन्दपुराणके रेवाखण्डमें महर्षि आपस्तम्बके त्याग, तपस्या, दीन-दुखियोंके प्रति करुणा, धर्माचरण तथा गोभक्तिकी एक उपदेशमयी कल्याणकारी कथा प्राप्त होती है, जिसका सारांश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

एक बारकी बात है महर्षि आपस्तम्बने विशिष्ट तपस्याके अनुष्ठानके लिये नर्मदा और मत्स्या नदीके संगममें जलसमाधि ग्रहण की। एक दिन कुछ मल्लाह मछली पकड़नेके उद्देश्यसे उसी स्थानपर पहुँचे, जहाँ आपस्तम्बजीने जलसमाधि ग्रहण की थी। जब मल्लाहोंने मछलियोंको पकड़नेके लिये जलमें जाल फेंका तो मछलियोंके साथ जालमें फँसकर महातपस्वी आपस्तम्ब भी जालके साथ बाहर आ गये। महर्षिको भी जालमें देखकर निषाद भयभीत हो गये और मुनिके चरणोंमें प्रणामकर बोले—'ब्रह्मन्! हमसे आज अनजानमें बड़ा भारी अपराध हो गया है, आप हमें क्षमा करें।'

मुनिने देखा कि इन मल्लाहोंके द्वारा यहाँ मछलियोंका बड़ा भारी संहार हो रहा है। पानीके बिना ये मछलियाँ कैसी तड़प रही हैं। उनकी ऐसी दशा देखकर उनका हृदय करुणासे भर आया, वे बड़े ही दुःखी हो गये और उनके हृदयसे बड़े ही मार्मिक वचन निकल पड़े—'अहो! बड़े कष्टकी बात है जो अपने सुखकी इच्छासे दुःखमें पड़े प्राणियोंकी ओर ध्यान नहीं देता उससे बड़ा क्रूर संसारमें और कौन हो सकता है। अहो, स्वस्थ प्राणियोंके प्रति यह निर्दयतापूर्ण अत्याचार तथा स्वार्थके लिये उनका व्यर्थ बलिदान—कैसे आश्चर्यकी बात है? ज्ञानियोंमें भी जो केवल अपने ही हितमें तत्पर है, वह श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञानी पुरुष भी अपने स्वार्थका आश्रय लेकर ध्यानमें स्थित होते हैं तो इस जगत्के दुःखातुर प्राणी किसकी शरणमें जायँगे। जो मनुष्य स्वयं अकेला ही सुख भोगना चाहता है, उसे मुमुक्षु पुरुष पापीसे भी महापापी बताते हैं। मेरे लिये वह कौन-सा उपाय है, जिससे मैं दुःखित चित्तवाले सम्पूर्ण जीवोंके भीतर प्रवेश करके अकेला ही सबके दुःखोंको भोगता रहूँ। मेरे पास जो कुछ भी पुण्य है, वह सभी दीन-दुःखियोंके प्रति चला जाय और उन्होंने जो कुछ पाप किया हो, वह सब मेरे पास आ जाय।[1] इन दरिद्र, विकलाङ्ग तथा रोगी प्राणियोंको देखकर जिसके हृदयमें दया उत्पन्न नहीं होती, वह मेरे विचारसे मनुष्य नहीं राक्षस है। जो समर्थ होकर भी प्राण-संकटमें पड़े हुए भयविह्वल प्राणियोंकी रक्षा नहीं करता, वह उसके पापको भोगता है। अतः मैं इन दीन-दुःखी मछलियोंको दुःखसे मुक्त करनेका कार्य छोड़कर मुक्तिका भी वरण करना नहीं चाहता, फिर स्वर्गलोककी तो बात ही क्या है? मैं नरक देखूँ या स्वर्गमें निवास करूँ, किंतु मेरे द्वारा मन, वाणी, शरीर और क्रियासे जो कुछ पुण्यकर्म बना हो, उससे ये सभी दुःखार्त प्राणी शुभ गतिको प्राप्त हों।'[2]

१-को नु मे स्यादुपायो हि येनाहं दुःखितात्मनाम्। अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं सर्वदुःखभुक्॥
यन्ममास्ति शुभं किंचित् तद्दीनानुपगच्छतु। यत्कृतं दुष्कृतं तैश्च तदशेषमुपैतु माम्॥ (स्कन्द० रेवा० १३। ३७-३८)

२-नरकं यदि पश्यामि वत्स्यामि स्वर्ग एव वा। यन्मया सुकृतं किंचिन्मनोवाक्कायकर्मभिः।
कृतं तेनापि दुःखार्ताः सर्वे यान्तु शुभां गतिम्॥ (स्कन्द० रेवा० १३। ३७-३८)

—इन उपदेशोंमें कितनी शिक्षा और कितने महान् धर्मकी बात महर्षि आपस्तम्बजीने बतलायी है। कदाचित् महर्षिजीके इस धर्ममय उपदेशका तथा सभी जीवोंके प्रति दया एवं करुणाके भावका किंचित् भी अंश आत्मसात् हो जाय तो समूचे संसारमें सच्ची सुख-शान्ति छा जाय और सभी सुखी हो जायँ।

महर्षिके वचनोंको सुनकर सभी मल्लाह बहुत घबराये और वे शीघ्र ही राजा नाभागके पास पहुँचे तथा सारी स्थिति उनसे निवेदित की। राजा नाभाग शीघ्र ही मन्त्रियोंको लेकर मुनिका दर्शन करने उनके पास पहुँचे। तब आपस्तम्बजी बोले—'राजन्! ये मल्लाह बड़े दुःखसे जीविकाका निर्वाह करते हैं, इन्होंने मुझे जलसे बाहर निकालकर बड़ा भारी परिश्रम किया है, अतः मेरा जो उचित मूल्य समझें वह इन्हें दे दें।'

तब राजाने महर्षिके बदले पहले एक लाख स्वर्णमुद्रा, फिर एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, यहाँतक कि अन्तमें अपना सम्पूर्ण राज्य भी देनेके लिये कहा, किंतु महर्षि कहते रहे कि यह मेरा मूल्य नहीं हो सकता। इसपर राजा घबड़ा गये। तब महर्षि लोमशजीने राजा नाभागसे कहा—'राजन्! भय न करो। गौएँ सब प्रकारसे पूज्य एवं दिव्य हैं, अतः तुम इनके लिये मूल्य-रूपमें एक गौ दे दो।' राजाने वैसा ही किया। इसपर महर्षि आपस्तम्ब अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे—'राजन्! आपने उचित मूल्य देकर मुझे खरीदा है, मैं गौओंसे बढ़कर दूसरा और किसीको नहीं देखता जो परम पवित्र और पापोंका नाश करनेवाला हो। गौएँ सदा सबके लिये वन्दनीय हैं, प्रदक्षिणा करने योग्य हैं, मङ्गलका स्थान हैं'—'**गावः प्रदक्षिणीकार्या वन्दनीया हि नित्यशः।**' जो नित्य निम्न मन्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है—

गावो मे चाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे हृदये चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

(स्कन्दपु० रेवा० १३। ६५)

ब्राह्मणोंकी रक्षा करने, गौओंको खुजलाने और सहलाने तथा दीन-दुर्बल दुःखी प्राणियोंका पालन करनेसे मनुष्य दिव्य लोकोंमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

ऐसा उपदेश देकर महात्मा आपस्तम्बने उन निषादोंको वह गाय सेवाके लिये समर्पित कर दी और उसकी सेवासे उन्होंने शुभ गति प्राप्त की। महर्षि आपस्तम्बजीकी कृपासे वे सभी मछलियाँ भी दिव्य लोकोंको प्राप्त हो गयीं। तदनन्तर महर्षि आपस्तम्बजीने राजा नाभागको स्वधर्मकी महिमा बताते हुए राजधर्मका उपदेश प्रदान किया।

इस प्रकार महर्षि आपस्तम्ब महान् संत थे। परम कृपालु थे। उनके जीवन-वृत्तान्तोंसे धर्माचरणकी शिक्षा प्राप्त होती है। इन्होंने सदाचार-सम्पन्न धर्माचरणमय जीवन-पद्धतिके अनुपालनके लिये अनेक विधि-निषेधमय ग्रन्थोंका प्रणयन किया है, जो इन्हींके नामसे प्रसिद्ध हैं—यथा—आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, आपस्तम्बगृह्यसूत्र, आपस्तम्बशुल्बसूत्र, आपस्तम्बयज्ञ-परिभाषासूत्र तथा आपस्तम्बस्मृति आदि। यद्यपि ये सभी ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वके हैं, आचारसम्पन्न सुसंस्कृत जीवन-पद्धतिके नियामक ग्रन्थ हैं तथापि इनके द्वारा प्रोक्त धर्मसूत्र तथा स्मृति धर्मशास्त्रके मुख्य ग्रन्थ हैं। इस दृष्टिसे संक्षेपमें इन ग्रन्थोंके सारभूत अंशको यहाँ दिया जा रहा है—

(१) आपस्तम्बधर्मसूत्र

महर्षि आपस्तम्बप्रणीत धर्मसूत्रकी बहुत प्राचीन कालसे प्रमाणरूपमें मान्यता रही है। '**आपस्तम्बवचो यथा**' कहकर अन्य स्मृतिकारों तथा निबन्धकारोंने प्रामाणिक रूपमें इस धर्मसूत्रके वचनोंको उद्धृत किया है। साथ ही जैमिनिसूत्रोंमें आचार्य शबरने, ब्रह्मसूत्रके शांकरभाष्यमें आचार्य शंकरने भी महर्षि आपस्तम्बजीके वचनोंका उल्लेख किया है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्राचीन व्याख्याता आचार्य विश्वरूप, मनुस्मृतिके मेधातिथि भाष्य एवं मिताक्षरामें इनके अनेक उद्धरण हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र धर्मशास्त्रका एक मुख्य ग्रन्थ है। आचार-विचार एवं कर्तव्याकर्तव्यके निर्देशक शास्त्रके रूपमें इसे अन्यतम स्थान प्राप्त है। यह ग्रन्थ सूत्रोंमें उपनिबद्ध है। पूरा ग्रन्थ दो प्रश्नोंमें बँटा है। प्रथम प्रश्नमें एकादश पटल तथा ३२ कण्डिकाएँ हैं और द्वितीय प्रश्नमें एकादश पटल तथा २९ कण्डिकाएँ हैं। इसके प्रथम प्रश्नका आठवाँ पटल जो 'अध्यात्मज्ञान-पटल'के नामसे प्रसिद्ध है,

उसमें आचार्य शंकर भगवत्पादका 'विवरण' नामक भाष्य उपलब्ध होता है। इस धर्मसूत्रपर आचार्य हरदत्तकी 'उज्ज्वलावृत्ति' नामक संस्कृत व्याख्या अत्यन्त प्रसिद्ध है।

महर्षि आपस्तम्बने अपने ग्रन्थको समयाचारमय धर्मशास्त्र बताया है। अपने धर्मसूत्रका प्रारम्भ ही उन्होंने इसी बातको लेकर किया है। यथा—'**अथातः सामयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः॥ १॥ धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्**'॥ २॥ महर्षि आपस्तम्बने वेदोंके साथ ही सत्पुरुषोंके आचार, उनके उपदेशको परम प्रमाण माना है, सामान्य व्यक्तिके लिये वेदशास्त्रज्ञ ज्ञानी आचार्यको परमपूज्य माना है, ऐसे विनयसम्पन्न, आत्मज्ञानी, जितेन्द्रियका वृत्त भी प्रमाणस्वरूप और आचरण करने योग्य तथा धर्माधर्म-निर्णयमें सहायक होता है। ये व्यक्ति आर्य कहलाते हैं, जिस आचारका स्वयं आचरण करते हुए वे प्रशंसा करते हैं तथा उसका अनुमोदन करनेका परामर्श देते हैं, वह धर्म है और जिस आचारकी निन्दा करते हैं तथा स्वयं भी उसका आचरण नहीं करते वह अधर्म है। यथा—

यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्मः।
(७। ७)

आचार्य शब्दकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, जो धर्माचारकी शिक्षा देता है वह आचार्य है और कहा है कि उसके साथ कभी भी द्रोह न करे—'**तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन॥**' (१। १५) क्योंकि वह पशुतुल्य अज्ञानी मनुष्यको विद्या तथा ज्ञान-प्रदानके द्वारा देवताओंसे भी ऊपर महात्मा बनाकर प्रतिष्ठित कर देता है। माता-पिता तो केवल शरीरके ही जन्मदाता हैं, किंतु आचार्य ज्ञानविग्रह प्रदान कर सच्चा कल्याणमय जन्म देता है, उसी जन्मके कारण श्रेष्ठ व्यक्ति द्विज कहलाता है—'**स हि विद्यातस्तं जनयति॥ तच्छ्रेष्ठं जन्म॥ शरीरमेव मातापितरौ जनयतः॥**' (१। १६—१८)

महर्षि आपस्तम्बने तप और स्वाध्यायको परम धर्म माना है और इसे ब्राह्मणका मुख्य धर्म बतलाया है। '**तपः स्वाध्याय इति ब्राह्मणम्।**' (४। १) साधारण स्वाध्याय कृच्छ्र- चान्द्रायणादि तपके तुल्य फल प्रदान करता है।

महर्षि आपस्तम्बने किसी भी कार्यके सिद्ध हो जानेपर हर्षातिरेकसे बचनेका परामर्श दिया है; क्योंकि हर्षोद्रेकमें उस व्यक्तिमें दर्प या अहंकारका प्रवेश हो जाता है और इससे पूज्य-अपूज्य तथा कार्य-अकार्यका ठीक निर्णय नहीं हो पाता, इस कारण उसे प्रमाद हो जाता है। ऐसे प्रमत्त एवं दृप्त व्यक्तिके द्वारा धर्मका अतिक्रमण हो जाता है, जिससे इस लोकमें तो पतन हो ही जाता है, परलोकमें भी नरक-प्राप्तिकी सम्भावना होती है। अतः नित्य समत्व योग एवं ज्ञानकी स्थितिमें रहना चाहिये। आपस्तम्बजीका मूल सूत्र इस प्रकार है—

हृष्टो दर्पति दृप्तो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरकः॥
(४। ४)

आपस्तम्बजीके इस वचनको प्रायः गीताके अधिकांश टीकाकार तथा आचार्योंने बहुत महत्त्वका होनेके कारण गीता (५। २०)-की टीकामें ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया है।[1]

आचार्य आपस्तम्बजीने धर्माचरणकी महिमामें बहुत ही महत्त्वकी बात बतलाते हुए सत्य ही कहा है—शुद्ध धर्मके आचरणसे अर्थ, काम, यश आदि भी स्वतः प्राप्त हो जाते हैं और सभीसे पूर्ण सुखकी प्राप्ति होती है। जैसे आमका फल प्राप्त करनेके लिये आमका वृक्ष रोपित किया जाता है, किंतु उस वृक्षसे आमके फलके साथ-साथ निमित्तभूत छाया, काष्ठ, पत्र, सुगन्धि आदि भी स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार धर्मके अनुष्ठानसे अर्थ आदि भी स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, पर कदाचित् कभी ये न भी मिलें तो धर्मसे ही अपार संतुष्टिकी प्राप्ति हो जाती है, कोई किसी प्रकारकी हानि नहीं होती। इसलिये सद्धर्मका कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिये। महर्षिके मूल वचन इस प्रकार हैं—

तद्यथाम्रफलार्थे निमित्ते छायागन्ध इत्यनूत्पद्येते,
एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते।
(७। ३)

आपस्तम्ब धर्मसूत्रका अष्टम पटल अध्यात्मपटल कहलाता है। इस पटलमें कुल १४ सूत्र हैं। इसमें आत्मज्ञान, योगज्ञान, परमात्मज्ञान-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। इसी दृष्टिसे शंकराचार्यजीने इन सूत्रोंपर भाष्य लिखा है

१-न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ (गीता ५। २०)

अर्थात् जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिर-बुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।

जो 'विवरण'नामसे प्रसिद्ध है। महर्षि आपस्तम्बने अध्यात्मज्ञानको सर्वोपरि माना है, क्योंकि यह मोक्षमें अतिशय सहायक होता है। आत्मलाभ या परमात्मप्राप्तिको इन्होंने संसारका सबसे बड़ा लाभ बतलाया है—'**आत्मलाभान्न परं विद्यते**।' (८। २) महर्षि आपस्तम्बजीके अनुसार सभी प्राणियोंमें अपनी आत्माको देखनेवाला विद्वान् कभी मोहमें नहीं पड़ता। राग-द्वेषमें नहीं फँसता, वह ब्रह्म बन जाता है और स्वर्गलोकसे भी ऊपरके लोकोंमें प्रतिष्ठित होता है। वह अपनी ही महिमामें विराजित होकर स्वयं प्रकाशित हो जाता है[1]—**आत्मन् पश्यन् सर्वभूतानि न मुह्येच्चिन्तयन् कविः। आत्मानं चैव सर्वत्र यः पश्यत्स वै ब्रह्मा नाकपृष्ठे विराजति॥** (८-९)

महर्षि आपस्तम्बजीने अध्यात्मपटलके अन्तमें 'अनात्म्य-योग'का वर्णन किया है। अन्य शास्त्रोंमें जो अधर्माचरण पाप तथा निन्दित कर्म कहे गये हैं, उन्हें ही यहाँ 'अनात्म्ययोग' किंवा 'भूतदाहीय दोष' कहकर सर्वथा परित्याज्य बतलाया है और उन्हें भगवत्प्राप्तिमें प्रबल बाधक बतलाया है, वे इस प्रकार हैं—क्रोध, हर्षातिरेक, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, द्रोह, मिथ्याभाषण, बार-बार भोजन या अधिक भोजन, परदोष-दर्शन (परनिन्दा), गुणोंके प्रति द्वेष-बुद्धि, स्त्रियोंके प्रति आकर्षण, गूढ़ द्वेष, अजितेन्द्रियत्व।[2] ये सभी योगके बाधक हैं, योगकी जड़को काट देते हैं, अतः इनसे सर्वदा दूर रहना चाहिये। इसके विपरीत अक्रोध, अहर्ष, अरोष, अलोभ, अमोह, अदम्भ, अद्रोह, सत्य वचन, अनसूया, आर्जव, मार्दव, शम, दम तथा सर्वभूतहितैषिता आदि ये सभी सबके द्वारा आचरणमें लाने योग्य हैं, परमात्म्ययोगकारक हैं किंवा भगवत्प्राप्तिमें परम सहायक हैं। ये सभी वर्णों और आश्रमोंके लिये धार्मिक समय या धार्मिक नियम या धार्मिक कर्तव्य माने गये हैं। इनके आचरणसे व्यक्ति सर्वज्ञ, सार्वगामी बन जाता है और जीवन्मुक्त हो जाता है,... **सर्वाश्रमाणां समयपदानि तान्यनुतिष्ठन् विधिना सार्वगामी भवति॥** (८। १४)।' **निर्हृत्य भूतदाहीयान् क्षेमं गच्छति पण्डितः॥**' (८। ११)

नवम पटल तथा दशम पटलमें ब्रह्महत्या आदि पातक-महापातकोंके प्रायश्चित्तोंका वर्णन है। एकादश पटलमें स्नातक-व्रत, स्नातक-धर्मोंका विवरण है।

द्वितीय प्रश्नके प्रथम पटलसे चतुर्थ पटलके सूत्रोंमें गृहस्थधर्म, वैश्वदेव-कर्म, अतिथि-पूजन आदिका विस्तारसे साङ्गोपाङ्ग विवेचन हुआ है। इससे आगे ब्राह्मणादिकी वृत्ति, विवाह, स्त्रीरक्षा, दाय-भाग, श्राद्धकल्प, चारों आश्रमोंके धर्म, गृहस्थाश्रम-धर्मकी श्रेष्ठता तथा अन्तमें राजधर्मका विस्तारसे वर्णन हुआ है।

इस प्रकार महर्षि आपस्तम्बप्रणीत धर्मसूत्र धर्मशास्त्रका एक अत्यन्त ही प्रौढ़ एवं कर्तव्याकर्तव्यका नियामक ग्रन्थ है।

(२) आपस्तम्बस्मृति

महर्षि आपस्तम्बप्रणीत एक संक्षिप्त स्मृति भी प्राप्त होती है, जो दस अध्यायोंमें उपनिबद्ध है। इसमें लगभग २०० श्लोक हैं। मुख्य-रूपसे इसमें विविध प्रायश्चित्त-विधानोंका विवेचन हुआ है। अन्तिम १०वें अध्यायमें अध्यात्मज्ञान एवं मोक्ष-प्राप्तिके साधनोंका संक्षेपमें किंतु बड़े ही महत्त्वका वर्णन प्राप्त होता है। महर्षि आपस्तम्बजीने अपनी स्मृतिके प्रारम्भमें गृहस्थोंके लिये गोपालनकी उत्तमता प्रदर्शित की है और यह भी बताया है कि गोहत्या महान् पाप है। महर्षि आपस्तम्बजीने गो-चिकित्साको महान् पुण्य बताते हुए यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि उपकारकी दृष्टिसे गो-चिकित्सा करते समय कुछ हानि भी हो जाय तो उसमें चिकित्सा करनेवालेकी भली नीयत होनेसे उसे कोई पाप नहीं लगता। कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि गोमाताके शरीरमें अस्त्रका प्रयोग करना सबसे बड़ा पाप है और फिर कहीं चिकित्सा करते समय या औषधि देते हुए कहीं दुर्भाग्यवश यथायोग्य ओषधि न दी जा सके और कुचिकित्साके कारण गायके प्राण चले जायँ तो चिकित्सकको महान् पाप

१-उपनिषदादि शास्त्रों तथा गीता आदिमें भी यही बात कही गयी है। यथा—ईशावास्यश्रुतिमें—

(क) यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (६-७)

(ख) सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (गीता ६। २९, २०, ३०-३२ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं)

२-क्रोधो हर्षो रोषो लोभो मोहो दम्भो द्रोहो मृषोद्यमत्याशपरीवादावसूया काममन्यू अनात्म्यमयोगस्तेषां योगमूलो निर्घातः। (८। १३)

लगेगा, अतः वे गो-चिकित्सा करनेमें भय मानते हैं। उन्हीं लोगोंको सावधान करते हुए महर्षि आपस्तम्बजी कहते हैं—

यन्त्रणे गोचिकित्सार्थे मृतगर्भविमोचने।
यत्ने कृते विपत्तिश्चेत् प्रायश्चित्तं न विद्यते॥

(आपस्तम्ब० १। ३२)

अर्थात् यत्नपूर्वक गोचिकित्सा करने अथवा गर्भसे मरा हुआ बच्चा निकालनेमें यदि कोई विपत्ति भी आ जाय तो प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार प्राणियोंके प्राण-रक्षाकी दृष्टिसे उन्हें ओषधि, लवण, तैलादि पदार्थ, पुष्टिकारक अन्न-भोजन इत्यादि दिया जाय और उससे उनपर कोई विपत्ति आ जाय तो भी पाप नहीं होता, वरं पुण्य ही होता है—

औषधं लवणं चैव स्नेहं पुष्ट्यर्थभोजनम्।
प्राणिनां प्राणवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्तं न विद्यते॥

(आप० १। ११)

किंतु ये पदार्थ अतिरिक्त मात्रामें नहीं देने चाहिये। समयपर यथोचित मात्रामें ही विचार कर प्रदान करने चाहिये। अतिरिक्त दिये जानेपर मृत्यु आदि हो जाय तो उसके लिये कृच्छ्रव्रत करना चाहिये।

अतिरिक्ते विपन्नानां कृच्छ्रमेव विधीयते॥

महर्षि आपस्तम्बजी कृषि-कर्ममें जुताई करते समय हलमें कितने बैलोंको जोतना धर्म है और कितनेका जोतना अधर्म है, इसे बताते हुए कहते हैं कि जिस हलके साथ आठ बैल जुते हों वह श्रेष्ठ धर्म-हल कहलाता है, छः बैलोंका हल आजीविका करनेवालोंके लिये श्रेष्ठ, चार बैलोंका हल निर्दयीका होता है और जो केवल दो बैलोंसे ही जुताई इत्यादिका कठोर कार्य निर्दयतापूर्वक करता-कराता है, वह गोहत्यारेके समान है—

हलमष्टगवं धर्म्यं षड्गवं जीवितार्थिनाम्।
चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं हि जिघांसिनाम्॥

(आप० १। २३)

गायोंको बन्धनमें नहीं रखना चाहिये। नारियल, बाल, मूँज तथा चमड़े आदिकी कठोर रस्सियोंसे तो कभी भी नहीं बाँधना चाहिये। इससे वे पराधीन एवं बन्धनयुक्त होकर कष्टमें रहती हैं। यदि आवश्यकता पड़े तो कुश, काश आदिकी मुलायम रस्सियोंसे उन्हें बाँधा जा सकता है—

न नारिकेलबालाभ्यां न मुञ्जेन न चर्मणा।
एभिर्गास्तु न बध्नीयाद् बद्ध्वा परवशा भवेत्॥
कुशैः काशैश्च बध्नीयाद्०॥

(आप० १। २५-२६)

इस प्रकार प्रथम अध्यायमें गोसेवा, गोचिकित्सा तथा गोवधके प्रायश्चित्त आदिका संक्षेपमें निरूपण करते हुए महर्षि आपस्तम्बजीने अगले अध्यायोंमें शुद्धि-अशुद्धिका विवेचन, स्पर्शास्पर्श-खाद्याखाद्यविमर्श, उच्छिष्ट भोजनका प्रायश्चित्त, नीला वस्त्र धारण करनेका निषेध, रजस्वला आदिके स्पर्शास्पर्शकी मीमांसा, दूषित वस्तुओंकी शुद्धिका विधान तथा अपेय-पान आदिका वर्णन किया है और अन्तिम दशम अध्यायमें अध्यात्मज्ञानका सूक्ष्म विवेचन किया है।

महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं कि इस विश्वके नियामक यम नहीं हैं, आत्माको ही यम कहा गया है। जिसने मन, बुद्धि, इन्द्रियोंपर नियन्त्रण कर अपने-आपको धर्माचरणके अनुकूल बना दिया है, उसका वैवस्वत यम क्या करेंगे? तात्पर्य यह कि धर्मशास्त्रानुकूल आचरण करनेवालेका विश्वमें कोई कभी बाल बाँका नहीं कर सकता—

न यमं यममित्याहुरात्मा वै यम उच्यते।
आत्मा संयमितो येन तं यमः किं करिष्यति॥

(आप० १०। ३)

तीक्ष्ण विषवाला साँप तथा तेज धारवाली तलवार भी किसी व्यक्तिके लिये उतनी घातक सिद्ध नहीं होती, जितना कि अपने शरीरमें रहनेवाला क्रोध ही उसके लिये विनाशक सिद्ध होता है अर्थात् साधकके लिये क्रोध ही सर्वनाशक है। अतः उसका निर्मूल संहार कर देना चाहिये। आत्मामें सुस्थिर हो जानेवाला क्रोध ही उसके लिये छिपकर संहारक-रूपमें बैठा रहता है, इसके विपरीत सर्वदा क्षमाशीलको कोई कष्ट नहीं होता, क्योंकि क्षमारूपी महान् गुण इस लोक और परलोकमें सर्वत्र सुखदायी होता है। अतः साधकको क्रोधका सर्वथा परित्याग कर क्षमाशील, सहिष्णु तथा दया-भावमें स्थित रहना चाहिये। क्रोधयुक्त होकर व्यक्ति जो भी जप, होम, यज्ञ, पूजन अर्थात् जो भी सत्कर्म, धर्म-कर्म करता है

वह उसी प्रकार निष्फल हो जाता है, जैसे कच्चे घड़ेमें जल इत्यादि जो कुछ भी रखा जाय वह नष्ट ही हो जाता है[१]।

अपनी स्मृतिके अन्तमें महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्रीय उपदेश देते हुए महर्षि आपस्तम्बजी कहते हैं—

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

(आप० १०। ११)

अर्थात् परायी स्त्रीको माताके समान, परद्रव्यको मिट्टीके ढेले समान और सभी प्राणियोंको अपने ही समान जो व्यक्ति देखता है, वही वास्तवमें सच्चा आत्मद्रष्टा है।

जो संसारके पदार्थोंमें, इन्द्रियोंके विषयोंमें राग नहीं रखता अर्थात् अनासक्त-भावसे स्थित रहता हुआ धर्माचरण करता है, प्रयत्नपूर्वक अध्यात्मशास्त्र, योगशास्त्रमें एकनिष्ठा रखता है और नित्य अहिंसा-व्रतमें तत्पर रहकर मन, वाणी, कर्मसे किसी भी प्रकारकी हिंसा न करता हुआ सभी प्राणियोंके कल्याणमें प्रयत्न-रत रहता है एवं केवल स्वाध्याय तथा योगमार्गका समाश्रयण करता है, वही व्यक्ति, वही साधक सच्चे अर्थोंमें मुक्तिको प्राप्त करता है—भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है—यही महर्षि आपस्तम्बजीके धर्मोपदेशका सार अंश है—

मोक्षो भवेत् प्रीतिनिवर्तकस्य
अध्यात्मयोगैकरतस्य सम्यक्।
मोक्षो भवेन्नित्यमहिंसकस्य
स्वाध्याययोगागतमानसस्य ॥

(आप० १०। ७)
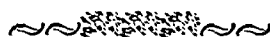
आख्यान—

क्षमा-धर्मके आदर्श

आपस्तम्बस्मृतिने क्षमाको प्राणियोंका सबसे बड़ा गुण माना है। लिखा है—

क्षमागुणो हि जन्तूनामिहामुत्र सुखप्रदः।

(आपस्तम्ब० १०। ५)

अर्थात् क्षमा प्राणियोंका उत्तम गुण है। क्षमा इस लोकमें तथा अपरलोकमें भी सुख प्रदान करता है।

भारत संतत्व-प्रधान देश है। जितने संत होते हैं वे सब-के-सब क्षमाशील होते हैं। इसीलिये जितने संत हैं सब-के-सब इस विषयके दृष्टान्त हैं। यहाँ प्राचीन संत श्रीवसिष्ठजीकी एवं आधुनिक संत श्रीउग्रानन्दजीकी कथा दी जाती है।

अद्भुत क्षमाशील महर्षि वसिष्ठ

महर्षि वसिष्ठने देवदुर्जय काम और क्रोध नामक दोनों शत्रुओंको सदाके लिये पराजित कर दिया था। इसलिये ये दोनों निरन्तर इनके चरण दबाते रहते हैं। (महाभारत, आदि० १७३)

एक बार महाराज विश्वामित्र शिकार खेलते-खेलते बहुत थक गये। उन्हें विश्रामकी आवश्यकता थी। पासहीमें वसिष्ठजीका आश्रम था। वे दल-बलके साथ उस आश्रममें आ पहुँचे। महर्षि वसिष्ठजीने उनका हार्दिक सत्कार किया और आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये कहा। महर्षि वसिष्ठके पास नन्दिनी नामक एक दिव्य गाय थी, जो सभी कामनाओंको शीघ्र ही पूर्ण कर दिया करती थी। इस बार भी वसिष्ठजीकी इच्छाके अनुसार नन्दिनीने विश्वामित्रके सभी लोगोंके लिये यथोचित आतिथ्यकी सामग्री जुटा दी। ऐसा आतिथ्य न तो विश्वामित्रको कहीं सुलभ हुआ था और न उनके दल-बलको ही। नन्दिनीका यह प्रभाव देखकर राजर्षि विश्वामित्रके मनमें लोभ आ गया। उन्होंने अपना सब कुछ देकर नन्दिनीको लेना चाहा। वसिष्ठजीने कहा कि 'नन्दिनीसे देवता, अतिथि और पितरोंकी पूजा किया करता हूँ, इसके बिना यह सब काम रुक जायगा, इसलिये नन्दिनीका देना सम्भव नहीं है।' राजर्षि विश्वामित्र लोभसे अभिभूत हो गये थे, उन्होंने सैनिकोंको आज्ञा दी कि नन्दिनीको खोलकर जबरदस्ती ले चलो। यदि यह न चलना चाहे तो पीट-पीटकर ले चलो। नन्दिनीपर मार पड़ने लगी। वह मार खाती हुई वसिष्ठजीके सामने आ खड़ी हुई। नन्दिनीपर यह अत्याचार उनसे देखा न गया, उन्होंने प्यारसे कहा—'नन्दिनी! मैं देख रहा हूँ कि तुम पीटी जा रही हो। परंतु मैं क्या करूँ, क्षमा करना ही मेरा कर्तव्य है'—'क्षमावान् ब्राह्मणो ह्यहम्' (महा०, आदि० १७४। २५)।

१-न तथासिस्तथा तीक्ष्णः सर्पो वा दुरधिष्ठितः। यथा क्रोधो हि जन्तूनां शरीरस्थो विनाशकः॥
क्षमागुणो हि जन्तूनामिहामुत्र सुखप्रदः। अरिर्वा नित्यसंक्रुद्धो यथात्मा दुरधिष्ठितः॥
क्रोधयुक्तो यद् यजते यज्जुहोति यदर्चति। सर्वं हरति तत्तस्य आमकुम्भ इवोदकम्॥ (आप० १०। ४-५, ८)

नन्दिनीने पूछा—'क्या आपने मेरा त्याग कर दिया है?' वसिष्ठजीने कहा—'नहीं देवी! मैंने तुम्हारा त्याग नहीं किया है। मैं तो चाहता ही हूँ कि तुम मेरे ही साथ रहो। लेकिन मेरा कर्तव्य है क्षमा करना, इसलिये मैं कोई प्रतीकार नहीं कर पा रहा हूँ।' नन्दिनीने जब परिस्थितिको समझ लिया, तब उसने विश्वामित्रके सैनिकोंको वहाँसे भगाना चाहा, किंतु अहिंसापूर्वक। उसने अपने संकल्पसे म्लेच्छों, हूणों, शकोंकी बड़ी मजबूत सेना तैयार कर दी। उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि विश्वामित्रके एक-एक सैनिकको नन्दिनीके पाँच-पाँच सैनिकोंने घेर लिया था। नन्दिनीके ये सैनिक इतने भयानक थे कि उनको देखते ही विश्वामित्रका प्रत्येक सैनिक भाग खड़ा हुआ। सब कुछ होते हुए भी नन्दिनीके किसी सैनिकने विश्वामित्रके किसी सैनिकका प्राण नहीं लिया—'**न च प्राणैर्वियुज्यन्ते केचित् तत्रास्य सैनिकाः।**' (महा०, आदि० १७४। ४२)। नन्दिनीके सैनिकोंने तीन योजन दूर भगाकर ही उन्हें छोड़ा।

यह दृश्य देख विश्वामित्र आपेसे बाहर हो गये और लगे निहत्थे वसिष्ठपर अस्त्र-शस्त्र बरसाने। वसिष्ठजीने तो क्षमा धारण कर ही रखा था, केवल अपने बचावके लिये एक बाँसकी छड़ी आगे कर दी। इस छड़ीने उनके सभी अस्त्रोंको पीछे लौटा दिया। विश्वामित्र निरुत्तर और लज्जित होकर घर लौट आये। घर लौटकर विश्वामित्र मन-ही-मन वसिष्ठकी हानि पहुँचानेकी कोई-न-कोई योजना बनाया ही करते थे। विश्वामित्रकी प्रेरणासे एक राक्षसने वसिष्ठके सभी पुत्रोंको मारकर खा डाला। फिर भी वसिष्ठजी विश्वामित्रको क्षमा ही करते रहे। अब आधुनिक संतकी क्षमाशीलताकी एक झाँकी देखें।

संत श्रीउग्रानन्दकी क्षमाशीलता

स्वामी श्रीउग्रानन्दजी पहुँचे हुए संत थे। वे सदा ब्रह्मानन्दमें लीन रहते थे। उनके लिये ब्रह्माण्डका एक-एक कण ब्रह्म था। ब्रह्मके अतिरिक्त उन्हें और कहीं कुछ दीख नहीं पड़ता था। संसारकी प्रत्येक घटनामें, चाहे वे दुःखद हों या सुखद वे ब्रह्मकी लीला देखा करते थे।

श्रीउग्रानन्दजी एक बार उन्नाव जिलेके एक गाँवमें पहुँचे। आध्यात्मिक मस्ती छायी हुई थी। रात हो गयी थी, इसलिये गाँवके बाहर ही एक पेड़के नीचे आसन जमाकर बैठ गये। उसी रात कुछ चोर किसी किसानके बैलको चुराकर ले भागे। किसानने हल्ला मचाया। गाँववाले इकट्ठे हो गये। कुछ लोग टोलियाँ बनाकर चारों तरफ चोरको पकड़नेके लिये दौड़ पड़े। एक टोलीकी दृष्टि संतपर पड़ी। वे चोर समझकर इनकी पिटाई करने लगे। संत ईश्वरकी इस लीलाको देखकर रस ले रहे थे। सोचा, होगा किसी जन्मका पाप, जिसका ये लोग सुन्दर प्रायश्चित्त करा रहे हैं।

मनमाना पीटकर और बाँधकर वे लोग संतको गाँवमें ले आये और उन्हें चौपालकी कोठरीमें बंद कर दिया। सवेरे उठकर वे बड़े उत्साहके साथ संतको बाँधकर थानेमें ले आये। वहाँका थानेदार संतको पहचानता था। वह दौड़कर स्वामीजीके चरणोंमें लोट गया। गाँववालोंकी मूर्खतापर थानेदारको बहुत क्रोध हुआ और उसने आर्डर दे दिया कि इनमेंसे प्रत्येकको खूब पीटो। पुलिस जब उनको मारनेपर तैयार हुई, तब ये गाँववालोंके आगे आकर खड़े हो गये और उन्हें मारनेसे बचाया। उन्होंने कहा कि 'गाँववालोंमेंसे किसीको किसी तरह भी कष्ट न होने पाये। ये बेचारे तो भ्रममें हैं, इनका क्या दोष।' उसके बाद थानेदारसे कहा कि 'अगर तुम्हारे पास कुछ पैसे हों तो उनसे कुछ मिठाई मँगाकर गाँववालोंको पानी पिला दो। बेचारे कुछ खायें-पीयें।' थानेदार संतके स्वभावसे परिचित था। उसने खिला-पिलाकर गाँववालोंको छोड़ दिया। (ला० मि०)
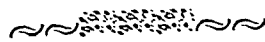
निर्गुणास्त्वेव भूयिष्ठमात्मसम्भाविता नराः। दोषैरन्यान् गुणवतः क्षिपन्त्यात्मगुणक्षयात्॥

गुणहीन मनुष्य ही अधिकतर अपनी प्रशंसा किया करते हैं। वे अपनेमें गुणोंकी कमी देखकर दूसरे गुणवान् पुरुषोंके गुणोंमें दोष बताकर उनपर आक्षेप किया करते हैं। (महाभा० शा० प० २८७। २६)
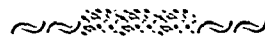
महर्षि वसिष्ठ और उनके धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ

त्याग, तपस्या, वैराग्य, संतोष एवं क्षमाकी मूर्ति महर्षि वसिष्ठजीके नामसे शायद ही कोई अपरिचित होगा। आपकी सदाचारपरायणता सबके लिये आदर्श रही है। वेदों तथा पुराणेतिहास आदि प्रायः सभी ग्रन्थोंमें आपका अलौकिक पावन चरित्र वर्णित है। इनके क्षमा, करुणा, परोपकार एवं धर्मोपदेश-सम्बन्धी आख्यान पुराणोंमें विस्तारसे आये हैं और अनेक प्रकारसे आपका दिव्य चरित्र वर्णित हुआ है। वेदोंमें आप मित्रावरुणके पुत्र कहे गये हैं। आप वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। वेदोंके अनेक सूक्तों एवं मन्त्रोंके दर्शन आपको हुए हैं। ऋग्वेदका सप्तम मण्डल 'वासिष्ठ मण्डल' कहलाता है। पुराणोंमें वर्णित है कि आप सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। इन्हींके नामसे 'वसिष्ठ' गोत्रका प्रवर्तन हुआ है। सप्तर्षियोंमें आपका परिगणन है। देवी 'अरुन्धती' आपकी धर्मपत्नी हैं। ये पतिव्रताओंकी आदर्श हैं। इनका महर्षि वसिष्ठजीसे कभी अलगाव नहीं होता। सप्तर्षिमण्डलमें महर्षि वसिष्ठजीके साथ माता अरुन्धती भी विराजमान रहती हैं। अखण्ड सौभाग्य और उच्चतम श्रेष्ठ दाम्पत्यके लिये महर्षि वसिष्ठ एवं अरुन्धतीकी आराधना भी की जाती है।

शक्तिपुत्र महर्षि वेदव्यास एवं महाज्ञानी शुकदेव महर्षि वसिष्ठजीकी ही पौत्र-प्रपौत्र-परम्परामें समादृत हैं। भगवान् श्रीरामके भी ये गुरु रहे हैं, अतः इनकी विद्या-बुद्धि, योग-ज्ञान, सर्वज्ञता, आचारनिष्ठताकी कोई सीमा नहीं है। क्षमा एवं तपके तो ये आदर्श ही हैं। महर्षि विश्वामित्रका क्षात्रबल इनके ब्रह्मतेजके सामने अस्तित्वविहीन हो गया, इनमें क्रोध लेशमात्र भी नहीं है। ये सदा सबके हितचिन्तन एवं कल्याण-कामनामें लगे रहते हैं, इनका अपना कोई स्वार्थ नहीं, सदा परमार्थ ही परमार्थ। भगवद्भक्तोंमें आपकी गणना प्रथम पंक्तिमें होती है। आपकी गोसेवा एवं गोभक्ति सभी गोभक्तोंके लिये आदर्शभूत रही है। कामधेनुकी पुत्री नन्दिनी नामक गौ आपके आश्रममें सदा प्रतिष्ठित रही। अरुन्धतीजीके साथ आप नित्य उसकी सेवा-शुश्रूषा किया करते थे और अनन्त शक्तिसम्पन्न होमधेनु नन्दिनीके प्रभावसे आपको दुर्लभ पदार्थ भी सदा सुलभ रहता था। आपके दिव्य उपदेश बड़े ही लोकोपकारी हैं। 'योगवासिष्ठ' नामक दिव्य ग्रन्थ आपके नामसे ही प्रवर्तित है। आपकी धर्मशास्त्रीय एवं आचार-सम्बन्धी मर्यादाएँ 'वसिष्ठधर्मसूत्र' एवं 'वसिष्ठस्मृति' आदिमें अनुग्रथित हैं। यहाँ संक्षेपमें इनका परिचय दिया जाता है—

(१)

वसिष्ठ-धर्मशास्त्र या वसिष्ठधर्मसूत्र

धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें आचार्य वसिष्ठके वचनोंका विशेष गौरव है। उनका 'वसिष्ठ-धर्मशास्त्र' नामक ग्रन्थ प्रायः सूत्रोंमें उपनिबद्ध है, इसलिये यह 'वसिष्ठधर्मसूत्र' भी कहलाता है। इसकी वर्णन-शैली बड़ी ही सुन्दर तथा इसके सूत्र शीघ्र ही कण्ठ होने योग्य हैं। कहीं-कहीं इसे 'स्मृति' नामसे भी कहा गया है। इस ग्रन्थमें ३० अध्याय हैं और अध्यायोंके अन्तर्गत सूत्र हैं। बीच-बीचमें कुछ श्लोक भी हैं। यहाँ इस धर्मसूत्रके कुछ विषयोंको संक्षेपमें दिया जा रहा है—

धर्मका लक्षण और धर्माचरणका फल

इस ग्रन्थके प्रारम्भमें ही धर्मका लक्षण और धर्माचरणका फल बताते हुए कहा गया है कि 'श्रुति' तथा 'स्मृति'में जो विहित आचरण बताया गया है, वह 'धर्म' है यथा—'**श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः**' (वसिष्ठ० १। ३)। और जहाँ श्रुति-स्मृतिमें प्रमाणस्वरूप कोई वचन न मिले, ऐसी स्थितिमें शिष्ट महापुरुष जैसा आचरण करते हैं, जैसा व्यवहार करते हैं, जो कर्म करते हैं, वही धर्माचरणके रूपमें प्रमाण मानने योग्य है। अर्थात् शिष्ट पुरुष जैसा करें, उसीको प्रमाण मानकर आचरण करना चाहिये—

'तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्'

(वसिष्ठ० १। ४)

शिष्ट पुरुष कौन है? इसे बताते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि जो त्यागी हैं, निष्काम हैं, वे ही शिष्ट हैं—

'शिष्टः पुनरकामात्मा'

(वसिष्ठ० १। ५)

धर्माचरणका फल बताते हुए वे कहते हैं कि धर्मका सम्यक् अवज्ञानकर उसका आचरण करनेवाला व्यक्ति

धार्मिक कहलाता है और वह इस संसारमें श्रेष्ठतम यशस्वी व्यक्ति होता है, मान्य होता है, पूज्य होता है। इतना ही नहीं, अन्तमें वह उत्तम स्वर्गलोक भी प्राप्त करता है। अर्थात् धर्मात्मा व्यक्ति इस लोक और परलोक—दोनों जगह परम कल्याण ही प्राप्त करते हैं—

ज्ञात्वा चानुतिष्ठन् धार्मिकः प्रशस्यतमो भवति लोके, प्रेत्य च स्वर्गं लोकं समश्नुते। (वसिष्ठ० १। २)

छः प्रकारके आततायी

ब्रह्महत्यादि महापातकों तथा उपपातकोंके प्रकरणमें बताया गया है कि पातकीके साथ संसर्ग करनेवाला व्यक्ति भी एक संवत्सरमें पतित हो जाता है—

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।

(वसिष्ठ० १। २२)

उसके आगे बताया गया है कि आततायी छः प्रकारके होते हैं—

(१) आग लगानेवाला, (२) विष देनेवाला, (३) हाथमें शस्त्र लेकर मारनेवाला, (४) धनका अपहरण करनेवाला, (५) क्षेत्र-भूमिका अपहरण करनेवाला और (६) स्त्रीका अपहरण करनेवाला[1]।

—इन आततायी व्यक्तियोंके वधसे पाप नहीं लगता—

आततायिनं हत्वा नात्र प्राणच्छेत्तुः किंचित् किल्बिषमाहुः।

(वसिष्ठ० ३। १६)

बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है

आचार्य वसिष्ठने तृतीय अध्यायमें द्रव्योंकी शुद्धि बताते हुए अन्तमें कहा है कि शरीरकी शुद्धि जलद्वारा स्नान करनेसे, मनकी शुद्धि सत्य-धर्मका पालन करनेसे, जीवात्माकी शुद्धि विद्या और तपसे तथा बुद्धिकी शुद्धि ज्ञानसे होती है[2]।

आचार-प्रशंसा और हीनाचार-निन्दा

महर्षि वसिष्ठजीने सदाचार और शौचाचारको ही धर्माचरणका मूल और निन्दित आचरणको सर्वदा त्याज्य बताया है। वे कहते हैं कि आचारका पालन ही परम धर्म है। आचारसे हीन व्यक्ति अङ्गोंसहित यदि सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला भी हो, तब भी उसे वेद पवित्र नहीं बनाते। अन्त-समयमें वेद उसे उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जैसे पंख उग जानेवाले पक्षी अपने घोंसलेको छोड़कर चले जाते हैं[3]। इसके विपरीत आचारका पालन करनेसे धर्म फलीभूत होता है, समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, लोकाभिरामता प्राप्त होती है और आचारका पालन ही सम्पूर्ण दुर्लक्षणों, दोषोंको दूर कर देता है।[4]

अग्राह्य मिट्टी

'वसिष्ठधर्मसूत्र'में निर्देश है कि पाँच स्थानोंकी मिट्टी अग्राह्य है। शुद्धिके निमित्त इन पाँच स्थानोंकी मिट्टीका प्रयोग नहीं करना चाहिये—

(१) जलके अंदरकी मिट्टी, (२) देवालयकी मिट्टी, (३) वल्मीक (बाँबी)-की मिट्टी, (४) चूहेद्वारा एकत्र की गयी मिट्टी और (५) शौचसे बची हुई मिट्टी[5]।

उत्तम ब्राह्मणोंके लक्षण

योग, तप, दम (इन्द्रिय-निग्रह), दान, सत्य, शौच, दया, वेदाध्ययन, विद्या, विज्ञान तथा आस्तिकता ब्राह्मणका लक्षण है—

योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतम्।
विद्या विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

(वसिष्ठ० ६। २०)

जो शान्त हैं, दान्त हैं, जितेन्द्रिय हैं तथा जिनके कान वेदध्वनियोंसे पूरित हैं, जो सब प्रकारसे प्राणिहिंसासे दूर हैं अर्थात् अहिंसाव्रत-परायण हैं, जिनके हाथ प्रतिग्रह (दान) ग्रहण करनेमें अत्यन्त संकुचित रहते हैं, वे ही ब्राह्मण उद्धार करनेमें समर्थ होते हैं।[6]

१-अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥ (वसिष्ठ० ३। १९)

२-अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ (वसिष्ठ० ३। ५६)

३-आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥ (वसिष्ठ० ६। ३)

४-आचारात् फलते धर्मो ह्याचारात् फलते धनम्। आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्॥ (वसिष्ठ० ६। ७)

५-अन्तर्जले देवगृहे वल्मीके मूषकस्थले। कृतशौचावशिष्टा च न ग्राह्याः पञ्च मृत्तिकाः॥ (वसिष्ठ० ६। १५)

६-ये शान्तदान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णा जितेन्द्रियाः प्राणिवधान्निवृत्ताः।
प्रतिग्रहे संकुचिताग्रहस्तास्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः॥ (वसिष्ठ० ६। २१)

गृहस्थ-धर्म

'वसिष्ठधर्मसूत्र'के आठवें अध्यायमें गृहस्थ-धर्मका संक्षेपमें वर्णन किया गया है। उसमें विशेषरूपसे अतिथि-सेवाको विशेष महत्त्व दिया गया है और कहा गया है कि घरमें आये हुए अतिथिका उठकर स्वागत करे, उसे आसन प्रदान करे, उसके शयनकी व्यवस्था करे, उसके साथ मधुर वाणीका प्रयोग करे और असूयारहित होकर उसका आदर-मान करे—

गृहेष्वभ्यागतं प्रत्युथानासनशयनवाक्सूनृतानसूयाभिर्मानयेत्।

(वसिष्ठ० ८। १२)

चारों आश्रमोंमें गृहस्थका ही विशेष गौरव है। जिस प्रकार सभी नदियाँ, महानदियाँ समुद्रमें ही परम आश्रय प्राप्त करती हैं और जैसे सभी जीव-जन्तु माताका आश्रय लेकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी भिक्षार्थी (अर्थात् ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी) गृहस्थका ही आश्रय लेकर स्थित रहते हैं—

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षवः॥

(वसिष्ठ० ८। १६)

इसलिये गृहस्थाश्रमीको चाहिये कि वह यथाशक्ति अन्न-जल आदिके द्वारा सभी प्राणियोंकी सेवा करे, यह गृहस्थाश्रमका मुख्य धर्म है—'**यथाशक्ति चान्नेन सर्वभूतानि।**' (वसिष्ठ० ८। १३)।

सभी आश्रमोंका सामान्य धर्म

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—ये चार आश्रम हैं। चारों आश्रमोंके अपने-अपने अलग-अलग धर्म हैं, जो ब्रह्मचर्यधर्म, गृहस्थधर्म इस प्रकारसे कहलाते हैं। प्रत्येक आश्रमधर्मीको अपना ही धर्म सेव्य है, इतरका नहीं। जैसे गृहस्थधर्ममें पुत्रादिकी प्राप्ति धर्म है, किंतु संन्यास आदि आश्रममें स्त्री-परिग्रह अधर्मरूप पाप-कर्म है। इसलिये अपने-अपने आश्रमधर्मका ही पालन करना चाहिये, किंतु कुछ ऐसे सामान्य धर्म हैं, जो सभी आश्रमियोंके लिये अवश्य सेवनीय हैं। पिशुनता (चुगलखोरी), मात्सर्य (द्वेष-डाह), अभिमान, अहंकार, अश्रद्धा, अनार्जव, आत्मप्रशंसा, परनिन्दा, दम्भ, क्रोध, लोभ, मोह तथा असूया—इन सभी दोषोंका सर्वथा परित्याग कर देना सभी आश्रमियोंका अभीष्ट धर्म है अर्थात् अपिशुनता, अमात्सर्य, अनभिमान, अनहंकार, श्रद्धा, आर्जव, आत्मप्रशंसाराहित्य, परनिन्दाराहित्य, अदम्भ, अक्रोध, अलोभ, अमोह तथा अनसूया—ये सभी आश्रमवासियोंके सामान्य धर्म हैं।

श्राद्धमें तीन पवित्र तथा तीन प्रशंसित बातें

महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं कि पितरोंके श्राद्धमें दुहितापुत्र अर्थात् लड़कीका पुत्र, कुतप-काल तथा तिल—ये तीन पदार्थ अत्यन्त पवित्र हैं और बाह्याभ्यन्तरशौच, क्रोधशून्यता तथा जल्दबाजी न करना—ये तीन बातें अत्यन्त प्रशंसनीय हैं—

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥

(वसिष्ठ० ११। ३२)

दिनके आठवें भागमें सूर्यदेवका तेज कुछ मन्द हो जाता है, अतः वह समय कुतप-काल कहलाता है[१]।

पुत्रवान्‌की महिमा

आचार्य वसिष्ठने पुत्रवान् व्यक्तिकी महिमामें कहा है कि पुत्रहीनता एक प्रकारका अभिशाप है ('**अपुत्रिण इत्यभिशापः।**' वसिष्ठ० १७। ३) और पिता पुत्रसे लोकोंको जीत लेता है, पौत्र होनेपर आनन्त्यको प्राप्त करता है और प्रपौत्र होनेपर वह सूर्यलोकको प्राप्त कर लेता है—

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥

(वसिष्ठ० १७। ५)

राजाका मुख्य धर्म

'वसिष्ठधर्मसूत्र'के १९वें अध्यायमें राजधर्मका संक्षेपमें प्रतिपादन हुआ है। राजाका मुख्य धर्म बताते हुए आरम्भमें ही कहा गया है कि समस्त प्राणियोंका पालन-पोषण और उनकी रक्षा करना ही राजाका स्वधर्म है और वही उसका मुख्य धर्म है। अपने स्वार्थकी चिन्ता न करके प्रजाकी भलाई और प्रजाके सुखकी प्राणपणसे चेष्टा करना, सबको धर्माचरणमें लगाना अर्थात् जिस भी कर्मादिसे प्रजाका कल्याण हो, वैसा करना-कराना—इससे राजाको स्वतः ही

१-दिवस्याष्टमे भागे मन्दीभवति भास्करः। स कालः कुतपो ज्ञेयः पितॄणां दत्तमक्षयम्॥ (वसिष्ठ० ११। ३३)

परमसिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है—

स्वधर्मो राज्ञः पालनं भूतानां तस्यानुष्ठानात् सिद्धिः।

(वसिष्ठ० १९। १)

विविध धर्मोंका फल

दान-धर्मका पालन करनेसे सभी कामनाओंकी प्राप्ति हो जाती है—'**दानेन सर्वकामानवाप्नोति।**' (वसिष्ठ० २९। १)। ब्रह्मचर्यधर्मका पालन करनेसे सुन्दर रूप प्राप्त होता है और व्यक्ति चिरजीवी होता है—'**चिरजीवित्वं ब्रह्मचारी रूपवान्**' (वसिष्ठ० २९। २)। अहिंसा-धर्मका पालन करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है—'**अहिंस्युपपद्यते स्वर्गम्।**' (वसिष्ठ० २९। ३)। सब प्रकारसे अभय दान देनेवाला स्मृतिमान् और मेधावी होता है—'**स्मृतिमान् मेधावी सर्वतोऽभयदाता**' (वसिष्ठ० २९। १०)। *यदि विद्वान् व्यक्ति साधु-महात्मा या योगीजनोंद्वारा* अभिमत अथवा निर्दिष्ट धर्ममय आचार-पद्धतिका अनुपालन करता है तो उसके लिये ऐसे धर्मका पालन आत्यन्तिक फलप्रद हो जाता है, उसके लिये संसार छूट जाता है और वह मोक्ष-पदको प्राप्त कर लेता है—

आत्यन्तिकफलप्रदं मोक्षं संसारमोचनम्।
योगिनां सम्मतं विद्वानाचारमनुवर्तते॥

(वसिष्ठ० २९। २१)

तृष्णाका परित्याग करो

महात्मा वसिष्ठजीने तृष्णाको ही सब दुःखोंका मूल और अधर्मकी जड़ बताया है और कहा है कि यह तृष्णा ऐसी उत्कट पिपासा है कि कभी शान्त ही नहीं होती, नित्य बढ़ती ही जाती है और व्यक्ति जहाँ तृष्णाके अङ्कपाशमें फँसा, फिर वह उससे तबतक निवृत्त नहीं हो सकता, जबतक कि उसका समूल पतन न हो जाय, अतः इस पतनकारी तृष्णाका सर्वथा परित्यागकर स्वल्पमें ही संतोष करके अभ्युदयकारी धर्मका सेवन करना चाहिये। वसिष्ठजीके मूल वचन इस प्रकार हैं—

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीवनाशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

(वसिष्ठ० ३०। १०। ११)

इसका भाव यह है कि मनुष्यके जीर्ण या जराग्रस्त होनेपर उसके केश भी जीर्ण होकर झड़ जाते हैं, वृद्ध पुरुषके दाँत भी टूट जाते हैं, किंतु प्राणधारण करनेकी आशा और धनकी आशा मनुष्यके वृद्ध हो जानेपर भी कभी जीर्ण नहीं होती, यह सदा युवा बनी रहती है। खोटी बुद्धिवाले मूढ़ पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो शरीरके जीर्ण होनेपर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणोंके साथ जानेवाली व्याधि बनकर रहती है, उस तृष्णाका जो सर्वथा परित्याग कर देता है, उसीको परम सुख मिलता है।

अन्तिम उपदेश

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत नानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥

(वसिष्ठ० ३०। १)

अर्थात् धर्मका ही आचरण करो, अधर्मका नहीं। सदा सत्य ही बोलो, असत्य कभी मत बोलो। दूरदर्शी बनो, अर्थात् सोच-विचारकर विवेकपूर्वक धर्माधर्मका निर्णय करो, ह्रस्व अर्थात् संकीर्ण न बनो, उदार बनो। जो परसे भी परे परात्पर तत्त्व है, उसी तत्त्वपर सदा दृष्टि रखो, तदतिरिक्त अर्थात् परमात्मासे भिन्न मायामय किसी भी वस्तुपर दृष्टि मत रखो।

(२)

वसिष्ठस्मृति

महर्षि वसिष्ठके नामसे एक स्मृति भी प्राप्त होती है, जिसमें सात अध्याय और लगभग ११५० श्लोक हैं। यह स्मृति मुख्यरूपसे वैष्णवधर्म और वैष्णव भक्तिदर्शन तथा वैष्णवोंके सदाचार, नित्यानुष्ठान, पूजा, इज्या, चर्या आदिका प्रतिपादन करती है। इसके आरम्भमें ही निर्देश हुआ है कि व्यास आदि ऋषि-महर्षियोंने महर्षि वसिष्ठजीसे वैष्णवोंके आचार, भक्ष्याभक्ष्य, वृत्ति आदिके विषयमें प्रश्न किया और उसीके उत्तरमें महर्षि वसिष्ठने जो कहा, वह 'वसिष्ठस्मृति' कहलाया। उत्तम वैष्णवोंके विषयमें बतलाते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि वैष्णवोंको चाहिये कि वे माङ्गलिक ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा सुदर्शनचक्रसे सुशोभित रहें। विष्णुमन्त्रका जप करें, उनकी आराधना करें, भगवान् विष्णुको उद्दिष्टकर नित्य जप-होम तथा पूज[illegible]की कथाओंका श्रवण

करें, उनके पवित्र नामोंका संकीर्तन करें, तीर्थरूप उनके पवित्र चरणोंकी सेवा करें, उनको निवेदित भोजन प्रसादरूपमें ग्रहण करें, उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करें, मन्दिरमें गीत-वाद्य, नृत्य आदिकी योजना करें, उनके स्तोत्रोंका पाठ करें और उन्हींको सर्वस्व समझकर उनकी सदा सेवा-पूजा करें। ललाटमें ऊर्ध्वपुण्ड्र और बाहुमूलमें सुदर्शनचक्रका चिह्न धारण करें। कण्ठदेशमें अक्षमाला और दाहिने हाथमें पवित्रक धारण करें।

द्वितीय अध्यायमें वैष्णवोंके जातकर्म तथा नामकरण-संस्कारकी प्रक्रिया वर्णित है। तृतीय अध्यायमें वैष्णव बालकोंके निष्क्रमण तथा अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन-संस्कारकी विधि पारम्परिक रूपमें वर्णित है। निष्क्रमण-संस्कारका समय चार मासमें बतलाया गया है और इसमें घरसे बाहर बालकको ले जाकर सूर्यमण्डलमें नारायणका ध्यान करते हुए सूर्य-मन्त्रोंका जप करते हुए कुमारको सूर्यदर्शन करानेका विधान बतलाया गया है—

कुमारमीक्षयेद्धानुं जपन् वै सूर्यदैवतम्॥

(वसिष्ठ० ३।६)

बालकका अन्नप्राशन छठे मासमें विधिपूर्वक करानेका निर्देश है—

अथान्नप्राशनं कुर्यात् षष्ठे मासि विधानतः।

(वसिष्ठ० ३।९)

बालकके आठवें मासमें विधिपूर्वक विष्णुपूजा करानेका निर्देश है और तीसरे वर्षमें चूडाकरण-संस्कार करानेकी प्रक्रिया वर्णित है। जन्मसे आठवें या आधानकालसे आठवें वर्षमें ब्राह्मण वटुका यज्ञोपवीत-संस्कार करना चाहिये—

आधानादष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
जन्माष्टमे वा कर्तव्यं० ॥

(वसिष्ठ० ३।३७)

तदनन्तर विस्तारसे यज्ञोपवीत-संस्कारकी विधि वर्णित है और ब्रह्मचर्याश्रमके कर्तव्यों तथा ब्रह्मचारीके दैनिक आचारोंका भी वर्णन हुआ है। गुरुके समीपमें सभी विद्याओंका परिज्ञान कर ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह गुरुकी आज्ञासे स्नातक-व्रतोंका सम्पादन करे। ब्रह्मचर्याश्रममें धारण किये हुए मेखला, अजिन, दण्ड आदिका परित्याग कर स्नानपूर्वक नवीन वस्त्रोंको धारण करके कटक-कुण्डल आदि आभूषणोंको धारणकर वापस घरमें आ जाय। यदि विरक्त होना चाहे तो निवृत्तिमार्गका आश्रय ग्रहण कर वनकी ओर प्रस्थान करे और यदि गृहस्थाश्रममें रुचि हो तो विवाह आदि करके गृहस्थधर्मका पालन करे—

विरक्तः प्रव्रजेद्विद्वाननुरक्तो गृहे विशेत्॥

(वसिष्ठ० ४।१)

आगे चौथे अध्यायमें विस्तारसे विवाहकी विधि तथा विवाहके अनन्तर गृहप्रवेश तथा वैष्णव पूजा-दीक्षाका वर्णन है।

पाँचवें अध्यायमें स्त्री-धर्म, पतिव्रता स्त्रियोंके कर्तव्योंका वर्णन है और शील (विनय)-को नारीका प्रथम धर्म बतलाया गया है तथा नारीका पति ही उसका देवता, पति ही बन्धु तथा पति ही परमगति बतलाया गया है और यह स्पष्ट निर्देश है कि पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करनेसे नारीको नरककी प्राप्ति होती है—

शीलमेव तु नारीणां प्रधानं धर्म उच्यते॥

× × ×

पतिर्हि दैवतं नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः॥
तस्याज्ञां लङ्घयित्वैव नारी नरकमाप्नुयात्।

(वसिष्ठ० ५।१—३)

'स्त्री सब प्रकारसे समादरणीय तथा रक्षणीय है', इसका प्रतिपादन करते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि परिवारमें पतिके बड़े भाई, चाचा तथा सास, ससुर एवं देवर और पुत्रादिकोंके द्वारा आभूषण, वस्त्र तथा भोजन इत्यादिसे स्त्रीकी सदा सेवा-पूजा इत्यादि करनी चाहिये—

भर्तुः भ्रातृपितृव्यैश्च श्वश्रूश्वशुरदेवरैः।
पुत्रैश्च पूजनीया स्त्री भूषणाच्छादनाशनैः॥

(वसिष्ठ० ५।१८)

स्त्रीको चाहिये कि वह परम संतोषका आश्रय ग्रहण कर स्वयं संतुष्ट रहे और अपने सद्गुणोंके द्वारा पतिको संतुष्ट करे। वह सदा धर्माचरणमें प्रवृत्त रहे और सदा पतिके परायण रहे। कुछ भी कठोर वचन न बोले, सदा मधुर वाणी ही बोले। जो भी अन्न, वस्त्र, द्रव्य इत्यादि प्राप्त हो,

उसीमें संतुष्ट रहे, कभी भी दु:ख, कष्ट, संताप न माने। अत्यधिक कष्टदायी स्थिति होनेपर भी पतिका निषेध न करे, उसे वैसा ही आदर-मान दे[1]।

'वसिष्ठस्मृति' के छठे अध्यायमें विस्तारसे वैष्णवोंके नित्य-नैमित्तिक कृत्योंका वर्णन हुआ है तथा उनकी विधि भी उपदिष्ट है। विस्तारसे विष्णुपूजाका विधान भी प्रतिपादित है। तदनन्तर वैष्णवोंके शौचाचार, आशौच, श्राद्ध तथा भक्ष्याभक्ष्य एवं शुद्धि-तत्त्वका विवेचन हुआ है। अन्तिम सातवें अध्यायमें शालग्रामशिलाकी महिमा तथा उसे भगवान् हरिका विग्रह बतलाया गया है। देवालयमें विष्णुप्रतिमाकी स्थापना, प्राणप्रतिष्ठा तथा फिर पूजा इत्यादिकी विधि भी इस अध्यायमें विस्तारसे निरूपित है। यह भी निर्देश है कि भगवान् नारायणके विग्रहके दोनों पार्श्वोंमें श्रीदेवी तथा भूदेवीकी भी स्थापना करनी चाहिये—

श्रीभूमिसहितं देवं कारयेच्छुभविग्रहम्। (वसिष्ठ० ७। ५)

महर्षि वसिष्ठने यह भी निर्देश दिया है, भगवान्‌के विग्रहकी प्रतिष्ठामें पूजनके समय श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराणका पाठ, शान्ति-पाठ तथा श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ, विष्णुसहस्रनामका पाठ बड़े ही श्रद्धा-भक्ति तथा समाहितचित्तसे करना चाहिये—

पुराणं शान्तिपठनं श्रीगीतापठनं तथा॥
सहस्रनामपठनं कुर्यादत्र समाहितः।

(वसिष्ठ० ७। ६८-६९)

इस प्रकार इस 'वसिष्ठस्मृति' में आद्योपान्त वैष्णव-आचारों तथा विष्णु-आराधनका ही विधान वर्णित है। वैष्णवोंके लिये यह विशेष उपयोगी है। वैष्णवोंके साथ ही अन्य सभीके लिये भी यह आदरणीय एवं पूज्य है।
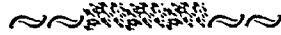
आख्यान—

तृष्णाके त्यागनेवालेको ही सुख मिलता है

[राजा ययातिकी कथा]

'वसिष्ठस्मृति' में कहा गया है कि मनुष्य जब बूढ़ा हो जाता है, तब उसके केश बूढ़े हो जाते हैं, दाँत भी बूढ़े हो जाते हैं, किंतु तृष्णा बूढ़ी नहीं होती। अर्थात् धनकी और जीनेकी तृष्णा बनी ही रहती है। तरुण पिशाचीकी तरह यह तृष्णा मनुष्यको चूस-चूसकर उसे पथभ्रष्ट करती रहती है—

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीवनाशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति॥

(वसिष्ठ० ३०। १०)

दूषित बुद्धिवाले इस तृष्णासे चिढ़ते तो हैं, किंतु चाहकर भी इसे छोड़ नहीं पाते। वे बूढ़े हो जाते हैं, किंतु उनकी तृष्णा तरुण ही बनी रहती है। इस प्रकार तृष्णा वह रोग है जो प्राण लेकर ही छोड़ती है। अतः उस तृष्णाको छोड़नेमें ही सुख है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

(वसिष्ठ० ३०। ११)

ययातिकी तृष्णा-सम्बन्धी गाथा

राजा ययाति धर्मके कट्टर प्रेमी थे। उन्होंने १०० अश्वमेध-यज्ञ और १०० वाजपेय-यज्ञ किये। राजा ययातिकी इस धर्मनिष्ठाके कारण पृथ्वीपर सर्वत्र सुख-ही-सुख लहराता रहता था (पद्मपुराण, भूमि० ७५। ११)। उनके शासनकालमें न रोग रह गया था, न शोक। आधि-व्याधिका केवल नाम सुना जाता था। प्रत्येक मनुष्यका शरीर नित्य-नूतन दिखायी देता था। थे वे हजारों वर्षके लेकिन २५ वर्षके दिखायी देते थे (पद्मपुराण, भूमि० ७५। २६)। इस तरह ययाति कोई सामान्य राजा न थे।

राजा ययातिने जिस तरह धर्म और अर्थका उपार्जन किया था, उस तरह वे काम-रूप पुरुषार्थका भी उपार्जन करना चाहते थे, किंतु यह बढ़ते-बढ़ते तृष्णाके रूपमें परिणत होने जा रहा था, तभी इन्होंने इसका परित्याग कर दिया और मोक्षरूप पुरुषार्थकी ओर बढ़ गये।

एक बार राजा ययाति हिंसक पशुओंका शिकार कर

---

[1]-संतोषं परमास्थाय पतिं संतोषयेद् गुणैः। सदा धर्मपथे युक्ता सदा भर्तृपरायणा॥
परुषं न वदेत् किंचित् सदा मधुरवाग्भवेत्। यथोत्पन्नेन द्रव्येण संतुष्टा विगतज्वरा॥
परमापद्गता वापि भर्तारं न निषेधयेत्। (वसिष्ठ० ५। ६१—६३)

रहे थे। वहाँ उन्हें प्यास लगी। एक कुआँ दीख पड़ा, तुरंत वहाँ पहुँचे और कुएँमें झाँका। उसमें उन्हें एक कन्या दीख पड़ी, जो अपने रूपकी आभासे प्रदीप्त हो रही थी। अद्भुत सौन्दर्य उसमें था, किंतु वह शोकमें डूबी हुई थी। राजाने मीठे शब्दोंसे उसे आश्वासन दिया और उसका परिचय पूछा।

उस कन्याने बताया कि मैं शुक्राचार्यकी कन्या देवयानी हूँ। पिताजीको पता न होगा कि मैं इस दुरवस्थामें पड़ी हुई हूँ। ययातिने जब अपना परिचय दिया, तब देवयानीने कहा कि मैं आपके नाम और यशसे परिचित हूँ। आप राजा हैं, कृपया आप मेरा दाहिना हाथ पकड़कर कुएँसे बाहर निकाल लीजिये। कुएँसे निकलनेके बाद देवयानीने कहा कि 'राजन्! आपने मेरा हाथ पकड़ा है, अतः आप ही मेरे पति बन जाइये।' ययातिने कहा—'भगवान् शुक्राचार्य सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं। यदि वे आज्ञा देंगे तो मैं आपकी बात अवश्य मान लूँगा।' इसके बाद राजा ययाति देवयानीसे अनुमति लेकर अपनी राजधानी लौट आये।

देवयानी अपने पिताको बहुत मानती थी और उनका बहुत सम्मान करती थी। इसलिये असुरराज वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठाने जब एक बार क्रोधमें आकर देवयानीके पिता शुक्राचार्यको अनेक अपशब्द कहे तो देवयानीसे सहा न गया और वह उसका प्रत्युत्तर देने लगी। इससे शर्मिष्ठा इतनी क्रुद्ध हुई कि उसने धक्का मारकर देवयानीको कुएँमें गिरा दिया। शर्मिष्ठाको विश्वास हो गया था कि देवयानी अब मर गयी होगी। वहाँसे वह सीधे घर पहुँची। किंतु भवितव्यता दूसरी थी। राजा ययातिने देवयानीकी जान बचा दी थी। कुएँसे निकलनेके बाद वह पेड़के सहारे खड़ी थी। वह अब असुरराजके नगरमें जाना नहीं चाहती थी। वह जानती थी कि पिताजी मेरी खोज करेंगे ही, जब वे आ जायँगे तब कहीं दूसरी जगह चलनेको कहूँगी।

इधर शुक्राचार्य देवयानीका पता लगाकर उसके पास पहुँचे। उसे दुलार-प्यार करके संतुष्ट किया। समझाया—'बेटी! कोई किसीको न दुःख दे सकता है, न सुख। सब अपने कर्मके अनुसार होता है। अतः शर्मिष्ठाको क्षमा कर दो। वह तो केवल निमित्त हुई है।' देवयानीने कहा—'शर्मिष्ठा घमंडसे अंधी हो गयी है, उसने तो मुझे मार ही डाला था, वहाँ जानेपर फिर मार डालेगी। उसके वाग्बाण और तेजीसे चलने लगेंगे। बार-बार कहेगी भिक्षुकी कहींकी, कहीं ठौर नहीं मिला तो आयी न मेरे पास। शुक्राचार्यजीने सोचा प्रतिदिनका किच-किच अच्छा नहीं। बेटीकी राय उन्हें पसंद आ गयी। वे वृषपर्वाके पास पहुँचे और बताया कि 'मैं बेटीके साथ अन्यत्र जाना चाहता हूँ।' सुनते ही असुरराज घबड़ा गये। असुरोंके चेहरोंपर भी हवाइयाँ उड़ने लगीं। सब चरणोंमें लोट गये। उन्होंने प्रार्थना की—'यदि आप हमें छोड़ देंगे तो हमलोग या तो जलती आगमें जल मरेंगे या समुद्रमें डूब जायँगे। आपकी वजहसे ही हमलोग सुरक्षित हैं। आप हमें न छोड़ें।'

शुक्राचार्यने सारी परिस्थिति बता दी और देवयानीको मनानेको कहा। उन्होंने कहा कि देवयानीकी दुर्गति की गयी है, इसलिये वह आपके यहाँ कैसे आ सकती है और मैं बेटीको छोड़ नहीं सकता, इसलिये मुझे आपका त्याग करना पड़ रहा है। यदि वह किसी तरह यहाँ रहनेको तैयार हो जाय तो मैं तो यहाँ रहूँगा ही। देवयानी इस शर्तपर राजी हो गयी कि 'शर्मिष्ठा हजार कन्याओंके साथ मेरी सेवामें रहे और विवाह होनेपर जहाँ मैं जाऊँ वहाँ भी वह उन कन्याओंके साथ जाय।'

शर्मिष्ठाको अब पता चला कि गुरु शुक्राचार्यका बल केवल आधिभौतिक एवं आधिदैविक ही नहीं, अपितु ब्रह्म ही उनका बल है। प्रजाके हितके लिये वही पानी बरसाते हैं और वही समस्त ओषधियोंका पोषण करते हैं। सारा असुर-समाज इन्हींसे जीवित है (महाभारत, आदि० ७९। ३८—४०)। उनके बिना सारा असुर-समाज ही नष्ट हो जायगा। अपने पिता और समस्त असुर-समाजके हितके लिये शर्मिष्ठाने देवयानीकी दासता स्वीकार कर ली।

उधर देवयानीने राजा ययातिका वरण कर ही लिया था। उसने निश्चय कर लिया था कि मैं राजा ययातिसे विवाह करूँगी, किसी दूसरेसे नहीं (महाभारत, आदि० ८१। ३०)। देवयानी अनुकूल परिस्थितिकी प्रतीक्षा कर रही थी और वह अवसर आ ही गया। एक दिन देवयानी उसी वनमें फिर विहार करने गयी। देवयानी दिव्य

आसनपर बैठी थी और शर्मिष्ठा उसकी चरण-सेवा कर रही थी। देवयानीके रूपकी कोई तुलना तो थी नहीं। उसके सौन्दर्यसे वनकी शोभा निखर रही थी।

ठीक इसी परिस्थितिमें राजा ययातिने देवयानीको देखा। इस बार भी वे आखेट खेलने ही आये थे। देवयानीने उनका आतिथ्य किया और कहा—'आपने मेरा हाथ पकड़ा है, इसलिये मैं आपको वरण करती हूँ।' राजाने नम्रतासे कहा—'मैं आपके योग्य नहीं हूँ। कहाँ विश्वके संचालक भगवान् शुक्राचार्य और कहाँ मैं। यदि आपके पिता आपको मुझे दे देंगे तब मैं सहर्ष आपसे विवाह कर लूँगा।' देवयानीने अपने पिताजीको वहाँ बुला लिया। शुक्राचार्यजी वहाँ आ भी गये। राजा धर्मभीरु थे, उन्होंने आचार्य शुक्रसे वरदान माँगा कि अधर्म मेरा स्पर्श न करे। शुक्राचार्य सर्वसमर्थ थे। उन्होंने यह वर दे दिया। शुक्राचार्यने देवयानीका विवाह राजा ययातिके साथ कर दिया। अन्तमें उन्होंने आदेश दिया कि शर्मिष्ठाका भी आदर करना, देवयानीसे विवाह कर राजा ययाति बहुत हर्षित हुए।

विवाहका फल है संतानकी प्राप्ति। देवयानीने प्रथम पुत्रको जन्म दिया। इससे शर्मिष्ठाको बहुत चिन्ता हुई। उसने किसी तरह राजा ययातिको अपने अनुकूल बना लिया। ययातिसे शर्मिष्ठाके तीन पुत्र उत्पन्न हुए। जब देवयानीको पता चला कि शर्मिष्ठाने मेरे पतिदेवद्वारा तीन पुत्र प्राप्त किये हैं, तब उसे बहुत दु:ख हुआ। उसने राजासे कहा कि 'मैं अब आपके यहाँ नहीं रहूँगी' और वह रोती हुई पिताके पास चली गयी। राजा बहुत घबड़ाये। वे देवयानीके पीछे-पीछे लगे रहे। उसे बार-बार मनाते रहे, किंतु देवयानी नहीं लौटी। वह बोलती नहीं थी, केवल रोती ही रहती थी। धीरे-धीरे वह पिताके पास पहुँच गयी और प्रणाम कर खड़ी हो गयी। राजा ययाति भी प्रणाम कर खड़े हो गये। पूर्ण वृत्तान्त सुनकर शुक्राचार्यने राजासे कहा—'धर्मज्ञ होकर भी तुमने धर्मका आचरण नहीं किया है। तुम मेरे अधीन हो। तुम्हें मेरे आदेशका पालन करना चाहिये था। तुमने उसे ठुकराया है, इसलिये मैं शाप देता हूँ कि तुम बूढ़े हो जाओ। राजाने शुक्राचार्यको बहुत मनाया। कहा कि 'मेरी तृप्ति नहीं हुई है, अत: आप ऐसी कृपा करें कि यह बुढ़ापा मुझमें प्रवेश न करे।' शुक्राचार्यने कहा—'मैं झूठ तो बोलता नहीं, तुम बूढ़े तो हो ही गये हो। हाँ, इतनी छूट देता हूँ कि दूसरेसे युवावस्था लेकर अपनी बुढ़ापा उसमें डाल सकते हो।' राजा ययाति देवयानीके साथ घर लौट आये। उन्होंने बारी-बारीसे अपने पुत्रोंसे कहा कि वे अपना यौवन देकर हमारा बुढ़ापा ग्रहण कर लें। प्राय: सबने इसे अस्वीकार कर दिया। केवल शर्मिष्ठाका पुत्र पुरु सहर्ष तैयार हो गया और उसने अपनी जवानी देकर उनका बुढ़ापा अपने ऊपर ले लिया। ययाति सोचते थे कि विषय-सेवन कर उससे पूर्ण तृप्त हो जाऊँगा, किंतु ऐसा सोचना उनकी भूल साबित हुई। हजार वर्ष विषय-सेवनके बाद भी तृप्ति तो मिली नहीं, उल्टे विषय-सेवनकी भूख बढ़ती ही चली गयी। राजा धार्मिक तो थे ही। उन्होंने ठीक समयपर पुरुसे अपना बुढ़ापा लेकर उसकी जवानी उसे लौटा दी। उस समय उन्होंने एक गाथा गायी—

'विषयकी कामना उसके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, अपितु घीकी आहुति पड़नेसे जैसे अग्नि बढ़ती जाती है, वैसे उपभोगकी आहुति पाकर कामना और बढ़ती ही जाती है।'

पृथ्वीपर जितनी भोग-सामग्रियाँ हैं, वे एक मनुष्यके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं, अत: तृष्णाका त्याग कर देना ही अच्छा है।

यह तृष्णा ऐसी है कि मनुष्यके बूढ़ा होनेपर भी यह बूढ़ी नहीं होती, अपितु तरुण ही बनी रहती है। तृष्णा वह भयानक रोग है जो प्राण लेकर ही छोड़ता है। अत: मनुष्यका भला इसीमें है कि वह तृष्णाका सर्वथा त्याग ही कर दे।

संसार मेरे जीवनसे सीख ले ले। मैं एक हजार वर्षतक विषय-भोगमें डूबा रहा, फिर भी वह शान्त नहीं हुई, अपितु बढ़ती ही गयी।

अब मैं उसे त्याग चुका हूँ। अब मुझे मोक्षरूप पुरुषार्थ पाना है। (महाभारत, आदि० ७८—८५)

(ला० मि०)
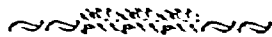
पराशरधर्मशास्त्र

पराशर-स्मृतिके प्रणेता महर्षि पराशर तपोमूर्ति महर्षि वसिष्ठके पौत्र, महात्मा शक्तिके पुत्र, कृष्णद्वैपायन वेदव्यासके पिता तथा महाज्ञानी शुकदेवजीके पितामह हैं। इस प्रकार महर्षि पराशरजीकी पितृ-परम्परामें जिस प्रकार वसिष्ठ जैसे योगज्ञानसम्पन्न महान् धर्मात्मा महापुरुष हुए जो भगवान् श्रीरामजीके भी गुरु रहे, वैसे ही उनकी पुत्र-पौत्र-परम्परामें नारायणस्वरूप भगवान् वेदव्यास तथा परमयोगी शुकदेव आदि महात्माओंका आविर्भाव हुआ। इन सबके लोकोपकार एवं धर्माचरणकी कोई इयत्ता नहीं। 'पराशर' इस शब्दका अर्थ ही है कि जो दर्शन-स्मरण करनेमात्रसे ही समस्त पाप-तापको छिन्न-भिन्न कर देते हैं, वे ही 'पराशर' कहलाते हैं[1]। इस प्रकार जो स्मरण करनेमात्रसे पवित्र बना देते हैं फिर यदि उनके धर्मशास्त्रीय उपदेशोंका पालन किया जाय तो कितना कल्याण होगा, यह कौन बता सकता है? महर्षि पराशररचित 'विष्णुपुराण' भी साक्षात् धर्मशास्त्र ही है इसके उपदेश बहुत ही सुन्दर और कल्याणकारी हैं। यह पुराण वैष्णव भक्ति-उपासनाका मूलाधार है। इसी प्रकार महर्षि पराशरद्वारा विदेहराज जनकको उपदिष्ट एक गीता है, जो महाभारतके शान्तिपर्व (अ० २९०—२९८)-में अनुग्रथित है, वह पराशरगीता कहलाती है। राजा जनकद्वारा 'कल्याणप्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय क्या है?'—ऐसी जिज्ञासा करनेपर महर्षि पराशरने सदाचार और धर्माचरणको ही परम कल्याण बताया है और पापाचरणसे सदा दूर रहनेका उपदेश दिया है। वे कहते हैं—

धर्म एव कृतः श्रेयानिहलोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः॥

(महा०, शान्ति० २९०। ६)

अर्थात् जैसा कि मनीषी पुरुषोंका कथन है, धर्मका ही विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाय तो वह इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी होता है। उससे बढ़कर दूसरा कोई श्रेयका उत्तम साधन नहीं है।

मनुष्य दूसरेके जिस कर्मकी निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे। जो दूसरेकी निन्दा तो करता है, किंतु स्वयं उसी निन्द्यकर्ममें लगा रहता है, वह उपहासका पात्र होता है—

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥

(महा०, शान्ति० २९०। २४)

इसी प्रकार, धर्मका पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है। जो अधर्मसे प्राप्त होता है, वह धन तो धिक्कार देने योग्य है। संसारमें धनकी इच्छासे शाश्वत धर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये—

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकांक्षया॥

(महा०, शान्ति० २९२। १९)

—ऐसे ही एक अन्य उपदेशमें पराशरजी निश्चयपूर्वक अपना परामर्श व्यक्त करते हुए कहते हैं—

सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः॥

(महा०, शान्ति० २९३। ३)

अर्थात् धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सत्पुरुषोंके संसर्गमें रहना ही श्रेष्ठ है, परंतु किसी भी दशामें कभी दुष्ट पुरुषोंका संग अच्छा नहीं है, यह मेरा दृढ निश्चय है।

महर्षि पराशरजीके जैसे उदात्त उपदेश हैं, वैसे ही उज्ज्वल उनका जीवन-दर्शन है। वे सदा दूसरोंके हित-चिन्तनमें लगे रहते थे और जैसे प्राणी अपना शीघ्र कल्याण—उद्धार कर ले, वैसा उपाय किया करते थे।

(१) पराशरस्मृति

महर्षि पराशरजीने एक धर्मसंहिताका भी निर्माण किया, जो पराशरस्मृतिके नामसे अत्यन्त प्रसिद्ध है और स्मृतियोंमें विशेष स्थान रखती है। वर्तमान उपलब्ध पराशरस्मृतिमें १२ अध्याय हैं।

महर्षि पराशर युगद्रष्टा महात्मा थे। उन्होंने सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुगकी धर्म-व्यवस्थाको समझकर प्राणियोंके लिये सहजसाध्य-रूप धर्मकी मर्यादा निर्दिष्ट की

१-आचार्य सायण माधवने अपने प्रसिद्ध माधवीय धातुवृत्तिके क्र्यादिगणके १६ वें सूत्रमें बताया है—'पराशृणाति पापानीति पराशरः।'

और बताया कि कलियुगमें लोगोंके लिये सत्ययुगादिके धर्मोंका अनुष्ठान दुष्कर हो जायगा, अत: इस कलियुगमें लोग अपनी शक्तिके अनुसार जिस धर्माचरणका पालन कर सकें, उस धर्मको ही इस स्मृतिमें बतलाया गया है। अर्थात् इसमें युगानुरूप धर्मपर ही विशेष बल दिया गया है।

स्मृतिके प्रारम्भिक उपक्रममें बतलाया गया है कि एक : हिमालयपर्वतपर महात्मा वेदव्यासजी बैठे हुए थे। संग-चर्चा चल रही थी। उसी समय ऋषियोंने व्यासजीसे ा—'भगवन्! आप कलियुगमें सुखपूर्वक किये जाने ाय धर्मोंको हमें बतलानेकी कृपा करें।' इसपर व्यासजीने ायोंसे कहा—कि इस विषयमें मेरे पिता (पराशरजी)-से ा करना उचित रहेगा। तब वे सभी व्यासजीके साथ ारिकाश्रम गये और प्रणाम निवेदित कर आसनपर बैठ ा। तब व्यासजीने अपने पिता पराशरजीसे कलियुगके ोंके विषयमें जिज्ञासा प्रकट की। इसपर पराशरजी ले[१]—

प्रत्येक कल्पमें प्रलय होनेपर भी ब्रह्मा, विष्णु तथा ाश—ये तीनों देव विद्यमान रहते हैं और वे ही सदासे ते, स्मृति तथा सदाचारका निर्णय करते आये हैं। वेदका ाई कर्ता नहीं है। कल्पके आदिमें ब्रह्माजी पूर्वके समान ाका स्मरण कर अपने चारों मुखोंद्वारा प्रकाशित करते हैं ार जो-जो मनु, कल्प तथा मन्वन्तरमें होते हैं, वे भी उसी कार पूर्वके धर्मोंका स्मरण कर धर्मका सम्पादन करते हैं ार लोकमें धर्मका अनुवर्तन करते हैं।[२] शक्तिकी वृद्धि ार हानि युगोंके अनुसार ही होती है। इसी कारण त्ययुगमें मनुष्यका धर्म और प्रकारका रहा, त्रेतामें और कारका तथा द्वापरमें और प्रकारका। इस समय कलियुगमें ाषियोंने मनुष्योंकी शक्तिके अनुसार ही भिन्न धर्मोका र्णन किया है। सत्ययुगमें लोग विशेष शक्तिसम्पन्न रहते , इसलिये उस समय तपस्यारूप धर्मका प्राधान्य रहता है, तामें ज्ञानधर्मकी प्रमुखता रहती है और द्वापरमें यज्ञ- ागादि साधनोंका विशेष अनुष्ठान होता है, किंतु कलियुगमें ारीरिक शक्ति न्यून रहनेके कारण दीर्घ तपस्या, ज्ञानसम्पादन एवं बड़े-बड़े यज्ञ-यागादिकी साधना समयहीनता और विधिहीनताके कारण सहज-साध्य नहीं प्रतीत होती, अत: कलियुगमें दान-रूप धर्मकी ही विशेष महिमा है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमित्यूचुर्दानमेकं कलौ युगे॥

(पराशर० १। २३)

सत्ययुगमें मनुद्वारा निर्दिष्ट धर्म मुख्य था, त्रेतामें महर्षि गौतमकी धर्मसंहिता मान्य हुई तथा द्वापरमें महर्षि शङ्ख एवं लिखितके धर्मशास्त्र प्रतिष्ठित थे और कलियुगमें महात्मा पराशरजीका कहा हुआ धर्म विशेष मान्यता-प्राप्त है—

कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः।
द्वापरे शंखलिखितः कलौ पाराशरः स्मृतः॥

(पराशर० १। २४)

इस प्रकार महर्षि पराशरने अपनी स्मृतिको युगानुरूप बतलाया है और सभी मानवोंसे यह अपेक्षा की है कि वह अपनी शक्ति एवं सामर्थ्यके अनुसार धर्मका ही सेवन करे अधर्मका नहीं। सदाचारका पालन करे कदाचारका नहीं। यहाँ इसी पराशर-स्मृतिकी कुछ बातें संक्षेपमें दी जा रही हैं—

चारों युगोंमें दानका स्वरूप और निष्फल दान

महर्षि पराशरजी कहते हैं कि सत्ययुगमें लोगोंमें ब्राह्मणोंके प्रति बहुत अधिक श्रद्धा थी, अत: दान देनेवाले दान-सामग्री लेकर ब्राह्मणके घर जाकर बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिसे उसकी पूजा कर उसे दान देते थे, त्रेतायुगमें ब्राह्मणको आदरपूर्वक घर बुलाकर दान देते थे और द्वापरमें याचना करनेपर दान देते थे, किंतु कलियुगमें तो सेवा कराकर दान दिया जाता है। इसमें प्रथम प्रकारका दान उत्तम, द्वितीय प्रकारका दान मध्यम, तृतीय प्रकारका दान अधम है, किंतु जो सेवा कराकर दान दिया जाता है, वह सर्वथा निष्फल है—

अभिगम्य कृते दानं त्रेतास्वाहूय दीयते।
द्वापरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ॥
......................सेवादानं च निष्फलम्॥

(पराशर० १। २८-२९)

१-शृणु पुत्र प्रवक्ष्यामि शृण्वन्तु ऋषयस्तथा॥ (पराशर० १। १९)

२-न कश्चिद्वेदकर्ता च वेदस्मर्ता चतुर्मुखः। तथैव धर्मं स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे॥ (पराशर० १। २१)

कलियुगमें प्राण अन्नगत हैं

सत्ययुगमें प्राण अस्थिगत, त्रेतामें मांसगत, द्वापरमें रुधिरमें, किंतु कलियुगमें अन्नादिमें ही प्राण स्थित रहते हैं। अन्न न मिलनेपर प्राण नष्ट हो जाते हैं—

कृते चास्थिगताः प्राणास्त्रेतायां मांससंस्थिताः।
द्वापरे रुधिरं यावत् कलावन्नादिषु स्थिताः॥

(पराशर० १। ३०)

आचार-विचारका पालन ही मुख्य धर्म है

महर्षि पराशरजी 'धर्मके मूलमें आचार-विचारकी ही मुख्यता है'—इस बातका प्रतिपादन करते हुए बताते हैं कि आचार ही चारों वर्णोंके धर्मोंका पालन करनेवाला है; क्योंकि बिना सदाचार और शौचाचारका पालन किये केवल उपदेश या कथनमात्रसे धर्मका पालन नहीं हो सकता। जो मनुष्य आचारसे भ्रष्ट हैं उनसे धर्म विमुख हो जाता है—

चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः॥

(पराशर० १। ३७)

नवजात शिशुओंके आशौचकी व्यवस्था

जिन बालकोंके दाँत न निकले हों और जो गर्भमेंसे उत्पन्न होते ही मर जायँ, उनका अग्निसंस्कार, आशौच तथा जलदान नहीं होता—

अजातदन्ता ये बाला ये च गर्भाद्विनिःसृताः।
न तेषामग्निसंस्कारो नाशौचं नोदकक्रियाः॥

(पराशर० ३। १६)

गर्भपातमें आशौचकी स्थिति

यदि गर्भस्राव या गर्भपात हो जाय तो जितने महीनेका गर्भ गिरता है उतने ही दिनोंका सूतक होगा। चार महीनेका गर्भ गिरनेपर उसे गर्भस्राव कहते हैं और पाँच या छः महीनेमें गर्भ गिरनेको गर्भपात कहते हैं। इसके अनन्तर दसवें महीनेतक प्रसवकाल कहलाता है, प्रसवकालमें दस दिनका सूतक होता है[1]।

दाँत जन्मनेसे यज्ञोपवीत हो जानेतककी आशौच-व्यवस्था

बालक यदि दाँतोंसहित जन्म ले या पीछे दाँत जमें अथवा चूडाकर्म हो जानेपर मरे तो उसका अग्निसंस्कार करना चाहिये और तीन दिनतक आशौच मानना चाहिये, बिना दाँतोंके जमे ही बालक मर जाय तो स्नान करनेमात्रसे सद्यःशुद्धि हो जाती है; किंतु चूडाकरणसे प्रथम ही बालक मर जाय तो एक दिन-रातमें शुद्धि होती है। यज्ञोपवीत बिना हुए जिसकी मृत्यु हो जाय तो तीन दिनका आशौच रहता है और यज्ञोपवीत हो जानेपर दस दिनमें शुद्धि होती है[2]।

गर्भपात महान् पाप है

महर्षि पराशरका कहना है कि जो पाप ब्रह्महत्यासे लगता है, उससे दुगुना पाप गर्भपात करनेसे लगता है, इस गर्भपात-रूपी महापापका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है, इसमें तो उस स्त्रीका त्याग कर देनेका ही विधान है।

यत्पापं ब्रह्महत्याया द्विगुणं गर्भपातने।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते॥

(पराशर० ४। २०)

महर्षि पराशर और उनकी गोभक्ति

महर्षि पराशरजीकी समस्त प्राणियोंपर अपार दया एवं करुणा है। उन्होंने अपनी स्मृतिके छठे अध्यायमें विस्तारसे दूसरे प्राणियोंका वध किसी भी स्थितिमें न करनेका प्रबल परामर्श दिया है और बताया है कि किसी भी पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, कीट-पतंग, मनुष्य—स्त्री-पुरुष-बालक-वृद्ध आदिकी हिंसा करनेसे महान् पाप होता है और फिर विस्तारसे उनके प्रायश्चित्त भी बतलाये हैं। उन्होंने पापोंके प्रायश्चित्तमें गोदान, गोव्रत, उपवास, पञ्चगव्यसेवन, गोसेवा तथा ब्राह्मणपूजन और गायत्री-जपको मुख्य उपाय बताया है। गोमाताको तो उन्होंने सर्वथा अवध्य होने तथा उसकी सेवा करनेके लिये कहा है। गौको मारने तथा किसी भी

१-यावन्मासं स्थितो गर्भो दिनं तावत् स सूतकः॥
आचतुर्थाद्भवेत् स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः। अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत्॥ (पराशर० ३। १७-१८)

२-दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते। अग्निसंस्करणं तेषां त्रिरात्रं सूतकं भवेत्॥
आदन्तजननात् सद्य आचूडा नैशिकी स्मृता। त्रिरात्रमाव्रतात् तेषां दशरात्रमतः परम्॥ (पराशर० ३। २१-२२)

प्रकार उसे पीड़ा पहुँचानेसे महान् पाप लगता है। उन्होंने ९ वें अध्यायमें गोवध इत्यादिके पापोंके प्रायश्चित्त बतलाये हैं और कृच्छ्र, प्राजापत्य, सांतपन तथा गोव्रत करनेका परामर्श दिया है तथा बताया है कि जो मनुष्य गोवध करके उस पापको छिपाना चाहता है, वह निश्चय ही कालसूत्र नामक घोर नरकमें जाता है और वहाँ बहुत कालतक नारकीय यातना सहन करनेके बाद मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे सात जन्मोंतक ग्रस्त रहता है[१]।

इसलिये अपना किया पाप किसी प्रकार छिपाना नहीं चाहिये, उसे धर्मपरिषद्में अवश्य बता देना चाहिये और ऐसे घोर कर्मोंसे सदा दूर रहते हुए निरन्तर स्वधर्मरूप पुण्यानुष्ठान ही करना चाहिये। साथ ही यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि स्त्री, बालक, सेवक, रोगी तथा दुःखी व्यक्तिपर अधिक कोप कदापि न होने पाये—

तस्मात् प्रकाशयेत् पापं स्वधर्मं सततं चरेत्।
स्त्रीबालभृत्यगोविप्रेष्वतिकोपं विवर्जयेत्॥

(पराशर० ९। ६२)

गोचर्म-परिमापवाली भूमिके दानसे पाप-शुद्धि

जो मनुष्य गोचर्म-भूमिके बराबर भूमि सत्पात्रको दान देता है, वह मन, वाणी, शरीरद्वारा किये हुए सभी पापों और ब्रह्महत्या आदि महापापोंसे छुटकारा पाकर शुद्ध हो जाता है। जिस स्थानपर सौ गौएँ और एक बैल—ये दसगुने अर्थात् एक हजार गौएँ और दस बैल बिना बाँधे टिकें, वह क्षेत्र 'गोचर्म' कहलाता है[२]।

संसर्गजनित पापोंकी शुद्धिका उपाय

पापी व्यक्तिके साथ संसर्ग करनेसे भी संसर्ग करनेवालेपर पाप आरोपित हो जाते हैं। अतः पापीसे तथा उसके पापकर्मसे सर्वथा दूर रहना चाहिये।

महर्षि पराशरजी बताते हैं कि पापीके साथ एक आसनपर बैठनेसे, उसके साथ शयन करनेसे, उसका साथ करने तथा उसके साथ गमन करनेसे, बोलनेसे अथवा उसके साथ भोजन करनेसे पाप लिप्त हो जाते हैं। इस संसर्ग-जनित पापकी निवृत्तिके लिये गोव्रतका पालन करना चाहिये। गौओंकी सेवा करनी चाहिये, उनका अनुगमन करना चाहिये, जैसे गौ प्रसन्न रहे वैसा ही प्रयत्न करना चाहिये, इससे सभी प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं—

गवां चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनम्॥

(पराशर० १२। ७२)

(२) बृहत्पराशरस्मृति

महर्षि पराशरजीके नामसे एक बृहत्पराशरस्मृति भी प्राप्त होती है, जिसमें पराशरस्मृतिके ही समान १२ अध्याय हैं, किंतु इसकी श्लोक-संख्या बहुत अधिक है। इसके वक्ता महात्मा सुव्रत कहे गये हैं।[३] इसमें मुख्यरूपसे वर्णाश्रमधर्म, आचारधर्म, संध्या, स्नान, जप आदि षट्कर्म, श्राद्ध, तर्पण, प्रणवकी महिमा तथा उसका स्वरूप, गायत्री-पुरश्चरण, देवार्चनविधि, वैश्वदेव, आतिथ्य-विधि तथा विस्तारसे गोमहिमा, वृषभ-महिमा तथा कृषिकर्मका वर्णन हुआ है, तदनन्तर गृहस्थधर्ममें स्त्री एवं पुत्रकी महिमा, शौच, प्रतिग्रह (दान), भक्ष्याभक्ष्य-विचार, शुद्धि, आशौच, प्रायश्चित्त, दश-दान, षोडश दान, गोदान, उभयमुखी धेनुदान, दशधेनुदान, पूर्तधर्म, विनायकशान्ति, ग्रहशान्ति तथा अन्तमें अध्यात्मज्ञानका वर्णन है। इस स्मृतिमें गोसेवा, गोमहिमा, वृषभ-महिमा[४] तथा कृषिपर बहुत ही उपयोगी बातें आयी हैं। यहाँ उनकी गोभक्ति-सम्बन्धी कुछ बातें दी जा रही हैं—

गौमें सभी देवता तथा तीर्थ प्रतिष्ठित हैं

इस स्मृति (५। ३४—४१)-में बतलाया गया है कि—गौओंके सींगोंके मूलमें ब्रह्माजी और दोनों सींगोंके

१-इह यो गोवधं कृत्वा प्रच्छादयितुमिच्छति। स याति नरकं घोरं कालसूत्रमसंशयम्॥
विमुक्तो नरकात् तस्मान्मर्त्यलोके प्रजायते। क्लीबो दुःखी च कुष्ठी च सप्त जन्मनि वै नरः॥ (पराशर० ९। ६०-६१)

२-गवां शतं सैकवृषं यत्र तिष्ठत्ययन्त्रितम्। तत्क्षेत्रं दशगुणितं गोचर्म परिकीर्तितम्॥
ब्रह्महत्यादिभिर्मर्त्यो मनोवाक्कायकर्मजैः। एतद्गोचर्मदानेन मुच्यते सर्वकिल्बिषैः॥ (पराशर० १२। ४३-४४)

३-पराशरोदितं धर्मशास्त्रं प्रोवाच सुव्रतः॥ (पराशर० १२। ३७७)

४-·····तस्माद् वृषात् पूज्यतमोऽस्ति नान्यः। (पराशर० ५। ५३, १०। ३२)

मध्यमें भगवान् नारायणका निवास है। सींगके शिरोभागमें भगवान् शिवका निवास जानना चाहिये। इस प्रकार ये तीनों देवता गौके सींगमें प्रतिष्ठित हैं। इसके अतिरिक्त सींगके अग्रभागमें चर तथा अचर सभी तीर्थ विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार सभी देवता गौके शरीरमें निवास करते हैं, अतः गौ सर्वदेवमयी है। गौके ललाटके अग्रभागमें देवी पार्वती तथा नाकके मध्यमें कुमार कार्तिकेयका निवास है। गौके दोनों कानोंमें कम्बल और अश्वतर नामके दो नाग निवास करते हैं और उस सुरभी गौके दाहिनी आँखमें सूर्य और बायीं आँखमें चन्द्रमाका निवास है। दाँतोंमें आठों वसु और जिह्वामें भगवान् वरुण प्रतिष्ठित हैं। गौके हुंकारमें भगवती सरस्वती निवास करती हैं और गण्डस्थलों (गालों)-में यम और यक्ष निवास करते हैं। गौके सभी रोमकूपोंमें ऋषिगणोंका निवास है तथा गोमूत्रमें भगवती गङ्गाके पवित्र जलका निवास है और गोमय (गोबर)-में भगवती यमुना तथा सभी देवता प्रतिष्ठित हैं। अट्ठाईस करोड़ देवता उसके रोमकूपोंमें स्थित हैं। गौके उदर-देशमें गार्हपत्याग्निका निवास है और हृदयमें दक्षिणाग्निका निवास है। मुखमें आहवनीय नामकी अग्नि तथा कुक्षियोंमें सभ्य एवं आवसथ्य नामक अग्नियाँ निवास करती हैं। इस प्रकार गायके शरीरमें सभी देवताओंको स्थित समझकर जो कभी उनके ऊपर क्रोध तथा प्रताडना नहीं करता है वह महान् ऐश्वर्यको प्राप्त करता है और स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है—

एवं यो वर्तते गोषु ताडनक्रोधवर्जितः।
महतीं श्रियमाप्नोति स्वर्गलोके महीयते॥

(५। ४१)

गो-महिमा

गोमाताकी अनन्त महिमा है और उसकी सेवाकी भी महिमा उतनी ही अनन्त है। अतः प्रत्येक व्यक्तिको गोमाताकी सेवासे आत्मोद्धार करना चाहिये। गौओंके समान कोई भी धन नहीं है। महर्षिका कहना है—

स्पृष्टाश्च गावः शमयन्ति पापं
संसेविताश्चोपनयन्ति वित्तम्।
ता एव दत्तास्त्रिदिवं नयन्ति
गोभिर्न तुल्यं धनमस्ति किंचित्॥

स्पर्श कर लेनेमात्रसे ही गौएँ मनुष्यके समस्त पापोंको नष्ट कर देती हैं और आदरपूर्वक सेवन किये जानेपर अपार सम्पत्ति प्रदान करती हैं, वे ही गायें दान दिये जानेपर सीधे स्वर्ग ले जाती हैं, ऐसी गौओंके समान और कोई भी धन नहीं है।

संस्पृशन् गां नमस्कृत्य कुर्यात् तां च प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥

गायको देखनेपर छूते हुए उन्हें प्रणाम करे और उनकी प्रदक्षिणा करे। इस प्रकार जो करता है मानो उसने समस्त सप्तद्वीपवती पृथिवीकी ही परिक्रमा कर ली।

बृहत्पराशरस्मृतिमें योगचर्याका निरूपण

बृहत्पराशरस्मृतिमें सभी संस्कारों तथा सदाचारोंके वर्णनके अनन्तर वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमके कृत्योंका निरूपण हुआ है और उसके अन्तमें विस्तारसे साङ्गोपाङ्ग योगचर्यापर प्रकाश डाला गया है। मुख्यरूपसे प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदिका संक्षिप्त निदर्शन कर ध्यानयोगके अभ्यासका विस्तारसे प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुछ गोपनीय भाषामें कुण्डलिनी-शक्तिके ध्यानका संकेत किया गया है और फिर उसीसे ब्रह्मतत्त्वकी बात बतलायी गयी है। महर्षि पराशरके अनुसार यद्यपि वेदादिके अध्ययनसे भी योगसिद्धिमें पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है तथापि सिद्ध गुरुके उपदेशसे, ईश्वरकी भक्तिसे एवं सम्यक् अभ्याससे जितनी स्थिर एवं निश्चित सहायता प्राप्त होती है, उतनी किसी अन्य साधनसे नहीं। साधकको परमात्माके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये और परमात्माके ध्यानका अभ्यास ही योगसिद्धिको सीमातक पहुँचा देता है।

जिस पवित्र, निर्मल एवं आकर्षक भगवत्तत्त्वमें योगीका चित्त लगता हो, उसीका निरन्तर एकाग्र ध्यानके द्वारा चिन्तन करता जाय, उसीसे साधकको समस्त सिद्धियाँ, परम ज्ञान, परा शान्ति तथा मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, अतः ध्यान ही योगशास्त्रका सार-सर्वस्व है, इससे साक्षात् हरि उसके हृदयमें निवास करने लगते हैं—

एकमेवाभ्यसेत् तत्त्वं येन चित्ते वसेद्धरिः।

(पराशर० १२। ३४९)

आख्यान—
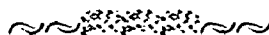
गौ और ब्राह्मणके लिये देह-त्याग सिद्धिका कारण

धर्मशास्त्रका कहना है कि जो व्यक्ति ब्राह्मण या गौकी रक्षा करता है या इनके लिये अपने प्राणोंका उत्सर्ग कर देता है, वह ब्रह्महत्या आदि सभी पातकोंसे छूटकर उत्तम लोकोंको प्राप्त करता है—

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा यस्तु प्राणान् परित्यजेत्।
मुच्यते ब्रह्महत्याद्यैर्गोप्ता गोब्राह्मणस्य च॥

(पराशरस्मृति ८। ४२)

(१)

ब्राह्मणके लिये आत्मदानसे स्वर्गकी प्राप्ति

महाराज सहस्रचित्य केकय-देशकी प्रजाका पालन करते थे। ये राजर्षि शतयूपके पितामह थे। ये अपने चौथेपनमें ज्येष्ठ पुत्रको राज्यका भार सौंपकर तपके लिये वनमें चले गये थे। वहाँ इनकी दिनचर्या शास्त्रके अनुसार नियमपूर्वक चल रही थी। एक दिन वनमें आग लग गयी। एक ब्राह्मण उस आगसे चारों ओरसे घिर गया था। 'बचाओ-बचाओ'की आवाज लगा रहा था। सहस्रचित्यके कानोंमें यह आवाज आयी। बहुत ही भयावह स्थिति थी। एक क्षणकी भी देर करनेसे ब्राह्मण देवताका प्राण जा सकता था। राजर्षि सहस्रचित्य झट आगके घेरेको लाँघकर ब्राह्मणके पास जा पहुँचे और उसे गोदमें उठाकर उस घेरेको फिर लाँघकर निकल आये। इसके फलस्वरूप ब्राह्मणकी जान तो बच गयी किंतु आगकी लपटोंसे सहस्रचित्यके प्राण-पखेरू उड़ गये।

किसी ब्राह्मणके लिये आत्मदानका यह बहुत ही सुन्दर उदाहरण है। किंतु राजर्षि सहस्रचित्यने ब्राह्मणके लिये जो अपने प्रिय प्राणोंका परित्याग कर दिया, उसका परिणाम बहुत ही अच्छा हुआ। मरनेके बाद राजर्षिको ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति हुई। महाभारतमें लिखा है—

सहस्रचित्यो राजर्षिः प्राणानिष्टान् महायशाः।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य गतो लोकाननुत्तमान्॥

(महाभारत, अनुशासन०, दानधर्म० १३७। २०)

अर्थात् महायशस्वी राजर्षि सहस्रचित्य ब्राह्मणके लिये अपने प्रिय प्राणोंका परित्याग कर उत्तम-से-उत्तम लोकको पा गये।

(२)

गौके लिये आत्मदानका प्रत्यक्ष फल

गौकी महत्ता शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। यहाँ एक ऐसी सत्य घटना दी जा रही है, जिससे इस सच्चाईकी परखमें निर्भ्रान्त सफलता मिलेगी। घटना चकियाकी है, जो इस शताब्दीके पूर्वार्धमें घटी थी। यह घटना जाँचनेके बाद सच्ची साबित हुई। इस घटनाको 'मानव'से उद्धृत किया जा रहा है। इस घटनाके लेखक श्रीहरिशंकर खन्ना हैं, जिनका अब शरीर नहीं रहा। उन्हींके शब्दोंमें यह घटना दी जा रही है—

उन दिनों मेरे पिताजी जीवित थे, तब मेरी अवस्था कोई पचीस-तीस सालकी रही होगी। श्रीवृजभवनरामजी गुजराती अक्सर पिताजीके पास आया करते थे। वे अपनी आचारनिष्ठा और धर्मभीरुताके लिये प्रसिद्ध थे। एक दिन मैं पिताजीके पास बैठा था। आप आये और आते ही बहुत उतावलीसे बोले—'मैं चकियाकी ओर गया था, वहाँ एक ऐसा विलक्षण दृश्य देखा कि रोमाञ्च हो आया और आज भी वह मेरे मनसे उतरता नहीं है।'

आवेगको संयत करते हुए आपने आगे कहा—'कर्मनाशामें एक गाय पानी पीने उतरी, उसे किसी जल-जन्तुने पकड़ लिया। वह जोर-जोरसे रँभाने लगी। बहुत लोग इकट्ठे हो गये, किंतु किसीकी भी हिम्मत न पड़ी कि गौको बचा ले। पासमें ही एक डोम बाँस काट रहा था। उसकी स्त्रीने उससे यह बात बतलायी। वह झट बाँस काटनेका हथियार, जिसे चकियाके आस-पासके लोग 'बाँकी' कहते हैं, लेकर जलमें कूद पड़ा और अंदाजसे ही उस जलमें उसने अनेक वार किये। गाय छूट गयी। निकलकर वह जोरोंसे भागी। उसका पैर लहूलुहान हो गया था। इस तरह गाय तो बच गयी, किंतु बेचारा डोम उस जल-जन्तुकी पकड़में आ गया और निकल नहीं पाया। चाहते हुए भी कोई उसको कुछ भी मदद न पहुँचा सका।

करीब दो मिनट बाद नदीसे एक लौ निकली और देखते-देखते सूर्यमण्डलमें जा लगी। वह ऐसा प्रकाशस्तम्भ-सा दीखता था, जो जलसे सूर्यतक लगा हुआ था। थोड़ी ही देर बाद वह प्रकाश-स्तम्भ ऊपरकी ओर सिमटता हुआ सूर्यमें समा गया। वहाँ उपस्थित लोगोंने इस दृश्यको देखा और वे आश्चर्यचकित हो गये। गायकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंको न्योछावर करनेवाला अन्त्यज भी सद्यः मुक्तिका पात्र बना। तेजके रूपमें उसकी 'जीवात्मा' भगवद्धामके लिये सिधार गयी, जिसका प्रत्यक्षावलोकन वहाँ उपस्थित समुदायने किया। यह है गौके लिये आत्मदानका प्रत्यक्ष फल।
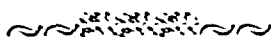
महामुनि अत्रि और आत्रेय धर्मशास्त्र

'अत्रिस्मृति' एवं 'अत्रिसंहिता'के प्रणेता महर्षि अत्रि वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ये ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके द्रष्टा भी हैं, इसलिये ऋग्वेदका पाँचवा मण्डल '**आत्रेय मण्डल**' के नामसे प्रसिद्ध है। श्रीसूक्त आदि अत्यन्त प्रसिद्ध खिल-सूक्त भी इसी आत्रेय मण्डलके परिशिष्ट भाग माने जाते हैं। ये ब्रह्माजीके मानस पुत्र और प्रजापति हैं। भगवान्‌की शक्तिसे सम्पन्न ब्रह्माजीने जब सृष्टिके लिये संकल्प किया, तब उनके दस मानस पुत्र उत्पन्न हुए, जो प्रजापति कहलाये। महर्षि अत्रि उनमेंसे द्वितीय पुत्र थे[१]। ब्रह्माजीके नेत्रोंसे महर्षि अत्रिजीका प्रादुर्भाव हुआ '**अक्ष्णोऽत्रिः०**' (श्रीमद्भा० ३। १२। २४)। इस दृष्टिसे महर्षि अत्रि साक्षात् ज्योति, प्रकाश किंवा ज्ञानके स्वरूप ही हैं। ये सप्तर्षियोंमें परिगणित हैं। अत्रि अपने गुणोंमें ब्रह्माजीके ही समान हैं। इनमें दिव्य ज्ञान, विज्ञान, तपस्या एवं नारायणकी अनन्य भक्तिके साथ शील, विनय, सत्य, धर्म, सदाचार, क्षमा, सहिष्णुता तथा दयालुता आदि सद्‌गुणोंका स्वाभाविक विकास है। चित्रकूटमें महर्षि अत्रिजीका आश्रम अत्यन्त प्रसिद्ध है।

कर्दम प्रजापतिकी पुत्री देवी अनसूया इनकी धर्मपत्नी हैं, जो पतिव्रताओंकी आदर्शभूता और दिव्य तेजसे सम्पन्न हैं। इन्होंने अपने पातिव्रतके बलपर शैव्या ब्राह्मणीके मृत पतिको जीवित कराया तथा बाधित सूर्यको उदित कराकर करनेकी आज्ञा दी, तब इन्होंने सृष्टिके पहले तपस्या करनेका विचार किया और ऋक्ष नामक पर्वतपर बड़ी घोर तपस्या की। इनके तपका लक्ष्य संतानोत्पादन नहीं था, बल्कि भगवान्‌का दर्शन करना था। इनकी श्रद्धापूर्वक दीर्घकालकी निरन्तर साधना और प्रेमसे आकृष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु तथा महेशने इनकी प्रार्थनापर पुत्ररूपमें प्रकट होना स्वीकार किया और समयपर भगवान् विष्णुके अंशसे महायोगी दत्तात्रेय, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा तथा शंकरके अंशसे महामुनि दुर्वासा, महर्षि अत्रि एवं देवी अनसूयाके पुत्ररूपमें आविर्भूत हुए।[२]

महर्षि अत्रि जहाँ ज्ञान, भक्ति तथा धर्माचरण एवं तपके साक्षात् मूर्तिमान् स्वरूप हैं, वहीं देवी अनसूया पातिव्रत-धर्म एवं शीलकी मूर्तिमती विग्रह हैं। चित्रकूटमें निवास करते हुए ये दम्पति भगवान् नारायणकी आराधना, तपस्या एवं अखण्ड भक्तिमें निरत रहते रहे। महर्षि अत्रिजीकी आराधना एवं तपस्या और देवी अनसूयाके पातिव्रत, सतीत्व तथा प्रेममयी भक्तिको सफल बनानेके लिये वनगमनके समय भगवान् श्रीराम सीता एवं लक्ष्मणके साथ इनके आश्रमपर गये। उस समय प्रेमानन्दमें निमग्न होकर महर्षि अत्रिजीने भगवान्‌की जो स्तुति की, वह भक्ति-साहित्यकी एक महत्त्वपूर्ण स्तुति है, यथा—

हुआ। महर्षि अत्रि आज भी सप्तर्षि-मण्डलमें स्थित होकर परम प्रकाशकी ज्योति प्रसारित कर रहे हैं।

महर्षि अत्रि प्रजापति-पदपर प्रतिष्ठित रहे और प्रजाओंकी व्यवस्थाका भार भी इनपर रहा, अतः प्रजा कैसे सुखी रहे और किस प्रकार धर्माचरणसे वह सन्मार्गमें प्रवृत्त हो, इस पद्धतिको बतलानेके लिये उन्होंने परम कृपा कर वैदिक मन्त्रोंका प्रकाश किया और धर्माचरण, सदाचार तथा कर्तव्याकर्तव्यकी शिक्षा देनेके लिये स्मृति तथा एक संहिताका प्रणयन किया, जो उन्हींके नामसे प्रसिद्ध हुई। पातकोंसे मुक्ति हो जाती है और प्राणी परम पवित्र हो जाता है, उसे आप बतलानेकी कृपा करें।' इसके उत्तरमें महर्षि अत्रिजीने जो धर्मोपदेश उन्हें प्रदान किया, वह 'अत्रिस्मृति'के नामसे विख्यात हुआ।

महर्षि अत्रिजी बताते हैं कि योग-साधनासे जिस स्थितिकी प्राप्ति होती है, वह न तीव्र तपसे प्राप्त हो सकती है, न ध्यानसे , न यज्ञसे और न किसी अन्य साधनसे। सब धर्मोंमें योग ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। योग-साधनासे **विशुद्ध** परमात्मज्ञान प्राप्त होता है और योग ही वस्तुतः सच्चे **धर्मका**

महामुनि अत्रि और आत्रेय धर्मशास्त्र

'अत्रिस्मृति' एवं 'अत्रिसंहिता'के प्रणेता महर्षि अत्रि वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ये ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके द्रष्टा भी हैं, इसलिये ऋग्वेदका पाँचवा मण्डल '**आत्रेय मण्डल**' के नामसे प्रसिद्ध है। श्रीसूक्त आदि अत्यन्त प्रसिद्ध खिल-सूक्त भी इसी आत्रेय मण्डलके परिशिष्ट भाग माने जाते हैं। ये ब्रह्माजीके मानस पुत्र और प्रजापति हैं। भगवान्‌की शक्तिसे सम्पन्न ब्रह्माजीने जब सृष्टिके लिये संकल्प किया, तब उनके दस मानस पुत्र उत्पन्न हुए, जो प्रजापति कहलाये। महर्षि अत्रि उनमेंसे द्वितीय पुत्र थे[1]। ब्रह्माजीके नेत्रोंसे महर्षि अत्रिजीका प्रादुर्भाव हुआ '**अक्ष्णोऽत्रिः०**' (श्रीमद्भा० ३। १२। २४) । इस दृष्टिसे महर्षि अत्रि साक्षात् ज्योति, प्रकाश किंवा ज्ञानके स्वरूप ही हैं। ये सप्तर्षियोंमें परिगणित हैं। अत्रि अपने गुणोंमें ब्रह्माजीके ही समान हैं। इनमें दिव्य ज्ञान, विज्ञान, तपस्या एवं नारायणकी अनन्य भक्तिके साथ ही शील, विनय, सत्य, धर्म, सदाचार, क्षमा, सहिष्णुता तथा दयालुता आदि सद्‌गुणोंका स्वाभाविक विकास है। चित्रकूटमें महर्षि अत्रिजीका आश्रम अत्यन्त प्रसिद्ध है।

कर्दम प्रजापतिकी पुत्री देवी अनसूया इनकी धर्मपत्नी हैं, जो पतिव्रताओंकी आदर्शभूता और दिव्य तेजसे सम्पन्न हैं। इन्होंने अपने पातिव्रतके बलपर शैव्या ब्राह्मणीके मृत पतिको जीवित कराया तथा बाधित सूर्यको उदित कराकर संसारका कल्याण किया। साथ ही अपनी दिव्य शक्ति एवं तपोबलसे गङ्गाकी पवित्र धाराको चित्रकूटमें प्रवाहित किया, जो '**मन्दाकिनी**' नामसे प्रसिद्ध है और सब पापोंको दूर करनेवाली है—

नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रि प्रिया निज तपबल आनी॥
सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि॥

(रा० च० मा० २। १३२। ५-६)

सृष्टिके आरम्भमें इन दम्पतिको जब ब्रह्माजीने सृष्टि करनेकी आज्ञा दी, तब इन्होंने सृष्टिके पहले तपस्या करनेका विचार किया और ऋक्ष नामक पर्वतपर बड़ी घोर तपस्या की। इनके तपका लक्ष्य संतानोत्पादन नहीं था, बल्कि भगवान्‌का दर्शन करना था। इनकी श्रद्धापूर्वक दीर्घकालकी निरन्तर साधना और प्रेमसे आकृष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु तथा महेशने इनकी प्रार्थनापर पुत्ररूपमें प्रकट होना स्वीकार किया और समयपर भगवान् विष्णुके अंशसे महायोगी दत्तात्रेय, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा तथा शंकरके अंशसे महामुनि दुर्वासा, महर्षि अत्रि एवं देवी अनसूयाके पुत्ररूपमें आविर्भूत हुए।[2]

महर्षि अत्रि जहाँ ज्ञान, भक्ति तथा धर्माचरण एवं तपके साक्षात् मूर्तिमान् स्वरूप हैं, वहीं देवी अनसूया पातिव्रत-धर्म एवं शीलकी मूर्तिमती विग्रह हैं। चित्रकूटमें निवास करते हुए ये दम्पति भगवान् नारायणकी आराधना, तपस्या एवं अखण्ड भक्तिमें निरत रहते रहे। महर्षि अत्रिजीकी आराधना एवं तपस्या और देवी अनसूयाके पातिव्रत, सतीत्व तथा प्रेममयी भक्तिको सफल बनानेके लिये वनगमनके समय भगवान् श्रीराम सीता एवं लक्ष्मणके साथ इनके आश्रमपर गये। उस समय प्रेमानन्दमें निमग्न होकर महर्षि अत्रिजीने भगवान्‌की जो स्तुति की, वह भक्ति-साहित्यकी एक महत्त्वपूर्ण स्तुति है, यथा—

नमामि भक्त वत्सलं। कृपालु शील कोमलं॥
भजामि ते पदांबुजं। अकामिनां स्वधामदं॥[3]

स्तुतिके अन्तमें महर्षि अत्रिने श्रीरामजीसे उनके चरणोंकी एकमात्र अखण्ड भक्तिका वरदान माँगा—

बिनती करि मुनि नाइ सिरु कह कर जोरि बहोरि।
चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि॥

माता अनसूयाने सीताजीको पातिव्रतधर्मका उपदेश प्रदान किया। जिसे प्राप्तकर जानकीजीको परम सुख प्राप्त

१-मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः॥ (श्रीमद्भा० ३। १२। २२)

२-(क) सोमोऽभूद् ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित्।
दुर्वासाः शंकरस्यांशो०॥ (श्रीमद्भा० ४। १। ३३)

(ख) जहँ जनमे जग-जनक जगतपति, बिधि-हरि-हर परिहरि प्रपंचु छलु। (विनय-पत्रिका २४)

३-पूरी स्तुतिके लिये श्रीरामचरितमानसका अरण्यकाण्ड द्रष्टव्य है।

हुआ। महर्षि अत्रि आज भी सप्तर्षि-मण्डलमें स्थित होकर परम प्रकाशकी ज्योति प्रसारित कर रहे हैं।

महर्षि अत्रि प्रजापति-पदपर प्रतिष्ठित रहे और प्रजाओंकी व्यवस्थाका भार भी इनपर रहा, अतः प्रजा कैसे सुखी रहे और किस प्रकार धर्माचरणसे वह सन्मार्गमें प्रवृत्त हो, इस पद्धतिको बतलानेके लिये उन्होंने परम कृपा कर वैदिक मन्त्रोंका प्रकाश किया और धर्माचरण, सदाचार तथा कर्तव्याकर्तव्यकी शिक्षा देनेके लिये स्मृति तथा एक संहिताका प्रणयन किया, जो उन्हींके नामसे प्रसिद्ध हुई। अत्रिस्मृति और अत्रिसंहिता—ये ग्रन्थ कलेवरमें लघु होनेपर भी अत्यन्त उपादेय हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने प्रमुख धर्मशास्त्रकारोंमें अत्रिका नाम ग्रहण किया है। महर्षि अत्रिप्रणीत धर्मशास्त्र '**आत्रेय धर्मशास्त्र**'के नामसे भी विख्यात है। यहाँ उनके धर्मशास्त्रोंका संक्षिप्त सार अंश प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) अत्रिस्मृति

वर्तमानमें जो गद्य-पद्य-मिश्रित 'अत्रिस्मृति' उपलब्ध है, वह ९ अध्यायोंमें उपनिबद्ध है। इसमें लगभग ९० के आसपास श्लोक हैं। इसका चौथा तथा सातवाँ अध्याय सूत्रोंमें वर्णित है। चौथे अध्यायमें ४५ सूत्र तथा सातवें अध्यायमें १५ सूत्र हैं। किन्हीं विद्वानोंके मतमें सूत्रात्मक होनेसे यह स्मृति '**अत्रि-धर्मसूत्र**'—इस अपर नामसे भी जानी जाती है। इसका छठा अध्याय वेदके सूक्तों एवं पवित्र स्तोत्रोंका वर्णन करता है। सातवाँ अध्याय प्रच्छन्न प्रायश्चित्तोंकी ओर संकेत करता है। इसमें मनु आदि आचार्योंके मतोंका भी यत्र-तत्र बड़े ही आदरपूर्वक ख्यापन किया गया है। कलेवरमें लघु होनेपर भी यह स्मृति बड़े ही महत्त्वकी है।

इस स्मृतिके प्रारम्भमें ही वर्णन आया है कि ऋषि-महर्षियोंने वेदवादियोंमें सर्वश्रेष्ठ महर्षि अत्रिके पास जाकर अत्यन्त भक्ति एवं नम्रतापूर्वक जिज्ञासा की कि 'हे महामुने! किस जप, तप, दान अथवा साधनसे सभी पातकोंसे मुक्ति हो जाती है और प्राणी परम पवित्र हो जाता है, उसे आप बतलानेकी कृपा करें।' इसके उत्तरमें महर्षि अत्रिजीने जो धर्मोपदेश उन्हें प्रदान किया, वह 'अत्रिस्मृति'के नामसे विख्यात हुआ।

महर्षि अत्रिजी बताते हैं कि योग-साधनासे जिस स्थितिकी प्राप्ति होती है, वह न तीव्र तपसे प्राप्त हो सकती है, न ध्यानसे , न यज्ञसे और न किसी अन्य साधनसे। सब धर्मोंमें योग ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। योग-साधनासे विशुद्ध परमात्मज्ञान प्राप्त होता है और योग ही वस्तुतः सच्चे धर्मका स्वरूप है। योग ही सर्वोपरि तपस्या है, अतः योगका आश्रय ग्रहण कर सदा योगपरायण रहना चाहिये। यह आत्मकल्याणका सच्चा साधन है।

प्राणायामकी महत्ता

जिस प्रकार प्रबल प्रज्वलित अग्नि गीले काष्ठको भी जलाकर भस्म कर डालती है, उसी प्रकार वेदतत्त्वज्ञ विद्वान् अपने कर्मसे उत्पन्न सारे दोष-पापोंको जलाकर भस्म कर डालता है। साथ ही जैसे पर्वतसे उत्पन्न धातुओंको आगमें तपानेसे सब दोषोंको व्यक्ति नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार प्राणोंके निग्रह करनेसे अर्थात् प्राणायाम एवं योगकी साधनासे, इन्द्रियोंसे उत्पन्न कायिक, वाचिक एवं मानसिक समस्त पापोंको योगी नष्ट कर डालता है[१]।

पूर्वजन्मके पापोंके उपलक्षण

इसके बाद चतुर्थ अध्यायमें महर्षि अत्रिजीने कुछ ऐसे लक्षणोंका निर्देश किया है, जिनके द्वारा यह जाना जा सकता है कि पूर्वजन्ममें इस व्यक्तिने कौन-सा दुष्कृत किंवा पाप-कर्म किया और उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं किया, फलस्वरूप उसे इस जन्ममें ऐसा कष्ट भोगना पड़ रहा है। उन्होंने पूर्वजन्मके पापियोंके लक्षण बताये हैं, जो आगेके जन्मके लिये भी सावधानीके सूचक हैं, यहाँ कुछका निदर्शन किया जा रहा है—

न्यासमें रखी हुई वस्तु अर्थात् धरोहरमें रखी वस्तुका

१-यथातिप्रबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्। तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः॥
यथा पर्वतधातूनां दोषा दह्यन्ति धाम्यताम्। तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्॥
(अत्रिस्मृति ३। २-३)

जो अपहरण करता है, वह दूसरे जन्ममें संतानसे रहित होता है—'न्यासापहारी चानपत्यः।' रत्नोंकी चोरी करनेवाला महान् दरिद्र होता है—'रत्नापहारी चात्यन्तदरिद्रः।' इधर-उधर व्यर्थका नास्तिकतापूर्ण तर्क एवं विवाद करनेवाला बिडाल होता है—'इतस्ततस्तर्कको मार्जारः।' छोटे-बड़े मकानों आदिको जलानेवाला या आग लगानेवाला खद्योत या जुगनू होता है—'कक्षागारदाहकः खद्योतः।' अन्नकी चोरी करनेवाला मूषककी योनि प्राप्त करता है—'धान्यहरणान्मूषकः।' पैसा लेकर विद्या-दान करनेवाला व्यक्ति सियार होता है—'भृतकाध्यापकः शृगालः।' दूसरेके धनका हरण करनेवाला प्रायः प्रेत होता है—'परद्रव्यहरणात् प्रेतः।' पैसा लेकर देवमन्दिरमें पूजा करनेवाला तथा देवमन्दिरकी सम्पत्तिका अपहरण करनेवाला चाण्डाल होता है-'देवलश्चाण्डालः।' कम मूल्यमें वस्तु खरीदकर उसे बहुत अधिक मूल्यमें बेचनेवाला तथा चक्रवृद्धि ब्याज लेनेवाला कछुआ होता है—'वार्धुषिकः कूर्मः।' नास्तिक और कृतघ्न मकड़ीकी योनिमें जन्म लेता है—'ऊर्णनाभो नास्तिकः कृतघ्नश्च।' शरणागतका त्याग करनेवाला ब्रह्मराक्षस होता है—'शरणागतत्यागी ब्रह्मराक्षसः।' और सदा मिथ्याभाषण करनेसे सभी प्रकारका पाप होता है—'सर्वदाऽनृतवचनात् पापः।'

उपर्युक्त निन्दित तथा गर्हित एवं सर्वथा त्याज्य कर्मोंका उल्लेख करते हुए महर्षि अत्रि सभीको यह सावधान करते हैं कि ऐसे कर्मोंके आचरणसे अत्यन्त क्लेश होता है, बार-बार यम-यातना भोगनी पड़ती है। अतः सदा धर्मका आचरण करते हुए सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे अपनेको ऊँचा उठानेका प्रयत्न करना चाहिये।

वैदिक सूक्तोंके जपसे पापोंकी निवृत्ति

अपनी स्मृतिके छठे अध्यायमें महर्षि अत्रिने वैदिक सूक्तोंकी[1] बड़ी प्रशंसा की है और बताया है कि वैदिक मन्त्रोंके तथा सूक्तोंके जप-पाठसे सभी प्रकारके पाप-क्लेशोंका विनाश हो जाता है। व्यक्ति परम पवित्र हो जाता है, सब प्रकारकी आत्मशुद्धि हो जाती है, उसे पूर्वजन्मका ज्ञान हो जाता है और जो भी वह चाहता है, उसे वह सब अनायास ही प्राप्त हो जाता है—

एतानि जप्तानि पुनन्ति जन्तून्-
जातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत्॥
(अत्रि० ६। ५)

दानकी महिमा

महर्षि अत्रिने पापोंकी निष्कृति तथा महत्फलकी प्राप्तिके लिये दानको भी परम साधन बतलाया है। उनका कहना है कि जो वैशाखी पूर्णिमा या किसी अन्य मासकी पूर्णिमाको सात या पाँच ब्राह्मणोंको तिल और मधु विधिपूर्वक प्रदान करता है और देते समय 'इस दानसे हे धर्मराज! आप प्रसन्न हों' (**प्रीयतां धर्मराज**) ऐसा भावपूर्वक उच्चारण करता है तो इस महादानसे वह जन्मभरके सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर उत्तम गति प्राप्त करता है—

यावज्जन्मकृतं पापं तेन दानेन शुध्यति॥

इसी प्रकार जो कृष्णमृगचर्मपर तिल, मधु और घीको यथाविधि स्थापित करके ब्राह्मणोंको श्रद्धापूर्वक दान देता है, वह सारे पापसमूहोंको पार कर मुक्त हो जाता है—

सर्वं तरति दुष्कृतम्॥ (अत्रि० ६। ११)

प्रच्छन्न एवं प्रकट पापोंके प्रायश्चित्त

महर्षि अत्रिने सातवें अध्यायमें प्रच्छन्न पापोंके प्रायश्चित्त-विधानोंका वर्णन किया है और बतलाया है कि ऐसे गुप्त पापोंके दोष-निवारणके लिये जलमें गोता लगाकर 'तरत् स मन्दी०' (ऋग्वेद ९। ५८। १—४) सूक्तकी तीन बार आवृत्ति करनेसे शुद्धि हो जाती है। पाप यदि एकान्तमें किया हो और किसीको बताया न हो तथा किसीको उसकी जानकारी न हुई हो तो ऐसे पापकर्मके लिये समाहितमन होकर तप्तकृच्छ्र-व्रतका आचरण करनेसे शुद्धि हो जाती है और यदि अपना किया हुआ पाप प्रकट कर दे, किसीको बता दे, प्रकाशमें आ जाय तो विधिपूर्वक चान्द्रायण-व्रतके अनुष्ठानसे शुद्धि हो जाती है—

१-परिगणित कुछ मन्त्र तथा सूक्त-संकेत इस प्रकार हैं—
अघमर्षणके मन्त्र, उदु त्यं जातवेदसं० (ऋग्वेद १। ५०। १, साम० ३१; अथर्व० १३। २। १६; यजुर्वेद ७। ४१ इत्यादि), तरत् स मन्दीधावति (ऋग्वेद ९। ५८। १); पावमानी ऋचाएँ, शतरुद्रिय, अथर्वशिरस्, गोसूक्त, अश्वसूक्त, इन्द्रसूक्त, रथन्तर, वामदेव आदि साममन्त्र।

रहस्ये तप्तकृच्छ्रं तु चरेद्विप्रः समाहितः।
प्रकाशे चैन्दवं कुर्यात् सकृद् भुक्त्वा द्विजोत्तमः॥

(अत्रि॰ ७। ४)

अपेय-पान करनेपर, अभक्ष्य-भक्षण करनेपर तथा निन्दित कार्य करनेपर अघमर्षण-सूक्तके जपपूर्वक जल पीनेसे शुद्धि हो जाती है—'**अघमर्षणेनापः पीत्वा शुध्येत्।**'

यदि प्रायश्चित्त करनेमें सर्वथा असमर्थ हो तो बार-बार पश्चात्ताप करने, अपने पापके लिये दुःख प्रकट करने, ग्लानिमें रहते हुए तथा वैसा फिर न करनेकी प्रतिज्ञा करनेसे भी पापोंकी शुद्धि हो जाती है—

असक्तः प्रायश्चित्ते सर्वत्रानुशोचनेन शुध्येत्॥

(अत्रि॰ ७। १५)

'**उदु त्यं जादवेदसं॰**'[१] इस मन्त्रसे सात बार सूर्यदेवको अर्घ्य प्रदानकर सूर्योपस्थान तथा विधिपूर्वक सूर्य-नमस्कार करनेसे इस जन्मके तथा पूर्वजन्मके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं—

उदु त्यमिति सप्तरूपेणाऽऽदित्यमुपास्येहकृतैः पुराकृतैश्च मुच्यते॥

(अत्रि॰ ८। ६)

'**सोमं राजानमवसे॰**' (ऋग्वेद १०। १४१। ३; साम॰ ९१; अथर्व॰ ३। २०। ४; वा॰ सं॰ ९। २६; तै॰ सं॰ १। ७। १०। ३) इस मन्त्रके पाठसे विष, जहर देने तथा मकान आदिके जलानेसे जो पाप बनता है, उससे मुक्ति मिल जाती है—'**सोमं राजानमिति विषगराग्निदाहाच्च मुच्यते**' (अत्रि॰१८। ७१)। अनेक पापोंका यदि सांकर्य हो जाय तो दस हजार गायत्री-मन्त्र-जपसे शुद्धि हो जाती है—

सर्वेषामेव पापानां संकरे समुपस्थिते।
दशसाहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधनं परम्॥

(अत्रि॰ ८। ८)

अध्यात्मज्ञान एवं भगवत्स्मरणकी महिमा

इस प्रकार विविध प्रच्छन्न एवं प्रकट पापोंके प्रायश्चित्तोंका निरूपण करनेके अन्तमें महर्षि अत्रिने संक्षेपमें षडङ्ग-योग (प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि)-का वर्णन किया है और योगाभ्यासको परम कल्याणका मार्ग बतलाया है। महर्षि अत्रिने यह भी स्पष्ट निर्दिष्ट किया है कि यदि राजा दमघोषके पुत्र शिशुपालकी तरह विद्वेष-भावसे वैरपूर्वक भी भगवान्‌का स्मरण किया जाय, ध्यान किया जाय तो भी उद्धार होनेमें कोई संदेह नहीं है। फिर यदि तत्परायण होकर—भगवत्परायण होकर सत्कर्मों, धर्म-कर्मोंका आश्रय लिया जाय तो परम कल्याण होनेमें क्या संदेह है—

विद्वेषादपि गोविन्दं दमघोषात्मजः स्मरन्।
शिशुपालो गतः स्वर्गं किं पुनस्तत्परायणः॥

(अत्रि॰ ९। ४)

तात्पर्य यह है कि जैसे भी हो सदा-सर्वदा भगवान्‌का नामस्मरण, भगवद्‌गुणानुवाद, ध्यान, सत्संग, कथा-वार्ता आदिमें निमग्न रहनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये।

(२) अत्रिसंहिता

महर्षि अत्रिप्रणीत एक धर्मशास्त्रसंहिता भी उपलब्ध होती है, जो 'अत्रिसंहिता'के नामसे विख्यात है। यह श्लोकबद्ध है और इसमें लगभग ४०० श्लोक हैं। इसमें मुख्यरूपसे चारों वर्णोंके धर्म, राजधर्म, आहारशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, गृहशुद्धि, इष्टापूर्तधर्म, गोदान, विद्यादान, अन्न, वस्त्र आदि दानधर्म, अशौच-मीमांसा, प्रायश्चित्त-विधानोंमें कृच्छ्र, सांतपन, चान्द्रायण आदि व्रतोंका विवेचन, पातक-महापातक एवं उपपातकोंका वर्णन, शुद्धिमीमांसा तथा श्राद्ध आदि विषयोंका विवेचन किया गया है।

परधर्म अनाचरणीय है

संहिताके प्रारम्भमें ही महर्षि अत्रिने चारों वर्णोंके धर्मोंका वर्णन करते हुए अपने-अपने वर्णानुसार कर्तव्यकर्मोंको करनेका निर्देश दिया है और परधर्म या दूसरे वर्णके धर्मको उसी प्रकार त्याज्य अथवा अनाचरणीय बताया है, जैसे सुन्दर एवं रूपवती होनेपर भी परनारी सर्वथा त्याज्य है—

परधर्मो भवेत् त्याज्यः सुरूपपरदारवत्॥

(अत्रिसंहिता १८)

राजधर्म

राजधर्म और राजाके कर्तव्य-कर्मोंका परिगणन करते हुए महर्षि अत्रि कहते हैं कि (१) दुष्ट व्यक्तिको दण्डित करना, (२) सज्जन या साधुपुरुषकी पूजा-प्रतिष्ठा या उसे

१-उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ (ऋ॰ १। ५०। १)

आदर-सम्मान देना, (३) न्यायपूर्वक सन्मार्गद्वारा राजकोषकी वृद्धि करना, (४) किसी एक वस्तुके प्रति अनेक लोगोंके द्वारा अधिकार जतानेपर या एक वस्तुके प्रति अधिक लोगोंकी चाहना होनेपर किसी भी प्रकारका पक्षपात न करते हुए जो उसका वास्तविक अधिकारी हो अथवा जो उसे पानेकी योग्यता रखता हो, उसे ही वह वस्तु प्रदान करना तथा (५) राष्ट्रकी, प्रजाकी सब प्रकारसे रक्षा—उसकी सेवा करना—ये पाँच कर्म राजाओंके लिये पञ्चयज्ञ कहे गये हैं। राजाओंको प्रजाके पालनमें, उसकी सेवामें जो पुण्य प्राप्त होता है, उस पुण्यको द्विजोत्तम सहस्रों यज्ञोंद्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकते अर्थात् धर्मपूर्वक प्रजापालनसे राजाओंको सहस्रों यज्ञोंसे भी अधिक फलकी प्राप्ति होती है[१]।

सद्‌गृहस्थोंके आठ लक्षण

सद्‌गृहस्थोंके लक्षण बताते हुए महर्षि अत्रि कहते हैं कि (१) अनसूया, (२) शौच, (३) मङ्गल, (४) अनायास, (५) अस्पृहा, (६) दम, (७) दान तथा (८) दया—ये आठ श्रेष्ठ विप्रों तथा सद्‌गृहस्थोंके लक्षण हैं।[२]

यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) अनसूया—जो गुणवानोंके गुणोंका खण्डन नहीं करता, स्वल्प गुण रखनेवालोंकी भी प्रशंसा करता है और दूसरेके दोषोंको देखकर उनका परिहास नहीं करता—यह भाव 'अनसूया' कहलाता है।

(२) शौच—अभक्ष्य-भक्षणका परित्याग, निन्दित व्यक्तियोंका संसर्ग न करना तथा आचार-(शौचाचार-सदाचार) विचारका परिपालन—यह 'शौच' कहलाता है।

(३) मङ्गल—*श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा शास्त्रमर्यादित प्रशंसनीय* आचरणका नित्य व्यवहार, अप्रशस्त (निन्दनीय) आचरणका परित्याग—इसे धर्मके तत्त्वको जाननेवाले महर्षियोंद्वारा 'मङ्गल' नामसे कहा गया है।

(४) अनायास—जिस शुभ अथवा अशुभकर्मके द्वारा शरीर पीडित होता हो, ऐसे व्यवहारको बहुत अधिक न करना अथवा सहज-भावसे जो आसानीपूर्वक किया जा सके उसे करनेका भाव 'अनायास' कहलाता है।

(५) अस्पृहा—स्वयं अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा संतुष्ट रहना और दूसरेकी स्त्रीमें अभिलाषा नहीं रखना—यह भाव 'अस्पृहा' कहलाता है।

(६) दम—जो दूसरेके द्वारा उत्पन्न बाह्य (शारीरिक) अथवा आध्यात्मिक दुःख या कष्टके प्रतीकारस्वरूप, उसपर न तो कोई कोप करता है और न उसे मारनेकी चेष्टा करता है अर्थात् किसी भी प्रकारसे न तो स्वयं उद्वेगकी स्थितिमें होता है और न दूसरेको उद्वेलित करता है, उसका यह समतामें स्थित रहनेका भाव 'दम' कहलाता है।

(७) दान—'प्रत्येक दिन दान देना कर्तव्य है'—यह समझकर अपने स्वल्पमेंसे भी अन्तरात्मासे प्रसन्न होकर प्रयत्नपूर्वक यत्किंचित् देना 'दान' कहलाता है।

(८) दया—दूसरेमें, अपने बन्धुवर्गमें, मित्रमें, शत्रुमें तथा द्वेष करनेवालेमें अर्थात् सम्पूर्ण चराचर संसारमें तथा सभी प्राणियोंमें अपने समान ही सुख-दुःखकी

१-दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य च सम्प्रवृद्धिः। अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम्॥
यत् प्रजापालने पुण्यं प्राप्नुवन्तीह पार्थिवाः। न तु क्रतुसहस्रेण प्राप्नुवन्ति द्विजोत्तमाः॥
(अत्रिसंहिता २८-२९)

२-न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति चान्यान् गुणानपि। न हसेच्चान्यदोषांश्च साऽनसूया प्रकीर्तिता॥
अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः। आचारेषु व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम्। एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तमृषिभिर्धर्मदर्शिभिः॥
शरीरं पीड्यते येन शुभेन त्वशुभेन वा। अत्यन्तं तन्न कुर्वीत अनायासः स उच्यते॥
यथोत्पन्नेन कर्तव्यः संतोषः सर्ववस्तुषु। न स्पृहेत् परदारेषु साऽस्पृहा परिकीर्तिता॥
बाह्यमाध्यात्मिकं वापि दुःखमुत्पाद्यते परैः। न कुप्यति न वा हन्ति दम इत्यभिधीयते॥
अहन्यहनि दातव्यमदीनेनान्तरात्मना। स्तोकादपि प्रयत्नेन दानमित्यभिधीयते॥
परस्मिन् बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्ये रिपौ तथा। आत्मवद्वर्तितव्यं हि दयैषा परिकीर्तिता॥
(अत्रिसंहिता ३४—४१)

प्रतीति करना और सबमें आत्मभाव—परमात्मभाव समझकर सबको अपने ही समान समझकर प्रीतिका व्यवहार करना—ऐसा भाव रखना 'दया' कहलाता है।

महर्षि अत्रि कहते हैं इन लक्षणोंसे युक्त शुद्ध सद्गृहस्थ अपने उत्तम धर्माचरणसे श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त कर लेता है, पुनः उसका जन्म नहीं होता और वह मुक्त हो जाता है—

यश्चैतैर्लक्षणैर्युक्तो गृहस्थोऽपि भवेद् द्विजः।
स गच्छति परं स्थानं जायते नेह वै पुनः॥

(श्लोक ४२)

दूसरोंके लिये सत्कर्म करनेका फल

यदि कोई व्यक्ति दूसरेके निमित्त परोपकारकी तीव्र योगमयी भावनासे अथवा कल्याणकी भावनासे स्नान, दान, जप, तप, व्रतोपवास आदि धर्म करता है तो उसका पुण्य-फल उसे अवश्य प्राप्त होता है, जिसके निमित्त करता है उसका और जो करता है उसका भी कल्याण हो जाता है, यह बड़े महत्त्वकी बात है। इसलिये दूसरेके निमित्त सदा कल्याण-मङ्गलकी भावना रखनेसे अपना भी परम कल्याण हो जाता है। इस विषयमें महर्षि अत्रिजीका कहना है—

प्रतिकृतिं कुशमयीं तीर्थवारिषु मज्जयेत्।
यमुद्दिश्य निमज्जेत अष्टभागं लभेत सः॥
मातरं पितरं वाऽपि भ्रातरं सुहृदं गुरुम्।
यमुद्दिश्य निमज्जेत द्वादशांशफलं लभेत्॥

अर्थात् जो व्यक्ति दूसरेके कल्याणकी सच्ची भावनासे तीर्थजलमें उस व्यक्तिकी कुशमयी मूर्ति बनाकर भावपूर्वक उसका अवगाहन कराता है तो जिसके निमित्त स्नान कराता है उसे तो पूर्ण फल प्राप्त होता ही है स्वयंको भी आठ भाग पुण्यफलकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार माता, पिता, भाई, मित्र तथा गुरु अथवा किसीके निमित्त भी तीर्थमें यदि कोई स्नान करता है, तो उसका बारहवाँ भाग पुण्य उसे भी प्राप्त होता है।
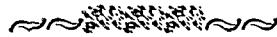
आख्यान—

वेदको तो माने ही, किंतु धर्मशास्त्रकी अवहेलना न करे

[राजा भुवनेश्वरकी कथा]

वेदं गृहीत्वा यः कश्चिच्छास्त्रं चैवावमन्यते।
स सद्यः पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम्॥

(अत्रिसंहिता-११)

भाव यह है कि यदि कोई वेदको परम प्रमाण मानकर उसे परम सम्मान प्रदान करता है तो वह ठीक ही करता है; क्योंकि धर्मके विषयमें वेदको ही सबसे बड़ा प्रमाण माना गया है—'**धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः**' (मनु० २। १३), इसलिये वेदको तो मानना ही चाहिये और उसे परम सम्मान देना ही चाहिये, किंतु यह मान्यता अन्धश्रद्धाका रूप न लेने पाये। ऐसा न हो कि वेदको मानकर कोई स्मृति आदि अन्य शास्त्रकी अवमानना करने लगे। यदि कोई ऐसा करता है तो उसे पापका भागी होना पड़ता है। उसके परिणामस्वरूप उसे पशु भी बनना पड़ेगा।

भुवनेश्वर नामके एक राजा थे। वे वेदके परम भक्त थे। उन्होंने हजार अश्वमेध, दस हजार वाजपेय यज्ञ किये थे। करोड़ों गौओंका दान किया था। वस्त्रों, रथों, घोड़ोंके दानकी तो कोई सीमा ही नहीं थी। इस तरह राजा भुवनेश्वर वैदिकी रीतिका बहुत आदरसे पालन कर रहे थे।

वेदका परम भक्त होना तो मनुष्यका सबसे बड़ा गुण है और यह गुण राजा भुवनेश्वरमें कूट-कूटकर भरा था, किंतु धर्मशास्त्र न जाननेके कारण इनमें एक बहुत बड़ा दोष भी आ गया था। वह दोष यह था कि वे स्मृति आदि शास्त्रोंकी अवमानना करने लगे थे। जो अत्रिस्मृतिके अनुसार घोर पाप है। एकाङ्गी दृष्टि तो घातक होती ही है।

राजा भुवनेश्वरने अपने राज्यमें घोषणा करा दी थी कि परम पुरुष परमात्माका पूजन लोग केवल वेदसे ही करें। कोई व्यक्ति ताल-स्वरसे ईश्वरका गान न करे। यदि कोई व्यक्ति गानयोगसे ईश्वरकी पूजा करेगा तो उसको फाँसी दे

दी जायगी। राजाज्ञा यही है कि सब लोग वेदसे ही ईश्वरकी स्तुतियाँ करें—

वध्यः सर्वात्मना तस्मात् वेदैरीड्यः परः पुमान्॥

(अद्भुतरामायण ६। ५१)

इस तरह वेदपर अन्ध-श्रद्धा हो जानेपर राजा भुवनेश्वरद्वारा धर्मशास्त्रकी घोर अवहेलना हो गयी। यदि वे धर्मशास्त्र भी पढ़े होते तो उन्हें ज्ञात होता कि धर्मशास्त्र वेदकी प्रतिमूर्ति है और वेदकी प्रतिमूर्तिकी अवमानना वेदकी ही अवमानना है। उन्हें यह भी ज्ञात हो जाता कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये गानयोग सबसे सरस एवं सुगम साधन है। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें यतिधर्मप्रकरणमें पहले वेदके सामगान आदि गानोंके द्वारा मोक्षकी सहज प्राप्ति बतायी गयी है। उसके बाद बताया गया है कि वीणा आदि वाद्योंकी सहायतासे जो गान किया जाता है, उससे अनायास ही मुक्ति मिल जाती है। (याज्ञ० ४। ११५)। किंतु वेदपर अन्ध-श्रद्धा होनेके कारण भुवनेश्वरने धर्मशास्त्रकी घोर अवमानना कर दी और विहित गानपर रोक लगा दी। इसका परिणाम राजाके लिये बहुत ही कष्टप्रद हुआ।

राजा भुवनेश्वरके राज्यमें हरिमित्र नामक एक पहुँचे हुए भक्त रहते थे। वे एक नदीके तटपर विष्णुकी प्रतिमाका विधिपूर्वक पूजन कर बहुत ही प्रेमसे वीणा, ताल और लयके साथ हरिका गान किया करते थे। एक दिन एक राजसेवकने उनका गान सुना। कानून तोड़नेके अपराधमें उसने ब्राह्मणको पकड़कर राजाके सामने खड़ा कर दिया। राजाने भक्तको खूब फटकारा और उसका धन छीनकर अपने राज्यसे बाहर निकाल दिया। इस तरह राजासे घोर पाप हो गया और वह बेचारा उस पापको जान भी न सका।

राजा जब मरा तो परलोकमें उनको उल्लू बनना पड़ा। भूखके मारे उल्लूकी इन्द्रियाँ तिलमिला रही थीं। बेचारा उल्लू चारों तरफ घूम-घूमकर आहारकी खोज करने लगा; किंतु उसे कुछ मिला नहीं। उसने यमराजसे पूछा—भगवन्! जब मैं पृथ्वीपर राजा था, मैंने बहुतसे यज्ञ किये थे और अन्न आदिके दान भी किये थे, फिर भी मुझे यहाँ भोजनतक नहीं मिल रहा है, यह किस पापका परिणाम है। यमराजने बताया—गीतके द्वारा हरि-गान गानेवाले हरिमित्रकी तुमने जो दुर्गति की थी, यह उसीका परिणाम है। उसी पापसे तुम्हारे सारे लोक नष्ट हो गये हैं और जितने दान आदि धर्म किये थे, वे भी सब-के-सब व्यर्थ हो गये हैं। अब तुम्हारे लिये एक ही रास्ता बचा है कि तुम पहाड़की खोहमें चले जाओ और वहीं रहो। वहाँ तुम्हारे पास तुम्हारा मुर्दा शरीर स्वयं आकर उपस्थित होगा, उसीको काटकर खाया करना। यह दुर्गति एक मन्वन्तरतक झेलनी पड़ेगी, उसके बाद तुम कुत्ता बनोगे।

बेचारा उल्लू अब कर ही क्या सकता था। पहाड़में चला गया। भूखके मारे छटपटा रहा था। वहाँ उसका मुर्दा शरीर उसके पास आ पहुँचा। ज्यों ही वह खानेके लिये बढ़ा, त्यों ही परम भक्त हरिमित्रकी दृष्टि उसपर पड़ी। उस समय वे विमानपर बैठकर विष्णुदूतोंके द्वारा विष्णुलोक ले जाये जा रहे थे। उन्होंने उल्लूसे पूछा—अरे पक्षी! यह शरीर तो राजा भुवनेश्वरका है, इसे तू कैसे खाना चाह रहा है। हरिमित्रके दर्शनोंसे उल्लूको बहुत शान्ति मिली। उसने हाथ जोड़कर आदरसे प्रणाम किया और अपनी पूरी दुःखद स्थिति उन्हें सुनायी।

जब हरिमित्रने सुना कि राजाने जो मेरे साथ अनुचित बर्ताव किया था, उसीके फलस्वरूप इसके सारे पुण्य नष्ट हो गये हैं और यहाँ उल्लू बनकर घोर दुर्गति सह रहा है तो उनका भक्त-हृदय कातर हो उठा। उन्होंने कहा—राजन्! तुम्हारे सभी अपराधोंको मैंने क्षमा कर दिया। अब न तो तुम्हें यह मुर्दा ही खाना पड़ेगा और न कुत्ता ही बनना पड़ेगा। अब सभी तरहके आहार तुम्हें प्राप्त होंगे। मेरे अनुग्रहसे तुम्हें गान-विद्या आ जायगी। उसके द्वारा तुम हरिका गान गाया करना। तुम देवता, गन्धर्व और अप्सराओंके आचार्य होओगे। (अद्भुतरामायण—५)

धर्मशास्त्रकी अवमाननाका कितना भयावह और दुःखद परिणाम होता है। राजा भुवनेश्वरके सारे अश्वमेध आदि याग, सब तरहके दान और सब तरहके इष्टापूर्त नष्ट हो गये। उसे उल्लू बनना पड़ा, मुर्दा भी खाना ही पड़ता। जैसा कि अत्रिस्मृतिमें लिखा है, उसे आगे चलकर पशु भी बनना पड़ता, पर एक भक्तकी कृपासे उसकी सारी दुर्गतियाँ नष्ट हो गयीं। जैसे ईश्वर माननेवालेको उसकी मूर्तिका भी सम्मान करना पड़ता है, वैसे वेद माननेवालेको उसकी मूर्ति धर्मशास्त्रका भी सम्मान करना ही चाहिये। (ला० मि०)
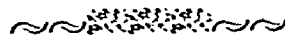
धर्मशास्त्रकार शङ्ख और लिखित तथा उनकी स्मृतियाँ

धर्मशास्त्रकार शङ्ख तथा लिखितका उदात्त चरित्र विश्व-इतिहासमें धर्म, सत्य और ईमानदारीके लिये अद्वितीय आदर्श है। संसारमें इसकी कहीं तुलना नहीं। इन्होंने स्वयं अपने आचरणसे सत्यता, ईमानदारी और अस्तेय-वृत्तिकी अन्तिम कोटिकी स्थापना की और तदनुसार ही शुद्ध धर्मशास्त्रकी रचना की। उपदेशकी बात करना तो सरल है, किंतु उसका अक्षरशः पालन करना बड़ा कठिन है; किंतु शङ्ख तथा लिखितके चरित्रमें वही बातें थीं, जो उन्होंने अपने धर्मशास्त्रके रूपमें उपदिष्ट कीं। यहाँ संक्षेपमें इनका उज्ज्वल चरित्र प्रस्तुत किया जा रहा है—

महात्मा शङ्ख और लिखित—ये दोनों भाई थे। शङ्ख बड़े थे और लिखित छोटे। दोनों महान् तपस्वी थे। बाहुदा नदीके तटपर दोनोंके अलग-अलग आश्रम थे। एक दिनकी बात है, महर्षि शङ्ख अपने आश्रमसे बाहर गये थे, उसी समय महात्मा लिखित भाईके आश्रमपर आये और आश्रममें लगे हुए फलोंको तोड़कर खाने लगे। इसी बीच शङ्ख आश्रमपर लौट आये। छोटे भाईको फल खाते देखकर उन्होंने पूछा—'भैया! तुमने ये फल कहाँसे प्राप्त किये हैं?' इसपर लिखित बोले—'भाई! मैंने ये फल आपके ही आश्रमके पेड़ोंसे लिये हैं।' महर्षि शङ्ख भाईका उत्तर सुनकर कुपित हो गये और बोले—तुमने मुझसे पूछे बिना स्वयं ही फल लेकर खाना प्रारम्भ किया है, यह तुम्हें शोभा नहीं देता, यह तो चोरी है। अधर्मका आचरण है, तुमने यह अनधिकार चेष्टा की है, अतः तुम दण्डके भागी हो। अब तुम राजा सुद्युम्नके पास जाकर उनसे कहना—राजन्! मैंने बिना पूछे ही फल ले लिये, अतः आप मुझे चोर समझकर चोरके लिये जो नियत दण्ड हो उसे दिलाकर इस अधर्माचरणजन्य पापसे मुझे मुक्त कीजिये।

लिखित आज्ञाकारी तो थे ही, बड़े भाईकी आज्ञा स्वीकार कर वे सहर्ष राजा सुद्युम्नके पास गये और कहने लगे—'नृपश्रेष्ठ! मैंने बड़े भाईके दिये बिना ही उनके बगीचेसे फल लेकर खा लिये हैं, अतः हे राजन्! इसके लिये जो उचित दण्ड हो वह आप मुझे प्रदान करें। बिना विचार किये मुझसे जो यह अधर्माचरण बन गया है, उससे मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है। अतः शीघ्र ही मेरे दण्डकी आप व्यवस्था करें।'

राजा सुद्युम्न मुनिश्रेष्ठकी बात सुनकर पहले तो विचलित हुए, किंतु फिर संयत होकर बोले—'महात्मन्! यदि आप दण्ड देनेमें राजाको प्रमाण मानते हैं तो इस नियमसे राजाका यह भी अधिकार बनता है कि वह क्षमा भी कर सकता है। चूँकि आप पवित्र करनेवाले और महान् व्रतधारी हैं, महान् तपस्वी हैं, मैं आपके अपराधको क्षमा करता हूँ।'

किंतु महात्मा लिखितने राजाकी क्षमावाली बात नहीं मानी और वे बार-बार दण्ड देनेका ही आग्रह करते रहे। तब राजाने अपने मन्त्रिगणोंसे दण्ड-विधानका विचार कर उनके दोनों हाथ कटवा दिये। दण्ड पाकर तथा अपनेको शुद्ध समझकर प्रसन्न-मनसे लिखित भाईके पास चले आये। अपने कर्तव्यका पालन करते हुए उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं मालूम हुआ। हाथ कटनेकी पीड़ाका भी उन्हें अनुभव नहीं हुआ, बल्कि उनके मनमें कर्तव्य-पालनका अद्भुत आत्मसंतोष व्याप्त था। भाईके पास पहुँचकर वे कहने लगे—'भैया! मैंने दण्डविधानके अनुसार अपने कर्मका दण्ड पा लिया। अब आप मेरे अपराधको क्षमा कर दें।'

शङ्ख बोले—देखो वत्स! मैं तुमपर कुपित नहीं हूँ, तुमने मेरा कोई अपराध भी नहीं किया है। तुम धर्मके तत्त्वको जाननेवाले भी हो, इस जगत्‌में हम दोनोंका कुल अत्यन्त निर्मल एवं निष्कलंक-रूपमें विख्यात है, किंतु तुमने धर्मका उल्लंघन किया था, अतः उसीका प्रायश्चित्त किया है। 'धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता।' (महा०, शान्ति० २३। ३८) अब तुम शीघ्र ही बाहुदा नदीके तटपर जाकर विधिपूर्वक देवताओं-ऋषियों और पितरोंका तर्पण करो। भविष्यमें फिर कभी अधर्मकी ओर मन न लगाना—'मा चाधर्मे मनः कृथाः॥' (महा०, शान्ति० २३। ३९)

अपने बड़े भाईकी धर्ममयी एवं यथोचित कर्तव्यमयी वाणी सुनकर लिखितने बाहुदा नदीमें स्नान किया और

पितरोंको तर्पण करनेके लिये ज्यों ही अपने कटे हाथ बाहर निकालनेकी चेष्टा की, उसी समय सहसा उनके दोनों हाथ पूर्वकी स्थितिमें हो गये। यह देखकर लिखितको महान् आश्चर्य हुआ, उन्होंने तर्पण आदि कार्य किया और शीघ्र ही भाईके पास आकर उन्हें अपने पूरे हुए हाथ दिखाये। तब शङ्ख बोले—'भाई! इस विषयमें तुम शंका न करो। मैंने अपनी तपस्याके बलपर तुम्हारे हाथ पूरे कर दिये।' इसपर लिखितने पूछा—'भगवन्! जब आपकी तपस्यामें ऐसा बल है तो आपने पहले ही मुझे पवित्र क्यों नहीं कर दिया? व्यर्थमें राजाके पास भेजने और दण्डविधानकी क्या आवश्यकता थी?' इसपर शङ्ख बोले—'भाई! तुम्हारा कहना ठीक है, तपस्याके बलपर मैं पहले ही ऐसा कर सकता था, किंतु धर्मशास्त्रकी मर्यादाके अनुसार दण्ड देनेका अधिकार केवल राजाको है, फिर मैं तुम्हें कैसे दण्ड देता। सभीकी अलग-अलग मर्यादाएँ हैं, उनका अतिक्रमण करना ठीक नहीं। अतः सभीको अपनी-अपनी मर्यादामें रहकर कर्तव्यकर्म करना चाहिये और दूसरेकी वस्तुका उपयोग बिना उसकी अनुमतिके नहीं करना चाहिये।' यह सुनकर लिखितको अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

उपर्युक्त घटना-क्रममें लिखितके जो हाथ ज्यों-के-त्यों तर्पण करते समय निकल आये, मूलतः उसमें धर्मका ही प्रभाव था, कर्तव्यपरायणताका ही चमत्कार था। भारतीय इतिहासमें यह कोई अकेली घटना नहीं है, रावणके सिर भी काटे जानेपर तपस्याके बलसे बराबर निकल आते थे। इसी प्रकार राम-रावण-युद्धमें मरे हुए बानर-भालुओंका पुनर्जीवित हो जाना और सावित्रीका पातिव्रत्यके बलपर यमराजके यहाँसे अपने मरे पति सत्यवान्के प्राणोंका लौटा लाना—इत्यादि घटनाएँ होती रही हैं, जो इतिहासमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अतः इसपर आश्चर्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि धर्म, जप, तप, साधन, भजन आदिमें सारी दिव्य शक्तियाँ निहित रहती हैं, आवश्यकता है—शुद्धरूपसे अपने धर्मपर स्थिर रहनेकी।

इस प्रकार उक्त आख्यानसे महर्षि शङ्ख तथा लिखितके धर्माचरण एवं धर्ममर्यादाका किंचित् परिज्ञान होता है, यहाँ उनकी स्मृतियोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

महर्षि शङ्ख तथा लिखित-विरचित अलग-अलग स्मृतियाँ मिलती हैं, जो 'लघु शङ्खस्मृति', 'शङ्खस्मृति', 'लिखितस्मृति' तथा 'शङ्ख-लिखितस्मृति'के नामसे प्रसिद्ध हैं।[1] यहाँ संक्षेपमें इनका परिचय दिया जा रहा है—

(१) लघु शङ्खस्मृति

जैसा कि नामसे स्पष्ट है कि यह स्मृति आचार्य शङ्खद्वारा विरचित है और कलेवरमें लघुकाय है। वर्तमानमें जो 'लघु शङ्खस्मृति' उपलब्ध होती है, उसके सभी प्रकाशनोंमें प्रायः ७१ के आस-पास श्लोक हैं।

इसके प्रारम्भमें इष्टापूर्त-धर्मकी महिमा गायी गयी है और यह बताया गया है कि इष्ट (यज्ञ-यागादि सत्कर्म) तथा पूर्त (देवमन्दिर, पौसला, तालाब, धर्मशाला, वृक्षारोपण) आदि परोपकारके कार्य करनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है। इष्टकर्मोंसे स्वर्ग-प्राप्ति तथा पूर्त-कर्मोंसे मोक्षकी प्राप्ति बतलायी गयी है—

इष्टेन लभते स्वर्गं मोक्षं पूर्तेन विन्दति॥

(श्लोक १)

अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदाध्ययन, आतिथ्य और वैश्वदेवको इष्ट कहा गया है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव धारणम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥

(श्लोक ५)

और इस इष्टापूर्तको सामान्य द्विजातिके लिये महान् धर्मका साधन बतलाया गया है—

इष्टापूर्ते द्विजातीनां सामान्ये धर्मसाधने।

(श्लोक ६)

जलाञ्जलि कहाँ दी जाय, इस सम्बन्धमें महर्षि शङ्खका कहना है कि—देवताओं तथा पितरोंको जलाञ्जलि जलमें देनी चाहिये और जो असंस्कृत हों तथा मर गये हों, उनके

१-इन दोनोंके एक संयुक्त धर्मसूत्रके उद्धरणोंका उल्लेख भी अनेक निबन्ध-ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है। समयके प्रवाहसे वह इस समय उपलब्ध नहीं दिखायी देता, किंतु आचार्य लक्ष्मीधरने अपने 'कृत्यकल्पतरु'में इस धर्मसूत्रके विवाद एवं व्यवहार-प्रकरणोंका न केवल उल्लेख ही किया है, बल्कि उसपर संस्कृत-भाष्य भी लिखा है।

निमित्त स्थलमें जलाञ्जलि देनी चाहिये—

देवतानां पितॄणां च जले दद्याज्जलाञ्जलिम्।
असंस्कृतमृतानां च स्थले दद्याज्जलाञ्जलिम्॥

(श्लोक ८)

तदनन्तर संक्षेपमें एकादशाह एवं सपिण्डीकरण-श्राद्धका निर्देश है। तत्पश्चात् भक्ष्याभक्ष्य एवं स्पृश्यास्पृश्य-प्रायश्चित्त-विवेकका वर्णन है। और उसके लिये सांतपन, चान्द्रायण आदि व्रतोंका विधान बताया गया है। साथ ही गङ्गामें अस्थिप्रवाहका माहात्म्य, पितृकर्म और गयाश्राद्धकी महिमा तथा पार्वण-एकोद्दिष्ट-श्राद्धोंके नियमोंका वर्णन भी हुआ है। सभी पापोंके उपशमनके लिये आचार्य शङ्खका निर्देश है कि जहाँ-जहाँ अपनी आत्मा अपनेको कोसे या अपनेको ऐसा लगे कि तुमने यह कार्य ठीक नहीं किया, यह अधर्मका आचरण है, पापका आचरण है वहाँ तिलसे होम करे और बार-बार गायत्री-जपका अनुवर्तन तबतक करता रहे, जबतक अन्तर्हृदयसे यह आवाज न आने लगे कि अब पूर्ण शुद्धि हो गयी है—

यत्र यत्र संकीर्णं पश्यत्यात्मन्यसंशयम्।
तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्यावर्तनं तथा॥

(श्लोक ७१)

(२) लिखितस्मृति

महर्षि लिखितद्वारा विरचित लिखितस्मृति तथा लघु शङ्खस्मृतिमें पर्याप्त साम्य है। प्राय: श्लोक भी समान हैं। इसमें कुछ श्लोक अधिक हैं। लघु शङ्खस्मृतिमें लगभग ७१ श्लोक और लिखितस्मृतिमें ९६ श्लोक हैं। इसमें भी प्रारम्भमें लघु शङ्खस्मृतिके समान श्लोकोंमें इष्टापूर्तकर्म-निरूपण, वृषोत्सर्गका फल, गया-पिण्डदानकी महिमा और षोडश श्राद्धों तथा उदकुम्भदानका वर्णन है। अलग-अलग श्राद्धोंमें क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, काल, काम , धुरि, लोचन, पुरूरवा तथा आर्दव नामक इन १० विश्वेदेवोंका परिगणन हुआ है और उनके आमन्त्रणका मन्त्र इस प्रकार दिया है—

आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबला:।
ये यत्र विहिता: श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते॥

(श्लोक ५०)

इष्टि-श्राद्धमें क्रतु और दक्ष तथा वैदिक श्राद्धमें वसु और सभ्य (सत्य), अग्निकार्यमें काल और काम, काम्यमें धुरि तथा लोचन और पार्वण-श्राद्धमें पुरूरवा एवं आर्दव नामक विश्वेदेवोंको निमन्त्रित करना चाहिये।[१]

गङ्गामें अस्थि-प्रक्षेपकी महिमा बताते हुए बतलाया गया है कि जबतक व्यक्तिकी अस्थि परम पुनीत गङ्गाजीमें रहती है, उतने हजार वर्षोंतक वह व्यक्ति स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित रहता है—

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥

(श्लोक ७)

अन्तमें संक्षेपमें स्पृश्यास्पृश्य-विवेक तथा गोवधादिके प्रायश्चित्तका वर्णन है।

(३) शङ्खलिखितस्मृति

महर्षि शङ्ख एवं लिखितद्वारा विरचित एक संयुक्त स्मृति भी उपलब्ध होती है, जो ३२ श्लोकोंमें निबद्ध है। इसमें बलिवैश्वदेव एवं अतिथिकी महिमा, दूसरेके अन्नका भोजन आदि ग्रहण करनेका निषेध एवं राजधर्म बताते हुए राजाके कर्तव्योंका निर्देश किया गया है।

महर्षि शङ्खलिखितका कहना है, जो भोजनसे पूर्व बलिवैश्वदेव-कर्म नहीं करते और अतिथियोंका सत्कार नहीं करते, वे द्विज वेदज्ञ होनेपर भी वृपल ही समझे जाने चाहिये। जो द्विजाति वैश्वदेव किये विना भोजन करते हैं, उनका वह पाक व्यर्थ ही होता है और वे काकयोनि प्राप्त करते हैं[२]।

वैश्वदेवके समय चाहे कोई अभीष्ट व्यक्ति, मूर्ख, पण्डित अथवा शत्रु भी आ जाय तो वह अतिथिरूप है और स्वर्गके लिये सोपानके समान है। उस समय

१-इष्टिश्राद्धे क्रतुर्दक्षो वसु: सभ्यश्च वैदिके। काल: कामोऽग्निकार्येषु काम्येषु धुरिलोचनौ॥
पुरूरवार्द्रवश्चैव पार्वणेषु नियोजयेत्। (श्लोक ५१-५२)

२-वैश्वदेवेन ये हीना आतिथ्येन विवर्जिता:। सर्वे ते वृषला ज्ञेया: प्राप्तवेदा अपि द्विजा:॥
अकृते वैश्वदेवे तु ये भुञ्जन्ति द्विजातय:। वृथा ते तेन पाकेन काकयोनिं व्रजन्ति वै॥ (श्लोक २-३)

दाताको गुणवान् तथा निर्गुणीका विचार नहीं करना चाहिये, श्रद्धापूर्वक उसे भोजन कराना चाहिये। दाताको गुणवान्-गुणहीनका वैसे ही विचार नहीं करना चाहिये जैसे वर्षा फसल तथा घास आदिपर बिना विचार किये समानरूपसे जल बरसाती है—

इष्टो वा यदि वा मूर्खो द्वेष्यः पण्डित एव वा।
प्राप्तस्तु वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥
दातारः किं विचारेण गुणवान् निर्गुणी भवेत्।
समं वर्षति पर्जन्यः सस्यादपि तृणादपि॥

(श्लोक ६-७)

महर्षि शङ्खलिखितने परान्न-भक्षणका निषेध करते हुए कहा है कि अन्नसे ही तेज, मन, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, यश, बल, धृति, श्रुति तथा शुक्रका निर्माण होता है, इसलिये विद्वान् व्यक्तिको चाहिये कि वह दूसरेका अन्न ग्रहण न करे। दूसरेका अन्न ग्रहण करना, दूसरेका वस्त्र लेना, दूसरेके यानपर आरोहण करना, दूसरेकी स्त्रीकी अभिलाषा करना और दूसरेके घरमें वास करना—ये चाहे इन्द्र ही क्यों न हों उनकी भी लक्ष्मीका हरण कर लेते हैं।[१]

राजाके कर्तव्योंका निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो राजा गौएँ, भूमि, स्त्री तथा ब्राह्मणके स्वत्वकी रक्षा नहीं करता, वह ब्रह्मघाती कहलाता है—

गावो भूमिः कलत्रं च ब्रह्मस्वहरणं तथा।
यस्तु न त्रायते राजा तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

(श्लोक २४)

दुर्बल, अनाथ, बाल, वृद्ध, तपस्वियों और अन्यायसे पीड़ित व्यक्तियोंका तथा सभीका रक्षक राजा ही होता है, राजा ही शरण है, राजा ही माता, पिता तथा सभी प्राणियोंकी रक्षा करनेके कारण गुरु भी कहलाता है। दावाग्निमें दग्ध प्राणियोंके लिये राजा शीतल जलसे पूर्ण घड़ेके समान है। पक्षियोंका बल आकाश, मछलियोंका बल जल, दुर्बलका बल राजा और बालकोंका रोना ही बल है। मूर्खका बल मौन रहना, चोरका बल असत्य-भाषण है। ये सभी राजबल हैं, किंतु ये सभी राजबल यज्ञस्वरूप ब्राह्मणद्वारा परिरक्षित होते हैं।

(४) शङ्खस्मृति

महर्षि शङ्खद्वारा विरचित एक बृहत् स्मृति भी प्राप्त होती है, जो अठारह अध्यायोंमें उपनिबद्ध है और इसमें लगभग ३५० श्लोक हैं। १२ वें तथा १३ वें अध्याय गद्य-पद्यमय हैं, दोनोंमें—गद्यमें लगभग २५ सूत्र हैं। इस प्रकार यह स्मृति गद्य-पद्यमय है। अध्यायोंमें श्लोक कम हैं। यहाँ संक्षेपमें प्रत्येक अध्यायका सार दिया जा रहा है—

पहले अध्यायमें ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके अलग-अलग कर्तव्य-कर्मोंका परिगणन करते हुए यह बताया गया है कि क्षमा, सत्य, दर्प तथा शौच (अन्तर्बाह्यकी शुचिता) ये ऐसे सामान्य धर्म हैं जो चारों वर्णोंके लिये परमावश्यक हैं—**'क्षमा सत्यं दमः शौचं सर्वेषामविशेषतः॥'** (१।५) यदि कोई ब्राह्मण है, वह अपने पठन-पाठन, यजन-याजन आदि षट्कर्मोंको तो करता है, किंतु क्षमाशील नहीं है, मिथ्याभाषी है, शम-दम आदि नियमोंका पालन नहीं करता, शौचाचार एवं सदाचारसे हीन है तो फिर उसका उन षट्कर्मोंका करना न करना व्यर्थ ही है। यही बात क्षत्रियादि अन्य वर्णोंके लिये भी समझनी चाहिये।

दूसरे अध्यायमें गर्भाधानसे लेकर यज्ञोपवीततकके संस्कारोंका परिगणन है और उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन—ये तीन संस्कार जन्मके पूर्वके संस्कार हैं। जब गर्भ छठे अथवा आठवें मासका हो जाय, उस समय गर्भस्थ शिशुको उद्दिष्ट कर माताका 'सीमन्तोन्नयन-संस्कार' होता है। जन्म होनेपर 'जातकर्म-संस्कार' और जननाशौच व्यतीत हो जानेपर 'नामकरण-संस्कार' करना चाहिये। चौथे मासमें सूर्यदर्शन, छठे मासमें 'अन्नप्राशन' और 'चूडाकर्म' अपने देशाचारके अनुसार यथासमय करना चाहिये। तदनन्तर द्विजातिको यथासमय अपने बालकका 'उपनयन-संस्कार' कराना चाहिये। निश्चित अवधितक उपनयन न हो पानेकी स्थितिमें उसकी 'व्रात्य' संज्ञा हो जाती है। ऐसे सावित्रीपतित सभी धर्मकर्मोंके अनधिकारी हो जाते हैं। उसके लिये

१-अन्नात् तेजो मनः प्राणांश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलम्। धृतिं श्रुतिं तथा शुक्रं परान्नं वर्जयेद् बुधः॥
परान्नं परवस्त्रं च परयानं परस्त्रियः। परवेश्मनि वासश्च शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥ (श्लोक १६-१७)

प्रायश्चित्त करना चाहिये।

तीसरे अध्यायमें ब्रह्मचारीके धर्म तथा सदाचारका वर्णन है। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह अहंकारका सर्वथा परित्याग कर अत्यन्त विनयसम्पन्न होकर गुरुका सदा हित एवं प्रिय कार्य करता रहे। उन्हें अभिवादन करे, उनकी आज्ञाका पालन करता रहे। गुरुसे पूर्व उठ जाय और बादमें सोये। महर्षि शङ्ख बताते हैं कि माता-पिता और गुरु—ये मनुष्योंके लिये सदैव पूजनीय होते हैं। जो इन तीनोंकी सेवा नहीं करता, पूजा नहीं करता, उन्हें आदर-मान नहीं देता, उसकी सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं—

माता पिता गुरुश्चैव पूजनीयाः सदा नृणाम्।
क्रियास्तस्याफलाः सर्वा यस्यैतेऽनादृतास्त्रयः॥

(३। ३)

चौथे अध्यायमें 'ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच'—इन अष्टविध विवाहोंका संक्षेपमें वर्णन है और बताया गया है कि वस्तुतः भार्या वही कहलाती है, जो गृहस्थीके सभी कार्योंमें अत्यन्त कुशल हो, पतिव्रता हो, जिसके प्राण अपने पतिमें बसते हों और जो संतानयुक्त हो—

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या प्रजावती॥

(४। १५)

पाँचवें अध्यायमें गृहस्थाश्रमीके लिये 'देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ तथा अतिथियज्ञ'—इन पञ्चमहायज्ञोंके नित्य अनुष्ठानका विधान बतलाया गया है, साथ ही गृहस्थाश्रमकी महिमा और अतिथि-सेवाका माहात्म्य निरूपित है।

छठे अध्यायमें वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमोंके धर्मोंका निरूपण है और सातवें अध्यायमें योगका वर्णन है।

महर्षि शङ्खने अपनी स्मृतिके संन्यास-प्रकरणमें योगकी सारभूत बातोंका संग्रह किया है। इनका कथन है कि संन्यासीका जीवन योग-साधनाके बिना निष्प्रयोजनीय हो जाता है, योगसे ही उसे मोक्षकी शिक्षा मिलती है और उसकी प्रत्येक क्रिया योगचर्यासे ही सम्बन्धित रहती है। प्राणायामसे शरीरके सभी रोग और काम-क्रोधादि दोष, धारणासे सभी पाप, प्रत्याहारके अभ्याससे असत्-संसर्गसे प्राप्त होनेवाले सभी दोष-पाप नष्ट हो जाते हैं तथा ध्यानके द्वारा जीवभावमें रहनेवाले सारे दोष नष्ट होकर ईश्वरत्वके लक्षण प्रकट होने लगते हैं, यही योगचर्याका मुख्य उद्देश्य है—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारैरसत्संगान् ध्यानेनानैश्वरान् गुणान्॥

(७। १२)

आठवें अध्यायमें नित्य, नैमित्तिक, काम्य, क्रियाङ्ग, मलकर्षक तथा क्रिया-स्नान—इन षड्विध स्नानोंका वर्णन है। प्रातः किया जानेवाला स्नान नित्य-स्नान है। रजस्वला, शव तथा अन्य प्रकारके अस्पृश्यके स्पर्श हो जानेपर जो स्नान किया जाता है, वह नैमित्तिक स्नान है। पुष्य आदि नक्षत्रोंके समय दैवज्ञद्वारा बोधित जो स्नान है, वह काम्यस्नान कहलाता है। पवित्र मन्त्रोंके जपके लिये, देवता और पितरोंके पूजन आदिमें जो क्रियाङ्गभूत स्नान होता है, वह क्रियाङ्ग स्नान कहलाता है। अभ्यङ्गपूर्वक केवल मलापकर्षणके उद्देश्यसे जो स्नान होता है, वह मलकर्षक स्नान कहलाता है तथा तीर्थों, नदियों, तालाबों एवं कुंडोंमें पुण्यार्जनकी दृष्टिसे जो महास्नान होता है, वह क्रियास्नान कहलाता है। सभी तीर्थ-स्थान पुण्यप्रद और पापोंका नाश करनेवाले हैं, उनमें भी गङ्गाकी विशेष महिमा है—

नद्यः पुण्यास्तथा सर्वा जाह्नवी तु विशेषतः॥

(८। १४)

जिसका मन शुद्ध है, वही मनुष्य तीर्थसेवनका जैसा फल बताया गया है, उसका पूर्ण भागी होता है—

यथोक्तफलदं तीर्थं भवेच्छुद्धात्मनां नृणाम्॥

(८। १६)

नवें अध्यायमें क्रियास्नान—तीर्थस्नानकी विधि तथा उसकी विशेष महिमा बतलायी गयी है। दसवें अध्यायमें हाथोंमें विविध तीर्थोंको बतलाते हुए आचमनकी विधि, अङ्गस्पर्श तथा संध्याकी महिमा वर्णित है। ग्यारहवें अध्यायमें अघमर्षण-विधि तथा बारहवें अध्यायमें गायत्री-जपकी विधि प्रदर्शित है। गायत्रीकी महिमामें कहा गया है—गायत्री समस्त वेदोंकी जननी है, गायत्री

पापनाशिनी है, गायत्रीसे बढ़कर इस लोक तथा परलोकमें पवित्र और कोई दूसरा नहीं है—

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्॥

(१२। २४-२५)

तेरहवें अध्यायमें तर्पण-विधि वर्णित है। चौदहवें अध्यायमें श्राद्धमें अधिकारी ब्राह्मणोंकी योग्यता तथा श्राद्धके लिये प्रशस्त देशोंका वर्णन किया गया है। पंद्रहवें अध्यायमें जनन एवं मरणके अशौच एवं सोलहवें अध्यायमें द्रव्यशुद्धि, पात्रशुद्धिका वर्णन है और सत्रहवें अध्यायमें प्रायश्चित्त-विधान तथा अन्तिम अठारहवें अध्यायमें पराक, कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, सान्तपन आदि प्रायश्चित्त-व्रतोंको बतलाया गया है। पितरोंकी प्रसन्नतासे क्या-क्या प्राप्त होता है, इसका निर्देश करते हुए कहा गया है—

प्रजां पुष्टिं यशः स्वर्गमारोग्यं च धनं तथा।
नृणां श्राद्धैः सदा प्रीताः प्रयच्छन्ति पितामहाः॥

(१४। ३३)

अर्थात् श्राद्धद्वारा प्रसन्न पितृगण मनुष्योंको सदा उत्तम संतान, पुष्टि, यश, स्वर्ग, आरोग्य तथा श्रेष्ठ धन प्रदान करते हैं।

घटनाएँ—

सत्य-निष्ठाके कुछ आख्यान

शंखस्मृतिने चारों वर्णोंके लिये जो सामान्य धर्म गिनाये हैं, उनमें सत्यका भी परिगणन हुआ है—'**क्षमा सत्यं दमः शौचं सर्वेषामविशेषतः॥**' (शंखस्मृति १। ५)

सत्यकी महत्ता विश्वके सम्पूर्ण धर्म स्वीकार करते हैं। बौधायनस्मृतिमें लिखा है कि मनकी शुद्धि सत्यसे होती है—'**मनः सत्येन शुध्यति**' (प्रथम प्रश्न ५, अ० २)। हिन्दूधर्म तो सत्यको परब्रह्म मानता है—'**सत्यं ब्रह्म**' (ब्रह्मपुराण २२७)। प्रत्येक हिन्दू जनता सत्यरूपी नारायणकी पूजा करती है और उनकी कथाका श्रवण करती है, अतः सत्यकी महिमा अपरम्पार है। सत्यके पालनमें राजा हरिश्चन्द्रने जो वीरता और धीरता दिखायी है, वह विश्व-साहित्यमें बेजोड़ घटना है। इससे हमलोग परिचित हैं। अतः यहाँ सत्य-निष्ठाकी तीन घटनाएँ दी जा रही हैं—

(१) एक चाण्डाल भाईका सत्य-पालन

अवन्ती नगरीके किनारे एक चाण्डाल रहता था, वह संगीतका अच्छा जानकार था। उस संगीतका उपयोग वह भगवान् विष्णुके नाम-कीर्तन या उनकी अवतार-कथाओंमें करता था। भगवान् विष्णुपर उसका अटूट प्रेम था। वह भगवान्के बताये सहज कर्मका आश्रयण कर कुटुम्बका भरण-पोषण करता था। प्रत्येक एकादशीको वह व्रत करता था और मन्दिरके पास जाकर जागरण करता और रातभर संगीतसे भगवान्को रिझाया करता। प्रातःकाल घर आता और सबको खिलाकर पीछे प्रसाद पाता था। उसका यह नियम बहुत दिनोंसे निर्विघ्न चलता आ रहा था।

एक दिन भगवान्को चढ़ाने-हेतु फूल लानेके लिये वह शिप्राके तटवर्ती वनमें गया। वहाँ उसे एक राक्षसने पकड़ लिया और उसे खाना चाहा। भक्तने कहा कि तुम कल मुझे खा लेना। आज मुझे भगवान्के सामने रात्रि-जागरण करना है और उन्हें संगीत सुनाना है, अतः आज मुझे छोड़ दो। इस कार्यमें तुम्हें भी बाधक नहीं होना चाहिये। सम्पूर्ण संसारका मूल सत्य है। उस सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं कल भगवान्की सेवा करके तुम्हारे पास आ जाऊँगा। कल तुम मुझे खा लेना। राक्षसने कहा—जब तुम सत्यकी शपथ खा रहे हो तो जाओ, तुम्हें छोड़ देता हूँ, लेकिन कल अवश्य आना।

चाण्डाल भगवान्का नाम-कीर्तन करते हुए मन्दिरपर आया। उसने पुजारीको फूल दिये। पुजारीने प्रोक्षण कर उन फूलोंको भगवान्पर चढ़ा दिया और आरती कर घर लौट गया। चाण्डाल भाई मन्दिरके बाहर ही भूमिपर बैठ गया और संगीतमय कीर्तनसे वहाँके वातावरणको सिक्त करने लगा। रात बीतनेपर उसने स्नान किया, भगवान्को नमस्कार किया और अपने वचनको सत्य करनेके लिये वह राक्षसके पास जा पहुँचा। राक्षसको विश्वास न था कि चाण्डाल फिर मेरे पास पहुँचेगा। चाण्डालको देखते ही राक्षसके हृदयमें

पूज्य-भाव पैदा हो गया। उसने आदरके साथ पूछा—महाभाग! पहले यह बताओ कि मन्दिरके बाहर बैठकर रातभर जागकर भगवान्‌के कीर्तन करते हुए तुम्हारा कितना समय बीत गया है?

चाण्डालने कहा—बीस वर्ष। राक्षसने कहा—तुम्हारे इस सत्य-पालनके प्रणसे मैं प्रभावित हो गया हूँ और चाहता हूँ कि तुझे छोड़ दूँ, खाऊँ नहीं; किंतु इसके लिये एक शर्त है। वह यह कि तुम एक दिनके जागरण और दर्शनका फल मुझे दे दो। यदि नहीं दोगे तो मैं भी सत्यकी शपथ लेता हूँ कि तुम्हें छोड़ूँगा नहीं, अभी खा जाऊँगा।

भक्त जानता था कि एक रातके जागरणका फल देनेकी अपेक्षा अपना प्राण देना ज्यादा अच्छा है। इसलिये कहा कि तुम भूखे हो मुझे खा जाओ। मैं एक रातका अपना पुण्य तुम्हें देनेको तैयार नहीं हूँ। तुम इधर-उधरकी बात न करो, मुझे खानेके लिये बुलाया था, खा जाओ। राक्षसने कहा कि यदि एक रातका फल नहीं दे सकते तब अन्तिम प्रहरका ही फल दे दो। इससे मेरा भी उद्धार हो जायगा। मातंग भी भक्त था, दयालु था। राक्षसकी दशा देखकर उसके प्रति उसमें करुणा उमड़ आयी और उसने अपने आधे मुहूर्तके जागरणका और संगीतका फल उसे दे दिया। उस दानके प्रभावसे राक्षसको ब्रह्मलोक मिला और एक हजार वर्षतक वहाँ आनन्दसे रहा। (ब्रह्मपुराण २२७-२८)

(२) सत्य-पालनसे राज्य-प्राप्ति

हंगरीके राजा मत्थियसका एक गड़ेरिया था। वह सत्यको परमेश्वर मानकर आदर करता था। उसने प्रण कर लिया था कि प्राण भले चले जायँ, परंतु सत्य बोलना कभी न छोड़ूँगा। धीरे-धीरे उसके सत्य-भाषणका लोहा सब लोग मानने लगे। हंगरीका राजा उस गड़ेरियेको प्राणोंसे बढ़कर मानता था और उसकी प्रशंसा किये बिना उससे रहा नहीं जाता था। एक बार प्रसियाके राजासे उन्होंने गड़ेरियेकी सच्चाईकी प्रशंसा कर दी। प्रसियाके राजाको विश्वास न हुआ कि कोई व्यक्ति इतना सच्चा हो सकता है। उन्होंने कहा—'मैं उसे झूठ बोलनेके लिये विवश कर दूँगा।' हंगरीके राजाको अपने गड़ेरियेकी सत्यनिष्ठापर पूरा-पूरा भरोसा था। उन्होंने दृढ़ताके साथ कहा—'गड़ेरियाको कभी सत्यनिष्ठासे डिगाया नहीं जा सकता।'

प्रसियाके राजाने कहा—'उसे मैं सत्यनिष्ठासे डिगा ही दूँगा।' यदि ऐसा न कर सका तो आधा राज्य आपको दे दूँगा। पर याद रखना यदि उसे सत्यसे डिगा दिया तो तुम्हें आधा राज्य मुझे देना पड़ेगा।' दोनोंने शर्तको स्वीकार कर लिया। मत्थियसके पास सुनहले रंगका एक मेमना था। जब गड़ेरिया मेमनोंको चरागाहमें ले गया, तब प्रसियाके राजाने उसे बहुत बड़ी रकम थमाकर कहा कि यह सुनहला मेमना मुझे दे दो। अपने राजासे कह देना कि उसे भेड़िया उठा ले गया।

गड़ेरियेने विनम्रतासे कहा—'सरकार! मैं झूठ नहीं बोल सकता।' राजाने धनकी रकम बढ़ाते हुए कहा—'लो यह भरी हुई थैली, इससे तुम जीवनभरके लिये सुखी हो जाओगे। तुम्हारा कोई-न-कोई मेमना प्रतिदिन खोता ही रहता है। इस बार भेड़िया तुम्हारे सुनहले मेमनाको उठा ले गया, यह राजासे कह देना। इतना कहनेसे तुम्हारा क्या बिगड़ेगा।' गड़ेरियेने राजा साहबका खूब सम्मान किया और कहा—'सरकार! मैं सत्यकी हत्या नहीं करूँगा, क्षमा करें।' राजा घबड़ा गया। उसे अपना आधा राज्य अपने हाथसे जाता दीख पड़ा। अपनी बेटीसे उन्होंने इस काममें सहायता माँगी। उनकी बेटी एक तो बहुत सुन्दर थी और दूसरे कौन काम कैसे बनाया जाय, उसका तरीका उसे ज्ञात था। राजकुमारी गड़ेरियेके पास आयी और उससे मीठी-मीठी बातें करने लगी। उसे कुछ खिलाया और पीनेके लिये मदिरा दी। पीनेसे गड़ेरियेकी चेतना कमजोर पड़ती गयी। उधर राजकुमारीकी मीठी बातोंमें आकर गड़ेरियेने मेमना राजकुमारीको दे दिया। प्रसियाके राजाके प्रसन्नताकी सीमा न थी। वे समयसे पहले ही मत्थियसके राजमहलमें जा पहुँचे।

इधर गड़ेरियेका जब नशा उतरा, तब वह समझ पाया कि उससे सुनहला मेमना धोखेसे ले लिया गया है, किंतु वह घबराया नहीं; क्योंकि सत्य बोलनेवाले घबराते नहीं। सत्य स्वयं दूध-का-दूध पानी-का-पानी अलग कर देता है। गड़ेरियेने इस घटनाको भरे दरबारमें ज्यों-का-त्यों सुना दिया।

प्रसियानरेश शर्त हार चुके थे। उन्हें आधा राज्य देना पड़ा। मत्थियसने इस आधे राज्यको अपने गड़ेरियेको सौंपते हुए कहा—'यह तुम्हारे सत्य-भाषणका पुरस्कार है।'

उधर प्रसियानरेश भी उस गड़ेरियेकी सत्यनिष्ठाके सामने श्रद्धासे अवनत हो गया। उन्होंने अपनी राजकन्यासे उस गड़ेरियेका विवाह कर दिया।

इस प्रकार सत्यने एक अकिञ्चनको राजा बना दिया।

(३) विद्रोही बालकका सत्य-पालन

स्कॉटलैंडका विद्रोह विफल हो चुका था। विद्रोहियोंको कतारमें खड़ा कर गोलियोंसे उड़ा दिया जाता था। एक दिन उस कतारमें एक पंद्रह वर्षका लड़का भी खड़ा किया गया, सेनापतिको उस बालकपर दया आयी। उसने उसे बुलाकर कहा—'बालक! तुम क्षमा माँग लो, छोड़ दिये जाओगे।' बालकने क्षमा माँगना अस्वीकार कर दिया। तब सेनापतिने उसकी चौबीस घंटेकी छुट्टी कर दी।

बालक घर गया। वहाँ उसने अपनी माँको अपने वियोगमें मूर्च्छित पाया। पानीके छींटे मारकर और अपना मीठा वचन सुनाकर उसने माँको होशमें कर लिया। माँने बालकको देखा, उसे अपार हर्ष हुआ और अपने प्यारसे उसे नहला दिया। दोनोंने सुखपूर्वक कुछ काल बिताया। बच्चेको अपना वचन निभाना था, समयपर कैम्प पहुँचना आवश्यक था। उसने माँके पैर छुए और कहा—'माँ! मुझे चौबीस घंटेके लिये छुट्टी मिली है, अब मुझे वहाँ समयपर उपस्थित होना आवश्यक है। राष्ट्रके साथ-साथ सत्यकी भी रक्षा करना धर्म है। अब मैं तुम्हें ईश्वरके हाथमें सौंपता हूँ।'

सेनापतिने सोचा था कि जो चौबीस घंटेके लिये घर जाता है, वह लौटकर कभी नहीं आता, अतः बालक भी नहीं लौटेगा; किंतु बालक ठीक समयसे सेनापतिके सामने सशरीर खड़ा था। बालकने मुसकराते हुए कहा—सर! मैंने अपने वचनके पालनमें असावधानी नहीं की है।

सेनापति बालककी सत्यनिष्ठासे अभिभूत हो गया। उसने उसकी मुक्तिका आदेश-पत्र लिख दिया।

(ला० मि०)
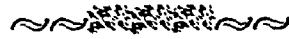
धर्मका आचरण तथा अधर्मका त्याग

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

सदाचार (सत् आचरण)-से दीर्घ आयुकी, सदाचारसे मनोवाञ्छित संतानकी, सदाचारसे अक्षय धनकी प्राप्ति होती है और सदाचारसे अकल्याणकारी बुरे लक्षणोंका नाश होता है।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

दुराचार (बुरे आचरण)-से मनुष्य जगत्‌में निन्दित होता है, सदा दुःख पाता है, रोगी रहता है और छोटी आयुवाला होता है।

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः। श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

कोई भी और लक्षण न हो, मनुष्य केवल सत् आचरण करे, श्रद्धावान् हो, किसीके गुणोंमें दोष न देखे तो वह सौ वर्षोंतक जीता है।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्। हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥

जो मनुष्य अधार्मिक होता है, असत्यसे धन कमाता है और नित्य हिंसामें लगा रहता है, वह इस लोकमें सुख नहीं पाता।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥

अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह धर्मसे रहित (अधर्मसे मिलनेवाले) धन और भोगका त्याग कर दे। परिणाममें दुःख देनेवाले धर्म (धर्मवत् प्रतीत होनेवाले कर्म)-को भी त्याग दे और लोकनिन्दित कर्मोंका भी परित्याग कर दे।

(मनुस्मृति अ० ४)
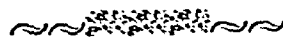
महामुनि मार्कण्डेय और उनके धर्मोपदेश [मार्कण्डेयस्मृति]

(डॉ० श्रीबसन्तबल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

महामुनि मार्कण्डेय कालजयी महात्मा हैं। ये भृगुकुलमें उत्पन्न हैं और तपोनिधि महर्षि मृकण्डुके पुत्र हैं। मृकण्डुके पुत्र होनेसे ही ये मार्कण्डेय कहे जाते हैं। ये महान् ज्ञानी, योगी, तपस्वी और उत्तम कोटिके भक्त हैं तथा दिव्य योगज्ञानसे सम्पन्न हैं और आज भी अजर-अमर हैं। इन्होंने युगोंके अन्तमें होनेवाले अनेक महाप्रलयोंके दृश्य देखे हैं। जब यह संसार देवता, दानव, अन्तरिक्ष तथा सम्पूर्ण जीव-निकायसे शून्य हो जाता है, सर्वत्र जल-ही-जल भर जाता है, उस प्रलयकालमें भी ये भगवद्गुणानुवादमें निमग्न रहते हुए बने रहते हैं। ये भगवान् नारायणके समीप रहनेवाले भक्तोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, सबको मारनेवाली मृत्यु तथा शरीरको जर्जर बना देनेवाली जरा इनका स्पर्श नहीं कर पाती, इसीलिये सहस्रों वर्षोंकी अवस्थावाले महातपस्वी मार्कण्डेयजी बड़े-बूढ़े होनेपर भी २५ वर्षकी अवस्थावाले युवाकी भाँति दिखलायी देते हैं।[१] ये चिरजीवी कहलाते हैं और दीर्घ आयु, ओज, बल, आरोग्य, रूप, श्रेष्ठ सम्पत्ति, उत्तम कीर्ति तथा भगवत्प्रीतिकी कामनासे जन्मोत्सव-वर्धापन आदि संस्कारोंमें इनका विशेष पूजन किया जाता है और निम्न मन्त्रोंसे इनकी प्रार्थना की जाती है—

मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन।
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थमस्माकं वरदो भव॥
चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने।
रूपवान् वित्तवांश्चैव श्रियायुक्तश्च सर्वदा॥

धर्माचरणसे अनुस्यूत इनका जीवन-दर्शन जैसे उदात्त, उज्ज्वल, परोपकारी, निःस्पृह और शिक्षा ग्रहण करने योग्य है, वैसे ही इनके धर्मोपदेश महान् कल्याणकारी हैं। धर्मके निगूढ तत्त्वों तथा भूत-भविष्य आदिका इन्हें हस्तामलकवत् परिज्ञान है। भगवान्के ध्यानमें निरत रहते हुए ये सर्वत्र विचरण करते हुए जीवोंका कल्याण करते रहते हैं। अधिकारी पुरुषोंको आज भी उनके दर्शन होते हैं। उनकी अपनी स्वयंके लिये कोई कामना नहीं, कोई आसक्ति नहीं, बस केवल संयम-नियम, ब्रह्मचर्य, सदाचार, धर्माचार, तप, त्याग, तपस्यामें रत रहते हुए जीवोंको भगवत्प्राप्तिके मार्गमें प्रवृत्त करना यही उनकी मुख्य चर्या है।

मार्कण्डेयजीके दीर्घजीवी होनेका रहस्य
[अभिवादनसे अमरत्व]

सभी धर्मशास्त्रकारोंने 'अभिवादनशीलता'को महान् धर्म और सदाचारका मुख्य लक्षण बतलाया है। महाराज मनुने अपनी स्मृतिके प्रारम्भमें ही अभिवादनशील व्यक्तिको दीर्घ आयु, सद्विद्या, उत्तम यश और महान् बल-पराक्रमकी सहज ही प्राप्ति बतलायी है[२]। मूलतः महर्षि मार्कण्डेयजी अभिवादनशीलताके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। उनमें विनय, नम्रता, शिष्टाचार, मर्यादा-रक्षण, अभिवादनशीलता, श्रेष्ठ जनों, वृद्धों तथा गुरुजनोंके प्रति आदर-बुद्धि, सेवा-भाव आदि सद्गुण स्वभावसे ही भरे हुए थे और नित्य विप्रोंके अभिवादन करनेसे जो उन्हें आशीर्वाद प्राप्त हुआ, उसीसे वे कल्पकल्पान्तजीवी और सदाके लिये अजर-अमर हो गये। अपने इस धर्माचरणसे मार्कण्डेयजीने यह संदेश दिया है कि अपने माता-पिता, गुरु तथा श्रेष्ठ जनोंको सदा प्रणाम करना चाहिये और विनीत-भावसे सदा उनका अभिवादन करना चाहिये, इससे दीर्घायु प्राप्त होती है और जीवन सफल हो जाता है।

पुराणों[३]में कथा आती है कि जब मार्कण्डेयजी ५ वर्षके थे, एक दिन वे अपने पिता महर्षि मृकण्डुजीकी गोदमें

१-अजरश्चामरश्चैव रूपौदार्यगुणान्वितः। व्यदृश्यत तथा युक्तो यथा स्यात् पञ्चविंशकः॥ (महाभारत, वनपर्व १८३। ४२-४३)

२-(क) अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ (मनु० २। १२१)

(ख) मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्। आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत्॥ (महाभारत, अनु० १०४। ४३-४४)

३-स्कन्दपुराण, नागरखण्ड अ० २२, पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड अ० ३३ इत्यादि।

खेल रहे थे, उसी समय संयोगसे एक महाज्ञानी दैवज्ञ वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने उस बालकके विशिष्ट लक्षणोंको देखकर महर्षि मृकण्डुसे कहा—'मुने! आपका यह बालक कोई सामान्य बालक नहीं है, यह दैवीगुणोंसे सम्पन्न है और इससे संसारका महान् कल्याण होनेवाला है। इसके शरीरमें जो शुभ लक्षण हैं, ऐसे लक्षण किसीमें हों तो वह अजर-अमर होता है, किंतु इस बालकमें एक विशेष लक्षण है, जिससे सूचित होता है कि आजके दिनसे ६ महीने होते ही इसकी मृत्यु हो जायगी। अतः आप इसके लिये जो हितकर कार्य हो सो कीजिये।' ऐसा कहकर वे सिद्ध महात्मा चले गये।

महात्माओंकी बात झूठ होती नहीं, अतः मृकण्डुजी सोचमें पड़ गये और बालककी मृत्यु कैसे टले, यह विचार करने लगे। कुछ सोचकर उन्होंने समयसे पहले ही बालकका यज्ञोपवीत-संस्कार कर दिया और फिर उसे धर्ममय कर्तव्यका उपदेश देते हुए कहा—'बेटा! तुम जिस किसी भी ब्राह्मणको देखना, उसे अवश्य विनयपूर्वक प्रणाम करना।'—

यं कंचिद्वीक्षसे पुत्र भ्रममाणं द्विजोत्तमम्।
तस्यावश्यं त्वया कार्यं विनयादभिवादनम्॥

(स्कन्द०, नाग० २२। १७)

—ऐसा निर्देश देकर मृकण्डुजी निश्चिन्त हो गये; क्योंकि वे ब्राह्मणोंके आशीर्वादकी शक्ति एवं महत्तासे भलीभाँति परिचित थे। ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे कालपर भी विजय पायी जा सकती है।

बालक मार्कण्डेयने पिताकी आज्ञा सहर्ष स्वीकार की। कल्पकल्पान्तरीय भगवत्कृपाका संबल तो उनके पास था ही, अब वे अभिवादन-व्रतमें स्थित हो गये। जो भी श्रेष्ठ जन दीखते, मार्कण्डेयजी बड़े ही भक्ति एवं विनयपूर्वक उन्हें प्रणाम करते। इस प्रकार छः महीने बीतनेमें केवल तीन दिन शेष रह गये। इसी बीच तीर्थयात्रापरायण सप्तर्षिगण उधर आ निकले, जहाँ वटुवेषमें मार्कण्डेयजी खड़े थे। उनका दर्शन कर मार्कण्डेयजीको बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक बड़े ही विनीत भावसे बारी-बारी सभी महर्षियोंको प्रणाम किया और सबने पृथक्-पृथक् 'दीर्घायु' होनेका आशीर्वाद दिया। महर्षि वसिष्ठजीने उस बालककी ओर जब ध्यानसे देखा तो वे समझ गये और सप्तर्षियोंसे कहने लगे—'अरे! यह महान् आश्चर्य है जो हमलोगोंने इस बालकको 'दीर्घायु' होनेका आशीर्वाद दे दिया, क्योंकि इस बालककी तो केवल तीन दिन ही आयु शेष रह गयी है, अतः अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिये। जिससे हमलोगोंकी बात झूठी न हो। क्योंकि हमलोगोंका आशीर्वाद भी झूठा नहीं हो सकता और विधाताका विधान भी असत्य नहीं हो सकता। अतः इस बालकके चिरजीवी होनेकी कोई युक्ति निकालनी चाहिये।'

तदनन्तर सप्तर्षिगण परस्पर विचार करके इस निश्चयपर पहुँचे कि 'ब्रह्माजीको छोड़कर दूसरा इसके जीवनका कोई उपाय नहीं है, अतः इस बालकको उनके पास ले जाकर उन्हींकी आज्ञासे चिरजीवी बनाना चाहिये।' ऐसा निर्णय करके वे उस बालकको लेकर शीघ्र ही ब्रह्मलोक जा पहुँचे। सप्तर्षियोंने ब्रह्माजीको प्रणाम किया। बालकने भी ब्रह्माजीके चरणोंमें मस्तक झुकाया। तब ब्रह्माजीने उन्हें 'दीर्घायु' होनेका आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् ब्रह्माजीने सप्तर्षियोंसे आनेका प्रयोजन और उस बालकके सम्बन्धमें पूछा तो उन्होंने सारी घटना उन्हें निवेदित कर दी और यह भी कहा कि 'प्रभो! आपने भी इसे यशस्वी, विद्वान् तथा दीर्घायु होनेका आशीर्वाद दिया है। अतः अब आप और हम सब सत्यवादी बने रहें, हमारी बात झूठी न होने पाये, ऐसा कोई उपाय आप करें।'

उनकी बात सुनकर ब्रह्माजी मुस्करा उठे और कहने लगे—'मुनिवरो! आपलोग चिन्तित न हों। इस बालकने अपने विनय और अभिवादनके बलपर कालको भी जीत लिया है।' तब ब्रह्माजीने विचार कर अपनी विशिष्ट शक्तिसे मार्कण्डेयजीको अजर-अमर तथा जरामुक्त होनेका वर प्रदान किया और उन्हें घर पहुँचानेका निर्देश भी दिया। सप्तर्षिगण बालकको आश्रममें पहुँचाकर पुनः तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। मार्कण्डेयजीने सारी घटना माता-पिताको बता दी, जिसे सुनकर चिन्तातुर माता-पिता भी प्रसन्न हो गये।

× × ×

मार्कण्डेयजी तप और स्वाध्यायमें रत हो गये। हिमालयकी गोदमें पुष्पभद्रा नदीके किनारे वे भगवान् नर-नारायणकी आराधना करने लगे। उनका चित्त सब ओरसे हटकर भगवान्में ही लगा रहता। अधोक्षजका ध्यान करते हुए मार्कण्डेयजीको ६ मन्वन्तरका काल बीत गया। इन्द्रको उनके तपसे भय होने लगा कि कहीं ये मेरा ऐन्द्र-पद न छीन लें। उनके तपमें विघ्न करनेके लिये उन्होंने वसन्त, कामदेव तथा पुञ्जिकस्थली नामक अप्सराको भेजा, किंतु मुनि तो सर्वथा वीतराग हो चुके थे। भला भगवान्में जिसका चित्त लग गया हो उसे कौन ऐसा है, जो लुभा सकता है। भगवान्की कृपासे उनके हृदयमें कोई विकार नहीं उठा, उनकी ऐसी एकतानता देख कामदेव आदि भयभीत होकर वापस लौट गये। मार्कण्डेयजीमें कामको जीत लेनेका गर्व भी नहीं आया, वे उसे भगवान्की कृपा समझकर और भी भावनिमग्न हो गये। उनकी ऐसी निश्छल प्रीति देखकर भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि नरनारायण-रूपमें उनके सामने प्रकट हो गये। मार्कण्डेयजी उनके चरणोंमें लेट गये और उनकी स्तुति करने लगे। प्रसन्न हो भगवान्ने वर माँगनेको कहा। मुनि बोले—'प्रभो! आपके श्रीचरणोंका दर्शन हो जाय, इतना ही प्राणीका परम पुरुषार्थ है। मेरे लिये अब और क्या पाना शेष रह गया है, तथापि मेरी यह इच्छा है कि जिस आपकी मायासे यह सत् वस्तु भेदयुक्त प्रतीत होती है, उस मायाको मैं देखना चाहता हूँ।' भगवान् 'एवमस्तु' कहकर बदरीवनकी ओर चले गये और मार्कण्डेयजी पुनः भगवान्की आराधना, ध्यान तथा पूजनमें लग गये।

सहसा एक दिन ऋषिके सामने महाप्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया। समस्त पृथ्वी जलमें डूब गयी। सूर्य, चन्द्र, तारोंका कहीं पता नहीं था। सब ओर घोर अन्धकार व्याप्त हो गया। बात-की-बातमें सर्वत्र जल-ही-जल हो गया। उस अनन्त भीषण महार्णवमें एक अकेले मार्कण्डेयजी ही रह गये। बड़े-बड़े मगर आदि समुद्री जीव-जन्तुओंको देखकर मार्कण्डेयजी भयभीत हो उठे। उसी प्रलय-समुद्रमें थपेड़े खाते हुए व्याकुल हो वे डूबते-उतराते रहे। ऐसे ही भगवान्की मायाके वशीभूत हुए उन्हें उस प्रलयार्णवमें बहुत समय व्यतीत हो गया।

घबड़ाकर मुनिने भगवान्का स्मरण किया और उसी समय उन्हें प्रलय-समुद्रमें एक विशाल वटवृक्ष दिखलायी पड़ा। मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ कि जब सब कुछ जलमें डूबा है तो वह वटवृक्ष कैसे नहीं डूबा, कहाँसे आ गया। कुतूहलवश वे समीपमें गये और उन्होंने देखा कि वटवृक्षकी एक शाखामें पत्तोंके दोनेमें एक तेजस्वी बालक सोया है, जिसके प्रकाशसे सारी दिशाएँ आलोकित हो उठी हैं, उसके कर एवं चरण लाल-लाल अत्यन्त सुकुमार हैं, नवीन श्यामवर्णके समान आभा है, सुन्दर मुखमण्डलपर मधुर मन्द हास्य है। वह शिशु अपने हाथोंकी सुन्दर अँगुलियोंसे दाहिने चरणको पकड़कर उसके अँगूठेको मुखमें लिये चूस रहा है, मनोहरमूर्ति बालकको देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके दर्शनमात्रसे उनकी सारी व्यथा दूर हो गयी, रोमाञ्च हो आया, हाथ जुड़ गये और वे स्तुति करने लगे—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि॥

वे भगवान्को गोदमें लेने और समीप जा उठे, लेकिन यह क्या! भगवान्की तो माया चल ही रही थी, उस बालकके श्वास खींचते ही वे नासिका-मार्गसे उनके उदरमें जा पहुँचे और वहाँ उन्हें अनन्त ब्रह्माण्डोंका, भगवान्के विराट्स्वरूपका तथा अपना आश्रम और फिर वही प्रलयकालीन दृश्य दिखलायी पड़ा। मुनि भयभीत हो उठे। कुछ क्षणोंके अनन्तर उसी बालमुकुन्दकी प्रेरणासे वे श्वासके द्वारा बाहर उसी प्रलय-समुद्रमें आ गये। उन्हें वही गर्जन करता समुद्र, वही वटवृक्ष और उसपर वही अद्भुत सौन्दर्यघन मन्दस्मित हासयुक्त शिशु दिखलायी पड़ा। आश्चर्यचकित हो उसे आलिङ्गन करना ही चाहते थे कि भगवान् अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही वह वटवृक्ष, वह प्रलय-समुद्र सारा-का-सारा क्षणभरमें विलीन हो गया। मुनिने देखा कि वे तो अपने आश्रमके पास पुष्पभद्रा नदीके तटपर पहले जैसे बैठे थे, वैसे ही बैठे हैं। भगवान्की कृपा समझकर मुनिको बड़ा ही आनन्द हुआ। भगवान्से उन्होंने उनकी मायाको देखनेकी इच्छा प्रकट की थी तो मायेश्वर भगवान्ने क्षणभरमें महामुनिको मायाका खेल दिखा दिया कि किस

प्रकार उन सर्वेश्वरके भीतर ही समस्त ब्रह्माण्ड हैं, उन्हींसे सृष्टिका विस्तार होता है और फिर सृष्टि उनमें ही लय हो जाती है। अब तो और अधिक भाव-विभोर हो उन्होंने भगवान्‌की शरण ग्रहण की और वे ध्यान लगाकर बैठ गये।

इसी समय नन्दीपर बैठे देवाधिदेव भगवान् शंकर माता पार्वतीके साथ उधर आ निकले। मुनिको शान्तभावसे बैठे देखकर पार्वतीजी भगवान् शंकरसे बोलीं—'भगवन्! ये कोई महातपस्वी मुनि मालूम होते हैं, आप इनपर कृपा कीजिये, क्योंकि तपस्वियोंकी तपस्याका फल देनेमें आप ही समर्थ हैं।'

शंकर बोले—देवि! ये और कोई नहीं महातपस्वी महामुनि मार्कण्डेयजी हैं, ये भगवान् नारायणके अनन्य भक्त हैं, ऐसे भक्त कामनाहीन होते हैं, इन्हें मोक्षकी भी आकांक्षा नहीं, फिर सांसारिक सुखोंकी क्या बात है, ऐसे भगवद्भक्तोंका दर्शन एवं वार्तालापका अवसर बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होता है, अतः इनके समीप चलना चाहिये। मार्कण्डेयजी ध्यानमें निमग्न थे, उन्हें भगवान् शंकरजीका आना मालूम न हुआ। तब शंकरजीने योगबलसे उनके शरीरमें प्रवेश किया। मुनिकी समाधि टूटी, आँखें खुलीं तो उन्होंने सामने भगवान् शंकर और माता पार्वतीको प्रसन्नमुद्रामें पाया। मुनिने बड़ी ही भक्तिसे उन्हें प्रणाम किया और उनका पूजन किया। भक्तवत्सल भगवान् शंकरने उनसे वरदान माँगनेको कहा। मुनिने प्रार्थना की—'दयामय! मैं तो आपके दर्शनमात्रसे कृतार्थ हो गया, तथापि मेरी यही प्रार्थना है कि भगवान् अच्युत और उनके भक्तोंमें तथा आपमें मेरी अविचल भक्ति बनी रहे।'

भगवान्‌ने 'एवमस्तु' कहकर मुनिको कल्पकल्पपर्यन्त अटल कीर्ति रहने और अजर-अमर होनेका वर प्रदान किया और त्रिकालविषयक ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य तथा ब्रह्मवर्चस्वी और पुराणोंका आचार्य होनेका भी वर दे दिया।[1]

वर देकर भगवान् शंकर चले गये और मार्कण्डेयजी भगवान् शंकरकी कृपा प्राप्त कर साधन-भजनमें लग गये।

मार्कण्डेयजीपर भगवान् शंकरकी कृपा पहलेसे ही थी। पद्मपुराण उत्तरखण्डमें आया है कि इनके पिता मुनि मृकण्डुने अपनी पत्नीके साथ घोर तपस्या करके भगवान् शिवजीको प्रसन्न किया और उन्हींके वरदानसे मार्कण्डेयजीको पुत्ररूपमें पाया। भगवान् शंकरने उसे सोलह वर्षकी आयु उस समय दी। सोलहवाँ वर्ष आरम्भ होनेपर मृकण्डु मुनिका हृदय शोकसे भर गया। पिताजीको उदास देखकर जब उदासीका कारण पूछा तो मृकण्डुजीने कहा—'बेटा! भगवान् शंकरने तुम्हें सोलह वर्षकी आयु दी है और उसकी समाप्तिका समय समीप आ पहुँचा है।' इसपर मार्कण्डेयजी बोले—'पिताजी! आप शोक न करें। मैं भगवान् शंकरको प्रसन्न करके ऐसा यत्न करूँगा कि मेरी मृत्यु हो ही नहीं।' तदनन्तर माता-पिताकी आज्ञा लेकर मार्कण्डेयजी दक्षिण समुद्रके तटपर गये और वहाँ विधिपूर्वक शिवलिङ्गकी स्थापना करके आराधना करने लगे। समयपर उन्हें लेनेके लिये 'काल' आ पहुँचा। मार्कण्डेयजीने कालसे कहा—'मैं मृत्युञ्जयस्तोत्रसे भगवान् शंकरका स्तवन कर रहा हूँ, इसे पूरा कर लूँ, तबतक तुम ठहर जाओ। मैंने भगवान् चन्द्रशेखरकी शरण ग्रहण की है, तुम मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते।' काल बोला—'ऐसा नहीं हो सकता।' तब मार्कण्डेयजीने भगवान् शंकरके लिङ्गको कसकर पकड़ लिया और कालको बहुत फटकारा। कालने क्रोधमें भरकर ज्यों ही उन्हें हठपूर्वक ग्रसना चाहा, त्यों ही महादेवजी उसी लिङ्गसे प्रकट हो गये और गर्जना करते हुए उन्होंने कालकी छातीमें लात मारी। मृत्यु देवता उनके चरणप्रहारसे पीडित होकर दूर जा पड़े। तब मार्कण्डेयजी उसी स्तोत्र[2]से भगवान्‌की आराधना करने लगे। इस प्रकार भगवान् शंकरकी कृपासे उन्होंने कालपर भी विजय पा ली और वे सदाके लिये अजर-अमर हो गये।

१-कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे। आकल्पान्ताद् यशः पुण्यमजरामरता तथा॥
ज्ञानं त्रैकालिकं ब्रह्मन् विज्ञानं च विरक्तिमत्। ब्रह्मवर्चस्विनो भूयात् पुराणाचार्यतास्तु ते॥
(श्रीमद्भा० १२। १०। ३६-३७)

२-महामुनि मार्कण्डेयजीद्वारा की गयी यह स्तुति 'मृत्युञ्जयस्तोत्र' के नामसे प्रसिद्ध है। यह अमोघ फलदायी है। इससे भक्तिभावपूर्वक आराधना करनेपर भगवान् शंकरकी कृपासे कालको भी जीता जा सकता है। उस स्तुतिका एक पद यहाँ दिया जा रहा है—

रत्नसानुशरासनं रजताद्रिशृंगनिकेतनं शिञ्जिनीकृतपन्नगेश्वरमच्युतानलसायकम्।
क्षिप्रदग्धपुरत्रयं त्रिदशालयैरभिवन्दितं चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥

मार्कण्डेयजीके धर्मोपदेश

महर्षि मार्कण्डेयजी धर्मके तत्त्व-रहस्यको भलीभाँति जाननेवाले हैं। विनय एवं अभिवादनशीलताकी तो वे प्रतिमूर्ति हैं। मार्कण्डेयपुराणकी आचार्यतासे भी उनकी जीवन-प्रणालीकी मुख्य प्रक्रिया सर्वत्र प्रतिध्वनित होती दीखती है। मार्कण्डेयपुराणोक्त श्रीदुर्गासप्तशतीमें प्रधानरूपसे प्रणाम, नमस्कार, अभिवादन आदिसे भगवतीकी पूर्ण कृपाकी बात निर्दिष्ट है। '**नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै**' आदि पदोंकी पूर्णभावसे प्रणति यही सिद्ध करती है कि महर्षि मार्कण्डेयजी समस्त स्थावर-जंगम प्राणियोंमें भगवतीको सदा देखते हुए नित्य नमस्कार करते रहते हैं। यदि मार्कण्डेयजीका यह प्रणाम करनेका अन्तर्भाव दैवयोगसे सबकी बुद्धिमें उतर जाय तो एक ही क्षणमें सारे विश्वमें परस्पर सद्भावना हो जानेके कारण परम शान्ति छा जाय।

प्राणियोंको कौनसे कर्म करने, कौनसा आचरण करनेसे परम कल्याणकी सहज ही प्राप्ति हो सकती है, कौन-सा श्रेयका मार्ग है, क्या करणीय है, क्या अकरणीय है, इस दृष्टिसे परम दयालु महर्षिने सुन्दर उपदेश दिये हैं, जो बड़े ही कल्याणकारी और महत्त्वके हैं, इन उपदेशोंका आचरण करनेसे जीवोंको अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है। इनके नामसे एक धर्मशास्त्र प्राप्त होता है, जो 'मार्कण्डेयस्मृति'के नामसे विख्यात है। उसमें महर्षिजीके धर्मोपदेश उपनिबद्ध हैं। शौनकादि ऋषि-महर्षियोंने महर्षि मार्कण्डेयजीसे धर्माचरणके तत्त्व-रहस्योंके प्रति जिज्ञासा करनेपर उन्हींके उत्तरमें जो उपदेश उन्हें दिये, वे ही 'मार्कण्डेयस्मृति'के नामसे प्रसिद्ध हैं। यह स्मृति काफी बड़ी है। इसी प्रकार मार्कण्डेयजीको भगवान्‌के वरदानसे पुराणोंका आचार्यत्व प्राप्त था। मार्कण्डेयपुराणके प्रवक्ता मार्कण्डेयजी हैं। जिसके १३ अध्यायोंमें दुर्गासप्तशतीके नामसे भगवती दुर्गादेवीका माहात्म्य और उनकी सम्पूर्ण जगत्‌पर अपार दया तथा करुणाकी अमृतमयी गाथा भरी है। इसी प्रकार स्कन्द (रेवाखण्ड) आदि पुराणोंमें महर्षिके बड़े ही उपयोगी वचन प्राप्त होते हैं। महाभारतके वनपर्वमें युधिष्ठिरजीको जो धर्मशिक्षा प्राप्त हुई, वह महर्षि मार्कण्डेयकी ही देन है, जो 'मार्कण्डेय-समास्यापर्व'के नामसे अभिहित है। इसी प्रकार अन्यत्र भी उनके बहुतसे वचन प्राप्त होते हैं, यहाँ संक्षेपमें सबका सारमात्र दिया जा रहा है—

अक्षय-लोकोंकी प्राप्ति किसे होती है?

महर्षि मार्कण्डेयजीने कुछ ऐसे सत्कर्मोंका परिगणन किया है, जिनके कर्ता सदा आनन्दपूर्वक रहते हुए अन्तमें अक्षय लोक प्राप्त करते हैं। वास्तवमें मानवोंके लिये मार्कण्डेयजीद्वारा बताया गया यह धर्माचरण बहुत ही महत्त्वका है। यथाशक्ति इन सत्कर्मोंको अवश्य करना चाहिये।

महर्षि मार्कण्डेयजी कहते हैं—जो मन, वाणी तथा शरीरसे सब प्रकारकी हिंसाओंसे निवृत्त हैं अर्थात् सर्वदा अहिंसा-व्रतपरायण हैं, सब प्रकारके सुख-दु:ख, शीत-घाम आदि द्वन्द्वोंको सहनेमें सर्वथा सक्षम हैं अर्थात् सुख-दु:ख आदि किसी भी परिस्थितिमें समभावसे संतोषपूर्वक स्थिर रहते हैं, सभीको आश्रय प्रदान करते हैं, वे व्यक्ति अक्षय स्वर्गलोकको प्राप्त करते हैं। जो सदा सत्क्रियाओं—धर्माचरणोंका अनुष्ठान करते हैं, जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है, ऐसे धीर पुरुष स्वर्गगामी होते हैं। जो द्विजोत्तम अपने-अपने वर्णाश्रमोंमें प्रतिष्ठित रहते हुए स्वधर्मका पालन करते हैं, वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं। जो राजागण अपने राजधर्मका पालन करते हैं, विद्वान् पुरोहित तथा अमात्योंका परामर्श ग्रहण कर धर्म-नीतिके मार्गपर चलते हैं, प्रजाका सुख ही जिनका सुख है और प्रजाका दु:ख ही जिनके लिये महान् दु:ख है, ऐसे राजा और जो अपने स्वामी, ब्राह्मण तथा मित्रके हित-संकल्पमें लगे रहते हैं एवं जो गोमाता और ब्राह्मणका हितकर कार्य करते हैं वे सभी स्वर्ग प्राप्त करते हैं। जो माता-पिता एवं गुरुके भक्त हैं, सदा उनकी सेवामें तत्पर रहते हैं, प्रिय वचन बोलते हैं, सत्य बोलते हैं एवं साधुताका आश्रय ग्रहण करते हैं, जिनका व्यवहार निश्छल है, छल-कपटसे रहित सरल व्यवहार है, अन्त:करण निर्मल है, वे स्वर्गगामी होते हैं। जो सदा परोपकारके कार्यमें लगे रहते हैं, परनारीको मातृवत् समझते हैं और पूज्य श्रेष्ठ जनोंकी सदा पूजा करते हैं, वे व्यक्ति स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं। जो सेवाभावसे बाग-बगीचा, उद्यान, कुआँ, बावली, प्रपा, तालाब, धर्मशाला, मन्दिर, मार्ग, विद्यालय आदि बनवाते हैं, नित्य गोमाताको

गोग्रास प्रदान करते हैं, देवताओंके सच्चे उपासक हैं, वे व्यक्ति स्वर्गगामी होते हैं। जो अनाथ कन्याओंका विवाह कराते हैं, दीन-दुखियोंकी सेवा करते हैं, सभी भूत-प्राणियोंपर दया करते हैं, जो सभी जीव-जन्तुओंके विश्वासके पात्र हैं अर्थात् जीवोंको जिनसे कोई भय नहीं होता, वे उन्हें अपने मित्रके समान मानते हैं, जो हिंसासे रहित हैं, सदाचारपरायण हैं, अपने धनमें संतुष्ट रहते हैं, भगवान्‌के प्रत्येक विधानको मङ्गलमय समझते हैं और न्यायोपार्जित द्रव्यका धर्मपूर्वक उपभोग करते हैं, वे अमरावती—देवलोकको प्राप्त करते हैं। जो परनारीको अपनी माता, बहिन एवं पुत्रीकी भाँति समझते हैं, मिथ्या भाषण नहीं करते, कटु एवं परुष वचन नहीं बोलते, सदा स्वागतपूर्वक स्मित हासयुक्त मधुर वचन बोलते हैं, वे देवलोकको प्राप्त करते हैं। जो शत्रु एवं मित्रमें मनसे समान-दृष्टि रखते हैं, सबमें मैत्री-भाव, समभाव, भगवद्भाव रखते हैं, श्रद्धावान् हैं, दयावान् हैं, शिष्ट हैं और शिष्टजनोंके जो प्रिय हैं, धर्म एवं अधर्म, सत् एवं असत्‌में विवेक-बुद्धि रखते हैं, वे देवलोकको प्राप्त करते हैं[१]।

बालकोंका लालन-पालन कैसे करें?

महर्षि मार्कण्डेय महान् संत हैं, दयालु एवं परम कारुणिक हैं, जीवमात्रपर उनका परम प्रेम है, किंतु बालकोंके प्रति उनका विशेष स्नेह है, अतः माता-पिता तथा अभिभावकोंको अपने छोटे बालक-बालिकाओंको किस प्रकारसे रखना चाहिये, उनके प्रति कैसा व्यवहार करनेसे आगे वे कैसे सहज ही सुसंस्कृत और सदाचारसम्पन्न हो सकेंगे, इस सम्बन्धमें बड़े ही सूक्ष्म उपदेश उन्होंने दिये हैं। संस्कारोंके वर्णन-प्रसंगमें उन्होंने छोटे बालकोंके उचित लालन-पालनकी जो रीति निर्दिष्ट की है, वह अन्यत्र नहीं दिखलायी देती। यह उनके धर्मशास्त्रकी अन्य धर्मशास्त्रोंसे विशेष बात है। उपनयनके बाद प्राप्त होनेवाली शिक्षा, सदाचार आदिका तो सभी धर्मशास्त्रोंमें विस्तारसे वर्णन मिलता है, किंतु उपनयनसे पूर्व किस प्रकार बालकोंको उनके साथ व्यवहार करके शिक्षा दी जाय यह महर्षि मार्कण्डेयजीकी विशिष्ट देन है; क्योंकि जिस प्रकार पहलेसे ठीक प्रकारसे जोती तथा सिंचित भूमिमें बीज-वपन करनेसे उत्तम फसल प्राप्त होती है, वैसे ही शिशुकी उचित रीतिसे देख-रेख होनेपर ही उसमें आगे चलकर उचित संस्कार सम्पन्न हो जाते हैं और वह धर्मशिक्षा ग्रहण करनेके योग्य बन जाता है।

उपनयन-संस्कारका मुख्य उद्देश्य कामाचार, कामवाद और कामभक्षणका परित्याग करके अपनेको ब्राह्मबल, क्षात्रबल-प्राप्तिके योग्य बनाना है। उपनयन-संस्कारके पूर्व बालक इच्छित स्थानपर बैठना, उठना, आना-जाना आदि करता है, स्वेच्छापूर्वक कहीं चले जाना, शुद्ध-अशुद्धका विचार न करना, शौचाचारका ध्यान न रखना आदि कामाचारके अन्तर्गत है, इसीलिये उपनयनके पश्चात् आचार्य शौचाचार सिखानेके लिये शास्त्रकी आज्ञा देते हैं।

इसी प्रकार उपनयनसे पूर्व बालक स्वेच्छानुसार चाहे जैसा बोलता है और कहता है, उसपर किसी प्रकारका दबाव नहीं दिया जाता, यह कामवाद है, परंतु उपनयनके पश्चात् गुरु उपदेश देता है—**'सत्यं वद, धर्मं चर'** अर्थात् 'सत्य बोलो और धर्मका आचरण करो' इत्यादि। इसी प्रकार उपनयनसे पूर्व शिशु इच्छानुसार बिना विचार किये कुछ भी कभी भी खाता-पीता रहता है, किंतु उपनयनके बाद कामभक्षणपर नियन्त्रणका आदेश है। इसके विपरीत आचरण करनेपर वह दण्ड एवं प्रायश्चित्तका भागी होता है। किंतु उपनयनसे पूर्व छोटे बालकका स्वभाव अत्यन्त सरल, मृदु, निर्मल, निर्वैर, छल-छद्मसे रहित, निष्पाप तथा शान्त रहता है, अतः उनका आचरण निन्दित नहीं माना गया है और इसीलिये वह भगवत्स्वरूप भी कहा जाता है, बालकोंमें भगवान्‌के दर्शन सहज ही होते हैं। ऐसे अबोध शिशुओंके प्रति मार्कण्डेयजी बहुत सचेत करते हुए कहते हैं कि 'माता-पिता आदिको चाहिये कि अपने बालकोंको कभी मारें-पीटें नहीं। उन्हें संताड़ित नहीं करें, बन्धनमें भी

१-मार्कण्डेयजीके कुछ मूल वचन इस प्रकार हैं—

सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये। सर्वस्याश्रयभूता ये ते नराः स्वर्गगामिनः॥

ये निर्जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

सर्वदा हित चाहते हो, उसी प्रकार सब प्राणियोंके प्रति हित-बुद्धि रखते हुए बर्ताव करो। यह तुम्हारे लिये अत्यन्त हितकी बात है। कौन किसका अपराध करता है। यदि कोई मूढ़ किसीका थोड़ा भी अहित करता है तो वह निश्चय ही उसका फल भोगता है, क्योंकि फल सदा कर्ताको ही मिलता है। यह विचार कर सबके प्रति पवित्र भाव रखो। इससे इस लोकमें पाप नहीं बनेगा और तुम्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी। बुद्धिमानो! सबके प्रति ऐसा भाव रखो कि जो मेरे साथ स्नेह रखनेवाले हैं, उनका कल्याण हो तथा जो मेरे साथ द्वेष रखनेवाले हैं, वे भी कल्याणके ही भागी बनें[1]।

आसक्तिका सर्वथा त्याग कैसे करें

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्‌भिः सह कर्तव्यः सतां संगो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥

(मार्कण्डेयपु० अ०३८)

अर्थात् संग (आसक्ति)-का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका संग ही उसकी औषधि है। कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये, परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्तिकी इच्छा तथा मोक्ष-प्राप्तिके सभी साधनों)-के प्रति कामना करनी चाहिये, क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है।

राजधर्मका उपदेश

[महाराज युधिष्ठिरके प्रति मार्कण्डेयजीके वचन]

दयावान् सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः॥
सत्यवादी मृदुर्दान्तः प्रजानां रक्षणे रतः।
चर धर्मं त्यजाधर्मं पितॄन् देवांश्च पूजय॥
प्रमादाद् यत् कृतं तेऽभूत् सम्यग् दानेन तज्जय।
अलं ते मानमाश्रित्य सततं परवान् भव॥

(महा०, वनपर्व १९१। २३—२५)

राजन्! तुम सब प्राणियोंपर दया करो। सबके हितैषी बने रहो। सबपर प्रेमभाव रखो और किसीमें दोषदृष्टि मत करो। सत्यवादी, कोमल-स्वभाव, जितेन्द्रिय और प्रजापालनमें तत्पर रहकर धर्मका आचरण करो। अधर्मको दूरसे ही त्याग दो तथा देवता और पितरोंकी आराधना करते रहो। यदि प्रमादवश तुम्हारे द्वारा किसीके प्रति कोई अनुचित व्यवहार हो गया हो तो उसे अच्छी प्रकार दानसे संतुष्ट करके वशमें करो। 'मैं सबका स्वामी हूँ', ऐसे अहंकारको कभी पासमें न आने दो। तुम अपनेको सदा पराधीन समझते रहो।

अतिथि-धर्मकी महिमा

पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम्॥
प्रयच्छन्ति तु ये राजन् नोपसर्पन्ति ते यमम्।

(महा०, वन० २००। २३-२४)

राजन्! जो लोग अतिथिको चरण धोनेके लिये जल, पैरमें मलनेके लिये तेल, उजालेके लिये दीपक, भोजनके लिये

हसन्मुखाः प्रकर्तव्या न कार्याः प्ररुदन्मुखाः॥
ज्ञानशून्याः परेषां तत्सुखदुःखाविवेकिनः। ते भापया चाटुवाक्यशतकैः प्रीतिकारकैः॥
सुखश्रोत्रकरै रस्यैस्तोषणीयाः पदे पदे। तस्माद् बालान् वरान् स्वीयान् ज्ञानशून्यान् कदाचन॥
न क्रुध्येन्नापि चाक्रोशेत् प्रहरेन्नापि भीपयेत्। तच्चित्ततोषणं ये वै प्रकुर्वन्ति सदा यदा॥
ते सर्वे देवमुनिराड्योगिदेवद्विजन्मनाम्। तदनुग्रहपात्रं स्यादन्यथा न भवेत् तथा॥
(मार्कण्डेयस्मृति पृ०. ७८-७९)

[1] नन्दन्तु सर्वभूतानि स्निह्यन्तु विजनेष्वपि। स्वस्त्यस्तु सर्वभूतेषु निरातङ्कानि सन्तु च॥
मा व्याधिरस्तु भूतानामाधयो न भवन्तु च। मैत्रीमशेषभूतानि पुष्यन्तु सकले जने॥
शिवमस्तु द्विजातीनां प्रीतिरस्तु परस्परम्। समृद्धिः सर्ववर्णानां सिद्धिरस्तु च कर्मणाम्॥
हे लोकाः सर्वभूतेषु शिवा वोऽस्तु सदा मतिः। यथात्मनि यथा पुत्रे हितमिच्छथ सर्वदा॥
तथा समस्तभूतेषु वर्तध्वं हितबुद्धयः। एतद्वो हितमत्यन्तं को वा कस्यापराध्यते॥
यत् करोत्यहितं किंचित् कस्यचिन्मूढमानसः। तं समभ्येति तन्नूनं कर्तृगामि फलं यतः॥
इति मत्वा समस्तेषु भो लोकाः कृतबुद्धयः। सन्तु मा लौकिकं पापं लोकान् प्राप्स्यथ वै बुधाः॥
यो मेऽद्य स्निह्यते तस्य शिवमस्तु सदा भुवि। यश्च मां द्वेष्टि लोकेऽस्मिन् सोऽपि भद्राणि पश्यतु॥
(मार्कण्डेयपु० ११७। १२—१९)

अन्न तथा रहनेके लिये स्थान देते हैं, वे कभी यमराजके यहाँ नहीं जाते।

पापसे बचनेका उपाय

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते॥

(महा०, वनपर्व २०७। ५१)

जो मनुष्य पापकर्म बन जानेपर सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करता है, वह उस पापसे छूट जाता है तथा 'फिर कभी ऐसा कर्म नहीं करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेनेपर वह भविष्यमें होनेवाले दूसरे पापसे भी बच जाता है।

सर्वोत्तम ज्ञान क्या है?

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम्॥

(महा०, वनपर्व २१३। ३०)

क्रूरताका अभाव अर्थात् दया सबसे महान् धर्म है, क्षमा सबसे बड़ा बल है, सत्य सबसे उत्तम व्रत है और परमात्माके तत्त्वका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है।

भूतेष्वभावं संचिन्त्य ये तु बुद्धेः परं गताः।
न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमां गतिम्॥

(महा०, वनपर्व २१६। २८)

संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा सोचकर जो बुद्धिसे पार होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गये हैं, वे ज्ञानी महापुरुष परमात्माका साक्षात्कार करते हुए कभी शोकमें नहीं पड़ते।
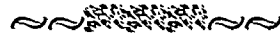
आख्यान—

पुरोहितकी आवश्यकता

मार्कण्डेयस्मृतिने बताया है कि पुरोहित बनाकर उनके निर्देशके अनुसार ही कृत्यकर्मोंको करना चाहिये। उनकी बातको काटकर कोई कार्य नहीं करना चाहिये। इससे मनुष्यको श्रेय और सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। पुरोहितको गुरु, माता, पिता, आचार्य, उपाध्याय, बान्धव, पुत्र-मित्र आदि सभी रूपोंमें समझना चाहिये।[१]

(क) पाण्डवोंका धौम्यको पुरोहित बनाना

पाण्डवलोग लाक्षागृहसे बचकर ब्राह्मणके वेशमें भिक्षाचर्यासे गुजर कर रहे थे। उन्हीं दिनों भीमसेनने बकासुरसे वहाँकी जनताका त्राण कर दिया था। इस घटनाके कुछ दिन बाद एक ब्राह्मण उस ब्राह्मणके घर ठहरनेके लिये आया, जहाँ पाण्डवलोग निवास कर रहे थे। वह ब्राह्मण कठोर नियमोंका पालन करनेवाला और बहुज्ञ था। वह बहुत ही कल्याणमयी कथाएँ सुनाता था। अपनी माताके साथ पाण्डवलोग भी उस कथामें जा बैठे। उसी कथा-प्रसंगमें पाण्डवोंने द्रौपदीके स्वयंवरकी बात सुनी। फिर वे लोग द्रौपदीके स्वयंवरमें जानेके लिये पांचालदेशकी ओर बढ़े। एक दिनकी बात है, रातका समय था। गङ्गा नदी पार करके वे आगे बढ़ रहे थे, उसी यात्रामें चित्ररथ गन्धर्वसे अर्जुनकी मुठभेड़ हो गयी। चित्ररथ अर्जुनसे हार गया और मित्र बन गया। चित्ररथने ही पाण्डवोंको राय दी कि 'आप लोगोंने अपने लिये किसी पुरोहितको नियुक्त नहीं किया है, इसलिये आप लोगोंकी ऐसी अवस्था हो गयी है। आपलोग किसी योग्य पुरोहितको नियुक्त कर लें। उपयुक्त पुरोहितको नियुक्त कर राजा आगे चलनेपर निशाचरोंपर भी विजय प्राप्त कर सकता है, क्योंकि राजाका सारा भार पुरोहितपर होता है—'**स पुरोहितधूर्गतः॥**' (महा०, आदि० १६९। ७३)। राजाको तो पुरोहित अवश्य ही बनाना

१-सदा पुरोहितं तस्मात् सर्वकर्मसु चेतसा॥
× × ×
सम्प्रधार्यैव मतिमान् तानि कुर्यात् ततः परम्।
× × ×
तेन श्रेयो विशेषेण लभते सम्पदां श्रियम्।
× × ×
गुरुर्माता पिताचार्य उपाध्यायश्च बान्धवः। सर्वं पुरोहितो ज्ञेयः पुत्रो मित्रं सुतः सुहृत्॥
(मार्कण्डेयस्मृति, पुरोहितप्रशंसा)

चाहिये। उससे राजाको इस लोकमें अभ्युदय और मरनेके बाद स्वर्ग मिलता है। कोई भी राजा पुरोहितकी सहायताके बिना केवल अपने बलसे विजय नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिये आप किसी धर्मज्ञ, वेदज्ञ एवं गुणवान् ब्राह्मणको पुरोहित बना लें।[१]

पाण्डवोंको अब पुरोहितकी आवश्यकता महसूस हुई और उन्होंने सब तरहसे योग्य महर्षि धौम्यका पुरोहित-रूपमें वरण कर लिया—'तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत॥' (महा०, आदि० १८२। ६)। इसीके फलस्वरूप पाण्डवोंने इस पृथ्वीपर विजय प्राप्त की और अन्तमें उन्होंने स्वर्गलोकपर भी विजय प्राप्त कर ली।

(ख) राजा शर्यातिके पुरोहित मधुच्छन्दा

राजा शर्यातिके पुरोहित ब्रह्मर्षि मधुच्छन्दा थे। वे महर्षि विश्वामित्रके पुत्र थे। एक बार पुरोहितको आगे कर राजा शर्याति दिग्विजय पाकर लौट रहे थे। रातके समय सेनाने पड़ाव डाल दिया। उस समय राजा शर्यातिने अपने पुरोहितको कुछ अन्यमनस्क देखा। उन्होंने पूछा कि 'आप उद्विग्न क्यों हैं? आपकी वजहसे हम लोगोंने दिग्विजय प्राप्त कर ली है, यह खुशीका अवसर है। इस अवसरपर तो आपको प्रसन्न रहना चाहिये। मालूम होता है, कोई विशेष कारण है जिससे आप उद्विग्न हैं।' मधुच्छन्दाने बताया—'मुझे अपनी पत्नीकी याद आ रही है। मुझे संदेह है कि मेरे वियोगमें वह जीवित होगी कि नहीं!'

राजा यह सुनकर हँस पड़े! बोले—'आप मेरे गुरु एवं मित्र दोनों हैं। संसारका सुख तो क्षणभंगुर होता है। आप-जैसे महर्षिको इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिये।' मधुच्छन्दाने गम्भीर होकर कहा—'पति और पत्नीका आपसमें प्रेम होना दूषण नहीं भूषण है।' राजाको यह बात लग गयी। जब वे अपने नगरके निकट आये तो अपनी एवं पुरोहितकी पत्नीके प्रेमकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने नगरमें एक संदेश भेजा। संदेशमें कहा गया था कि 'राजा जब दिग्विजयसे लौट रहे थे तो एक राक्षस पुरोहितसहित राजाको मारकर खा गया।' इस संदेशको सुनकर शर्यातिकी पत्नियाँ तो इस सच्चाईका पता लगाने लगीं, किंतु पुरोहित मधुच्छन्दाकी पत्नीके प्राण-पखेरू उड़ गये। वह इस आघातको सहन न कर सकी। जब राजाने अपने दूतोंसे पुरोहितकी पत्नीकी मृत्युका समाचार सुना, साथ ही अपनी पत्नियोंकी चेष्टाएँ सुनीं तो उन्हें विस्मय और दुःख दोनों हुए। उन्होंने पुनः अपने दूतोंको तत्काल यह कहकर भेजा कि 'अब यह खबर भेज दो कि पुरोहित और राजा दोनों नगरके पास आ गये हैं।' इधर राजाने सब सेनाको अपने नगर लौटा दिया और पुरोहितको कुछ धन देकर कुछ तीर्थोंमें बाँट आनेको भेज दिया। पुरोहित राजाके इस कृत्यसे अनभिज्ञ थे। वे अन्य तीर्थोंमें धनका वितरण करने लगे। इधर चिन्तासे व्याकुल राजा गौतमी गङ्गाके तटपर आये तथा उन्होंने गङ्गाजी, सूर्य और देवताओंको सम्बोधित कर कहा कि 'यदि मैंने सच्चाईके साथ प्रजाका पालन किया है, यज्ञ किया है, दान किया है तो उनके प्रभावसे मेरे पुरोहितकी पत्नी मेरी आयु लेकर जी जाय।' इतना कहकर राजा अग्निमें प्रवेश कर गये।

ठीक उसी समय पुरोहितकी पत्नी जीवित हो गयी।

१-तस्माद् धर्मप्रधानात्मा वेदधर्मविदीप्सितः। ब्राह्मणो गुणवान् कश्चित् पुरोधाः प्रतिदृश्यताम्॥ (महा०, आदि० १७३। १३)

पुरोहित मधुच्छन्दाको जब यह मालूम हुआ कि महाराजके जीवन-परित्यागसे मेरी पत्नी जीवित हो गयी है तो उन्होंने अपने कर्तव्यका निर्धारण किया और राजाको जीवित कराना ही मुख्य कर्तव्य समझा। उन्होंने भगवान् सूर्यदेवकी बहुत ही श्रद्धासे स्तुति की। मधुच्छन्दा-जैसे महर्षिकी स्तुतिसे सूर्य देवता बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मधुच्छन्दासे वर माँगनेको कहा। मधुच्छन्दाने वरमें सर्वप्रथम राजाका जीवन माँगा तथा राजाके लिये देश चलानेवाला योग्य पुत्र भी माँगा। भगवान् सूर्यने राजा शर्यातिको जिलाया और ब्राह्मणकी पत्नीका भी जीवन सुरक्षित कर दिया तथा अपनी ओरसे मधुच्छन्दाको अनेक कल्याणमय वर प्रदान किये। राजा और पुरोहितकी पत्नीके जीवित होनेसे सारी प्रजामें प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी। लोगोंकी समझमें आ गया कि पुरोहितके बिना राजा विकलाङ्ग रहता है। [ब्रह्मपुराण]
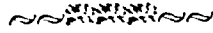
धर्मो रक्षति रक्षितः

धर्माचरणका प्रभाव

काशीके धर्मनिष्ठ ब्राह्मण धर्मपालका पुत्र प्रारम्भिक अध्ययन समाप्त करके उच्च शिक्षा प्राप्त करने तक्षशिला गया था। वहाँ एक समय आचार्यके युवा पुत्रकी मृत्यु हुई तो वह बोल पड़ा—'अरे, यहाँ तो युवक भी मरते हैं।'

उसके सहपाठियोंको उसके वचन बहुत बुरे लगे। जब सब लोग शोकमग्न हों, कोई इस प्रकारकी बातें करे तो बुरा लगना ही था। लोगोंने व्यंग्य किया—'तुम्हारे यहाँ क्या मृत्यु तुमसे सलाह लेकर वृद्धोंके लिये ही आती है?'

'हमारे कुलमें तो सात पीढ़ियोंमें कोई युवा मरा नहीं।' उसने अपनी बात दुहरा दी।

बात आचार्यतक पहुँची। उनको भी बुरा लगा। कुछ कार्यवश उन्हें काशी जाना ही था, परीक्षा लेनेका निश्चय कर लिया। जब वे काशी पहुँचे तो अपने साथ मरे बकरेकी थोड़ी हड्डियाँ भी लेते गये। वे हड्डियाँ धर्मपालके सामने डालकर रोनेका अभिनय करते हुए आचार्यने कहा—'हमें यह सूचित करनेमें बहुत दुःख हो रहा है कि आपका पुत्र अचानक मर गया।'

ब्राह्मण धर्मपाल हँसा—'आप किसी भ्रममें पड़ गये हैं। मरनेवाला निश्चय कोई दूसरा होगा। हमारे कुलमें सात पीढ़ियोंसे कभी कोई युवा नहीं मरा।'

आचार्यने उसी खिन्न स्वरमें कहा—'अबतक कोई युवा नहीं मरा तो आगे भी नहीं मरेगा, ऐसा नियम तो है नहीं। मृत्युका क्या भरोसा। वह वृद्ध, युवा, बालक—किसीका ध्यान नहीं रखती।'

'देखिये! हम सावधानीसे अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हैं, अधर्मसे दूर रहते हैं, सत्संग करते हैं और दुर्जनोंकी निन्दा न करके उनके संगसे बचते हैं। दान देते समय वाणी तथा व्यवहारमें नम्रता रखते हैं। साधु, ब्राह्मण, अभ्यागत, अतिथि, याचक एवं दीनोंकी यथाशक्ति सेवा करते हैं। हमारे घरकी स्त्रियाँ पतिव्रता हैं और पुरुष एकपत्नी-व्रती तो हैं ही, संयमी हैं। यमराजके लिये भी हमारे यहाँ किसीको अकालमें—युवावस्थामें मारना सम्भव कैसे हो सकता है?' ब्राह्मण धर्मपालने बड़े विश्वाससे अपनी बातका समर्थन किया।

'आप ठीक कहते हैं। आपका पुत्र जीवित तथा सुरक्षित है।' आचार्यने अपने आचरणका कारण स्पष्ट किया।

'धर्म जिसकी रक्षा करता है, उसे मार कौन सकता है?' ब्राह्मणने कहा। 'हम सब धर्मकी रक्षा करते हैं, अतः धर्म हमारी रक्षा करेगा'—इसमें हमारे घरके किसी सदस्यको कभी संदेह नहीं होता।
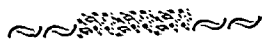
प्रजापति दक्ष और उनका धर्मशास्त्र (दक्षस्मृति)

प्रजापति दक्षविरचित 'दक्षस्मृति' का प्राचीनतम स्मृतियोंमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस धर्मशास्त्रके निर्माता महात्मा दक्ष साक्षात् ब्रह्माजीके मानस-पुत्र हैं। भगवान्‌की शक्तिसे सम्पन्न ब्रह्माजीने जब सृष्टिके विस्तारके लिये संकल्प किया, उस समय उनके अपने ही समान दस पुत्र उत्पन्न हुए, जो मानस-पुत्र कहलाते हैं, वे हैं—'मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद।' प्रजापति दक्ष ब्रह्माजीके दाहिने अँगूठेसे उत्पन्न हुए—'दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयम्भुवः' (श्रीमद्भा० ३। १२। २३)। ब्रह्माजीने अपने सभी पुत्रोंको सृष्टि करनेका आदेश दिया तथा सभीको प्रजापति-पदपर भी नियुक्त किया। प्रजापति दक्षने उत्पन्न होते ही अपने तेज एवं कान्तिसे समस्त तेजस्वियोंका तेज छीन लिया। ये कर्म करनेमें बड़े कुशल (दक्ष) थे, इसीसे इनका नाम दक्ष हुआ। ब्रह्माजीने सृष्टिके विस्तारमें दक्षकी विशेष दक्षता समझकर और इनकी प्रजासंचालनकी कुशलता तथा धर्ममें विशेष अभिरुचि देखकर इन्हें सभी प्रजापतियोंका भी अधिनायक बना दिया, अतः दक्ष प्रजापतियोंके भी प्रजापति हो गये। इन्होंने मरीचि आदि दूसरे प्रजापतियोंको अपने-अपने कार्यमें नियुक्त किया और स्वयं भी वे सृष्टिके विस्तारमें लग गये।

जब मरीचि आदि महान् ऋषियोंसे सृष्टिका विस्तार न हो सका, तब ब्रह्माजी 'सृष्टिका विस्तार कैसे हो' इस विषयमें विचार करने लगे, उसी समय उनके शरीरसे स्वायम्भुव मनु और महारानी शतरूपाका आविर्भाव हुआ। इनकी पाँच संतानें हुईं, उनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद—ये दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति—ये तीन कन्याएँ हुईं। प्रसूतिका विवाह दक्ष प्रजापतिजीके साथ हुआ।

भगवान् शंकरकी पत्नी भगवती सती महात्मा दक्षकी ही पुत्री थीं। दक्षकी पुत्री होनेसे भगवती सती 'दाक्षायणी' या 'दाक्षी' भी कहलाती हैं। प्रजापति दक्ष भगवान् विष्णुके परम भक्त और उनके कृपापात्र थे। उनके वरदानसे वे सृष्टिके विस्तारमें पूर्ण सफल हुए। महात्मा दक्षकी अदिति, दिति आदि पुत्रियोंसे महर्षि कश्यप, धर्म तथा चन्द्रमा आदिद्वारा सृष्टिका विस्तार होता चला गया। प्रजापति दक्ष देवताओंकी माता अदितिके भी पिता हैं, समस्त सृष्टिके उत्पादक हैं, अतः ये समस्त देवताओं तथा चराचर प्राणिजगत्के भी पितृपुरुष हैं। इस प्रकार प्रजापति दक्षसे सृष्टिकी वृद्धि होती चली गयी और उनकी संततियोंसे यह सारा जगत् भर गया—

यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः॥

(श्रीमद्भा० ६। ६। ३)

महात्मा दक्षने अपनी संततियोंद्वारा सम्यक् धर्माचरण हो सके, सारी प्रजा आचार-विचारसे सम्पन्न हो, अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका सम्यक् अनुष्ठान कर सके और सभी परम कल्याणदायक सन्मार्गके पथिक बन सकें, इस दृष्टिसे एक स्वतन्त्र आचारसंहितारूप धर्मशास्त्रका भी प्रणयन किया। प्रजाओंकी सृष्टि तो हो चुकी थी, अब उनके लिये सम्यक् जीवन-पद्धतिकी भी आवश्यकता थी, अतः दक्षजीने जो आचार-संहिता बनायी, वही दक्ष-स्मृतिके नामसे विख्यात है। प्रजापति दक्ष सभी स्थूल एवं सूक्ष्म कर्मोंके तत्त्व-रहस्योंके ज्ञाता तथा सभी वेदवादियोंमें श्रेष्ठ हैं। वे सभी विद्याओंमें परम निष्णात तथा प्रजाओंके अधिपति हैं। महात्मा दक्ष महान् योगी, महान् तपस्वी तथा दिव्य योग-ज्ञानसे सम्पन्न थे। अतः योगधारणासे सम्पन्न होकर इन्होंने धर्म-तत्त्वका रहस्य देखा और उसे 'दक्षस्मृति' नामसे अनुग्रथित किया।

संक्षिप्त होनेपर भी यह स्मृति अत्यन्त उपादेय है। इसके उपदेश अत्यन्त दिव्य एवं परम उपयोगी हैं। इसमें चारों आश्रमोंकी आचार-संहिताका बड़े ही सूक्ष्म रीतिसे विवेचन हुआ है। इस स्मृतिकी सबसे बड़ी विशेषता है—अध्यात्मयोगका सुस्पष्ट विवरण प्रकाशमें लाना। इनके धर्मशास्त्रका 'नव-नवक'-प्रकरण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो गृहस्थाश्रमियोंके लिये बड़े ही कामका है और सर्वथा पालनीय है।

इस स्मृतिके माहात्म्यके विषयमें स्वयं प्रजापति दक्षजीका कहना है कि जो विद्वान् ब्राह्मण इस दक्षस्मृतिका श्रद्धापूर्वक अध्ययन-अध्यापन करते हैं, वे अमरलोकको प्राप्त करते हैं और कोई अधम व्यक्ति भी यदि इसे भक्तिपूर्वक पढ़ता है अथवा सुनता है तो वह यावज्जीवन पुत्र, पौत्र, पशु तथा धन-सम्पदासे सम्पन्न होकर अक्षय कीर्तिको प्राप्त कर

लेता है।[1]

पुन: दक्षजी आगे कहते हैं—श्राद्धकालमें कोई द्विज इस धर्मशास्त्रको सुनाता है तो वह श्राद्ध अक्षय होकर पितरोंके लिये अक्षय-तृप्ति प्रदान करनेवाला बन जाता है।[2]

सात अध्यायोंमें उपनिबद्ध इस स्मृतिमें मुख्यरूपसे गृहस्थधर्म, उसका सदाचार एवं अध्यात्मज्ञान निरूपित है। महात्मा दक्षजीने दिनके आठ भाग किये हैं और प्रत्येक भागमें किये जानेवाले कर्तव्योंका बड़े ही अच्छे ढंगसे निर्देश किया है। यहाँ दक्षस्मृतिमें निरूपित कुछ महत्त्वपूर्ण विषयोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है—

गृहस्थाश्रमकी महिमा

महायोगी दक्षजीका कहना है कि गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमोंकी योनि है। इसीमें सभी आश्रमके प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अत: यह सभीका आधार भी है और आश्रय भी है। इसीलिये गृहस्थको 'ज्येष्ठाश्रमी' कहा जाता है। पितर, देवता, मनुष्य, कीट-पतंग, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु अर्थात् जितना भी प्राणिजगत् है, वह गृहस्थके द्वारा ही पालित-पोपित होता है। सद्‌गृहस्थ नित्य पञ्चयज्ञोंके द्वारा, श्राद्ध-तर्पणद्वारा और यज्ञ-दान एवं अतिथि-सेवा आदिके द्वारा सबका भरण-पोषण करता है, सबकी सेवा करता है, इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। यदि वह कष्टमें रहता है तो अन्य तीनों आश्रमवाले भी कष्टमें रहते हैं।

सच्चा गृहस्थ कहलानेका अधिकारी कौन?

जो शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए सदा सबकी सेवामें निरत रहता है और गृहस्थधर्म एवं सदाचारका पालन करता है, वही गृहस्थाश्रमी कहलानेका अधिकारी है। जो नित्य देवता, पितर आदि सबको उनका यथायोग्य भाग अर्पण करता है, क्षमाशील एवं दयावान् है तथा देवता एवं अतिथियोंका भक्त है, वह गृहस्थ धार्मिक है। जो दया, लज्जा, क्षमा, श्रद्धा, प्रज्ञा, योग तथा कृतज्ञता आदि गुणोंसे सम्पन्न है, वही वास्तवमें गृहस्थ कहलानेका अधिकारी है। ऐसा सद्‌गृहस्थ सभी लोगों तथा राजाद्वारा भी पूज्य, मान्य एवं वन्द्य होता है, साथ ही अन्य तीनों आश्रमियोंसे भी पूजित होता है, केवल घरमें रहनेमात्रसे कोई गृहस्थाश्रमी नहीं हो जाता[3]।

प्रात:-स्नान एवं संध्यावन्दनकी नित्य अनिवार्यता

सद्‌गृहस्थको ऊषाकालमें शौचादि कार्योंसे निवृत्त होकर दन्तधावन आदि करना चाहिये, तदनन्तर स्नान करना चाहिये। नित्य-स्नानकी महिमा बताते हुए धर्मशास्त्रकार दक्ष कहते हैं—

नौ द्वारोंवाला यह शरीर अत्यन्त मलिन है। नवों द्वारोंसे प्रतिदिन मल निकलता रहता है, जिससे शरीर दूषित हो जाता है। यह मल प्रात:-स्नानसे दूर हो जाता है और शरीर भी निर्मल हो जाता है। बिना स्नान आदिसे पवित्र हुए जप, होम, देवपूजन आदि कोई भी कर्म नहीं करना चाहिये।

त्रिकाल-संध्या-वन्दन एवं गायत्रीजपकी आवश्यकता बतलाते हुए कहा गया है कि संध्या-वन्दन अवश्य करना चाहिये, क्योंकि संध्या न करनेवाला सदा अपवित्र रहता है और किसी भी कार्यको करनेका अधिकारी नहीं होता। गायत्री-जपसे विहीन होकर वह जो भी कर्म करता है, वह निष्फल ही होता है, उसका कोई फल प्राप्त नहीं होता—

संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु॥
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलमश्नुते।

(दक्षस्मृति २। १९-२०)

१-अधीयन्ते तु ये विप्रास्ते यान्त्यमरलोकताम्॥
इदं तु य: पठेद्‌भक्त्या शृणुयादधमोऽपि वा। स पुत्रपौत्रपशुमान् कीर्तिं च समवाप्नुयात्॥ (दक्षस्मृति ७। ५२-५३)

२-श्रावयित्वा त्विदं शास्त्रं श्राद्धकालेऽपि वा द्विज:। अक्षयं भवति श्राद्धं पितृभ्यश्चोपजायते॥ (दक्षस्मृति ७। ५४)

३-विभागशीलो यो नित्यं क्षमायुक्तो दयापर:॥
देवतातिथिभक्तश्च गृहस्थ: स तु धार्मिक:। दया लज्जा क्षमा श्रद्धा प्रज्ञा योग: कृतज्ञता॥
एते यस्य गुणा: सन्ति स गृही मुख्य उच्यते। गृहस्थोऽपि क्रियायुक्तो न गृहेण गृहाश्रमी॥
राज्ञा चान्यैस्त्रिभि: पूज्यो माननीयश्च सर्वदा। (दक्षस्मृति १। ४५, ४८—५०)

पाँच प्रकारका वेदाभ्यास

ब्राह्मणोंको षडङ्ग वेदाभ्यास अवश्य करना चाहिये, क्योंकि स्वाध्यायको परम तप कहा गया है। इसे ब्रह्मयज्ञ भी कहा जाता है। यह वेदाभ्यास पाँच प्रकारका है[१] —

(१) वेदोंका स्वयं गुरुमुखसे अध्ययन करना, (२) उसके अर्थोंपर विचार करना, (३) उसका बार-बार अभ्यास करना, (४) जप करना तथा (५) शिष्योंको उसका अध्ययन कराना।

पोष्यवर्गका भरण-पोषण गृहस्थाश्रमीका मुख्य कर्तव्य

प्रजापति दक्षजीका प्रत्येक गृहस्थके लिये यह आवश्यक निर्देश है कि वह अपने आश्रित जनका अवश्य भरण-पोषण करे; क्योंकि अपने द्वारा पोषण करने योग्य जो कुटुम्बीजन और सेवक आदि हैं, उनका पालन-पोषण लौकिक और पारलौकिक दोनों फलोंको देनेवाला है, यह अत्यन्त प्रशस्त कर्म है और स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। अपने द्वारा भरण-पोषण किये जाने योग्य जो भी हों, वे सभी पोष्यवर्गके अन्तर्गत आते हैं। अतः प्रयत्नपूर्वक उनका पालन-पोषण करना, उनकी सेवा करना गृहस्थका मुख्य कर्तव्य है। पोष्यवर्गकी कभी उपेक्षा न करे, उसे कभी भी पीड़ा—कष्ट न पहुँचाये, अपशब्द न कहे, न सताये, सदा उसे सम्मान दे, आदर दे, प्रिय एवं मधुर वार्तालाप करे और अन्न, वस्त्र, औषधि आदिसे परम धर्म एवं परम कर्तव्य समझकर सदा उसकी सेवा करे, ऐसा करनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नरक-यातना भोगनी पड़ती है, अतः प्रयत्नपूर्वक उनका भरण-पोषण अवश्य करना चाहिये—

भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम्॥
नरकं पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत्।

(दक्ष० २। ३०-३१)

दक्षजीने माता, पिता, गुरु, भार्या, प्रजा, दीन-दुःखी, आश्रित व्यक्ति, अतिथि, ज्ञातिजन, बन्धु-बान्धव, विकलाङ्ग, अनाथ, शरणागत तथा अन्य जो कोई भी सेवक तथा धनहीन व्यक्ति हों, उन सभीको पोष्यवर्गके अन्तर्गत माना है। जो पुरुष इस लोकमें अनेक व्यक्तियोंकी जीविका चलाता है, उसीका जीवन सफल है, अन्य लोग जो केवल अपना ही पेट भरते हैं, वे जीते-जी मरे हुएके समान हैं—

जीवत्येकः स लोकेषु बहुभिर्योऽनुजीव्यते।
जीवन्तोऽपि मृताश्चान्ये पुरुषाः स्वोदरम्भराः॥

(दक्ष० २। ४०)

अपने धनका सदुपयोग करो

जो विशिष्ट लोगोंको दान देता है अथवा अपने धनका उपयोग दूसरेकी सेवामें करता है, साथ ही उपार्जित धनसे यज्ञ-याग, पूजा-पाठ आदि सत्कर्मानुष्ठान करता है, उसी *व्यक्तिका धन धन कहलाने योग्य होता है, वही धन सच्चा* धन है, वही धनका सदुपयोग है, इससे अतिरिक्त कार्योंमें धनका प्रयोग उसका दुरुपयोग ही है, उस धनका नाश हो जाता है, वह टिकता नहीं। दक्ष प्रजापतिजी कहते हैं जो गृहस्थ इन सत्कर्मोंमें, धर्माचरणमें अपने न्यायोपार्जित द्रव्यका उपयोग करता है, उसीको मैं धन मानता हूँ, इसके अतिरिक्त धन तो आजतक न किसीका बचा है और न ही आगे बचेगा, वह नष्ट ही हो जाता है—

यद्ददाति विशिष्टेभ्यो यज्जुहोति दिने दिने॥
तत्तु वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षति।

(दक्ष० २। ३४-३५)

उत्तम एवं अधम स्त्रियोंके लक्षण

दक्ष प्रजापतिजीका कहना है कि पुरुषोंके लिये घरके मूलमें उसकी स्त्री ही है, यदि वह स्त्री पतिका अनुवर्तन करनेवाली और उसके अनुकूल हो तो गृहस्थाश्रमके समान अन्य कोई आश्रम नहीं है, क्योंकि ऐसी स्त्री धर्म, अर्थ एवं कामरूप त्रिवर्गके साधनमें सहभागिनी होती है। सदा पतिके अनुकूल चलनेवाली, अपशब्द न बोलनेवाली, प्रिय वचन बोलनेवाली, प्रत्येक कार्यमें कुशल, साधुस्वभाववाली, अपना गोपन करनेवाली तथा स्वामिभक्त स्त्री मानुषी नहीं वह तो देवी कहलाने योग्य है, साक्षात् देवता है—

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी प्रियंवदा॥
आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी॥

(दक्ष० ४। ३-४)

१-वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः॥ ततो दानं च शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा।(दक्षस्मृति २। २६-२७)

जिसकी स्त्री सदा अनुकूल रहनेवाली है, उसके लिये यहीं स्वर्ग है, किंतु प्रतिकूल स्त्रीवाले पुरुषके लिये यहीं नरक है। इसमें कोई संशय नहीं। भर्ताका सदा सब प्रकारसे प्रिय करनेवाली स्त्री ही स्त्री है, दूसरी तो जरा-स्वरूप ही है—

भर्तुः प्रीतिकरी नित्यं सा भार्या हीतरा जरा॥

(दक्ष० ४। १३)

जिसके शिष्य, भार्या, बच्चे, भाई, पुत्र, सेवक और आश्रित व्यक्ति—ये सभी विनयशील हों, उसका लोकमें सर्वत्र गौरव है। अन्यथा वह दुःखी ही होता है और उपहासका पात्र बनता है।

दूसरेको दिया गया सुख-दुःख स्वयंको मिलता है

महात्मा दक्ष बड़ा सुन्दर उपदेश देते हुए बताते हैं कि सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह जैसे अपने-आपको सुखी देखना चाहता है, उसी प्रकार दूसरेको भी देखे; क्योंकि अपने और दूसरेमें बराबर ही सुख-दुःख होते हैं। दूसरे किसी जीवको जो सुख या दुःख दिया जाता है, वह सब आगे चलकर स्वयंको प्राप्त होता है—

यथैवात्मा परस्तद्वद् द्रष्टव्यः सुखमिच्छता।
सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे॥
सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किञ्चित् क्रियते परे।
ततस्तत्तु पुनः पश्चात् सर्वमात्मनि जायते॥

(दक्ष० ३। २०-२१)

सच्चा सुख धर्माचरणसे ही प्राप्त होता है

जो कर्म नहीं कर सकता, उसके द्वारा धर्मका अनुष्ठान कैसे सम्भव होगा और जो धर्माचरणसे हीन है, उसे सुख कहाँसे मिलेगा। सुखकी अभिलाषा सभी रखते हैं, परंतु सुख धर्माचरणसे ही प्राप्त होता है। अतः चारों वर्णोंके मनुष्योंको प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये।

सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि तच्च धर्मसमुद्भवम्।
तस्माद्धर्मः सदा कार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः॥

(दक्ष० ३। २३)

नव-नवक[१]

दक्षस्मृतिमें वर्णित 'नव-नवक' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें गृहस्थ व्यक्तिके सदाचार एवं व्यवहार-ज्ञान-सम्बन्धी नौ प्रकारकी नौ-नौ बातोंका परिगणन किया गया है, इसलिये यह 'नव-नवक' कहलाता है। इसमें यह बताया गया है कि गृहस्थको नौ बातें अवश्य करणीय हैं, नौ बातें कदापि करणीय नहीं हैं, इसी प्रकार नौ पदार्थ ऐसे हैं जो सदा देय हैं और नौ ऐसे पदार्थ हैं, जिन्हें कभी नहीं देना चाहिये। यहाँ संक्षेपमें उनका परिगणन किया जा रहा है—

[१] **नौ मङ्गलकारक करणीय बातें**—अतिथि-सेवा मुख्य धर्म है। अतिथिके घर आनेपर गृहस्थको क्या करना चाहिये, इस सम्बन्धमें दक्ष कहते हैं कि एक सद्‌गृहस्थको आतिथ्यमें नौ बातें अवश्य करणीय हैं—

(१) सौम्य मन, (२) सौम्य दृष्टि, (३) सौम्य मुख, (४) सौम्य वचन (५) उठकर अतिथिका स्वागत करना एवं 'आइये-बैठिये' इस प्रकार कहना, (६) कुशल पूछना, (७) स्नेहपूर्वक वार्तालाप करना, (८) अतिथिके समीप बैठकर उसकी सेवा करना और (९) जब वह जाने लगे तो उसके पीछे-पीछे पहुँचानेके लिये कुछ दूरतक जाना।

मनश्चक्षुर्मुखं वाचं सौम्यं दद्याच्चतुष्टयम्॥
अभ्युत्थानमिहागच्छ पृच्छालापप्रियान्वितः।
उपासनमनुव्रज्या कार्याण्येतानि यत्नतः॥

(दक्ष० ३। ४-५)

ये नौ बातें अमृतके समान मङ्गलकारक और गृहस्थकी उन्नति करनेवाली हैं, अतः यत्नपूर्वक इन्हें अवश्य करना चाहिये।

[२] **नौ अन्य करने योग्य बातें**—उपर्युक्तके साथ ही नौ बातें ऐसी हैं, जो अभ्यागतके आनेपर विशेषरूपसे करनी चाहिये—

(१) अभ्यागतको स्थान देना, (२) जल प्रदान करना, (३) आसन, (४) पैर धोना, (५) अभ्यङ्ग (तैल-उबटन) देना, (६) आश्रय देना (ठौर देना), (७) शय्या, (८) यथाशक्ति भोजन तथा (९) मिट्टी और जल। अभ्यागतको कभी भूखा नहीं सुलाना चाहिये।

ईषद्दानानि चान्यानि भूमिरापस्तृणानि च।
पादशौचं तथाभ्यङ्गमाश्रयः शयनं तथा॥
किंचिच्चान्नं यथाशक्ति नास्यानश्नन् गृहे वसेत्।

१-स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, पूर्वार्ध, अध्याय ४० में भी प्रायः समानरूपसे यह 'नव-नवक' आया है।

मृज्जलं चार्थिने देयमेतान्यपि सदा गृहे॥

(दक्ष० ३। ६-७)

[३] **नौ आवश्यक कर्म**—नौ ऐसे कर्म हैं, जो द्विजोंद्वारा प्रतिदिन करने योग्य हैं—

(१) संध्या, (२) स्नान, (३) जप, (४) होम, (५) स्वाध्याय, (६) देवपूजन, (७) बलिवैश्वदेव, (८) अतिथिसेवा तथा (९) यथाशक्ति देव-पितृ-मनुष्य, दीन, अनाथ, तपस्वी माता-पिता एवं गुरु आदिको यथाविधि यथायोग्य भोजन तथा जलाञ्जलिसे संतुष्ट करना।

संध्या स्नानं जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम्।
वैश्वदेवं तथातिथ्यमुद्धृतं चापि शक्तितः॥
पितृदेवमनुष्याणां दीनानाथतपस्विनाम्।
मातापितृगुरूणां च संविभागो यथार्हतः॥

(दक्ष० ३। ८-९)

[४] **नौ विकर्म अथवा निन्दित कर्म**—नौ ऐसे विकर्म हैं, जो सर्वथा त्याज्य हैं, सद्‌गृहस्थको ऐसे निन्दित कर्मोंका कभी भी आचरण नहीं करना चाहिये। वे हैं—

(१) असत्य-भाषण, (२) परदारासेवन, (३) अभक्ष्य-भक्षण, (४) अगम्यागमन, (५) अपेय-पान, (६) हिंसा, (७) चोरी, (८) वेदबाह्य कर्मोंका आचरण तथा (९) मैत्र-धर्मका निर्वाह न करना—

अनृतं पारदार्यं च तथाभक्ष्यस्य भक्षणम्॥
अगम्यागमनापेयं हिंसा स्तेयं तथैव च।
अश्रौतकर्माचरणं मित्रधर्मबहिष्कृतम्॥
नवैतानि विकर्माणि तानि सर्वाणि वर्जयेत्।

(दक्ष० ३। १०—१२)

[५] **नौ प्रच्छन्न (परम गोपनीय) बातें**—नौ बातें परम गोपनीय हैं, इन्हें प्रकट नहीं करना चाहिये—

(१) अपनी आयु, (२) धन, (३) घरका कोई भेद, (४) मन्त्र, (५) मैथुन, (६) औषधि, (७) तप, (८) दान तथा (९) अपमान—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम्॥
तपो दानावमानौ च नव गोप्यानि यत्नतः।

(दक्ष० ३। १२-१३)

[६] **नौ प्रकाशमें लाने योग्य बातें**—नौ बातें ऐसी हैं, जो गृहाश्रमीको अवश्य प्रकट कर देनी चाहिये, इन्हें छिपाना नहीं चाहिये—

(१) प्रायोग्य (ऋण लेनेकी बात), (२) ऋणशुद्धि (उऋण होनेकी बात), (३) दानमें मिली वस्तु या मिली वस्तुके दानकी बात, (४) अध्ययन, (५) विक्रय की गयी वस्तु , (६) कन्यादान, (७) वृषोत्सर्ग, (८) एकान्तमें किया गया पाप तथा (९) अनिन्दित कर्म—

प्रायोग्यमृणशुद्धिश्च दानाध्ययनविक्रयाः॥
कन्यादानं वृषोत्सर्गो रहः पापमकुत्सितम्।

(दक्ष० ३। १३-१४)

[७] **नौ अक्षय सफल बातें**—नौ प्रकारके मनुष्योंको जो कुछ भी दिया जाता है, वह सफल एवं अक्षय हो जाता है—

(१) माता, (२) पिता, (३) गुरु, (४) मित्र, (५) विनयी, (६) उपकार करनेवाला, (७) दीन, (८) अनाथ तथा (९) सज्जन साधु महात्मा व्यक्ति—

मातापित्रोर्गुरौ मित्रे विनीते चोपकारिणि।
दीनानाथविशिष्टेभ्यो दत्तं तु सफलं भवेत्॥

(दक्ष० ३। १५)

[८] **नौ निष्फल बातें**—नौ प्रकारके व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें कुछ भी दिया जाय वह निष्फल ही होता है। यथा—

(१) धूर्त, (२) वन्दी, (३) मूर्ख, (४) अयोग्य वैद्य, (५) कितव (जुआरी), (६) शठ, (७) चाटुकार, (८) प्रशंसाके गीत गानेवाले चारण तथा (९) चोर—

धूर्ते वन्दिनि मन्दे च कुवैद्ये कितवे शठे।
चाटुचारणचौरेभ्यो दत्तं भवति निष्फलम्॥

(दक्ष० ३। १६)

[९] **आपत्तिकालमें भी अदेय नौ वस्तुएँ**—प्रजापति दक्षजीने नौ ऐसी वस्तुओंका निर्देश किया है, जिन्हें आपत्तिकालमें भी किसी दूसरेको नहीं देना चाहिये। जो मूढात्मा इन नौ वस्तुओंको देता है, वह प्रायश्चित्त करनेपर ही शुद्ध होता है। वे वस्तुएँ इस प्रकार हैं—

(१) सर्वसामान्य जनताकी सम्पत्ति, (२) चंदेकी

राशि, (३) दूसरेको देनेके लिये मिली हुई वस्तु या धरोहरकी सम्पत्ति, (४) बन्धनकी वस्तु (५) अपनी पत्नी, (६) पत्नीका धन, (७) जमानतकी सम्पत्ति, (८) अमानतकी वस्तु तथा (९) संतान-परम्पराके होनेपर अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति—

सामान्यं याचितं न्यस्तमाधिर्दाराश्च तद्धनम्।
अन्वाहितं च निक्षेपः सर्वस्वं चान्वये सति॥[१]

(दक्ष० ३। १७)

अध्यात्म-योग-निरूपण

महात्मा दक्ष महान् योगशक्तिसे सम्पन्न थे। अपने धर्मशास्त्रमें उन्होंने सभी आश्रम-धर्मोंका निरूपण करनेके अनन्तर अध्यात्मज्ञानरूपी योग-साधनाको मुख्य बताते हुए उसे आत्म-कल्याणका परम साधन बताया है। उनकी योगैकप्राणता स्वयं सिद्ध है। अपनी स्मृतिके अन्तमें उन्होंने योगतत्त्वपर स्पष्टरूपसे प्रकाश डाला है और उसके सभी स्वरूपोंपर विचार किया है, जो संक्षिप्त होते हुए भी साधकोंके लिये बड़े ही कामका है। योगनिरूपणकी प्रस्तावनामें वे कहते हैं—

लोको वशीकृतो येन येन चात्मा वशीकृतः।
इन्द्रियार्थो जितो येन तं योगं प्रब्रवीम्यहम्॥

(दक्ष० ७। १)

इसका भाव यह है कि योगसे मनुष्य सम्पूर्ण लोकको वशमें कर सकता है और बिना योगशक्तिके वह किसीको भी पूर्ण वशमें नहीं कर सकता। बिना योगके व्यवहार-ज्ञान भी नहीं होता। केवल योग ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य आत्माको भी वशमें कर सकता है और इन्द्रियोंको निवृत्त करनेकी क्षमता भी योगमें ही है, अन्यथा प्रमाथी स्वभाववाली इन्द्रियाँ किसी भी उपायसे वशमें नहीं हो सकतीं।

प्रजापति दक्षजीने पातञ्जल-योगसे भिन्न षडङ्गयोगका उपदेश किया है, जो प्रायः कई उपनिषदोंमें भी उपदिष्ट है। छः अङ्ग ये हैं—(१) प्राणायाम, (२) ध्यान, (३) प्रत्याहार, (४) धारणा, (५) तर्क एवं (६) समाधि।

योगके अत्यन्त सूक्ष्म और सारस्वरूपपर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि किसीके अरण्यसेवन, अनेक प्रकारके ग्रन्थोंके स्वाध्याय, अतिशारीरिक क्लेश, विविध प्रकारके यज्ञ, विभिन्न प्रकारके तप, नासिकाग्रदृष्टि, विशेष प्रकारके शारीरिक शुद्धियोंके व्यसन, मौन-धारण, अनेक प्रकारके मन्त्रोंके जप तथा पुण्यानुष्ठानोंसे भी योगसिद्धि नहीं होती; किंतु किसी पवित्र सात्त्विक पदार्थ अथवा अभीष्ट देवता आदिमें तीव्र ध्यानके अभ्यास और उन साधनोंमें गुरुके उपदेशद्वारा दृढ़ निष्ठा तथा बार-बार संसारकी निःसारता एवं नश्वरताको ध्यानमें रखते हुए तीव्र वैराग्यके आशयसे ही पूर्णयोगकी सिद्धि होती है—

अभियोगात् तथाभ्यासात् तस्मिन्नेव तु निश्चयात्।
पुनः पुनश्च निर्वेदाद्योगः सिद्ध्यति नान्यथा॥

(दक्ष० ७। ६)

जिसकी आत्म-परमात्म-चिन्तनमें ही परम प्रीति हो गयी हो और बाह्याभ्यन्तर-पवित्रता ही जिसका क्रीडा या विनोद बन गया हो और संसारके छोटे-बड़े सभी प्राणियों, चराचर-जगत्में सर्वत्र एक परमात्माकी भावनासे जिसकी समबुद्धि हो गयी हो, उसीको योगकी परम सिद्धि प्राप्त होती है, किसी अन्य उपायसे नहीं। जो आत्मारूपी परमात्मामें ही सदा रत रहता है, संसारकी अन्य वस्तुओंमें जिसका तनिक भी मन आसक्त नहीं होता और ज्ञानदृष्टिसे नित्य सत्-तत्त्व—केवल आत्मामें ही संतुष्ट और पूर्णतया परितृप्त रहता है, उसीको योगकी प्राप्ति होती है, अन्य किसीको नहीं। जो सोते-जागते स्वप्नादिमें भी एक वृत्तिसे ही भगवद्ध्यानमें रत रहता है, ऊँची-से-ऊँची स्थिति प्राप्त करनेमें सतत प्रयत्नशील रहता है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ योगी और ब्रह्मवादियोंमें वरिष्ठ कहा गया है।

जो इस विश्वमें एक परमात्मासे अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं देखता, वही योगी ब्रह्मीभूत होकर कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा दक्षका अपना अभिमत है—

य आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयं नैव पश्यति।
ब्रह्मभूतः स विज्ञेयो दक्षपक्ष उदाहृतः॥

(दक्ष० ७। ११)

१-दक्षस्मृतिकी व्यवहार-सम्बन्धी यह व्यवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रायः व्यवहारग्रन्थोंमें इसका प्राणाणिक रूपमें उल्लेख हुआ है।

यदि साधकका थोड़ा भी मन विषयोंकी ओर आकृष्ट हो जाता है तो उसे परम कल्याणमय निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती, अतः योगीको प्रयत्नपूर्वक विषयासक्तिका सर्वथा परित्याग करना चाहिये। भूलकर भी कभी विषयोंका चिन्तन नहीं करना चाहिये।

योग-साधनाका मुख्य स्वरूप बतलाते हुए दक्षजी कहते हैं—

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि।
एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते॥

(दक्ष० ७। १५)

अर्थात् विश्वप्रपञ्चसे मानसिक स्थितिको सर्वथा मुक्त कर क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा)-को विशुद्ध परमात्मामें लीन कर देना चाहिये। दोनोंका सर्वथा एक भाव हो जानेसे साधक मुक्त हो जाता है। यही मुख्य योग कहा जाता है।

सारे विषय-भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर मन जब निश्चल और सुस्थिर हो जाता है, केवल आत्मशक्तिसे स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, तो इसी स्थितिका नाम समाधि है—

त्यक्त्वा विषयभोगांश्च मनो निश्चलतां गतम्।
आत्मशक्तिस्वरूपेण समाधिः परिकीर्तितः॥

(दक्ष० ७। २१)

न तो अपनेपनका भाव हो, न परायेपनका भाव हो और न कोई अन्य भाव हो, शेष संसारका लेशमात्र भी भान न हो, 'केवल एकमात्र सर्वत्र ब्रह्म ही स्थित है' इस प्रकार चिरकालतक भावनासे भावित व्यक्ति ही परम पद—कैवल्य या निर्वाण प्राप्त करता है—

नाहं नैवान्यसम्बन्धो ब्रह्मभावेन भावितः।
ईदृशायामवस्थायामवाप्यं परमं पदम्॥

(दक्ष० ७। ४९)

ऐसा ध्यान-समाधिस्थ योगी जिस देश या स्थानमें निवास करता है, वह समग्र देश तो पवित्र, कृतार्थ हो ही जाता है, फिर उस योगीके कुल-परिवार, बन्धु-बान्धवोंकी कृतार्थताका क्या कहना? अर्थात् योगी न केवल अपनेको अपितु कुल-परिवारके साथ ही सम्पूर्ण देश किंवा चराचर जगत्‌का कल्याण कर देता है—

यस्मिन् देशे वसेद् योगी ध्यानयोगविचक्षणः।
सोऽपि देशो भवेत् पूतः किं पुनस्तस्य बान्धवाः॥

(दक्ष० ७। ४७)

आख्यान—

अपनी ही तरह दूसरोंके साथ बर्ताव करे

[दो दृष्टान्त]

सबसे बड़ा पाप है—परपीडन अर्थात् मन , वचन और कर्मसे किसीको थोड़ा भी कष्ट पहुँचाना बहुत बड़ा पाप माना जाता है। इस बड़े पापसे बचावके लिये और इसकी पहचानके लिये धर्मशास्त्रने हमें एक बहुत ही सुगम उपाय इस प्रकार बताया है—'जिस बर्तावसे हमको सुख मिलता है, उससे दूसरोंको भी सुख मिलेगा और जिस बर्तावसे हमको कष्ट होता है, उससे दूसरोंको भी कष्ट होगा।' इस कसौटीपर कसकर हमें दूसरोंको सुख पहुँचानेका प्रयास करते रहना चाहिये—

यथैवात्मा परस्तद्वद्द्रष्टव्यः सुखमिच्छता।
सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे॥

(दक्ष० ३। २०)

अर्थात् सुख चाहनेवाले व्यक्तिको चाहिये कि वह अपने समान ही दूसरोंको समझे; क्योंकि सुख और दुःख अपने और पराये—दोनोंके लिये समान होते हैं। इस तथ्यके दो दृष्टान्त यहाँ दिये जा रहे हैं—

(१) बालककी परदुःखकातरता

धन्य हैं वे अभिभावक, जो बचपनमें ही ऐसी सुन्दर सीख अपने बच्चोंको घूँटीकी तरह पिला देते हैं। संत नामदेवकी माताने बचपनमें ही यह सीख उन्हें दे दी थी। यही कारण है कि संत नामदेव बचपनसे ऐसी कोई बात ही नहीं बोलते थे, जिससे किसीको कष्ट हो। ऐसा कोई काम नहीं करते थे, जिससे किसीको चोट पहुँचे। कोई नया काम करनेसे पहले वे आजमा लेते थे कि इस काममें

मुझपर क्या प्रभाव पड़ रहा है।

एक दिन माताने बालक नामदेवसे कहा—'वत्स! कुल्हाड़ी लो और पलाशकी छाल छीलकर ले आओ।' संत नामदेव तो माताको ईश्वरकी मूर्ति मानते थे, उनकी आज्ञाका पालन तो उन्हें करना ही था। वे झट छाल छील कर ले आये और माँको दे दिये। बालक नामदेवके लिये यह काम नया था, इसलिये इसको अपने ऊपर आजमाना आवश्यक हो गया था। छाल छीलनेपर पेड़को कष्ट हुआ कि नहीं, यह अपने ऊपर आजमाये बिना कैसे जाना जा सकता है, अतः बालकने कुल्हाड़ीसे अपना ही पैर छील लिया। उसे कष्टका अनुभव हुआ। बच्चा सोचने लगा कि तब तो मैंने पेड़को बहुत ही कष्ट पहुँचाया।

(२) दूसरेकी गलतीके लिये छटपटाहट

सेठ रमनलालजीने भी धर्मशास्त्रकी इस सीखको जीवनमें उतार लिया था। वे सदा इस बातपर ध्यान देते रहते थे कि जो कर्म मेरे लिये प्रतिकूल पड़ता है, उसका प्रयोग दूसरेपर न होने दें।

सेठजीके रसोइयेका नाम था लाभशंकर। वह बहुत भला आदमी था। अपनी ड्यूटीपर सदा सावधान रहता था। फिर भी उससे एक दिन भूल हो ही गयी। उसने हलवेमें चीनीकी जगह नमकका घोल और तरकारियोंमें नमककी जगह चीनीका घोल डाल दिया। भोजन तैयार हो गया। भोग लगाकर थाली सेठजीके सामने रखी गयी।

सेठजीको हलवा नमकीन मालूम हुआ और तरकारियाँ बिना नमककी, उनमें कुछ मिठास मालूम पड़ रही थी। वे रसोइयेकी भूल तुरंत ताड़ गये। उन्होंने रसोइयेको बहुत ध्यानसे देखा, बेचारेका चेहरा उतरा हुआ था, उसका मन बेचैन था।

सेठजीने कहा—'लाभशंकर! तुम उदास क्यों हो? तबीयत तो ठीक है न!' लाभशंकरने कहा—'मेरी तबीयत तो ठीक है, पर ब्राह्मणी बीमार है, इसलिये उदासी आ गयी होगी।' लाभशंकरने यह छिपा लिया कि 'ब्राह्मणी बीमार ही नहीं सख्त बीमार है और रातभरमें मैंने एक झपकी भी नहीं ली।'

जो अपने ही सुख-दुःखकी तरह दूसरोंके सुख-दुःखको आँका करते हैं, ऐसे लोग दूसरोंके दुःखको बिना कहे ही समझ जाते हैं। सेठजीको रसोइयेकी दुःस्थितिसे बड़ा कष्ट हुआ। उनका हृदय पिघल गया। बोले—'भाई! तुम इस नौकरको अपने साथ लेते जाओ। यह तो तुम्हारी पत्नीकी देख-भाल करेगा और तुम जाकर पहले थोड़ा सो लो। तुम्हें तो आज यहाँ आना ही नहीं चाहिये था। जल्दी करो, उठो, अब जाओ।'

सेठजी रसोइयेकी इस गलतीको उससे छिपानेमें सफल हो गये। सेठजीको चिन्ता यह थी कि 'यदि उस बेचारेको अपनी इस गलतीका पता चल जायगा तो उसे बड़ा ही मर्मान्तक कष्ट होगा।' यह राज आगे भी न खुलने पाये इसके लिये उन्होंने पासमें बैठी हुई पत्नीसे कहा—'तुमने जान ही लिया है कि लाभशंकर बीमार पत्नीको असहाय छोड़कर नौकरी न छूट जाय इस डरसे यहाँ आया था। उसकी आँखें बता रही थीं कि रातभर उसने झपकी तक नहीं ली। दूसरी बात यह है कि गम्भीर रूपसे बीमार अपनी पत्नीको असहाय छोड़कर आया है। इसी अन्यमनस्कतासे उसने हलुवेमें नमक और तरकारीमें चीनी छोड़ दी। इस परिस्थितिमें ऐसी गलती होना असम्भव नहीं है। यह बात हम दोनोंतक ही सीमित रह जानी चाहिये। तीसरेको पता न चले।

सेठानीजी सेठजीकी ही तरह थीं। उन्हें अधिक समझानेकी आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने कहा—'यह बात बिलकुल गुप्त रहेगी, तीसरेको पता नहीं चलेगी। मैं इस सामानको गोशालामें दे देती हूँ और तुरंत दूसरा तैयार करा देती हूँ। आप निश्चिन्त रहें।'

(ला० मि०)
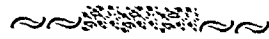
वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः। शिष्टाचीर्णोऽपरः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः॥

पहला है वेदोक्त धर्म, जो सबसे उत्कृष्ट धर्म है, दूसरा है वेदानुकूल स्मृतिशास्त्रमें वर्णित स्मार्तधर्म और तीसरा है शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित धर्म (शिष्टाचार)। ये तीनों धर्म सनातन हैं। (महाभा०, अनु० प० १४१। ६५)
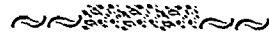
महर्षि विश्वामित्र और उनका धर्मशास्त्र

[विश्वामित्रस्मृति]

महर्षि विश्वामित्रके समान सतत लगनके पुरुषार्थी ऋषि शायद ही कोई हों। इन्होंने अपने पुरुषार्थसे, क्षत्रियत्वसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया, राजर्षिसे ब्रह्मर्षि बने। ये सप्तर्षियोंमें अग्रगण्य हुए और वेदमाता गायत्रीके द्रष्टा ऋषि हुए।

प्रजापतिके पुत्र कुश हुए। इन्हींके वंशमें महाराज गाधि हुए, उन्हीं गाधिके पुत्र महाराज विश्वामित्र हैं। कुशवंशमें उत्पन्न होनेके कारण ये कौशिक, गाधिके पुत्र होनेसे गाधिज अथवा गाधिनन्दन या गाधितनय भी कहलाते हैं। ये बड़े धर्मात्मा प्रजापालक राजा थे। एक बार ये सेनाके साथ जंगलमें शिकारके लिये गये। वहाँ ये महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर पहुँचे। वसिष्ठने इनकी कुशल-क्षेम पूछी और सेनासहित आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करनेकी प्रार्थना की।

विश्वामित्रने कहा—'भगवन्! हमारे साथ हजारों-लाखों सैनिक हैं, आप अरण्यवासी ऋषि हैं, आपने जो फल-फूल दिये, उसीसे हमारा सत्कार हो चुका। हम इसी सत्कारसे संतुष्ट हैं।'

महर्षि वसिष्ठने उनसे बहुत आग्रह किया, उनके आग्रहसे इन्होंने सेना-सहित आतिथ्य ग्रहण करनेकी स्वीकृति दे दी। वसिष्ठजीने अपने योगबलसे कामधेनुकी सहायतासे समस्त सैनिकोंको भाँति-भाँतिके पदार्थोंसे भलीभाँति संतुष्ट किया। कामधेनुके ऐसे प्रभावको देखकर विश्वामित्रजी चकित हो गये। उनकी इच्छा हुई कि यह धेनु हमें मिल जाय। उन्होंने कामधेनुके लिये भगवान् वसिष्ठसे प्रार्थना की। वसिष्ठजीने कहा—'इसीके द्वारा मेरे यज्ञ-याग, अतिथिसेवा आदि सब कार्य सम्पन्न होते हैं, इसे मैं नहीं दूँगा।' इसपर विश्वामित्रजी ज़बरदस्ती कामधेनुको ले चले। वसिष्ठजी सब चुपचाप शान्तिपूर्वक देखते रहे। कामधेनुने आज्ञा चाही कि वह अपनी रक्षा स्वयं कर ले। तब वसिष्ठजीने स्वीकृति दे दी। कामधेनुने अपने प्रभावसे लाखों सैनिक पैदा किये, विश्वामित्रजीकी सेना भाग गयी। वे पराजित हो गये। इससे उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने कहा—'क्षत्रियबल—शारीरिक बलको धिक्कार है, ब्रह्मबल ही सच्चा बल है।' यह सोचकर उन्होंने राजपाट छोड़ दिया और घोर तपस्या करने लगे। तपस्यामें भाँति-भाँतिके विघ्न होते ही हैं। सबसे पहले कामने विघ्न डाला। मेनका अप्सराने उनकी तपस्यामें विघ्न डाला। जब उन्हें होश हुआ तो पश्चात्ताप करते हुए फिर जंगलमें चले गये। वहाँ जाकर घोर तपस्यामें तल्लीन हो गये। कामके बाद क्रोधने विघ्न डाला।

राजा त्रिशंकुको गुरु वसिष्ठका शाप था, विश्वामित्रने भगवान् वसिष्ठके वैरको याद कर उसे यज्ञ करनेके लिये कह दिया। सभी ऋषियोंको बुलाया। सारे ऋषि विश्वामित्रके तपके प्रभावको सुनकर आ गये, किंतु महर्षि वसिष्ठजीके सौ पुत्र नहीं आये। इसपर क्रोधके वशीभूत होकर विश्वामित्रने वसिष्ठके पुत्रोंको मार डाला। इतनेपर भी वसिष्ठजीने उनसे कुछ नहीं कहा। तब तो उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। ओहो! यह तो मेरी तपस्यामें बड़ा विघ्न हुआ। तपस्वीको क्रोध करना घोर पाप है। वे सब छोड़कर फिर तपस्यामें रत हो गये। बहुत दिनोंतक घोर तपस्या करनेके पश्चात् उन्हें बोध हुआ कि—'काम और क्रोध ही तपस्यामें बड़े विघ्न हैं। जिसने काम और क्रोधको जीत लिया वही ब्रह्मर्षि है, वही महर्षि है, उसे ही सच्चा ज्ञान है। मैंने वसिष्ठका कितना अनिष्ट किया—जब उनकी कामधेनुको मैं ज़बरदस्ती लेने लगा, तब भी वे चुप रहे, उनके पुत्रोंको मरवा डाला, तब भी वे कुछ नहीं बोले। मुझमें यही दोष है, मैं भी वैसा ही बनूँगा, अब काम-क्रोधके वशीभूत न होऊँगा'—ऐसा निश्चय करके वे काम-क्रोधको जीतकर बड़ी तत्परतासे तप करने लगे।

उनके घोर तपसे ब्रह्माजी प्रसन्न हुए। वे इनके पास आये और वरदान माँगनेको कहा। इन्होंने कहा—'यदि आप मुझे योग्य समझें तो 'ब्रह्मर्षि' बननेका आशीर्वाद दें और स्वयं भगवान् वसिष्ठ अपने मुँहसे मुझे ब्रह्मर्षि कह दें।'

इनकी तपस्यासे वसिष्ठजी पहले ही प्रसन्न हो चुके थे। उन्हें पता चल चुका था कि विश्वामित्रने तपस्याके प्रभावसे काम-क्रोधको जीत लिया है, इसलिये ब्रह्माजीके कहनेपर वसिष्ठजीने बड़े ही आदरसे विश्वामित्रजीको 'ब्रह्मर्षि' की

उपाधि दी। उन्हें गलेसे लगाया, उनके तपकी, सच्ची लगनकी, सतत उद्योगकी प्रशंसा की और सप्तर्षियोंमें उन्हें स्थान दिया।

तपस्याके प्रभावसे विश्वामित्रजी जगत्पूज्य हुए। दशरथजीके यहाँसे भगवान् श्रीरामजीको ले आये, उन्हें सब प्रकारकी विद्याएँ दीं, मिथिला ले जाकर श्रीसीताजीसे विवाह कराया और अन्तमें त्रैलोक्यको कँपानेवाले रावणका वध कराया। महर्षि विश्वामित्रजीका समस्त जीवन तपस्या और परोपकारमें ही व्यतीत हुआ।

साक्षात् भगवान् श्रीराघवेन्द्र, जिन विश्वामित्रजीको महर्षि वसिष्ठके समान ही अपना गुरुदेव मानते थे और अपने कमल-कोमल करोंसे जिनके चरण दबाते थे, उनके सौभाग्य तथा उनकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है?

पुराण तथा रामायण आदि ग्रन्थ उनकी महिमासे भरे पड़े हैं। उनके त्याग, तपस्या एवं सदाचारमय जीवनचर्याके अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं। मूलतः आज जो ब्रह्म-गायत्री[1] है, उसके मुख्य द्रष्टा विश्वामित्रजी ही हैं। इन्हें ही सर्वप्रथम वेदमाता भगवती गायत्रीके दर्शन हो सके थे। वेदों, संहिताओं तथा ब्राह्मण-आरण्यक ग्रन्थोंमें यह गायत्री-मन्त्र उपनिबद्ध है। इसी मूल ब्रह्मगायत्री-मन्त्रके आधारपर अन्य गायत्री-मन्त्र भी प्रस्फुटित हो प्रकाशमें आये। महर्षि विश्वामित्र ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हैं, इसीलिये यह मण्डल 'वैश्वामित्र-मण्डल' भी कहलाता है। इसीमें गायत्री-मन्त्र भी आया है। इस प्रकार गायत्री-मन्त्र महर्षि विश्वामित्रकी ही देन है। गोत्र-प्रवर्तकोंमें भी इनका मुख्य स्थान है। इनके अनेक धर्मग्रन्थ हैं, जिनमें 'विश्वामित्रकल्प', 'विश्वामित्रसंहिता' तथा 'विश्वामित्रस्मृति' प्रमुख हैं। ये सभी ग्रन्थ गायत्री-उपासना एवं संध्योपासन-विधानमें ही पर्यवसित हैं। गायत्री-मन्त्रमें अपार शक्ति है। महर्षि विश्वामित्र इस गायत्री-मन्त्रके मूल आचार्य हैं, अतः गायत्री-उपासनामें इनकी कृपा प्राप्त करना भी आवश्यक है।

महर्षि विश्वामित्रकी जीवनचर्या धर्माचरणसे अनुस्यूत रही है। इन्होंने गायत्री-साधनासे काम, क्रोध, लोभ, मोह-जैसे दुर्दान्त शत्रुओंको जीत लिया और ये तपस्याके आदर्श बन गये। सप्तर्षियोंमें स्थित होकर आज भी ये जीवके कल्याण-चिन्तनमें लगे रहते हैं। 'भोग-वासना कभी क्षीण नहीं होती, वह भोगोंसे नित्य बढ़ती ही जाती है', इस सम्बन्धमें इनका एक उपदेश बहुत ही मार्मिक है, सबके लाभके लिये उसे यहाँ दिया जाता है—

कामं कामयमानस्य यदि कामः समृध्यति।
अथैनमपरः कामो भूयो विध्यति बाणवत्॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
कामानभिलषन् मोहान्न नरः सुखमेधते।

(पद्म०, सृ० १९। २६१—२६३)

कामनाकी पूर्ति चाहनेवाले मनुष्यकी यदि एक कामना पूर्ण होती है तो दूसरी नयी कामना उत्पन्न होकर उसे पुनः बाणके समान बींधने लगती है। भोगोंकी इच्छा उपभोगके द्वारा कभी शान्त नहीं होती, प्रत्युत घी डालनेसे प्रज्वलित होनेवाली अग्निकी भाँति वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। भोगोंकी अभिलाषा रखनेवाला पुरुष मोहवश कभी सुख नहीं पाता। अतः उसका सर्वथा परित्याग कर आत्म-चिन्तनमें लग जाना चाहिये।

इस प्रकारके अनेक जीवनोपयोगी तथा पारमार्थिक कल्याणकारी उपदेश महर्षि विश्वामित्रकी वाणीसे प्रस्फुटित हो इनके ग्रन्थों तथा पुराणेतिहास-ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं। यहाँ उनके मुख्य धर्मशास्त्र 'विश्वामित्रस्मृति' का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

विश्वामित्रस्मृति

'संध्योपासना एवं गायत्री-आराधना'—स्मृतियोंका एक मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। स्मृतियोंमें भी कण्व, भरद्वाज, मनु, याज्ञवल्क्य तथा व्यास आदि स्मृतियोंमें विशेषरूपसे संध्योपासनाकी महिमा निरूपित है, पर इन सबमें महामुनि विश्वामित्रप्रणीत 'विश्वामित्रस्मृति'का विशेष गौरव है। ये गायत्रीकल्पके मुख्य आचार्य और गायत्री-मन्त्रके मुख्य द्रष्टा भी हैं।

इस स्मृतिमें सात अध्याय और लगभग ४७५ श्लोक

१-तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (ऋग्वेद ३। ६२। १०)

हैं। यह स्मृति आद्योपान्त गायत्री-उपासनामें ही पर्यवसित है। पूरी स्मृति श्लोकोंमें निबद्ध है, किंतु जहाँ मन्त्रोंके विनियोग और ऋषि, छन्द, देवताका वर्णन है, वहाँ गद्य-भाग भी है। मुख्यरूपसे इसमें ब्राह्ममुहूर्त, उषःकाल, अरुणोदय और प्रातःकालके मानका वर्णन, नित्य और नैमित्तिक कर्म समयपर करनेपर ही फलीभूत होते हैं, आदिका वर्णन करते हुए नियतकालकी महिमा, संध्या और जप आवश्यक नित्यकर्म हैं, इत्यादिका प्रतिपादन किया गया है, साथ ही प्रातःकालीन कृत्य—जैसे जागरण, भूमिवन्दना, मङ्गलदर्शन, प्रातःस्मरणीय मङ्गलपाठ आदि, प्रातःस्नानकी महिमा, आचमन-विधि, श्रौत, स्मार्त, आगम, पौराण एवं मानस पञ्चविध आचमनोंकी विधि, मार्जन-विधि तथा मार्जन-मन्त्र, प्राणायाम-विधि, प्राणायामसे लाभ, विलोम गायत्री-मन्त्र-जप-विधान तथा उसका अनन्त फल, मानसी पूजा, संध्यामें त्रैकालिक सूर्यार्घ्यदानका विधान, प्रायश्चित्तार्घ्यदान, नैमित्तिक एवं काम्य नामसे जपके दो भेद, जपके लिये प्रशस्त देश, भूतशुद्धि, दिग्बन्धन, कराङ्गन्यास, हृदयादिन्यास, गायत्रीकी २४ मुद्राएँ तथा आवाहन आदि १० मुद्राएँ, संध्यामें सूर्योपस्थानकी महिमा तथा सूर्योपस्थानकी विधि और इसके मन्त्र, देवयज्ञ, वैश्वदेव एवं पञ्चबलि तथा नित्य-होमका विधान बतलाया गया है। गायत्री-उपासकों तथा संध्याके विषयमें जिज्ञासुजनोंके लिये यह स्मृति विशेष उपयोगी है। महामुनि विश्वामित्र तपस्याके धनी हैं और इनकी दीर्घकालीन तपस्याका रहस्य निरन्तर गायत्री-साधना ही है। इन्हें गायत्री माता सिद्ध थीं और उनकी इनपर पूर्ण कृपा थी। इन्होंने नवीन सृष्टि तथा त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग आदि भेजनेके जो भी असम्भव कार्य किये, उन सबके पीछे संध्योपासनाका ही बल था और इसी बलपर ये राजर्षिसे ब्रह्मर्षि कहलाये। अन्य अधिकारीजन भी नित्य भाव-भक्तिपूर्वक संध्योपासना करें और उन्हें उसकी पूर्ण विधिका ज्ञान हो सके, इस दृष्टिसे उन्होंने एक व्यवस्था बना दी, जो ग्रन्थरूपमें 'विश्वामित्रस्मृति'के नामसे प्रसिद्ध हो गयी। यह महामुनिका हमपर बड़ा उपकार है।

यहाँ इस स्मृतिकी कुछ बातें दी जा रही हैं—

सभी कर्म नियत कालपर ही करें

महर्षि विश्वामित्र अपनी स्मृतिके प्रारम्भमें ही बताते हैं कि स्नान-संध्या आदि नित्य-नैमित्तिक तथा काम्य जो भी कर्म धर्मशास्त्रोंमें निर्दिष्ट किये गये हैं और उन्हें सम्पादित करनेका जो समय नियत किया गया है, वे कर्म उसी नियत समयपर ही करने चाहिये, तभी वे फलीभूत होते हैं, अन्यथा निष्फल होते हैं—

नित्यनैमित्तिके काम्ये कृते काले तु सत्फलम्॥
कालातीतं न कर्तव्यं कर्तव्यं कालसंयुतम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन काले कर्म समाचरेत्॥

(विश्वामित्र० १। ४, ७)

जैसे समयपर वृष्टि होते ही बीज बोनेसे फसल अच्छी होती है, वैसे ही नियुक्त कर्मोंको नियत समयपर करनेसे वे सद्यः सुख और सिद्धि देनेवाले होते हैं—

नियुक्तकर्माणि नियुक्तकाले
कृतानि सद्यः सुखसिद्धिदानि।
यथोप्तबीजानि यथा फलानि
काले हि वृष्टिर्भुवि जीवनानि॥

(विश्वामित्र० १। २१)

यदि किसी कारण विहित कालका लोप हो जाय तो प्रायश्चित्त-स्वरूप तीन हजार गायत्रीका जप करना चाहिये—

त्रिसहस्रजपं कुर्यात् प्रायश्चित्तं विधीयते।

(विश्वा० १। ९)

त्रिकाल-संध्याका समय

संध्या प्रातः, मध्याह्न तथा सायं—इस प्रकारसे तीनों कालोंमें की जाती है और प्रत्येक संध्या उत्तम, मध्यम तथा अधम—इस प्रकारसे तीन प्रकारकी बतलायी गयी है। सूर्योदयसे पूर्व जब आकाशमें तारे दिखलायी देते हों, उस समयकी संध्या उत्तम मानी गयी है। ताराओंके छिपनेसे सूर्योदयतक मध्यम और सूर्योदयके बादकी संध्या अधम होती है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रातःसंध्या त्रिधा मता॥

(विश्वा० १। २२)

दोपहरसे पूर्व की गयी मध्याह्न-संध्या उत्तम, ठीक

दोपहरके समय की गयी संध्या मध्यम और दोपहरके बादकी संध्या अधम कही गयी है—

उत्तमा पूर्वसूर्या च मध्यमा मध्यसूर्यका।
अधमा पश्चिमादित्या मध्यसंध्या त्रिधा मता॥

(विश्वा० १। २३)

इसी प्रकार सायंकालकी संध्या सूर्य रहते कर ली जाय तो उत्तम, सूर्यास्तके बाद और तारोंके निकलनेके पूर्व मध्यम तथा तारे निकलनेके बाद अधम कही गयी है—

उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
अधमा तारकोपेता सायंसंध्या त्रिधा मता॥

(विश्वा० १। २४)

संध्यामें किस ओर मुख करके बैठे

तीनों कालकी संध्या करते समय किस ओर मुख करके बैठे, इसकी व्यवस्था देते हुए महामुनि विश्वामित्रका कहना है कि चाहे प्रातः-संध्या हो या मध्याह्नसंध्या हो या सायं-संध्या हो, द्विजातिको चाहिये कि वह तीनों कालमें पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुख करके बैठे, दक्षिण तथा पश्चिमकी ओर मुख करके कदापि न बैठे—

संध्यात्रये पूर्वमुखो द्विजन्मा
त्रिधैव शुद्धाचमनं प्रकुर्यात्।
उदङ्मुखो वापि समाचरेन्न
तद् दक्षिणापश्चिमयोः कदापि॥

(विश्वा० १। २६)

प्रातःकाल भूमि-वन्दना करे

सूर्योदयसे चार घड़ी (लगभग डेढ़ घंटे) पूर्व ही ब्राह्ममुहूर्तमें जग जाना चाहिये और अपने हाथोंका दर्शनकर पृथ्वीपर पैर रखनेसे पूर्व पृथ्वी माताका अभिवादन करना चाहिये और उनपर पैर रखनेकी विवशताके लिये उनसे क्षमा माँगते हुए इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले॥
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।

(विश्वा० १। ४४-४५)

अर्थात् समुद्ररूपी वस्त्रोंको धारण करनेवाली, पर्वतरूपी स्तनमण्डलवाली भगवान् विष्णुकी पत्नीरूप हे पृथ्वीदेवि! आप मेरे पादस्पर्शको क्षमा करें।

इसी प्रकार भगवान् भैरवसे भी दैनन्दिन कार्योंको करनेकी आज्ञा माँगनी चाहिये—

अतितीक्ष्णमहाकाय कल्पान्तदहनोपमः॥
भैरवाय नमस्तुभ्यमनुज्ञां दातुमर्हसि।

(विश्वा० १। ४५-४६)

अत्यन्त सुतीक्ष्ण महान् शरीरवाले, कल्पान्त-प्रलयाग्निके समान तेजोमय हे भैरवदेव! आपको नमस्कार है। आप आज्ञा देनेमें समर्थ हैं, अतः मुझे कार्य करनेकी अनुमति प्रदान करें।

इसके अनन्तर शौच, दन्तधावन तथा स्नान आदि कर्मोंको करना चाहिये। इनकी पूरी विधि इस स्मृतिमें दी गयी है।

स्नानसे लाभ

विधिपूर्वक नित्य प्रातःकाल स्नान करनेवालेको रूप, तेज, बल, पवित्रता, आयु, आरोग्य, निर्लोभता, तप और मेधा प्राप्त होते हैं तथा उसके दुःस्वप्नका नाश होता है—

गुणा दश स्नानकृतो हि पुंसो
रूपं च तेजश्च बलं च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं
दुःस्वप्ननाशं च तपश्च मेधा॥

(विश्वा० १। ८६)

स्नानादिसे निवृत्त होकर प्राणायाम, अघमर्षण तथा सूर्योपस्थान आदि करके गायत्री माताका ध्यान करना चाहिये। तदनन्तर गायत्री-मन्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप करना चाहिये। इस स्मृतिमें गायत्री माताके अनेक ध्यान-स्वरूप बतलाये गये हैं, जिनमें उनके मुख्य ध्यानका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—

पञ्चमुखी गायत्री माताका ध्यान

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वात्मवर्णात्मिकाम्।
सावित्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाः शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे[1]॥

(विश्वामित्र० ६। ६५)

जो मोती, मूँगा, सुवर्ण, नीलमणि तथा उज्ज्वलप्रभाके

१-यह भगवती गायत्रीका मुख्य ध्यान है। शारदातिलक (२१। १५) आदि आगमों तथा देवीभागवत आदिमें भी यह ध्यान उपन्यस्त है।

समान वर्णवाले (पाँच) मुखोंसे सुशोभित हैं। तीन नेत्रोंसे जिनके मुखोंकी अनुपम शोभा होती है। जिनके रत्नमय मुकुटमें चन्द्रमा जड़े हुए हैं। जो २४ वर्णोंसे युक्त हैं तथा जो वरदायिनी गायत्री अपने दस हाथोंमें अभय और वरमुद्राएँ, अङ्कुश, पाश, शुभ्र कपाल, रस्सी, शङ्ख, चक्र और दो कमल धारण करती हैं, हम उनका ध्यान करते हैं।

इस प्रकारसे संध्योपासनाकी सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग विधि तथा गायत्रीके अनुलोम, प्रतिलोम आदि जपका फल बताकर अन्तमें संक्षेपमें वैश्वदेव-प्रकरण निर्दिष्ट है और इसकी महिमामें बतलाया गया है कि बलिवैश्वदेव नित्यकर्म है, इसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक अथवा बिना मन्त्रके ज्ञानके भी अवश्य करना चाहिये। मन्त्रके ज्ञानके अभावमें कर्मका लोप नहीं करना चाहिये। वैश्वदेव करनेसे दूषित अन्न भी परम पवित्र एवं सात्त्विक हो जाता है—

अमन्त्रं वा समन्त्रं वा वैश्वदेवं न संत्यजेत्।
वैश्वदेवस्य करणात् अन्नदोषैर्न लिप्यते॥

(विश्वा० ८। २१)

～～～

आख्यान—

गायत्री-जपसे मुक्ति

[जापक ब्राह्मणकी कथा]

सभी स्मृतियोंमें गायत्री-मन्त्रका महत्त्व वर्णित है। मनुस्मृतिने बताया है कि प्रणव और व्याहृतिके साथ सावित्री (गायत्री)-मन्त्रका जप करनेवाला व्यक्ति सभी पापोंसे छूट जाता है (मनु० २। ७९)। मनुजीने यह भी बताया है कि जापक अन्य कुछ करे या न करे जपसे उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है। वह मन्त्र-जपसे ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है। यही बात विश्वामित्रस्मृतिमें भी आयी है—'**गायत्री........मुक्तिदायिनी॥**' (५। १२) इस संदर्भमें एक कथा दी जाती है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि गायत्री-जप करनेसे जापक देवताओंके लोकोंसे भी ऊपर पहुँच सकता है और मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

वेदोंके पारंगत एक विद्वान् ब्राह्मण थे। उन्होंने गायत्री-जपमें मन लगाया। हजार वर्ष जप करनेके बाद सावित्री देवीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'वत्स! तुम अपना मनोरथ बताओ, मैं उसे पूर्ण करूँगी।' धर्मात्मा ब्राह्मणने कहा कि 'मैं यही चाहता हूँ कि गायत्री-मन्त्रके जपमें मेरी इच्छा बढ़ती रहे।' सावित्री देवीने '**तथास्तु**' कहा। यह भी कहा कि तुम स्वर्ग आदि लोकोंमें नहीं जाओगे, अपितु मुक्त हो जाओगे, तुम जप करते जाओ। ब्राह्मणका मन जपमें संलग्न रहने लगा। कुछ वर्ष बीतनेपर धर्मने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। धर्मदेवने अपना परिचय दिया और कहा कि 'तुमने सभी लोकोंपर विजय प्राप्त कर ली है, तुम देवताओंके लोकोंको भी लाँघकर और ऊपर जाओगे।' ब्राह्मणने कहा—'मुझे तो जपमें बहुत सुख मिलता है। मैं सनातन लोकोंको लेकर क्या करूँगा।'

यह कहकर ब्राह्मण देवता फिर जपमें लग गये। समय पाकर जापक ब्राह्मणको समाधि लग गयी। उनके ब्रह्मरन्ध्रका भेदन कर एक ज्वाला निकली जो स्वर्गकी ओर बढ़ने लगी। इन्द्र आदिके लोकोंको लाँघकर वह ज्वाला ब्रह्माजीके पास पहुँची। ब्रह्माजीने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और कहा—'विप्रवर! योगसे जो फल प्राप्त होता है वही फल जप करनेवालोंको भी प्राप्त होता है, किंतु जापकोंको योगियोंसे भी श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है।'

इस तथ्यको प्रमाणित करनेके लिये मैंने उठकर तुम्हारा स्वागत किया है—

जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम्॥

(महा०, शा० प० २००। २४)

इस तरह ब्राह्मण गायत्री-जपके बलपर मुक्तिको प्राप्त हो गया। (महा०, शान्ति०)

～～～

धर्मशास्त्रकार महर्षि देवल और देवलस्मृति

महर्षि देवलकी गणना अत्यन्त प्राचीन धर्मशास्त्रकारोंमें की गयी है। पुराणोंमें जो इनका संक्षिप्त उज्ज्वल एवं महनीय उदात्त चरित्र प्राप्त होता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि महर्षि देवल ऋग्वेदके एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेदके नवम पवमान-मण्डलमें इनके सूक्त उपलब्ध होते हैं। ये महान् तपस्वी और योगाचार्य कहे गये हैं।[1] इन्होंने भगवान् शिवकी आराधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। ये महर्षि वेदव्यासजीके शिष्य बतलाये गये हैं।

ब्रह्माण्डपुराणमें वर्णित है कि हिमवान्की पत्नी देवी मेनाकी तीन कन्याएँ हुईं, जो अपर्णा, एकपर्णा तथा एकपाटला नामसे विख्यात हुईं। इनमें अपर्णा ही भगवती 'उमा' कहलायीं, जो भगवान् शंकरकी अन्तरङ्ग शक्तिके रूपमें प्रसिद्ध हैं। ये तीनों ही महान् तपस्विनी, ब्रह्मवादिनी तथा महान् योगशक्तिसे सम्पन्न थीं। हिमवान्ने अपनी कन्या एकपर्णाका विवाह कश्यपपुत्र महान् योगाचार्य महर्षि असितके साथ किया और महर्षि असितके देवल नामक एक पुत्र उत्पन्न हुए, जो ब्रह्मिष्ठ, दिव्य-योग-ज्ञानकी शक्तिसे सम्पन्न तथा महान् तपस्वी थे। ये शाण्डिल्योंमें सर्वश्रेष्ठ कहे गये हैं।[2] श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्तत्त्वके ज्ञाता महर्षियोंमें महर्षि असित एवं देवलका नाम बड़े ही आदर-भावसे लिया गया है (१०। १३)।

महर्षि देवलद्वारा विरचित एक छोटी स्मृति प्राप्त होती है, किंतु देवलके नामसे याज्ञवल्क्यस्मृतिकी टीका मिताक्षरा, अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका आदि निबन्ध-ग्रन्थोंमें जो गद्यांश किंवा पद्यांश प्राप्त होते हैं, वे वर्तमान उपलब्ध देवलस्मृतिमें नहीं मिलते। महर्षि देवलके नामसे आचार, व्यवहार, श्राद्ध, प्रायश्चित्त, सम्पत्ति-विभाजन, वसीयत, स्त्रीधन आदि विषयोंपर अनेकशः वचन प्राप्त होते हैं। महाभारतमें भी महर्षि देवलजीके धर्मशास्त्र-विषयक उद्धरण मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कभी 'देवलस्मृति'के नामसे एक बृहद् ग्रन्थ मान्य था, किंतु कालान्तरमें वह नष्ट हो गया और स्वल्पांशमें ही बचा रहा।

आज महर्षि देवलके नामसे जो स्मृति जानी जाती है, उसमें लगभग ९० श्लोक हैं। इसमें मुख्यरूपसे जाति-शुद्धि, देह-शुद्धि इत्यादि शुद्धि-प्रकरणपर ही विशेष चर्चा है और चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त-व्रतोंका वर्णन है। इसमें पञ्चगव्यकी भी विशेष महिमा गायी गयी है और बताया गया है कि गोमूत्रमें वरुण देवता, गोमयमें अग्निदेव, दुग्धमें सोम देवता, दधिमें वायु देवता और घृतमें सूर्य देवताका निवास है। साथ ही पञ्चगव्यमें किस वर्णकी गायका दूध इत्यादि ग्राह्य है, इसके लिये निर्देश है कि ताँबेके समान वर्णवाली गायका गोमूत्र, श्वेतवर्णवाली गायका गोमय, काञ्चन-वर्णवाली गायका दुग्ध, कुछ नीलवर्णवाली गायका दधि तथा कृष्णवर्णवाली गायका घृत ग्रहण करना चाहिये—

वरुणो देवता मूत्रे गोमये हव्यवाहनः।
सोमः क्षीरे दध्नि वायुर्घृते रविरुदाहृतः॥
गोमूत्रं ताम्रवर्णायाः श्वेतायाश्चैव गोमयम्।
पयः काञ्चनवर्णायाः नीलायाश्चापि गोर्दधि॥
घृतं वै कृष्णवर्णायाः।

(श्लोक ६२—६४)

महर्षि देवलजीका कहना है कि यथोक्त विधिसे यथोक्त मात्रामें पञ्चगव्यका निर्माण कर उसका पान करनेसे व्यक्तिका जो कुछ भी दुष्कृत-कर्म हो, पाप-कर्म हो वह सब नष्ट हो जाता है और वह परम शुद्ध हो जाता है—

उदरं प्रविशेद्यस्य पञ्चगव्यं विधानतः॥
यत्किंचिद्दुष्कृतं तस्य सर्वं नश्यति देहिनः।

(श्लोक ७९-८०)

१-नाम्ना वै देवलः पुत्रो योगाचार्यो महातपाः॥ (कूर्मपु० १९। ५)

२-(क) असितस्यैकपर्णा तु पत्नी साध्वी पतिव्रता॥
दत्ता हिमवता तस्मै योगाचार्याय धीमते। देवलं सुषुवे सा तु ब्रह्मिष्ठं ज्ञानसंयुता॥ (ब्रह्माण्ड० ३। १०। १८-१९)

(ख) असितस्यैकपर्णायां ब्रह्मिष्ठः समपद्यत। शाण्डिल्यानां वरः श्रीमान् देवलः सुमहायशाः॥ (ब्रह्माण्ड० ३। ८। ३२)

आख्यान—

पापका संक्रमण

[राजा शतघ्नुकी कथा]

'देवलस्मृति'में लिखा है कि किसी पापीका पाप दूसरे मनुष्यपर भी संक्रमण कर लेता है। उसमें अनेक हेतु हैं। जैसे पापीके साथ बातचीत करनेसे, उसके स्पर्शसे, उसकी साँस लगनेसे और उसके साथ चलने, बैठने, खानेसे एवं उसके लिये यजन करनेसे तथा उसे पढ़ानेसे अथवा उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करनेसे पापीका पाप मनुष्यपर संक्रान्त हो जाता है—

संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात् ।
याजनाध्यापनाद्यौनात् पापं संक्रमते नृणाम्॥
(देवल० ३३)

यहाँ पापीसे वार्तालाप करनेके कारण एक राजाकी कैसी दुर्गति हुई, इस सम्बन्धकी एक घटना दी जा रही है—

पाखंडीसे बातचीत करनेसे पापका संक्रमण

शतघ्नु नामके एक विख्यात राजा थे। उनकी पत्नीका नाम शैव्या था। शैव्या धर्मशास्त्रको सुनती थी और उसके प्रत्येक नियमको अपने जीवनमें उतारती थी। एक दिन कार्तिक-पूर्णिमाको उपवास करके दोनोंने गङ्गाजीमें स्नान किया। बाहर आनेपर एक पाखंडीको अपनी ओर आते देखा। वह पाखंडी राजाका गुरु-भाई था। जिस गुरुसे राजाने धनुर्वेद पढ़ा था, उसी गुरुसे पाखंडीने भी अध्ययन किया था। महारानी शैव्या धर्मशास्त्रके इस नियमको जानती थीं कि तीर्थस्नानके बाद किसी पाखंडीसे वार्तालाप करनेसे पाप लगता है। इसलिये उन्होंने पाखंडीका थोड़ा भी आदर नहीं किया और न उससे बातचीत ही की, अपितु उसे देखकर सूर्यका दर्शन किया। किंतु जानते हुए भी राजाने उस ब्राह्मणसे बातचीत की। इसलिये उनमें पाखंडीके पापका संक्रमण हो गया।

समय आनेपर राजाकी मृत्यु हो गयी। महारानी शैव्याने चितापर चढ़कर अपने पतिका अनुगमन किया। दूसरे जन्ममें उनकी पत्नी काशीनरेशकी कन्या हुई। पूर्वजन्मका वृत्तान्त भी उसे याद था। काशीनरेशने कन्याका विवाह करना चाहा, किंतु जातिस्मर होनेके कारण वह जान गयी थी कि उसका पति तो पापके संक्रमणके कारण कुत्ता बन गया है। वह कुत्ता विदिशा नगरमें रहता था। उसकी पत्नी उसके पास पहुँची, पतिको प्रणाम किया और आदरके स बढ़िया-से-बढ़िया भोजन कराया। इतना सुन्दर भोज पाकर कुत्ता बहुत प्रसन्न हो गया और पूँछ हिला-हिलाव चाटुता प्रदर्शित करने लगा। पत्नीने पतिको याद दिलाया कि पाखंडीसे बातचीत करनेके कारण आपको यह कुत्ति योनि प्राप्त हुई है। राजाको पूर्वजन्मकी बात याद हो आय और वह बहुत उदास हो गया। शीघ्र ही अनशन कर अपन प्राण त्याग दिये, किंतु अभी पापसे उसका छुटकारा नहं हुआ था, बेचारा शृगाल बन गया। उसकी पत्नीने अपने पतिको फिर उसके पुराने पापका याद दिलाया। राजा शतघ्नुने निराहार रहकर शृगालके शरीरको छोड़ दिया। फिर उसे भेड़िया बनना पड़ा। पत्नीकी याद दिलानेपर फिर गीध बना, उसके बाद कौआ बना, फिर मयूर बना। काशिराजकी कन्या उसे सुन्दर आहार देकर उसकी सेवा करने लगी। उसी समय राजा जनकने अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान कर अवभृथ-स्नान किया था। राजकन्याने स्वयं स्नान किया और उस मयूरको भी स्नान कराया। पाखंडीकी बातचीतके परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न योनियोंमें उसके जन्म-परम्पराकी याद दिलायी। इस बार शतघ्नु राजा जनकके पुत्र बने।

काशिराजकी कन्याने जब देखा कि उसका पतिदेव जनककुमारके रूपमें वयस्क हो गया है तो उसने पितासे कहकर अपना स्वयंवर कराया और अपने पतिको पुनः पतिभावसे वरण कर लिया। इस बार जनकराजकुमार जब राजा हुआ तो धर्मशास्त्रके प्रत्येक नियमका भलीभाँति पालन करने लगा। अन्तमें उसने धर्मयुद्धमें अपने प्राणोंका परित्याग किया। इस बार भी उसकी पत्नीने चितापर चढ़कर अपने पतिका अनुगमन किया। इस बार पति-पत्नी—दोनोंने इन्द्रलोकसे भी उच्च लोकोंको प्राप्त किया।

इस तरह केवल बातचीत करनेसे ही पापोंका कैसे संक्रमण हो जाता है और उसका कितना खराब परिणाम भोगना पड़ता है, यह इस कथासे जाना जा सकता है। यही कारण है कि देवलस्मृतिने उन कारणोंमें संलापको पहला स्थान दिया है। (ला० मि०)
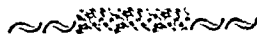
धर्मराज यम और उनकी स्मृतियाँ

धर्मराज यम भगवान् सूर्यके पुत्र हैं। इनकी माताका नाम संज्ञा है। यमी (यमुना) इनकी बहन हैं। भगवान् सूर्यका एक नाम विवस्वान् भी है, अत: विवस्वान् (सूर्य)-के पुत्र होनेके कारण ये वैवस्वत यम भी कहलाते हैं। ये जीवोंका नियमन करनेवाले होनेके कारण यम तथा धर्मरूप होनेके कारण और धर्मका ठीक-ठीक निर्णय करनेके कारण धर्म या धर्मराज भी कहलाते हैं। यम देवता जगत्के सभी प्राणियोंके शुभ और अशुभ सभी कर्मोंको जानते हैं, इनसे कुछ भी छिपा नहीं है। ये प्राणियोंके भूत-भविष्य, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षमें किये गये सभी शुभाशुभ कर्मोंके प्रत्यक्ष साक्षी हैं, ये परिपूर्ण ज्ञानी हैं। इनमें कहीं कोई त्रुटि नहीं आने पाती। अपने नामकी व्याख्या करते हुए स्वयं यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं कि 'मैं सृष्टिके प्रारम्भमें ही ब्रह्माजीद्वारा लोकके समस्त प्राणियोंके धर्माधर्मका निर्णय करनेके लिये और उनके पुण्य-पापोंका फल देनेके लिये नियुक्त किया गया शासक हूँ। नियामक होनेके कारण मेरा नाम यम है, किंतु मैं भी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र नहीं हूँ, क्योंकि थोड़ा भी प्रमाद होते ही भगवान् मेरा तुरंत संयमन या नियन्त्रण करते हैं[१]।'

धर्मराज यम पापी और पुण्यात्माके पाप-पुण्यका विचार कर पापीको नरक और पुण्यात्माको पुण्यलोकोंमें भेजते हैं। ये धर्म और अधर्मके सूक्ष्म तत्त्वको जाननेवाले हैं। धर्मानुसार पाप-पुण्यका ठीक-ठीक विचार करते हैं। पक्षपात इनमें नहीं है। ये कर्मानुसार जीवोंको इस लोकसे दूसरे लोकमें जानेके लिये उपयुक्त शरीर प्रदान करते हैं। नारकीय प्राणियोंको यातना-शरीर प्रदान करते हैं। जीवोंको कर्मानुसार अच्छा एवं बुरा फल प्रदान कर तथा दण्डविधानके अनुपालनसे उन्हें शुद्ध एवं पवित्र [illegible] धर्मराज यमका मुख्य कार्य है।

इनका लोक यमलोक है और इनकी पुरी 'संयमनीपुरी' कहलाती है। इनके दूत यमदूत कहलाते हैं। इनका मुख्य आयुध 'पाश' है, जिसे 'यमपाश' भी कहा जाता है। यमलोकमें प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंका लेखा-जोखा रखनेवाले चित्रगुप्त भी इनके साथ रहते हैं। यमराजका वाहन महिष (भैंसा) है, इसीलिये ये महिषवाहन भी कहलाते हैं। यद्यपि पूजा-उपासनाके ध्यान-स्वरूपोंमें इनके भयंकर रूपका वर्णन है, किंतु इनका भयंकर रूप केवल नारकीय प्राणियोंके लिये ही है। निन्द्य कर्म करनेवाले, अधर्माचरण करनेवालेको ये अपना विकराल रूप दिखलाते हैं, किंतु जो पुण्यात्मा हैं, भक्त हैं, संत हैं, महात्मा हैं, धर्मात्मा हैं, सन्मार्गपर चलनेवाले हैं, साधुजन हैं, परोपकारी हैं, दानी हैं, दूसरेकी सेवा करनेवाले हैं, उन्हें ये अपने सौम्य स्वरूपसे चतुर्भुजी शंख-चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए साक्षात् परम भागवत विष्णुके रूपमें ही दर्शन देते हैं। अर्थात् ये पुण्यात्मा तथा पापात्मा सभीका सब प्रकारसे कल्याण करनेमें ही लगे रहते हैं।

धर्मराज परम भागवत हैं। द्वादश परम भागवतोंमें धर्मराज यमका भी परिगणन है।[२] वे भगवन्नामकी महिमाको जानते हैं। भागवत आदिमें उन्होंने भगवन्नामकी महिमाका बड़े ही सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन किया है और अपने दूतोंको बताया है कि प्रिय दूतो! भगवान्के नामकी महिमा तो देखो, अजामिल-जैसा पापी भी एक बार नामोच्चारण करनेमात्रसे मृत्युपाशसे छुटकारा पा गया। भगवान्के गुण, लीला और नामोंका भलीभाँति कीर्तन मनुष्योंके पापोंका सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका बड़ा फल नहीं है, क्योंकि अत्यन्त पापी अजामिलने मरनेके समय चञ्चल-

---

१-अहममरवरार्चितेन धात्रा यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः। हरिगुरुवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः॥ (विष्णुपुराण ३। ७। १५)

२-स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः। प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः। (श्रीमद्भा० ६। ३। २०-२१)

यम कहते हैं—भागवतधर्मका रहस्य हम बारह व्यक्ति ही जानते हैं—ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, भगवान् शंकर, सनत्कुमार, कपिलदेव, स्वायम्भुवमनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्मपितामह, बलि, शुकदेवजी और मैं (धर्मराज)।

चित्तसे अपने पुत्रका नाम 'नारायण' उच्चारण किया। इस नामाभासमात्रसे ही उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, मुक्तिकी भी प्राप्ति हो गयी[1]।

महाराज यम दक्षिण दिशाके स्वामी हैं। दस दिक्पालोंमें इनकी गणना है। ये शनि ग्रहके अधिदेवता भी हैं। शनिकी अनिष्टकारक स्थितिमें इनकी आराधना की जाती है। इसी प्रकार दीपावलीके दूसरे दिन यमद्वितीयाको यमदीप देकर तथा अन्य दूसरे पर्वोंपर इनकी आराधना करके मनुष्य इनकी कृपा प्राप्त करता है। ये मृत्युके अधिष्ठाता तथा पितृदेव भी हैं। मुख्यतः दण्डद्वारा जीवको शुद्ध कर भगवत्प्राप्ति-योग्य बनाना ही इनका कार्य है। इस प्रकार प्रकारान्तरसे मृत्यु एवं काल अपर नामवाले धर्मराज जीवोंपर अनुग्रह ही करते हैं।

वेदोंमें यम-यमीका संवाद तथा यमसूक्त बहुत ही प्रसिद्ध है। विष्णुपुराण, नृसिंहपुराण तथा अग्निपुराण आदिमें इनके द्वारा दिया गया धर्मोपदेश 'यमगीता'के नामसे प्रसिद्ध है। भागवत आदिमें निरूपित इनके भगवद्भक्ति-सम्बन्धी उद्गार अत्यन्त कल्याणकारी और ज्ञानवर्धक हैं; जिनमें योग, ज्ञान, वेदान्त, भक्ति और धर्मके निगूढ तत्त्व प्रतिपादित हैं। इनके द्वारा विरचित धर्मशास्त्र यमस्मृतिके नामसे जाना जाता है।

देवी सावित्रीने अपने पातिव्रत्यके बलपर धर्मराजको भी जीत लिया था और अपने मृत पति सत्यवान्‌को जिला लिया था। उस प्रकरणमें देवी सावित्रीने यमदेवताकी जो भावपूर्ण स्तुति की थी, वह बड़ी ही कल्याणकारी है। उसकी फलश्रुतिमें यह दिखलाया गया है कि सावित्रीकृत यमस्तुतिका जो प्रतिदिन प्रातःकाल पाठ करता है, उसे यमका भय नहीं होता, उसके सारे पाप दूर हो जाते हैं[2]।

यम-तर्पण—महाराज यम पितरोंके देवता भी कहे गये हैं, अतः तर्पणमें उन्हें भी जलाञ्जलि दी जाती है। इससे पितरोंको तृप्ति होती है और दाताके किये पाप नष्ट हो जाते हैं। तर्पणमें देव, ऋषि, दिव्य मनुष्य तथा दिव्य पितृ-तर्पणके बाद यमके चतुर्दश नामोंसे अपसव्य होकर दक्षिणाभिमुख हो पितृतीर्थसे तीन-तीन जलाञ्जलि दी जाती है, जिसका क्रम इस प्रकार है—

(१) **ॐ यमाय नमः**, (२) **ॐ धर्मराजाय नमः**, (३) **ॐ मृत्यवे नमः** , (४) **ॐ अन्तकाय नमः**, (५) **ॐ वैवस्वताय नमः**, (६) **ॐ कालाय नमः**, (७) **ॐ सर्वभूतक्षयाय नमः**, (८) **ॐ औदुम्बराय नमः**, (९) **ॐ दध्नाय नमः**, (१०) **ॐ नीलाय नमः**, (११) **ॐ परमेष्ठिने नमः**, (१२) **ॐ वृकोदराय नमः**, (१३) **ॐ चित्राय नमः** तथा (१४) **ॐ चित्रगुप्ताय नमः**। इन्हीं चौदह नामोंसे इनकी आराधना भी की जाती है। चतुर्दशी तिथिके देवता भी यमदेव ही हैं। कृष्णचतुर्दशीके दिन यम-तर्पण करनेसे सभी पाप दूर हो जाते हैं, इसी प्रकार यमकी बहन यमुनामें मार्जन-स्नान तथा तर्पण आदि करनेसे विशेष फलकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यमका शाश्वत दण्ड-विधान ऊपरसे भयंकर एवं डरावना लगनेपर भी मूलतः प्राणियोंके कल्याणके लिये ही है। यह ध्यान देनेकी बात है कि यम-दण्डके भागी केवल पापीजन ही होते हैं, पुण्यात्मा नहीं। स्वयं धर्मराज यम अपने दूतोंसे कहते हैं—अरे दूतो! तुम भगवान् मधुसूदनकी शरणमें गये हुए प्राणियोंको छोड़ देना, क्योंकि मेरी प्रभुता दूसरे मनुष्योंपर ही चलती है, वैष्णव भगवद्भक्तोंपर मेरा प्रभुत्व नहीं है—

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम्॥

(नृसिंहपु० ९। १)

प्रत्येक प्राणियोंके शास्ता एवं नियामक साक्षात् धर्म ही यम हैं। वे ही धर्मराज किंवा यमराज भी कहलाते हैं और

१-एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥ (श्रीमद्भा० ६। ३। २४)

२-ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति० २८। ८—१५

धर्म तथा भगवान् एक ही तत्त्व हैं। उन्हीं महाराज यमने प्राणियोंके कल्याणके लिये, उनके धर्म-कर्मोंका नियमन करनेके लिये तथा सदाचारपूर्ण सन्मार्गपर चलनेके लिये जो धर्म-संहिताएँ बनायीं, वे 'यमस्मृति' या 'याम्यसंहिता'के नामसे विख्यात हुईं। धर्मराज यमके नामसे तीन स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं, जो (१) यमस्मृति, (२) लघुयमस्मृति तथा (३) बृहद्यमस्मृतिके नामसे प्रख्यात हैं। साक्षात् धर्मस्वरूप होनेके कारण यमविरचित इन स्मृतियोंके वचन अत्यन्त प्रामाणिक हैं, पर कालक्रमसे इन स्मृतियोंका स्वल्प अंश ही उपलब्ध है। यहाँ उपलब्ध इन स्मृतियोंका संक्षेपमें विवरण दिया जा रहा है—

(१) यमस्मृति

यमस्मृतिमें केवल ७८ श्लोक प्राप्त हैं। लघुयमस्मृतिमें केवल ९९ श्लोक हैं। ऐसे ही बृहद्यमस्मृतिमें पाँच अध्याय हैं तथा श्लोकोंकी कुल संख्या १८२ है। मुख्यतः इन तीनों स्मृतियोंमें प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विवरण एवं शुद्धि-तत्त्व ही प्राधान्येन उपस्थापित है तथा धर्मशास्त्रकार महर्षि अत्रि, महर्षि शातातप और महर्षि उद्दालकजीके वचनोंका इन्होंने अपने धर्मशास्त्रमें उल्लेख किया है। अनेक निबन्धकारोंने यमके वचनोंका विशेष समारोहके साथ वर्णन किया है, विशेषरूपसे प्रायश्चित्त-प्रकरणमें।

यमस्मृतिके प्रारम्भमें ही कहा गया है कि इस स्मृतिमें चारों वर्णोंके प्रायश्चित्त-धर्मोंका निरूपण किया गया है—

अथातो ह्यस्य धर्मस्य प्रायश्चित्ताभिधायकम्।
चतुर्णामपि वर्णानां धर्मशास्त्रं प्रवर्तते॥

(यम० १)

ऐसी ही प्रतिज्ञा लघुयमस्मृति तथा बृहद्यमस्मृतिके प्रारम्भमें भी की गयी है[1]। इससे स्पष्ट होता है कि प्रायश्चित्त और उनकी शुद्धिका विधान ही यमस्मृतियोंका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

छोटे बालकोंसे प्रायश्चित्त न कराया जाय

धर्मराज यम प्रायश्चित्तके विषयमें एक विशेष परामर्श देते हुए कहते हैं कि पाँच वर्षसे दस वर्षकी अवस्थावाले बालकसे यदि कोई पापकर्म बन गया हो तो यद्यपि वह सामान्य नियमसे दण्डका अधिकारी और प्रायश्चित्त करनेके लिये बाध्य है, किंतु विशेष नियम यह है कि ऐसे बालकसे प्रायश्चित्त कर्म न कराया जाय, बल्कि उस पापकर्मका प्रायश्चित्त उसका भाई, पिता अथवा अन्य कोई भी बन्धु-बान्धव कर दे तो इससे उस बालककी शुद्धि हो जाती है—

ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात् परस्य च।
प्रायश्चित्तं चरेद् भ्राता पिता वान्योऽपि बान्धवः॥

(यमस्मृति १५)

छोटे बालकको पाप नहीं लगता

यदि पाँच वर्षसे कम अवस्थाके बालकसे कोई पापकर्म हो जाय या कोई अपराध हो जाय तो उसे वह पाप नहीं लगता और न वह दण्डका अधिकारी ही होता है, क्योंकि इस अवस्थामें प्रायः बालक अबोध रहता है, उसे पाप-पुण्य, अच्छे-बुरे, अपने-परायेका कोई बोध—ज्ञान ही नहीं रहता, वह तो सहज भावसे क्रीडा करता है, उसके सभी कर्म क्रीडारूप होनेसे वह दोषका भागी नहीं बनता, इसलिये उसे न कोई राजदण्ड दिया जा सकता है और न उसके निमित्त कोई प्रायश्चित्त करनेकी ही आवश्यकता है—

अतो बालतरस्यापि नापराधो न पातकम्।
राजदण्डो न तस्यास्ति प्रायश्चित्तं न विद्यते॥

(यम० १६)

आधे प्रायश्चित्तके अधिकारी

जिसकी अवस्था ८० वर्ष या उससे अधिक हो गयी हो ऐसे वृद्ध, सोलह वर्षसे कम अवस्थावाले बालक, स्त्री तथा रोगी व्यक्तिकी आधा प्रायश्चित्त करनेसे शुद्धि हो जाती है, इनके लिये पूरे प्रायश्चित्तका विधान नहीं बतलाया गया है—

अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाप्यूनषोडशः।
प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च॥

(यम० १७)

ये ही बातें बृहद्यमस्मृति (३। १—३)-में भी प्रायः समान श्लोकोंमें कही गयी हैं।

प्रायश्चित्तके विषयमें विशेष बातें बतलानेके अनन्तर इस स्मृतिमें अनेक प्रकारके प्रायश्चित्त-विधानोंको बतलाया गया है।

१-अथातो यमधर्मस्य प्रायश्चित्तं व्याख्यास्यामः। चतुर्णामपि वर्णानां प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्॥ (बृहद्यम० १। १)

इसी प्रकार अस्पृश्यके स्पर्श-सम्बन्धी, अभक्ष्य-भक्षण-सम्बन्धी तथा अगम्यागमन-सम्बन्धी अनेकविध पापोंके प्रायश्चित्त-विधानोंका भी वर्णन हुआ है।

सायंकालमें चार कर्म न करे

सायंकालमें भोजन, स्त्री-सहवास, निद्रा तथा स्वाध्याय—इन चार कर्मोंको नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस समय भोजन करनेसे शरीरमें व्याधि उत्पन्न होती है, स्त्री-सहवास करनेसे क्रूरकर्मा संतान उत्पन्न होती है तथा शयन करनेसे लक्ष्मीका ह्रास होता है और स्वाध्याय करनेसे मृत्यु होती है—

चत्वारि खलु कर्माणि संध्याकाले विवर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायं च चतुर्थकम्॥
आहाराज्जायते व्याधिः क्रूरगर्भश्च मैथुने।
निद्राश्रियो निवर्तन्ते स्वाध्याये मरणं ध्रुवम्॥

(यम० ७६-७७)

(२) लघुयमस्मृति

लघुयमस्मृतिमें भी मुख्यरूपसे नानाविध प्रायश्चित्तोंका वर्णन है। मुख्यरूपसे इसमें रजस्वला स्त्रीके स्पर्शास्पर्श-विवेक, अभक्ष्यभक्षणका प्रायश्चित्त, अगम्यागमनका प्रायश्चित्त, गोहत्याका प्रायश्चित्त, इष्टापूर्तकी महिमा, पञ्चगव्यके निर्माणकी विधि तथा आशौचजन्य अशुद्धि, श्राद्ध एवं तर्पणकी महिमा, पिण्डदानकी विधि तथा नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि और पार्वण—इन पञ्चविध श्राद्धोंका वर्णन, अस्थिसंचयनकी विधि तथा गङ्गामें अस्थि-प्रक्षेपकी महिमा, वृषोत्सर्गकी महिमा, जलाञ्जलि देनेकी विधि वर्णित है। कहा गया है कि तर्पणमें देवता और पितरोंको जलमें, और जो बिना संस्कार किये गये ही मृत हो गये हों उन्हें स्थलमें जलाञ्जलि देनी चाहिये। श्राद्धमें तथा हवनमें एक हाथसे तथा तर्पणमें दोनों हाथोंसे जलाञ्जलि देनी चाहिये, यही निर्णीत धर्म है—

देवतानां पितॄणां च जले दद्याज्जलाञ्जलीन्।
असंस्कृतप्रमीतानां स्थले दद्याज्जलाञ्जलीन्॥
श्राद्धे हवनकाले च दद्यादेकेन पाणिना।
उभाभ्यां तर्पणे दद्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥

(लघुयम० ९८-९९)

इष्टापूर्तकी महिमा

यज्ञ-यागादि कर्म 'इष्ट' और तालाब बनवाना, कुँआ खोदवाना, मन्दिर, औषधालय बनाना, प्याऊ लगाना, उद्यान लगाना, फलदार एवं छायादार वृक्षोंका रोपण आदि परोपकारके कार्य 'पूर्त' कर्म कहलाते हैं। इष्टकर्मोंसे स्वर्ग तथा पूर्तकर्मोंसे मोक्ष प्राप्त होता है—

इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्ते मोक्षं समश्नुते॥

(लघुयम० ६८)

विवाहके बाद कन्याका गोत्र बदल जाता है

विवाहसे पूर्व कन्या अपने पिताके गोत्रकी रहती है तथा उसके सभी कर्म पिताके सम्बन्धसे होते हैं, किंतु विवाहके समय सप्तपदीकर्म (अग्निकी सात परिक्रमाएँ) हो जानेपर कन्या अपने पिताके गोत्रसे अलग हो जाती है, उसके बाद उसके पतिके गोत्रसे ही उसका पिण्डदान और जलदान करना चाहिये। विवाह हो जानेपर चतुर्थी कर्मके समय कन्या पिण्ड, गोत्र और सूतकमें पतिकी समानता प्राप्त कर लेती है—

स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात् सप्तमे पदे।
स्वामिगोत्रेण कर्तव्यास्तस्याः पिण्डोदकक्रियाः॥
विवाहे चैव संवृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु।
एकत्वं सा व्रजेद् भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके॥

(लघुयम० ७८, ८६)

गङ्गामें अस्थि-विसर्जनका माहात्म्य

मृत व्यक्तिके दाह-संस्कारके अनन्तर यथाविधि जो अस्थियोंका संचयन किया जाता है, शास्त्रोंमें वर्णन है कि उन्हें यथोचित रीतिसे गङ्गा आदि पुण्य एवं पवित्र नदियोंमें प्रवाहित करना चाहिये। ऐसा करनेसे जबतक अस्थियाँ गङ्गाजलमें रहती हैं, उतने वर्षोंतक वह व्यक्ति स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित रहता है और उसका फिर ब्रह्मलोकसे इस दुःखमय नश्वर संसारमें पुनरागमन नहीं होता, वह मुक्त हो जाता है—

गङ्गातोयेषु यस्यास्थि प्लवते शुभकर्मणः।
न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात् कथंचन॥
यावदस्थि मनुष्याणां गङ्गातोयेषु तिष्ठति।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥

(लघुयम० ९०-९१)

(३) बृहद्यमस्मृति

यमस्मृति तथा लघुयमस्मृतिके समान ही बृहद्यमस्मृति भी चारों वर्णोंके प्रायश्चित्तोंके विधानमें पर्यवसित है।

आत्महत्या महान् पाप है

बृहद्यमस्मृतिमें बताया गया है कि आत्मघात महापाप है और आत्मघाती नरक प्राप्त करता है। यदि आत्मघातका प्रयत्न करनेवाला किसी प्रकार बच जाता है तो वह 'प्रत्यवसित' कहलाता है। ऐसा व्यक्ति सभीके द्वारा बहिष्कृत होता है, उसकी शुद्धि चान्द्रायणव्रतसे अथवा दो तप्तकृच्छ्र व्रतोंसे होती है[१]। (बृहद्यम० १। ३-४)

धर्मशास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्तका निर्णय न करे

विद्वानोंको चाहिये कि वे धर्मका ठीक-ठीक तत्त्व समझकर ही धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय दें। जो बिना धर्मशास्त्रोंके ज्ञानके ही प्रायश्चित्त आदिका मनमाना विधान बतला देता है तो उस विधानके करनेसे प्रायश्चित्ती तो पवित्र एवं शुद्ध हो जाता है, किंतु उसका वह पाप बिना जाने निर्णय देनेवाली धर्मसभाको लगता है। इसलिये शास्त्रमें बतलाये नियमोंके अनुसार ही प्रायश्चित्तका विधान करना चाहिये—

अज्ञात्वा धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं ददाति यः।
प्रायश्चित्ती भवेत् पूतस्तत्पापं पर्षदं व्रजेत्॥
तस्माच्छास्त्रानुसारेण प्रायश्चित्तं विधीयते।

(बृहद्यम० ४। २९-३०)

संध्यावन्दनसे तीनों पापोंकी शुद्धि

कायिक (शरीरसे), वाचिक (वाणीसे) तथा मानसिक (मनसे)—ये तीन प्रकारके पाप होते हैं। धर्मराज यम कहते हैं कि ये तीनों पाप श्रद्धापूर्वक त्रिकाल-संध्यावन्दन एवं गायत्री-उपासनासे नष्ट हो जाते हैं। अतः इस त्रिविध पापकी शुद्धिके लिये त्रिकाल-संध्या करनी चाहिये—

मानसं वाचिकं चैव कायिकं पातकं स्मृतम्।
तस्मात् पापाद्विशुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं दिने दिने॥
त्रिविधं पापशुद्ध्यर्थं संध्योपासनमेव च।

(बृहद्यम० ४। ४९, ५१)

सफल एवं निष्फल दान

जो ब्राह्मण विद्या एवं तपसे सम्पन्न हो, शान्त एवं पवित्र हो, विषयी न हो, लोभी न हो, प्रसन्न रहनेवाला हो तथा निष्पाप हो, वह निःसंदेह भूदेव—पृथ्वीपरका देवता या साक्षात् देवता ही है। ऐसे ही ब्राह्मण सत्पात्र और योग्य अधिकारी कहलाते हैं, इन्हें दिया गया दान अनन्त, अक्षय एवं सफल दान कहलाता है—

तेभ्यो दत्तमनन्तं हि इत्याह भगवान् यमः।

(बृहद्यम० ४। ५५)

इसके विपरीत कुकर्ममें लगे हुए, लोभी, वेदज्ञानसे रहित, संध्याकर्मसे वञ्चित, व्रतभ्रष्ट, विषयी तथा चुगलखोर ब्राह्मण केवल नाममात्रके ब्राह्मण हैं, वे दान आदि ग्रहण करनेके सर्वथा अयोग्य हैं, अपात्र हैं, अनधिकारी हैं। उन्हें दान आदि नहीं देना चाहिये। उन्हें दिया हुआ दान निष्फल दान कहलाता है, इसमें किसी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये—

तेभ्यो दत्तं निष्फलं स्यान्नात्र कार्या विचारणा॥

(बृहद्यम० ४। ५६)

अज्ञानमें किये कार्यमें आशौच नहीं लगता

जननाशौच या मरणाशौचमें कर्ता यदि घरसे बाहर कहीं परदेश—दूर देशमें हो और उसे इस बातकी जानकारी न हो तो ऐसी अज्ञानावस्थामें किया गया देवकार्य या पितृकार्य सफल ही होता है, उसमें अशौचका दोष इसलिये नहीं होता कि उसे अशौचकी बात ज्ञात नहीं है—

अज्ञानाच्च कृतं सर्वं दैविकं पैतृकं च यत्।
जातके मृतके वापि तत्सर्वं सफलं भवेत्॥

(बृहद्यम० ५। १२)

अनेक पुत्र होनेपर श्राद्ध आदिकी व्यवस्था

धर्मराज महाराज यम व्यवस्था देते हैं कि जिसके अनेक पुत्र हों और उनमें धनका बँटवारा न हुआ हो तथा सभी संयुक्तरूपसे एकमें रहते हों तो ऐसी स्थितिमें पिताका श्राद्ध आदि पितृकर्म तथा वैदिक (अग्निहोत्र आदि) कर्म ज्येष्ठ पुत्रके करनेसे ही सफल होता है। सब भाई अलग-अलग पिण्डदान, श्राद्ध और वैश्वदेव कर्म न करें—

भ्रातरश्च पृथक् कुर्युर्नाविभक्ताः कदाचन।

(बृहद्यम० ५। १९)

---
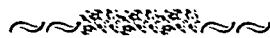
[१] १-यमस्मृति श्लोक २-३ तथा लघुयमस्मृति श्लोक २२-२३ में भी यही बात आयी है।

आख्यान—

ब्राह्मणके शरीरमें स्थित होकर पितर भोजन करते हैं

यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येषु मन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते पिण्डान् शरीरे ब्रह्मणः पिता॥
(यमस्मृति ४०)

देवताओंके लिये जो हव्य दिया जाता है और पितरोंके लिये जो कव्य दिया जाता है—ये दोनों देवताओंको और पितरोंको कैसे मिलता है, इसके प्रत्यक्ष जानकार यमराज हैं; क्योंकि ये दोनों उनके अधिकार-क्षेत्रमें आते हैं। अपनी स्मृतिमें उन्होंने कहा है कि मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण श्राद्धके अन्नके जितने कौर अपने पेटमें डालता है,उन कौरोंको श्राद्धकर्ताका पिता ब्राह्मणके शरीरमें स्थित होकर पा लेता है। ब्राह्मणके शरीरमें स्थित होकर पितर लोग कैसे आहारको प्राप्त कर लेते हैं, इस सम्बन्धमें एक घटना दी जा रही है—

वनवासके समय भगवान् राम सीता और लक्ष्मणके साथ पुष्करक्षेत्रमें अपने आत्मीय जनोंसे मिलनेके लिये गये। 'अवियोगा' नामकी बावलीके दर्शनका महत्त्व यह है कि इस लोक या परलोकमें स्थित सभी प्रकारके बन्धुओंसे वहाँ संयोग हो जाता है। रातको नित्य-कृत्य करनेके पश्चात् श्रीरघुनाथजी सीता और लक्ष्मणके साथ उस बावलीके तटपर सोये। रातमें भगवान् श्रीरामका सारे परिवारके लोगोंसे मिलाप हो गया। रामजीने स्वप्नमें देखा कि उनका वैवाहिक मङ्गल-कार्य समाप्त हो चुका है, वे समस्त बन्धु-बान्धवोंके साथ बैठे हैं। सबको उन्होंने प्रत्यक्ष-सा देखा। लक्ष्मण और सीताने भी इसी रूपमें सबको देखा। सबेरे स्वप्नका वृत्तान्त सुनकर ऋषियोंने कहा कि यह स्वप्न सत्य है। सबको तुमने स्वप्नमें प्रत्यक्ष ही देख लिया है, किंतु शास्त्रका आदेश है कि मृत पुरुषका जब स्वप्नमें दर्शन हो तो उसका श्राद्ध अवश्य करे। इसलिये आप यहाँ आज श्राद्धकी व्यवस्था करें। भगवान् श्रीरामके आदेशपर श्रीलक्ष्मणने श्राद्धकी सब व्यवस्था कर दी। मध्याह्नके बाद जब सूर्य ढलने लगा, तब 'कुतप' नामकी वेला उपस्थित हुई। ठीक उसी समय निमन्त्रित ऋषि लोग आ पहुँचे। भगवान् रामने स्मृतियोंमें बतायी विधिके अनुसार श्राद्ध किया और ब्राह्मणोंको भोजन कराया। श्राद्धके समय सीताजी वहाँसे
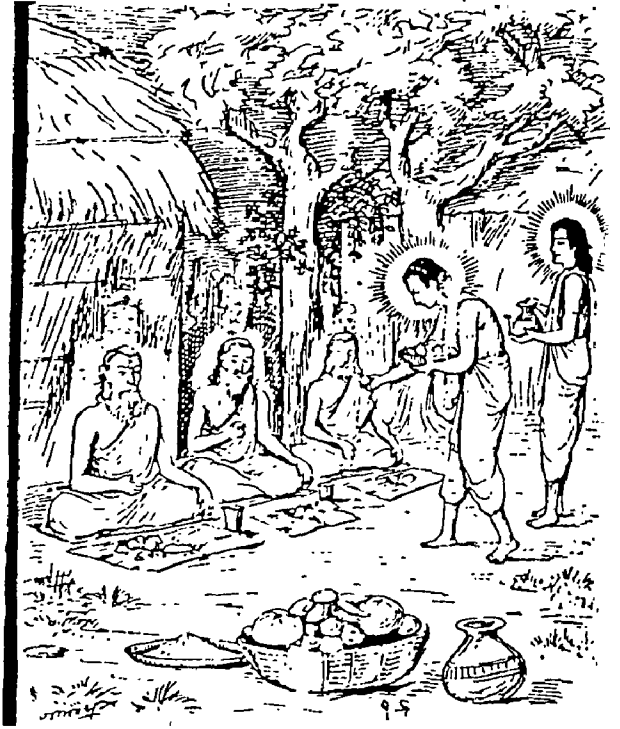
दूर हट गयी थीं। भगवान् रामने पूछा कि श्राद्धके समय तुम्हारा वहाँ रहना आवश्यक था, फिर तुम हट कैसे गयी? सीताजीने कहा—आपने जब अपने पिताजीका नामोच्चारण किया तो वे यहाँ आकर बैठ गये। उनके साथ उन्हींकी आकृतिवाले दो पुरुष और आये, वे सुसज्जित वेष-भूषामें थे। तीनों ही तीनों ब्राह्मणोंके शरीरसे सटे हुए थे। पिताजीके सामने मुझे खड़ी रहनेमें लज्जा लगी और यह सोचकर भी हट गयी कि मेरे इस तपस्वी वेष-भूषाको देखकर महाराजको कष्ट होगा। सीताके वचन सुनकर भगवान् रामको प्रसन्नता हुई। उन्होंने सीताको बहुत आदर दिया। (पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड)

इस घटनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि पितर ब्राह्मणके शरीरमें स्थित होकर श्राद्धादिका अन्न ग्रहण करते हैं।
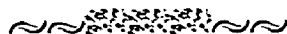
धर्मशास्त्रकार महर्षि शातातप-प्रणीत स्मृतियाँ

प्राचीन धर्मशास्त्रकारोंमें महर्षि शातातपका अन्यतम स्थान है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने महर्षि शातातपजीका नाम विशिष्ट धर्मशास्त्रकारोंमें परिगणित किया है। इनकी स्मृतिसे यह ज्ञात होता है कि ये महर्षि शरभंगके गुरु हैं[१]। महर्षि शरभंग आदि ऋषियोंके जिज्ञासा करनेपर इन्होंने उन्हें जो धर्मशास्त्रीय उपदेश प्रदान किये, वे ही उपदेश 'शातातपीय धर्मसंहिता', 'शातातपीय स्मृति', 'शातातपीय धर्मशास्त्र' या 'शातातपीय कर्मविपाक'के नामसे प्रसिद्ध हो गये। वैसे तो सभी ऋषि-महर्षि, मुनि-महात्मा तपस्वी ही रहे हैं, पर शातातपजीका तो नाम ही उनके अनन्त तपका परिचायक है। अनन्त तप करते-करते वे क्षीण हो गये थे और उन्होंने सभी प्रकारके तपोंका अनुष्ठान किया था, इसलिये वे 'शातातप' नामसे प्रसिद्ध हुए। उनका 'शातातप' यह नाम गुणोंके कारण ही प्राप्त हुआ दीखता है। अत: धर्म-कर्मका जो उन्हें दिव्य ज्ञान हुआ, वह अन्य किसीको नहीं। अतएव कर्मविपाकके लिये ये ही सर्वाधिक प्रमाण माने गये हैं। परवर्ती प्राय: सभी निबन्धकारों और धर्मकोशके रचयिताओंने इनकी स्मृतिके आधारपर कर्मविपाक-सम्बन्धी तालिकाएँ बनायी हैं। इन्होंने जहाँ अपना विशेष अभिमत प्रकट किया है, वहाँ '**इति शातातपोऽब्रवीत्**' या '**शातातपवचो यथा**' इस प्रकारसे प्रयोग किया है।

महर्षि शातातप-प्रणीत स्मृतियाँ

महर्षि शातातपजीके नामसे तीन स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं—(१) लघुशातातपस्मृति, (२) वृद्धशातातपस्मृति तथा (३) शातातपस्मृति या शातातपीय कर्मविपाक। यहाँ क्रमसे तीनोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

(१) लघुशातातपस्मृति

जैसा कि इसके नामसे स्पष्ट है कि यह स्मृति कलेवरमें संक्षिप्त है, इसमें केवल १७३ श्लोक हैं। प्रारम्भमें सूत्ररूपमें कुछ गद्य-भाग भी है, शेष श्लोकबद्ध है, मुख्यरूपसे इसमें प्रायश्चित्त, शुद्धि, अभक्ष्यभक्षण, श्राद्ध एवं दान आदि विषयोंका वर्णन है। स्मृतिके आरम्भमें महापातक, उपपातक, गोवध तथा सामान्य पापोंका प्रायश्चित्त बतलाया गया है। तत्पश्चात् संक्षेपमें विवाहका प्रकरण है और विवाह-योग्य कन्याके लक्षणोंको बताया गया है। तदनन्तर वैश्वदेवकर्म तथा अतिथिकी महिमा निरूपित है।

अतिथि-लक्षण—अतिथिका लक्षण बतलाते हुए महर्षि शातातप कहते हैं—

अनिमित्तमनाहूतं देशकालमुपस्थितम्।
अतिथिं तं विजानीयान्नातिथि: पूर्वसंगत:॥

(लघुशाता० ५५)

अर्थात् जो बिना किसी प्रयोजनके, बिना बुलाये, किसी भी समय, किसी भी स्थानसे घरमें उपस्थित हो जाय तो उसे अतिथिरूपी देवता समझना चाहिये। जिसके आगमनकी पूर्व जानकारी हो, वह अतिथि नहीं कहलाता।

श्राद्धमें तीन पवित्र वस्तुएँ और तीन प्रशंसनीय बातें

श्राद्ध-प्रकरणमें शातातपजीका कहना है कि श्राद्धमें तीन वस्तुएँ अत्यन्त पवित्र हैं, अत: उनका प्रयोग करना चाहिये और प्रशंसनीय तीन बातें ऐसी हैं, जिनका श्राद्धमें श्राद्धकर्ता तथा ब्राह्मण आदिको अवश्य पालन करना चाहिये। यथा—

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्र: कुतपस्तिला:।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति सत्यमक्रोधमार्जवम्॥

(श्लोक १०७)

अर्थात् श्राद्धमें दौहित्र (लड़कीका पुत्र—नाती), कुतप वेला (मध्याह्नकालमें लगभग १२-३० से १ बजेका समय) तथा तिल—ये तीन अत्यन्त पवित्र हैं। इसी प्रकार श्राद्धकर्ता आदिको भी चाहिये कि वे सत्य, अक्रोध एवं सरलता (छल-छद्मका अभाव)-का अवश्य पालन करें। इन्हीं सबसे पितरोंको संतुष्टि एवं अक्षय तृप्ति होती है और

१-इति शातातपप्रोक्तो विपाक: कर्मणामयम्। शिष्याय शरभङ्गाय विनयात् परिपृच्छ्यते॥ (६। ४७)

श्राद्धकर्ताको भी पूरा फल मिलता है।

इन स्थानोंमें पादुका उतार दे

अग्निशाला, गोशाला, देवमन्दिर या देवप्रतिमाओंके समीप, भोजनके समय तथा जप करते समय पादुका नहीं पहननी चाहिये—

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे देवतानां च संनिधौ।
आहारे जपकाले च पादुकां च विवर्जयेत्॥

(श्लोक १२६)

क्या न करें और क्या करें

कल्याणकारी बातें बतलाते हुए महर्षि शातातपजीका कहना है कि एक वस्त्र पहनकर भोजन न करे, नग्न होकर स्नान न करे, मार्गमें, भस्ममें तथा गोमयपर कभी भी मल-मूत्रका उत्सर्जन न करे। अशुभ बातको भी, 'शुभ हो', 'कल्याण हो'—इस प्रकारसे बोलना चाहिये अथवा कल्याणकारी बात ही निरन्तर बोलनी चाहिये। सर्वदा दूसरेके लिये हितकर तथा प्रिय एवं मधुर बात ही बोलनी चाहिये, अकल्याणकारिणी बात नहीं बोलनी चाहिये और किसीके भी साथ विवाद एवं शुष्क वैर नहीं करना चाहिये[1]।

(२) वृद्धशातातपस्मृति

वृद्धशातातप नामसे भी एक स्मृति प्राप्त है, जिसमें केवल ६८ श्लोक हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्मृतिका बहुत बड़ा भाग कालक्रमसे नष्ट हो गया; क्योंकि परवर्ती निबन्ध-ग्रन्थोंमें 'वृद्धशातातपस्मृति'के नामसे जिन वचनोंको उद्धृत किया गया है, वे वर्तमान उपलब्ध वृद्धशातातपस्मृतिमें प्राप्त नहीं होते। उपलब्ध वृद्धशातातपस्मृतिके प्रारम्भमें ब्रह्मकूर्चकी महिमा, भक्ष्याभक्ष्य, स्पृश्यास्पृश्य-मीमांसा तथा उसका प्रायश्चित्त निर्दिष्ट है। यहाँ इस स्मृतिके कुछ प्रकरणोंको अति संक्षेपमें दिया जा रहा है—

धर्मसभा कैसी हो?

महर्षि शातातप धर्मशास्त्रकी मर्यादाके लिये शास्त्र-प्रमाणको ही मुख्य मानते हैं और कर्तव्याकर्तव्य-निर्णयके लिये धर्मशास्त्रका ज्ञान परमावश्यक मानते हैं। इस स्मृतिमें उन्होंने स्पष्ट निर्देश दिया है कि धर्माधर्मसम्बन्धी निर्णय देनेवाली जो परिषद् या सभा है, वह विद्वानोंसे सुशोभित होनी चाहिये। धर्मशास्त्रके सूक्ष्म तत्त्वको जाननेवाले ऐसे विचारक एवं मनीषी उस सभामें होने चाहिये जो ठीक-ठीक निर्णय दे सकें। कदाचित् वे अज्ञानवश ठीक निर्णय न दें अथवा जान-बूझकर किसी कारणवश अधर्मका पक्ष लें अथवा अन्यथा-प्रायश्चित्त बतायें तो ऐसी स्थितिमें वह व्यक्ति तो निर्दिष्ट प्रायश्चित्त करनेसे शुद्ध हो जाता है, किंतु विपरीत निर्णय देनेसे वह धर्म-परिषद् ही पापका भागी बनती है, इसलिये धर्माधर्मका निर्णय करनेवालेको शास्त्रका ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिये, मनमाना निर्णय देनेसे पाप लगता है—

अनधीत्य धर्मशास्त्रं प्रायश्चित्तं ददाति यः।
प्रायश्चित्ती भवेत् पूतस्तत्पापं पर्षदं व्रजेत्॥

(श्लोक ३०)

जातकर्म-संस्कारमें सूतक-दोष नहीं लगता

पुत्र-जन्मके दिन जबतक नालच्छेदन नहीं होता, तबतक सूतक-दोष तथा प्रतिग्रहका दोष नहीं लगता। इसीलिये नालच्छेदनसे पूर्व ही जातकर्म-संस्कार करनेका विधान है—

कुमारप्रसवे नाड्यामच्छिन्नायां गुडघृतहिरण्यवस्त्र-प्रावरणप्रतिग्रहे न दोषः स्यात्। (५९)

अन्यायोपार्जित द्रव्यसे कोई भी पुण्यकार्य न करे

महर्षि शातातपजीका कहना है कि जो व्यक्ति अन्याय-अनीति—बेईमानीसे प्राप्त द्रव्यद्वारा पितरोंका और्ध्वदैहिक श्राद्धादि कर्म अथवा कोई भी अन्य पुण्यकर्म करता है, उसका कोई भी फल उसे नहीं प्राप्त होता, वह कर्मानुष्ठान निष्फल ही होता है, क्योंकि उसका वह धन बुरे मार्गसे प्राप्त होता है—

द्रव्येणान्यायलब्धेन यः करोत्यौर्ध्वदैहिकम्।
नासौ फलमवाप्नोति तस्यार्थस्य दुरागमात्॥

(श्लोक ६२)

उद्बोधन

महर्षि शातातपजीने अपनी स्मृतिमें मानवोंके कल्याणके लिये बहुत ही सुन्दर उपदेश दिये हैं और बताया है कि

१-नाश्नीयादेकवस्त्रेण न नग्नः स्नानमाचरेत्। न विण्मूत्रं पथि कुर्यान्न भस्मनि न गोमये॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा पुनः। शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह॥ (श्लोक १३९-४०)

मनका स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक है, मनमें ही विषयोंके चिन्तन-मननसे अनेक संकल्प उत्पन्न होते हैं। इसलिये पहले मनको संकल्पशून्य बना लेना चाहिये, ताकि उसमें कामकी उत्पत्ति ही न हो। यह काम संकल्पसे ही उत्पन्न होता है। यदि संकल्प ही नहीं होगा तो फिर कामके मूल संकल्पका ही उच्छिन्न हो जायगा और तब व्यक्ति धीरे-धीरे अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जायगा। इसलिये संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये[1]। महर्षिके मूल वचन इस प्रकार हैं—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
संकल्पं न करिष्यामि मूलच्छिन्नो भविष्यसि॥

(श्लोक ६४)

अर्थात् हे काम! मैं तुम्हारे उत्पत्ति-स्थानको जान गया हूँ, तुम संकल्पसे ही उत्पन्न होनेवाले हो। यदि मैं संकल्प ही नहीं करूँगा तो तुम्हारे मूल (संकल्प)-का ही उच्छेद हो जायगा। मूलके उच्छेद हो जानेसे फिर तुम्हारा भी सर्वथा अभाव हो जायगा।

महत्त्वपूर्ण उपदेश

एक उपदेशमें महर्षि शातातप बतलाते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिको प्रात:काल जगकर यह समझना चाहिये कि 'यह जीवन क्षणिक है, इसमें महान् भय उपस्थित है। पता नहीं कब मरण हो जाय, कब कौन-सी व्याधि आ जाय, कब कौन शोक आ जाय, अर्थात् ये अत्यन्त समीपमें ही आये हुए हैं' ऐसा समझकर धर्मका ही अनुष्ठान करना चाहिये, भजन-पूजन, भगवत्सेवा इत्यादि उत्तम कामोंमें ही अपना समय लगाना चाहिये, मृत्यु कब आकर घेर लेगी, इसका कुछ पता नहीं। यह समझना चाहिये कि हम कालके मुँहमें ही पड़े हैं, अत: अच्छे कामको कलके लिये नहीं टालना चाहिये। 'कल करूँगा, आज करूँगा, पूर्वाह्णमें करूँगा, अपराह्णमें करूँगा', इस प्रकारसे टाल-मटोल करके सत्कर्मकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अच्छे कामोंको, सत्कर्मोंको, धर्माचरणको तत्काल ही कर ले और बुरे कामको टालता रहे। मृत्यु किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती। वह तो अपने नियत समयपर आयेगी ही। चाहे मनुष्यने अपना काम कर लिया हो चाहे वह काम करनेवाला हो, इसका खयाल मृत्यु नहीं करती। अर्थात् मृत्यु नियत है, काल नियत है, थोड़ा-सा समय मिला है, अत: जैसे बन पड़े, जितनी जल्दी बन पड़े, आत्मकल्याणमें लग जाना चाहिये[2]।

(३) शातातपस्मृति

महर्षि शातातप-प्रणीत शातातपस्मृतिका स्मृतिवाङ्मयमें विशिष्ट स्थान है। विश्वरूप, हरदत्त एवं अपरार्कने शातातपस्मृतिके प्रायश्चित्त-प्रकरणोंको उद्धृत किया है और 'स्मृतिचन्द्रिका' तथा 'मिताक्षरा' एवं अन्य निबन्ध-ग्रन्थोंमें इस स्मृतिके अनेक श्लोकोंको लिया गया है।

निबन्ध-ग्रन्थोंमें जो शातातपस्मृतिके वचन उद्धृत हैं, वे सभी आज उपलब्ध शातातपस्मृतिमें नहीं मिलते। इससे यह प्रतीत होता है कि शातातपस्मृति कभी बृहद्रूपमें उपलब्ध थी, किंतु कालक्रमसे उसका बहुत-सा भाग नष्ट हो गया है। वर्तमानमें जो शातातपस्मृति प्रकाशित है, उसमें ६ अध्याय और लगभग २४० श्लोक हैं।

मुख्यरूपसे इस स्मृतिमें कर्मविपाक (शुभाशुभ-कर्मका फल, भले-बुरे कामका नतीजा)-का ही वर्णन है। वैसे तो कर्मविपाक-सम्बन्धी विवरण पुराणों तथा अन्य धर्मशास्त्रोंमें भी न्यूनाधिकरूपसे प्राप्त होता है और **'सूर्यारुणकर्मविपाकसंहिता'** नामसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है तथापि कर्मविपाकके सम्बन्धमें महर्षि शातातपजीके वचन विशेषरूपसे मान्य माने गये हैं। इसीलिये इस स्मृतिको

१-श्रीमद्भगवद्गीतामें इस बातको बार-बार बतलाया गया है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (२। ५५, ७१)
संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ (६। २४-२५)

२-उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम्। मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्। न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं चास्य न वाऽकृतम्॥ (श्लोक ६५-६६)

'शातातपीय कर्मविपाकसंहिता' भी कहते हैं।

कर्तव्याकर्तव्यके विषयोंकी धर्मशास्त्रोंमें जो मर्यादा स्थिर की गयी है, उसका उल्लंघन करनेसे और मनमाना आचरण करनेसे मनुष्य पापका भागी बनता है। इस पापकी निवृत्तिके लिये धर्मशास्त्रोंमें प्रायश्चित्तका विधान बताया गया है, जिसका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे मनुष्य उस पापसे छुटकारा पाकर शुद्ध हो जाता है। इस सम्बन्धमें महर्षि शातातपजीने बहुत विचार किया है और यह बताया है कि किस पापकर्मसे जन्मान्तरमें किस रोगकी उत्पत्ति होती है। रोगोत्पत्तिके सम्बन्धमें उनका कहना है कि वर्तमानमें व्यक्ति जो रोग-व्याधिसे ग्रस्त दिखायी देता है, उसके मूलमें यही कारण है कि जन्मान्तरमें उसने कोई पापकर्म किया और उसका प्रायश्चित्त नहीं किया। जन्मान्तरीय दुष्कर्मसे नरक-यातना होती है और फिर दूसरे जन्ममें उसे कौन योनि प्राप्त होगी? यदि मनुष्य-जन्म होगा तो उसे कौन-सा रोग होगा, इस सम्बन्धमें विस्तारसे इस स्मृतिमें बतलाया गया है।

महर्षिने अपनी स्मृतिके प्रारम्भमें ही यह बतलाया है कि पातकी व्यक्ति यदि प्रायश्चित्त नहीं करता तो मरनेपर नरक भोगनेके पश्चात् पापसूचक चिह्नोंसे युक्त होकर मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है और उसका वह पापसूचक रोग अगले जन्मोंमें भी प्रादुर्भूत होता रहता है। किंतु यदि वह दूसरे जन्ममें प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप कर लेता है तो फिर उसे उस पापसूचक रोगसे मुक्ति मिल जाती है। महापातकका चिह्न ७ जन्मतक, उपपातकका चिह्न ५ जन्मतक और अन्य साधारण पापोंका चिह्न ३ जन्मतक प्रकट होता है। ये रोग जप, देवपूजन, होम तथा दान आदि धर्मानुष्ठानोंसे शान्त हो जाते हैं[1]।

महर्षि शातातप मनुष्योंको यही शिक्षा देते हैं कि वे कभी भी निन्दित-कर्म, पाप-कर्म न करें, हमेशा धर्माचरणमें ही लगे रहें। जो धर्माचरण नहीं करते, शास्त्रकी आज्ञाका पालन नहीं करते, उन्हें निश्चित ही नरक भोगना पड़ता है और जन्मान्तरमें उन्हें भयंकर रोग होता है और यदि वे प्रायश्चित्त कर लेते हैं तो उन्हें उस पापजनित कष्टसे मुक्ति मिल जाती है।

महर्षि शातातपजीका कहना है कि कुष्ठ, राजयक्ष्मा, प्रमेह, संग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र (पथरी), अतिसार, भगंदर, गण्डमाला, पक्षाघात तथा नेत्रनाश आदि भयंकर रोग महापापोंसे पैदा होते हैं। इसी प्रकार जलोदर, यकृत्, प्लीहा आदिके रोग, शूलरोग, श्वास, अजीर्ण, ज्वर तथा गलग्रह आदि रोग उपपातकोंसे उत्पन्न होते हैं। शरीरमें सफेद दाग, शरीरका काँपना, खुजली, चकत्ते पड़ना तथा दाद आदि रोग सामान्य पापोंसे पैदा होते हैं। इसी प्रकार अर्श (बवासीर) आदि रोग मनुष्यको अतिपाप (अत्यधिक पाप) करनेसे होते हैं।

इन पापोंके उपशमनके लिये पातक, उपपातक तथा महापातकके बलाबलको विचार करके प्रायश्चित्त करना चाहिये। इन पापोंकी शान्तिके लिये गोदान, वृषभदान, भूमिदान, धान्यदान, वस्त्रदान, त्र्यम्बक-मन्त्रका एक लाख जप, पूजन, हवन, ग्रहशान्ति और ब्राह्मणोंका पूजन तथा उनकी संतुष्टि आदि उपाय विधिज्ञ ब्राह्मणोंसे पूछकर करने चाहिये। इन सभी शान्तिपौष्टिक कर्मोंमें ब्राह्मणोंकी संतुष्टि मुख्य कारण है; क्योंकि ब्राह्मण जो कहते हैं, उसीको देवता मानते हैं, ब्राह्मण सर्वदेवमय हैं, इसलिये उनके वचन अन्यथा नहीं हो सकते। उनके वाणीरूप जलके द्वारा मलिन प्राणी सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं—

ब्राह्मणा यानि भाषन्ते मन्यन्ते तानि देवताः।
सर्वदेवमया विप्रा न तद्वचनमन्यथा॥
तेषां वाक्योदकेनैव शुद्ध्यन्ति मलिना जनाः॥

(शाता० १। २७, ३०)

१-प्रायश्चित्तविहीनानां महापातकिनां नृणाम्। नरकान्ते भवेज्जन्म चिह्नाङ्कितशरीरिणाम्॥
प्रतिजन्म भवेत् तेषां चिह्नं तत्पापसूचितम्। प्रायश्चित्ते कृते याति पश्चात्तापवतां पुनः॥
महापातकजं चिह्नं सप्त जन्मनि जायते। उपपापोद्भवं पञ्च त्रीणि पापसमुद्भवम्॥
दुष्कर्मजा नृणां रोगा यान्ति चोपक्रमैः शमम्। जपैः सुरार्चनैर्होमैर्दानैस्तेषां शमो भवेत्॥ (शाता०स्मृति १। १—४)

यहाँ महर्षि शातातपप्रोक्त कर्मविपाककी एक संक्षिप्त तालिका दी जा रही है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस दुष्कर्म—पापके फलस्वरूप कौन-सा रोग उत्पन्न होता है—

पाप	रोग	पाप	रोग
१- ब्रह्महत्या	पाण्डुकुष्ठ	२८- मूर्तिभंजक	अप्रतिष्ठा (स्थिरताका अभाव)
२- गोवध	कुष्ठ	२९- दुष्ट वचन बोलनेवाला	खण्डित
३- पितृवध	चेतनाहीनता	३०- परनिन्दा	खल्वाट (गंजापन)
४- मातृवध	अन्धत्व	३१- दूसरेका उपहास करनेवाला	काना
५- भगिनीहत्या	बधिर	३२- सभामें पक्षपात करनेवाला	पक्षाघात
६- भ्रातृवध	मूक (गूँगा)	३३- स्वर्णचोर	कुलघ्न
७- बालघाती	मृतवत्सवाला	३४- काँसेकी चोरी करनेवाला	पुण्डरीक रोग
८- गोत्रहा	कुष्ठी, निर्वंश	३५- ताम्रचोर	औदुम्बररोग (एक प्रकारका कुष्ठ)
९- स्त्रीहन्ता	अतिसार	३६- पीतलकी चोरी	पिङ्गलाक्ष
१०- राजहत्या	क्षय	३७- मोतीकी चोरी	पिङ्गमूर्धज (कुछ भूरे बालवाला)
११- उष्ट्रहत्या	विकृतस्वर	३८- त्रपुहारी (सीसाचोर)	नेत्ररोगी
१२- अश्वहत्या	वक्रतुण्ड	३९- दुग्धचोर	बहुमूत्री
१३- हरिणहत्या	खंज (लँगड़ा)	४०- लौहचोर	कर्बूराङ्ग (चितकबरे अङ्गवाला)
१४- मार्जारहत्या	पीतपाणि	४१- तैल-चोर	खुजली रोग
१५- शुक-सारिका-वध	स्खलितवाक् (हकलाना)	४२- कच्चा अन्न चुरानेवाला	दन्तहीन
१६- वकहत्या	दीर्घ नासिका	४३-पक्वान्नहारी	जिह्वा-रोग
१७- काकवध	कर्णहीन	४४- विद्या और पुस्तकका हरण करनेवाला	मूक
१८- सुरापान	श्यावदन्त (काले-पीले दाँतवाला)	४५- वस्त्रचोर	कुष्ठी
१९- मद्यपायी	रक्तपित्त	४६- औषधि-चोर	सूर्यावर्त (अर्धकपाली)
२०- अभक्ष्यभक्षण	उदरक्रिमि	४७- विप्रके रत्नोंको चुरानेवाला	अनपत्यता
२१- विष देनेवाला	छर्दि रोग	४८- देवमूर्तियोंकी चोरी	विभिन्न प्रकारके ज्वर
२२- मार्ग तोड़नेवाला	पादरोगी (पाँवका रोगी)	४९- अगम्यागमन	अनेक रोग
२३- धूर्तता	अपस्मार रोग		
२४- दूसरेको कष्ट देनेवाला	शूल रोग		
२५- दावाग्नि-दाता	रक्तातिसार		
२६- देव-मन्दिर या जलमें मूत्रोत्सर्ग करनेवाला	भयंकर गुदारोग		
२७- गर्भपात	यकृत् और प्लीहा-सम्बन्धी एवं जलोदर रोग		

इस प्रकार शुभाशुभ कर्मोंका फल इस स्मृतिमें विस्तारसे बतलाया गया है और सभी पापोंके प्रायश्चित्त-विधान भी विस्तारसे बतलाये गये हैं। अन्तमें यह निर्देश है कि विष, उद्बन्धन, अग्नि, पत्थर, विद्युत् आदि प्राकृतिक उत्पातोंसे मृत व्यक्ति सद्गतिको प्राप्त नहीं होते, प्रेतत्वको प्राप्त होते हैं। इन्हें कैसे सद्गति प्राप्त हो इसका विधान भी इसमें बतलाया गया है।
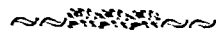
आख्यान—

कुमारिल भट्टका आत्मदाहरूप प्रायश्चित्त

धर्मशास्त्रमें पापोंसे छुटकारा पानेके लिये प्रायश्चित्तका विधान किया गया है। धर्मशास्त्रने प्रायश्चित्तके लिये बहुत जोर दिया है। कारण यह है कि प्रायश्चित्त कर लेनेसे थोड़े ही कष्टमें पापोंसे छुटकारा मिल जाता है, नहीं तो नरक आदि लोमहर्षक कष्टोंको बहुत दिनों-तक सहना पड़ता है। नरकसे छूटनेके बाद भी उन पापोंका भिन्न-भिन्न चिह्न लेकर मनुष्यको जन्म लेना पड़ता है। महापातकोंका चिह्न तो सात जन्मोंतक पीछा नहीं छोड़ता—

प्रायश्चित्तविहीनानां महापातकिनां नृणाम्।
नरकान्ते भवेज्जन्म चिह्नाङ्कितशरीरिणाम्॥

× × ×

महापातकजं चिह्नं सप्तजन्मनि जायते।

(शातातप० १। १,३)

अत: जानकार लोग अपने पापोंका प्रायश्चित्त अवश्य कर लेते हैं। महापण्डित कुमारिल भट्टने जान-बूझकर एक पाप किया था। वह पाप था उनका अपने गुरुओंसे शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त करना। यह पाप भी उन्होंने वैदिक धर्मके उद्धारके लिये किया था।

कुमारिल भट्ट अभी बालक थे। काशीकी गलियोंसे कहीं गुजर रहे थे। उनके कन्धोंपर ऊपरसे आँसुओंकी कुछ बूँदें गिरीं। अचकचाकर उन्होंने ऊपरकी ओर दृष्टि दौड़ायी तो देखा कि काशीनरेशकी कन्या बहुत उद्विग्न होकर रो रही है और कह रही है—'**किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यते।**'

अर्थात् 'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ। वह कौन है, जो वेदोंका उद्धार कर सके।' वेदोंके प्रति एक बालाका इतना बड़ा अनुराग और उसके उद्धारके लिये इतनी छटपटाहट देखकर कुमारिलका ब्राह्मणत्व जाग उठा। बालक मानो सोतेसे जागा। बोला—बहन! मत रोओ, मैं वेदोंका उद्धार करूँगा, यह मेरा प्रण है। थोड़े दिन प्रतीक्षा करो—'**मा रोदीर्वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।**'

कुमारिलने जो कुछ भी प्रतिज्ञा कर ली थी, उसे अब पूरा करना था। कुमारिल जानते थे कि बौद्धोंके खण्डनके लिये बौद्ध-ग्रन्थोंका गहन अध्ययन और मनन अपेक्षित है और यह काम तक्षशिलाके चोटीके आचार्योंसे ही सम्पन्न हो सकता है। कुमारिल भट्ट तक्षशिला पहुँचे और बौद्ध गुरुओंके चरणोंमें बैठकर अपना अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उनकी लगनने उन्हें शीघ्र ही अध्ययनकी सीमातक पहुँचा दिया।

एक दिन कुमारिल भट्ट बहुत ही नम्रताके साथ अपने गुरुओंके चरणोंमें लोट गये। उठाये उठे नहीं। गुरुजन समझ गये कि आज कुमारिल हमसे कुछ चाह रहा है, बोले—'कुमारिल! क्या बात है, क्या चाहते हो बोलो। तुम्हारे लिये कुछ अदेय नहीं है।' कुमारिल संकोचसे गड़े जा रहे थे। उन्होंने अपनेको संयत कर हाथ जोड़कर कहा—'गुरुजी! जब मैं बौद्धधर्म और वेद दोनोंका आलोचनात्मक अध्ययन करता हूँ, तब मुझे वेदका मार्ग ही सत्य प्रतीत होता है, इसलिये मैं आपलोगोंसे विचार-विमर्श करना चाहता हूँ। आपने ही सिखाया है कि सत्यके लिये निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिये। उसी सत्यकी प्राप्तिके लिये मैं यह प्रयास कर रहा हूँ।' आचार्य लोग भी सत्यके पक्षपाती थे। शास्त्रार्थसे उसका स्वरूप निखर उठे, यह वे भी चाहते थे, इसलिये प्रसन्नताके साथ शास्त्रार्थका समय निश्चित कर दिया गया।

एक ओर वात्सल्यसे भरा आचार्योंका समूह बैठा था और दूसरी ओर नम्रता और श्रद्धाकी भावनासे अभिभूत अकेला कुमारिल।

शास्त्रार्थ बहुत ही शान्त वातावरणमें चलने लगा। धीरे-धीरे विचारमें गहराई आती जा रही थी। गुरुजन शिष्यकी प्रतिभासे प्रसन्न थे, किंतु उन्होंने सत्यको कुमारिलके पक्षमें स्थित पाया। फिर भी आचार्यजन चाहते थे कि जिसे ईश्वर कहा जाता है, उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति भी कर ली जाय। अन्तमें दोनों पक्षकी ओरसे यह निर्णय हुआ कि दोनों पक्षके लोग पहाड़की चोटीसे कूदकर उस सत्यको प्रमाणित करें। कुमारिलने गुरुजनोंसे कहा—'मैं ईश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन कर रहा हूँ, इसलिये मेरा कर्तव्य हो जाता है कि सबसे पहले पहाड़की चोटीसे मैं ही कूदूँ। यदि मैं बच गया तो यह समझते देर न लगेगी कि ईश्वर है और उसीने मुझे बचाया है।' ऐसा कहकर कुमारिल भट्ट प्रसन्नताके साथ पहाड़की चोटीपर चढ़ गये और बोले—'यदि

ईश्वर है तो उसकी कृपासे मेरा बाल भी बाँका न हो' और कूद गये। सचमुच कुमारिलका बाल भी बाँका नहीं हुआ। जब बौद्धोंकी बारी आयी, उनमेंसे एक भी चोटीसे कूदनेको तैयार नहीं हुआ। इस तरह कुमारिल भट्टने सभीके मस्तिष्कमें ईश्वरकी सत्ताका विश्वास करा दिया। उसके बाद वे फिर गुरुके चरणोंमें लोट गये और उनसे कहा कि 'मैंने आपसे ही पढ़ा है और आपको ही चुप करानेका प्रयास किया है। यह मुझसे बहुत बड़ा अपराध बन गया है। जबतक जिंदा रहूँगा, तबतक यह पाप मुझे सताता रहेगा। इसलिये मैं इसका प्रायश्चित्त करूँगा। आपलोग मुझे क्षमा करें।' गुरुओंने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया कि तुमने सत्यकी खोजके लिये हमसे विचार-विमर्श किया है, इसलिये तुझमें कोई पाप नहीं होना चाहिये, किंतु शास्त्र-विश्वासी कुमारिल भट्ट शास्त्रानुसार प्रायश्चित्तके निमित्त प्रयागमें जाकर तुषानलकी चिता जलाकर वीरताके साथ उसपर लोट गये। उनका शरीर धीरे-धीरे जलकर पञ्चतत्त्वमें विलीन हो गया।

यह है सच्ची आस्तिकता, यह है सच्चा शास्त्र-विश्वास।
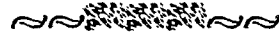
महर्षि गौतम और उनके धर्मशास्त्र

महर्षि गौतम वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें एक ऋषि हैं।[१] ये ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टिसे उद्भूत हैं। देवी अहल्या इनकी पत्नी हैं। ये भी ब्रह्माजीद्वारा उत्पन्न निर्दिष्ट हैं। महर्षि गौतमका चरित्र अलौकिक है। इनके-जैसा त्याग, वैराग्य, तप तथा धर्माचरण अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता। अनेक स्थानोंपर इनके आश्रमका उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारतमें यह उल्लेख है कि महर्षि गौतमने पारियात्रपर्वतपर साठ हजार वर्षोंतक तपस्या की थी और इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर धर्मराज इनके आश्रमपर पधारे थे। महर्षि गौतम न्याय-दर्शन आदि अनेक विषयोंके आचार्य कहे गये हैं। प्राचीनतम धर्माचार्योंमें महर्षि गौतमका नाम बड़े ही आदरके साथ लिया जाता है। आचार्य याज्ञवल्क्यने धर्मशास्त्रप्रणेताओंमें महर्षि गौतमको उल्लिखित किया है (याज्ञ० १। ५)। महर्षि गौतमके नामसे एक धर्मसूत्र तथा एक स्मृति प्राप्त होती है, यहाँ संक्षेपमें इनका विवरण दिया जा रहा है—

(१) गौतमधर्मसूत्र

धर्मशास्त्रीय व्यवस्थामें गौतमधर्मसूत्र सर्वाधिक प्राचीन एवं अत्यधिक प्रामाणिक माना जाता है। इस धर्मसूत्रका सम्बन्ध विशेषरूपसे सामवेदसे बताया गया है। यह 'धर्मसूत्र' सूत्रोंमें उपनिबद्ध है और इसमें आद्योपान्त गद्य-भाग ही है, उद्धरणोंके रूपमें भी कोई श्लोक नहीं मिलता। अन्य धर्मसूत्रोंमें यह बात नहीं है। आचार्य हरदत्त, आचार्य मस्करी तथा श्रीअसहायद्वारा इस धर्मसूत्रपर भाष्य लिखा गया है। इस धर्मसूत्रमें छोटे-छोटे २९ अध्याय हैं। २० वें अध्यायमें भाष्य उपलब्ध नहीं होता। यहाँ संक्षेपमें अध्यायोंमें वर्णित विषय-वस्तुका निर्देश किया जा रहा है—

[अध्याय-१] आचार, द्विजातिके उपनयनका काल, [२-३] ब्रह्मचारीके नित्य-नैमित्तिक कर्म, नैष्ठिक ब्रह्मचारीके नियम, [४] आठ प्रकारके विवाहोंका वर्णन, [५-६] गृहस्थ-धर्मका वर्णन, गृहस्थके कर्तव्य, अभिवादनकी विधि और सम्मानके हेतु, [७] आपद्धर्म, [८] संस्कारोंकी महिमा तथा चालीस संस्कारों और दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा—इन आठ आत्मगुणोंका नाम-परिगणन, [९] स्नातक तथा गृहस्थके आचरण, [१०] चारों वर्णोंके कर्तव्य-कर्मोंका वर्णन, [११] राजधर्म, राजाके पुरोहितके गुण, [१२] दण्डविधान, [१३] साक्षी (गवाह)-का वर्णन, [१४] आशौच, [१५] श्राद्ध-विधान, [१६] अनध्याय, [१७] भक्ष्याभक्ष्य-विवेचन, [१८] ऋतुकाल तथा पति-पत्नीका परस्पर-धर्म, [१९] निषिद्ध वस्तुओंके व्यवहारका प्रायश्चित्त, [२०—२२] कर्मविपाक तथा शान्तिकर्म, [२३—२६] प्रायश्चित्त-विधान, [२७-२८] कृच्छ्र चान्द्रायणादिव्रत तथा [२९] सम्पत्ति-विभाजन, द्वादश (बारह) प्रकारके पुत्र तथा स्त्री-धन एवं वसीयत आदिका वर्णन।

इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त सूचीसे स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि गौतमने जीवनके सभी क्षेत्रोंमें धर्म-मर्यादाको ही मुख्य माना है और उसीके अनुसार सभी लोगोंको अपने-

१-कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः। जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः॥ (श्रीमद्भा० ८। १३। ५, टि

अपने कर्तव्य करनेका परामर्श दिया है। उन्होंने अपने धर्मसूत्रके आरम्भमें ही वेदको धर्मका मूल बताया है—'वेदो धर्ममूलम्०'। गृहस्थधर्मका वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि गृहस्थको नित्य देव, पितृ, मनुष्य आदि पञ्चमहायज्ञोंको करना चाहिये। वैश्वदेव करना चाहिये और अतिथि, बालक, रोगी, गर्भिणी स्त्री, सौभाग्यवती स्त्री, वृद्ध तथा छोटोंको भोजन करानेके बाद ही स्वयं भोजन करना चाहिये—

भोजयेत् पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणीसुवासिनीस्थविरान् जघन्यांश्च। (गौतमधर्म० अ० ५)

महर्षि गौतमने योगक्षेमके लिये ईश्वर, देवता, पितर, गुरु तथा धर्मात्माओंके आश्रय ग्रहण करनेका उपदेश दिया है—

योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत्। नान्यमन्यत्र देवगुरुधार्मिकेभ्यः॥ (अ० ९)

जिस कर्मको आत्मज्ञानी वृद्धजन, भली प्रकार विनयसम्पन्न, दम्भ, लोभ, मोहसे रहित तथा वेदके जाननेवाले विद्वान् करने योग्य कर्तव्य बतायें, उसी कर्मको करे अन्यको नहीं—

.........यच्चात्मवन्तो वृद्धाः सम्यग्विनीता दम्भलोभ-मोहवियुक्ता वेदविद आचक्षते तत्समाचरेत्। (अ० ९)

कल्याणकामीको चाहिये कि धर्मात्मा महापुरुषों, संत-महात्माओं तथा भगवद्भक्तोंद्वारा अधिष्ठित, सेवित स्थानको ही निवास करनेके लिये चुने—

धार्मिकाधिष्ठितं निकेतनमावसितुं यतेत। (अ० ९)

प्रशस्त, मङ्गलजनक वस्तुओं तथा गौ आदि प्राणियों और देवमन्दिर तथा चतुष्पथ आदिको दाहिने रखकर चलना चाहिये तथा उनकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये—

प्रशस्तमङ्गल्यदेवतायतनचतुष्पथादीन् प्रदक्षिणमावर्तेत। (अ० ९)

व्यक्तिको चाहिये कि वह सत्य-धर्मका आचरण करे। श्रेष्ठजनोंके आचारका पालन करे। अहिंसाव्रतपरायण रहे। मृदु व्यवहार रखे, सत्संकल्पकी पूर्णतामें दृढ़तासे लगा रहे, इन्द्रियोंपर निग्रह रखे, दान-धर्मका पालन करे तथा शील एवं विनयसे सम्पन्न रहे—

'सत्यधर्मा आर्यवृत्तः.....अहिंस्रो मृदुदृढकारी दमदानशील०' (अ० ९)

इस प्रकारका धर्माचरण करनेवाला सद्गृहस्थ सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त कर फिर वहाँसे गिरता नहीं है अर्थात् सदैव ब्रह्मलोकमें निवास करता है—

शश्वद्ब्रह्मलोकान्न च्यवते न च्यवते। (अ० ९)

(२) वृद्धगौतमस्मृति

महर्षि गौतमके नामसे एक स्मृति भी प्राप्त होती है, जिसे 'वृद्धगौतमस्मृति' कहा गया है। इसमें २२ अध्याय हैं। जिनमें मुख्यरूपसे धर्म तथा धर्माचरणकी महिमा, दान, ब्राह्मणोंके लक्षण, शुभ और अशुभ कर्मोंका वर्णन, पञ्चमहायज्ञ, कपिलादानकी महिमा, सामान्य धर्म, भोजनविधि, आपद्धर्म, द्वादशमासधर्मकृत्य, तीर्थ-महिमा तथा भक्तिकी महिमाका वर्णन हुआ है। इस स्मृतिमें विविध प्रकारके दानोंकी महिमा तथा गोदानका बड़े ही विस्तारसे निरूपण हुआ है। यह स्मृति श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-संवादरूपमें है। यहाँ संक्षेपमें कुछ बातोंका वर्णन किया जा रहा है—

धर्ममहिमा

इस स्मृतिके आरम्भमें भी भगवान् केशव युधिष्ठिरसे कहते हैं—'राजन् ! धर्म ही माता-पिता, सुहृद्, भाई, सखा तथा स्वामी—सब कुछ है। धर्मसे ही अर्थ, काम, भोग, सुख, ऐश्वर्य तथा स्वर्गादिलोक प्राप्त होते हैं[१]।'

इसलिये इस दुर्लभ मनुष्य-जन्मको प्राप्त कर सदा धर्माचरण ही करना चाहिये—

तस्माद्धर्मः सदा कार्यो मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्॥ (वृद्धगौतम २। ३३)

विप्रप्रशंसा

उत्तम विप्रकी महिमा बताते हुए भगवान् युधिष्ठिरसे कहते हैं कि 'मैं ब्राह्मणोंके कृपा-प्रसादसे पृथ्वीको धारण करनेमें समर्थ हूँ और इसीलिये धरणीधर कहलाता हूँ, ब्राह्मणोंकी कृपासे ही असुरोंको जीत पानेमें समर्थ होता हूँ, ब्राह्मणोंके प्रसादसे ही मैं सर्वत्र मान्य एवं पूज्य होता हूँ तथा ब्राह्मणोंके ही प्रसादसे मैं सर्वथा अजेय बना रहता हूँ[२]।'

पुण्यात्माओं और पापात्माओंकी गति

महर्षि गौतम सदा धर्माचरण करनेका ही निर्देश देते हुए बताते हैं कि दुष्कृत कर्म करनेवाले, पापकर्म करनेवाले

१-धर्मः पिता च माता च धर्मश्च सुहृदस्तथा। धर्मो भ्राता सखा चैव धर्मः स्वामी परन्तप॥
धर्मादर्थश्च कामश्च धर्माद्भोगाः सुखानि च। धर्मादैश्वर्यमेवं च धर्मः स्वर्गगतिः प्रभो॥ (वृद्धगौतम० १। ३०-३१)

२-विप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहं विप्रप्रसादादसुराञ्जयामि। विप्रप्रसादाच्च सदक्षिणोऽहं विप्रप्रसादादजितोऽहमस्मि॥ (वृद्धगौतम० ४। ५७)

घोर नरक-यातनाको प्राप्त करते हैं, वे यमपुरीके मार्गमें भूखे-प्यासे होकर अनेक कष्टोंको भोगते हैं। यमलोकमें यमदूत तरह-तरहकी यातना उन्हें देते हैं और उन्हें धर्मराज यम भयंकर भीषण रूपवाले कालके रूपमें दिखायी देते हैं, वहाँ प्राणी बार-बार अपने कर्मोंके लिये पछताता है, किंतु उसकी कोई भी मदद नहीं करता, यमदूत बार-बार उन्हें पीड़ित करते हैं, इस प्रकार पापात्मा व्यक्ति नरकमें महान् क्लेश भोगता है, इसके विपरीत जो इस लोकमें धर्मका आचरण करते हैं तथा पुण्यका कार्य करते हैं, परोपकारका कार्य करते हैं तथा जप, तप, नियम, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति करते हैं, दीन-दुखियोंकी सेवा करते हैं, अनेक प्रकारके दान करते हैं, उनके लिये यम-मार्ग भी सब प्रकारके सुखोपभोगोंसे सम्पन्न, रमणीय एवं आनन्ददायी हो जाता है, यमदूत उन पुण्यात्माओंको बड़े ही आदर-भक्तिसे विमानद्वारा ले जाते हैं और ऐसे धर्मात्माजनोंको कालरूप भयंकर यमराज भी सौम्य-रूपमें प्रसन्न होकर सुखपूर्वक बैठे हुए दर्शन देते हैं—

वैवस्वतं च पश्यन्ति सुखचित्तं सुखस्थितम्॥

(वृद्धगौतम० ५। ८४)

धर्मात्मा पुरुष परम तृप्तिको पाकर सुखपूर्वक महापथकी ओर प्रयाण करते हैं—

ते तु तृप्तिं परां प्राप्ताः सुखं यान्ति महापथम्॥

(वृद्धगौतम० ५। ८६)

भगवान् केशव युधिष्ठिरको बतलाते हैं कि जो पुण्यात्मा प्रतिदिन एकात्मभावसे भक्तिपूर्वक मेरी या भगवान् शंकरकी पूजा करते हैं, नमस्कार करते हैं, स्तुति-गान करते हैं, वे अनेक जाज्वल्यमान विमानोंके द्वारा स्तुति किये जाते हुए धर्मपुरीमें पहुँचाये जाते हैं और वहाँ अपने कर्तव्यानुष्ठानके कारण साक्षात् धर्ममूर्ति धर्मराजसे पूजित होते हैं तथा फिर वैष्णव अथवा शिवलोकको प्राप्त करते हैं[1]।

महर्षि गौतमजी कहते हैं—हे युधिष्ठिर! 'मरण' या 'मृत्यु' यह शब्द केवल पापियोंके लिये प्रयुक्त होता है, जिन पापियोंकी पुण्यगति नहीं होती, उन्हींके लिये 'मरण' शब्द प्रयोग करना ठीक है, क्योंकि प्रायः अकृत्य अर्थात् जो न करने योग्य कर्म हैं, निषिद्ध कर्म हैं, पापकर्म हैं, उन्हें करनेके कारण मनुष्य मृत्युसे (यम-यातनासे) भयभीत रहते हैं, उन्हें यह डर रहता है कि हमने बुरा कर्म किया है, अतः हमें यम-यातना भुगतनी पड़ेगी, किंतु जो कृतकृत्य—पुण्यात्मा-धर्मात्मा व्यक्ति हैं, उन्हें मृत्युसे कोई भय नहीं, वे तो मृत्युकी भी उसी प्रकार प्रतीक्षा करते हैं,उसके स्वागतके लिये उसी प्रकार तैयार रहते हैं, जैसे सद्गृहस्थ अतिथिकी प्रतीक्षा किया करते हैं और उसके आनेपर आनन्दित होते हैं[2]।

पुण्यात्मा—धर्मात्मा व्यक्तिके लिये मरण भी सुखकारक है और उन्हें यमलोकमें बड़ा सम्मान प्राप्त होता है तथा धर्मराज यम उन्हें चतुर्भुज विष्णुकी सौम्य-मुद्रामें दर्शन देते हैं। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार सुकृत और दुष्कृतका फल समझकर अच्छे कामोंमें ही प्रवृत्त होना चाहिये।

गोमहिमा

वृद्धगौतमस्मृतिमें कपिला-गोदानके प्रकरणमें विस्तारसे गोमहिमा निरूपित है और गायके विश्वरूपका वर्णन करते हुए गौके शरीरमें सभी देवताओं, तीर्थोंका निवास बताया गया है (अ० १०) और वृषभको पितारूप तथा गौको मातृरूप बताते हुए कहा गया है कि इनकी पूजा करनेसे माता-पिताकी भी पूजा हो जाती है—

पितरो वृषभा ज्ञेया गावो लोकस्य मातरः।
तासां तु पूजया राजन् पूजिताः पितृमातरः॥

(वृद्धगौतम० १३। २२)

गोग्रास प्रदान करनेका मन्त्र

गावो मे मातरः सर्वाः पितरश्चैव मे वृषाः।
ग्रासमुष्टिं मया दत्तां प्रतिगृह्णन्तु मातरः॥

(वृद्धगौतम० १३। २५)

इस मन्त्रका भाव यह है कि गौएँ मेरी माता हैं और

१-ये मामेकात्मभावेन भक्त्या त्र्यम्बकमेव वा॥
पूजयन्ति नमस्यन्ति स्तुवन्ति च दिने दिने। धर्मराजपुरं यान्ति यानैः स्तवसमप्रभैः॥
पूजितास्तत्र धर्मेण स्वधर्माद्यादिभिर्गुणैः। यान्त्येव मम लोकं वा रुद्रलोकमथापि वा॥
(वृद्धगौतम० ५। ११९—१२१)

२-प्रायेण मरणं नाम पापिनामेव पाण्डव। येषां तु न गतिः पुण्या तेषां मरणमुच्यते॥
प्रायेणाकृतकृत्यत्वाद् भूय उद्विजते जनः। कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम्॥ (वृद्धगौतम० ८। ५-६)

वृषभ मेरे पिता हैं। मेरे द्वारा दी गयी इस ग्रास (घास इत्यादि)-की मुट्ठीको गोमाताएँ स्वीकार करें।

अन्तिम संदेश

वृद्धगौतमस्मृतिके अन्तमें भगवान् केशव पाण्डवश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं कि 'हे युधिष्ठिर! आप अप्रमत्त होकर अर्थात् बड़ी ही सावधानीके साथ सदा-सर्वदा भगवान् विष्णुका ही चिन्तन किया करें, यही परम धर्म भी है, क्योंकि भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त करनेका अन्य कोई उपाय नहीं है, इसी भगवच्चिन्तनसे ही वह परम पद प्राप्त होता है'—

चिन्तयस्व सदा विष्णुमप्रमत्तः कुरूद्वह।
लोका गच्छन्ति नान्येन तद्विष्णोः परमं पदम्॥

(वृद्धगौतम० २२। ४७)

यह संदेश सभीके लिये परम कल्याणकारी है।
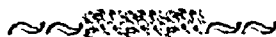
आख्यान—

एक भक्त ब्राह्मणको खिलानेसे हजार ब्राह्मणोंको खिलानेका फल

ब्राह्मणो यस्तु मद्भक्तो मद्याजी मत्परायणः।
मयि संन्यस्तकर्मा च स विप्रस्तारयिष्यति॥

(वृद्धगौतमस्मृति ६। १८१)

'जो भगवान्का भक्त हो, मनको भगवान्में ही अनन्य-भावसे लगा रखा हो, भगवान्के लिये ही यजन आदि कर्म करता हो, भगवत्परायण हो और भगवान्को ही अपने समस्त कर्मोंको अर्पण कर देता हो, वह ब्राह्मण संसारसागरसे पार उतारनेमें समर्थ होता है।' यहाँ आर्थिक विपत्तिमें ग्रस्त एक महिलाके मानसिक त्राससे छुटकारेकी एक कथा दी जा रही है—

पैठणमें एक धनी महिला थी। उसके पति धनी-मानी सज्जन थे। पैसोंकी कमी न थी। इसलिये उस महिलाने हजार ब्राह्मणोंको भोजन करानेका संकल्प ले लिया था। कालचक्र बदलता रहता है। असमयमें बेचारीका पति मर गया। घरमें जो कुछ सम्पत्ति थी, वह भी नष्ट हो गयी। अन्तमें लोगोंके यहाँ पानी भरकर पेट पालने लगी। जब भी वह एकान्तमें होती तो उसे जो हजार ब्राह्मणोंके भोजन करानेका उसने संकल्प लिया था, वह उसे याद आता, उसकी पूर्ति कैसे हो, यह विचारकर उद्विग्न हो जाती, किसी विद्वान्ने उसे बताया कि कोई ऐसा ब्राह्मण तुमको मिल जाय जो मन, वचन और कर्मसे भगवान्में लगा हो, अकेले उसीको खिला देनेसे तुम्हें हजार ब्राह्मण भोजन करानेका फल मिल जायगा।

उस समय संत एकनाथसे बढ़कर कोई ब्रह्मनिष्ठ तो था नहीं, इसलिये महिलाने एकनाथजीको भोजन करानेका निश्चय किया। उसने अपनी सारी दुरवस्थाएँ उन्हें सुना दीं और यह बात भी सुना दी कि बिना आपको भोजन कराये हमारा हजार ब्राह्मणोंको भोजन करानेका संकल्प पूरा न हो सकेगा और संकल्पका पूरा न होना परलोकके लिये बाधक होता है। एकनाथजी दयालु थे। उसका शुद्ध संकल्प और विनय देखकर उन्होंने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन अपने पुत्र हरिपंडितको उसके यहाँ भोजन बनानेको भेजा। हरिपंडितने भोजन बनाया और संत एकनाथको स्वयं ही परोस कर भोजन कराया। यह देखकर वह स्त्री बहुत प्रसन्न हो रही थी। एकनाथजीने हरिपंडितसे कहा कि मेरा पत्तल तुम्हीं उठाकर फेंक दो। जब हरिपंडित पत्तल उठाकर फेंकने लगे, तब महिला वहीं खड़ी थी। दोनोंने आश्चर्यके साथ देखा कि एक पत्तल उठानेपर उसके नीचे दूसरी पत्तल भी निकल आयी। दूसरेके नीचे तीसरी और तीसरेके नीचे चौथी। इस तरह एक हजार पत्तलें निकलीं। इस दैवी चमत्कारसे उस स्त्रीको पूरा भरोसा हो गया कि एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन करानेका उसका संकल्प पूरा हो गया। इसका दूसरा सुफल यह हुआ कि हरिपंडितको, जो अपने पाण्डित्यका गर्व था, वह भी गल गया। वे समझ गये कि पिताजी पहुँचे हुए संत हैं और उन्होंने पिताकी शरण ग्रहण की। (ला० मि०)
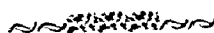
आचार्य बृहस्पति और उनके धर्मोपदेश (बृहस्पतिस्मृति)

आचार्य बृहस्पति देवताओंके भी गुरु हैं, अतः उनकी महिमाकी क्या इयत्ता! ये अत्यन्त सत्त्वसम्पन्न, धर्मनीतिके सम्यक् परिज्ञाता तथा वाणी-बुद्धि एवं ज्ञानके अधिष्ठाता तथा महान् परोपकारी हैं। भीष्मपितामहका कहना है कि बृहस्पतिके समान वक्तृत्वशक्तिसम्पन्न और कोई दूसरा कहीं भी नहीं है—

वक्ता बृहस्पतिसमो न ह्यन्यो विद्यते क्वचित्॥

(महा०, अनु० १११। ५)

पुराणोंमें बतलाया गया है कि ये महान् तपस्वी महर्षि अङ्गिराके पुत्र हैं। ये देवगुरु तथा वाचस्पति भी कहलाते हैं। नक्षत्रमण्डलमें प्रतिष्ठित होकर ये एक ग्रहके रूपमें जगत्के कल्याण-चिन्तनमें निमग्न रहते हैं। सात वारोंमें भी इनका परिगणन है और शास्त्रीय मान्यतामें 'बृहस्पति' सब प्रकारसे शुभ एवं मङ्गल ही करनेवाले हैं। पुराणों तथा महाभारत आदिमें आचार्य बृहस्पतिके अनेक दिव्य चरित्र और उपदेशप्रद अनेक आख्यान गुम्फित हैं। देवताओंके साथ ही असुर, किन्नर, नाग, गन्धर्व आदि देवयोनियों एवं मनुष्यवर्गने इनकी उपासनासे अनेक प्रकारके उत्तम फल प्राप्त किये हैं। इनके द्वारा दिये गये धर्ममय उपदेश बड़े ही कल्याणकारी और अभ्युदयको प्राप्त करानेवाले हैं। इनका स्वभाव बड़ा ही शान्त है, इन्होंने प्रत्येक परिस्थितिमें शान्त, सम एवं विकाररहित रहने तथा सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन बोलनेका उपदेश देवराज इन्द्रको देते हुए कहा—'देवराज इन्द्र! जो सभीको देखकर पहले ही बात करता है और मुसकराकर ही बोलता है, उसपर सब लोग प्रसन्न रहते हैं'—

यस्तु सर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभिभाषते।
स्मितपूर्वाभिभाषी च तस्य लोकः प्रसीदति॥

(महा०, शान्ति० ८४। ६)

धर्मराज महाराज युधिष्ठिरको धर्म-तत्त्वका रहस्य बतलाते हुए आचार्य बृहस्पति कहते हैं—

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः॥

(महा०, अनु० ११३। ७)

अर्थात् जो सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा है, किंवा सबकी आत्माको अपनी ही आत्मा समझता है तथा जो सब भूतोंको समान-भावसे देखता है, उस गमनागमनसे रहित ज्ञानीकी गतिका पता लगाते समय देवता भी मोहमें पड़ जाते हैं। इसी प्रकार—

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

(महा०, अनु० ११३। ८)

अर्थात् जो बात अपनेको अच्छी न लगे, वह दूसरोंके प्रति भी नहीं करनी चाहिये। यही धर्मका संक्षिप्त लक्षण है। इससे भिन्न जो बर्ताव होता है, वह कामनामूलक है।

महाभारत तो आचार्य बृहस्पतिके सदाचारमय सुन्दर उपदेशोंसे भरा पड़ा है। एक बार धर्मराज युधिष्ठिरकी धर्मविषयक जिज्ञासाका उन्होंने उत्तर देते हुए जो कुछ कहा था, उसका एक अंश यहाँ दिया जा रहा है—

युधिष्ठिरने बृहस्पतिजीसे पूछा—'भगवन्! आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और सब शास्त्रोंके विद्वान् हैं, अतः यह बताइये कि पिता, माता, पुत्र, गुरु तथा सजातीय, सम्बन्धी और मित्र आदिमेंसे मनुष्यका सच्चा सहायक कौन है? जब सब लोग अपने मरे हुए शरीरको काठ और ढेलेके समान त्यागकर चले जाते हैं, तब इस जीवके साथ परलोकमें कौन जाता है?'

इसपर बृहस्पतिजीने कहा—'राजन्! प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता तथा अकेला ही दुःखसे पार होता एवं अकेला ही दुर्गति भोगता है। पिता, माता, भाई, पुत्र, गुरु, जाति, सम्बन्धी तथा मित्रवर्ग—ये कोई भी उसके सहायक नहीं होते। लोग उसके मरे हुए शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेकी तरह फेंककर दो घड़ी रोते हैं और फिर उसकी ओरसे मुँह फेरकर चल देते हैं। वे कुटुम्बीजन तो उसके शरीरका परित्याग करके चले जाते हैं, किंतु एकमात्र धर्म ही उस जीवात्माका अनुसरण करता है, इसलिये धर्म ही सच्चा सहायक है। अतः मनुष्य सदा धर्मका ही सेवन करना चाहिये। धर्मयुक्त प्राणी उत्तम स्वर्गमें जाता है और अधर्मपरायण जीव नर

पड़ता है। इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि न्यायसे प्राप्त हुए धनके द्वारा धर्मका अनुष्ठान करे। एकमात्र धर्म ही परलोकमें मनुष्योंका सहायक है[१]।'

ऐसे ही अनेक उपदेशोंसे भरी उनकी एक स्मृति भी है, जो 'बृहस्पतिस्मृति'के नामसे प्रसिद्ध है। उपलब्ध स्मृति संक्षेपमें है। इसमें ८१ श्लोक हैं। मुख्यरूपसे यह स्मृति भूमि-दान एवं गोदानकी महिमामें ही पर्यवसित है और इन्द्र तथा बृहस्पतिके संवादमें है। देवराज इन्द्र आचार्य बृहस्पतिसे प्रश्न करते हैं और बृहस्पतिजी उनके प्रश्नोंका समाधान करते हैं[२]। यही समाधानरूप उत्तर बृहस्पतिस्मृतिका प्रतिपाद्य विषय है। यहाँ अति संक्षेपमें इस स्मृतिकी कुछ बातें दी जा रही हैं—

भूमिदान सबसे बड़ा दान है

आचार्य बृहस्पति देवराज इन्द्रसे कहते हैं—'राजन्! जो भूमिदान देता है, उसके द्वारा सुवर्ण, रजत, वस्त्र, मणि और रत्न आदि सब कुछका दान दे दिया गया, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि ये सभी पृथ्वीसे ही प्राप्त होते हैं'—

सुवर्णं रजतं वस्त्रं मणिरत्नं च वासव।
सर्वमेव भवेद्दत्तं वसुधां यः प्रयच्छति॥
(बृहस्पति० ५)

जो मनुष्य जोती-बोयी और उपजी हुई खेतीसे भरी भूमिका दान करता है, वह जबतक लोकोंमें सूर्यका प्रकाश रहेगा, तबतक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित रहेगा—

फालकृष्टां महीं दत्त्वा सबीजां शस्यशालिनीम्।
यावत् सूर्यकरा लोकास्तावत् स्वर्गे महीयते॥
(बृहस्पति० ६)

अपनी आजीविकाके परवश हुआ व्यक्ति जो कुछ भी पाप करता है, वह सब 'गोचर्म'के बराबर भूमिके दान कर देनेसे नष्ट हो जाता है और वह व्यक्ति शुद्ध हो जाता है—

अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुध्यति॥
(बृहस्पति० ७)

गोचर्म-भूमिका परिमाण

आचार्य बृहस्पतिने 'गोचर्म'-भूमि कितनी लंबी-चौड़ी होती है, इसे बताते हुए कहा है कि दस हाथके दण्डसे तीस दण्डका एक निवर्तन होता है और दस निवर्तन विस्तारवाली भूमि 'गोचर्म'-भूमि कहलाती है। इस प्रकार (१० हाथ=एक दण्ड, तीस दण्ड=३०० हाथ या एक निवर्तन और १० निवर्तन=३,००० हाथ) तीन हजार हाथ या लगभग १½ कि० मी० लंबी-चौड़ी भूमि 'गोचर्म-भूमि' कहलाती है। गोचर्म-भूमिका एक अन्य परिमाप देते हुए कहा गया है कि एक वृषभ तथा बछड़े-बछड़ियोंसहित एक हजार गायें, जितनी भूमिमें आरामसे इधर-उधर टहल सकें, घूम-फिर सकें, उतनी लंबी-चौड़ी भूमि 'गोचर्म-भूमि' कहलाती है[३]।

तीन अतिदान

गोदान, भूमिदान और विद्यादान—ये तीन दान महादानोंसे भी बड़े अतिदान कहे गये हैं। अतिदान करनेवालेका सब प्रकारके पापोंसे उद्धार हो जाता है, ये दाताको तार देते हैं—

त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती॥
तारयन्ति हि दातारं सर्वात् पापादसंशयम्।
(बृहस्पति० १८-१९)

भूमिहरणसे महान् पाप

भूमिदान करनेसे जितने महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है, उतने ही पापकी प्राप्ति भूमिहरण करनेवालेको होती है—

१-एकः प्रसूयते राजन्नेक एव विनश्यति॥
एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम्। असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः॥
ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च। मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः॥
मुहूर्तमिव रोदित्वा ततो यान्ति पराङ्मुखाः। तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति॥
तस्माद् धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः। प्राणी धर्मसमायुक्तो गच्छेत् स्वर्गगतिं पराम्॥
तथैवाधर्मसंयुक्तो नरकं चोपपद्यते। तस्मान्न्यायागतैरर्थैर्धर्मं सेवेत पण्डितः॥
धर्म एको मनुष्याणां सहायः पारलौकिकः। (महाभा०, अनुशा० १११। ११—१७)

२-एवमिन्द्रेण पृष्टोऽसौ देवदेवपुरोहितः। वाचस्पतिर्महाप्राज्ञो बृहस्पतिरुवाच ह॥ (बृहस्पति० ३)

३-दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डा निवर्तनम्। दश तान्येव विस्तारो गोचर्मैतन्महाफलम्॥
सवृषं गोसहस्रं च यत्र तिष्ठत्यतन्द्रितम्। बालवत्सप्रसूतानां तद्गोचर्म इति स्मृतम्॥ (बृहस्पति० ८-९)

भूमिदो भूमिहर्ता च नापरं पुण्यपापयोः।

(बृहस्पति० ३०)

भूमिहर्ता यदि करोड़ों गोदान भी करे तब भी वह शुद्ध नहीं होता—

गवां कोटिप्रदानेन भूमिहर्ता न शुध्यति॥

(बृहस्पति० ३९)

पूर्त-धर्मकी महिमा

निःस्वार्थभावसे कुआँ, बावड़ी, तालाब, देवालय, धर्मशाला, विद्यालय, अनाथालय, चिकित्सालय, मन्दिर, पौसला आदि बनवाना तथा उनका जीर्णोद्धार और छायादार एवं फलदार वृक्ष लगाना तथा मार्ग आदि बनवाना—ये सभी लोकोपकार एवं जनहितके कार्य करना-करवाना पूर्त-धर्म कहलाता है। आचार्य बृहस्पतिने पूर्त-धर्मकी विशेष महिमा गायी है और कहा है कि जो नये तालाबका निर्माण करवाता है अथवा पुराने तालाबका जीर्णोद्धार कराता है, वह अपने कुलका उद्धार कर देता है और स्वयं भी स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। पुराने बावड़ी, कुआँ, तालाब, बाग-बगीचेका जीर्णोद्धार करानेवाला नये तालाब आदि बनवानेका फल प्राप्त करता है। आचार्य बृहस्पति कहते हैं—'हे देवराज इन्द्र! जिसके बनाये हुए तालाब आदिमें गरमीके दिनोंमें भी पानी बना रहता है, सूखता नहीं, उसे कभी कठोर विषम दुःख प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह सर्वदा सुखी रहता है।' आचार्यके मूल वचन इस प्रकार हैं—

यस्तडागं नवं कुर्यात् पुराणं वापि खानयेत्।
स सर्वं कुलमुद्धृत्य स्वर्गे लोके महीयते॥
वापीकूपतडागानि उद्यानोपवनानि च।
पुनः संस्कारकर्ता च लभते मौलिकं फलम्॥
निदाघकाले पानीयं यस्य तिष्ठति वासव।
स दुर्गं विषमं कृत्स्नं न कदाचिदवाप्नुयात्॥

(बृहस्पति० ६२—६४)
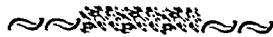
आख्यान—

अन्नदानके बिना परलोकमें अन्न नहीं मिलता

[विदर्भनरेश श्वेत एवं राजा विनीताश्वकी कथा]

धर्मशास्त्रमें दानकी अपार महिमा कही गयी है। दानको नित्यकर्ममें स्थान देकर बताया गया है कि दान सुपात्रको देना चाहिये और प्रतिदिन देना चाहिये। यह भी कहा गया है कि यदि एक दिन भी बिना दानके बीत जाय तो उस दिन उस तरह शोक प्रकट करना चाहिये, जिस तरह लुटेरेसे लुट जानेके बाद मनुष्य करता है। यह आवश्यक नहीं है कि दानकी मात्रा अधिक ही हो। यदि शक्ति न हो तो जो कुछ भोजनके लिये मिले उसीमेंसे आधा ग्रास ही दान करे। यदि अन्नदान न किया जाय तो परलोकमें अन्न मिलेगा ही नहीं, भले ही वह पूरा जीवन तपस्यामें तपाया हो। बृहस्पतिस्मृतिमें कहा गया है—'क्षुधिता यान्त्यनन्नदाः' (बृहस्पति० २०)। अर्थात् जो अन्नका दान नहीं करता है और मर जाता है तो उसे परलोकमें भोजन नहीं मिलता। भूखके मारे वह बेचैन होकर पागलोंकी तरह इधर-उधर घूमता-फिरता रहता है, किंतु भोजन नहीं मिलता। भूखकी ज्वाला शान्त करनेके लिये उसे अपने मुर्दे शरीरका मांस ही खाना पड़ता है, क्योंकि उसने अन्नसे उसी शरीरको पुष्ट किया है। इस सम्बन्धमें पुराणोंकी दो कथाएँ दी जा रही हैं—

(१)

विदर्भनरेश श्वेतका आख्यान

विदर्भनरेश श्वेतको दुनियासे वैराग्य हो गया था। उन्होंने जीवनपर्यन्त तपस्या करनेका निश्चय कर लिया। अपने भाई सुरथको राज्यपर अभिषिक्तकर घनघोर दण्डकारण्यमें आ गये। वहाँ सरोवरके तटपर आश्रम बनाकर तपस्या करने लगे। उन्होंने एक-दो वर्ष ही नहीं, अपितु पूरे ८० हजार वर्षतक घोर तपस्या की। इस घोर तपस्याका परिणाम यह हुआ कि मरनेपर उन्हें ब्रह्मलोक प्राप्त हुआ। यह ब्रह्मलोक इन्द्र आदि लोकोंसे ऊपर है और सब लोकोंसे बढ़कर वहाँ सुख-सुविधाएँ प्राप्त होती

हैं। राजा श्वेतको भी वे सब सुख-सुविधाएँ प्राप्त हुईं, किंतु भूख और प्यास मिटानेका वहाँ कोई साधन नहीं था। प्रचण्ड भूख और प्यासकी ज्वालासे उनकी इन्द्रियाँ झुलस गयीं। वे तड़पने लगे। उन्होंने ब्रह्माजीसे इसका कारण पूछा। ब्रह्माजीने सोचकर बताया—'तात! तुमने पृथ्वीपर अन्नदान नहीं किया और न किसी अतिथिको भोजन कराया, इसलिये तुमको यहाँ अन्न नहीं मिल रहा है। तुमने किसीको कुछ खिलाया-पिलाया नहीं। अन्नसे केवल अपने शरीरका ही पोषण किया है, अतः अब तुम्हें अपने मुर्दे शरीरको ही खाना पड़ेगा। उसीसे तुम्हारी तृप्ति होती रहेगी'।

बेचारा श्वेत क्या करता, प्रतिदिन ब्रह्मलोकसे पृथ्वीपर आकर उसे अपने मुर्दे शरीरको ही खाना पड़ता था। महाशक्ति-सम्पन्न अगस्त्यजीकी कृपासे उसका यह अभक्ष्य-भक्षण रुका और ब्रह्मलोकमें उसके लिये अन्नका अक्षय भण्डार प्राप्त हुआ। (पद्मपुराण-सृष्टिखण्ड)

इसीलिये बृहस्पतिस्मृतिने सावधान किया है कि अन्नदान किया करो, नहीं तो भूखे ही तुम्हें यहाँसे जाना पड़ेगा और वहाँ भी भूखे ही रहना पड़ेगा,—'**क्षुधिता यान्त्यनन्नदाः**'।

इसीलिये शास्त्र बार-बार चेतावनी देते हैं, समझाते हैं कि अन्नदानसे बढ़कर और कोई साधन तुम्हारी सद्‌गति नहीं बना सकता—'**अन्नदानात् परं नास्ति प्राणिनां गतिदायकम्**'।

(पद्मपुराण, भूमि० ९४। ५०)

(२)

राजा विनीताश्व मुर्दा खानेसे कैसे बचे

राजा विनीताश्वसे भी यही गलती हुई थी। वे भी अन्नदानको अति तुच्छ समझते थे। इसलिये उन्होंने कभी अन्नदान नहीं किया। उन्होंने बहुतसे दान दिये थे—गोदान, अश्वदान, स्वर्णदान, रत्नदान, भूमिदान आदि जितने दान हैं, उनमेंसे एक भी दान ऐसा नहीं था, जिसे उन्होंने न दिया हो, बस, केवल उन्होंने अन्नदान नहीं किया था।

मरनेपर जब स्वर्ग गये तो उनके सामने सारी भोग-सामग्रियाँ उपस्थित की गयीं, किंतु भूखसे बेहाल होनेके कारण उन्हें किसी भोग-सामग्रीसे कोई सुख नहीं मिल रहा था। भूख मिटानेके लिये उन्हें भी अपना मुर्दा शरीर खानेके लिये मृत्युलोक आना पड़ा। यहाँ आनेपर उन्हें अपना देह दीख भी गया। संयोगसे वहीं उनके अपने पूज्य पुरोहित भी दीख गये। राजाने पुरोहितसे उस अभक्ष्य-भक्षणसे बचावका उपाय पूछा। पुरोहित देवताने तिलधेनु, घृतधेनु और रसधेनुका दान करवाकर इस अभक्ष्य-भक्षणसे बचा लिया। उन्हें परलोकमें अन्न न मिलनेका कारण स्पष्ट बता दिया गया था—

नान्नं दत्तं तेन किंचित् स्वल्पं मत्त्वा यथा त्वया।

(पद्मपुराण, सृष्टि० ३६। १२७)

अर्थात् तुमने स्वर्ण, रत्न, भूमि आदि बड़े-बड़े दान तो दिये थे, किंतु तुच्छ समझकर तुमने अन्नदान नहीं किया था, इसीका फल है कि तुम्हें स्वर्गमें भी भूखे रहना पड़ा है।

कठोर वाणी से मर्माघात मत करो

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम्॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥

(महाभारत अनु० १०४। ३१-३२)

दूसरोंके मर्मपर आघात न करे, क्रूरतापूर्ण बात न बोले, औरोंको नीचा न दिखाये। जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्वेग होता हो, ऐसी रुखाईसे भरी हुई बात पापियोंके लोकोंमें ले जानेवाली होती है। अतः वैसी बात कभी न बोले। वचनरूपी बाण मुँहसे निकलते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें पड़ा रहता है। अतः जो दूसरोंके मर्मस्थानोंपर चोट करते हैं, ऐसे वचन विद्वान् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न कहे।

महात्मा बुध एवं बुधस्मृति

बुधस्मृतिके प्रणेता महात्मा बुध हैं। पुराणोंके अनुसार ये चन्द्रमाके पुत्र हैं। चन्द्रमा आदिराज कहे गये हैं, इसलिये बुध इनके पुत्र होनेसे 'राजपुत्र' या 'राजकुमार' भी कहलाते हैं। इनके पुत्र पुरूरवा हुए और फिर आगे चन्द्रवंशका विस्तार होता गया। ब्रह्माजीने इनका नाम बुध इसीलिये रखा कि इनकी बुद्धि बहुत गम्भीर है। ये सभी शास्त्रोंमें पारंगत, हस्तिशास्त्र (हाथीके गुण-दोष तथा चिकित्सा आदिका विवेचनापूर्ण शास्त्र)-के आद्य आचार्य एवं प्रवर्तक तथा चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण (ब्रह्मखण्ड अ० १६)-में बतलाया गया है कि धन्वन्तरि, दिवोदास, अश्विनीकुमार, नकुल, सहदेव, यम, च्यवन तथा अगस्त्य आदि सोलह आयुर्वेदके आचार्य हुए हैं, इन्हीं सोलहमें चन्द्रकुमार बुध भी परिगणित हैं। वहाँ निर्दिष्ट हुआ है कि महात्मा बुधने 'सर्वसारतन्त्र' नामक चिकित्साशास्त्रके एक विशिष्ट ग्रन्थका प्रवर्तन किया।

लोकमें भी बुधसे तात्पर्य विद्वान् या पण्डितसे लगाया जाता है। यह महात्मा बुधकी बुद्धिमत्ता तथा सर्वशास्त्रज्ञताका ही परिचायक है। ब्रह्माजीने ब्रह्मर्षियोंके साथ बुधको भूतलके राज्यपर अभिषिक्त किया और एक ग्रह भी बना दिया (मत्स्य-पु० २४। १०)। बुधकी कृपा होनेपर सभी कल्याण-मङ्गल तथा विशुद्ध निर्मल बुद्धिकी प्राप्ति होती है। सौर-मण्डलमें नवग्रहोंमें बुधकी गणना है। ज्योतिषशास्त्र एवं खगोलशास्त्रके अनुसार इनका स्वभाव सौम्य है। ये बड़े कृपालु एवं परोपकारी हैं। वाणी, विद्या-बुद्धि एवं शिल्प-विद्याओंके आचार्य तथा कारक हैं। बारह राशियोंमें मिथुन तथा कन्या राशिके स्वामी हैं। इनका हरित वर्ण है। ये अत्यन्त तेजस्वी, दिव्यज्ञानसम्पन्न तथा उत्कृष्ट बुद्धिके अधिनायक हैं। इनके अधिदेवता तथा प्रत्यधिदेवता भगवान् विष्णु हैं। इनका रत्न पन्ना है। इनके नामसे बुधवारकी प्रवृत्ति है।

इनका रथ भी अत्यन्त उज्ज्वल एवं तेजोमय है। उसमें वायुके समान पीले रंगके दस घोड़े जुते रहते हैं। उनके नाम हैं—श्वेत, पिशङ्ग, सारङ्ग, नील, पीत, विलोहित, कृष्ण, हरित, पृषत् और पृष्णि। ये सभी घोड़े वायुसे उत्पन्न हैं (मत्स्य० १२७। १—३)। बुध कन्या राशिमें उच्चके तथा मीन राशिमें नीचके कहे गये हैं। विंशोत्तरी महादशामें इनका समय १७ वर्षतक रहता है। नवग्रहमण्डलमें इनकी आकृति धनुषके समान निर्दिष्ट है। इनकी उपासनाका वैदिक मन्त्र इस प्रकार है—

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥

(यजु० १५। ५४)

इनका आवाहन इस प्रकार किया जाता है—

प्रियङ्गुकलिकाभासं रूपेणाप्रतिमं बुधम्।
सौम्यं सौम्यगुणोपेतं बुधमावाहयाम्यहम्॥

इनका तान्त्रिक मन्त्र इस प्रकार है—

'बुं बुधाय नमः'

अपनी उपासनासे ये अति सौम्यरूपमें होकर भक्तोंको दर्शन देकर उनका कल्याण करते हैं। आज भी नक्षत्रमण्डलमें स्थित होकर ये जगत्की गतिविधियोंको देखते हुए उनकी मङ्गल-कामनामें लगे रहते हैं।

बुधप्रणीत 'बुधस्मृति' अत्यन्त संक्षेपमें है। यह सूत्रोंमें है, इसमें लगभग ४० सूत्र हैं। संक्षिप्त होनेपर भी इसमें वेद-वेदाङ्ग, धर्म, दर्शन, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा राजशास्त्रकी सभी बातें सूत्ररूपमें संकेतमें आ गयी हैं। इसके आरम्भमें ही धर्मका स्वरूप बताते हुए कहा गया है—'**श्रेयोऽभ्युदयसाधनो धर्मः।**' अर्थात् परम श्रेय—कल्याण एवं अभ्युदयका साधन ही धर्म है। तात्पर्य यह कि धर्माचरण करनेसे परम कल्याण—मङ्गल एवं अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, मानवका परम हितकारी केवल धर्म ही है। इस लोक तथा परलोकमें सर्वत्र धर्म ही परम मित्र, परम सहायक एवं परम गति है, अतः अधर्मका सर्वथा परित्याग कर विशुद्ध धर्ममार्गका ही आश्रय लेना चाहिये।

तदनन्तर इस स्मृतिमें उपनयन एवं विवाह-संस्कारका संक्षेपमें वर्णन है। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, पैशाच तथा राक्षस—ये अष्टविध विवाह बतलाये गये हैं। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण,

निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, विवाह, विवाहाग्निपरिग्रह आदि संस्कारोंका नाम परिगणित हुआ है। विवाह-संस्कारमें लाजाहोम आदि क्रियाएँ जिस अग्निमें सम्पन्न की जाती हैं, वह आवसथ्याग्नि, विवाहाग्नि या गृह्याग्नि अथवा स्मार्ताग्नि भी कहलाती है। विवाहके अनन्तर वर-वधूको उस स्थापित अग्निको घर लाकर किसी पवित्र स्थानमें प्रतिष्ठित करके उसमें प्रतिदिन अपने कुलपरम्परानुसार हवन करनेका विधान है। यह नित्यहवनविधि द्विजातिके लिये आवश्यक बतलायी गयी है। सभी वैश्वदेवादि स्मार्तकर्म एवं पाकयज्ञ इसी अग्निमें अनुष्ठित किये जाते हैं। इसी बातको बुधस्मृतिमें संकेत-रूपसे इस प्रकार बतलाया गया है—'**तस्मिन् गृह्याणि देवपितृमनुष्यव्रतयज्ञकर्माणि कुर्यात्।**' गृहस्थको चाहिये कि वह अतिथियोंकी सेवा-पूजा अवश्य करे—'**अतिथीन् पूजयेत्।**' साथ ही अपने सेवक, नौकर-चाकर तथा बन्धु-बान्धवोंका भी पालन-पोषण करे—'**भृत्यान् बन्धून् पोष्यवर्गांश्च।**'

यज्ञ-संस्थाएँ

वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों तथा आश्वलायन, सत्याषाढ, आपस्तम्ब और पारस्कर आदि सूत्र-ग्रन्थोंमें यज्ञके अनेकों भेद बतलाये गये हैं, परंतु मुख्यरूपसे इनका समाहार तीन संस्थाओं—हविर्यज्ञ-संस्था, सोमयज्ञ-संस्था और पाकयज्ञ-संस्थाके अन्तर्गत हो जाता है। फिर एक-एकमें सात-सात यज्ञ सम्मिलित हैं। इसी बातको बुधस्मृतिमें भी बतलाया गया है, उसका कुछ सार दिया जाता है—

(१) **हविर्यज्ञ-संस्था**—१-अग्न्याधेय (अग्निहोत्र), २-दर्शपौर्णमास, ३-चातुर्मास्य, ४-निरूढपशुबन्ध, ५-सौत्रामणि, ६-आग्रयण तथा ७-पिण्डपितृयज्ञ—ये सात हविर्यज्ञ कहलाते हैं।

(२) **सोमयज्ञ-संस्था**—१-अग्निष्टोम, २-अत्यग्निष्टोम, ३-उक्थ्य, ४-षोडशी, ५-वाजपेय, ६-अतिरात्र, ७-आप्तोर्याम—ये सात प्रकारके श्रौत-यज्ञ सोमयज्ञ-संस्था कहलाते हैं।—'**अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोमः उक्थ्यः षोडशी वाजपेयः०। इति सोमयागाननुतिष्ठेत्।**'

(३) **पाकयज्ञ-संस्था**—१-अष्टका-श्राद्ध, २-पार्वण-श्राद्ध, ३-श्रावणी, ४-आग्रहायणी, ५-चैत्री, ६-आश्वयुजी तथा ७-औपासन-होम—ये सात यज्ञ पाकयज्ञ-संस्थामें परिगणित हैं।

पाकयज्ञ-संस्थाके यज्ञहोम आदि कर्म गृह्याग्नि (स्मार्ताग्नि)-में सम्पन्न होते हैं और सोमयज्ञ तथा हविर्यज्ञ-संस्थाके यज्ञादि कर्म श्रौताग्निमें सम्पादित होते हैं।

द्रव्य-शुद्धि

बुधस्मृतिमें उपार्जित द्रव्यकी शुद्धतापर विशेष बल देते हुए बताया गया है कि जो भी पुण्यानुष्ठान अथवा कर्तव्यकर्म किये जायँ सब न्यायोपार्जित द्रव्यसे शुद्ध भावनापूर्वक किये जायँ। अन्याय, बेईमानी, ठगी, धोखाधड़ी तथा अत्याचारसे प्राप्त धन समूल विनाश कर देता है, अतः इस ओर तनिक भी ध्यान न देकर शुद्ध धनका अर्जन करके उसका शरीर-रक्षा एवं धर्मकार्यमें उपयोग करना चाहिये। सुखभोगकी लालसासे धनका अर्जन और संग्रह पतन करानेवाला होता है। सूत्ररूपमें कहा गया है—'**न्यायागतधनेन कर्माणि।**'

चारों वर्णोंको अपने-अपने वर्णधर्म एवं आश्रमधर्ममें स्थिर रहते हुए सत्कार्योंको ही करना चाहिये। राजाको यह अधिकार है कि यदि उसकी प्रजा अपने-अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर रही है तो वह सब ठीक-ठीक देखता हुआ बलपूर्वक सबको अपने-अपने धर्मकार्यमें नियोजित करे—**विहितमकुर्वतो राज्ञा कारयितव्याः। बलतश्चैतान् स्वधर्मे स्थापयेत्।**

इसमें यदि राजाको दण्ड भी देना पड़े तो वह दण्ड-विधानका आश्रय अवश्य ले, क्योंकि जैसे भी हो धर्मकी मर्यादा स्थिर होनी ही चाहिये। इस प्रकार राजा स्वयं भी धर्मका आचरण करे और प्रजासे भी धर्मानुष्ठान ही कराये। इससे राजा-प्रजा दोनोंके धर्मकी सिद्धि और फिर परम कल्याण ही होता है—

तथा कुर्वतः कारयितुश्चोभयोर्धर्मसिद्धिः।

इस प्रकार संक्षिप्त होनेपर भी 'बुधस्मृति'के धर्मोपदेश अत्यन्त उपादेय और समाचरणीय हैं।
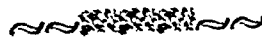
आख्यान—

धर्मसे इस लोक तथा परलोकमें अभ्युदय एवं मोक्षकी प्राप्ति

[मणिकुंडलकी कथा]

बुधस्मृतिने धर्मका लक्षण करते हुए बताया है कि जिससे इस लोक और परलोकमें अभ्युदय और अन्तमें मुक्ति भी प्राप्त हो, उस साधनको धर्म कहा जाता है—

'श्रेयोऽभ्युदयसाधनो धर्मः।'

(बुधस्मृति)

उपर्युक्त स्मृतिके वचनसे स्पष्ट हो जाता है कि इस लोक तथा परलोकमें जितनी भी उन्नतियाँ हैं, सभीकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय धर्म है। फिर भी लोकमें देखा जाता है कि धर्म करनेवालेको कुछ कष्ट झेलना पड़ता है और उसकी उन्नतिमें भी बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। ऐसा क्यों होता है, इसके उत्तरमें धर्मशास्त्र ही हमें बताता है कि ये बाधाएँ इसके पूर्वजन्मकी ही देन हैं। यहाँ ब्रह्मपुराणसे एक धर्मनिष्ठ युवक मणिकुंडलकी कथा दी जा रही है—

मणिकुंडल नामक एक वैश्य-कुमार था। वह बहुत ही धर्मका प्रेमी था। धर्मके लिये सदा प्राण देनेको तत्पर रहता था। वह बहुत धनी भी था। बचपनमें उसकी मित्रता गौतम नामके एक ब्राह्मणसे हो गयी। संयोगसे वह ब्राह्मण बहुत ही बुरे स्वभावका था। वेद उसको कण्ठस्थ थे, किंतु उसका आचरण वेदोंके बिलकुल विपरीत था। मणिकुंडल धर्मके लिये जान देता और गौतम धर्मकी धज्जी उड़ाया करता। मणिकुंडल वैभवसे सम्पन्न था और गौतम दरिद्र। इस तरह मणिकुंडल और गौतमकी मित्रता बराबरीकी नहीं थी, फिर भी मणिकुंडल मित्रताको धर्मकी दृष्टिसे देखता और उस मैत्रीको अक्षुण्ण बनानेकी कोशिश करता रहता।

दुष्ट गौतम मणिकुंडलके धनको हथियाना चाहता था। उसने बुरी नीयतसे एक योजना बनायी। वह जानता था कि मणिकुंडल उसपर विश्वास करता है, इसलिये जो वह कहेगा उसे मणिकुंडल करेगा। एक दिन उसने मणिकुंडलसे कहा कि हम दोनों पैसा कमानेके लिये विदेश चलें। मेरे पास तो पैसे हैं नहीं, तुम ही अपने पितासे माँगकर काफी धन ले चलो, हम दोनों उसीसे व्यापार करेंगे। मणिकुंडलने कहा कि मेरे पिताजीके पास पैसोंकी कमी तो है नहीं, फिर इसके लिये विदेश जानेकी क्या आवश्यकता! गौतमने समझाया कि पिताके धनका वह महत्त्व नहीं होता है, जो अपने कमाये धनका होता है। इसलिये हम दोनों विदेश चलें। पिताजीसे पर्याप्त धन माँग लो।

मणिकुंडल मित्रके आग्रहको ठुकरा न सका। पर्याप्त धन लेकर दोनोंने विदेशके लिये प्रस्थान किया। गौतमको तो व्यापार करना नहीं था, मणिकुंडलके सब पैसोंको वह शीघ्र ही हथियाना चाहता था, इसलिये पहले ही दिन उसने रास्तेमें मणिकुंडलसे कहा—'अधर्म महान् चीज है, प्राणी अधर्मसे ही बढ़ते हैं, धर्म तो दुःख देनेवाली वस्तु है। इसलिये धर्मका त्याग कर देना चाहिये।' मणिकुंडलके लिये तो धर्म ही प्राण था, उसने बड़ी नम्रतासे धर्मकी प्रशंसा की। उसने कहा कि 'सारा सुख धर्ममें ही प्रतिष्ठित है। धर्मका सेवन करनेवालेका कभी विनाश नहीं होता।' —यह सुनते ही गौतम आग-बबूला हो गया और उसने अधर्मको ही सुखका हेतु बताया और धर्मको दुःखका। उसने कहा कि आज शामको जहाँ हमलोग टिकेंगे, वहाँ पंचसे निर्णय ले लेंगे कि हमारा कहना सही है या तुम्हारा। जो हार जायगा उसके दोनों हाथ काट लिये जायँगे।

गौतम तो बहुत प्रपंची था, उसने रास्तेमें प्रलोभन देकर कुछ लोगोंको अपने पक्षमें निर्णय देनेके लिये बाध्य कर लिया। शामको पंचायत बैठी। पंचमें वे ही लोग थे, जिनको गौतमने प्रलोभन देकर अपने पक्षमें कर लिया था। उन लोगोंने निर्णय दे दिया कि 'सचमुच ही अधर्मसे उन्नति होती है और धर्मसे नाश होता है।' मणिकुंडल धर्मकी निन्दा सह न सका, किंतु निर्णयके अनुसार मणिकुंडलके दोनों हाथ काट लिये गये। मणिकुंडल धर्मको परमात्मा समझता था, इसलिये उसने इस कष्टको सहन कर लिया।

दूसरे दिन दोनों फिर चल पड़े। दुष्ट गौतमने मणिकुंडलसे फिर कहा कि पंचने तुम्हारे विरुद्ध निर्णय किया, अब तो तुम समझ गये होगे कि धर्म बहुत बुरी चीज है, उससे हानि छोड़ लाभ नहीं होगा। मणिकुंडलने विनम्रतासे कहा—'मित्र गौतम! आप जो कहते हैं वह सच नहीं है। आप तो वेदके विद्वान् हैं। वेदमें धर्मको ही अभ्युदयप्रद

माना गया है।' गौतम चीख उठा। इस बार उसने दोनों आँखोंकी बाजी लगायी। अगर तुम हार गये तो मैं तुम्हारी दोनों आँखें निकाल लूँगा, नहीं तो स्वीकार करो कि 'धर्म बुरी चीज है।' मणिकुंडल असत्यको कैसे स्वीकार करता। वह प्रह्लादकी तरह सविनय सत्यका आग्रह करता रहा।

रातको फिर गौतमके द्वारा पंचायत बैठायी गयी और इस पंचायतमें भी मणिकुंडलकी हार हुई। गौतमकी धन हथियानेकी वह दूषित योजना सफल हो चुकी थी। वह जानता था कि जिसके दोनों हाथ काट लिये गये हों और दोनों आँखें भी निकाल ली गयी हों, कबतक जीवित रहेगा। अधम ब्राह्मण गौतमी-तटपर मणिकुंडलको असहाय छोड़कर उसका सारा धन लेकर रफूचक्कर हो गया।

मणिकुंडल विपत्तिके सागरमें डूब चुका था। वह सोच रहा था कि मैंने तो धर्मकी शरण ग्रहण कर रखी है, फिर मुझे इतने कष्ट क्यों उठाने पड़ रहे हैं। धर्मने उस असहाय-अवस्थामें उसे विवेककी दृष्टि दी। उसने स्थिर कर लिया कि कोई किसीको न तो कष्ट दे सकता है और न सुख ही। ये तो अपने किये हुए कर्मोंके परिणामस्वरूप ही प्राप्त होते हैं, निमित्त भले ही कोई बन जाय। इस दृष्टिसे उसका मित्र ब्राह्मण उसे निर्दोष दीखा और अपनेको ही इन कष्टोंका कारण समझ भगवान्‌को याद करने लगा। वह निरन्तर धर्मका ही चिन्तन करने लगा और इसी अवस्थामें वह निश्चेष्ट हो भूतलपर गिर पड़ा।

उस दिन शुक्लपक्षकी एकादशी थी। इस तिथिको लंकेश्वर विभीषण गौतमी गङ्गाके तटपर आकर भगवान् योगेश्वर श्रीहरिकी पूजा किया करते थे। वे आज भी आये । उनका सोलह वर्षका पुत्र वैभीषणि भी उनके साथ था। चन्द्रमाके प्रकाशमें वैभीषणिने मणिकुंडलकी दुरवस्था देखी। उसका हृदय काँप उठा, किंतु वह मणिकुंडलकी कोई सहायता नहीं कर सकता था, न तो वह मणिकुंडलकी आँखें ही लौटा सकता था और न हाथ ही जोड़ सकता था। इसके साथ-साथ मणिकुंडलके खूनके साथ जो उसके प्राण रिस रहे थे, इसका भी कोई उपाय उसके पास न था। वैभीषणि दौड़कर अपने पिताके पास पहुँचा और बेचारे मणिकुंडलकी रोमाञ्चकारी गाथा सुनाकर रो पड़ा। संत विभीषणने पुत्रको आश्वासन दिया—देखो, मणिकुंडलके सारे कष्ट अभी मिट जाते हैं। तुम चिन्ता छोड़ो।

विभीषणने सुनाया। रामभक्त हनुमान्‌जी जब लक्ष्मणको जिलाकर औषधियोंको हिमालयपर रखने जा रहे थे, तब विशल्यकरणीका एक टुकड़ा भगवान् योगेश्वर श्रीहरिके मन्दिरके पास गिर पड़ा। उस टुकड़ेको ले आओ और मणिकुंडलके हृदयपर रख दो। उसके कटे हुए हाथ, फूटी हुई आँखें और स्वास्थ्य-सम्पत्ति सब उसे पुनः प्राप्त हो जायँगे।

वैभीषणिने—'**इषे त्वा०**'—इस यजुर्वेदके मन्त्रके साथ उस शाखाको तोड़ा और विधि-विधानसे विशल्यकरणीको मणिकुंडलके हृदयपर रख दिया। देखते-ही-देखते मणिकुंडल दुस्तर शोक-सागरको पार कर गया और उसके हृदयमें आनन्दकी धाराएँ बहने लगीं।

संत ही संतके महत्त्वको समझते हैं। विभीषणने मणिकुंडलको वह विशल्यकरणी दे दी, ताकि उससे मणिकुंडलका आगे अभ्युदय हो। उस विशल्यकरणीके प्रयोगसे मणिकुंडलने एक जन्मान्ध राजकुमारीकी आँखें अच्छी कर दीं, जिससे उस राजकन्याके साथ उसका विवाह हो गया और सम्पूर्ण राज्य भी उसे मिल गया। इस तरह मणिकुंडलकी विदेश-यात्रा धर्मके प्रभावसे पूर्ण सफल रही। धर्मनिष्ठ लोग महान् उदार होते ही हैं। वे अपने अपकारियोंका भी हित चाहते हैं—

कृपार्द्रं यन्मनो नित्यं तेषामप्यहितेषु हि।

(ब्रह्मपुराण १७०। ८३)

मणिकुंडलने अपने मित्रको ढूँढ़ मँगाया। जुआरियोंने उस दुष्ट ब्राह्मणका सारा धन हड़पकर उसे दर-दरका भिखारी बना दिया था। वह भूख-प्याससे इधर-उधर तड़प रहा था। मणिकुंडलने अपने मित्रको धर्मका सब प्रभाव बतलाया और समस्त पापोंकी निवृत्तिके लिये गौतमी गङ्गामें स्नान करवाया और उसे धार्मिक अनुष्ठानोंमें लगा दिया। इस तरह '**श्रेयोऽभ्युदयसाधनो धर्मः**' (बुधस्मृति)-के वचनको मणिकुंडलने सफल कर दिखाया। मणिकुंडल-जैसे संतोंको तो स्वर्ग और अपवर्ग स्वयं आकर वरण करते हैं। (ला० मि०)
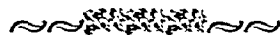
योगीश्वर याज्ञवल्क्य और याज्ञवल्क्यस्मृति

महान् अध्यात्मवेत्ता, योगी, ज्ञानी, धर्मात्मा एवं श्रीरामकथाके प्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्यजीका नाम सर्वविश्रुत ही है। पुराणोंमें इन्हें ब्रह्माजीका अवतार बताया गया है। श्रीमद्भागवतमें इन्हें देवरातका पुत्र बताया गया है (श्रीमद्भा० १२। ६। ६४)। ये वेदाचार्य महर्षि वैशम्पायनके शिष्य हैं। इन्होंने अपने गुरु वैशम्पायनजीसे वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया। एक बार गुरुजीसे कुछ विवाद हो जानेके कारण गुरु वैशम्पायनजी इनसे रुष्ट हो गये और कहने लगे—'तुम मेरे द्वारा पढ़ी हुई यजुर्वेदकी शाखाको उगल दो।' गुरुजीकी आज्ञा पाकर याज्ञवल्क्यजीने अन्नरूपमें वे सब ऋचाएँ उगल दीं, जिन्हें वैशम्पायनजीके दूसरे शिष्योंने तित्तिर (तीतर) बनकर ग्रहण कर लिया। यजुर्वेदकी वही शाखा, जो तीतर बनकर ग्रहण की गयी 'तैत्तिरीय शाखा' के नामसे प्रसिद्ध हुई।

पुन: याज्ञवल्क्यजीने वेद-ज्ञान और वेद-विद्या प्राप्त करनेका निश्चय किया और इस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये भगवान् सूर्यकी उपासना की तथा उनसे प्रार्थना की कि 'मुझे ऐसे यजुर्वेदकी प्राप्ति हो जो अबतक किसीको न मिला हो'—

अहमयातयामयजु:काम उपसरामीति।

(श्रीमद्भा० १२। ६। ७२)

महर्षि याज्ञवल्क्यकी स्तुति-उपासनासे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य उनके सामने अश्वरूपसे प्रकट हुए और उन्हें यजुर्वेदके उन मन्त्रोंका उपदेश दिया, जो अबतक किसीको प्राप्त न हुए थे—

एवं स्तुत: स भगवान् वाजिरूपधरो हरि:।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादित:॥

(श्रीमद्भा० १२। ६। ७३)

अश्वरूप सूर्यसे प्राप्त होनेके कारण शुक्ल यजुर्वेदकी यह शाखा 'वाजसनेय' या 'माध्यन्दिन' नामसे प्रसिद्ध हुई और इसके मुख्य द्रष्टा महर्षि याज्ञवल्क्यजी हैं। 'वाजसनेयीसंहिता'के आचार्य होनेके कारण ये 'वाजसनेय' भी कहलाते हैं। इस प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य वेदोंके मुख्य आचार्य हैं। साथ ही ये 'शतपथ ब्राह्मण' तथा 'बृहदारण्यक उपनिषद्'के द्रष्टा भी हैं। गार्गी, मैत्रेयी और कात्यायनीसे ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी जो इनका विचार-विमर्श हुआ, वह बड़ा ही मार्मिक, कल्याणकारी तथा अपूर्व है, वह उपनिषदों तथा पुराणोंमें उल्लिखित है। ये विदेहराज महाराज जनकजीके गुरु थे।

एक बार महाराज जनकजीकी इच्छा हुई कि हम किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करें। सर्वोत्तम ब्रह्मनिष्ठ ऋषिकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने एक युक्ति सोची। उन्होंने बड़े-बड़े ऋषियोंको बुलाया और सभामें बछड़ेसहित हजार सुवर्णकी गौएँ खड़ी कर दीं। तदनन्तर उन्होंने समस्त ऋषियोंके सामने घोषणा की—'जो कोई ब्रह्मनिष्ठ हों, वे इन गौओंको सजीव बनाकर ले जायँ।' सभीकी इच्छा हुई कि हम लें, किंतु 'पहले उठकर हम ऐसा करते हैं तो और लोग समझेंगे कि ये तो अपने मुँह ही अपनेको ब्रह्मनिष्ठ बताते हैं'—ऐसा सोचकर शिष्टाचार और लोकापवादके भयसे कोई भी न उठे। शिष्योंसहित याज्ञवल्क्यजी भी वहाँ थे। उन्होंने अपने एक शिष्यसे कहा—'सब गौओंको ले चलो।' इसपर उनका समस्त ऋषियों तथा गार्गीसे शास्त्रार्थ हुआ। उन्होंने सभीके प्रश्नोंका विधिवत् उत्तर दिया। सभी संतुष्ट हुए। गौएँ भी सजीव हो गयीं और सभी महर्षि याज्ञवल्क्यजीके प्रातिभ-ज्ञान, विद्याशक्ति एवं दिव्य योगबलसे पराभूत हो गये। तब महाराज जनकजीने उनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की। महर्षि याज्ञवल्क्यजीका मिथिला देशसे विशेष सम्बन्ध रहा है।

ब्रह्मविद्याके सूक्ष्म तत्त्वदर्शी होनेके साथ ही महर्षि याज्ञवल्क्यजी उच्चकोटिके भक्त भी हैं। प्रयागमें इन्होंने ऋषियोंके समाजमें महर्षि भरद्वाजजीको दिव्य रामचरित सुनाया—

तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥

(रा० च० मा० १। ३० (क) ५)

तात सुनहु सादर मनु लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥

(रा० च० मा० १। ४७। ५)

योगके उपदेष्टा आचार्यों तथा स्मृतिकारोंमें महर्षि याज्ञवल्क्यजीका स्थान सबसे ऊँचा माना जाता है। आदिराज मनुकी मनुस्मृति प्राचीनतम अवश्य है, किंतु महर्षि

याज्ञवल्क्य-विरचित याज्ञवल्क्यस्मृतिकी ख्याति पवित्रता और विद्वत्ताकी दृष्टिसे मनुस्मृतिसे कम नहीं है। इसपर अनेक टीकाकारोंके योगदान तथा टीकाओंमें मनुस्मृतिके प्रायः सभी श्लोकोंके उद्धृत हो जानेसे इस स्मृतिकी महिमा सर्वोपरि हो गयी है। याज्ञवल्क्यस्मृतिके साथ ही ब्रह्मोक्त योगियाज्ञवल्क्य, वृहद्योगियाज्ञवल्क्य आदि स्मृतियाँ भी उनके नामसे विख्यात हैं। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्यगीता, याज्ञवल्क्योपनिषद्, याज्ञवल्क्यशिक्षा आदि ग्रन्थ भी इनके बहुत प्रसिद्ध हैं। गायत्री-भाष्यका इन्होंने ही सर्वप्रथम प्रणयन किया, जिसमें गायत्री-मन्त्रके एक-एक अक्षरपर विस्तृत गूढ़ार्थवाले कई श्लोक इनके द्वारा प्रणीत हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्यजीकी त्याग, तपस्या एवं सदाचारमय जीवनचर्या महान् उपयोगी तथा शिक्षा ग्रहण करने योग्य है। इनका प्रत्येक क्षण धर्मकी मर्यादामें स्थिर रहता आया है। अपने ग्रन्थोंमें अपनी दिव्य दृष्टिसे जगत्‌के कल्याणके लिये इन्होंने त्रिकालाबाधित जो उपदेश प्रदान किया, वह कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड एवं उपासना-काण्डका सर्वोत्तम सार है। तथापि इनके ग्रन्थोंमें शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयिसंहिता एवं याज्ञवल्क्यस्मृतिकी विशेष प्रतिष्ठा हुई। मुख्य धर्मोपदेशकों तथा नियम-निर्माताओंमें आपकी गणना सर्वोपरि होती है। अपनी स्मृतियोंमें आपने जो धर्म-मर्यादा स्थापित की है, वह सभीके लिये सब कालोंमें अन्तिम रूपसे मानने योग्य है। महारानी सुनयनाजी कहती हैं—

यह सब जागबलिक कहि राखा। देबि न होइ मुधा मुनि भाषा॥

(रा० च० मा० २। २८५। ८)।

उन्हें पूरा विश्वास था कि याज्ञवल्क्यजीकी वाणी कभी मिथ्या नहीं हो सकती और फिर हुआ भी सब वैसा ही। अतः महर्षि याज्ञवल्क्यजीके वचन सर्वाधिक प्रामाणिक एवं सर्वोपरि मान्य हैं।

यहाँ उनके धर्मशास्त्रों (स्मृतियों)-का अत्यन्त संक्षेपमें सारमात्र दिया जा रहा है—

(१) याज्ञवल्क्यस्मृति

एक बार मिथिला देशमें अवस्थित योगीश्वर याज्ञवल्क्यजीसे ऋषि-मुनियोंने धर्मविषयक जिज्ञासा की। तब महर्षि याज्ञवल्क्यजीने उन्हें जो धर्मसम्बन्धी सूक्ष्म उपदेश दिया, वही उपदेश 'याज्ञवल्क्यस्मृति'के नामसे विख्यात हुआ[1]। यह स्मृति मुख्यरूपसे आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त—इस प्रकारसे तीन अध्यायोंमें विभक्त है और इसमें लगभग एक हजार श्लोक हैं। प्रत्येक अध्यायोंके अन्तर्गत पृथक्-पृथक् प्रकरण हैं।

आचाराध्यायमें उपोद्घात, ब्रह्मचारी, विवाह, वर्णजातिविवेक, गृहस्थधर्म, स्नातकधर्म, भक्ष्याभक्ष्य, द्रव्यशुद्धि, दान, श्राद्ध, गणपतिकल्प, ग्रहशान्ति तथा राजधर्म—ये तेरह प्रकरण हैं।

व्यवहाराध्यायमें साधारण व्यवहारमातृका, असाधारण व्यवहारमातृका, ऋणादान, उपनिधि, साक्षि, लेख्य, दिव्य, दायविभाग, सीमाविवाद, स्वामिपाल विवाद, स्वामिविक्रय, दत्ताप्रदानिक, क्रीतानुशय, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, संविद्व्यतिक्रम, वेतनादान, द्यूतसमाह्वय, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, विक्रीयासम्प्रदान, सम्भूयसमुत्थान, स्तेय, स्त्रीसंग्रहण तथा प्रकीर्णक—ये पचीस प्रकरण हैं।

इसी प्रकार तीसरे प्रायश्चित्ताध्यायमें आशौच, आपद्धर्म, वानप्रस्थधर्म, यतिधर्म, प्रायश्चित्त एवं प्रकीर्णक-प्रायश्चित्त—ये छः प्रकरण हैं। इस प्रकार प्रकरणोंके विषयोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस स्मृतिमें सम्पूर्ण धर्मशास्त्रकी विवेचना हो जाती है। यह स्मृति परवर्ती निबन्धग्रन्थोंके लिये उपजीव्य भी बन गयी। अग्निपुराण तथा गरुडपुराणमें इस स्मृतिकी अधिकांश बातें आयी हुई हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृतिकी टीकाएँ—याज्ञवल्क्यस्मृतिपर विश्वरूपकी बालक्रीडा, विज्ञानेश्वरकी मिताक्षरा, अपरादित्यकी अपरार्क-व्याख्या तथा आचार्य शूलपाणिकी दीपकलिका नामक संस्कृत टीकाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इनकी स्मृतियोंपर बालबोधिनी, सुबोधिनी तथा बालम्भट्टी नामकी विख्यात संस्कृत-टीकाएँ भी हैं।

योगीश्वर याज्ञवल्क्यजीने स्मृतिके प्रारम्भमें ही आत्मदर्शन अथवा सर्वत्र आत्मबुद्धि या भगवद्बुद्धिको ही परम धर्म बताया है और उसके साधनके रूपमें योग-ज्ञानको ही मुख्य

१-मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाब्रवीन्मुनीन्। (याज्ञ० १। २)

उपाय बताया है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

(याज्ञ०, आचाराध्याय ८)

सभी आश्रमों एवं सभी वर्णोंके सामान्य धर्मोंका निर्देश करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

(याज्ञ०, आचाराध्याय १२२)

अर्थात् मन, वाणी तथा शरीरसे किसी भी प्रकार हिंसाका भाव न रखना, यथार्थ भाषण, चोरी न करना, बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि, इन्द्रियनिग्रह, दान, अन्त:करणका संयम, दया तथा क्षान्ति (क्रोधका सर्वथा अभाव)—ये सभीके लिये धर्मसाधन हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य सब प्रकारसे सर्वदा धर्माचरण ही करने तथा अधर्माचरणका परित्याग करने और लोकविरुद्ध धर्म न करनेका परामर्श देते हुए कहते हैं—

कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत्।
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु॥

(याज्ञ० आचाराध्याय १५६)

अर्थात् शरीरसे यथाशक्ति धर्मका ही अनुष्ठान करे, धर्मका ही चिन्तन करे और धर्मकी ही बात बोले। विहित धर्म होनेपर भी यदि कोई बात लोकमर्यादाके विरुद्ध पड़े तो उसका आचरण न करे, क्योंकि वह अस्वर्ग्यकर है।

इस स्मृतिके दान-प्रकरणमें 'गोदान'की महती महिमा बतलायी गयी है और उसका अनन्त फल बताया गया है। दीनों, अनाथों, दुर्बलोंकी सहायता, रोगियोंकी परिचर्या तथा उन्हें औषध-दान आदिको भी गोदानके समान ही फलदायी बताया गया है। दान-प्रकरणके अन्तमें ब्रह्मविद्याके दानको सर्वधर्ममय और सर्वोत्कृष्ट बताते हुए ब्रह्मलोक प्राप्त करानेवाला बताया गया है—

सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यतः।
तद्ददत् समवाप्नोति ब्रह्मलोकमविच्युतम्॥

(याज्ञ०, आचाराध्याय २१२)

याज्ञवल्क्यस्मृतिका श्राद्धप्रकरण अत्यन्त महत्त्वका है, जिसमें श्राद्धकी सारी प्रक्रियाएँ और पितरोंकी भक्तिका महत्त्वपूर्ण उपदेश है। श्राद्धमें ब्राह्मणोंकी प्रार्थनामें कहा गया है—

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद् हुदेयं च नोऽस्त्विति॥

(याज्ञ० आचाराध्याय २४६)

श्राद्धकर्ताको चाहिये कि वह ब्राह्मणोंसे प्रार्थना करते हुए कहे—'हमारे कुलमें दानी व्यक्ति उत्पन्न हों। ज्ञानकी वृद्धि हो, पुत्र-पौत्र-परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे। पितरोंके श्राद्ध-तर्पण आदि कर्मोंमें हमारी श्रद्धा कम न हो अर्थात् निरन्तर वर्धमान रहे। हमारे पास पर्याप्त सम्पत्ति हो (ताकि बहुत दानादि धर्म किया जा सके)।'

महर्षि याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि श्राद्धकर्ताके द्वारा श्रद्धा-भक्ति एवं विधिपूर्वक किये गये श्राद्धादि कर्मसे प्रसन्न एवं संतृप्त पितर उसे दीर्घ आयु, संतान, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करते हैं अर्थात् ऐहलौकिक और पारलौकिक सभी अभ्युदय पितरोंकी कृपासे प्राप्त हो जाता है, अत: ऐसे अभ्युदयकारी धर्माचरणको महान् प्रयत्नसे अवश्य करना चाहिये—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥

(याज्ञ०, आचाराध्याय २७०)

इस स्मृतिका गणपतिकल्प-प्रकरण या विनायकशान्तिकल्प-प्रकरण तथा ग्रहशान्ति-प्रकरण बहुत ही प्रसिद्ध है, जो इसी रूपमें प्राय: सभी पुराणोंमें भी प्राप्त होता है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीका कहना है कि दु:स्वप्नदर्शन, उपद्रव तथा कार्यकी सिद्धि न होनेमें विनायकजन्य विघ्न समझना चाहिये, अत: इसकी शान्तिके लिये विनायक-शान्ति, ग्रहपूजन, ग्रहयज्ञ आदि करनेसे सब दोष, दु:ख-पाप-ताप दूर हो जाते हैं। वहाँ उसकी पूरी विधि भी निर्दिष्ट है।

राजधर्म-प्रकरणमें राजाके कर्तव्योंका परिगणन हुआ है और राज्यसंचालन तथा दण्डविधानकी प्रक्रिया निर्दिष्ट है। राजाके मुख्य कर्तव्योंमें ब्राह्मणोंका सम्मान और प्रजाका रक्षण बतलाया गया है—

नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्रणार्जितम्।
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा॥

(याज्ञ०, आचाराध्याय ३२३)

राजाको चाहिये कि वह ब्राह्मणोंमें क्षमाबुद्धि रखे, मित्रवर्गके साथ मित्रताका व्यवहार करे—कुटिलता न करे। शत्रुओंके साथ वैसा ही व्यवहार रखे, भृत्य-वर्ग तथा सेवक-वर्ग और अपनी प्रजाके साथ पिताके समान आचरण करे—

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।
स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता॥

(याज्ञ०, आचाराध्याय ३३४)

जो राजा अन्यायपूर्वक राष्ट्रकी सम्पत्तिसे अपने व्यक्तिगत कोशकी वृद्धि करता है, वह शीघ्र ही श्रीविहीन हो जाता है और बन्धु-बान्धवोंसमेत स्वयं भी नष्ट हो जाता है। प्रजाको संताप पहुँचानेसे जो संतापजन्य अग्नि उत्पन्न होती है, वह राजाके कुल, श्री तथा उसके प्राणोंको लिये बिना—जलाये बिना शान्त नहीं होती[१]।

अतः राजाको बहुत ही सावधानीपूर्वक अपनेको प्रजाका सेवक मानते हुए धर्ममर्यादामें स्थित रहकर राज्यकार्य करना चाहिये।

याज्ञवल्क्यस्मृतिका दूसरा अध्याय 'व्यवहाराध्याय' नामसे प्रसिद्ध है। इसमें हिन्दू सनातन धर्मशास्त्रोंके नियम-कानूनोंका विस्तारसे वर्णन है और किस प्रकार न्यायालय आदिकी व्यवस्था, दण्डविधान, राज्यमें शान्ति-स्थापना, साक्षीके भेद, ऋण लेने तथा देनेके नियम, दिव्य शपथ, सम्पत्तिके बँटवारेका विधान,स्त्रीधन, राज्यकी सीमाके विवादके नियम, क्रय-विक्रयके नियम-कानून, चोरी इत्यादिके दण्ड आदि वर्णित हैं। इस स्मृतिका कानून-निर्णय बड़ा ही प्रामाणिक है, न्यायालयोंमें आज भी इसका विशेष समादर है।

इस स्मृतिका तीसरा और अन्तिम अध्याय प्रायश्चित्ताध्याय कहलाता है। इसमें मुख्यरूपसे जननाशौच एवं मरणाशौचकी व्यवस्था, आपद्धर्म, वानप्रस्थधर्म, यतिधर्म तथा अन्तमें कर्मविपाक एवं प्रायश्चित्त-प्रकरण है। महर्षि याज्ञवल्क्यजी तत्त्वकी बात बतलाते हुए कहते हैं कि यह मनुष्य-शरीर कदलीस्तम्भवत् अन्तःसारशून्य है और जलके बुलबुलेके समान क्षणिक एवं नश्वर है, अतः संसारके किसी भी पदार्थ, वस्तु या प्राणीमें स्थिरता एवं स्थायित्वका अन्वेषण करना मूर्खता ही है। जन्मान्तरीय कर्मभोगके लिये प्राप्त यह पाञ्चभौतिक शरीर यदि पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् पृथ्वी,जल, तेज, वायु तथा आकाश—इन पाँच तत्त्वोंमें शरीर मिल जाता है तो इसके लिये शोक करना व्यर्थ है, इसलिये 'मृत्यु' का होना कोई आश्चर्य नहीं है। फेनके समान इस शरीरका नाश अवश्यम्भावी है, अतः मृत-व्यक्तिके निमित्त शोक आदिमें व्यर्थ समय नष्ट न कर उसके उद्धारके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तर्पण, पिण्डदान तथा श्राद्धादि धर्म-क्रियाएँ करनी चाहिये—

अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः॥

(याज्ञ०, प्रायश्चि० ११)

महर्षि याज्ञवल्क्यजीने अपनी स्मृतिमें यज्ञ, दान, स्वाध्याय, सदाचार तथा अहिंसा आदि सभी धर्मोंकी स्थान-स्थानपर प्रशंसा की है और उनका आचरण आवश्यक बतलाया है; पर स्मृतिके आरम्भमें ही उन्होंने योगसाधनाके द्वारा परिपूर्णरूपसे परमात्मसाक्षात्कारको ही मुख्य धर्म बतलाया है और इसीकी विस्तारसे व्याख्या महर्षिने स्मृतिके यतिधर्म-प्रकरणमें की है और बतलाया है कि चित्तकी वृत्तियोंका सम्यक् निरोध करके ध्यानयोगके द्वारा सूक्ष्म आत्माको अपने हृदयके अन्तर्गत परमात्मामें अवस्थित देखना चाहिये—

ध्यानयोगेन सम्पश्येत् सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितः॥

(याज्ञ०, प्रायश्चि० ६४)

योगसाधनाके द्वारा परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार सम्पन्न हो जानेपर जीव क्रमशः जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति और

१-अन्यायेन नृपो राष्ट्रात् स्वकोशं योऽभिवर्धयेत्। सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः॥
प्रजापीडनसंतापात् समुद्भूतो हुताशनः। राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चाऽदग्ध्वा न निवर्तते॥ (याज्ञ०, आचारा० ३४०-३४१)

कैवल्य प्राप्त करके सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है और उसका संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता—

स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु॥

(याज्ञ०, प्राय० १०९)

सिद्धे योगे त्यजन् देहममृतत्वाय कल्पते॥

(याज्ञ०, प्राय० २०३)

महर्षिने बताया है कि जिसकी चित्तवृत्ति समाधिमें स्थिर नहीं हो पाती, वह शब्दब्रह्मोपासनाद्वारा भगवत्प्राप्ति करे। इस प्रकार उन्होंने भक्ति-संगीत और हरिकीर्तनके द्वारा भगवत्प्राप्तिका सरलतम मार्ग निर्दिष्ट किया है—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति॥

(याज्ञ०, प्राय० ११५)

(२) ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्यसंहिता

यह धर्मशास्त्र विस्तृत बारह अध्यायोंमें उपनिबद्ध है। इसमें मुख्यरूपसे चारों वेदोंकी शाखाओं, गृहस्थके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका तथा विस्तारसे श्राद्धकल्पका वर्णन है। तदनन्तर ब्रह्मचारीके धर्म, तिथि-निर्णय, विनायक-शान्ति, दान, प्रायश्चित्त एवं अन्तमें आशौचका वर्णन है। यह स्मृति बहुत अंशोंमें मुख्य याज्ञवल्क्यस्मृतिके समान ही है।

(३) बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति

महर्षि याज्ञवल्क्यके नामसे एक स्मृति प्राप्त होती है, जिसमें बृहद्रूपसे योगका वर्णन है, इसलिये इसे 'बृहद्योगि-याज्ञवल्क्यस्मृति' कहा जाता है। इसमें १२ बड़े-बड़े अध्याय हैं और मुख्यरूपसे मन्त्रयोग, प्रणवकल्प, व्याहृतिनिर्णय, गायत्री-उपासना, गायत्री-मन्त्र-न्यास, संध्योपासना, स्नान-तर्पण-विधि, जप-विधि, प्राणायाम, ध्यान, अध्यात्मयोग, सूर्योपस्थान तथा योगधर्म आदिका वर्णन है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीके योग-निरूपणका सार यही है कि परमात्मज्ञानके द्वारा परमात्मप्राप्तिसे बढ़कर और कोई बड़ा लाभ नहीं है। इसीलिये सभी ज्ञानोंमें आत्मज्ञान—परमात्मज्ञान परम श्रेष्ठ है—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।

(बृहद्योगि० ११। ३८)

अतः सम्पूर्ण विश्वके नित्य एकमात्र प्रशास्ता, अतिसूक्ष्म होनेके कारण किसीको भी भासित न होनेवाले और केवल योगके द्वारा समाधिमें ही सम्यक्-रूपसे प्राप्त होनेवाले, प्रतप्त स्वर्णके समान हिरण्मय आभायुक्त परमात्मतत्त्व ही ध्येय, ज्ञेय एवं प्राप्य हैं। जैसे भी हो, उन्हें शीघ्र प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। संक्षेपमें महर्षि याज्ञवल्क्यके ज्ञानयोग एवं ध्यानयोगका यही सारांश है।

आख्यान—

प्रजापालन राजाका मुख्य धर्म

[राजा मेघवाहनकी कथा]

प्रजाको अभय प्रदान करना राजाका सबसे बड़ा धर्म है। इससे बढ़कर राजाका और कोई धर्म नहीं है। (याज्ञ० स्मृति)

पहलेके राजा प्रजाके प्राण बचानेके लिये अपने प्राणोंको भी निछावर कर देते थे। कश्मीरके नरेशोंमें भी यह गुण कूट-कूटकर भरा रहता था। यहाँ राजा मेघवाहनके जीवनकी एक घटना दी जा रही है—

कश्मीर-नरेश मेघवाहन दिग्विजयके लिये निकले थे। सारा राज्य उनकी छत्रच्छायामें रहना पसंद करता है या नहीं! इसका निरीक्षण करते जाते थे। इसी प्रसंगमें वे समुद्रके तटपर पहुँचे। उनकी सेना एक वनमें पड़ाव डाले पड़ी थी। राजा वहाँके रमणीय दृश्योंको देखते हुए अकेले ही कुछ दूर निकल गये। एकाएक उन्हें एक हृदय-द्रावक आर्तनाद सुनायी पड़ा। कोई अपनी रक्षाके लिये पुकार रहा था। राजा शीघ्र घटनास्थलपर जा पहुँचे। देखा कि एक व्याध एक अनाथ बालककी बलि देनेकी तैयारी कर रहा है और वह बालक मारे भयके आँखें बंद करके बचावके लिये जोर-जोरसे चिल्ला रहा है।

राजाने डाँटकर उस व्याधसे कहा—'रुके रहो, मेरे राज्यमें नर-हत्या नहीं हो सकती।' व्याध घबड़ाया, हाथ जोड़कर बोला—'महाराज! कृपा कीजिये, इस कृत्यके

बिना मेरा बच्चा बच नहीं सकता। मैंने कानोंसे आकाशवाणी सुनी है कि जबतक तुम नर-बलि नहीं दोगे, तबतक तुम्हारा बच्चा बच नहीं सकता। मेरा यह कृत्य हत्या नहीं है। यह तो बलि है।'

बालक चिल्ला उठा—'महाराज! आपके राज्यमें मुझ निरपराधकी हत्या हो रही है, मुझे बचाइये।'

राजाने व्याधको डाँटकर कहा—अपने बच्चेको बचानेके लिये किसी दूसरे बालककी हत्या करना क्या उचित समझते हो? व्याध निरुत्तर हो गया। उसपर मुर्दनी छा गयी। उसकी आँखोंसे निराशा झाँकने लगी। वह हाथ जोड़कर बोला—'महाराज! मेरे और मेरी स्त्रीके प्राण अपने बच्चेमें ही बसते हैं। यदि बच्चा नहीं बचाया जा सका तो हम दोनों भी नहीं बच सकते। इस तरह तीन प्राणियोंके बचावके लिये यदि एक प्राणीकी बलि हो जाय तो उतना अनुचित नहीं कहा जा सकता। महाराज! आप एककी रक्षा करेंगे तो तीनके प्राण नहीं बचेंगे। हम तीनों भी आपसे अपने जीवनकी माँग करते हैं।'

राजाने कहा—'ठीक है, पर इस बालकको तो छोड़ ही दो।' व्याधने कहा—'महाराज! तब तो हम तीनोंके प्राण न बचेंगे।' राजाने कहा—'घबराओ नहीं, हमारा कर्तव्य है प्रजाका पालन करना। जिस तरह यह अनाथ बालक मेरी प्रजा है, उसी तरह तुम तीनों भी मेरी ही प्रजा हो। बालकके रक्षणकी तरह मैं तुम तीनोंको भी बचाना चाहता हूँ। लो यह तलवार, इससे मेरी बलि दे डालो।'

व्याधने पाण्डित्यके साथ कहा—'महाराज! आवेशमें आकर आप बिना सोचे ही कार्य करने जा रहे हैं। आपकी जान तो हम तीनोंकी जानसे भी अधिक मूल्यवान् है। एक अनाथ बालककी रक्षा करके आप तो सैकड़ोंको अनाथ करने जा रहे हैं।'

राजाने कहा—'धर्मका तत्त्व मैं भी जानता हूँ। तुम शिक्षा देनेकी व्यर्थ चेष्टा न करो। जो मैं कहता हूँ, वह करो।' इतना कहकर राजा म्यानसे तलवार खींच सिर झुकाकर अपने गलेपर वार करना ही चाहते थे कि किसीने उनका हाथ थाम लिया। एक विचित्र प्रकाशसे सारा वनप्रान्त आलोकित हो उठा। उस प्रकाशमें न कहीं व्याध ही दीख रहा था और न भयसे त्रस्त वह बालक ही। कुछ दिव्य पुरुष दीख पड़े। वे बोले—'महाराज! आपके प्रजापालनकी यह अग्निपरीक्षा थी। राजाओंको ऐसी-ऐसी अनेक परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होना चाहिये।' (राजतरङ्गिणी)

सचमुच राजाओंको प्रजाओंपर वैसे प्यार बरसाना चाहिये, जैसे कि वे अपने पुत्रपर बरसाते हैं। धर्मशास्त्रका यही आदेश है—

स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता।

(याज्ञ० १। १३। ३३४)

'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर' 'धर्म चर'

धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रन्थ और उनके रचयिता

निबन्धग्रन्थ और निबन्धकार

['वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' तथा 'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' की दृष्टिसे कल्याणकारी धर्मके ज्ञानमें वेद ही परम प्रमाण हैं, किंतु 'वेदो नारायणः साक्षात् भगवान् इति शुश्रुम' और 'वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः'—इन वचनोंसे वेदके नारायणस्वरूप होनेके कारण वेदोंके गूढार्थको स्पष्ट करनेमें बड़े-बड़े ऋषि, विद्वान् भी भ्रमित हो जाते हैं, अतः परम करुणासम्पन्न ऋषियोंने इतिहास, पुराण, निरुक्त एवं धर्मशास्त्रोंके द्वारा श्रुतियोंके भावको सरल शब्दोंमें व्यक्त करने और सामान्य जनतातक पहुँचानेका प्रयत्न किया। इस प्रकार अनेक पुराणों और धर्मशास्त्रोंकी रचना हुई।

धर्मशास्त्रोंमें मुख्यरूपसे स्मृतियोंकी गणना है, अतः स्मृतियोंमें और पुराणोंमें कर्तव्याकर्तव्यके रूपमें विधि-निषेधात्मक जो वचन मिलते हैं, वे ही सर्वमान्य शास्त्र हैं। स्मृतिग्रन्थ विभिन्न ऋषियोंके द्वारा प्रणीत, संख्यामें अनेक हैं। इसी प्रकार पुराण भी अनेक हैं। इनमें प्रतिपादित विषयों और सिद्धान्तोंमें यद्यपि कोई वैमत्य तो नहीं है, परंतु कभी-कभी कुछ लोगोंको वैमत्य और विरोधाभासकी आशंका होने लगती है। अतः उसके निराकरणके लिये तथा विभिन्न ग्रन्थोंमें प्रतिपादित विषयोंको एकत्र संकलन करनेकी दृष्टिसे निबन्धग्रन्थोंकी परम्परा प्रचलित हुई। इससे धर्मशास्त्रके विषयोंको अवगत करनेमें जिज्ञासुगणोंको सुविधा होना स्वाभाविक है। इसलिये इन निबन्धग्रन्थोंको धार्मिक कृत्यों और धार्मिक निर्णयोंका विश्वकोष भी कहा जा सकता है।

श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहासोंमें धर्म तथा धर्मशास्त्रके जो भी विषय आये हैं, उन सभी विषयोंसे सम्बद्ध वचनोंका इन निबन्धग्रन्थोंमें एकत्र संग्रह कर दिया गया है। इससे यह सुविधा होती है कि जिस विषयमें जिज्ञासा हो, उसके सम्बन्धमें श्रुति-स्मृति तथा पुराण आदि ग्रन्थोंमें क्या कहा गया है, वह एक स्थानमें ही देखनेको मिल जाता है और एक ही ग्रन्थको देखनेसे सभी ग्रन्थोंके वचनोंका सहज ज्ञान हो जाता है। जैसे दान, आचार, तीर्थयात्रा, श्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि विभिन्न विषयोंका अनेक स्मृतियों और पुराणोंमें प्रतिपादन हुआ है। इन विषयोंके वचनोंका संकलन तथा उनका निरापद निर्णय प्रस्तुत करना ही इन निबन्धग्रन्थोंका उद्देश्य है। यद्यपि धर्मशास्त्रमें इन निबन्धग्रन्थोंका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, परंतु धर्मशास्त्रीय आर्ष ग्रन्थोंके वचनोंका एकत्र संग्रह और संदेहोंका समाधान होनेसे विद्वज्जगत्में तथा धर्मशास्त्रीय परम्परामें इन ग्रन्थोंका विशेष गौरव है। ये भी एक प्रकारके स्मृतिग्रन्थ ही हैं। स्मृतियों तथा पुराणोंमें जो धर्माचरणके निर्देश हैं, उनका ही इनमें बड़े विस्तारसे संकलन हुआ है और धर्मशास्त्रोंके वचनोंकी एकवाक्यता इनमें निरूपित है, इसीलिये ये निबन्धग्रन्थ निर्णयग्रन्थ भी कहलाते हैं। इन ग्रन्थोंमें निर्णयके लिये दानखण्डमें समस्त इतिहास-पुराण और स्मृतियोंके प्रकरणोंको एकत्र उपनिबद्ध किया गया है। इसी प्रकार श्राद्ध, तीर्थ, व्रत, प्रायश्चित्त, राजनीति, व्यवहार, आचार, आह्निक आदि प्रकरणोंको एकत्र किया गया है और परिशिष्ट भी लिखे गये हैं। सभीकी महिमाके वचनोंको भी उन खण्डोंमें अलग-अलग उपनिबद्ध किया गया है।

वैसे तो निबन्धग्रन्थों, भाष्यों और व्याख्याओं तथा टीकाओंकी परम्परा मेधातिथि, देवस्वामी, असहाय आदि विद्वानोंके द्वारा ही प्रचलित हो चुकी थी, किंतु प्रथम निबन्धग्रन्थके रूपमें भगवान् धन्वन्तरिके अवतार काशिराज दिवोदासके द्वारा निर्मित 'दिवोदासीय' ग्रन्थको रखा जा सकता है। उसके अनेक वचन निर्णयसिन्धुमें कमलाकर भट्ट आदिने दिये हैं,

पर अपने पूर्वरूपमें इस समय वह ग्रन्थ प्राप्त नहीं दीखता। प्राप्य ग्रन्थोंमें कान्यकुब्जनरेश गोविन्दचन्द्रके महामन्त्री आचार्य लक्ष्मीधरका 'कृत्यकल्पतरु' प्रकाशित रूपमें प्राप्त होता है। आचार्य लक्ष्मीधरका समय १२ वीं शतीके पूर्वार्धमें प्रायः निश्चित है। इसी समयका 'पृथ्वीचन्द्रोदय' निबन्धग्रन्थ भी विद्वानोंमें विख्यात रहा है। जिसके अनेक वचन निर्णय-सिन्धुके विभिन्न प्रकरणोंमें प्राप्त होते हैं।

निबन्धग्रन्थोंकी यह परम्परा भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें, राजा-महाराजाओंके संरक्षणमें सभी विद्वानोंके सहयोगसे चलती रही। हेमाद्रिका चतुर्वर्गचिन्तामणि, वीर मिश्रका वीरमित्रोदय, नीलकण्ठ भट्टका भगवन्तभास्कर, रघुनन्दन भट्टका स्मृतितत्त्व, बल्लालसेनके दानसागर तथा प्रतिष्ठासागर आदि निबन्ध निर्मित हुए, जो सर्वाधिक महत्त्वके हैं। इसी प्रकार मदनपारिजात या विधानपारिजात, दलपतिराजका नृसिंहप्रसाद, देवण्ण भट्टकी स्मृतिचन्द्रिका आदि निबन्धग्रन्थ बहुत ही महत्त्वके माने जाते हैं। सायणाचार्यके ग्रन्थ कुछ और आगे बढ़े, क्योंकि उनके साथ विद्वान् बहुत अधिक थे। वे विजयनगरके महाराज हरिहरबुक्कके प्रधान अमात्य और प्रकारान्तरसे सर्वेसर्वा संचालक थे। राजा हरिहरबुक्कके दरबारमें विद्वानोंकी संख्या अधिक थी, अतः उनके यहाँ मन्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद, वेदभाष्य, वेदभाष्योंके अतिरिक्त कर्मकाण्डके निबन्ध तथा सुभाषितोंका भी संग्रह निबन्धग्रन्थोंके रूपमें हुआ, जिनमें तीर्थसुधानिधि, श्राद्धसुधानिधि, व्रतसुधानिधि, सुभाषितसुधानिधि तथा आयुर्वेदसुधानिधि आदि निबन्धग्रन्थ विशेष उल्लेख्य हैं।

बंगालके निबन्धकारोंमें गोविन्दाचार्य (कवि कङ्कणाचार्य)-ने श्राद्धकौमुदी, दानकौमुदी एवं शुद्धिकौमुदी आदिका निर्माण किया। ऐसे ही शूलपाणिका 'स्मृतिविवेक', अनिरुद्धके हारलता तथा पितृदयिता और जीमूतवाहनके दायभाग, कालविवेक आदि ग्रन्थ मुख्य हैं। मिथिलाके निबन्धकारोंमें श्रीदत्त उपाध्याय, चण्डेश्वर, वाचस्पति मिश्र आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार कमलाकर भट्टने तीर्थकमलाकर, व्रतकमलाकर, श्राद्धकमलाकर, दानकमलाकर आदि निबन्धग्रन्थ लिखे और नागेश भट्टने तीर्थेन्दुशेखर, श्राद्धेन्दुशेखर, व्रतेन्दुशेखर आदि ग्रन्थ 'शेखर'-नामसे लिखे। काशीस्थ नारायण भट्टने त्रिस्थलीसेतु आदिमें तीर्थ-सम्बन्धी निर्णयोंका संग्रह किया और काशी, प्रयाग तथा गयापर विशेष विचार किया। पर कमलाकर भट्टको इन सब प्रक्रियाओंके विभिन्न रूपमें कुछ अनिर्णीत रहनेके कारण और किंचित् शंकाग्रस्त रहनेकी स्थितिमें निर्णय करनेमें कठिनता जान पड़ी। अतः शीघ्र निर्णयके लिये उन्होंने सभीके साररूपमें निर्णयसिन्धुका निर्माण किया। यह ग्रन्थ लोगोंमें बहुत मान्य हुआ, किंतु काशीके कुछ विद्वान् निर्णयसिन्धुके निर्णयोंसे कहीं-कहीं कुछ असहमत-से हुए तो काशीनाथ उपाध्यायने पूनासे धर्मसिन्धुका निर्माण कर काशी भेज दिया और यह निवेदन किया कि यदि यह विशेष उपयोगी हो तो इसे स्वीकार कर लिया जाय अन्यथा गङ्गाजीमें डुबा दिया जाय, पर सभी प्रान्तोंके निवास करनेवाले काशीस्थ विद्वानोंकी परम्पराने उसे पालकीमें रखकर चार दिनतक घुमाया और वह निर्णयके लिये मान लिया गया। इस प्रकार निर्णयसिन्धु तथा धर्मसिन्धु दोनों निर्णयके लिये बहुत महत्त्वके हो गये, परंतु यह परम्परा यहीं नहीं रुकी। कुछ बचे निर्णयोंके लिये निर्णयामृत, पुरुषार्थचिन्तामणि आदि अनेक निर्णयात्मक निबन्ध लिखे गये। केवल व्रतोंके निबन्धोंमें रणवीरसिंहव्रतरत्नाकर, व्रतराज, व्रतार्क, उत्सवसिन्धु, व्रतोत्सवकौमुदी, जयसिंहव्रतकल्पद्रुम आदि अनेक निर्णयात्मक ग्रन्थ लिखे गये। उनमें स्थान-स्थानपर व्रतोंके माहात्म्य, उस दिनके कृत्य और होनेवाले दान आदि धर्मोंका भी संग्रह कर दिया गया।

इस प्रकार सब मिलाकर सबके द्वारा एक 'धर्मशास्त्र'-निर्माणके लिये ही धर्म-सम्पादन करने-हेतु प्रयत्न किया गया। देशकालके अनुसार समझने-समझानेकी प्रक्रियाओंमें अन्तर होता है, यही कारण हैं कि विभिन्न धर्मशास्त्रों, निबन्धग्रन्थों और निर्णयग्रन्थोंके निर्माणकी विशेष आवश्यकता हुई और वे सब-के-सब श्रद्धास्पद और उपयुक्त प्रतीत हुए तथा जिज्ञासु धर्मात्माओं एवं आस्तिक जनताके द्वारा उनका सर्वत्र समादर हुआ, इसका अनुमान ग्रहण आदिके

समय विभिन्न तीर्थोंमें स्नानार्थियों और धर्मात्माओंकी उमड़ती भीड़से किंचित् अनुमित हो सकता है। इन सभी ग्रन्थोंका पूर्ण परिचय तो उनके देखनेसे ही प्राप्त हो सकता है। इन ग्रन्थोंकी संख्या भी बहुत है, कुछ तो अभी अप्रकाशित एवं अज्ञातस्थितिमें हैं। धर्मशास्त्रीय कोषोंमें कुछका बड़े परिश्रमसे संग्रह किया गया है। यहाँ कुछ निबन्धग्रन्थों तथा निबन्धकारोंका संक्षेपमें परिचय दिया जा रहा है—सम्पादक]

(१) कृत्यकल्पतरु

धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रन्थोंकी परम्परामें पं० लक्ष्मीधर भट्टविरचित 'कृत्यकल्पतरु' अत्यन्त प्राचीन और बहुश्रुत निबन्धग्रन्थ है। इसका अपर नाम 'कल्पतरु' भी है। समूचे भारतमें इस ग्रन्थकी बहुत प्रतिष्ठा है। विशेषरूपसे बंगाल, मिथिला तथा सम्पूर्ण उत्तर भारतमें इसका विशेष प्रभाव है। इसके प्रणेता पं० लक्ष्मीधर कई शास्त्रोंके ज्ञाता थे। ये कान्यकुब्ज-नरेश गोविन्दचन्द्रके महामन्त्री थे तथा उनके राजदरबारमें विशेष प्रतिष्ठित थे। इनके दरबारमें अन्य कई विद्वान् भी संरक्षणमें रहकर ग्रन्थ-प्रणयन तथा धर्मशास्त्रीय निर्णयोंके विषयमें विचार-विमर्श किया करते थे। पं० लक्ष्मीधरका समय १२ वीं शताब्दी है। परवर्ती प्राय: सभी निबन्धकारों—अनिरुद्ध, बल्लालसेन, शूलपाणि, रघुनन्दन, चण्डेश्वर, हरिनाथ तथा श्रीदत्त आदिने 'कृत्यकल्पतरु' या 'कल्पतरु'के अभिमतोंको अपने ग्रन्थोंमें सादर उपन्यस्त किया है। चतुर्वर्गचिन्तामणिके प्रणेता हेमाद्रि तो इस ग्रन्थ तथा पं० लक्ष्मीधरके वैदुष्यसे इतने प्रभावित थे कि उन्होंने इन्हें 'भगवान्'-पदसे सम्बोधित किया है।

'कृत्यकल्पतरु' धर्मशास्त्रीय कृत्योंका एक विशाल ग्रन्थ है, यह कई काण्डोंमें विभक्त है। यथा—ब्रह्मचारिकाण्ड, गृहस्थकाण्ड, नियतकालकाण्ड, श्राद्धकाण्ड, दानकाण्ड, प्रतिष्ठाकाण्ड, तीर्थकाण्ड, शुद्धिकाण्ड, राजधर्मकाण्ड, व्यवहारकाण्ड, शान्तिकाण्ड, आचारकाण्ड तथा मोक्षकाण्ड। विद्वानोंका यह मानना है कि इसके अतिरिक्त भी इसमें अनेक काण्ड थे। जैसा कि प्रत्येक काण्डके नामसे स्पष्ट है कि उनमें तत्तद् विषयोंसे सम्बद्ध स्मृति एवं पुराणेतिहासोंके धर्मशास्त्रीय विषयोंका संग्रह है। जैसे गृहस्थकाण्डमें गृहस्थधर्म-सम्बन्धी सभी बातोंका संग्रह है। श्राद्धकाण्डमें श्राद्ध-सम्बन्धी विषयोंका संकलन है, आचारकाण्डमें आचार-सम्बन्धी बातें विवेचित हैं। इसी प्रकार दानकाण्डमें दानधर्मकी पूर्ण मीमांसा हुई है। इसका दान, गृहस्थ, श्राद्ध तथा मोक्षकाण्ड बहुत महत्त्वका है। इसका नियतकालकाण्ड बहुत विस्तृत है, इसमें धर्मशास्त्रीय कृत्योंके सम्पादनका शास्त्रीय समय बताया गया है। विद्वज्जगत्‌में 'कृत्यकल्पतरु'का विशेष आदर रहा है।

(२) स्मृतिचन्द्रिका

'स्मृतिचन्द्रिका' धर्मशास्त्रका एक प्राचीन एवं प्रौढ़ निबन्धग्रन्थ है। यह देवण्ण भट्टकी रचना है। देवण्ण भट्ट प्राचीन निबन्धकारोंमें गिने जाते हैं। इनका समय १२ वीं शती है। ये दक्षिणी निबन्धकार हैं। दक्षिण भारतमें व्यवहार एवं न्याय-सम्बन्धी बातोंके निर्णयके लिये 'स्मृतिचन्द्रिका'का अत्यन्त प्रामाण्य रहा है। 'स्मृतिचन्द्रिका' कई बड़े-बड़े काण्डोंमें विभक्त है। इसमें धर्मशास्त्रपर जो बातें श्रुति-स्मृति एवं पुराणेतिहास-ग्रन्थोंमें आयी हैं, उन्हें संगृहीत किया गया है। इसमें संस्कार, आह्निक कृत्य, व्यवहार, श्राद्ध एवं अशौच-विषयक संग्रह है। प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विवरण भी इनके द्वारा संगृहीत बताये जाते हैं। 'स्मृतिचन्द्रिका'में अपरार्क, देवस्वामी, धूर्तस्वामी, धर्मदीप, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, विश्वरूप आदि प्राचीन निबन्धकारोंके मतोंका भी संग्रह हुआ है। परवर्ती निबन्धग्रन्थों—चतुर्वर्गचिन्तामणि, सरस्वतीविलास तथा वीरमित्रोदय आदिमें 'स्मृतिचन्द्रिका'की बहुत-सी बातोंका संग्रह हुआ है और प्राय: सभी परवर्ती निबन्धकारोंने 'स्मृतिचन्द्रिका'का साहाय्य प्राप्त किया है। इस दृष्टिसे 'स्मृतिचन्द्रिका'का विशेष महत्त्व ठहरता है। देवण्ण भट्ट केशवादित्यके पुत्र थे। ये सोमयाजी भी कहे गये हैं।

(३) जीमूतवाहनप्रणीत धर्मरत्न

बंगालके धर्मशास्त्रकारोंमें 'जीमूतवाहन'का विशेष स्थान है। इनके द्वारा प्रणीत तीन ग्रन्थ—कालविवेक, व्यवहारमातृका तथा दायभाग प्रकाशित हैं। ये तीनों ग्रन्थ 'धर्मरत्न'नामक एक बृहद् ग्रन्थके तीन अङ्ग हैं। कालविवेकमें काल-

सम्बन्धी विषयोंका, व्यवहारमातृकामें व्यवहार-विधियोंका तथा दायभागमें हिन्दू कानूनोंका वर्णन है। दायभाग इनका सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें पैतृक सम्पत्तिके बँटवारे तथा उसके अधिकारी कौन हैं एवं किसका क्या भाग है, इसपर बहुत विचार किया गया है। स्त्रीधन, वसीयत, पुत्रहीनके धनके अधिकारी तथा गुप्तधन आदि विषयोंपर महत्त्वपूर्ण विवेचन है। इसमें १५ अध्याय हैं। कहीं-कहीं मिताक्षरासे इनके मतमें विभेद भी है। धनके बँटवारेके कानूनका यह प्रामाणिक ग्रन्थ है।

जीमूतवाहन पारिभद्र-कुलमें उत्पन्न हुए थे और उनका जन्मस्थान राढा था। जीमूतवाहनने भोजदेव तथा गोविन्दराज (११ वीं शती)-का उल्लेख किया है और शूलपाणि, वाचस्पति मिश्र तथा रघुनन्दन (१५ वीं शतीका मध्यभाग)-ने जीमूतवाहनका उल्लेख किया है, अतः इनका समय १०९०' से ११३० ई० के मध्य सम्भावित है।

(४) हारलता एवं पितृदयिता

'अनिरुद्ध' बंगालके प्राचीन धर्मशास्त्रकारके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा लिखित दो ग्रन्थ—हारलता तथा पितृदयिता अथवा कर्मोपदेशिनीपद्धति अति प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ग्रन्थ आचार-सम्बन्धी विषयोंपर प्रकाश डालते हैं। इनमें श्राद्धसम्बन्धी बातें भी विवेचित हैं। अनिरुद्ध गङ्गातटवर्ती 'विहारवाटक'के निवासी थे। ये बंगालके चाम्पाहट्टीय ब्राह्मण थे तथा बंगालके राजाके गुरु भी थे। इनका समय १२ वीं शती है।

(५) दानसागर

विजयसेनके पुत्र 'बल्लालसेन' बंगालके प्रतिष्ठित राजा थे। इनकी चार कृतियों—आचारसागर, प्रतिष्ठासागर, दानसागर तथा अद्भुतसागरका संकेत मिलता है। इनमें दानसागर उनकी प्रसिद्ध रचना है, जिसमें सोलह महादानों तथा छोटे-छोटे दानोंका वर्णन है और दान-सम्बन्धी सभी बातें संगृहीत हैं। बल्लालसेनके साहित्यका रचनाकाल १२वीं शतीका उत्तरार्ध माना जाता है। बल्लालसेन बंगालके प्रसिद्ध धर्मशास्त्री अनिरुद्धके शिष्य थे।

(६) स्मृत्यर्थसार

'स्मृत्यर्थसार' धर्मशास्त्रीय विषयोंका संग्राहक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता श्रीधर आचार्य हैं, जो विष्णुभट्ट उपाध्यायके पुत्र हैं। 'स्मृत्यर्थसार' ग्रन्थ आचार, आशौच तथा प्रायश्चित्त—इन तीन प्रकरणोंमें विभक्त है। इसमें मुख्यरूपसे कलिवर्ज्यप्रकरण, संस्कार, ब्रह्मचारीके कर्तव्य, गोत्र-प्रवर तथा सपिण्डता-विवेचन, शौच, आह्निक कर्म, श्राद्ध, शुद्धि-अशुद्धि तथा प्रायश्चित्तका वर्णन है। श्रीधरकी निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है, किंतु इन्हें १२ वीं शतीके आसपास रखा जाता है।

(७) चतुर्वर्गचिन्तामणि (हेमाद्रि)

निबन्धग्रन्थोंमें 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' नामक ग्रन्थका विशेष महत्त्व है। इसके प्रणेता हेमाद्रि हैं। हेमाद्रिके ग्रन्थ 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' की इतनी प्रसिद्धि हुई कि वह इन्हींके 'हेमाद्रि'-नामसे प्रसिद्ध हो गया। अधिकांश लोग 'चतुर्वर्गचिन्तामणि'की अपेक्षा 'हेमाद्रि'-नामसे ही इस ग्रन्थको जानते हैं। यह बहुत ही विशाल ग्रन्थ है। कलेवरमें यह जितना विस्तृत है, मान्यता भी इसकी उतनी ही अधिक है, विशेषरूपसे दक्षिणभारतमें इसकी अधिक प्रसिद्धि है।

इस विस्तृत ग्रन्थके प्रणेता आचार्य हेमाद्रि दाक्षिणात्य कहे गये हैं। इनका समय १३ वीं शती है। ये असाधारण विद्वान् थे। वेदादि शास्त्रों, स्मृतियों तथा पुराणों आदिका इन्होंने भलीभाँति अध्ययन किया था। साथ ही ये बड़े ही आचारसम्पन्न, उदार एवं दानी थे। हेमाद्रिका जन्म पण्डित-परम्परामें हुआ था। इनके पिताका नाम कामदेव था और गोत्र 'वत्स' था। ये देवगिरिके यादवराज महादेवके मन्त्री थे और आगे चलकर रामचन्द्रके भी मुख्य अमात्य रहे। ये ही राज्यका पूरा कार्य भी देखते थे। इनकी बड़ी प्रसिद्धि रही है। मध्यकालीन धर्मशास्त्रकारोंमें इनका स्थान बहुत ऊँचा है। श्रावणी तथा विवाह आदि विशेष अवसरोंपर पढ़ा जानेवाला इनका संकल्प बड़ा प्रसिद्ध है, जो 'हेमाद्रि-महासंकल्प' या 'प्रायश्चित्तसंकल्प' या 'तीर्थस्नानसंकल्प' भी कहलाता है। यह अत्यन्त ही पाण्डित्यपूर्ण है। इससे अखिल ब्रह्माण्डादि देश एवं सृष्टिसे आजतकके कालका पूर्ण परिज्ञान हो जाता है। इन्होंने कई ग्रन्थोंकी रचना की, पर इनका मुख्य ग्रन्थ 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' ही है। यह धार्मिक कृत्यों, धार्मिक निर्णयोंका विश्वकोष ही है।

इस ग्रन्थके उल्लेखसे यह विदित होता है कि इन्होंने इस महाग्रन्थको पाँच खण्डोंमें लिखनेका निश्चय किया था। ये खण्ड थे—(१) व्रत, (२) दान, (३) तीर्थ, (४) मोक्ष और (५) परिशेष। पाँचवाँ 'परिशेष' खण्ड भी चार भागोंमें विभक्त था—(१) देवता, (२) कालनिर्णय, (३) कर्मविपाक तथा (४) लक्षण-समुच्चय। परंतु वर्तमानमें व्रतखण्ड, दानखण्ड, श्राद्धखण्ड, कालखण्ड तथा प्रायश्चित्तखण्ड उपलब्ध हैं, तीर्थखण्ड तथा मोक्षखण्ड प्रकाशमें नहीं हैं। यहाँ संक्षेपमें इन खण्डोंका विवरण दिया जा रहा है—

(१) व्रतखण्ड—यह खण्ड सभी खण्डोंसे बड़ा है। इसमें बड़े-बड़े ३२ अध्याय हैं तथा व्रत-सम्बन्धी सभी बातोंका पूर्णरूपेण संनिवेश किया गया है और कौन वचन किस ग्रन्थसे उद्धृत है, स्पष्ट लिखा हुआ है। इसके आरम्भमें व्रतको धर्मका ही अङ्गभूत बताकर धर्मतत्त्वका विस्तारसे निरूपण किया गया है। धर्मकी परिभाषा, उसका महत्त्व, उसका स्वरूप तथा धर्मपरिपालन ही श्रेयस्कर है इत्यादि विषयोंपर श्रुति-स्मृति तथा पुराणेतिहासोंके शताधिक वचनोंका संग्रह है। तदनन्तर व्रततत्त्व तथा व्रतकी परिभाषा निरूपित है। फिर व्रतोंके भेदमें प्रतिपद्, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी आदि तिथियोंमें किये जानेवाले तिथि-व्रत, रविवार, सोमवार, मंगलवार आदि वार-व्रत हैं, विभिन्न योगोंमें होनेवाले व्रत, नैमित्तिक एवं काम्यव्रत, संक्रान्ति, मास, ऋतु, संवत्सर तथा अन्य प्रकीर्ण-व्रतोंके साथ ही शान्ति एवं पौष्टिक कर्मोंके अनुष्ठानकी विधि भी वर्णित है। व्रतोंके सम्बन्धमें सम्पूर्ण जानकारी तथा उद्यापनविधि, देवताके पूजन एवं उपवास आदिकी विधिका ज्ञान इसके अध्ययनसे भलीभाँति हो जाता है। इसे व्रतोंका कोष भी कहा जा सकता है।

(२) दानखण्ड—दानखण्डमें १३ अध्याय हैं। जिनमें मुख्यरूपसे दानप्रशंसा, दानमहिमा, दानस्तुति, दानका अनन्त फल, दानका स्वरूप, लक्षण, परिभाषा, दानके भेद, विविध प्रकारके दान, षोडश महादान, अतिदान, दशमहादान, तुलादान, कृष्णाजिनदान, दशधेनुदान, पर्वतदान, रत्नदान, वैतरणी-धेनुदान, कपिलादान, विद्यादान, देवता-प्रतिमादान, ग्रन्थदान, कालविशेष एवं निमित्त-भेदसे किये जानेवाले दानोंके विषयोंमें वचनोंका संग्रह है।

(३)परिशेषखण्ड—*(क) कालनिर्णय*—कालनिर्णयात्मक इस खण्डमें १७ अध्याय हैं। इसमें काल (समय)-का निर्णय हुआ है तथा मुख्य और गौण-ये कालके दो भेद बतलाये गये हैं। मुख्य काल ही क्रियाका नियत काल है। काल भगवान्‌का ही स्वरूप है। प्रत्येक धार्मिक क्रियाकलाप, नित्य-नैमित्तिक एवं काम्य कर्म अथवा अन्य भी व्रतोपवासादि कर्म, जो उसका नियत समय धर्मशास्त्रोंमें निश्चित किया गया है, उसी समयपर करनेसे सिद्ध होता है और पूर्ण फलदायी भी होता है। इसीलिये समय अथवा कालकी अनन्त महिमा है। असमयमें किये गये कार्योंका कोई महत्त्व नहीं है। इसलिये धर्मशास्त्रोंमें जिस विहित कर्मका जो निश्चित समय बतलाया गया है, उसी समयपर उसे सम्पादित करना चाहिये। इस बातके परिज्ञानके लिये इसमें विविध धार्मिक कृत्योंके करनेका उचित समय बतलाया गया है। मुख्यरूपसे कालका स्वरूप, कालके भेद, संवत्सरके भेद, ऋतुभेद, मास-भेद आदि विवेचित हैं। कला, काष्ठा, निमेष, त्रुटि, प्राण, नाड़ी, अहोरात्र आदिके लक्षण वर्णित हैं तथा सूर्य, चन्द्रमा आदिसे होनेवाले कालभेदोंका वर्णन भी इसमें हुआ है। किस मासमें, किस तिथिमें, किस नक्षत्रमें, किस मुहूर्तमें कौन कार्य करणीय है और सौर-मास, चान्द्रमास, सावनमास, नाक्षत्रमास आदि मासोंका भी वर्णन है। तदनन्तर मलमासनिर्णय, तिथिनिर्णय, तिथिकृत्योंका निर्णय, जन्माष्टमी, रामनवमी, एकादशी, शिवरात्रि आदि व्रतोंके कालका निर्णय तिथियोंके उदय-अस्तका निर्णय, संधिनिर्णय, पर्वनिर्णय, ग्रहणकालनिर्णय, संक्रान्तिनिर्णय, श्राद्धकालनिर्णय, पुण्यतिथिनिर्णय, युगादिनिर्णय, युगधर्मनिर्णय, गर्भाधान, जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन तथा विवाह आदि संस्कारोंका काल-निर्णय, अनध्याय एवं चारों आश्रमोंका कालनिर्णय, देवालय, प्रासादके निर्माण तथा देव-प्रतिष्ठाकालका विस्तारसे वर्णन किया गया है। अन्तमें मुख्यकालके अतिक्रमण हो जानेपर गौणकालकी व्यवस्थाका विधान वर्णित है।

(ख) श्राद्धकल्प—'परिशेषखण्ड'का दूसरा भाग

'श्राद्धकल्प' कहा गया है। इसमें बड़े-बड़े २५ अध्याय हैं, जिनमें श्राद्ध-सम्बन्धी सभी बातोंका बड़ी ही सूक्ष्मरीतिसे संनिवेश किया गया है। इसमें विधिपूर्वक किये गये श्राद्धकी प्रशंसा, पितरोंका स्वरूप, श्राद्धके देवता, विश्वेदेव, श्राद्धदेश, श्राद्धकाल, श्राद्धके योग्य तथा अयोग्य ब्राह्मण, श्राद्धीय द्रव्यकी शुद्धि, श्राद्धके पात्रादि-उपकरण, श्राद्धमें ब्राह्मण-निमन्त्रणविधि, श्राद्ध-दिनमें अपराह्नके कृत्य, अन्नका परिवेषण, पिण्डदानविधि, श्राद्धीय पदार्थोंके प्रोक्षणकी विधि, वृद्धिश्राद्ध, श्राद्धके भेद, श्राद्ध-प्रयोगविधि, तीर्थ-श्राद्ध, प्रेत-श्राद्ध, षोडश-श्राद्ध, सपिण्डीकरण, सांवत्सरिक-श्राद्ध, अपरपक्ष-श्राद्ध, सन्यासाङ्ग-श्राद्ध तथा जीवच्छ्राद्ध-विधि वर्णित है।

(४) **प्रायश्चित्तखण्ड**—अन्य खण्डोंकी अपेक्षा यह खण्ड कलेवरमें कुछ न्यून है तथापि इसमें पातक, उपपातक, अनुपातक, महापातक, अतिपातक तथा प्रकीर्ण-पातक—इस प्रकारसे सभी पापोंके प्रायश्चित्त-विधियोंका संग्रह हुआ है। साथ ही संक्षेपमें कर्मविपाकका भी वर्णन है।

इस प्रकार अनेक खण्डोंमें विभक्त हेमाद्रि-विरचित यह 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' ग्रन्थ धर्मशास्त्रीय विषयोंका महाकोश है। इसके प्रणयनमें मूलतः यही भावना रही है कि लोग धर्मशास्त्रोंके व्यापक स्वरूपका अवबोध करके अपने दैनन्दिन जीवनको पूर्णतः धर्मकी मर्यादामें व्यवस्थित कर सकें और अपनेको साक्षात् धर्मविग्रह भगवान्‌को प्राप्त करने योग्य बना सकें।

(८) आचार्य सायण-माधव और उनके धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ

आचार्य सायणका नाम इतना विश्रुत है कि वेदोंकी चर्चा होते ही इनका सर्वप्रथम नाम-स्मरण हो आता है। आचार्य सायणके बड़े भाई माधव थे, जो माधवाचार्य या विद्यारण्य स्वामीके नामसे विख्यात रहे। इन दोनों भाइयोंके पुण्यकार्यों और विद्याव्यसनकी कोई सीमा नहीं थी। प्रायः दोनों भाई परस्पर सहयोग एवं साहाय्यसे ग्रन्थोंकी रचना करते रहे। माधवाचार्य विद्यानगर (विजयनगर) तथा श्रीनगर (कश्मीर) राज्यके संस्थापक रहे हैं। इन्होंने ही विजयनगरके राजसिंहासनपर महाराज बुक्कको स्थापित किया। आचार्य सायण विजयनगरके अधिपति महाराज बुक्क तथा महाराज हरिहरके प्रधान अमात्य भी रहे हैं। इनका समय १४ वीं शती है। इनके पिताका नाम मायण तथा माताका नाम श्रीमती था। इनके एक अन्य भाईका नाम भोगनाथ था। ये यजुर्वेदी ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न थे। आचार्य सायण और उनके बड़े भाई माधवाचार्य (विद्यारण्य स्वामी)-की गुरुपरम्परामें आचार्य विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ एवं शंकरानन्दका नाम प्रसिद्ध है। इन दोनों भाइयोंके संरक्षणमें भारतवर्षके अनेक विद्वान् वेद-वेदाङ्गों तथा धर्मशास्त्र आदिके उच्चकोटिके ग्रन्थोंका प्रणयन करते रहे और परवर्ती विद्वान् इन्हीं बन्धुद्वयके अनुयायी रहे हैं। इनका पाण्डित्य अपूर्व था।

वेदोंके भाष्यकर्ताके रूपमें आचार्य सायणकी अत्यन्त प्रसिद्धि है। ऋग्वेदादि ग्रन्थों तथा ब्राह्मण-आरण्यकोंपर इनका लिखा भाष्य जो सायणभाष्य कहलाता है, सर्वाधिक प्रामाणिक है। विद्वज्जगत्‌में यह भी प्रसिद्धि है कि बिना सायणभाष्यके वेदमन्त्रोंका अर्थ लगाना बहुत कठिन है। सचमुच सायणभाष्य वेदार्थकी कुंजी है। भाष्य लिखनेकी प्रेरणा इनके बड़े भाई माधवाचार्यने ही इन्हें दी थी। महाराज बुक्क महान् धार्मिक राजा थे। उन्होंने अपने गुरु माधवाचार्यको वेदार्थ लिखनेके लिये कहा, किंतु माधवाचार्यजीने कहा—'महाराज! मेरा छोटा भाई सायण वेदोंकी सब बातोंको जानता है, गूढ़ अभिप्राय एवं रहस्यसे परिचित है, अतः इसे ही आप इस कार्यके लिये नियुक्त कीजिये।' तब बड़े भाईके आशीर्वाद और महाराजकी आज्ञा पाकर उन्होंने वेदभाष्योंकी रचना करके धार्मिक जगत्‌का महान् उपकार किया। इसीलिये आचार्य सायणने अपने ग्रन्थों या भाष्यों आदिको माधवीय भाष्यके नामसे भी प्रसिद्ध किया। वेदभाष्यकर्ताके रूपमें तो इनकी प्रसिद्धि रही ही है, अनेक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थोंका भी इन्होंने प्रणयन किया है। यहाँपर संक्षेपमें सायणाचार्य तथा आचार्य माधवके धर्मशास्त्रीय ग्रन्थोंका उल्लेख किया जा रहा है—(१) पुरुषार्थ-सुधानिधि, (२) दत्तकमीमांसा, (३) स्मृतिसंग्रह, (४) कुरुक्षेत्र-माहात्म्य, (५) पराशरमाधवीय—यह 'पराशरस्मृति'का

विस्तृत भाष्य है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका नाम आचारमाधवीय तथा पराशरमाधवीय भी है। (६) कालनिर्णय या कालमाधवीय भी धर्मशास्त्रका एक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसमें पाँच प्रकरण हैं—(१) उपोद्घात, (२) वत्सर, (३) प्रतिपत्प्रकरण, (४) द्वितीयादि तिथिप्रकरण तथा (५) प्रकीर्ण-प्रकरण। काल-निर्णयका यह बड़े महत्त्वका ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त श्रीविद्यार्णव, माधवीय धातुवृत्ति, जैमिनीय न्यायमालाविवरण, विवरणप्रमेयसंग्रह, पञ्चदशी तथा जीवन्मुक्तिविवेक आदि मुख्य ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार सायण-माधवने समवेतरूपसे वेद-वेदाङ्ग, दर्शन, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याकरण, नीतिशास्त्र, राजशास्त्र आदि प्राय: सभी क्षेत्रोंमें अपनी सिद्धहस्त लेखनी चलायी है। ये सर्वतोमुखी प्रतिभाके धनी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थोंसे जो प्राणीमात्रकी सेवा की है, उससे सभी उपकृत हैं और लोगोंका महान् उपकार हुआ है। इनका जीवन-दर्शन भी आचारनिष्ठ धर्ममर्यादासे ओतप्रोत रहा है।

(९) श्रीदत्त उपाध्याय

मध्ययुगीन मैथिल धर्मशास्त्रीय निबन्धकारोंमें 'श्रीदत्त उपाध्याय' अति प्राचीन हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ हैं—आचारादर्श, छन्दोगाह्निक, समयप्रदीप, पितृभक्ति तथा श्राद्धकल्प। 'आचारादर्श'में आह्निक धार्मिक कृत्योंका सविस्तर वर्णन है। इस ग्रन्थपर दामोदर मैथिललिखित 'आचारादर्शबोधिनी' नामक टीका भी है। सामवेदियोंके लिये श्रीदत्तने 'छन्दोगाह्निक' तथा 'श्राद्धकल्प' नामक ग्रन्थ लिखे। 'समयप्रदीप'में व्रतोंके समयका विवेचन है। यजुर्वेदियोंके लिये उन्होंने श्राद्धकर्मसे सम्बद्ध 'पितृभक्ति' नामक ग्रन्थकी रचना की। श्रीदत्तका समय १४ वीं शतीके प्रथम चरणके पूर्व माना जाता है।

(१०) चण्डेश्वर

मिथिलाके धर्मशास्त्रीय निबन्धकारोंमें 'चण्डेश्वर'का सर्वोच्च स्थान है। उनके द्वारा लिखित 'स्मृतिरत्नाकर' एक विस्तृत निबन्धग्रन्थ है, जिसमें कृत्य, दान, व्यवहार, शुद्धि, पूजा, विवाद तथा गृहस्थ नामक सात अध्याय हैं। मिथिलाके हिन्दू-व्यवहारों (कानूनों)-में चण्डेश्वरका 'विवादरत्नाकर' प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। स्मार्तविषयोंके अतिरिक्त चण्डेश्वरके अन्य ग्रन्थ हैं—कृत्यचिन्तामणि, राजनीतिरत्नाकर, दानवाक्यावलि तथा शिववाक्यावलि। चण्डेश्वर राज्यमन्त्री थे। इनका समय १४ वीं शतीका प्रथम चरण है।

(११) शूलपाणिकृत स्मृतिविवेक

बंगालके धर्मशास्त्रकारोंमें 'शूलपाणि'का नाम आदरसे लिया जाता है। शूलपाणिने याज्ञवल्क्यस्मृतिकी टीका दीपकलिकाके अतिरिक्त कई अन्य ग्रन्थ भी लिखे हैं। इन्होंने 'विवेक' पदसे अपने ग्रन्थोंका नामकरण किया है, यथा—एकादशीविवेक, तिथिविवेक, दत्तविवेक, दुर्गोत्सवविवेक, दोलायात्राविवेक, प्रायश्चित्तविवेक, कालविवेक, शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक आदि। शूलपाणिने इन सभी विवेकोंका सम्मिलित नाम 'स्मृतिविवेक' रखा। शूलपाणिका श्राद्धविवेक अत्यन्त विख्यात ग्रन्थ है।

अपने ग्रन्थोंमें इन्होंने अपनेको साहुडियाल महामहोपाध्याय कहा है। ये राढीय ब्राह्मण थे। इनका समय १३७५ ई० से १४६० ई०के मध्य है।

(१२) मदनपारिजात

'मदनपारिजात' नामक ग्रन्थ प्राचीन निबन्धग्रन्थोंमें अपना विशेष महत्त्व रखता है। यह राजा मदनपालके राज्याश्रयमें लिखा गया। राजा मदनपालका समय १४ वीं शती माना जाता है। मदनपाल राजा भोजकी भाँति एक विद्याव्यसनी राजा थे। उन्होंने स्वयं भी ग्रन्थ बनाये और विद्वानोंका बड़ा ही आदर किया तथा उन्हें ग्रन्थ-रचनाके लिये प्रेरित किया। उनके राज्यकालमें विद्वानोंद्वारा अनेक उच्चकोटिके ग्रन्थ लिखे गये। इन्हींमें 'मदनपारिजात' भी एक अन्यतम ग्रन्थ है, जो विश्वेश्वर भट्ट-प्रणीत बताया जाता है। अपने आश्रयदाताकी स्मृतिके लिये उन्होंने ग्रन्थका नाम 'मदनपारिजात' रखा। यह बहुत बड़ा ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थमें ९ स्तबक हैं, जो ब्रह्मचर्यस्तबक, गृहस्थस्तबक, आह्निकस्तबक, गर्भाधानादिसंस्कारस्तबक, आशौचस्तब द्रव्यशुद्धिस्तबक, श्राद्धस्तबक, विभागस्तबक तथा प्रायश्चित्तस्त नामसे विख्यात हैं।

(१३) नृसिंहप्रसाद

'नृसिंहप्रसाद' धर्मशास्त्रका विश्वकोश माना जाता

इसे 'दलपतिराज' की रचना कहा गया है और इनका समय लगभग १५वीं शती बताया गया है। यह ग्रन्थ बारह 'सारों' में विभक्त है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—संस्कारसार, आह्निकसार, श्राद्धसार, कालसार, व्यवहारसार, प्रायश्चित्तसार, कर्मविपाकसार, व्रतसार, दानसार, शान्तिसार, तीर्थसार एवं प्रतिष्ठासार। विद्वानोंका यह भी परामर्श है कि इस बृहद्ग्रन्थके प्रत्येक प्रकरणके अन्तमें भगवान् नृसिंहकी स्तुति की गयी है, इसलिये इस ग्रन्थका नाम 'नृसिंहप्रसाद' रखा गया है। विद्वज्जगत्में इस ग्रन्थकी खूब प्रतिष्ठा रही है और अनेक मयूखादि निबन्धग्रन्थोंने इसे भूरिशः उल्लिखित किया है।

(१४) मदनरत्न

'मदनरत्न' एक बृहद् निबन्धग्रन्थ है, इसे 'मदनरत्नप्रदीप' या 'मदनप्रदीप' भी कहा जाता है। इस ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियोंसे ज्ञात होता है कि यह राजा शक्तिसिंहके पुत्र मदनसिंहके राज्याश्रयमें प्रणीत हुआ था। राजा मदनसिंह बड़े धार्मिक विचारोंके थे। उन्होंने अपने राज्यमें विद्वानोंको आश्रय दिया और ग्रन्थ-रचनाके लिये प्रेरित किया। 'मदनरत्न' ग्रन्थ भी ऐसे ही निर्मित हुआ। इसमें सात उद्योत हैं। यथा—'समयोद्योत, आचारोद्योत, व्यवहारोद्योत, प्रायश्चित्तोद्योत, दानोद्योत, शुद्धि-उद्योत एवं शान्ति-उद्योत। इस ग्रन्थका रचनाकाल निश्चित नहीं है, तथापि ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ १४-१५वीं शतीके मध्य संगृहीत किया गया। इसमें काल, आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त, दान, शुद्धि एवं शान्ति-सम्बन्धी स्मृति आदि शास्त्रोंकी बातोंका समावेश किया गया है।

(१५) रघुनन्दन भट्टाचार्य और उनका स्मृतितत्त्व

'रघुनन्दन' बंगालके प्रौढ धर्मशास्त्रकार थे। इन्होंने 'स्मृतितत्त्व' नामक धर्मशास्त्र-सम्बन्धी बृहद् ग्रन्थ लिखा। यह बृहद् ग्रन्थ 'तत्त्व' इस नामसे २८ प्रकरण-ग्रन्थोंका सामूहिक नाम है, यथा—(१) मलमासतत्त्व, (२) दायतत्त्व, (३) संस्कारतत्त्व, (४) शुद्धितत्त्व, (५) प्रायश्चित्ततत्त्व, (६) विवाहतत्त्व, (७) विधितत्त्व, (८) जन्माष्टमीतत्त्व, (९) दुर्गोत्सवतत्त्व, (१०) व्यवहारतत्त्व, (११) एकादशीतत्त्व, (१२) जलाशयोत्सर्गतत्त्व, (१३) ऋग्वेदीवृषोत्सर्गतत्त्व, (१४) यजुर्वेदीवृषोत्सर्गतत्त्व, (१५) सामगवृषोत्सर्गतत्त्व, (१६) व्रततत्त्व, (१७) देवप्रतिष्ठातत्त्व, (१८) दिव्यतत्त्व, (१९) ज्योतिषतत्त्व, (२०) वास्तुयागतत्त्व, (२१) दीक्षातत्त्व, (२२) आह्निकतत्त्व, (२३) क्रियातत्त्व, (२४) मठप्रतिष्ठातत्त्व, (२५) पुरुषोत्तमक्षेत्रतत्त्व, (२६) छन्दोगश्राद्धतत्त्व, (२७) यजुर्वेदीश्राद्धतत्त्व तथा (२८) शूद्रकृत्यविचारतत्त्व।

स्मृतितत्त्वके अतिरिक्त इन्होंने गयाश्राद्धपद्धति, रासयात्रापद्धति आदि ग्रन्थ भी लिखे हैं। इनका 'स्मृतितत्त्व' धर्मशास्त्रका विश्वकोश माना जाता है।

रघुनन्दन बन्धघटीय ब्राह्मण हरिहर भट्टाचार्यके पुत्र थे। एक किंवदन्तीके अनुसार ये चैतन्य महाप्रभुके समकालिक थे। इनका समय १४९०—१५७० ई० के मध्य था।

(१६) स्मृतिसार

'हरिनाथ'द्वारा संकेतित क्रिया-संस्कारोंसे इनका मिथिलावासी होना प्रतीत होता है। इन्होंने 'स्मृतिसार' नामक निबन्धग्रन्थका प्रणयन किया है। इस निबन्धका कोई अंश अभीतक प्रकाशित नहीं हो सका है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। हरिनाथने अपने निबन्धमें आचार, संस्कार एवं व्यवहारका विवेचन किया है। हरिनाथको वाचस्पति मिश्र (१५ वीं शती)-ने उद्धृत किया है, अतः वे वाचस्पति मिश्रसे पूर्ववर्ती हैं।

(१७) रुद्रधर

'रुद्रधर' मिथिलाके प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार थे। इन्होंने कई ग्रन्थोंकी रचना की है, जिनमें 'शुद्धिविवेक', 'श्राद्धविवेक' और 'वर्षकृत्य' प्रमुख हैं। वर्षकृत्यमें वर्षभरमें सम्पन्न होनेवाले कृत्योंका वर्णन किया गया है। 'वर्षकृत्य' मिथिलाके धार्मिक कृत्योंके लिये प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। रुद्रधरने 'रत्नाकर', 'स्मृतिसार' तथा 'शूलपाणि'का उल्लेख किया है, अतः वे १४२५ ई०के पश्चाद्वर्ती माने गये हैं।

(१८) विवादचन्द्र

मिथिला-निवासी मिसरू मिश्र 'विवादचन्द्र' नामक ग्रन्थके लेखक थे। विवादचन्द्रकी रचना मिथिला-राजवंशके भैरवसिंहके छोटे भाई कुमारचन्द्रसिंहकी पत्नी कुमारी लछिमादेवीकी आज्ञासे हुई। चन्द्रसिंहके समकालिक मिसरू

मिश्रका समय १५ वीं शतीका मध्य-भाग है। इनका 'विवादचन्द्र' ग्रन्थ व्यवहार-सम्बन्धी एवं दाय-सम्बन्धी मुख्य ग्रन्थ है।

(१९) वाचस्पति मिश्र

मिथिलाके सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार थे वाचस्पति मिश्र। व्यवहारों (कानूनों)-के निर्णयमें इनका 'व्यवहारचिन्तामणि' बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके 'चिन्तामणि' उपाधिवाले ११ ग्रन्थोंका संकेत मिलता है। कुछ ग्रन्थोंके नाम हैं—आचारचिन्तामणि, आह्निक चिन्तामणि, शुद्धिचिन्तामणि, कृत्यचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि आदि। इन्होंने पूर्वोक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त बहुतसे निर्णयोंका प्रणयन किया। यथा-तिथिनिर्णय, द्वैतनिर्णय, शुद्धिनिर्णय आदि। सात महार्णवोंका भी इन्होंने निर्माण किया। यथा—कृत्य, आचार, विवाद,व्यवहार, दान, शुद्धि एवं पितृयज्ञ महार्णव।

वाचस्पति मिश्र मिथिलाके राजा हरिनारायणके परामर्शदाता थे। बहुत बड़े दार्शनिकके रूपमें इनकी सर्वत्र प्रसिद्धि है। इन्होंने रुद्रधरका उल्लेख किया है तथा रघुनन्दनके द्वारा ये उद्धृत किये गये हैं, अत: ये १५वीं शतीके मध्यमें विद्यमान थे। वाचस्पति मिश्रके पौत्र केशव मिश्रने 'द्वैतपरिशिष्ट' नामक ग्रन्थकी रचना की है, जो मिथिलाके दायभागके लिये प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

(२०) गोविन्दानन्द (कवि कङ्कणाचार्य)

बंगालके निबन्धकारोंकी शृंखलामें गोविन्दानन्दका विशेष गौरव है। इनका उपनाम कवि कङ्कणाचार्य भी था। ये बहुत बड़े विद्वान् थे। इनके पिताका नाम गणपति भट्ट था। इनका समय १६वीं शती है। ये महान् वैष्णव थे। बंगालके ये बाग्री ग्रामके निवासी थे। इन्होंने अनेक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थोंका प्रणयन किया, जो 'कौमुदी' नामसे प्रसिद्ध हैं। जैसे—दानकौमुदी, क्रियाकौमुदी, श्राद्धकौमुदी, वर्षकृत्यकौमुदी, शुद्धिकौमुदी तथा गोविन्दानन्दीय धर्मशास्त्र। वर्षकृत्यकौमुदीमें वर्षभरके तिथि-निर्णय, व्रतोपवास तथा उत्सव एवं पूजा-विधियोंका वर्णन है। इनका 'दानकौमुदी' ग्रन्थ विशेष महत्त्वका है। इसके साथ ही इन्होंने प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार शूलपाणिके 'प्रायश्चित्तविवेक' पर 'तत्त्वकौमुदी' नामकी वैदूष्यपूर्ण टीका भी लिखी है। इनके ग्रन्थोंका न केवल बंगाल,अपितु सुदूर देशोंमें भी बड़ा प्रभाव रहा। इनकी लेखन-शैली बड़ी ही मधुर एवं चमत्कृत करनेवाली है। इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें मदनपारिजात, रुद्रधर तथा वाचस्पति आदिके वचनोंका उल्लेख किया है।

(२१) टोडरानन्द

मुगलसम्राट् अकबरके वित्तमन्त्री टोडरमलने 'टोडरानन्द' नामसे एक धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रन्थका संग्रह किया, जो आचारसौख्य, व्यवहारसौख्य, दानसौख्य, श्राद्धसौख्य, विवेकसौख्य, विवाहसौख्य, प्रायश्चित्तसौख्य, वास्तुसौख्य तथा समयसौख्य आदि प्रकरणोंमें विभक्त है। जैसे अन्य निबन्धकारोंने अपने ग्रन्थके प्रकरणोंको प्रकाश, कौमुदी, शेखर, विवेक, सुधानिधि, काण्ड आदि नाम दिया, ऐसे ही टोडरमलने अपने ग्रन्थके अवान्तर-प्रकरणोंको 'सौख्य' यह नाम दिया है। इस ग्रन्थमें कानून तथा ज्योतिष एवं औषधि-सम्बन्धी बातें भी विस्तारसे आयी हैं। 'व्यवहारसौख्य' में व्यवहार-विधिके विभिन्न अङ्गोंपर प्रकाश डाला गया है, 'श्राद्धसौख्य' में श्राद्ध-सम्बन्धी बातोंका विवरण है और 'जोति:सौख्य' में ज्योतिष-सम्बन्धी विषयोंका विवेचन तथा ग्रहों-नक्षत्रों एवं राशियोंके साथ ही खगोल-सम्बन्धी व्याख्या है।

टोडरमलका जीवनवृत्त इतिहासमें प्रसिद्ध है। ये एक विद्वान् लेखक, कुशल सेनापति,मन्त्री तथा सफल राजनीतिज्ञ थे। इनका समय १६वीं शती है।

(२२) नन्दपण्डित और उनके निबन्धग्रन्थ

काशी सदासे विद्वानोंकी नगरी है। सारे भारतसे विद्वानोंने यहाँ आकर अपनी सारस्वत-साधनासे विश्वका महान् उपकार किया है। १६वीं शतीमें काशीस्थ पण्डित-परम्परामें नन्दपण्डितका विशेष स्थान रहा है। ये महान् धर्मशास्त्री कहे गये हैं। ये पण्डित धर्माधिकारीके पुत्र हैं और इनका दूसरा नाम था विनायक पण्डित। इन्होंने अनेक धर्मग्रन्थ लिखे हैं तथापि उनमें 'दत्तकमीमांसा' नामक ग्रन्थकी विशेष प्रसिद्धि है। इसमें दत्तकपुत्रके सम्बन्धमें सभी विचारोंको बड़ी ही सूक्ष्मरीतिसे प्रतिपादित किया गया है। 'दत्तकमीमांसा' गोद लेने-सम्बन्धी कानूनोंका मुख्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थका अपर नाम है—'पुत्रीकरणमीमांसा'। 'विष्णुस्मृति' पर इनकी अत्यन्त प्रसिद्ध टीका है, जो 'केशव-वैजयन्ती' या 'वैजयन्ती' के नामसे प्रसिद्ध है। इसे

उन्होंने अपने आश्रयदाता महाराज केशवनायकके अनुरोधपर लिखा था। इसी प्रकार 'पराशरस्मृति'की 'विद्वन्मनोहरा' नामक टीका भी इनकी बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त श्राद्धकल्पलता, श्राद्धमीमांसा, नवरात्रप्रदीप, शुद्धिचन्द्रिका, माध्वानन्दकाव्य, स्मृतिसिन्धु, हरिवंशविलास आदि इनके अनेक ग्रन्थ हैं। 'याज्ञवल्क्यस्मृति'की टीका 'मिताक्षरा' अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है, जो विज्ञानेश्वरद्वारा लिखी गयी है। इस 'मिताक्षरा'-टीकापर नन्दपण्डितने अपना भाष्य लिखा है, जो 'प्रमिताक्षरा' नामसे विख्यात है। विद्वज्जगत्में इनकी कृतियोंका बहुत समादर रहा है।

(२३) नारायण भट्ट और उनकी परम्परा

वाराणसीमें समागत 'भट्टकुल'के मूल प्रतिष्ठापक नारायण भट्ट ही माने जाते हैं। ये असाधारण विद्वान् तथा बहुमुखी प्रतिभाके धनी थे। इनके पिता रामेश्वर भट्ट प्रतिष्ठान (पैठण)-से वाराणसी आये थे।

प्रारम्भमें रामेश्वर भट्टकी कोई संतान न थी। अनपत्यतासे दुःखी होकर ये सपरिवार काशी चले आये और यहाँ नित्य भागीरथी-स्नान तथा श्रीविश्वनाथजीके दर्शनका इनका क्रम चल पड़ा। ये बड़े सदाचारसम्पन्न थे। पुत्र न होनेका दुःख इन्हें बड़ा ही कष्ट देता था। यहाँ उन्होंने अपने आराध्यदेव भगवान् श्रीरामचन्द्रकी महान् आराधना की, उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीराम तथा शंकरजीकी कृपासे इन्हें वृद्धावस्थामें दिव्य लक्षणोंसे सम्पन्न एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो आगे चलकर नारायण भट्टके नामसे विख्यात हुआ। नारायण भट्टने अपने पिताके समान ही काशीमें गौरव प्राप्त किया। थोड़े ही समयमें इन्होंने सभी विद्याओंको सीख लिया और इनकी चतुर्दिक् ख्याति हो गयी। यह प्रसिद्धि है कि उन दिनों जब काशीमें भयंकर अवर्षण पड़ा तो अकालकी विभीषिकाने अपना भयंकर रूप दिखलाया। सर्वत्र हाहाकार मच गया। जब लोगोंने इसका कारण इनसे पूछा तो इन्होंने बताया कि यवनादिकोंद्वारा जो काशीविश्वनाथ-मन्दिरका अतिक्रमण हुआ है, उसीके कारण यह अवर्षण हुआ है। इसपर यवनोंने कहा—'अगर ऐसी बात है तो आप यदि थोड़ी भी वर्षा करके दिखला दें तो हम इसे प्रमाण मान लेंगे और आपके द्वारा ही मन्दिरकी प्रतिष्ठा करवायेंगे।' इतना कहना ही था कि नारायण भट्टने कहा कि 'आपलोग विश्वास मानें वृष्टि आज ही होगी।' फिर उन्होंने अपने आराध्य भगवान् श्रीराम और बाबा विश्वनाथका ध्यान किया तथा प्रार्थना की, भगवान् प्रसन्न हो गये और उसी दिन महान् वृष्टि होने लगी, सब लोग बड़ा आश्चर्य करने लगे। वृष्टिसे सभीको बड़ा आनन्द हुआ। फिर यवनोंने नारायण भट्टके आचार्यत्वमें काशी-विश्वनाथ-मन्दिरकी प्रतिष्ठा करवायी और तभीसे वे 'जगद्गुरु'-पदवीसे अलंकृत भी हुए। इनकी प्रतिभा एवं तपोबलको देखकर सभी अभिभूत हो गये।

इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना करके महान् लोकोपकार किया। इनके धर्मशास्त्रीय ग्रन्थोंमें त्रिस्थलीसेतु, प्रयोगरत्न, अन्त्येष्टिपद्धति तथा रुद्रपद्धति विशेष प्रसिद्ध हैं। त्रिस्थलीसेतुमें प्रयाग, काशी तथा गया—इन तीन तीर्थोंकी महिमा तथा तीर्थस्नान आदिकी बातें विस्तारसे विवेचित हैं। प्रयोगरत्नमें गर्भाधान आदि संस्कारोंके विधि-विधान निरूपित हैं तथा अन्त्येष्टिपद्धतिमें प्रेतसंस्कार एवं श्राद्धादि-सम्बन्धी बातें हैं। इस ग्रन्थका 'उत्तरनारायणभट्टी' भी नाम है।

नारायण भट्टकी पुत्र-पौत्र-परम्परा भी अत्यन्त प्रसिद्ध रही है। इनके दो पुत्र थे—रामकृष्ण भट्ट और शंकर भट्ट। रामकृष्ण भट्टने 'तन्त्रवार्तिकव्याख्या' तथा 'जीवत्पितृकनिर्णय'—ये दो ग्रन्थ और शंकर भट्टने 'द्वैतनिर्णय' नामक ग्रन्थ लिखा। रामकृष्ण भट्टके तीन पुत्र हुए—दिनकर भट्ट, कमलाकर भट्ट और लक्ष्मण भट्ट। दिनकर भट्ट 'दिवाकर भट्ट' नामसे भी कहे जाते हैं। इन्होंने भाट्टदिनकरमीमांसा, उद्योत तथा शान्तिसार—ये ग्रन्थ बनाये। दिनकर भट्टके पुत्र विश्वेश्वर भट्ट ही 'गागा भट्ट' कहलाते हैं, जिनके अनेक ग्रन्थ हैं। **नारायण भट्टके पौत्र कमलाकर भट्टने निर्णयसिन्धु नामक धर्मशास्त्रीय निर्णय-ग्रन्थ लिखा जो सर्वविश्रुत है। इन्होंने शान्तिकमलाकर, पूर्तकमलाकर आदि और भी कई ग्रन्थ लिखे।** इस प्रकार नारायण भट्ट तथा उनकी परम्परामें अनेक विद्वान् हुए, जिनकी विलक्षण प्रतिभासे विद्वज्जगत् सुपरिचित ही है। यहाँ तो संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। नारायण भट्टका समय १६वीं शती है।

(२४) भगवन्तभास्कर या स्मृतिभास्कर

'भगवन्तभास्कर' या 'स्मृतिभास्कर' प्रसिद्ध विद्वान् नीलकण्ठ भट्टकी रचना है। नीलकण्ठ भट्ट प्रसिद्ध मीमांसक शंकर भट्टके पुत्र एवं नारायण भट्टके पौत्र थे। ये मीमांसा, धर्मशास्त्र, न्याय तथा वेदान्त आदि शास्त्रोंके परम ज्ञाता रहे

हैं। इनका समय १७वीं शतीका पूर्वार्ध है। अपने समयके प्रसिद्ध निबन्धकारों एवं मीमांसकोंमें इनकी गणना होती रही है। ये मीमांसकोंके कुलमें उत्पन्न हुए थे, अतः धर्मशास्त्रमें भी उन्होंने मीमांसा-रीतिका बड़ा ही सफल प्रयोग किया है। 'भगवन्तभास्कर' या 'स्मृतिभास्कर' नामक ग्रन्थका प्रणयन करके आपने अपनी विलक्षण प्रतिभाका परिचय दिया है।

इनके आश्रयदाता सेंगर क्षत्रियावतंस महाराज श्रीभगवन्तदेव थे। जिनका शासन चंबल और यमुनाके संगमपर स्थित 'भरेह' नगर एवं आस-पासके क्षेत्रोंमें था। राज्याश्रय पाकर उन्होंने उसी नगरमें इस ग्रन्थका प्रणयन किया और अपने आश्रयदाता महाराज श्रीभगवन्तदेवकी कीर्ति-पताकाको उज्ज्वल करनेके लिये ग्रन्थका नाम राजाके नामपर ही 'भगवन्तभास्कर' रख दिया। भरेह आगमनसे पूर्व नीलकण्ठ काशीमें रहते थे। उनकी विद्वत्तासे सभी लोग परिचित थे। महाराज श्रीभगवन्तदेव स्वयं भी विद्वान् थे और विद्वानोंका आदर करते थे। उन्होंने बड़े आदर एवं सम्मानसे नीलकण्ठजीको काशीसे भरेह बुलवाया। नीलकण्ठ नगरके बाहर एक ग्राममें ठहरे। वहाँसे नगरमें आनेके लिये राजाने पालकी आदिकी व्यवस्था की और स्वयं भी वेप बदलकर पालकी ढोनेवालोंके साथ लग गये। उन्होंने किसीको इस बातकी खबर होने नहीं दी। स्वयं नीलकण्ठ भी कुछ जान न सके कि वे जिस पालकीमें बैठे हुए राजाके पास जा रहे हैं, उसे स्वयं राजा भी ढो रहे हैं। राजधानी समीप आ गयी। इधर पं० नीलकण्ठजीके मनमें बड़ा ऊहापोह चल रहा था कि राजाने उन्हें बड़े ही सम्मानसे काशीसे यहाँ बुलाया और पालकीमें राजधानी आनेकी सुव्यवस्था भी कर दी। मार्गमें कहीं कोई असुविधा न हो, इसलिये विशेप सेवकोंको भी नियुक्त कर दिया है, किंतु अगवानीके लिये वे नहीं आ रहे हैं यह कैसा आश्चर्य है, अवश्य इसमें कोई रहस्य है। जब राजधानी बिलकुल समीप आ गयी तो थोड़ी उन्हें निराशा भी हुई, अब उनसे बिना बोले रहा न गया, वे कहने लगे—

'क्या महाराज इस समय राजधानीमें नहीं हैं?' इसपर स्वयं श्रीभगवन्तदेवजी पालकीसे अलग होकर हाथ जोड़कर बोले—'भगवन्! हमारे लिये क्या आज्ञा है, हम तो आज प्रातःकालसे आपहीके साथ हैं।' भट्टजी विस्मित होकर बोले—'हैं? आपने यह क्या किया, इतने बड़े महाराज होकर आप मेरी पालकी ढोनेवालोंके साथ लगे हैं, यह तो हमारे लिये लज्जाकी बात है।' तब राजा बोले—'प्रभो! हमने इसीमें अपना अहोभाग्य समझा। आज हम और हमारी प्रजा धन्य है, जो आप-जैसे विद्वान् हमारे यहाँ पधार रहे हैं।'

भट्टजीने गद्‌गद होकर अनेक आशीर्वाद दिये और उसी समय राजाकी अक्षय कीर्तिको चिरस्थायी करनेके लिये एक बृहद् ग्रन्थकी रचनाका संकल्प लिया और फिर उन्होंने जिस ग्रन्थका प्रणयन किया, वह ग्रन्थ 'भगवन्तभास्कर' के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

धर्मशास्त्रीय निबन्धग्रन्थोंमें इस ग्रन्थका विशेष महत्त्व है। यह ग्रन्थ १२ प्रकरणोंमें उपनिबद्ध है। एक-एक विपयको लेकर १२ प्रकरणोंमें इसे विवेचित किया गया है और सब विपयोंके साथ 'मयूख' पदकी योजना की गयी है। वे १२ प्रकरण इस प्रकार हैं—(१) संस्कारमयूख, (२) आचारमयूख, (३) समयमयूख (४) श्राद्धमयूख, (५) नीतिमयूख, (६) व्यवहारमयूख, (७) दानमयूख, (८) उत्सर्गमयूख, (९) प्रतिष्ठामयूख, (१०) प्रायश्चित्तमयूख, (११) शुद्धिमयूख और (१२) शान्तिमयूख।

जैसा कि ग्रन्थके प्रकरणोंके नामसे स्पष्ट है कि प्रत्येकमें तत्तद्‌विपयोंका विवेचन है और स्मृति एवं पुराणोंके वचनोंका संग्रह है।

'संस्कारमयूख' में गर्भाधान आदि संस्कारोंका वर्णन है।

'आचारमयूख' में आचार-सम्बन्धी बातें विवेचित हैं तथा नित्य-कर्मोंका वर्णन है। प्रातः-जागरण, मूत्रपुरीषोत्सर्ग-विधि, शौचविधि, आचमनविधि, दन्तधावन, पवित्री-लक्षण, कुश-प्रशस्ति, स्नान, स्नानके भेद, गौण-स्नान, तिलक, संध्यावन्दन, गायत्री-जप, काम्य-जप, होम-पञ्चयज्ञ, वैश्वदेव, देवपूजा, भोजन-विधि, भोजनोत्तरकृत्य, शयनविधि तथा स्वप्नके फल आदि विषय उपन्यस्त हैं।

'समयमयूख' में प्रत्येक मासकी तिथियों एवं व्रतोंका वर्णन है तथा अन्तमें कलिवर्ज्यप्रकरण है। 'श्राद्धमयूख' में अष्टका-अन्वष्टका, एकोद्दिष्ट श्राद्धोंकी विधि है और श्राद्ध-सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातोंकी विवेचना है। 'नीतिमयूख' में राजनीति एवं राजधर्म तथा राज्य एवं राज्याङ्गोंका सूक्ष्म वर्णन हुआ है। 'व्यवहारमयूख' विशेष महत्त्वका है, इसमें हिन्दू कानून विशेषरूपमें वर्णित है। कानून आदिकी

जानकारीके लिये न्यायालय आदिमें इसका प्रचुर प्रयोग है और इसे विशेष प्रामाणिकता प्राप्त है। 'दानमयूख'में दानतत्त्व एवं दान-भेदोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। यह अन्य मयूखोंसे कुछ बड़ा भी है। 'उत्सर्गमयूख' अन्य मयूखोंसे छोटा है, पर महत्त्व इसका अधिक है। इसमें मुख्यरूपसे पूर्तधर्मका विवेचन है। विशुद्ध लोकोपकारकी भावनासे एवं परोपकारकी दृष्टिसे निर्माण कराये गये वापी, कूप, तडाग, उद्यान, देवालय, गोचरभूमि आदिको जनहितके लिये संकल्पपूर्वक उत्सर्ग करनेकी विधि इसमें वर्णित है और इस पूर्तधर्मकी विशेष महिमा गायी गयी है। जलाशय-निर्माणके अनन्तर जल-उत्सर्गके समय की गयी एक प्रार्थना इस प्रकार संगृहीत है—

सर्वभूतेभ्य उत्सृष्टं मयैतज्जलमुज्झितम्।
रमन्तां सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनैः॥
सामान्यं सर्वभूतेभ्यो मया दत्तमिदं जलम्।
रमन्तां सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनैः॥

(उत्सर्गमयूख)

—इसका भाव यह है कि सभी प्राणियोंके कल्याणके लिये मैंने इस जलाशयका निर्माण करवाया है और इस जलाशयसे जल ग्रहण करनेके सभी अधिकारी हैं, इस दृष्टिसे मैं संकल्पपूर्वक इसे जनहितके लिये समर्पण कर रहा हूँ। सभी प्राणी स्नान, पान तथा अवगाहन आदिके द्वारा इससे आनन्द प्राप्त करें।

'प्रतिष्ठामयूख' में देवालय, प्रासाद आदि तथा अनेकविध देव-प्रतिमाओंकी चल एवं अचल प्राणप्रतिष्ठा और जीर्णोद्धार आदिकी विधि वर्णित है। 'प्रायश्चित्तमयूख'में विस्तारसे प्रायश्चित्त-विधान बतलाया गया है और प्रायश्चित्तका लक्षण बताते हुए कहा गया हैं कि विहित कर्मके अनुष्ठान न करने तथा निषिद्ध कर्मके सेवनसे जो पाप बनता है और उस पापकी निवृत्ति (शुद्धि)-के लिये जो कर्म विहित है वह प्रायश्चित्त कहलाता है—'**विहिताननुष्ठाननिषिद्धसेवननिमित्ते विहितं कर्म प्रायश्चित्तम्।**'

'शुद्धिमयूख' में शुद्धितत्त्व एवं अशुद्धितत्त्वका मीमांसा-शैलीमें बड़ी ही सूक्ष्मरीतिसे विवेचन हुआ है। सामान्यतः शरीरकी अशुद्धि एवं द्रव्यकी अशुद्धिमें विहित कर्मकी योग्यता प्राप्त नहीं होती, अतः सब प्रकारसे शुद्धि एवं पवित्रता परम आवश्यक है। इस लघु ग्रन्थमें सुवर्ण आदि पात्रशुद्धि, वस्त्रशुद्धि, धान्यादि-शुद्धि, द्रव्य-शुद्धि, भूशुद्धि, गर्भस्रावजन्य अशौच, जननाशौच, अनुपनीत-अशौच, सापिण्ड्य-अशौच, प्रेतकार्य, दशाह-अशौच, नवश्राद्ध, वृषोत्सर्ग आदिकी व्यवस्था विवेचित है।

'शान्तिमयूख' भगवन्तभास्कर ग्रन्थका अन्तिम १२वाँ प्रकरण है। इसमें शान्ति और पौष्टिक कर्मों एवं आथर्वण शान्तिकल्पके विषयोंका तथा दुर्निमित्तोंका वर्णन है यथा-विनायकशान्ति, नवग्रह-शान्ति, ऋतुशान्ति, गोमुख-प्रसवविधि, दुष्ट-तिथिशान्ति, मूलशान्ति, बालग्रह तथा बालारिष्ट-शान्ति, अग्नि एवं वायु-प्रकोप-शान्ति, दिव्य, भौम एवं आन्तरिक्ष-उत्पात-शान्ति, राष्ट्र-शान्ति तथा अन्तमें महाशान्तिका वर्णन है।

इन शान्ति एवं पौष्टिक कर्मोंके करनेसे सभी दुर्निमित्त शान्त हो जाते हैं और पुष्टि प्राप्त होती है।

(२५) वीरमित्रोदय

निबन्धग्रन्थोंमें 'वीरमित्रोदय' का सर्वाधिक महत्त्व है। इस ग्रन्थके निर्माता ग्वालियर-निवासी पं० श्रीहंस मिश्रके पुत्र पं० परशुराम मिश्रके पुत्र पं० मित्र मिश्र थे। पं० मित्र मिश्र ओरछा-नरेश श्रीवीरसिंहदेवके राजसभाके विलक्षण प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। राजा वीरसिंहदेव महान् धार्मिक तथा विद्वानोंका समादर करनेवाले थे। इनके दरबारमें पण्डितोंका विशेष वर्चस्व था। राजा वीरसिंहदेवके कहनेपर पं० मित्र मिश्रने धर्मशास्त्रीय विषयोंके संकलनकी दृष्टिसे एक विशाल ग्रन्थकी रचना की, जो 'वीरमित्रोदय'के नामसे विख्यात है। इस ग्रन्थके नामकरणमें पं० मित्र मिश्रने अपने आश्रयदाता महाराज वीरसिंहदेवकी भी स्मृति बनी रहे, इस आशयसे राजाके नामका 'वीर' शब्द और अपने नामका 'मित्र' शब्द जोड़कर 'वीरमित्रोदय' यह नाम रखा और यह ग्रन्थ उनके तथा उनके आश्रयदाता दोनोंकी कीर्तिका प्रख्यापक बन गया। सम्भवतः हेमाद्रिके चतुर्वर्गचिन्तामणिको छोड़कर धर्मशास्त्र-सम्बन्धी कोई अन्य ग्रन्थ इतना विस्तृत नहीं है।

राजा वीरसिंहने ओरछामें सन् १६०५ से १६२७ तक

राज्य किया था, अतः इस ग्रन्थका समय भी १७ वीं शताब्दीका प्रथम चरण निश्चित होता है।

वीरमित्रोदय 'प्रकाश' इस नामसे अनेक स्वतन्त्र खण्डोंमें विभक्त है। इसमें २२ प्रकाश हैं— (१) परिभाषाप्रकाश, (२) संस्कारप्रकाश, (३) आह्निकप्रकाश, (४)पूजाप्रकाश, (५) प्रतिष्ठाप्रकाश, (६) राजनीतिप्रकाश, (७) व्यवहारप्रकाश, (८) शुद्धिप्रकाश, (९) श्राद्धप्रकाश, (१०) तीर्थप्रकाश, (११) दानप्रकाश, (१२) व्रतप्रकाश, (१३) समयप्रकाश, (१४) ज्यौतिषप्रकाश, (१५) शान्तिप्रकाश (१६) कर्मविपाकप्रकाश, (१७) चिकित्साप्रकाश, (१८) प्रायश्चित्तप्रकाश, (१९) प्रकीर्णप्रकाश (२०) लक्षणप्रकाश, (२१)भक्तिप्रकाश तथा (२२) मोक्षप्रकाश।

इस प्रकार इन सभी प्रकाशोंका सम्मिलित नाम 'वीरमित्रोदय' है। इन २२ प्रकाशोंमें तत्तद् धर्मशास्त्रीय विषयोंका विवेचन है तथा स्मृति, पुराण, महाभारत एवं पूर्ववर्ती निबन्धकारोंके मतोंका और अन्य अनेक ग्रन्थोंके वचनोंका भी संग्रह हुआ है। इसका व्यवहारप्रकाश अन्य व्यवहार-संग्रहोंसे विशेष महत्त्वका है। लक्षणप्रकाश, आह्निकप्रकाश, राजनीतिप्रकाश तथा संस्कारप्रकाश कलेवरमें विस्तृत हैं।

आचार्य मित्र मिश्रने वीरमित्रोदयके साथ ही याज्ञवल्क्यस्मृतिपर वैदुष्यपूर्ण टीका लिखी है, जो 'वीरमित्रोदया' नामसे जानी जाती है। ऐसे ही 'आनन्दकन्दचम्पू' नामक इनका एक अन्य ग्रन्थ भी है।

(२६) स्मृतिकौस्तुभ

'स्मृतिकौस्तुभ' धर्मशास्त्रीय विषयोंका एक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसके प्रणेता अनन्तदेव मूलतः महाराष्ट्रीय थे, किंतु इनकी समग्र सारस्वत-साधना कूर्माचल (कुमाऊँ)-नरेश बाजबहादुरचंदके राज्याश्रयमें हुई थी। ये राजा बाज-बहादुरके अत्यन्त मान्य सभापण्डित थे। उन्होंने काशीमें इनके रहने आदिकी व्यवस्थाका पूर्ण व्यय वहन किया और उन्हींके अनुरोधपर अनन्तदेवने 'स्मृतिकौस्तुभ' आदि अनेक उच्चकोटिके ग्रन्थरत्नोंका प्रणयन किया। इन्होंने अपने आश्रयदाता राजा बाजबहादुरचंद तथा उनसे पूर्ववर्ती चंदराजाओंकी वंशावली भी 'स्मृतिकौस्तुभ' तथा 'राजधर्मकौस्तुभ'में दी है। राजा बाजबहादुरचंदने १६३६ ई०से १६७८ तक कूर्माचलमें राज्य किया था, अतः १७ वीं शताब्दीके पूर्वार्धका समय अनन्तदेवका प्रतीत होता है। अनन्तदेव आपदेव द्वितीयके पुत्र थे और भगवान् विट्ठलके परम भक्त थे। इनमें असाधारण पाण्डित्य था।

पं० अनन्तदेवकी १५ रचनाओंका उल्लेख मिलता है, किंतु उनमें स्मृतिकौस्तुभ, प्रायश्चित्तदीपिका, कालविन्दुनिर्णय आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। प्रायश्चित्तदीपिकामें प्रायश्चित्त-विधान वर्णित है तथा कालविन्दुनिर्णयमें नित्य-नैमित्तिक तथा काम्य-कर्मोंके कालका विवेचन है।

'स्मृतिकौस्तुभ' एक अत्यन्त विशाल ग्रन्थका नाम है। जो सात खण्डों—कौस्तुभोंमें विभक्त है, यथा—(१) संस्कारकौस्तुभ, (२) आचारकौस्तुभ, (३) राजधर्मकौस्तुभ, (४) दानकौस्तुभ, (५) उत्सर्गकौस्तुभ, (६) प्रतिष्ठाकौस्तुभ तथा (७) तिथि-संवत्सरकौस्तुभ। प्रत्येक कौस्तुभ दीधितियों या किरणोंमें विभक्त है। इस प्रकार 'स्मृतिकौस्तुभ' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर इन सातों कौस्तुभोंका सम्मिलित नाम है। चूँकि राजा बाजबहादुरचंदकी अक्षयकीर्तिकी स्मृतिमें यह ग्रन्थ निर्मित हुआ, अतः इसका 'स्मृतिकौस्तुभ' यह नाम दिया गया। 'संस्कारकौस्तुभ' तथा 'राजधर्मकौस्तुभ'का विद्वज्जगत्में विशेष समादर है। संस्कारकौस्तुभमें षोडश संस्कारोंके विधानके साथ ही दत्तक-पुत्र-मीमांसापर भी बहुत विचार किया गया है। इसमें मिताक्षरा, अपरार्क, हेमाद्रि, माधव, मदनरत्न तथा मदनपारिजात आदि निबन्धग्रन्थोंके मतोंकी भी समालोचना हुई है। 'आचारकौस्तुभ'में गृहस्थके सदाचार तथा नित्य-कृत्योंका वर्णन हुआ है। 'राजधर्मकौस्तुभ' भारतीय राजनीतिशास्त्रका मान्य ग्रन्थ है। यह चार खण्डोंमें विभक्त है, जिन्हें 'दीधिति' नामसे कहा गया है यथा—प्रतिष्ठादीधिति, प्रयोगदीधिति, राज्याभिषेकदीधिति तथा प्रजापालनदीधिति। सम्पूर्ण ग्रन्थमें बड़े-बड़े ८८ अध्याय हैं। 'दानकौस्तुभ'में दानविषयक बातें संगृहीत हैं। 'उत्सर्गकौस्तुभ'में विशेषरूपसे पूर्तधर्मका वर्णन है। 'प्रतिष्ठाकौस्तुभ'में देवालय, प्रासाद एवं देवप्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा इत्यादिकी बातें हैं और 'तिथि-संवत्सरकौस्तुभ'में तिथि-कृत्यों एवं संवत्सरकृत्योंका विस्तारसे विवेचन है।

इस प्रकार 'स्मृतिकौस्तुभ' में धर्मशास्त्र-सम्बन्धी सभी प्रधान-प्रधान विषयोंकी समालोचना हुई है। अनन्तदेवके अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

अग्निहोत्रप्रयोग, आग्रहायणप्रयोग, चातुर्मास्यप्रयोग, अन्त्येष्टिपद्धति, नक्षत्रसत्रप्रयोग, भगवन्नामकौमुदीकी प्रकाश-टीका, भगवद्भक्तिनिर्णय, मथुरासेतु, मीमांसान्यायप्रकाशकी टीका—भाट्टालङ्कार और वाक्यभेदवाद, देवतातत्त्वविचार तथा सिद्धान्ततत्त्व।

(२७) धर्मशास्त्रसुधानिधि

दाक्षिणात्य धर्मशास्त्रकारोंमें पं० दिवाकर भट्टका नाम विशेष गौरवसे लिया जाता है। पं० दिवाकर भट्ट पं० महादेव भट्टके पुत्र थे। इनकी माताका नाम गंगा था। ये शंकर भट्टके पुत्र नीलकण्ठ भट्टकी पुत्री थीं। पं० दिवाकर भट्टने १६८३ ई०में 'धर्मशास्त्रसुधानिधि' नामक एक बृहद् निबन्धग्रन्थका प्रणयन किया, जो आचारार्क, तिथ्यर्क (तिथ्यर्कप्रकाश), दानहारावली, प्रायश्चित्तमुक्तावली, आह्निकचन्द्रिका, श्राद्धचन्द्रिका आदि स्वतन्त्र ग्रन्थोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। ये 'धर्मशास्त्रसुधानिधि'के प्रकरण-ग्रन्थ होनेपर भी पूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं और परवर्ती निबन्धकारोंने इनका विशेष उल्लेख किया है। निबन्धग्रन्थोंमें 'धर्मशास्त्र- सुधानिधि' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपनेसे प्राचीन ग्रन्थों 'पृथ्वीचन्द्रोदय' आदिके वचनोंको ग्रहण किया है। प्रतिपादन-शैली एवं विषयोंके संयोजनकी दृष्टिसे 'धर्मशास्त्र- सुधानिधि' एक महत्त्वका ग्रन्थ है। इसमें स्मृतियों तथा पुराणोंके विविध विषयोंका निर्णयात्मक संग्रह हुआ है।

(२८) नागेशभट्ट (नागोजिभट्ट)

नागेशभट्ट काशीके गौरव थे। यद्यपि ये अद्वितीय वैयाकरण थे तथापि इन्होंने धर्मशास्त्रीय ग्रन्थोंकी रचना भी की है। ये असाधारण विद्वान् थे। इनके पिताका नाम शिवभट्ट और गुरुका नाम हरिदीक्षित था। मूलतः नागेशभट्ट दाक्षिणात्य थे, किंतु इनकी साधनाका मुख्य केन्द्र काशी ही रहा। इन्होंने काशीसे बाहर न जानेका नियम लिया था। इनका समय १८वीं शतीके आरम्भके आस-पासका है। इन्होंने लगभग ३०से भी अधिक ग्रन्थोंकी रचना की। इन्होंने 'शेखर' नामसे अपने धर्मशास्त्रीय ग्रन्थोंका प्रणयन यथा—आचारेन्दुशेखर, तिथीन्दुशेखर, तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर या प्रायश्चित्तसार-संग्रह, श्राद्धेन्दुशेखर, लक्षणरत्नमालिका, सापिण्ड्यदीपक, सपिण्डीमञ्जरी आदि। ग्रन्थोंके नामसे ही स्पष्ट है कि उनमें आचार, तिथि, तीर्थ, प्रायश्चित्त, श्राद्ध आदिका प्रतिपादन है।

(२९) धर्मसिन्धु या धर्मसिन्धुसार

निबन्धकारोंकी परम्परामें पं० काशीनाथ उपाध्यायका नाम अति आदरसे लिया जाता है। इन्होंने 'धर्मसिन्धु' या 'धर्मसिन्धुसार' नामक एक ग्रन्थकी रचना की है, इसका वैशिष्ट्य यह है कि अन्य निबन्धग्रन्थोंमें जैसे धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा पुराणेतिहाससाहित्यसे एक विषय जैसे दान आदिको लेकर उनके वचनोंका एकत्र संग्रह कर दिया है, अपना मत या निर्णय विशेषरूपसे स्पष्ट नहीं दिया है, वैसे इस ग्रन्थमें नहीं किया गया है, बल्कि धर्मशास्त्रोंके तत्तद् विषयोंको अपनी भाषामें निर्णयके रूपमें दे दिया है, इससे एक ही विषयसे सम्बद्ध संदेहात्मक कई विधि-निषेधात्मक वाक्योंके निर्णय करनेमें जो कठिनाई होती है, वह नहीं हो पाती, बल्कि बात स्पष्ट हो जाती है। इन्होंने यह स्पष्ट लिखा है कि मैंने सभी ग्रन्थोंको देखकर मूल वचनोंको छोड़कर सुगमताकी दृष्टिसे अपनी भाषामें निर्णय लिखा है। इस दृष्टिसे यह ग्रन्थ विशेष लोकप्रिय हो गया। इस ग्रन्थका दक्षिण भारत ही नहीं, अपितु उत्तर भारतमें भी विशेष सम्मान है। पं० काशीनाथ उपाध्याय दाक्षिणात्य विद्वान् हैं, ये कवि मोरोपन्तके सम्बन्धी थे। इनका समय १८वीं शतीका उत्तरार्ध है। कवि मोरोपन्तने इनका जीवन-चरित भी लिखा है। ये विट्ठलदेवके परम भक्त थे। अपने ग्रन्थके आरम्भमें ही इन्होंने भगवान् विट्ठलदेवकी वन्दना की है।

पं० काशीनाथ उपाध्याय संस्कृतके उद्भट विद्वान् थे, उनके ग्रन्थकी काशीस्थ विद्वन्मण्डलीने भूरि-भूरि प्रशंसा की है और आज भी यह ग्रन्थ धर्मशास्त्रीय निर्णयके लिये विशेष लोकप्रिय है। यह ग्रन्थ तीन परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें सामान्य रीतिसे कालका निर्णय, संक्रान्ति-निर्णय, संक्रान्तिदान, मलमासका निर्णय, सिंहस्थ गुरुमीमांसा, व्रतोपवास-निर्णय, प्रतिपदा आदि तिथि-निर्णय, स्थालीपाक-विचार, ग्रहणमीमांसा आदि विषय विवेचित हैं। द्वितीय परिच्छेदमें सभी मासोंके व्रतोपवासोंके विशेषकालका विस्तारसे निर्णय दिया गया है। तृतीय परिच्छेद दो भागोंमें विभक्त है

पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। पूर्वार्धमें सभी संस्कारोंकी विधि, आह्निककृत्य अग्न्याधान, देवप्रतिष्ठा, शान्तिपौष्टिककर्म तथा नित्य-नैमित्तिक कर्मके सम्पादनका विधान विवेचित है। उत्तरार्धमें विशेषरूपसे श्राद्ध-प्रकरण है, जिसमें श्राद्ध-सम्बन्धी सभी बातें सरल भाषामें आ गयी हैं। अन्तमें यतिधर्मपर विचार किया गया है। इस प्रकार 'धर्मसिन्धुसार' नामक इस ग्रन्थमें प्राय: धर्मशास्त्रीय सभी विषयोंका सार आ गया है।

(३०) व्रतकल्पद्रुम

'व्रतकल्पद्रुम' का नाम 'जयसिंहव्रतकल्पद्रुम' भी है। इसके रचनाकार पं० देवभट्टके पुत्र पं० रत्नाकरभट्ट थे। इसका रचनाकाल १८वीं शतीका प्रारम्भिक समय है। महाराज जयसिंह सूर्यवंशमें उत्पन्न अत्यन्त प्रतापी राजा हुए हैं। ये बड़े धार्मिक थे तथा विद्वानोंका बड़ा समादर करते थे। इनके राज्यमें बड़े-बड़े पण्डित राज्याश्रय पाकर धर्मचर्चा एवं अनेक ग्रन्थोंके प्रणयनमें लगे रहते थे। महाराज जयसिंहकी ही प्रेरणासे और उन्हींका राज्याश्रय पाकर पं० रत्नाकरभट्टने व्रतोपवास एवं तिथियोंके महाकोशके रूपमें एक विशाल धर्मग्रन्थका प्रणयन किया और उसे महाराज जयसिंहकी धर्मप्रियता और उनकी स्मृतिको उजागर करनेके लिये उन्हींके नामसे ग्रन्थका नाम रख दिया जो 'जयसिंहव्रतकल्पद्रुम' कहलाया। यह १९ स्तबकोंमें विभक्त है। इस ग्रन्थमें व्रतोंसे सम्बन्धित सभी विषयोंका संग्रह हुआ है। वर्षभरमें होनेवाले तिथिव्रत, मासव्रत, विशेष पर्वों एवं उत्सवोंके व्रत, संक्रान्तिव्रत, कायिक, वाचिक, मानसिक-व्रत, नक्षत्र-व्रत तथा प्रकीर्ण-व्रत—इस प्रकार सभी व्रतोपवासोंका विधान है तथा उद्यापन आदिकी विधियाँ इसमें दी गयी हैं। यह बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें पुराणों, स्मृतियों, हेमाद्रि आदि निबन्धग्रन्थोंके वचनोंका संग्रह हुआ है। ग्रन्थारम्भमें कालके स्वरूप तथा उसकी महिमाका वर्णन हुआ है।

(३१) व्रतराज

यद्यपि व्रतोंसे सम्बद्ध अपार सामग्री धर्मशास्त्रोंमें भरी पड़ी है और बादमें अनेक निबन्धग्रन्थ तथा बड़े-बड़े निबन्धग्रन्थोंके कई काण्ड व्रतोंपर ही पर्यवसित हैं, जो व्रतकाण्ड, व्रतखण्ड इत्यादि कहलाते हैं, तथापि व्रतोत्सव धर्मके प्रमुख आधार हैं, इसलिये व्रतोत्सवोंपर बहुत ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उसी परम्परामें व्रतराजका भी अपना विशेष गौरव है। इसकी रचना आजसे लगभग २०० वर्ष पूर्व काशीमें हुई। काशीके विद्वत्समाजमें पं० विश्वशर्मा एक बड़े भारी दैवज्ञ, याज्ञिक विधानोंके पण्डित तथा वेदादि शास्त्रों एवं पुराणों और धर्मशास्त्रोंके ज्ञाता थे। ये ही 'व्रतराज' ग्रन्थके प्रणेता रहे हैं। इनके पिताका नाम पं० गोपालशर्मा था। काशीमें ये दुर्गाघाटपर रहते थे। अपने पूर्ववर्ती व्रत-सम्बन्धी ग्रन्थोंका सम्यक् अवलोकन कर उनसे सामग्रीका संचयन करके मूल स्मृति एवं पुराण-ग्रन्थोंका अध्ययन कर आपने इसे अत्यन्त सरल एवं सुगम बना दिया और तिथ्यादि निर्णयोंको भी सुगम और सुस्पष्ट कर दिया है। इसमें देवोपासना, देवताओंकी पूजा-पद्धति, हवन, व्रतोंके उद्यापन आदिका विवरण भी विस्तारसे दिया गया है। इसके आरम्भमें परिभाषा-प्रकरण है, जिसमें व्रतका लक्षण, देश, अधिकारी, धर्म, प्रायश्चित्त, उपवासधर्म, हविष्य, भद्रमण्डल, देवता, देवपूजन आदि सबकी परिभाषाएँ दी गयी हैं, जिनका सभी व्रतोंमें उपयोग होता है। इसके साथ ही सामान्य परिभाषामें पञ्चपल्लव, पञ्चगव्य, पञ्चामृत, मधुरत्रय, सर्वौषधी, सौभाग्याष्टक, अष्टाङ्ग-अर्घ्य, सप्तमृत्तिका, सप्तधान्य, दशाङ्ग-धूप, होमद्रव्य, सर्वतोभद्र, लिंगतोभद्र, मण्डल-देवता, अग्न्युत्तारण, प्राणप्रतिष्ठा, पूजाके विविध उपचार, उद्वर्तन तथा उद्यापन एवं खण्डितव्रत आदिका वर्णन है। इसीलिये इसका नाम 'परिभाषा-प्रकरण' रखा गया है। तदनन्तर प्रतिपदासे लेकर पौर्णमासी तथा अमावास्याके व्रत, व्रतोंकी कथाएँ, सातों वार-व्रतोंकी कथाएँ एवं व्रत-विधान, मास-व्रत, संक्रान्तिव्रत, लक्षवर्तिकाव्रत तथा मंगलागौरीव्रत और व्रतोंकी उद्यापनविधि दी गयी है। व्रतोत्सवोंके ज्ञानके लिये इस ग्रन्थका अध्ययन विशेष उपयोगी है।
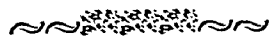
धर्मशास्त्रोंके प्रतिपाद्य विषय

[धर्मशास्त्रका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। श्रुति-स्मृति, पुराण और इतिहास (रामायण, महाभारत) आदि आर्षग्रन्थोंमें जो विषय प्रतिपादित हैं, वे मानवमात्रका मार्गदर्शन करते हैं। मनुष्यको जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त प्रतिक्षण कब क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, साथ ही प्रातःकाल जागरणसे लेकर रात्रि-शयनपर्यन्तकी सम्पूर्ण चर्या और क्रियाकलाप ही धर्मशास्त्रके प्रतिपाद्य विषय हैं।

संसारमें सर्वत्र सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, दरिद्रता-सम्पन्नता, रुग्णता-स्वस्थता और बुद्धिमत्ता-अबुद्धिमत्ता आदि वैभिन्न्य स्पष्टरूपसे दिखायी पड़ता है, पर यह वैभिन्न्य दृष्ट कारणोंसे ही होना आवश्यक नहीं, कारण कि ऐसे बहुत सारे उदाहरण प्राप्त होते हैं कि एक माता-पिताके एक साथ जनमे युग्म बालकोंकी शिक्षा-दीक्षा, लालन-पालन समान होनेपर भी व्यक्तिगत रूपसे उनकी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसे—कोई रुग्ण, कोई स्वस्थ, कोई दरिद्र तो कोई सम्पन्न, कोई अङ्गहीन तो कोई सर्वाङ्ग-सुन्दर इत्यादि। इन बातोंसे यह स्पष्ट है कि जन्म-जन्मान्तरके धर्माधर्मरूप अदृष्ट ही इन भोगोंका कारण है। जीवनमें जो कुछ भी कर्म हम करते हैं, वे ही अदृष्ट अर्थात् हमारे प्रारब्ध बनते हैं। मनुष्य जन्म लेता है, वह अपना अदृष्ट (प्रारब्ध अर्थात् भाग्य) साथ लेकर आता है, जिसे वह भोगता है। हमारे धर्मशास्त्र इन सम्पूर्ण विषयोंका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं और प्राणिमात्रका कल्याण कैसे हो, इसका मार्ग प्रशस्त करते हुए मनुष्यमात्रके कर्तव्यका निर्णय करते हैं। साथ ही ऐहलौकिक जीवनकी सार्थकताके लिये सत्कर्म करनेकी प्रेरणा देते हैं। इसीलिये धर्मशास्त्रके प्रतिपाद्य विषयोंमें मनुष्यकी दिनचर्या, जीवनचर्या, सामान्य धर्म, विशेष धर्म, स्वधर्म, वर्णाश्रम-धर्म, संस्कार, आचार (सदाचार-शौचाचार), विचार, यम-नियम, दान, श्राद्ध-तर्पण, पञ्च महायज्ञ, स्वाध्याय, सत्संग, अतिथिसेवा, देवोपासना, संध्या-वन्दन, गायत्री-जप, यज्ञ, व्रतोपवास, इष्टापूर्त, शुद्धितत्त्व, अशौच, पातक-महापातक, कर्मविपाक, प्रायश्चित्त, पुरुषार्थ-चतुष्टय, भक्ति, अध्यात्मज्ञान आदि विषय समाहित हैं। इस प्रकरणमें यथासाध्य सभी विषयोंपर प्रकाश डालनेका प्रयास किया जा रहा है—सम्पादक]

धर्मशास्त्रोंके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय तथा उनकी प्रासंगिकता

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, एम्० ए० (संस्कृत), बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

'**धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः**'—इत्यादि वचनोंसे 'धर्मशास्त्र' शब्दसे मुख्यरूपसे स्मृतियोंका ही उपलक्षण होता है और स्मृतियोंकी वेदमूलकता भी स्वयं सिद्ध है। स्मृतियाँ मुख्यरूपसे वेदार्थका ही प्रतिपादन करती हैं तथा वैदिक धर्मकी ही व्याख्या करती हैं। स्मृतियाँ आर्ष भारतीय मनीषाके दिव्य चमत्कारिक, प्रातिभ ज्ञान एवं विशिष्ट स्मृतिका अवबोध कराती हैं। इनमें मुख्यरूपसे धर्माचरण एवं सदाचारका पाठ पढ़ाया गया है। स्मृतियोंके साथ ही वेदधाराके सूत्र-साहित्यका भी इसमें विशिष्ट योगदान है। सूत्र-साहित्यमें श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा कल्पसूत्र-ग्रन्थोंका प्राधान्येन परिगणन है। धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र स्मृतियोंके पूर्वपीठिकाके रूपमें प्रसिद्ध हैं। स्मार्त सूत्रोंकी संरचना स्मृतिके आधारपर तथा स्मृतियोंकी संरचना धर्मसूत्रोंके आधारपर मानी गयी है।

धर्मसूत्रोंमें गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, बौधायन, हिरण्यकेशी, हारीत, वैखानस तथा शंखलिखित-धर्मसूत्र विशेष प्रसिद्ध एवं मान्य हैं। इन समस्त सूत्रोंमें धर्मशास्त्रका व्यापक विवेचन-विश्लेषण हुआ है। इन सूत्रोंका मुख्य ध्येय है आचार, विधि-नियम (कानून) तथा क्रिया-संस्कारोंकी विधिवत् चर्चा करना।

स्मृति-साहित्य विशाल तथा विस्तृतरूपमें परिलक्षित है। इनमें विषय-बाहुल्य अथवा व्याख्या-विवेचनकी दृष्टिसे 'मनुस्मृति' तथा 'याज्ञवल्क्यस्मृति' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुस्मृतिमें आचार एवं याज्ञवल्क्यमें व्यवहार (कानून)-से सम्बन्धित विषयोंकी प्रधानता है। सामान्यत: स्मृतियोंमें तीन प्रधान विषयोंपर विवेचन हुआ है—(१) आचार, (२) व्यवहार एवं (३) प्रायश्चित्त। आचारके अन्तर्गत चारों वर्णोंके कर्तव्य-कर्मोंका विधान हुआ है। गृहस्थका कर्तव्य, अन्य आश्रमोंके प्रति उसका व्यवहार, वानप्रस्थका जीवन एवं उसका कर्तव्य, संन्यासीका लक्षण, उसका धर्म और उसके दैनिक आचार, उसकी वृत्ति, ऐसे अन्य अनेक विषयोंका रोचक वर्णन स्मृतियोंमें है। विद्यार्थीके रहन-सहन, कर्तव्य और व्यवहार आदिका वर्णन भी आचारके अन्तर्गत हुआ है। इन विषयोंके अतिरिक्त राजाके कर्तव्य, प्रजाके प्रति उसके व्यवहार, उसके द्वारा दण्ड-विधानके पालन आदिका भी विस्तृत विवेचन है। स्मृतियोंमें वर्णित दूसरा विषय—'व्यवहार' है। वर्तमान परिप्रेक्ष्यमें इसे 'कानून' पदसे अभिहित किया गया है। इसके अन्तर्गत आजकलके फौजदारी और दीवानीके सभी कानून आते हैं। फौजदारी कानूनके अन्तर्गत दण्ड और उसके प्रकार तथा साक्षी और उसके प्रकार एवं शपथ, अग्निशुद्धि, व्यवहारकी प्रक्रिया, न्यायकर्ताके गुण और न्याय-निर्णयका ढंग आदि वर्णित है। इसके अतिरिक्त सीमाका निर्णय, सम्पत्तिका विभाजन, दाय (सम्पत्ति)-के अधिकारी, दायका अंश, स्त्रीधन, करग्रहण (मालगुजारीकी वसूली)-की व्यवस्था, दीवानी और मालके कानून भी वर्णित हैं। प्रायश्चित्त-खण्डमें धार्मिक तथा सामाजिक कृत्योंके न करने अथवा उनकी अवहेलना करनेसे जो पाप होते हैं, उनके प्रायश्चित्तका विधान है।

धर्मशास्त्रका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। समस्त वैदिक वाङ्मयमें धर्मकी ही चर्चा है। उपनिषदादि ग्रन्थ आत्मज्ञान-परमात्मज्ञानरूप धर्मका निरूपण करते हैं। इतिहास-पुराण तथा रामायण आदि ग्रन्थ तो धर्मकी सच्चर्चासे भरे ही पड़े हैं। पुराणों तथा महाभारत आदिके आख्यान-उपाख्यान, धर्म-महिमामें ही पर्यवसित होते दीखते हैं। इस प्रकार सर्वत्र धर्मकी ही बातें है; क्योंकि धर्म ही सबका आधार है और इस धर्मका पालन ही परम कल्याणकारी है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें धर्मशास्त्र-विषयक चर्चा (राजाके कर्तव्य-उत्तरदायित्व आदि) परिलक्षित है। वास्तवमें अर्थशास्त्र भी धर्मशास्त्रकी ही एक शाखा है। जिसका उद्देश्य है पृथ्वीके लालन-पालनके साधनोंका उपाय करना। (अर्थशास्त्र, कौटिल्य १५। १)

धर्मशास्त्रके निरूपणमें रामायण तथा महाभारत-जैसी मूल्यवान् कृतियोंका योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। ये दोनों धर्मके उपादान माने जाते हैं। इन दोनों कृतियोंमें धर्मशास्त्र-विषयक सामग्री प्रभूत मात्रामें उपलब्ध है। महाभारतके तो अवान्तर पर्वोंके नाम भी धर्मपरक हैं, जैसे—मोक्षधर्म पर्व, दानधर्म पर्व इत्यादि। महाभारतमें आश्रमधर्म (शान्तिपर्व, ६१, २४३—२४६), आपद्धर्म (शान्ति० १३१), उपवास (अनु० १०६-१०७), तीर्थ (वनपर्व ८२), दान (वन० १८६), दायभाग (अनु० ४५, ४७), प्रायश्चित्त (शान्ति० ३४, ३५, १६५), भक्ष्याभक्ष्य (शान्ति० ३६, ७८), राजनीति (सभा० ५; वन० १५०; उद्योग० ३३-३४; शान्ति० ५९—१३०), वर्णधर्म (शान्ति० ६०), वर्णसंकर (शान्ति० ६५, २९७), विवाह (अनु० ४४—४६), श्राद्धधर्म (स्त्रीपर्व २६, २७) आदि विषयोंकी विवेचनासे यह धर्मशास्त्रका कोश ही प्रतीत होता है। तथा आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण एवं श्रीरामचरितमानसमें तो धर्मविग्रह भगवान् श्रीरामका ही वर्णन हुआ है, फिर उसकी धर्ममयतामें क्या संदेह! वह तो पद-पदपर धर्मसे अनुस्यूत है।

पुराणोंमें विशेषकर श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, स्कन्द, विष्णुधर्मोत्तर तथा मत्स्यपुराण आदिमें धर्म-सम्बन्धी अनेक विषयोंका उल्लेख हुआ है, जिनमें आचार, आह्निक, आशौच, आश्रमधर्म, भक्ष्याभक्ष्य, वर्णधर्म, दान, कर्मविपाक, पातक, प्रायश्चित्त, राजधर्म, संस्कार, शान्ति, श्राद्ध, स्त्रीधर्म, तीर्थ, उत्सर्ग तथा व्रत और सर्वोपरि धर्म—भगवद्धर्मका निरूपण हुआ है।

स्मृतियाँ तो मुख्यरूपसे 'धर्मशास्त्र' पदकी ही परिचायिकाएँ हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम, नारद, हारीत, वसिष्ठ, शङ्ख, लिखित, आपस्तम्ब, पराशर, दक्ष, संवर्त, अत्रि, पुलस्त्य,

दाल्भ्य, देवल, अंगिरा तथा वाधूल आदि ऋषि-महर्षियोंद्वारा प्रणीत स्मृति-ग्रन्थ उनके नामसे ही प्रसिद्ध हैं। इनमें वर्णधर्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र), आश्रमधर्म (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास), सामान्यधर्म, विशेषधर्म, गर्भाधानसे अन्त्येष्टितकके संस्कार, दिनचर्या, पञ्चमहायज्ञ, बलिवैश्वदेव, भोजनविधि, शयनविधि, स्वाध्याय, यज्ञ-यागादि, इष्टापूर्त धर्म, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, शुद्धि-तत्त्व, पाप-पुण्य, तीर्थ-व्रत, दान, प्रतिष्ठा, श्राद्ध, सदाचार, शौचाचार, अशौच (जननाशौच, मरणाशौच), भक्ष्याभक्ष्य-विचार, आपद्धर्म, दाय-विभाग (सम्पत्तिका बँटवारा), स्त्रीधन, पुत्रोंके भेद, दत्तकपुत्र-मीमांसा और राजधर्म तथा मोक्ष-धर्म एवं अध्यात्मज्ञान इत्यादिका विस्तारसे वर्णन हुआ है।

स्मृतिग्रन्थोंपर अनेक आचार्योंकी टीकाएँ—भाष्य हुए हैं तथा इन विविध विषयोंपर एक-एक विषयको लेकर स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थोंकी रचना भी हुई है। और विविध विषयोंका एकत्र संग्रह भी हुआ है। जैसे हेमाद्रिके पुरुषार्थ-चिन्तामणि तथा कमलाकर भट्टके निर्णयसिन्धुमें स्मृतिग्रन्थों तथा पुराणादिके अनेक विषयोंका संग्रह भी हुआ है।

अनेक भाष्यकारों एवं निबन्धकारोंने अपनी रचनाओंके माध्यमसे धर्मशास्त्रको विकसित एवं प्रकाशित कर एक अहम भूमिकाका निर्वाह किया है, इनमेंसे प्रमुख हैं—मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, हलायुध, पारिजात, गोविन्दराज, जीमूतवाहन, अपरार्क, हेमाद्रि, नृसिंहप्रसाद तथा नागोजिभट्ट आदि। इनकी रचनाओंका आधार प्रमुखरूपसे विभिन्न स्मृतिग्रन्थ तथा व्यवहारशास्त्र (कानून) है। व्याख्याओं एवं निबन्धोंमें आचार्य विज्ञानेश्वरकी याज्ञवल्क्यस्मृतिपर 'मिताक्षरा' नामकी टीका, जीमूतवाहनका दायभाग, शूलपाणिका स्मृतिविवेक, रघुनन्दनका स्मृतितत्त्व, चण्डेश्वरका विवाद-रत्नाकर, वाचस्पतिका विवादचिन्तामणि, देवण्ण भट्टकी स्मृतिचन्द्रिका, नन्दपण्डितकी 'दत्तक-मीमांसा' तथा नीलकण्ठ भट्टका 'व्यवहारमयूख' कानून-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। शूलपाणिका श्राद्धविवेक, श्रीदत्त उपाध्यायका श्राद्धकल्प और समय-प्रदीप, चण्डेश्वरका राजनीति-रत्नाकर, हेमाद्रिका चतुर्वर्गचिन्तामणि, माधवाचार्यका पराशरमाधव, नारायण भट्टका अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु और प्रयोगरत्न, नन्दपण्डितकी शुद्धिचन्द्रिका, कमलाकर भट्टका निर्णयसिन्धु, मित्रमिश्रका वीरमित्रोदय और जगन्नाथ तर्कपञ्चाननका विवादार्णव भारतके विभिन्न भागोंमें विख्यात है। इसमें चण्डेश्वरका राजनीतिरत्नाकर मध्ययुगकी राजनीति जाननेके लिये परम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। हेमाद्रिका चतुर्वर्गचिन्तामणि प्राचीन धार्मिक व्रतों, उपासनाओं तथा आचारोंका विश्वकोश है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति, सभ्यता, परम्परा तथा रीति-रिवाज आदिका विवेचन इन धर्मशास्त्रोंमें व्यापक रूपसे व्यञ्जित है।

धर्मशास्त्रोंमें धर्म तथा सत्यकी रक्षाके लिये एवं समाजका कार्य सुचारुरूपसे चले इस दृष्टिसे अर्थात् समाजको एक अभिन्न सूत्रमें बाँधनेके लिये सामाजिक व्यवस्था अर्थात् वर्णाश्रम आदिकी धर्म-व्यवस्था एवं मर्यादा निरूपित है, जिसके माध्यमसे संकेत दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति इन निर्धारित नियमोंके आधारपर यदि जीवन जीता है, स्व-धर्मका सम्यक् प्रकारसे पालन करता है तो वह सुखी और समृद्ध बन सकता है तथा अपने परम निर्दिष्ट कर्तव्योंको करते हुए लक्ष्यतक पहुँच सकता है। परस्पर सौहार्द, प्रेम एवं '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' आदि उदात्त एवं पवित्र भावनाओंको अङ्गीकार करता हुआ वह स्वयं अपना तथा समाज, राष्ट्र एवं समूचे विश्वका कल्याण कर सकता है। धर्मशास्त्र मनुष्यको सुव्यवस्थित ढंगसे जीनेके लिये प्रेरित करते हैं। पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसे समन्वित जीवन ही उसके लिये श्रेयस्कर माना गया है। इस हेतु मानवका सम्पूर्ण जीवन चार अध्यायों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासमें विभक्त है। ब्रह्मचर्यसे संन्यासतककी यात्रा मानव-जीवनके सम्पूर्ण विकासको अभिदर्शित करती है। सम्पूर्ण जीवनका एक भाग यदि ब्रह्मचर्य-साधना एवं सम्यक् विद्याभ्यास तथा शिक्षार्जनमें व्यतीत किया जाय तो निश्चितरूपसे व्यक्तिमें सम्यक् व्यक्तित्वका उद्घाटन होता है। इसी प्रकार जब वह गृहस्थ-जीवनमें पदार्पण करता है तो उसके कुछ कर्तव्य (अतिथि-सत्कार, पञ्चमहायज्ञ, दान तथा श्राद्ध आदि) होते हैं, जिनका उसे पालन करना होता है। धर्माचरणरूप कर्तव्यमय जीवनसे व्यक्तिकी वृत्ति उन्नत तथा उदारमयी बनती है। गृहस्थजीवनके उपरान्त अधिकारी व्यक्तिको वानप्रस्थ या

संन्यास ग्रहण करनेकी आज्ञा है। इसमें व्यक्ति अपने अन्तिम पुरुषार्थको सार्थक करनेका उपक्रम करता है अर्थात् मोक्षकी ओर प्रवृत्त रहता है। वह ईश्वरका पवित्र सांनिध्य पानेकी जिजीविषामें तल्लीन रहता है। इस प्रकार धर्मशास्त्रोंमें व्यवहृत आश्रमव्यवस्था-सम्बन्धी तथ्यों एवं उसकी उपयोगिताके विषयमें जो बोध होता है, वह निश्चय ही मानव-जीवनके लिये वरेण्य है, उपादेय है।

जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त हिन्दू संस्कृतिसे अनुप्राणित मानव-जीवन संस्कारोंमें आबद्ध है। धर्मसम्मत संस्कारोंके माध्यमसे मानव-जीवनको जहाँ समानता तथा धर्मपरायणता आदिके सूत्रमें पिरोया जा सकता है, वहीं उसे सुसंस्कृत भी बनाया जा सकता है। ऐसी सुसंस्कृत संस्कृति भारतीय सनातन संस्कृति है, जिससे सारे विश्वने ज्ञान प्राप्त किया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २। २०)

पञ्चमहायज्ञ एवं शौचाशौच नामक धार्मिक क्रियाएँ जीवनको बाह्य एवं अन्तरङ्ग दोनों रूपोंमें परिशुद्ध करती हैं अर्थात् इनके माध्यमसे जीवन पापसे निष्पापकी ओर प्रवृत्त होता है, उसका शरीर तथा अन्तःकरण परम पवित्र हो जाता है। वास्तवमें काम-क्रोधादिजन्य विकार व्यक्तिको अशुचिता प्रदान करते हैं। बिना शुचिता—निर्मलताके यज्ञ, धर्म, ध्यान, उपासना आदि सभी कर्म व्यर्थ हैं, निस्सार हैं। सांसारिक विषय जिनमें चित्तकी मलिनता समायी रहती है, ब्रह्मतक पहुँचनेमें सर्वथा बाधक सिद्ध हुए हैं, अतः उनका त्याग—परित्याग जीवनकी सर्वोत्तम साधना है।

संग्रहात्मक प्रवृत्तिमें विकार-दूषण अर्थात् मोह-मायाका जब समावेश होता है तो संग्रह द्वन्द्व-संघर्षका रूप धारण करनेमें सहायक बनता है। इस प्रवृत्तिसे बचनेके लिये तथा अर्जन-उपार्जन-वृत्तिको उत्पन्न करनेके लिये दान एक आवश्यक साधन है, जिसे निःस्वार्थ-भावसे सम्पन्न करना-कराना चाहिये। धर्मशास्त्रोंमें दान-विषयक चर्चा निश्चितरूपसे समाजको दानकी ओर प्रेरित कर उसके अभ्युदय-निःश्रेयसका मार्ग प्रशस्त करती है। दानोंमें भी सात्त्विक दानकी विशेष महिमा है, तामसदानको निन्दित बतलाया गया है। परोपकार, सेवाकी दृष्टिसे किया गया सत्कर्म भी दानका ही एक अङ्ग माना गया है।

भजन और भोजन—ये दो वृत्तियाँ व्यक्तित्व-निर्माणमें अहम भूमिकाका निर्वाह करती हैं। यह लोकोक्ति भी है कि *'जैसा खाये अन्न वैसा बने मन'* इसीको ध्यानमें रखकर धर्मशास्त्रोंमें भक्ष्याभक्ष्यपर गहन चिन्तन हुआ है। भक्ष्याभक्ष्यका सीधा सम्बन्ध भोजनसे है। क्या खाना चाहिये और क्या नहीं खाना चाहिये तथा किसका खाना चाहिये और किसका नहीं? इस विषयमें धर्मशास्त्रोंमें विस्तृत नियम निर्धारित हैं। स्मृतियोंमें भोजनके विधि-निषेधके विषयमें व्यवस्थाएँ दी गयी हैं, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, वसिष्ठधर्मसूत्र, मनुस्मृति (६। २०७—२२३) तथा याज्ञवल्क्यस्मृति (१। १६७—१८१)-में इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है। सांसारिक विषय-वासनाओंको उद्दीप्त करनेवाले पदार्थ अभक्ष्य तथा धर्मसाधनामें प्रवृत्ति एवं कर्तव्य-दायित्वोंके प्रति सतत जागरूकता लानेवाले पदार्थ वस्तुतः भक्ष्य कहलाते हैं। धर्मशास्त्रोंमें अभिव्यक्त भक्ष्याभक्ष्य-सम्बन्धी तथ्य निश्चितरूपसे समाजके लिये उपादेय हैं। इससे व्यक्ति अपने आहार अर्थात् भोज्य-सामग्रीके संदर्भमें सदा सचेष्ट रहता है।

इस प्रकार धर्मशास्त्रके सांस्कृतिक पक्षके अध्ययनसे जहाँ एक ओर समाजको एक व्यवस्थित रूप मिलता है, वहीं दूसरी ओर सूत्रात्मक शैलीमें जीवन जीनेका मार्ग प्रशस्त होता है।

धर्मशास्त्रोंमें राजविधि और व्यवहार-विषयक तथ्योंका प्रभूत मात्रामें वर्णन हुआ है, जिससे लोगोंमें तत्कालीन राज्योंकी, राजा-प्रजा तथा उनकी सम्पत्ति आदिके बारेमें अनेक जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। न्याय और दण्डनीति धर्मशास्त्रके अभिन्न अङ्ग हैं। जीवनसे सत्य और धर्म जब पलायन कर जाते हैं, तब न्याय और दण्डकी आवश्यकता प्रतीत होती है। पवित्र आचरण और व्यवहार-हेतु दण्ड ही एक ऐसा साधन है, जिसके भयसे व्यक्तिका अन्तःकरण पाप या अनीति-कर्म न करनेको उद्यत रहता है। वास्तवमें न्याय और दण्डके माध्यमसे व्यक्ति असत्से सत्की ओर प्रवृत्त होता है। उसके जीवनमें अनुशासनात्मक प्रवृत्ति उद्भूत होती है। मनु आदिके शासन-विधान सभी कालोंमें सभीके लिये मान्य रहे हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्रोंमें

अभिव्यक्त न्याय और दण्डनीतिके माध्यमसे हमें न्याय, न्यायनिर्धारणकी नीति, अपराध और दण्डनीति तथा प्रयोग-पद्धति आदिका परिज्ञान होता है।

धर्मशास्त्रोंमें दुष्कर्मों या पापोंका फलवान् होना 'कर्मविपाक' शब्दसे अभिव्यञ्जित है। कर्मविपाककी मूलभित्ति हैं जीव और कर्म। जीव जब दुष्कर्म या पापकर्म करता है और वह इन कृत्योंका प्रायश्चित्त भी नहीं करता तो धर्मशास्त्र ऐसे जीवोंको नारकीय यातनाएँ भोगनेके उपरान्त पापकृत्योंके अवशिष्ट चिह्न-स्वरूप कीट-पतंगों या निम्न कोटिके जीव या वृक्षके रूपमें पुनः जन्म एवं मनुष्य-रूपमें जन्म लेनेपर रोगों एवं कुलक्षणोंसे युक्त होनेकी बात बताते हैं। कर्मविपाकसे यह प्रकट होता है कि किसी प्रकार पापसे सम्पृक्त जीव अपने पापों (दुष्कृतों)-को समाप्त कर मानव-रूप धारण करता है और प्रायश्चित्त न करनेके कारण रोगों एवं शारीरिक दोषोंसे ग्रसित होता है।[1] कर्मविपाक वस्तुतः प्राणीको नैराश्यपूर्ण जीवन जीनेकी अपेक्षा अन्तस्में प्रतिष्ठित आत्माके वास्तविक स्वरूपको पहिचाननेका अवसर प्रदान करता है। वास्तवमें समस्त जीवन कर्मविपाकपर आधृत है। कर्मविपाककी रहस्यमयी गुत्थियोंके अनावृत होनेपर ही संसारी जीव जन्म-मरणके दारुण दुःखोंसे मुक्त होकर अनन्त आनन्दमें विलीन हो जाता है। अर्थात् परमात्मपदका सामीप्य प्राप्त करता है। सम्भवतः उसके जीवनका यही अभीष्ट लक्ष्य है। व्यक्ति कर्म करता है, पुरुषार्थ करता है। उसका यह कर्म—पुरुषार्थ दो प्रकारका होता है—एक प्रवृत्तिपरक तथा द्वितीय निवृत्तिपरक। प्रवृत्तिपरकमें इहलोकका आनन्द एवं मृत्युपर्यन्त स्वर्गकी प्राप्ति तथा निवृत्तिपरकमें पारलौकिक आनन्दकी अनुभूति अर्थात् ब्रह्मकी अनुभूति अर्थात् निःश्रेयसकी प्राप्ति गर्भित है। प्रवृत्तिपरक कर्मोंमें नैरन्तर्य कार्यशीलता पायी जाती है। जबकि निवृत्तिमें लौकिक क्रियाओं एवं अभिकांक्षाओं या मनःकामनाओंका सर्वदा अभाव रहता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कर्मविपाक व्यक्तिके अन्तस्में सुप्त-प्रसुप्त चेतनाको झंकृत कर धर्ममय जीवन जीनेकी ओर अर्थात् अशुभसे शुभ और शुभसे शुद्ध सत्-कर्म करनेकी ओर अभिप्रेरित करता है। व्यक्ति किस प्रकार आत्मकल्याण एवं लोक-कल्याणके कार्य कर सकता है और उसका उसे क्या फल मिलता है, इस विषयको धर्मशास्त्रोंमें इष्टापूर्त धर्म, प्रतिष्ठा तथा उत्सर्ग धर्म नामसे विवेचित किया गया है। इष्ट धर्मोंमें अधिकारी व्यक्तियोंद्वारा मुख्यरूपसे यज्ञ-यागादि वैदिक श्रौतकर्मोंका सम्पादन होता है और पूर्तधर्ममें विशुद्ध परोपकार एवं जनकल्याणकी भावनासे तालाब, कुआँ, बाग-बगीचा, मन्दिर, धर्मशाला, पौसला आदि बनवाना, उनकी व्यवस्था करवाना तथा जीर्णोद्धार आदि तथा गोचर-भूमिकी व्यवस्था करना एवं फलदार तथा छायादार वृक्ष लगाना आदि है।

धर्मशास्त्रोंमें यह अभिव्यक्त है कि इष्ट और पूर्त—इन दोनों प्रकारके कल्याणपरक साधनका निर्माण करने-करानेसे निर्मापकको जहाँ एक ओर शान्ति तथा प्रसन्नता मिलती है, वहीं दूसरी ओर इनके माध्यमसे वह अपने पापोंका शमन कर संसारसे अपनी मुक्तिका मार्ग भी प्रशस्त कर लेता है। धर्मशास्त्रोंमें पूर्त-धर्मके माहात्म्यको प्रदर्शित करते हुए यहाँतक कहा गया है कि यज्ञादिसे व्यक्ति मात्र स्वर्गका अधिकारी होता है, किंतु पूर्त कर्मोंसे वह मुक्तिका भी अधिकारी बन जाता है—

इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्ते मोक्षमवाप्नुयात्॥

(लिखितस्मृति १)

इस प्रकार धर्मशास्त्रोंमें व्यक्तिके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सभी पक्षोंका विस्तारसे विवेचन हुआ है। धर्मशास्त्र हमें अच्छे आचारवान् बननेकी शिक्षा देते हैं, सद्व्यवहार सिखाते हैं, सबसे मैत्री, करुणा, प्रेम करना सिखलाते हैं, सच्चा मानव बननेकी प्रेरणा देते हैं और अपने कर्तव्यका अवबोध कराते हुए ऊँची स्थितिमें पहुँचनेका संदेश देते हैं। इस दृष्टिसे धर्मशास्त्रीय नियम सभीके लिये सब समयोंमें परम कल्याणकारी हैं।
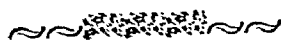
१-आयुर्वेदशास्त्रमें भी रोगोंकी उत्पत्तिमें पाप-कर्मको ही मुख्य हेतु बतलाया गया है।

मानव-धर्म या सार्ववर्णिक धर्म

प्रजापतिकी इस सृष्टिमें चेतन-तत्त्वका प्रकटीकरण विशेषतया दो वर्गों—मानव एवं पशुमें होता है। महाकवि भर्तृहरिने इन दोनोंके विषयमें बताया है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् खाना-पीना, नींद तथा मृत्यु आदिका भय और संतानोत्पत्ति—ये क्रियाएँ मनुष्य और पशुओंमें समान ही होती हैं। मनुष्यमें केवल एक धर्म ही विशेष रहता है। जो मनुष्य धर्महीन होता है, वह पशु ही है। यह धर्म क्या है? भगवान् मनुने अपने ग्रन्थ मनुस्मृति (६। ९२)-में धर्मका लक्षण इस प्रकार दिया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् धैर्य, सहनशीलता, काम एवं लोभपर संयम, चोरी न करना, कायिक, वाचिक एवं मानसिक पवित्रता, इन्द्रियोंपर अधिकार, ज्ञान, अध्ययनशीलता, सत्यका आचरण और क्रोधका अभाव—ये दस धर्मके लक्षण हैं।

छोटा-सा दीखनेवाला यह श्लोक अर्थमें कितना गम्भीर है, इसका अनुमान हम प्रत्येक लक्षणके सम्बन्धमें किये गये निर्देशोंसे लगायेंगे।

धृति—

इन दस लक्षणोंमेंसे प्रथम लक्षण है—'धृति।' इसके विषयमें अन्य शास्त्रोंके उद्गार स्मरणीय हैं। भगवान् श्रीकृष्णने धृतिकी गणना अपनी विभूतियोंमें की है। श्रीमद्भागवतमें इसका लक्षण बतलाया गया है—'**जिह्वोपस्थजयो धृतिः**।' अर्थात् जीभ एवं जननेन्द्रियपर जो संयम है, वही 'धृति' कहलाता है। धृतिको धारण करनेवाला 'धीर' कहलाता है। इस धीर पुरुषके विषयमें महाकवि कालिदासने अपने महाकाव्य कुमारसम्भवमें कहा है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

अर्थात् मनमें विकार उत्पन्न होनेके कारण मौजूद होनेपर भी जिसका मन या चित्त विकृत नहीं होता, वही '**धीर**' है। इस धैर्य या धृतिकी साधना कठिन है, पर प्रयत्नसाध्य अवश्य है।

क्षमा—

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार यह भी भगवान् श्रीकृष्णकी एक विभूति है। इस अलौकिक गुणके बारेमें कभी-कभी भ्रान्त धारणा हो जाया करती है। निर्बल या कायर लोग तथाकथित क्षमाका अवलम्बन करके अन्यायोंको सहन कर लेते हैं और गर्व करते हैं कि वे क्षमावान् हैं, किंतु सही बात तो यही है—

क्षमा वीरस्य भूषणम्।

अर्थात् क्षमा वीरके लिये अलंकाररूप है। शक्ति होनेपर भी जो मनुष्य अपने दिमागपर प्रभुत्व जमाये रहते हैं, वे ही यथार्थ रीतिसे क्षमावान् हैं। इसका भी अतिरेक न होने पाये, इसीलिये महाभारतमें कहा गया है—

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता॥

अर्थात् 'निरन्तर उग्रता भी श्रेयस्कर नहीं है और नित्य क्षमा भी श्रेयरूप नहीं है। अतः हे तात! पण्डितगण नित्यकी क्षमाका निषेध करते हैं।' किंतु क्षमा श्रमसाध्य होती है। अतः जो मनुष्य क्षमावान् है,वह धन्य है, क्योंकि क्षमावृत्तिको प्राप्त किये बिना मनुष्य आत्मौपम्यका अनुभव कर ही नहीं सकता। मनुष्य अपने-आपको बहुधा क्षमा कर देता है, तो फिर इस वृत्तिका विस्तार क्यों न किया जाय? मनुष्य दोषोंका बड़ा भारी संग्रहस्थान है। अतः कहा गया है—

स्खलितः स्खलितो वध्य इति चेन्निश्चितं भवेत्।
द्वित्रा यद्येव शिष्येरन् बहुदोषा हि मानवाः॥

अर्थात् जो-जो मनुष्य स्खलन या अपराध करता है, उस-उसका वध कर देना चाहिये—यदि ऐसा निर्णय कर दिया जाय तो केवल दो-तीन मनुष्य ही शेष रह जायँगे, क्योंकि मनुष्योंमें दोष अनेक होते हैं। इस संसारमें मानवोंके आदर्श एवं आग्रह आदिमें भेद रहेंगे ही, अतः सामाजिक जीवनको शक्य बनानेके लिये इन सबको साधारणतया सहन कर लेनेकी शक्तिका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तवमें राग-द्वेषयुक्त मनुष्य किसीको दण्ड देनेका अधिकारी नहीं है। यह अधिकार तो केवल सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, समदृष्टि परमात्माके ही हाथोंमें होना चाहिये।

दम—

इन्द्रियाणां जयो लोके दम इत्यभिधीयते।
नादान्तस्य क्रियाः काश्चिद् भवन्तीह द्विजोत्तमाः॥

अर्थात् इस लोकमें इन्द्रियोंके ऊपर प्राप्त की हुई विजयको 'दम' कहते हैं। हे उत्तम ब्राह्मणो! जो मनुष्य दमयुक्त नहीं है, उसकी कोई क्रिया सफल नहीं होती। इन्द्रियाँ और उनके विषयोंके बीच जो सम्बन्ध है, वह अविभेद्य है। किंतु इसीलिये इन्द्रियाँ यथेच्छ आचार करने लगें, यह परिस्थिति तो कभी क्षम्य नहीं मानी जा सकती। मनुस्मृतिमें बताया गया है—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छति मानवः।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(२। ९३)

अर्थात् इन्द्रियोंके विशेष संगसे मनुष्य दोषको प्राप्त होता है, परंतु इन्द्रियोंको काबूमें रखनेसे वही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यह किस तरह हो सकता है? इसके उत्तरमें मनुने ही कहा है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥

अर्थात् जो मनुष्य सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर एवं सूँघकर हर्ष या ग्लानिका अनुभव नहीं करता, वही 'जितेन्द्रिय' कहलाता है। किंतु यहाँ एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि बलात् इन्द्रियोंको रोक देनेसे ही लाभ नहीं होता। आवश्यक तो है मनके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह करना। जो मानव अपनी कर्मेन्द्रियोंको रोककर मन-ही-मन विषयोंका स्मरण करता है, उसको गीता 'मिथ्याचार' कहती है। यहाँ हम एक बात स्मरणमें रखें—इस संसारमें हमारे देहगत जीवनकी अपेक्षा हमारा समाजगत जीवन ही व्यापक दीर्घकालीन एवं अर्थपूर्ण होता है। अतएव हम अपनी देहगत वासनाओंको रोककर अपने सामाजिक जीवनको शुद्ध एवं निष्पाप बनायें। यही आवश्यकता है। ऐसा करनेपर हमारा पारस्परिक व्यवहार स्वयं ही शान्तिपूर्ण एवं व्यवस्थित बना रहेगा।

अस्तेय—

नारदस्मृतिने इसका लक्षण दिया है—

उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वापकर्षणम्।
सुसमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः॥

सुप्त, पागल और असतर्क मनुष्यसे विविध उपायोंद्वारा छल करके किसी भी चीजको ले लेना चोरी है। अतएव वेदकालसे हमारे ऋषि-मुनियोंने उपदेश दिया है—

मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (ईशावास्य०)

अर्थात् किसीके द्रव्यकी लालसा मत रखो। यदि इस वृत्तिको हम अपने जीवनमें उतार लें तो हम अपने दैनन्दिन व्यवहारोंमें भी श्रेष्ठ बन सकेंगे। जो इस वृत्तिकी उपासना करते हैं, उनके लिये महर्षि पतञ्जलि गारंटी देते हैं—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

अर्थात् जो मनुष्य अस्तेय धर्मको सिद्ध कर लेता है, उसके पास सब प्रकारके रत्न उपस्थित हो जाते हैं।

शौच या शुचिता अथवा पवित्रता

इस गुणका एक स्वरूप सामाजिक है और दूसरा केवल वैयक्तिक। किंतु हमें यहाँ एक बात स्मरणमें रखनी चाहिये कि ये दोनों स्वरूप परस्परके विरोधी नहीं हैं, एक दूसरेके पोषक तथा पूरक अवश्य हैं। मनुष्य अरण्यमें भी निवास करता होगा तो भी उसे स्वच्छता अवश्य पसंद होगी, समाजमें रहनेपर इस रुचिमें वृद्धि हो जाती है। अपना शरीर, आहार, उपयोगी चीजें आदि स्वच्छ और व्यवस्थित हों—ऐसा प्रत्येक सुसंस्कृत मनुष्यका आग्रह रहता है।

किंतु स्वच्छता दो प्रकारकी मानी जानी चाहिये—शारीरिक एवं मानसिक। मिट्टी तथा जलसे जो स्वच्छता उत्पन्न होती है, वह शारीरिक या 'बाह्य शौच' है। मनको पवित्र करना 'आन्तरिक शौच' कहा जाता है। इस विषयमें भगवान् मनुका वचन स्मरणीय है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥
(मनुस्मृति ५। १०९)

अर्थात् जलके द्वारा शरीरके अवयव शुद्ध होते हैं, सत्य वचनके द्वारा मनकी शुद्धि होती है, ब्रह्मविद्या एवं तप आदिके द्वारा जीवात्माकी शुद्धि होती है और ज्ञानके द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। तो ये सभी उपाय मनुष्यकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी शुचिता या पवित्रताके साधक हैं। किंतु मनुमहाराजके

अभिप्रायमें सर्वश्रेष्ठ शौच तो अर्थशौच ही है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनु॰ ५। १०६)

अर्थात् सब प्रकारकी शुद्धियोंमें न्यायसे प्राप्त किये हुए धनकी शुद्धि श्रेष्ठ मानी जाती है। जो मनुष्य न्यायपूर्वक प्राप्त किये हुए धनसे शुद्ध है, वही वास्तवमें शुद्ध है। मृत्तिका एवं पानीके द्वारा शुद्ध मनुष्य सही अर्थमें शुद्ध नहीं माना जा सकता। हमारी शुद्धिकी वृत्ति हममें दैवी भावनाओंकी वृद्धि एवं आसुरी भावनाओंका विनाश करती है।

इन्द्रिय-निग्रह—

सब धर्मोंमें इन्द्रियोंके निग्रहपर मीमांसा की गयी है। यह आवश्यक भी है, क्योंकि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥

अर्थात् जैसे जलके वर्तनमें छिद्र होनेके कारण उसमेंसे जल वह जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंके समूहमेंसे किसी भी एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त होनेपर मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अतएव ईसाने अपने गिरिप्रवचनमें आज्ञा दी है, जिसका भाव इस प्रकार है—'यदि तुम्हारी दाहिनी आँख तुम्हें नीचा दिखानेमें कारण बनती है तो उसे बाहर निकालकर अपनेसे दूर फेंक दो, क्योंकि तुम्हारे सम्पूर्ण शरीरको नरकमें झोंका जाय, इसकी अपेक्षा तुम्हारा लाभ इसमें है कि तुम्हारा अन्यतम अवयव नष्ट हो जाय और यदि तुम्हारा दाहिना हाथ तुम्हारी अपकीर्तिका कारण बनता है तो उसे काटकर अपनेसे दूर फेंक दो, क्योंकि तुम्हारे सारे शरीरको नरकमें झोंक दिया जाय, इसकी अपेक्षा तुम्हारा लाभ इसमें है कि तुम्हारा एकतम अवयव नष्ट हो जाय।'

ईसामसीहकी यह वाणी इन्द्रियनिग्रहके विषयमें हमें जाग्रत् रहनेकी कैसी अच्छी चेतावनी देती है! किंतु हमें यहींपर एक बातका विचार करना चाहिये। क्या इन्द्रिय यदि किसी भी प्रकारके विकारका अनुभव करने लगे तो उसका नाश कर देने मात्रसे समस्या हल हो जायगी? हम जानते हैं कि ऐसा नहीं होता। मुख्य बात है—इन्द्रियोंके व्यापारोंके साथ मन या चित्तकी उपस्थितिकी। दूसरे शब्दोंमें कहें तो इन्द्रियोंके सारे व्यापार मनोवृत्तिके द्वारा ही अच्छा या बुरा रूप धारण करते हैं। तब मनुष्यको क्या करना चाहिये?

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥

(मनु॰ २। ८८)

'अपनी ओर खींचनेके स्वभाववाले विषयोंमें विचरण करनेवाली इन्द्रियोंको कुशल सारथिके सदृश मनुष्य यत्नपूर्वक काबूमें रखे।'

अतएव सच्चा इन्द्रिय-निग्रह तो मनके द्वारा ही होता है, तथापि शरीरके द्वारा भी विषय-सेवनसे वचना बहुत लाभदायक है। प्रथम तो इन्द्रियाँ विषयोंमें लगी रहेंगी तो वह मनको खीचेंगी ही।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ (गीता २। ६०)

दूसरे, इन्द्रियोंकी क्रियासे दूसरोंकी भी हानि होगी, मनके रममाण होनेसे केवल अपनी ही हानि होगी। अतः मनका संयम परमावश्यक है।

धी अथवा विज्ञान—

विज्ञानको समझाते हुए अष्टावक्र-गीतामें बताया गया है—

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥

'विषयोंमेंसे रसका चला जाना ही मोक्ष है और विषयोंमें रसका होना ही बन्धन है। विज्ञान इतना ही है। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें।' इस संसारमें विषयरूपी विषोंसे बचते रहना आवश्यक है, क्योंकि ये विषय वस्तुतः विषसे भी बढ़कर भयंकर हैं। विषके तो खानेपर मनुष्य मरता है या किसी प्रकारकी विकृतिका अनुभव करता है, किंतु विषयोंका तो केवल ध्यान ही पतनके लिये पर्याप्त है। इनके बारेमें गीताने बहुत सफल रीतिसे बताया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

(२। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन-उन विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामनाका उदय होता है, कामनाकी पूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर क्रोध होता है,क्रोधसे मूढत्व होता है, मूढत्वसे स्मृति-विभ्रम उपस्थित होता है, स्मृतिके नष्ट होनेपर बुद्धिका नाश हो जाता है एवं बुद्धिका नाश हो जानेपर मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है।'

अतः ये विषय इतने भयानक हैं कि इनका चिन्तन ही मनुष्यको क्रमशः अधःपतनके मार्गपर ले जाकर उसका सर्वथा नाश कर देता है। इसी जानकारीको विज्ञान कहते हैं। इसीका नाम 'धी' है।

विद्या—

'विद्या-शब्दकी निरुक्ति करते हुए बताया गया है—

विद्याद्यदाभिर्निपुणं चतुर्वर्गमुदारधीः।
विद्यात् तदासां विद्यात्वं विदिर्ज्ञाने निरुच्यते॥

जिन विद्याओंके कारण चतुर बुद्धिवाला मनुष्य धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है, वे ही विद्याएँ कहलाती हैं। अतएव कहा गया है—'**नास्ति विद्यासमं चक्षुः।**'

केवल अमुक विषयोंकी जानकारी ही विद्या नहीं है। वास्तवमें जो विद्या मनुष्यको राग-द्वेष, क्रोध-वैर आदि मानव-मनकी क्षुद्र वृत्तियोंसे मुक्ति दिलाती है, वही विद्या है। यदि मनुष्यके पास इस प्रकारकी विद्या होगी तो वह विद्यापीठोंके प्रमाणपत्रोंके अभावमें भी सच्चा विद्यावान् होगा।

सत्य—

वाल्मीकिरामायणमें बताया गया है—

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।

धर्मको जाननेवाले लोग सत्यको ही परम धर्म मानते हैं। तो यह सत्य है क्या? इसके बारेमें महाभारतकी दो सूक्तियाँ मननीय हैं—

(१) **यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा।**
(२) **सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।**
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश॥

जो भूतोंके लिये कल्याणकारी है, वही सत्य है और पक्षपातका अभाव, इन्द्रियजय, अमात्सर्य, सहिष्णुता, लज्जा, दुःखोंको अप्रतिकारपूर्वक सहन करनेकी क्षमता, गुणोंमें दोषोंका दर्शन न करना तथा त्याग, ध्यान, करने योग्य कार्यको करनेकी एवं न करने योग्य कार्योंको न करनेकी आन्तरिक वृत्ति और धृति, स्व तथा परका उद्धार करनेवाली दया और अहिंसा—ये तेरह सत्यके ही आकार हैं। हमारे धर्मने तो सत्यको नारायणका स्वरूप मानकर सत्यनारायण नामक देवकी प्रतिष्ठा की है। इससे बढ़कर सत्यका महत्त्व क्या हो सकता है। केवल यही गुण मनुष्यके शान्तिपूर्ण सामाजिक जीवनके लिये पर्याप्त है।

अक्रोध—

क्रोध मनका भाव है, जो कामके प्रतिहत होनेपर उत्पन्न होता है और शारीरिक चेष्टाओंद्वारा वह प्रकट होता है एवं जब वह प्रकट होता है, तब हम अवशतया हिंसाका आश्रय स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा होनेके कारण श्रीमद्भगवद्गीतामें नरकके तीन द्वार—काम, क्रोध एवं लोभमें इसकी गणना की गयी है। जैन-शास्त्र भी पुकारकर कहते हैं कि यदि क्रोध करना ही हो तो क्रोधके ऊपर ही करना चाहिये। क्रोधको चण्डाल कहकर लोग उसकी निन्दा करते हैं। क्रोधसे मनुष्य अंधा बन जाता है। अतः क्रुद्ध होनेवालेकी ही हानि होती है।

इस प्रकार हमने धर्मके दस लक्षणोंको अच्छी तरहसे देखा। यदि इन दस लक्षणोंका समन्वय हमारे दैनन्दिन व्यवहारमें किया जाय तो हमारा सामाजिक जीवन अति उत्तम बन जाय। किंतु यदि अत्यन्त संक्षेपमें ही इस प्रकारके जीवनकी चाभी चाहिये तो लीजिये—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।—

Do unto others as you would have them do unto you.
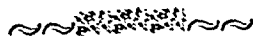
धर्मशास्त्रोंमें वर्णित 'पञ्चमहायज्ञ'

(स्वामी श्रीदत्तात्रेयानन्दजी एम्० ई० (योगनाथ स्वामी))

'गृहस्थाश्रम' के नित्यकर्मोंमें 'पञ्चमहायज्ञ' समाविष्ट है। धर्मशास्त्रोंमें पञ्चमहायज्ञको गृहस्थ द्विजातिके लिये आवश्यक कर्तव्य कहा है। इस विषयमें मनुस्मृति (३। ७०)-में कहा गया है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥[1]

वेद पढ़ाना 'ब्रह्मयज्ञ' है। इसमें 'स्वाध्याय' भी समाविष्ट है। तर्पण 'पितृयज्ञ' है। इसमें 'श्राद्ध', 'तर्पण' और 'पिण्डदान' भी समाविष्ट हैं। देवताओंका पूजन और हवन 'देवयज्ञ' है। बलिवैश्वदेव तथा पञ्चबलि 'भूतयज्ञ' तथा अतिथिपूजन 'मनुष्ययज्ञ' है।

गृहस्थाश्रम केवल सुखोपभोग-हेतु नहीं है, अपितु गृहस्थाश्रमके कर्तव्य सुचारुरूपसे करनेके लिये है। इन कर्तव्योंका स्मरण रखनेके लिये प्रत्येक द्विजाति आस्तिक गृहस्थीको नित्य ही 'पञ्चमहायज्ञ' करनेकी आज्ञा धर्मशास्त्रोंने दी है। ये महायज्ञ बड़े-बड़े यज्ञों-जैसे नहीं हैं, फिर भी गृहस्थाश्रममें इन पाँचोंका बड़ा महत्त्व है। इसलिये इन्हें 'पञ्चमहायज्ञ' कहा गया है। यहाँ संक्षेपमें इनका विवरण दिया जा रहा है—

(१) ब्रह्मयज्ञ—इस यज्ञके दो अङ्ग हैं—(१) वेदोंका अध्ययन और (२) वेदोंका अध्यापन। ब्रह्मचर्याश्रममें किये गये वेदादि शास्त्रोंके अध्ययनकी गृहस्थाश्रममें स्वाध्यायके अभावमें विस्मरण होनेकी सम्भावना रहती है, इसलिये अध्ययन किये हुए वेद-वेदाङ्गमेंसे कुछ भागका नित्य पाठ करना चाहिये। 'अध्यापन'से बुद्धिमें वृद्धि होती है, अध्ययन किये हुए विषयोंके अर्थ अधिकाधिक स्पष्ट होते हैं, अतः 'अध्यापन'को भी 'ब्रह्मयज्ञ'में स्थान दिया गया है। संध्या-वन्दनके बाद द्विजमात्रको प्रतिदिन वेद-पुराणादिका पाठ अवश्य करना चाहिये।

'ब्रह्मयज्ञ'का उल्लेख शतपथब्राह्मण (११। ५। ६। ३—८)-में मिलता है। वेद, वेदाङ्ग, विविध विद्या, इतिहासपुराणगाथा इत्यादि वाङ्मयका समावेश 'ब्रह्मयज्ञ'-के स्वाध्यायमें है। गायत्रीमन्त्रके जप करनेसे भी 'ब्रह्मयज्ञ'की पूर्ति होती है।

'ब्रह्मयज्ञ'के अन्तमें तदङ्गभूत 'तर्पण' होता है। इस यज्ञकार्यसे देवता संतुष्ट होते हैं और यज्ञकर्ताको आयु, आरोग्य, समृद्धि, कान्ति, यश तथा आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करते हैं।

(२) पितृयज्ञ—स्मृतिकारोंने 'पितृयज्ञ'के दो भाग बतलाये हैं—(१) तर्पण, (२) पिण्डदान—श्राद्ध। 'पितर' कई नामवाले हैं—सोमप, अग्निष्वात्त तथा बर्हिषद् इत्यादि। पिता, पितामह तथा प्रपितामह—ये वसु, रुद्र तथा आदित्यस्वरूप हैं। 'पितर' गृहस्थकी वंशसंतति अविच्छिन्न रखते हैं। पुत्रोंद्वारा दिये गये अन्न-जल आदि श्राद्धीय द्रव्यसे पितर संतृप्त होकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं और उन्हें लम्बी आयु, संतति, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, सुख तथा अखण्ड राज्य भी प्रदान करते हैं।[2] अतएव 'पितृयज्ञ'द्वारा उनका (पितरोंका) स्मरण करना, उनको जलदान देना, पिण्डदान देना इत्यादि आवश्यक कर्तव्य माना गया है। मनुस्मृति (३। ८२)-में कहा है—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥

'गृहस्थाश्रमी अन्नादि (तिल, व्रीहि तथा धान्य)-से अथवा जल, दूध, मूल और फलोंसे पितरोंको संतुष्ट करता हुआ (यथासम्भव) प्रतिदिन 'श्राद्ध' करे।'

(३) देवयज्ञ—'स्वाहा' शब्दका उच्चारण करके यज्ञकी पवित्र अग्निमें देवताओंको आहुतियाँ दी जाती हैं। 'देवता' सूक्ष्म-शरीरी होनेके कारण अग्निमें हवन किये गये द्रव्यकी

१-इसी विषयको याज्ञवल्क्यस्मृतिमें इस प्रकार कहा गया है—
बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः । भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः॥ (याज्ञ० स्मृति० १। १०२)

२-वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः । प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितृन् श्राद्धेन तर्पिताः॥
आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च । प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥ (याज्ञ० १। २६९-२७०)

गंधसे ही संतुष्ट होते हैं।

'देवयज्ञ'का सरल अर्थ है 'देवताओंका पूजन'। इसमें अपने अभीष्ट देवताके पूजन तथा पञ्चदेव-पूजन आदिकी परम्परा है। इस पञ्चायतनमें (१) शिव, (२) शक्ति, (३) गणेश, (४) सूर्य और (५) विष्णु—ये पाँच देवता हैं। एक ही देव पाँच स्थानोंमें प्रकट होकर पाँच भिन्न-भिन्न 'नाम'को प्राप्त होते हैं। प्रत्येक द्विजको संध्या करते समय सूर्यरूपमें परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये, अतः पञ्चायतनमें सूर्यकी गणना है। सूर्य प्रत्यक्ष देवता हैं। 'शिव' सुखकर मङ्गलमय परमेश्वर हैं। 'विष्णु' सर्वव्यापक प्रभु हैं। 'शक्ति' जगन्माता हैं और समग्र जगत्‌को उत्पन्न करनेवाली महाशक्ति हैं। 'गणेश' (गणपति) गणोंके ईश हैं, वाणी—विद्याके देव हैं, समस्त विघ्नोंका हरण करनेवाले, दुःखहर्ता एवं सुखकर्ता देव हैं।

(४) **भूतयज्ञ**—प्रत्येक प्राणीके कल्याणकी इच्छासे उन्हें अपने अन्नमेंसे कुछ भाग देना 'भूतयज्ञ' है। गृहस्थको 'वैश्वदेव' अवश्य करना चाहिये। इस यज्ञके विषयमें मनुस्मृतिमें कहा है कि—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥

(३। ९२)

कुत्ता, पतित, चाण्डाल, कुष्ठी अथवा यक्ष्मादि पापजन्य रोगी व्यक्तिको तथा कौवों, चींटी और कीड़ों आदिके लिये अन्नको पात्रसे निकालकर धीरेसे (स्वच्छ भूमिपर) रख दे। **'गो-ग्रास'** देना बड़ा पुण्यप्रद है।

इस भूतयज्ञके नित्य करनेपर गृहस्थी सब जीवोंकी प्रतिदिन पूजा कर लेता है। इसमें महान् परोपकार और सब भूत-प्राणियोंके प्रति अत्यन्त करुणाका भाव है, इससे वह प्रकाशमय सर्वोत्तम स्थान (ब्रह्मपद—मोक्ष)-को अर्चि आदि सीधे मार्गसे प्राप्त करता है। **'स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिं पथर्जुना॥'** (मनु० ३। ९३)।

(५) **मनुष्ययज्ञ**—इसका अर्थ है 'अतिथिसत्कार'। अतिथिको प्रथम अन्नदान करके उसे भोजन करानेके बाद गृहस्थको स्वयं भोजन करना चाहिये। इसे 'अतिथियज्ञ' भी कहा गया है। कहा भी गया है **'अतिथिदेवो भव'** (तै० उ० ३। ११। २)। ऐतरेयब्राह्मण (२५। ५)-में भी आदेशरूपमें कहा गया है कि 'सायंकालमें आये हुए किसी भी भूखे-प्यासे अतिथिको अवश्य भोजन दे, उसे उपवासी न रखे।' बौधायनगृह्यसूत्र (२। ९। २१)-में तो ऐसी आज्ञा है कि अतिथि चाण्डाल हो या कोई भी हो उसे अन्नदान अवश्य करे। महाभारत, शान्तिपर्व (१९१। १२)-में तो यहाँतक कहा है कि 'जिस गृहस्थके घरसे अतिथि भूखा-प्यासा निराश होकर वापस लौट जाता है, उस गृहस्थीकी कुटुम्ब-संस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। गृहस्थ महादुःखी हो जाता है, क्योंकि अपना पाप उसे देकर उसका संचित 'पुण्य' वह निराश अतिथि खींच ले जाता है'—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥

अतिथिकी तरह आश्रित, सेवक, पालित, ब्रह्मचारी और यति आदिको भी अन्नदान देना चाहिये।

'ब्रह्मयज्ञ' करनेपर 'ऋषि-ऋण'से मुक्ति हो जाती है, 'देवयज्ञ' करनेपर 'देव-ऋण'की समाप्ति होती है और 'पितृयज्ञ' करनेपर 'पितृ-ऋण'से मुक्ति मिल जाती है। 'भूतयज्ञ' करनेसे तथा 'मनुष्ययज्ञ' करनेसे समस्त प्राणियोंके प्रति **'वासुदेवः सर्वमिति'**का भाव सुदृढ़ होता है—फलस्वरूप 'परमधाम'की प्राप्ति होती है। महर्षि विश्वामित्रजीने अपने धर्मशास्त्रमें इन नित्यकर्मोंके नित्य तथा नियत समयपर सम्पादित करनेपर विशेष जोर दिया है और कहा है कि जो ऐसा करता है, वह सम्पूर्ण लोकोंको पार कर उत्तमोत्तम विष्णुलोकको प्राप्त करता है—

नित्यकर्माखिलं यस्तु उक्तकाले समाचरेत्॥
जित्वा स सकलाँल्लोकानन्ते विष्णुपुरं व्रजेत्।

(विश्वामित्रस्मृति १। १५-१६)

अतः गृहस्थको नित्य नियमसे 'पञ्चमहायज्ञों'को श्रद्धापूर्वक करना चाहिये।
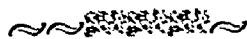
स्पृश्यास्पृश्य-विवेक

(श्रीगंगाप्रसादजी अग्रवाल)

शुद्धाशुद्ध-विवेक और स्पृश्यास्पृश्य-विवेक जो आर्यधर्मका प्रधान अङ्ग है, विडम्बना है कि आज उसके विषयमें सम्यक् ज्ञान न होनेके कारण वर्तमान राजनीतिक जगत्के द्वारा समुत्पन्न अनेक शंकाओं और उपद्रवोंका सामना धार्मिक जगत्को करना पड़ रहा है। शास्त्रीय मीमांसा न जाननेसे ही लोगोंको ऐसी बातोंपर संदेह हो सकता है। वस्तुतः आर्यजातिका शुद्धाशुद्ध-विवेक तथा स्पृश्यास्पृश्य-विवेक दृढ़ दार्शनिक भित्तिपर स्थित है। शरीरमें पाँच कोष हैं, जिनसे आत्मा ढका रहता है। वे पाँच कोष **अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष, विज्ञानमयकोष** और **आनन्दमय-कोष** कहलाते हैं। इन पाँचोंको साधारण रीतिसे समझनेके लिये यह इंगित किया जाता है कि अन्नके सहारे जो घटता-बढ़ता है, उसे 'अन्नमयकोष' कहते हैं। अन्नमयकोषका जो संचालन करता है, उसे 'प्राणमयकोष' कहते हैं, प्राणमयकोषको जो चलाता है और जो मनके द्वारा व्यवस्थित रहता है, उसे 'मनोमयकोष' कहते हैं। मन उसका केन्द्र है। मनको जो सदसद्विचारके द्वारा पथ-प्रदर्शन करके चलाता है, वह 'विज्ञानमयकोष' कहलाता है। शास्त्रने आत्माकी स्थितिको बुद्धि-तत्त्वसे परे माना है—'**यो बुद्धेः परतस्तु सः**' (गीता ३। ४२) और द्वैतभावोत्पादक आत्माका आवरणरूप पञ्चमकोष 'आनन्दमयकोष' कहलाता है।

इन पाँचों कोषोंको मलिन करनेके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पाँच कारण हैं। जिन अपवित्र स्थूल-पदार्थोंके द्वारा अन्नमयकोष अपवित्र होता है, उनको 'मल' कहते हैं। प्राणमयकोषको मलिन करनेवाला 'विकार' कहलाता है। मनोमयकोषमें जो विषमता उत्पन्न करता है, उसे 'विक्षेप' कहते हैं। विज्ञानमयकोषमें जो अपवित्रता उत्पन्न करता है, उसे 'आवरण' कहते हैं। आनन्दमयकोषमें जो अपवित्रता उत्पन्न करता है, उसे 'अस्मिता' कहते हैं। अस्मिता आत्मस्वरूपको ढकती है तथा जितनी ही अस्मिताकी अभिवृद्धि होती है, उतना ही अज्ञान बढ़ता है। इन पाँचों प्रकारके कोषोंमें (शरीरमें) पाँच प्रकारकी मलिनता न बढ़ने पाये, इसीका नाम 'शुद्धाशुद्ध-विवेक' तथा 'स्पृश्यास्पृश्य-विवेक' है। इस बातको मीमांसाशास्त्रने अच्छी तरह सिद्ध किया है। इस रहस्यको विशेष स्पष्ट करनेके लिये कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—धोने तथा सचैल (वस्त्रसहित) स्नानादि करनेसे अन्नमयकोषकी अपवित्रता दूर होती है। यह स्पष्ट ही है कि शव आदिके स्पर्शसे वह मलिन होता है। जब मृत देहसे प्राणमयकोष अन्य कोषोंके साथ लोकान्तरमें चला जाता है, तब स्वतः उसमें प्राणमयकोषका अभाव होनेसे शवस्पर्शकारीके प्राण खिंच जाते हैं। इसीलिये शवस्पर्शके बाद स्नान-अग्नि-सुवर्ण आदिका स्पर्श करके अपने प्राणमयकोषको पवित्र करनेकी विधि धर्मशास्त्रोंमें वर्णित है। देवमन्दिरस्थ मूर्ति आदिमें जो पीठ बनता है, वह प्राणमयकोषकी क्रियाका ही परिणाम है। आर्य लोग उसी पीठमें व्यापक दैवीशक्तिकी पूजा किया करते हैं। जहाँ चेतनाशक्तिका विकास होता है, उसीको 'पीठ' कहते हैं। जिस पीठमें जैसी संस्कार-परम्परा रहती है, विरुद्ध स्पर्शद्वारा उसको नष्ट करनेसे पीठाभिमानी देवता अप्रसन्न होता है। मनोमयकोषके मलिन होनेका उदाहरण सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, अशौचादि समझना उचित है। सूर्य और चन्द्रकी शक्तिका प्रभाव जो मनोमयकोषपर रहता है, उसमें ग्रहणसे बाधा होती है, इसलिये उसमें सामयिक मलिनता आती है। स्नान, दान तथा जपादिद्वारा उस मलिनताको दूर किया जाता है। अशौचादिके द्वारा मनोमयकोषमें जो अपवित्रता होती है, वह श्राद्ध आदिद्वारा दूर होती है। विज्ञानमयकोषकी अपवित्रता कुसंगादिसे होती है। इसको दूर करनेसे तथा सत्संगति करनेसे विज्ञानमयकोष पवित्र होता है। इसी कारण शास्त्रोंमें साधु-संगकी बड़ी महिमा है और अस्मिता जो जीवभावका मूलकारण है, उसकी वृद्धि होनेसे आनन्दमयकोषमें अपवित्रता बढ़ती है। निष्कामकर्म, ईश्वर तथा गुरुमें अहैतुकी भक्ति और ज्ञानके द्वारा आनन्दमयकोषकी अपवित्रता दूर होती है। ऐसे शुद्धाशुद्ध-विवेक एवं स्पृश्यास्पृश्य-विवेककी महिमा समझकर अज्ञलोग स्वयं विपथगामी होते हैं तथा समाजको भी विपद्ग्रस्त करते हैं। आशा है, इन थोड़े उदाहरणोंसे विज्ञलोग सचेत होकर समाजके अमङ्गलका कारण न बनेंगे और दैवी जगत्को अप्रसन्न करके अपना अमङ्गल नहीं करेंगे। मनमाने निरंकुश होकर काम करनेसे विपत्ति अवश्य भोगनी पड़ती है और शास्त्र-मर्यादाका अनुपालन करते हुए सोच-समझकर काम करनेसे सब ओर मङ्गल होता है।
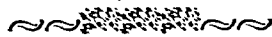
'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'

'युधिष्ठिर! धर्मका सूर्य अस्त होने जा रहा है। तुम्हें जो कुछ जानना हो, इस समय पितामहसे जान लो!'—ये शब्द हैं शर-शय्यापर पड़े भीष्मपितामहके लिये श्रीकृष्णके।

'युधिष्ठिर! धर्मका ठीक-ठीक तत्त्व श्रीकृष्णके अतिरिक्त त्रिलोकीमें और कोई नहीं जानता'—ये शब्द शर-शय्यापर पड़े भीष्मपितामहके हैं।

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'

धर्मका तत्त्व बहुत गूढ है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि धर्म हैं और असत्य, हिंसा, चोरी आदि पाप हैं—यह बात सभी धर्म-सम्प्रदाय मानते हैं। इन्हें साधारण जन भी समझते हैं, भले इनका पालन वे न करते अथवा न कर पाते हों, किंतु इतना स्पष्ट होते हुए भी धर्मका रहस्य बहुत दुरधिगम्य है।

जीवनमें ऐसे अवसर बहुत बार आते हैं—धर्मात्मा पुरुषके जीवनमें ऐसे अवसर आते हैं, जब निर्णय करना कठिन हो जाता है कि धर्म क्या है! आज जब लोगोंका जीवन स्वेच्छाचार-प्रधान हो गया है, जीवनमें धर्मकी महत्ता ही नहीं रही है, यह बात बहुत साधारण जान पड़ती है, किंतु जीवनमें जब धर्माचरण होता है, जब मन अधर्मसे डरता है, तब यह बात समझमें आती है कि प्रत्येक समय धर्मको ठीक पहचान लेना कितना कठिन है।

धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें अपना सम्पूर्ण राज्य हार गये। उन्होंने क्रम-क्रमसे अपने भाइयोंको दावँपर लगाया और स्वयंको भी लगाया। प्रत्येक बार वे हारते गये। अन्तमें द्रौपदीको उन्होंने दावँपर लगाया और उस दावँको भी हार गये। दुर्योधनके आदेशसे दुःशासन द्रौपदीको भरी सभामें केश पकड़कर घसीट लाया। विदुर, भीष्म, कृपाचार्य-जैसे धर्मज्ञ उस सभामें थे। द्रौपदीने रो-रोकर पूछा—'आप सब धर्मका निर्णय करके बतायें, मैं हारी गयी या नहीं?'

पति अपनी पत्नीका नित्य स्वामी है, अतः द्रौपदीपर धर्मराजको स्वत्व प्राप्त है। वे उसे दावँपर लगा सकते थे। इस दृष्टिसे विचार करनेवाला पक्ष दुर्योधनका पक्ष था और उसे सर्वथा भ्रान्त पक्ष नहीं कह सकते; किंतु एक दूसरा पक्ष भी था। युधिष्ठिर पहले स्वयंको दावँपर लगाकर हार चुके थे। जब वे स्वयंको हार चुके, उनकी कहीं कोई वस्तु नहीं रह गयी, उनको द्रौपदीको दावँपर लगानेका अधिकार ही कहाँ रह गया था? अनधिकार उन्होंने कोई दावँ लगाया तो वह उचित कैसे हुआ? इतना विकट प्रश्न था कि उस सभामें कोई इसका निर्णय नहीं कर सका। द्रौपदीकी पुकारका उत्तर किसीने नहीं दिया।

'जहाँ सत्य बोलना अनर्थकारी होता हो, वहाँ चुप रहना चाहिये।'—यह बात प्रायः सुनी जाती है। कहीं एक दृष्टान्त पढ़ा है। घटना सत्य हो या न हो, उसमें तथ्य है। एक गाय वधिकोंके हाथसे रस्सी तुड़ाकर किसी प्रकार भागी। वह वनमें एक पर्वतीय गुफामें घुस गयी। वहाँ गुफाके समीप कोई मुनि आसन लगाये बैठे थे। गायका पीछा करते वधिक पहुँचे और उन्होंने पूछा—'आपने इधर भागकर आती गाय देखी है? वह कहाँ गयी?'

मुनिने गायको गुफामें जाते देखा था। इस तथ्यको बता देनेसे तो अनर्थ होता। वे कुछ बोले नहीं। कोई संकेत भी उन्होंने नहीं दिया। वधिकोंने समझा कि वे मौनव्रत लिये हैं, अतः उन्होंने गुफामें देखा और गायको पकड़ ले गये। उन मुनिको कुछ सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वे तत्काल नष्ट हो गयीं। अपने गुरुके समीप वे गये तो गुरुने कहा—'तुझे गोवधमें सहायक होनेका पाप लगा है। झूठ बोलकर तू गौके प्राण बचा सकता था। वह तूने नहीं किया। अब तुझे प्रायश्चित्त करना चाहिये।'

× × ×

दो बुराइयोंमेंसे एकको चुनना अनिवार्य हो जानेपर किसे चुना जाय—यह निर्णय करनेके लिये कितनी सूक्ष्म तथा सतर्क विचारदृष्टि अपेक्षित है, यह घटना बतलाती है—

'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा।'

—धर्मराज युधिष्ठिरने यह कहा था और जान-बूझकर कहा था। जब उन्होंने '**अश्वत्थामा हतः**' कहा, लोगोंने शङ्ख बजाना प्रारम्भ कर दिया। युधिष्ठिरके आगेके शब्द शङ्खध्वनिमें डूब गये। द्रोणाचार्यने उन्हें सुना ही नहीं। इस असत्यभाषणके फलस्वरूप युधिष्ठिरको सशरीर स्वर्ग जानेपर भी नरकदर्शन करना पड़ा।

युधिष्ठिरको यह छलवाक्य क्यों बोलना पड़ा? इसलिये कि द्रोणाचार्य युद्ध-धर्मका उल्लङ्घन करते ही जा रहे थे।

वे उनपर भी दिव्यास्त्रका खुला उपयोग कर रहे थे, जो दिव्यास्त्रके ज्ञाता नहीं थे। यह निहत्थोंको मारनेके समान बात थी। अथवा लाठी लिये लोगोंपर तोपके गोले बरसानेकी उपमा इसे दी जा सकती है। द्रोणाचार्यके हाथमें शस्त्र रहे, तबतक वे मारे नहीं जा सकते थे और अपने एकमात्र पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युका समाचार ही उनसे शस्त्र-त्याग करा सकता था। द्रोणको अधर्मसे रोकने और उनके द्वारा अधर्मपूर्वक होनेवाले संहारको रोकनेके लिये युधिष्ठिरको श्रीकृष्णने वह छलवाक्य कहनेपर विवश किया।

अब इस घटनापर तनिक गम्भीरतासे विचार करें। युधिष्ठिर यह छलवाक्य न कहते तो क्या होता? वे नरकदर्शनसे बच जाते, यह आप कह सकते हैं; किंतु श्रीकृष्णके आदेश-भङ्गका दोष करते वे। अपने पक्षके, अपने आश्रित दिव्यास्त्र-ज्ञानरहित लोगोंके विनाशको रोकनेका दायित्व उनपर था। इस दायित्वका निर्वाह न करनेके कारण उन सब लोगोंकी मृत्युमें जो पाप हो रहा था, आंशिकरूपसे उसके भागी होते। द्रोणाचार्यको उनका व्रत—उनकी मर्यादा कि जबतक हाथमें शस्त्र रहेगा, वे मारे न जायँगे—इसे भङ्ग करके मारना पड़ता। आचार्य मारे तो जाते ही, असम्मानित होकर मारे जाते। नरक-दर्शनका थोड़ा भय उठाकर भी इन सब अनर्थोंसे युधिष्ठिर बच गये, यहाँतक हमारी दृष्टि जाय, तब भीष्मपितामहकी वह बात समझमें आ सकती है कि धर्मके यथार्थ रहस्यको केवल श्रीकृष्ण ही जानते हैं।

हम लोगोंके अपने जीवनमें भी ऐसे अनेक अवसर आते हैं। जब ठीक-ठीक कर्तव्य न सूझे, दो धर्मोंमेंसे कौन-सा अपनाया जाय—यह निर्णय अपनी बुद्धि न कर सके, तब क्या किया जाय?

अपनेसे अधिक बुद्धिमान्, सदाचारी, धर्मात्मा पुरुषकी सम्मति ली जाय और उनके आदेशका पालन किया जाय। लेकिन सम्मति ली जाय धर्मपर निष्ठा रखनेवाले पुरुषकी। केवल विद्वान्-बुद्धिमान् इस सम्बन्धमें सम्मति देनेका अधिकारी नहीं है।

अनेक बार तत्काल निर्णय करना पड़ता है। सम्मति लेनेका समय नहीं होता और सम्मति ली जाय, ऐसे कोई पुरुष भी समीप नहीं होते। यदि ऐसी अवस्था आ जाय तो—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

—गीताके इस श्लोकको नेत्र बंद करके, एकाग्रचित्तसे पार्थसारथि श्रीकृष्णको सम्मुख मानकर सात बार पाठ कीजिये। आपको क्या करना चाहिये, यह बात सूझ जायगी। भगवान् आपको प्रकाश देंगे।
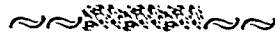
संतोषसे परम सुख तथा उन्नति, असंतोषसे दुःख तथा पतन

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम्। कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः॥
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः। शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥
कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्। जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥
पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः। सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः॥

आत्मामें रमण करनेवाले इच्छारहित संतोषी पुरुषको जो सुख मिलता है, वह उस मनुष्यको कैसे मिल सकता है जो कामना और लोभसे धनके लिए हाय-हाय करता इधर-उधर दौड़ता-फिरता है। जैसे पैरोंमें जूता पहनकर चलनेवालेको कंकड़ और काँटोंमें कोई डर नहीं रहता, वैसे ही जिसके मनमें संतोष है, उसके लिये सदा सभी दिशाओंमें सुख-ही-सुख है, दुःख है ही नहीं। भूख-प्यास मिट जानेपर खाने-पीनेकी कामनाका अन्त हो जाता है, क्रोध भी उसका परिणाम सामने आ जानेपर शान्त हो जाता है, परंतु सारी पृथ्वीको सब दिशाओंके जीत लेने और भोग लेनेपर भी लोभका अन्त नहीं होता। अनेक विषयोंके ज्ञाता और अपने उपदेशसे दूसरोंके संदेह-शंकाओंको काटकर उनका समाधान कर देनेवाले, विद्वानोंकी सभाओंके अध्यक्ष बहुत-से बड़े-बड़े विद्वान् भी असंतोषके कारण नीचे गिर जाते हैं। (भागवत ७। १५। १६-१७, २०-२१)

पुरुषार्थचतुष्टय

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

मनुवाद अर्थात् मानवधर्मशास्त्रकी प्रासंगिकता जिस प्रकार कल थी, उसी प्रकार आज भी है। सम्पूर्ण मानव-समाजकी सुव्यवस्थाके लिये भगवान् मनुने परम्परा-प्राप्त धर्मानुकूल नियमों—कर्तव्योंका इस 'मानवधर्मशास्त्र'के रूपमें प्रवर्तन किया है[१], जिससे सामाजिक व्यवहार चलता आ रहा है। विहित-अविहित कर्म अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यमें निर्णायक धर्मशास्त्र ही होता है। अतएव कहा गया है—

'प्रामाण्यं धर्मशास्त्रस्य कार्याकार्यव्यवस्थितौ।'

'श्रुति' शब्दसे जैसे वेदका बोध होता है, वैसे ही 'स्मृति' शब्दसे धर्मशास्त्रका। स्मृतियाँ अनेक हैं, इनमें मनुस्मृतिका सर्वाधिक महत्त्व है; क्योंकि भगवान् मनुने जिसका जो धर्म बतलाया है, वह सब कुछ वेदमूलक ही है, वे स्वयं सर्वज्ञानमय[२] हैं।

मानव-जीवनके चार लक्ष्य हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थोंका प्रतिपादन मनुस्मृतिमें किया गया है और इन्हें प्राप्त करनेके लिये विहित मार्गोंका निर्देश भी दिया गया है। इस नियम-निर्देशके अनुसार किये गये कर्मोंसे पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है और सामाजिक सुव्यवस्था बनी रहती है। नियम-विरुद्ध व्यवहार करनेसे समाजमें अव्यवस्था और असुरक्षा पैदा होती है।

(क) धर्म—श्रुति और स्मृतिद्वारा प्रतिपादित आचारको परम धर्म माना गया है। आत्महित अर्थात् सबका हित चाहनेवालोंको[३] इस आचारधर्मका अनुपालन अवश्य करना चाहिये[४]। प्रसंगतः इसमें वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म तथा सामान्य धर्मका विशद प्रतिपादन किया गया है। कर्मोंके गुण एवं दोष और चारों वर्णोंके परम्परागत सनातन आचार बतलाये गये हैं[५]। इन धर्मोंमें धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी (शास्त्र आदिका तत्त्वज्ञान), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य, अक्रोध—ये दस सामान्य धर्म हैं जो सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये नितान्त आवश्यक हैं[६]। इसे सभी विवेकी व्यक्ति भलीभाँति जानते हैं। इन दशविध धर्मोंका अध्ययन करके आचरण करनेवाले परम गति—मोक्षको प्राप्त करते हैं[७]।

(ख) काम—कामरूप पुरुषार्थका प्रतिपादन करते हुए भगवान् मनुने कहा है—

'द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्[८]॥'

अर्थात् जीवनके प्रथम चतुर्थ भागमें ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन समाप्त करके द्वितीय भागमें धार्मिक विधिसे विवाह करके गार्हस्थ्यजीवन व्यतीत करे। उसे केवल स्वदार-निरत होकर ऋतुकालाभिगामी होना चाहिये[९]। इन नियमों—निर्देशोंके अनुपालनसे अनेक सामाजिक ज्वलन्त समस्याओंका समाधान हो सकता है। परिवार-कल्याणके नामपर अरबों रुपयोंके व्यय—अपव्ययको रोका जा सकता है।

(ग) अर्थ—गृहस्थाश्रममें आनेपर जीवनयात्रा, परिवारके भरण-पोषण तथा नित्य-नैमित्तिकादि कर्मोंके अनुष्ठान और अतिथि-सत्कार एवं दानादि सत्कर्मोंके सम्पादनके लिये धनकी आवश्यकता होती है। भोगोंके लिये कदापि अर्थका संग्रह न करे। न्याय्य-वृत्तियोंसे प्राप्त धनका भी अधिक

१-स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्। (मनुस्मृति १। १०२)

२-यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ (मनु० २। ७)

३-सर्वभूतहिते रताः (गीता ५। २५; १२। ४)

४-आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च। तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥ (मनु० १। १०८)

५-अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्। चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः॥ (मनु० १। १०७)

६-धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु० ६। ९२)

७-दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते। अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्॥ (मनु० ६। ९३)

८-मनुस्मृति ४। १

९-ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ (मनु० ३। ४५)

संचय करना निषिद्ध है। अत: मनुने ब्राह्मणको तपस्या एवं त्याग-वृत्तिसे रहनेका निर्देश दिया है। उसे अश्वस्तनिक[१०] या त्र्यैहिक[११] अथवा कुम्भीधान्यक[१२] वा अधिक-से-अधिक कुसूलधान्यक[१३] होना चाहिये। द्विजातिसे भिन्नके लिये भी धन-संचयका निषेध करते हुए उन्होंने कहा है कि संतोष ही सुखका मूल और असंतोष ही दु:खका कारण है। अत: अधिक संग्रह करनेमें संयमी बने[१४]।

(घ) **मोक्ष**—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म आदि सभी विषयोंका विशद वर्णन करनेके बाद भगवान् मनुने मानव-जीवनके अन्तिम लक्ष्य मोक्षका अन्तमें निरूपण किया है।

मानव प्रवृत्त कर्मोंके द्वारा स्वर्गादिलोकोंमें देवोंकी समानता प्राप्त करता है और निवृत्तकर्मोंके सेवनसे पञ्चभूतोंका अतिक्रमण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है[१५]। सम्पूर्ण जीवोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण चराचरको देखता हुआ आत्मयाजी स्वाराज्य—ब्रह्मत्व अर्थात् मोक्षको प्राप्त करता है[१६]। इसीका उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥

(मनु० १२। १२५)

अर्थात् इस तरह सम्पूर्ण जीवोंमें स्थित आत्माको आत्माके द्वारा जो देखता है, वह सर्वसमताको पाकर ब्रह्मरूप परमपदको पा जाता है।

जिस मानव-धर्मशास्त्रमें मानवके पुरुषार्थचतुष्टयका ऐसा उत्तम प्रतिपादन हो, जिसमें उसकी प्राप्तिके धर्मानुकूल साधनोंका स्पष्ट निरूपण हो, उसकी प्रासंगिकतामें संदेह करना अज्ञानमूलक ही है, अत: मनुवाद—मानवधर्मशास्त्रकी प्रासंगिकता सार्वकालिक है।

कौन सोचने योग्य है?

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥
सोचिअ सूद्रु बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी॥
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई॥
सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥
बैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी। जननि जनक गुर बंधु बिरोधी॥
सब बिधि सोचिअ पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी॥
सोचनीय सबहीं बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरि जन होई॥

१०-केवल एक दिनके लिये जिसके पास भोजन-सामग्री हो वह अश्वस्तनिक है।
११-केवल तीन दिनोंके लिये भोजन-सामग्री रखनेवाला त्र्यैहिक कहलाता है।
१२-वर्षभर निर्वाह-योग्य धान्यवालेको कुम्भीधान्यक कहा गया है।
१३-तीन वर्षोंतक निर्वाह-योग्य धान्यवाला कुसूलधान्यक कहलाता है।
१४-संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। संतोषमूलं हि सुखं दु:खमूलं विपर्ययः॥ (मनु० ४। १२)
१५-प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्। निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ (मनु० १२। ९०)
१६-सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥ (मनु० १२। ९१)

वर्णाश्रम-धर्म

हिंदू-धर्मकी एक यह विशेषता है कि इसका कोई निजी नाम नहीं है। प्राचीन शास्त्रोंमें 'हिंदू-धर्म' नामका उल्लेख देखनेमें नहीं आता। 'हिंदू' शब्द 'सिन्धु' का विकृत रूप है। सिन्धु नदीके पार बसनेवाले लोगोंको पश्चिमके लोग 'हिंदू' कहते थे और उनके धर्मको 'हिंदू-धर्म' कहते थे। प्राचीन शास्त्रोंमें हिंदू-धर्मको केवल 'धर्म' शब्दमात्रसे ही उल्लेख किया गया है। इससे जान पड़ता है कि प्राचीन युगमें हिंदू-धर्मके सिवा दूसरा कोई धर्म नहीं था। कहीं-कहीं इस धर्मको 'सनातन-धर्म' भी कहा जाता था। 'एष धर्मः सनातनः'—यह सनातन धर्म है। 'सनातन धर्म' शब्दसे हिंदू-धर्मके केवल एक गुणका उल्लेख होता है। 'सनातन' का अर्थ है नित्य स्थायी, अर्थात् इसकी उत्पत्ति नहीं है। किसी समय-विशेषमें, किसी व्यक्ति-विशेषके द्वारा यह धर्म प्रचलित नहीं हुआ है। श्रीराम या श्रीकृष्ण, व्यास या वाल्मीकि—कोई भी हिंदू-धर्मके संस्थापक नहीं हैं। यह धर्म उनसे पहले भी था। उन्होंने भी इसको अनादि 'सनातन धर्म' कहा है। अपरञ्च बौद्धधर्म गौतमबुद्धके द्वारा प्रचलित हुआ था। ईसाईधर्म ईसाके द्वारा प्रचरित हुआ था। इस्लाम (मुसलमानी) धर्म मुहम्मदसाहेबके द्वारा प्रचरित हुआ था।

कहीं-कहीं हिंदू-धर्मको वर्णाश्रम-धर्म नामसे अभिहित किया गया है। इसका कारण यह है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था हिंदू-धर्मकी एक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। अन्य किसी धर्ममें इस प्रकारकी कोई व्यवस्था नहीं है। वर्णाश्रम-व्यवस्थाका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार है—

ईश्वरने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंकी सृष्टि की है। प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य-कर्म उसके वर्ण और आश्रमके ऊपर निर्भर करता है। ब्राह्मणका कर्तव्य-कर्म वेद-पाठ तथा वैदिक यज्ञादि कर्मोंका सम्पादन है। क्षत्रियका कर्म दुष्टोंका दमन, शिष्टजनोंका पालन तथा इसके लिये दण्ड धारण करना है। वैश्यका कर्म कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य है। शूद्रका कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी सेवा है। इसके अतिरिक्त कुछ साधारण धर्म हैं, जो चारों वर्णोंके लिये कर्तव्य हैं—जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय (परद्रव्य ग्रहण न करना), शौच (देह और मनकी शुद्धि) तथा इन्द्रिय-संयम। मनुने कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

(मनुस्मृति १०। ६३)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रियनिग्रह—ये चारों वर्णोंके धर्म हैं। इनके अभावमें कोई वास्तवमें मनुष्य-पदवाच्य नहीं हो सकता। समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये धर्म-भाव, शक्ति, ऐश्वर्य और श्रम—इन चार वस्तुओंकी आवश्यकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४। ११—१३)-में कहा गया है कि पहले केवल ब्राह्मण था, वह अकेला उन्नति नहीं कर सका, इसलिये उसने क्षत्रियकी सृष्टि की जब उससे भी उन्नति न हुई तब उसने वैश्यकी सृष्टि की, और जब उससे भी उन्नति न हुई तब उसने शूद्रकी सृष्टि की—

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकःसन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्। स नैव व्यभवत् स विशमसृजत। स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत।'

इन चारों वर्णोंकी सृष्टिके बाद धर्मकी सृष्टि हुई। पहले जातिकी सृष्टि हुई, उसके बाद उनके धर्म अर्थात् कर्तव्यकर्मकी सृष्टि हुई। कुछ लोग समझते हैं कि वैदिक युगमें जो लोग यज्ञ करते थे, उनको ब्राह्मण कहते थे; जो लोग युद्ध करते थे, वे क्षत्रिय कहलाते थे, इत्यादि। परंतु बृहदारण्यक उपनिषद्के इस वचनसे ज्ञात होता है कि ऐसी धारणा या मत ठीक नहीं है। पहले विभिन्न जातियोंकी सृष्टि हुई, उसके बाद उनके लिये कर्तव्यकर्मका निर्देश किया गया, अर्थात् ब्राह्मणके लिये यज्ञादि कर्म करना उचित है, क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध करना उचित है, इत्यादि। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें कहा गया है कि ईश्वरके मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य तथा पादद्वयसे शूद्रकी सृष्टि हुई है। यथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋग्वेदसंहिता १०। ९०। १२)

सायणाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्या उपर्युक्त रीतिसे की

है। तदुपरान्त कहा है कि ब्राह्मणादि जातिकी सृष्टिका यही प्रकार यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता (७। १। १)-में स्पष्टरूपसे कहा गया है। वहाँ कहा गया है कि प्रजापतिके मुखसे ब्राह्मण, वक्षःस्थलसे तथा बाहुसे क्षत्रिय, देहके मध्यभागसे वैश्य तथा पदसे शूद्रकी सृष्टि हुई। ऋग्वेद (१०। ९०। १२)-के जिस मन्त्रका पहले उल्लेख किया गया है, वही मन्त्र यजुर्वेद, वाजसनेयि-संहितामें (३१। १। ११) मन्त्रके रूपमें प्राप्त होता है। अथर्ववेदमें भी यह कुछ परिवर्तित रूपमें मिलता है। (अथर्ववेद १९। १। ६)

स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराजने अपने लिखे हुए **'वेदेर परिचय'** नामक ग्रन्थमें (२५६ पृष्ठमें) लिखा है कि "सृष्टिके आदिमें यदि ब्राह्मणादिके कर्मोंकी उत्पत्ति होती तो वेदमें 'विराट् पुरुषसे ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व आदि गुण-कर्म उत्पन्न हुए"—इस प्रकार लिखा जाता। परंतु यों न कहकर सुस्पष्ट भाषामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चारों वर्णोंकी उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है।

कोई-कोई पण्डित कहा करते हैं कि वेदमें ब्राह्मणादि जातियोंका उल्लेख हो सकता है, परंतु उस समय जन्मगत जाति न थी। कोई ब्राह्मणका पुत्र होनेसे ही ब्राह्मण नहीं हो जाता था, जो यज्ञ करता था, उसको ब्राह्मण कहते थे। परंतु यह मत यथार्थ नहीं है। पुरुषसूक्तमें ब्रह्माके विभिन्न अङ्गोंसे ब्राह्मणादि जातिकी उत्पत्ति कही गयी है। जातिके जन्मगत होनेपर ही यह उक्ति सुसंगत होती है। कठोपनिषद्में यमने नचिकेताको ब्राह्मण कहा है तथा उसे नमस्कार किया है। नचिकेता बालक थे। उनको जन्मके अनुसार ही ब्राह्मण कहकर निर्देश किया गया होगा। कर्मके अनुसार निर्देश नहीं हो सकता था। ऋग्वेद (१०। ७१। ९)-में कहा गया है कि जो ब्राह्मण वेदके अर्थको नहीं जानता, वह निन्दित कृषिकर्मके द्वारा जीविका-निर्वाह करे। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणवंशमें जन्म लेकर कृषिकर्म करनेपर भी वह ब्राह्मणके नामसे परिचित होता था। यदि कर्मके अनुसार जातिविभाग होता तो उसे ब्राह्मण न कहकर वैश्य कहा गया होता। ऋग्वेद (८। ९८। ३०)-में कहा गया है कि 'हे इन्द्र! तुम आलस्यपरायण नास्तिक ब्राह्मणके समान मत बनो।' इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणवंशमें जन्म लेनेपर ब्राह्मणोचित गुण-कर्म न रहनेपर भी उसे ब्राह्मण कहा जाता था। ऋग्वेद (२। ४३। २)-में कहा गया है कि 'ब्राह्मणका पुत्र जिस प्रकार यज्ञमें वेदमन्त्र गान करता है, हे पक्षी! तुम उसी प्रकार गान करो।' इससे ज्ञात होता है कि यज्ञमें ब्राह्मणका पुत्र ही वेद-मन्त्र-गान करता था, अन्य जातिका पुत्र नहीं गान करता था। अतः देखा जाता है कि वैदिक युगमें जन्मके अनुसार ही जातिका निर्देश किया जाता था, गुण और कर्मके अनुसार नहीं।

महाभारतमें कहीं कहा गया है कि जन्मके अनुसार ब्राह्मण होता है और कहीं कहा गया है कि गुणके अनुसार ब्राह्मण होता है—

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः।

(महाभारत, अनुशासन० ४७। २८)

अर्थात् ब्राह्मणीके गर्भमें ब्राह्मणके वीर्यसे जिसका जन्म होता है, वह ब्राह्मण है—इस विषयमें कोई संशय नहीं है। यहाँ कहा गया है कि जाति जन्मके अनुसार होती है। पुनः वनपर्व (१८०। २१)-में कहा गया है कि जिसमें सत्य, दान, क्षमा, तपस्या आदि गुण हैं, वही ब्राह्मण है—

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

'हे सर्पराज! जहाँ सत्य, दान, क्षमा, सच्चरित्र, कोमलता, तपस्या तथा करुणा देखे जाते हैं, उसे ही ब्राह्मण कहा जाता है।' यहाँ कहा गया है कि गुणके अनुसार ब्राह्मण होता है। इन दोनों वचनोंका इस प्रकार सामञ्जस्य किया जाता है कि प्रथम वाक्यका उद्देश्य यह बतलाना है कि किस नियमके अनुसार ब्राह्मण-जातिका निर्देश किया जाय। दूसरे वाक्यका उद्देश्य सत्य, दान, क्षमा आदि गुणोंकी प्रशंसा करना है। अन्य किसी प्रकारसे इन दोनों वाक्योंमें सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। किंबहुना, शास्त्र-वचनमें सामञ्जस्य तो स्थापित होना ही चाहिये। गीता (१६। २४)-में भगवान्ने कहा है कि कौन कर्म करना ठीक है और कौन कर्म करना ठीक नहीं, इस विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

जो परस्पर विरोधी है, वह कभी प्रमाण नहीं हो

सकता। अतएव शास्त्रवाक्यमें सामञ्जस्य स्थापित करना परम आवश्यक है।

अश्वत्थामाके गुण या कर्म कुछ भी ब्राह्मणोचित न थे। वे युद्ध करते थे—जो क्षत्रियका कर्म था, ब्राह्मणका नहीं। वे इतने क्रूर-स्वभावके थे कि रातके समय पाण्डव-शिविरमें प्रवेश करके उन्होंने द्रौपदीके सोये हुए पाँच पुत्रोंकी हत्या कर डाली और उत्तराके गर्भस्थ भ्रूणकी हत्या करनेके लिये अस्त्र चलाया था। गुण और कर्मके अनुसार जाति-निर्देश करनेपर अश्वत्थामाको कदापि ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। परंतु जब उन्हें पराजित करके पकड़कर लाया गया, तब ब्राह्मण बोलकर उनका वध नहीं किया गया। उनके सहजात मस्तकमणिको काटकर उनको बाहर निकाल दिया गया। इस अवसरपर भीमने द्रौपदीसे कहा था—

जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च।

(महाभारत, सौप्तिक० १६। ३२)

अर्थात् द्रोणपुत्रको जीतकर मुक्त कर दिया गया; क्योंकि वे ब्राह्मण हैं और गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र हैं। यहाँ स्पष्टरूपसे देखा जाता है कि गुण-कर्मके अनुसार जातिका निर्देश नहीं हुआ, जन्मानुसार ही जातिका निर्देश हुआ है। द्रोणाचार्य और कृपाचार्यने युद्धका व्यवसाय ग्रहण किया था। परंतु उनको क्षत्रिय नहीं कहा गया, ब्राह्मण ही कहा गया था; क्योंकि ब्राह्मणवंशमें उनका जन्म हुआ था।

वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड (श्लोक १४। ३०)-में लिखा है—

मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः॥

अर्थात् मुखसे ब्राह्मण, वक्षःस्थलसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य और पदसे शूद्र उत्पन्न हुए। महाभारत, शान्तिपर्व (४७। ६८)-में लिखा मिलता है—

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः॥

अर्थात् हे चतुर्वर्ण-स्वरूप ईश्वर! ब्राह्मण आपके मुख, क्षत्रिय आपके बाहु, वैश्य आपके ऊरु और उदर तथा शूद्र आपके पद हैं; आपको नमस्कार हो।

श्रीमद्भागवत (११। ५। २)-में लिखा गया है—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥

अर्थात् ईश्वरके मुख, बाहु, ऊरु तथा पदसे चार आश्रमके साथ चार वर्ण पृथक् रूपमें उत्पन्न हुए। उत्पत्तिके समय उनके गुण पृथक्-पृथक् थे।

विष्णुपुराण (३। ८। ९)-में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

अर्थात् 'अपने वर्ण और आश्रमके विहित कर्मोंको करते हुए परमपुरुषकी आराधना की जाती है। उनको संतुष्ट करनेका और कोई उपाय नहीं है।' मनुसंहिता (१०।५)-में लिखा है—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥

अर्थात् सब वर्णोंमें समान वर्णकी अक्षतयोनि पत्नीसे जिनका जन्म होता है, उनकी जाति पिताकी जाति होती है।

गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(४। १३)

अर्थात् 'गुण और कर्मके विभागके द्वारा मैंने चारों वर्णोंकी सृष्टि की है।' इस वचनसे कुछ लोग समझते हैं कि गीताका उद्देश्य जन्मके अनुसार जातिविभाग नहीं है, गुण और कर्मके अनुसार जातिविभाग है, किंतु गीताके इस वचनकी ऐसी व्याख्या करना गलत है। एक आदमीका गुण तो ब्राह्मणके समान हो सकता है और कर्म क्षत्रियके समान हो तो गुण-कर्मके अनुसार जाति-निर्देश करनेपर उसकी कौन-सी जाति होगी? किस व्यक्तिका गुण ब्राह्मणके समान है, अथवा क्षत्रिय या वैश्यके समान है, यह निर्णय करना सर्वत्र ही दुरूह होगा। इसके सिवा गुणमें परिवर्तन भी हो सकता है। एक अच्छा आदमी पीछे बुरा भी हो सकता है और एक बुरा आदमी अच्छा बन सकता है। कर्ममें भी परिवर्तन हो सकता है—एक आदमी जो योद्धा (क्षत्रिय)-की वृत्तिका अनुसरण कर रहा है, पीछे वैश्यकी वृत्ति (कृषि या वाणिज्य) ग्रहण कर सकता है। इन सब

कारणोंसे गुण और कर्मके अनुसार जाति निर्णय करना अतिशय दुरूह है। मनुसंहितामें लिखा है कि जन्मके पश्चात् दस या बारह दिनोंमें नामकरण-संस्कार करना चाहिये। ब्राह्मणके नामके आगे 'शर्मा' जोड़ना चाहिये, क्षत्रियके आगे 'वर्मा' जोड़ना चाहिये (मनु० २। ३२)। किंबहुना, जन्मसे १०-१२ दिनोंके भीतर किसीके गुण और कर्मका विचार करके नामकरण करना सम्भव नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि जन्मके अनुसार ही जाति-निर्णय करना शास्त्रका उद्देश्य है।

ब्राह्मण बालकका ८वें वर्षमें उपनयन होना चाहिये, क्षत्रिय बालकका ११ वें वर्षमें और वैश्यका १२वें वर्षमें (मनु० २। ३६)। ८ वें वर्षमें गुण और कर्मका विचार करके जातिनिर्णय करना सम्भव नहीं है। अतएव जन्मके अनुसार जातिनिर्णय करना होगा। गीता (४। १३)-में जो **'गुणकर्मविभागशः'** शब्दका व्यवहार हुआ है, उसमें 'कर्म' शब्दका अर्थ कर्तव्य-कर्म है। 'गुण' शब्दका अर्थ सत्त्व, रज और तमोगुण है। समस्त वाक्यका अर्थ यह है कि जन्मके समय जिसमें जिस परिमाणमें सत्त्व, रज और तमोगुण रहता है, तदनुसार कर्तव्य-कर्मका विभाग करके ईश्वरने चार वर्णोंकी सृष्टि की है। यह अर्थ गीता (१८। ४१)-में स्पष्टरूपसे कहा गया है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

'गुणैः कर्माणि विभक्तानि'—इन तीन शब्दोंको मिलाकर 'गुण-कर्म-विभाग' शब्द प्राप्त होता है। समस्त श्लोकका अर्थ यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके जन्मके समय जो गुण रहते हैं, तदनुसार उनके कर्तव्य-कर्मोंका विभाग किया गया है। तत्पश्चात् ४२-४३ और ४४ वें श्लोकमें प्रत्येक वर्णके कर्तव्य-कर्मका विभाग किया गया है। गीता अध्याय ४के १३वें श्लोककी इस प्रकार व्याख्या न करके 'गुण' और 'कर्म'के अनुसार जातिनिर्देश करना चाहिये। इस प्रकार व्याख्या करनेसे शास्त्रमें अनेक स्थलोंमें जन्मानुसार जो जातिकी बात कही गयी है, उसके साथ विरोध होगा। कुछ लोग यह समझते हैं कि जाति-विभागने समाजमें अनैक्यकी सृष्टि की है; यदि सब लोगोंकी एक जाति होती तो एकता अधिक होती। पर ऐसा समझना गलत है। एक बोझा पुआलको एक रस्सीसे बाँधनेपर उसमें जो ऐक्य होता है, पहले कुछ पुआलकी अलग-अलग आँटियाँ तैयार करके फिर सारी आँटियोंको एक रस्सीसे बाँधनेपर उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऐक्य हो जाता है। ब्राह्मणादि चार जातियोंको समाजका मुख, बाहु, ऊरु और पद निर्देश करके सब जातियोंमें ऐक्यकी भावना सुप्रतिष्ठित की गयी है। जिस प्रकार एक मनुष्य-देहमें मुख, हाथ, पैर आदि विभिन्न अङ्ग विभिन्न कर्म करते हैं, तथापि सब अङ्गोंका उद्देश्य एक ही सारे शरीरका कल्याण-साधन करना होता है, उसी प्रकार समाजके अन्तर्गत विभिन्न जातियाँ विभिन्न कर्म करती हैं, तथापि सब जातियोंका उद्देश्य सारे समाजका कल्याण-साधन करना होता है। पाश्चात्त्य देशमें धनी और दरिद्रके बीच सदासे ही तीव्र विद्वेष और विरोध चला आ रहा है। हिंदू-समाजमें विभिन्न श्रेणियोंमें इस प्रकारका विरोध कभी नहीं रहा। पाश्चात्त्य-समाजमें धनी और दरिद्र एक साथ भोजन नहीं करते। परंतु हिंदू-समाजमें लखपती ब्राह्मण और दरिद्र ब्राह्मण एक पंक्तिमें भोजन करते हैं। जन्मानुसार जाति-विभाग अनिष्टकर नहीं है, बल्कि कल्याणप्रद है; परंतु धनके अनुसार श्रेणी-विभाग अत्यन्त अनिष्टकर है। स्वभावतः दरिद्र मनुष्य धनीके प्रति ईर्ष्याभाव रखता है। जन्मानुसार जाति-विभाग माननेपर धनीके प्रति दरिद्रका ईर्ष्याभाव नहीं रहता। निम्न वर्णके लोग समझते हैं कि जो ब्राह्मण हुए हैं, उन्होंने पूर्वजन्ममें शुभकर्म किये होगें तभी ब्राह्मण हुए हैं; अतएव निम्न वर्णका मनुष्य उच्च-वर्णके आदमीके प्रति ईर्ष्या नहीं करता।

कुछ लोग समझते हैं कि ब्राह्मणोंने अपनी सुविधाके लिये जातिभेदकी व्यवस्था की है, किंतु जिस कार्यसे अधिक अर्थ-लाभ होता है, वह वाणिज्य कर्म वैश्यको दिया गया है। जिस कार्यके द्वारा दूसरोंपर प्रभुत्व किया जाता है, वह क्षत्रियको दिया गया है। ब्राह्मणकी जीविका पुरोहिती अथवा पाठशालामें अध्यापन-कार्य करना है।

पुरोहिती या अध्यापन-कार्यमें अधिक अर्थ-प्राप्ति नहीं होती। अतएव जाति-भेद ब्राह्मणोंके स्वार्थके लिये नहीं बना।

आजकल बहुत-से लोग कहते हैं कि चंडालको मन्दिरमें घुसने न देना बड़ा अन्याय है, परंतु यह बात आधुनिक पाश्चात्य शिक्षित लोग ही कह सकते हैं। यह व्यवस्था अतिप्राचीन है और शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा श्रीचैतन्यमहाप्रभु आदि किसीने इस व्यवस्थाकी निन्दा नहीं की है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके एक प्रधान भक्त हरिदास यवनवंशमें उत्पन्न हुए थे। वे पुरीमें श्रीजगन्नाथदेवके मन्दिरके समीप नहीं जाते थे। कहा करते थे कि कहीं अचानक यदि श्रीजगन्नाथदेवके सेवक ब्राह्मणसे स्पर्श हो जायगा तो उससे बड़ा अपराध लगेगा—

ठाकुर हरिदास आर रूप सनातन।
जगन्नाथ मन्दिरे नाहिं जाय तिन जन॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत—मध्य लीला, प्रथम परिच्छेद)

रूप और सनातनने यद्यपि ब्राह्मणवंशमें जन्म ग्रहण किया था, तथापि ऐसा जान पड़ता है कि उनके पूर्व-पुरुष किसी कारणसे पतित हो गये थे। इस कारण वे लोग अपनेको नीचजाति, म्लेच्छ-जाति कहकर उल्लेख करते थे। (इस विषयमें श्रीचैतन्य-चरितामृत, मध्य लीला, प्रथम परिच्छेद देखें।) वे लोग मुसलमान नवाबकी नौकरी करनेके कारण अपनेको नीच जाति या म्लेच्छ-जाति नहीं कह सकते थे। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने उनको कहा था—'तुमलोग परम भक्त हो, अतएव तुम्हारा देह परम पवित्र है, क्योंकि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि जिनके मुखसे सर्वदा कृष्ण-नाम उच्चारण होता है, वे चंडाल होनेपर भी परम पवित्र हैं। तथापि तुमलोग जो शास्त्रकी मर्यादाकी रक्षा करके मन्दिरके समीप नहीं जाते, यह अति उत्तम बात है—'

मर्यादा पालन हय साधुर भूषण।
मर्यादा लङ्घने लोके करे उपहास।
इहलोक परलोक दुई हय नाश॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत, अन्त्य-लीला, चतुर्थ परिच्छेद)

'मर्यादाका पालन साधुके लिये भूषण है। मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे लोग हँसी करते हैं और इहलोक तथा परलोक दोनोंका नाश होता है।'

छान्दोग्य-उपनिषद् (५।१०।७)-में कहा गया है कि जो लोग अतिशय नीच कर्म करते हैं, वे चंडाल आदि नीच योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं। इस कारण उनका शरीर अपवित्र होता है, यही उनके मन्दिर-प्रवेशके निषेधका कारण है। शूद्र वेद-पाठ नहीं कर सकता, चंडाल मन्दिरमें प्रवेश नहीं कर सकता—इन निषेधवाक्योंकी युक्तिसंगतता श्रीरामकृष्ण परमहंसने एक दृष्टान्तद्वारा समझायी थी। मान लीजिये कि 'एक उत्सववाले घरमें पुलाव आदि बहुत-से स्वादिष्ट तथा गुरुपाक द्रव्य बनाये गये हैं। गृहिणी अपने स्वस्थ पुत्रोंको वे चीजें खानेके लिये देती है, परंतु रोगी पुत्रको गरिष्ठ चीजें खानेके लिये नहीं देती। उसे हलका पथ्य भोजनके लिये देती है। इससे वह रोगी पुत्रको कम प्यार करती हो, ऐसी बात नहीं है। परंतु गरिष्ठ चीजें खानेसे उसका शरीर अस्वस्थ हो जायगा, इसी कारण उसे वे चीजें खानेको नहीं देती। कोई भी जो मन्दिरमें प्रवेश करेगा, उसको पुण्य ही होगा, यह समझना भूल है। कौन कर्म पुण्यजनक है और कौन पापजनक, शास्त्रवचनोंसे ही यह जाना जाता है। शास्त्र जिसको प्रवेश करनेके लिये अनुमति देता है, उसको मन्दिरमें प्रवेश करनेसे पुण्य होगा; किंतु शास्त्र जिसको अधिकार नहीं देता, उसके प्रवेश करनेसे पुण्य नहीं होगा, पाप होगा। चंडाल आदि जातियोंके मन्दिर-प्रवेशका अधिकार न होनेपर भी उनके लिये भगवत्प्राप्तिका मार्ग खुला हुआ है। वे लोग माता-पिताकी सेवा करके पापकर्मसे दूर रहकर सदा भक्तिभावसे ईश्वरका नाम लेकर ईश्वरकी प्राप्ति कर सकते हैं। इस विषयमें महाभारत, वनपर्व (अ० २०४)-में धर्मव्याधका उपाख्यान द्रष्टव्य है। हरिदासने मन्दिरमें प्रवेश नहीं किया, इस कारण उनको ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई—ऐसा समझना गलत है। वे सदा भक्तिभावसे हरिनाम लेते थे और इस प्रकार उन्होंने सिद्धि प्राप्त की थी।

कुछ लोग समझते हैं कि हिंदुओंमें जातिभेद था, इसी

कारण हिंदूलोग मुसलमानों और अंग्रेज आदि जातियोंसे पराजित हुए थे। परंतु ऐसा सोचना भूल है। मुसलमानोंने केवल भारतवर्षको ही नहीं जीता था। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्यायने लिखा है कि 'अरबलोग एक प्रकारसे दिग्विजयी हुए थे। उन्होंने मिस्र और सीरिया देशोंको मुहम्मदकी मृत्युके बाद छः वर्षके भीतर, फारसको दस वर्षके भीतर, अफ्रीका और स्पेनको एक-एक वर्षमें, तुर्किस्तानको आठ वर्षोंमें पूर्णतः अधिकारमें कर लिया था। किंतु वे लोग भारतवर्षको जीतनेके लिये तीन सौ वर्षोंतक लगातार चेष्टा करके भी इसपर अधिकार नहीं पा सके थे।'

सर्वप्रथम ६६४ ई०में अरबके मुसलमानोंने भारतपर आक्रमण किया था। उससे ५२९ वर्ष बाद सहाबुद्दीन गोरीने उत्तर भारतपर अधिकार किया था। अरब, तुर्क और पठान—इन तीनों जातियोंके यत्न और लगातार आक्रमणसे साढ़े पाँच सौ वर्षोंमें भारतवर्षकी स्वाधीनता लुप्त हुई थी।

अतएव सिद्ध है कि अन्य जातियोंकी अपेक्षा हिंदू-जातिनें मुसलमान-आक्रमणोंमें बहुत अधिक बाधा डाली थी। हिन्दुओंमें जातिभेद था, इस कारण हिंदू सहज ही पराजित हो गये—यह समझना गलत है। बल्कि यह कह सकते हैं कि हिंदुओंमें जातिभेद होनेके कारण ही हिंदुओंमें मुस्लिम आक्रमणमें अधिक बाधा उपस्थित की थी। वस्तुतः हिंदू-जातिका राजनीतिक इतिहास अन्य जातियोंके राजनीतिक इतिहासकी अपेक्षा कहीं अधिक गौरव-जनक है। वैदिक युगसे ११९४ ई० तक हिंदू जातिने अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा की थी। उसके बाद अफगानराज्य हुआ, तीन सौ वर्षके पठानराज्यके बाद हिंदू-जातिका पुनरुत्थान हुआ। बाबरने जब भारतवर्षपर आक्रमण किया, तब उसने अनायास ही इब्राहीम लोदीको परास्त कर दिया। परंतु संग्रामसिंहके साथ युद्ध करनेके पूर्व वह बहुत ही भयभीत हो गया था और रातों जागकर उसने प्रार्थना की थी। पुनः दो सौ वर्षतक मुगलोंके राज्य करनेके बाद हिंदू-जाति पुनः प्रबल शक्तिसम्पन्न हो उठी। मराठों और सिक्खोंने मुगलसाम्राज्यको चूर्ण-विचूर्ण कर डाला। दो सौ वर्ष अंग्रेजोंके राज्य करनेके बाद हिंदुओंने ऐसा राजनीतिक आन्दोलन किया कि अंग्रेजोंको विवश होकर भारत छोड़कर जाना पड़ा।

किसी व्यक्तिकी वृत्तिविशेषके लिये उपयुक्तता प्रधानतः दो वस्तुओंके ऊपर निर्भर करती है—(१) 'जन्मगत संस्कार और (२) पारिपार्श्विक अवस्था।' ये ही दो बातें मनुष्यको उसकी पैतृक वृत्तिके लिये उपयुक्त बनाती हैं। ब्राह्मणका पुत्र पिताके अनुरूप धीर, शान्त-स्वभाव तथा धर्मपरायण हो, यही सम्भव है। वह बाल्यकालसे ही पिताको शास्त्र-चर्चा तथा क्रिया-कर्ममें निरत देखता है, इस कारण उसमें इस प्रकारके कर्मोको करनेकी प्रवृत्ति और उपयुक्तता बढ़ती है। क्षत्रियका पुत्र स्वभावतः शक्तिशाली होता है। बाल्यकालसे ही वह युद्धकी बातें, शौर्य-वीर्यकी कहानियाँ सुनता है। उसके मनमें भी उसी प्रकारके वीरतापूर्ण कार्य करनेका स्वभावतः आग्रह उत्पन्न होता है। जुलाहेका लड़का बचपनसे ही चरखा, करघा आदिसे परिचित होता है। अपने पिताके पास करघेपर काम करनेकी शिक्षा प्राप्त करना उसके लिये सहज और स्वाभाविक होता है। जन्मगत वृत्तिकी व्यवस्था रहनेपर जातिके अधिकांश लोगोंको समाजके लिये उपयोगी किसी वृत्तिमें कुशल बनाना आसान होता है। जन्मगत वृत्तिके फलस्वरूप भारतमें नाना प्रकारकी कलाओं और शिल्पोंकी उन्नति हुई थी, इसमें कोई संदेह नहीं है। भारतके समान बारीक सूती वस्त्र संसारमें और कहीं नहीं तैयार होते थे। संसारमें सर्वत्र उनका आदर होता था। नाना प्रकारके शिल्पकार्यके लिये भारतवर्ष प्रसिद्ध था। पीतल, काँसा तथा हाथीदाँतसे बनी विविध दर्शनीय वस्तुएँ प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न होती थीं तथा देश-विदेशमें बिकती थीं, इससे भारत इतना ऐश्वर्यशाली हो गया था कि 'भारतका ऐश्वर्य' एक लोकोक्तिका विषय बन गया था।

एलोरा, कोणार्क, भुवनेश्वर आदि भारतवर्षके असंख्य मन्दिरोंके रचना-कौशल तथा शिल्प-रचनाकी सुन्दरता और अजन्ताकी गुफाओंके चित्र पृथिवीके दूर-दूरके श्रद्धालु दर्शकोंके चित्तको आकृष्ट करते हैं। जन्मगत वृत्तिकी व्यवस्थासे ही इस प्रकारकी उन्नति हुई थी।

किसी-किसी पाश्चात्त्य विद्वान्ने हिंदुओंके जातिभेदकी निन्दा की है, तथापि सर हेनरी काटन, श्रीसिडनी लो,

श्रीमती एनीबेसेंट तथा सर जॉन उडरफ आदि बहुतेरे पाश्चात्त्य विद्वानोंने इस जातिभेदकी प्रचुर प्रशंसा भी की है।

प्राचीन भारतमें जब वर्णाश्रम-व्यवस्था सुप्रतिष्ठित थी, तब देशमें सुख-शान्ति और समृद्धि विद्यमान थी। रामायण और महाभारतसे तथा मेगस्थनीज, फाहियान, हुएनत्सांग आदि विदेशी पर्यटकोंके लिखित वृत्तान्तसे यह हमको ज्ञात होता है। भारतके अतिरिक्त अन्य किसी देशमें ऐसी सुख-शान्ति नहीं थी।

गीता (३। २४)-में श्रीभगवान् कहते हैं—

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

इससे ज्ञात होता है कि वर्णसंकर होनेसे समाज नष्ट हो जाता है। गत दो महायुद्धोंमें पाश्चात्त्य जातियोंने व्यापकरूपसे जिस प्रकार नरहत्या और लूटपाट की है, इससे उनकी स्वभावगत दुर्नीतिका पता चलता है। इस कारण बहुतेरे पाश्चात्त्य विद्वान् हिंदू-संस्कृतिके मूल तत्त्वको जाननेके लिये उत्सुक हुए हैं।

एक मनुष्य यदि दूसरे व्यक्तिको स्पर्श करनेसे मना करता है तो यह समझना ठीक नहीं कि वह उससे घृणा करता है। रजस्वला माताको उसका पुत्र स्पर्श नहीं करता—इसका यह अभिप्राय नहीं है कि पुत्र अपनी मातासे घृणा करता है। अतिरिक्त इसके एक साथ खाने और अन्तर्विवाह करनेपर सर्वत्र प्रीतिभाव रहता हो, यह नहीं देखा जाता। अंग्रेज और जर्मन जातियोंमें अन्तर्विवाह और सहभोज स्वतन्त्रतासे प्रचलित था, तथापि विश्वयुद्धके समय उनके बीच तीव्र द्वेष हो गया था।

उपनिषद्में आया है कि माता-पिताकी पूजा देवताके समान करनी चाहिये—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।

(तैत्तिरीय उपनिषद् १। ११। ८)

अतएव जहाँ माता-पिता असवर्ण विवाहके विरोधी हों, वहाँ पुत्रके लिये असवर्ण विवाह करना अन्याय है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अधिकांश स्थलोंमें माता-पिता असवर्ण विवाहके विरोधी होते हैं।

गीता (१८। ४२—४४)-में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके कर्तव्य-कर्मोंका उल्लेख करते हुए इसी अध्यायके ४५ और ४६ वें श्लोकोंमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपनी-अपनी जातिके कर्तव्य-कर्मोंको यत्नपूर्वक करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है; क्योंकि इस प्रकार ईश्वरकी आराधना की जाती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(१८। ४५)

वर्णसंकर उत्पन्न करके जातिभेद नष्ट कर देनेपर ईश्वरकी प्राप्तिका एक स्वाभाविक और सहज मार्ग नष्ट हो जाता है। समाज जिससे समृद्धिशाली हो, समाजके विभिन्न वर्गोंमें जिससे प्रीतिका बन्धन स्थापित हो, समाजके अन्तर्गत सब लोग जिससे शान्तिपूर्ण पवित्र जीवन-यापन कर सकें तथा धर्म-संचय करके पारलौकिक कल्याण-साधनमें सक्षम हों—जातिभेदका यही उद्देश्य है। इन उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये जाति-भेद अत्यन्त उत्कृष्ट व्यवस्था है। यह व्यवस्था मनुष्यरचित नहीं है, स्वयं ईश्वर ही जातिविभाग तथा वर्णाश्रम-व्यवस्थाके रचयिता हैं। वेद, उपनिषद्, मनु आदि स्मृतियाँ, रामायण, महाभारत, गीता, श्रीमद्भागवत आदि सारे धर्मग्रन्थ इस बातको कहते हैं। कुछ दिनोंसे हिंदुओंमें वर्णाश्रम या जातिभेदके विरुद्ध आन्दोलन चल रहा है। जातिभेदके साथ हिंदू-धर्मका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि जातिभेद नष्ट होनेपर हिन्दूधर्म ही नष्ट हो जायगा। अतएव धर्महीन समाजमें जितने प्रकारका तथा जितना अनिष्ट हो सकता है, जातिभेद लुप्त होनेपर हिंदू-जातिका उतना ही अनिष्ट-साधन होनेकी पूर्ण सम्भावना है। पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे भारतवर्षमें जो धार्मिक क्रान्ति हो रही है, उससे सब लोगोंके लिये अपने वर्णविहित कर्मके द्वारा जीविका उपार्जन करना सम्भव नहीं हो रहा है; तथापि जहाँतक सम्भव हो अपने वर्णविहित कर्मोंको करते हुए सदाचारकी रक्षा करना और असवर्ण विवाहको रोकना प्रत्येक हिंदूका परम कर्तव्य है।

धर्मशास्त्रोंमें सदाचार

(डॉ० श्रीओमप्रकाशजी द्विवेदी)

धर्मशास्त्रोंमें आचारकी बड़ी महिमा आयी है और वहाँ बताया गया है कि मनुष्यका प्रथम धर्म आचार ही है, जिसके प्रेरक भगवान् विष्णु हैं। जिस आचार-विचारसे दैवी गुणोंकी उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि हो, उसे 'सदाचार' कहा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा शास्त्रसम्मत सदाचारका पालन होता है, जिसका अनुकरण समाजके अन्य लोग करते हैं। '**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च**'—इस संसारमें दो प्रकारके जीव हैं—(१) दैवी-गुणसम्पन्न, (२) आसुरी-वृत्तिसम्पन्न। दैवी गुण स्वर्गकी ओर ले जाता है और असुरोंका मार्ग कष्ट एवं नरककी ओर ले जाता है। इसीलिये शास्त्रोंका उपदेश है—

रामादिवद् वर्तितव्यं न तु रावणादिवत्।

अर्थात् रामके समान आचरण करना चाहिये न कि रावणके समान। राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। अपने सद्‌गुण, सदाचार, विनय, शील, उदारता आदि गुणगणोंसे उन्होंने श्रेष्ठतम रामराज्यकी स्थापना की और '**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव**'की शिक्षा हमें प्रदान की। वे धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं—'**रामो विग्रहवान् धर्मः।**' उन्होंने भाई भरतके लिये राज्यका सहर्ष त्याग किया और भरतजीने भी विधि-सम्मत प्राप्त राज्यको बड़े भाई रामके लिये त्याग दिया, इसपर गुरु वसिष्ठजीको कहना पड़ा—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥

सदाचार ईश्वरसे मधुर सम्बन्ध बनाने-हेतु मुख्य धर्म-सेतु है। सदाचारके पालनसे जीवनके अनर्थोंकी निवृत्ति होती है, जीवनमें सुख, मङ्गल तथा कल्याणकी प्राप्ति होती है। सदाचारका पालन मरनेके बाद भी यश—कीर्ति प्रदान करनेवाला होता है। '**कीर्तिर्यस्य स जीवति**'—जिसकी कीर्ति होती है, वह मरकर भी अमर रहता है। सदाचाररूप धर्म-पालनसे रक्षा होती है—'**धर्मो रक्षति रक्षितः**'।

मनुने सदाचारको धर्मका स्वरूप माना है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(२। १२)

अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्माको प्रिय लगना—ये धर्मके साक्षात् लक्षण हैं। इसी प्रसंगमें उन्होंने धर्मके १० लक्षण बताये हैं (मनु० ६। ९२), जिनमें 'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रियनिग्रह आदि परिगणित हैं। इस दस लक्षणात्मक धर्मके परिपालनसे मनुष्यमें तेज, बल, बुद्धि, शक्ति आदि सद्‌गुणोंकी प्राप्ति एवं अभिवृद्धि होती है। इसके विपरीत चोरी करना, हिंसा करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियोंकी भोग-वासनामें लिप्त रहना इत्यादि दुर्गुण अधर्म हैं, जिनकी निन्दा शास्त्रोंमें की गयी है। जिस समाजमें सदाचारीका आदर होता है, वह समाज उन्नतिशील होता है। समाजकी सच्ची सेवा सद्‌गुणीके द्वारा ही होती है। अनैतिक कार्य करनेवाले अधर्मी व्यक्ति कुछ समयके लिये भले ही पनपते दीखते हों, लेकिन अन्तमें उनका समूल विनाश हो जाता है। भगवान् मनुकी उक्ति है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

इसका भाव यह है कि अधार्मिक व्यक्ति पहले बढ़ता हुआ दिखायी देता है, उसका कल्याण—मङ्गल भी होता दीखता है तथा उसने अपने शत्रुओंपर भी विजय प्राप्त कर ली—ऐसा आभास होता है, किंतु अन्तमें उसका समूल विनाश हो जाता है, अतः अधर्मसे अभ्युदयकी प्राप्ति जो दीखती है, वह मिथ्या ही है। सच्चे अर्थोंमें वह उसके विनाशका ही कारक है, अतः व्यक्तिको ऐसे विनाशकारी अधर्माचरणसे बचते हुए सदाचार-सम्पन्न होनेका ही प्रयत्न करना चाहिये।

सदाचार-सम्पन्न लोग कष्टमें चाहे जितने दीखें, लेकिन उनका भीतरी मन सद्‌गुणोंके कारण प्रसन्न रहता है और अन्तमें समाजको उनका आदर करना पड़ता है। भगवान्‌ने कहा है—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

(गीता ६। ४०)

अर्थात् कल्याण-कार्यमें लगा व्यक्ति दुर्गतिको प्राप्त

नहीं होता।

कठोपनिषद्में श्रेय एवं प्रेय-मार्गका सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है। श्रेय-मार्ग सदाचारीको विणुपद प्राप्त करानेवाला कहा गया है और प्रेय-मार्गको क्षणभङ्गुर, अनित्य, इन्द्रिय-विषयोंके सुखकी ओर ले जानेवाला बताया गया है, जिससे कालान्तरमें मनुष्यका पतन हो जाता है।

संसार त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रज, तम-मिश्रित गुणोंसे सभी जीव मोहित हो रहे हैं। सत्त्वगुण मोक्षका हेतु है, जो मनुष्यको ऊर्ध्वगामी बनाता है और रज तथा तम आसुरी-भावकी ओर ले जाते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४। १८)

अच्छे गुणोंका आचरण करनेवाला, धर्माचरण करनेवाला, सत्साहित्यका पढ़नेवाला, सत्संग करनेवाला सतोगुणी समाजमें पहुँच जाता है। इसके विपरीत बुराईके बीच रहनेवाला दुर्गुणोंके बीच पहुँच जाता है। अतः अपनी आत्माको अधोगतिमें न पहुँचाये, आत्महन्ता न बने।

मनुष्यकी मानसिक गति दो प्रकारकी होती है—(१) पुरोगामी, (२) प्रतिगामी। जो मनुष्य सोच-समझकर स्वधर्मका पालन करता है, वह पुरोगामी बनता है, उन्नतिके मार्गपर सदैव आगे बढ़ता है। जो बिना आगा-पीछा सोचे-समझे कार्य करता है, वह प्रकृतिके द्वारा पीछे ढकेल दिया जाता है, अवनतिकी दशाको प्राप्त होता है। अतः यदि हम आगे नहीं बढ़ेंगे तो प्रकृति हमें दण्ड देगी, हम स्वयं अपनी आत्माके शत्रु बन जायँगे। राग, द्वेष आदि षड्विकारोंमें लिप्त हो जायँगे। ये विकार उन्नति-पथके शत्रु हैं, जो पथिकको सन्मार्गसे हटाकर कुमार्गपर बढ़नेकी प्रेरणा देते हैं।

धर्माचरण-सदाचारका पालन, त्याग, तपस्या एवं तपोवन-सेवन भारतीय संस्कृतिके आदर्श हैं। हमें सद्गुणोंसे प्रेम करना चाहिये, उन्हें अपनाना चाहिये। पुराणोंका उद्घोष है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(विष्णुधर्मो० ३। २५५। ४४)

अर्थात् धर्मका सार-सर्वस्व यही है कि जो अपनी आत्माको प्रिय लगे, वही व्यवहार दूसरोंके प्रति करना कर्तव्य है। जो अपने प्रतिकूल हो वैसा आचरण दूसरोंके प्रति कदापि न करे।

आजके इस संक्रान्ति-युगमें '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**'—का उद्घोष करना है। हमारे ऋषियोंने जो सदाचार, नैतिकता, आध्यात्मिकताकी शिक्षा विश्वको दी है, उसे आज पुनः जाग्रत् करना है; क्योंकि तप-त्यागसे हमारी सोयी हुई आत्मिक शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं। संतोष, शान्ति तथा सदाचारका पालन हमें पूर्णताकी ओर अग्रसर कराते हैं, '**वसुधैव कुटुम्बकम्**'—का बोध कराते हैं और स्वार्थ तथा संकीर्णताके त्यागकी शिक्षा देते हैं। स्वार्थ मनुष्यको बौना—छोटा बनाता है। उदारता तथा विनयशीलता—ये सद्गुण भूमा-सुखकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा प्रदान करते हैं, जिससे मानवमात्रका विकास होता है।

वेदोंमें मनुष्योंको—'**अमृतस्य पुत्राः**'—कहा गया है। साथ ही उसे '**तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**'की पावन शिक्षा दी गयी है। गायत्री-मन्त्रमें बुद्धिके निर्मल होनेकी प्रार्थना है। ऋषिप्रणीत धर्मोंके दृढ़ पालनसे हम तेजस्वी बनते हैं। हमारा जीवन दिव्य एवं यज्ञमय बनता है। शुद्ध, सत्य एवं परोपकारके कर्म करनेसे हमारी अन्तरात्मा शुद्ध एवं पवित्र होती है। हम ब्रह्म-साक्षात्कारके योग्य बनते हैं।

पुरुषार्थके द्वारा हम अपने अंदर श्रद्धा तथा विश्वासको जाग्रत् करते हैं। सदाचारी, मनस्वी, धर्मव्रती—उत्साह-सम्पन्न ही असम्भव कार्यको भी सम्भव कर दिखाता है, पत्थरमें भगवान् प्रकट करा देता है। नीति-वचन है—

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

अर्थात् महापुरुषोंकी क्रियासिद्धि उनके तेजपर ही निर्भर करती है, साधनोंपर नहीं। अतः योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, महात्माओंद्वारा निर्दिष्ट पथका अनुसरण एवं अनुगमन करना ही हमारा परम पवित्र धर्म है और ऐसे ही सज्जनोंद्वारा शास्त्रमर्यादासे अनुपालित धर्म ही सदाचार है। जिस मार्गसे हमारे पिता, पितामह—पूर्वज गये हैं, वही सनातन मार्ग हमारे लिये श्रेयस्कर है। सत्य, प्रिय, मधुर, शीतल वाणीका प्रयोग—धार्मिक सदाचारी व्यक्तिके गौरवकी

अभिवृद्धि करते हैं। ऐसा व्यक्ति समाजका प्रियभाजन बन जाता है, उसकी जिह्वापर सरस्वतीका वास होता है। शान्त स्वरका, संगीतका, मधुर वाणीका प्रभाव पशुओं, पौधों एवं वृक्षोंतकमें होता देखा गया है। संगीतसे गौएँ अधिक दूध देती हैं, उनमें प्रेमका उद्रेक होता है, वात्सल्य-प्रेम उमगता है। प्रोत्साहित करनेवाली शुभ वाणीसे पौधोंमें बीज शीघ्र अंकुरित होते हैं एवं पुष्ट होकर शीघ्र बढ़ते हैं, इसके विपरीत हतोत्साहित वचन एवं अशुभ वाणीका प्रयोग करनेसे पौधे तथा बीज देरसे अंकुरित होते हैं, निर्जीव रहते हैं, जल्द सूख जाते हैं। यह विज्ञानसिद्ध है। अत: श्रेष्ठ जनोंको सबको आनन्द पहुँचानेके लिये शुभ एवं मङ्गलवाणीका ही प्रयोग करना चाहिये। शुभ वाणीसे मैत्री एवं प्रेमका विस्तार होता है। ऐसा आचरण वाणीका सदाचार कहलाता है, ऐसे हो शरीर एवं मनसे सदा अच्छा ही करना चाहिये, अच्छा ही सोचना चाहिये।

आज विश्वमें तनाव, कुंठा, युद्धकी विभीषिका चारों ओर परिलक्षित हो रही है। ऐसे कठिन समयमें भारत ही विश्वको शान्ति-सुख एवं आनन्दका मार्ग दिखा सकता है। आध्यत्मिकता एवं नैतिकता आजके युगकी माँग है। अध्यात्म-ज्ञानसे ही समाज, देश, राष्ट्र एवं विश्वका परम कल्याण होगा, यह ध्रुव सत्य है। अत: हम सभीको शुद्ध सदाचार-सम्पन्न होनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

संस्कार

वेद-पुराणों तथा धर्मशास्त्रोंमें संस्कारोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जैसे खानसे सोना, हीरा आदि निकलनेपर उसमें चमक-प्रकाश तथा सौन्दर्यके लिये उसे तपाकर, तराशकर मल हटाना एवं चिकना करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्यमें मानवीय शक्तिका आधान होनेके लिये उसे सुसंस्कृत होना आवश्यक है, अर्थात् उसका पूर्णत: विधिपूर्वक संस्कार सम्पन्न करना चाहिये। वास्तवमें विधिपूर्वक संस्कार-साधनसे दिव्य ज्ञान उत्पन्न कर आत्माको परमात्माके रूपमें प्रतिष्ठित करना ही मुख्य संस्कार है और मानव-जीवन प्राप्त करनेकी सार्थकता भी इसीमें है।

संस्कारोंसे आत्मा—अन्त:करण शुद्ध होता है। संस्कार मनुष्यको पाप और अज्ञानसे दूर रखकर आचार-विचार और ज्ञान-विज्ञानसे संयुक्त करते हैं। संस्कार मुख्यत: दो प्रकारके होते हैं—१-मलापनयन और २-अतिशयाधान। किसी दर्पण आदिपर पड़े हुए धूल आदि सामान्य मलको वस्त्र आदिसे पोंछना—हटाना या स्वच्छ करना 'मलापनयन' कहलाता है और फिर किसी रंग या तेजोमय पदार्थद्वारा उसी दर्पणको विशेष चमत्कृत या प्रकाशमय बनाना 'अतिशयाधान' कहलाता है। अन्य शब्दोंमें इसे ही भावना, प्रतियत्न या गुणाधान-संस्कार कहा जाता है।

संस्कारोंकी संख्यामें विद्वानोंमें प्रारम्भसे ही कुछ मतभेद रहा है। गौतमस्मृतिमें ४८ संस्कार बतलाये गये हैं। महर्षि अङ्गिराने २५ संस्कार निर्दिष्ट किये हैं। पुराणोंमें भी विविध संस्कारोंका उल्लेख है, परंतु उनमें मुख्य तथा आवश्यक षोडश संस्कार माने गये हैं। महर्षि व्यासद्वारा प्रतिपादित व्यासस्मृतिमें प्रमुख षोडश संस्कार इस प्रकार हैं[१]—१-गर्भाधान, २-पुंसवन, ३-सीमन्तोन्नयन, ४-जातकर्म, ५-नामकरण, ६-निष्क्रमण, ७-अन्नप्राशन, ८- वपन-क्रिया (चूडाकरण), ९- कर्णवेध, १०-व्रतादेश (उपनयन), ११-वेदारम्भ, १२-केशान्त (गोदान), १३-वेदस्नान (समावर्तन), १४- विवाह, १५-विवाहाग्निपरिग्रह और १६-त्रेताग्निसंग्रह।

आगे इन्हीं सोलह संस्कारोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इनका आरम्भ जन्मसे पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है।

१-गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च। नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधि:। केशान्त: स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रह:॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्कारा: षोडश स्मृता:। (व्यासस्मृति १। १३—१५)

विशेष जानकारीके लिये गृह्यसूत्रों, मनु आदि स्मृतियोंके साथ पुराणोंका भी गम्भीर अवलोकन करना चाहिये।

[१] गर्भाधान-संस्कार—विधिपूर्वक संस्कारसे युक्त गर्भाधानसे अच्छी और सुयोग्य संतान उत्पन्न होती है। इस संस्कारसे वीर्यसम्बन्धी तथा गर्भसम्बन्धी पापका नाश होता है, दोषका मार्जन तथा क्षेत्रका संस्कार होता है। यही गर्भाधान-संस्कारका फल है[1]। गर्भाधानके समय स्त्री-पुरुष जिस भावसे भावित होते हैं, उसका प्रभाव उनके रज-वीर्यमें भी पड़ता है। उस रज-वीर्यजन्य संतानमें भी वे भाव प्रकट होते हैं[2]। अतः शुभ मुहूर्तमें शुभ मन्त्रसे प्रार्थना करके गर्भाधान करे। इस विधानसे कामुकताका दमन और शुभ-भावापन्न मनका सम्पादन हो जाता है। द्विजातिको गर्भाधानसे पूर्व पवित्र होकर इस मन्त्रसे प्रार्थना करनी चाहिये—

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

(बृहदारण्यक ६। ४। २१)

'हे सिनीवाली देवि! एवं हे विस्तृत जघनोंवाली पृथुष्टुका देवि! आप इस स्त्रीको गर्भ धारण करनेकी सामर्थ्य दें और उसे पुष्ट करें। कमलोंकी मालासे सुशोभित दोनों अश्विनीकुमार तेरे गर्भको पुष्ट करें।'

[२] **पुंसवन-संस्कार**—पुत्रकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें पुंसवन-संस्कारका विधान है। '**गर्भाद् भवेच्च पुंसूते पुंस्त्वरूपप्रतिपादनम्**' (स्मृतिसंग्रह) इस गर्भसे पुत्र उत्पन्न हो, इसलिये पुंसवन-संस्कार किया जाता है। '**पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः**' अर्थात् '**पुम्**' नामक नरकसे जो त्राण (रक्षा) करता है, उसे पुत्र कहा जाता है। इस वचनके आधारपर नरकसे बचनेके लिये मनुष्य पुत्र-प्राप्तिकी कामना करते हैं। मनुष्यकी इस अभिलाषाकी पूर्तिके लिये ही पुराणोंमें पुंसवन-संस्कारका विधान मिलता है। जब गर्भ दो-तीन मासका होता है अथवा गर्भिणीमें गर्भके चिह्न स्पष्ट हो जाते हैं, तभी पुंसवन-संस्कारका विधान बताया गया है।

शुभ मङ्गलमय मुहूर्तमें माङ्गलिक पाठ करके गणेश आदि देवताओंका पूजन कर वटवृक्षके नवीन अङ्कुरों तथा पल्लवों और कुशकी जड़को जलके साथ पीसकर उस रसरूप ओषधिको पति गर्भिणीके दाहिने नाकसे पिलाये और पुत्रकी भावनासे—

ॐ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु० १३। ४)

—इत्यादि मन्त्रोंका पाठ करे। इन मन्त्रोंसे सुसंस्कृत तथा अभिमन्त्रित भाव-प्रधान नारीके मनमें पुत्रभावका प्रवाह प्रवाहित हो जाता है। जिसके प्रभावसे गर्भके मांस-पिण्डमें पुरुषके चिह्न उत्पन्न होते हैं।

पुंसवन-संस्कारका ही उपाङ्गभूत एक संस्कार होता है जो 'अवलोभन' कहलाता है। इस संस्कारका यह प्रयोजन है कि इससे गर्भस्थ शिशुकी रक्षा होती है और असमयमें गर्भ च्युत नहीं होने पाता। इसमें शिशुकी रक्षाके लिये सभी माङ्गलिक पूजन, हवनादि कार्योंके अनन्तर जल एवं ओषधियोंकी प्रार्थना की जाती है।

पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुराणोंमें 'पुंसवन' नामक एक व्रत-विशेषका विधान भी बतलाया गया है, जो एक वर्षतक चलता है। स्त्रियाँ पतिकी आज्ञासे ही इस व्रतका संकल्प लेती हैं। भागवतके छठे स्कन्ध, अध्याय १८-१९ में बताया गया है कि महर्षि कश्यपकी आज्ञासे दितिने इन्द्रके वधकी क्षमता रखनेवाले पुत्रकी कामनासे यह व्रत किया था।

[३] **सीमन्तोन्नयन-संस्कार**—गर्भके छठे या आठवें मासमें यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कारका फल भी गर्भकी शुद्धि ही है। सामान्यतः गर्भमें ४ मासके बाद बालकके अङ्ग-प्रत्यङ्ग-हृदय आदि प्रकट हो जाते हैं। चेतनाका स्थान हृदय बन जानेके कारण गर्भमें चेतना आ जाती है। इसलिये उसमें इच्छाओंका उदय होने लगता है। वे इच्छाएँ माताके हृदयमें प्रतिबिम्बित होकर प्रकट होती

१-निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चापमृज्यते। क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥ (स्मृतिसंग्रह)

२-आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥ (सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान २। ४६। ५०)

अर्थात् स्त्री और पुरुष जैसे आहार, व्यवहार तथा चेष्टासे संयुक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनका पुत्र भी वैसे ही स्वभावका होता है।

हैं, जो 'दोहद' कहलाता है। गर्भमें जब मन तथा बुद्धिमें नूतन चेतनाशक्तिका उदय होने लगता है, तब इनमें जो संस्कार डाले जाते हैं, उनका बालकपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इस समय गर्भ शिक्षण-योग्य होता है। महाभक्त प्रह्लादको देवर्षि नारदजीका उपदेश तथा अभिमन्युको चक्रव्यूह-प्रवेशका उपदेश इसी समयमें मिला था। अत: माता-पिताको चाहिये कि इन दिनों विशेष सावधानीके साथ शास्त्रसम्मत व्यवहार रखें।

इस संस्कारमें घृतयुक्त यज्ञ-अवशिष्ट सुपाच्य पौष्टिक चरु (खीर) गर्भवती स्त्रीको खिलाया जाता है। संस्कारके दिन सुपाच्य पौष्टिक भोजनका विधान करके यह संकेत कर दिया गया है कि प्रसवपर्यन्त ऐसा ही सुपाच्य पौष्टिक भोजन देना चाहिये।

इस संस्कारमें पतिको शास्त्रवर्णित गूलर आदि वनस्पतिद्वारा गर्भिणीके सीमन्त (माँग)-का '**ॐ भूर्विनयामि, ॐ भुवर्विनयामि, ॐ स्वर्विनयामि**' इन्हें पढ़ते पृथक्करणादि क्रियाएँ करते हुए यह मन्त्र पढ़ना चाहिये—

येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥

अर्थात् 'जिस प्रकार देवमाता अदितिका सीमन्तोन्नयन प्रजापतिने किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणीका सीमन्तोन्नयन करके इसके पुत्रको जरावस्थापर्यन्त दीर्घजीवी करता हूँ।' इसके बाद वृद्धा ब्राह्मणियोंद्वारा आशीर्वाद दिलाया जाता है।

[४] जातकर्म-संस्कार—इस संस्कारसे गर्भस्रावजन्य सारा दोष नष्ट हो जाता है। बालकका जन्म होते ही यह संस्कार करनेका विधान है। नालछेदनसे पूर्व बालकको स्वर्णकी शलाकासे अथवा अनामिका अँगुलीसे मधु तथा घृत चटाया जाता है। इसमें स्वर्ण त्रिदोषनाशक है। घृत आयुवर्धक तथा वात-पित्तनाशक है एवं मधु कफनाशक है। इन तीनोंका सम्मिश्रण आयु, लावण्य और मेधाशक्तिको बढ़ानेवाला तथा पवित्रकारक होता है।

बालकके पिता अथवा आचार्यको बालकके कानके पास उसके दीर्घायुके लिये इस मन्त्रका पाठ करना चाहिये—

अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्मान्। तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि॥ (पारस्कर० १। १६। ६)

'जिस प्रकार अग्निदेव वनस्पतियोंद्वारा आयुष्मान् हैं, उसी प्रकार उनके अनुग्रहसे मैं तुम्हें दीर्घायुसे युक्त करता हूँ। ऐसे ८ आयुष्य-मन्त्रोंको बालकके कानके पास गम्भीरतापूर्वक जप कर उसके मनको उत्तम भावोंसे भावित करे। पुनः पिताद्वारा पुत्रके दीर्घायु होने तथा उसके कल्याणकी कामनासे '**ॐ दिवस्परि प्रथमं जज्ञे०**' (यजु० १२। १८—२८) इत्यादि ग्यारह मन्त्रोंका पाठ करते हुए बालकके हृदय आदि सभी अङ्गोंका स्पर्श करनेका विधान है। इस संस्कारमें माँके स्तनोंको धोकर दूध पिलानेका विधान इसलिये किया गया है कि माँके रक्त और मांससे उत्पन्न बालकके लिये माँका दूध ही सर्वाधिक पोषक पदार्थ है।

[५] नामकरण-संस्कार—इस संस्कारका फल आयु तथा तेजकी वृद्धि एवं लौकिक व्यवहारकी सिद्धि बताया गया है[१]। जन्मसे दस रात्रिके बाद ११ वें दिन या कुलक्रमानुसार सौवें दिन या एक वर्ष बीत जानेके बाद नामकरण-संस्कार करनेकी विधि है। पुरुष और स्त्रियोंका नाम किस प्रकारका रखा जाय—इन सारी विधियोंका वर्णन धर्मशास्त्रोंमें बताया गया है।

[६] निष्क्रमण-संस्कार—इस संस्कारका फल विद्वानोंने आयुकी वृद्धि बताया है—(**निष्क्रमणादायुषो वृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः**)। यह संस्कार बालकके चौथे या छठे मासमें होता है, सूर्य तथा चन्द्रादि देवताओंका पूजन करके बालकको उनके दर्शन कराना इस संस्कारकी मुख्य प्रक्रिया है। बालकका शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशसे बनता है। बालकका पिता इस संस्कारके अन्तर्गत आकाश आदि पञ्चभूतोंके अधिष्ठाता देवताओंसे बालकके कल्याणकी कामना करता है। यथा—

शिवे तेऽऽस्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ, शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे। शिवा अभिक्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥ (अथर्व० सं० ८। २। १४)

१-आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहतेस्तथा। नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः॥ (स्मृतिसंग्रह)

अर्थात् 'हे बालक! तेरे निष्क्रमणके समय द्युलोक तथा पृथिवीलोक कल्याणकारी सुखद एवं शोभास्पद हों। सूर्य तेरे लिये कल्याणकारी प्रकाश करें। तेरे हृदयमें स्वच्छ कल्याणकारी वायुका संचरण हो। दिव्य जलवाली गङ्गा-यमुना आदि नदियाँ तेरे लिये निर्मल स्वादिष्ट जलका वहन करें।'

[७] अन्नप्राशन-संस्कार—इस संस्कारके द्वारा माताके गर्भमें मलिन भक्षण-जन्य जो दोष बालकमें आ जाते हैं, उनका नाश हो जाता है (अन्नाशनान्मातृगर्भे मलाशाद्यपि शुध्यति)। जब बालक ६-७ मासका होता है और दाँत निकलने लगते हैं, पाचनशक्ति प्रबल होने लगती है, तब यह संस्कार किया जाता है।

शुभ मुहूर्तमें देवताओंका पूजन करनेके पश्चात् माता-पिता आदि सोने या चाँदीकी शलाका या चम्मचसे निम्नलिखित मन्त्रसे बालकको हविष्यान्न (खीर) आदि पवित्र और पुष्टिकारक अन्न चटाते हैं—

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥
(अथर्व० ८। २। १८)

अर्थात् हे 'बालक! जौ और चावल तुम्हारे लिये बलदायक तथा पुष्टिकारक हों, क्योंकि ये दोनों वस्तुएँ यक्ष्मा-नाशक हैं तथा देवान्न होनेसे पापनाशक हैं।'

इस संस्कारके अन्तर्गत देवोंको खाद्य-पदार्थ निवेदित करके अन्न खिलानेका विधान बताया गया है। अन्न ही मनुष्यका स्वाभाविक भोजन है, उसे भगवान्‌का कृपाप्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिये।

[८] वपन-क्रिया (चूडाकरण-संस्कार)—इसका फल बल, आयु तथा तेजकी वृद्धि करना है। इसे प्रायः तीसरे वर्ष, पाँचवें या सातवें वर्ष अथवा कुलपरम्पराके अनुसार करनेका विधान है। मस्तकके भीतर ऊपरको जहाँपर बालोंका भँवर होता है, वहाँ सम्पूर्ण नाड़ियों एवं संधियोंका मेल हुआ है। उसे 'अधिपति' नामका मर्मस्थान कहा गया है, इस मर्मस्थानकी सुरक्षाके लिये ऋषियोंने उस स्थानपर चोटी रखनेका विधान किया है। यथा—

नि वर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥ (यजु० ३। ६३)

'हे बालक! मैं तेरे दीर्घायुके लिये तथा तुम्हें अन्नके ग्रहण करनेमें समर्थ बनानेके लिये, उत्पादन-शक्ति-प्राप्तिके लिये, ऐश्वर्य-वृद्धिके लिये, सुन्दर संतानके लिये, बल तथा पराक्रम-प्राप्तिके योग्य होनेके लिये तेरा चूडाकरण (मुण्डन)-संस्कार करता हूँ।' इस मन्त्रसे बालकको सम्बोधित करके शुभ मुहूर्तमें कुशल नाईसे बालकका मुण्डन कराये। बादमें सिरमें दही-मक्खन लगाकर बालकको स्नान कराकर माङ्गलिक क्रियाएँ करनी चाहिये।

[९] कर्णवेध—पूर्ण पुरुषत्व एवं स्त्रीत्वकी प्राप्तिके लिये यह संस्कार किया जाता है। शास्त्रोंमें कर्णवेधरहित पुरुषको श्राद्धका अधिकारी नहीं माना गया है। इस संस्कारको छः माससे लेकर सोलहवें मासतक अथवा तीन, पाँच आदि विषम वर्षमें या कुलक्रमागत आचारको मानते हुए सम्पन्न करना चाहिये। सूर्यकी किरणें कानोंके छिद्रसे प्रविष्ट होकर बालक-बालिकाको पवित्र करती हैं और तेज-सम्पन्न बनाती हैं। यद्यपि ब्राह्मण और वैश्यका रजतशलाका (सूई)-से, क्षत्रियका स्वर्णशलाकासे तथा शूद्रका लौहशलाकाद्वारा कान छेदनेका विधान है तथापि वैभवशाली पुरुषोंको स्वर्णशलाकासे ही यह क्रिया सम्पन्न करानी चाहिये। पवित्र स्थानमें शुभ समयोंमें देवताओंका पूजन करके सूर्यके सम्मुख बालक अथवा बालिकाके कानोंका निम्नलिखित मन्त्रद्वारा अभिमन्त्रण करना चाहिये—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
(यजु० २५। २१)

फिर बालकके प्रथम दाहिने कानमें तदनन्तर बायें कानमें सूईसे छेद करे। बालिकाके पहले बायें फिर दाहिने कानके वेधके साथ बायीं नासिकाके वेधका भी विधान मिलता है। इन वेधोंमें बालकोंको कुण्डल आदि तथा बालिकाको कर्णाभूषण आदि पहनाने चाहिये। कर्णवेधके नक्षत्रसे तीसरे नक्षत्रमें लगभग तीसरे दिन अच्छी तरहसे उष्ण-जलसे कानको धोना और स्नान कराना चाहिये। कर्णवेधके लिये जन्मनक्षत्र, रात्रि तथा दक्षिणायन निषिद्ध समय माना गया है।

[१०] उपनयन (व्रतादेश)-संस्कार—इस संस्कारसे द्विजत्वकी प्राप्ति होती है। शास्त्रों तथा पुराणोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि इस संस्कारके द्वारा ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्यका द्वितीय जन्म होता है। विधिवत् यज्ञोपवीत धारण करना इस संस्कारका मुख्य अङ्ग है। इस संस्कारके द्वारा अपने आत्यन्तिक कल्याणके लिये वेदाध्ययन तथा गायत्री-जप और श्रौत-स्मार्त आदि कर्म करनेका अधिकार प्राप्त होता है।

शास्त्रविधिसे उपनयन-संस्कार हो जानेपर गुरु बालकके *कंधों तथा हृदयका स्पर्श करते हुए कहता है*—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

मैं वैदिक तथा लौकिक शास्त्रोंके ज्ञान करानेवाले वेदव्रत तथा विद्याव्रत—इन दो व्रतोंको तुम्हारे हृदयमें स्थापित कर रहा हूँ। तुम्हारा चित्त—मन या अन्तःकरण मेरे अन्तःकरणका ज्ञानमार्गमें अनुसरण करता रहे अर्थात् जिस प्रकार मैं तुम्हें उपदेश करता रहूँ, उसे तुम्हारा चित्त ग्रहण करता चले। मेरी बातोंको तुम एकाग्र-मनसे समाहित होकर सुनो और ग्रहण करो। प्रजापति ब्रह्मा एवं बुद्धि-विद्याके स्वामी बृहस्पति तुम्हें मेरी विद्याओंसे संयुक्त करें।

इसी प्रकार वेदाध्ययनके साथ-साथ गुरुद्वारा बालक (वटु)-को कई उपदेश प्रदान किये जाते हैं। प्राचीन कालमें केवल वाणीसे ही ये शिक्षाएँ नहीं दी जाती थीं, प्रत्युत गुरुजन तत्परतापूर्वक शिष्योंसे पालन भी करवाते थे।

[११] वेदारम्भ-संस्कार—उपनयन हो जानेपर बालकका वेदाध्ययनमें अधिकार प्राप्त हो जाता है। ज्ञानस्वरूप वेदोंके सम्यक् अध्ययनसे पूर्व मेधाजनन नामक एक उपाङ्ग-संस्कार करनेका विधान है। इस क्रियासे बालककी मेधा, प्रज्ञा, विद्या तथा श्रद्धाकी अभिवृद्धि होती है। और वेदाध्ययन आदिमें विशेष अनुकूलता प्राप्त होती है तथा विद्याध्ययनमें कोई विघ्न नहीं होने पाता। ज्योतिर्निबन्धमें कहा गया है—

विद्यया लुप्यते पापं विद्ययाऽऽयुः प्रवर्धते।
विद्यया सर्वसिद्धिः स्याद्विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

'वेदविद्याके अध्ययनसे सारे पापोंका लोप होता है, आयुकी वृद्धि होती है, सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यहाँतक कि उसके समक्ष साक्षात् अमृत रस अशन-पानके रूपमें उपलब्ध हो जाता है।'

गणेश और सरस्वतीकी पूजा करनेके पश्चात् वेदारम्भ—विद्यारम्भमें प्रविष्ट होनेका विधान है। शास्त्रोंमें कहे गये निषिद्ध तिथियोंमें वेदका स्वाध्याय नहीं करना चाहिये। *अपने गुरुजनोंसे अङ्गोंसहित वेदों तथा उपनिषदोंका अध्ययन* करना चाहिये। तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कराना ही इस संस्कारका परम प्रयोजन है। 'वेदव्रत' नामके संस्कारमें महानाम्नी, महान्, उपनिषद् एवं उपाकर्म चार व्रत आते हैं। उपाकर्मको सभी जानते हैं, यह प्रतिवर्ष श्रावणमें होता है। शेष प्रथम महानाम्नीमें प्रतिवर्षान्त सामवेदके महानाम्नी आर्चिकके नौ ऋचाओंका पाठ होता है। प्रथम मुख्य ऋचा इस प्रकार है—

विदा मघवन् विदा गातुमनुशꣳसिषो दिशः।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो॥

(साम० ६४१)

इसका भाव है—'अत्यन्त वैभवशाली, उदार एवं पूज्य परमात्मन्! आप सम्पूर्ण वेद-विद्याओंके ज्ञानसे सम्पन्न हैं एवं आप सन्मार्ग और गम्य दिशाओंको भी ठीक-ठीक जानते हैं, हे आदिशक्तिके स्वामिन्! आप हमें शिक्षाका साङ्गोपाङ्ग रहस्य बतला दें।'

द्वितीय तथा तृतीय वर्षोंमें क्रमशः 'वैदिक महाव्रत' तथा 'उपनिषद्व्रत' किया जाता है, जिसमें वेदोंकी ऋचाओं तथा उपनिषदोंका श्रद्धापूर्वक पाठ किया जाता है और अन्तमें सावित्री-स्नान होता है। इसके अनन्तर वेदाध्यायी 'स्नातक' कहलाता है। इसमें सभी मन्त्र-संहिताओंका गुरुमुखसे श्रवण तथा मनन करना होता है। यह वेदारम्भ मुख्यतः ब्रह्मचर्याश्रम-संस्कार है। [क्रमशः]

आचार

वेद-स्मृति-पुराणादि शास्त्रोंमें आचार-विचारकी अत्यधिक महिमा है। वे कहते हैं जो मनुष्य आचारवान् हैं, उन्हें दीर्घ आयु, धन, संतति, सुख और धर्मकी प्राप्ति होती है। संसारमें वे विद्वानोंसे भी मान्यताको प्राप्त करते हैं और उन्हें नित्य अविनाशी भगवान् विष्णुके लोककी प्राप्ति होती है—

आचारवन्तो मनुजा लभन्ते
आयुश्च वित्तं च सुतांश्च सौख्यम्।
धर्मं तथा शाश्वतमीशलोक-
मत्रापि विद्वज्जनपूज्यतां च॥

सभी शास्त्रोंका यह निश्चित मत है कि आचार ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। आचारहीन पुरुष यदि पवित्रात्मा भी हो तो उसका परलोक और इहलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं—

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारी पवित्रात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति॥

यह भी कहा गया है कि '**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**' (विष्णुधर्मो० ३। २५०। ५) अर्थात् जो व्यक्ति आचारहीन हैं, उन्हें वेद भी पवित्र नहीं करते। अपवित्र व्यक्तिद्वारा अनुष्ठित धर्म निष्फल-सा होता है। इस सम्बन्धमें इतिहास-पुराणोंमें एक बड़ी रोचक कथा प्राप्त होती है। तदनुसार वेदके एक शिष्य थे उत्तंक। उन्होंने कुछ खाकर खड़े-खड़े आचमन कर लिया, जिससे उन्हें राजा पौष्यकी पतिव्रता रानीका राजमहलमें दर्शन तक नहीं हुआ। जब पौष्यद्वारा उनकी उच्छिष्टता या अपवित्रताकी सम्भावना व्यक्त हुई और उत्तंकने भलीभाँति अपना हाथ, पैर तथा मुख धोकर पूर्वाभिमुख आसनपर बैठ, हृदयतक पहुँचने योग्य पवित्र जलसे तीन बार आचमन किया और अपने नेत्र, नासिका आदिका जलसिक्त अँगुलियोंद्वारा स्पर्श कर शुद्ध हो अन्तःपुरमें प्रवेश किया, तब उन्हें पतिव्रता रानीका दर्शन हुआ।

पुराणोंमें आचारपर बहुत सूक्ष्म विचार किया गया है, जिससे सामान्यजन परिचित न होनेके कारण पूर्ण लाभ नहीं उठा पाते। आचारके दो भेद माने गये हैं—एक 'सदाचार' तथा दूसरा 'शौचाचार'। मनुष्य-जीवनकी सफलताके लिये सदाचरणका होना अत्यन्त आवश्यक है। विष्णुपुराणमें और्व ऋषिने गृहस्थके सदाचारके विषयमें कहा है—

सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः।
पापेऽप्यपापः परुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः।
मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता॥
(३। १२। ४१)

'बुद्धिमान् गृहस्थ पुरुष सदाचारके पालन करनेसे ही संसारके बन्धनसे मुक्त होता है। सदाचारी विद्या और विनयसे युक्त रहता है तथा पापी पुरुषके प्रति भी पापमय, कष्टप्रद व्यवहार नहीं करता। वह सभीके साथ हित, प्रिय और मधुर भाषण करता है। सदाचारी पुरुष मैत्रीभावसे द्रवित अन्तःकरणवाले होते हैं, उनके लिये मुक्ति हस्तगत रहती है।'

सदाचारके अन्तर्गत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, राग-द्वेष, झूठ, कपट, छल-छद्म, दम्भ आदि असत्-आचरणोंका त्याग तथा सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, क्षमा, धृति, इन्द्रियनिग्रह, अक्रोध आदि सत्-आचरणोंका ग्रहण मुख्य है। देवीभागवतमें कहा गया है—

आचारवान् सदा पूतः सदैवाचारवान् सुखी।
आचारवान् सदा धन्यः सत्यं सत्यं च नारद॥
(११। २४। ९८)

विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें कहा गया है कि सभी शुभ लक्षणोंसे युक्त होनेपर भी पुरुष यदि आचारसे रहित है तो उसे न विद्याकी प्राप्ति होती है और न अभीष्ट मनोरथोंकी ही। ऐसा व्यक्ति नरकका भागी बनता है—

सर्वलक्षणयुक्तोऽपि नरस्त्वाचारवर्जितः।
न प्राप्नोति तथा विद्यां न च किञ्चिदभीप्सितम्।
आचारहीनः पुरुषो नरकं प्रतिपद्यते॥
(३। २५०। ४)

इसके विपरीत जो सत्-आचारका पालन करता है, वह पुरुष स्वर्ग, कीर्ति, आयु, सम्मान तथा सभी लौकिक सुखोंका भोग करता है। आचारवान्को ही स्वर्ग प्राप्त होता है, वह रोगसे रहित रहता है, उसकी आयु लम्बी होती है और सभी ऐश्वर्योंका वह भोग करता है—

आचारः स्वर्गजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचारश्च तथायुष्यो धन्यो लोकसुखावहः॥
आचारयुक्तस्त्रिदिवं प्रयाति
आचारवानेव भवत्यरोगः।
आचारवानेव चिरं तु जीवे-
दाचारवानेव भुनक्ति लक्ष्मीम्॥
(विष्णुधर्मो० ३। २७१। १, ४)

अतः शास्त्रोंमें वर्णित सदाचरणोंका ही सर्वदा व्यवहार करना चाहिये। कल्याणका यह परम श्रेयस्कर मार्ग है।

शौचाचार—सदाचारकी भाँति शौचाचारका भी स्मृति एवं पुराणोंमें विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। शौचाचारसे प्रत्यक्षतः शरीरादिकी बाह्यशुद्धि होती है। प्रातःकाल उठनेसे लेकर शयनपर्यन्त शौचाचारकी विधि धर्मशास्त्रोंमें वर्णित है, यहाँ शौचाचारके कुछ सूत्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

प्रातःकाल उठनेके बाद भगवत्स्मरणके अनन्तर शौचकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—शौचके समय मृत्तिकाका प्रयोग अवश्य करना चाहिये। एक बार मूत्रेन्द्रिय तथा तीन बार पायु (मलस्थान)-को मृत्तिका एवं जलसे प्रक्षालित करे। तदनन्तर दस बार बायाँ हाथ मिट्टीसे धोये तथा सात बार दोनों हाथ मिट्टीसे धोने चाहिये। तीन बार पाँवोंको मिट्टीसे धोये। इसके बाद आठ बार कुल्ला करना चाहिये तथा लघुशंकाके अनन्तर चार बार कुल्ला करना चाहिये।[1] उपर्युक्त विधान गृहस्थोंके लिये है। ब्रह्मचारियोंको इसका दुगुना, वानप्रस्थियोंको तिगुना तथा संन्यासियोंको चार गुना करना चाहिये।

दन्तधावन-विधि—शौचादि कृत्यके बाद दन्तधावन-विधि बतायी गयी है। मौन होकर दातौन अथवा मंजनसे दाँत साफ करने चाहिये। दातौनके लिये खैर, करंज, कदम्ब, बड़, इमली, बाँस, आम, नीम, चिचड़ा, बेल, आक, गूलर, बदरी, तिन्दुक आदिकी दातूनें अच्छी मानी जाती हैं[2]। लिसोढ़ा, पलाश, कपास, नील, धव, कुश, काश आदि वृक्षकी दातौन वर्जित हैं।

निषिद्धकाल—प्रतिपदा, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, जन्मदिन, विवाह, व्रत, उपवास, रविवार और श्राद्धके अवसरपर दातौन नहीं करना चाहिये। रजस्वला तथा प्रसूतावस्थामें भी दातौन वर्जित है।

जिन-जिन अवसरोंपर दातौनका निषेध है, उन-उन अवसरोंपर तत्तद् वृक्षोंके पत्तों या सुगन्धित दन्तमंजनोंसे दाँत स्वच्छ कर लेना चाहिये।[3] निषिद्धकालमें जीभी करनेका निषेध नहीं है।

क्षौरकर्म—क्षौरकर्मके लिये बुधवार तथा शुक्रवारके दिन प्रशस्त हैं। शनि, मंगल तथा बृहस्पतिवार और प्रतिपदा, चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी आदि तिथियाँ निषिद्ध कही गयी हैं। व्रत और श्राद्धके दिन भी क्षौरकर्ममें वर्जित हैं।

तैलाभ्यङ्गविधि—रविवारको तेल लगानेसे ताप, सोमवारको शोभा, भौमवारको मृत्यु (अर्थात् आयुकी क्षीणता), बुधवारको धन, गुरुवारको हानि, शुक्रवारको दुःख और शनिवारको सुख होता है। यदि निषिद्ध दिनोंमें तेल लगाना हो तो रविवारको पुष्प, गुरुवारको दूर्वा, भौमवारको मिट्टी और शुक्रवारको गोबर तेलमें डालकर लगानेसे दोष नहीं होता है—

तैलाभ्यङ्गे रवौ तापः सोमे शोभा कुजे मृतिः।
बुधे धनं गुरौ हानिः शुक्रे दुःखं शनौ सुखम्॥
रवौ पुष्पं गुरौ दूर्वा भौमवारे च मृत्तिका।
गोमयं शुक्रवारे च तैलाभ्यङ्गे न दोषभाक्॥

स्नान—शरीरकी पवित्रताके लिये नित्य स्नानकी आवश्यकता है। शास्त्रोंमें स्नानके कई प्रकार बतलाये गये हैं। सामान्यतः शुद्ध जलसे सम्पूर्ण शरीरके मल-प्रक्षालनको

१-पवित्रताके लिये कम-से-कम लघुशंकाके समय जलका प्रयोग तो अवश्य करना चाहिये। शौचविधि रात्रिमें तथा स्त्री और शूद्रके लिये आधी हो जाती है, मार्गमें चौथाई बरती जाती है तथा रोगियोंके लिये उनकी शक्तिपर निर्भर करती है।

२-खदिरश्च करञ्जश्च कदम्बश्च वटस्तथा। तिन्तिडी वेणुपृष्ठं च आम्रनिम्बौ तथैव च॥
अपामार्गश्च बिल्वश्च अर्कश्चौदुम्बरस्तथा। बदरी तिन्दुकास्त्वेते प्रशस्ता दन्तधावने॥

३-'तत्तत्पत्रैः सुगन्धैर्वा कारयेद् दन्तधावनम्' (स्कन्दपु०, प्रभासखण्ड)

स्नान कहा जाता है। मत्स्यपुराणमें कहा गया है कि स्नानके बिना शरीरकी निर्मलता और भावशुद्धि नहीं प्राप्त होती। अतः मनकी विशुद्धिके लिये सर्वप्रथम स्नानका विधान है। कुएँ आदिके निकाले हुए अथवा बिना निकाले हुए नदी-तालाब आदिके जलसे स्नान करना चाहिये। मन्त्रवेत्ता विद्वान् पुरुषको 'ॐ नमो नारायणाय' इस मूल मन्त्रके द्वारा उस जलमें तीर्थ-भावनाकी कल्पना करनी चाहिये।[१] स्नानके लिये गङ्गाका जल तथा तीर्थोंका जल सर्वाधिक पवित्र माना जाता है। फिर अन्य नदियों, सरोवरों, तड़ागों, कूपों आदिके जल पवित्र माने गये हैं। गङ्गा, तीर्थों तथा नदियोंमें स्नानका विशेष महत्त्व बताया गया है। अन्य स्नानकी विशेष विधियाँ भी पुराणोंमें वर्णित हैं। यथा—प्रायश्चित्तस्नान, अभिषेकस्नान, भस्मस्नान तथा मृत्तिकास्नान आदि। अशक्तावस्थामें कटिभागसे नीचेके अङ्गोंका प्रक्षालन तथा गलेसे ऊपरके अङ्गोंके प्रक्षालनसे भी स्नानकी विधि पूरी हो जाती है। विशेष अशक्तावस्था तथा आपत्तिकालमें निम्न मन्त्रोंद्वारा मार्जन-स्नानकी विधि बतायी गयी है—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

—इस मन्त्रके द्वारा शरीरपर जलसे मार्जन करे तथा—

'आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ तस्मा अरं गमाम वः'—

—इस मन्त्रके द्वारा भी शरीरपर जल छिड़कते हुए मार्जन-स्नान करना चाहिये। **'यस्य क्षयाय जिन्वथ'** कहकर नीचे जल छोड़े और **'आपो जनयथा च नः॥'** इससे पुनः मार्जन करे।

भोजनविधि—स्नानोपरान्त संध्योपासन एवं पूजन आदिसे निवृत्त होनेके पश्चात् भोजनकी विधि है। भोजनके सम्बन्धमें दो बातें मुख्य हैं। एक तो उच्छिष्ट (जूठा) भोजन करना सर्वथा निषिद्ध है। भोजन प्रारम्भ करनेसे पूर्व हाथ-पैरोंको शुद्ध जलसे प्रक्षालित करना चाहिये तथा जलद्वारा आचमन करके मौन होकर भोजन करना चाहिये। भोजनके अन्तमें भी आचमन करनेकी विधि है।

भोजनकी दूसरी मुख्य बात है द्रव्य-शुद्धि। सदाचारपूर्वक अर्जित द्रव्यका ही भोजन मनुष्यके लिये लाभदायी होता है तथा उसके अन्तःकरण और बुद्धिको पवित्र रखता है। अतः स्थूल दृष्टिसे भोजनमें शुद्धता, पवित्रता और सात्त्विकता होनी ही चाहिये, पर साथ ही सूक्ष्मरूपसे सत्यतासे अर्जित धनसे बना भोजन परम पवित्र होता है। बिना परिश्रम किये किसी पराये व्यक्तिके अन्नका भोजन करनेकी प्रवृत्ति भी नहीं रखनी चाहिये[२]।

आशौच—जीवनमें कुछ अवस्थाएँ ऐसी भी आती हैं जब व्यक्ति आशौचावस्थामें रहता है। उस समय वह देवार्चन आदि कोई शुभ कार्य करनेका अधिकारी नहीं रहता। आशौचकी व्यवस्था धर्मशास्त्रोंका एक मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

जननाशौच-मरणाशौच—अपने परिवारमें नवशिशुके जन्म होनेपर प्रायः तीन दिन तथा सगोत्रमें किसी व्यक्तिकी मृत्यु हो जानेपर दस रात्रिका आशौच माना गया है। आशौचावस्थामें देवकार्य, पितृकार्य, वेदाध्ययन तथा गुरुजनोंका अभिवादन आदि शुभ कार्योंका निषेध किया गया है। यहाँतक कि देवमन्दिरमें प्रवेश तथा पूजन आदि करना भी वर्जित है।

स्त्रियोंके लिये प्रायः मासमें एक बार विशेष अवस्था आती है, जिसमें वे रजस्वला हो जाती हैं। इसमें तीन रात्रितक उनकी आशौचावस्था रहती है। इस अवधिमें स्त्रीको घरका कोई काम-काज नहीं करना चाहिये। यहाँतक कि किसी वस्तु या किसी व्यक्तिको स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। इस अवस्थाके समाप्त होनेपर स्त्रीके लिये सचैल स्नानकी विधि है। तदनुसार उसके कपड़े तथा बर्तन आदि धोनेके बाद ही शुद्धता होती है।

आचमन—जिस प्रकार शरीरकी शुद्धि तथा पवित्रताके

१-नैर्मल्यं भावशुद्धिश्च बिना स्नानं न विद्यते। तस्मान्मनोविशुद्ध्यर्थं स्नानमादौ विधीयते॥
अनुद्धृतैरुद्धृतैर्वा जलैः स्नानं समाचरेत्। तीर्थं प्रकल्पयेद् विद्वान् मूलमन्त्रेण मन्त्रवित्॥
(मत्स्य० १०२। १-२)

२-अपने मित्र या सगे-सम्बन्धियोंके यहाँ विशेष आग्रह होनेपर विवशतापूर्वक भोजन करनेमें दोष नहीं है।

लिये स्नानादि कृत्योंका महत्त्व है, उसी प्रकार आभ्यन्तर एवं बाह्य पवित्रताके लिये पुराणोंमें आचमनका भी विशेष महत्त्व वर्णित है। प्राय: दैनिक कार्योंमें सामान्य शुद्धिके लिये प्रत्येक कार्यमें आचमनका विधान है। लघुशंका, शौच तथा स्नान आदिके अनन्तर आचमन करना आवश्यक है। अत: आचमनसे हम केवल अपनी ही शुद्धि नहीं करते, अपितु ब्रह्मासे लेकर तृणतकको तृप्त करते हैं।[१] कोई भी देवादि शुभ कार्य करनेके अनन्तर आचमन करना चाहिये।

आचमन-विधि—पूर्व, उत्तर या ईशान दिशाकी ओर मुख करके आसनपर बैठ जाय, शिखा बाँधकर हाथ घुटनोंके भीतर रखते हुए निम्न मन्त्रोंसे तीन बार आचमन करे—

'**ॐ केशवाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ माधवाय नमः।**' आचमनके बाद अँगूठेके मूलभागसे होंठोंको दो बार पोंछकर '**ॐ हृषीकेशाय नमः**' उच्चारण करके हाथ धोये। फिर अँगूठेसे आँख, नाक तथा कानका स्पर्श करे। अशक्त होनेपर तीन बार आचमन करके हाथोंको धोकर दाहिना कान छू ले। दक्षिण और पश्चिमकी ओर मुख करके आचमन नहीं करना चाहिये। चलते-फिरते भी नहीं करना चाहिये।

मादक द्रव्योंका निषेध—संसारमें मदिरा, ताड़ी, चाय, कॉफी, कोको, भाँग, अफीम, चरस, गाँजा, तंबाकू, बीड़ी-सिगरेट तथा चुरुट आदि जितनी भी मादक वस्तुएँ हैं, वे सब मनुष्यमात्रके लिये अव्यवहार्य हैं। इनका उपयोग मनुष्यको भीषण गर्तमें डालनेवाला होता है। पद्मपुराणके अनुसार धूम्रपान करनेवाले ब्राह्मणको दान तक देनेवाला व्यक्ति नरकगामी होता है तथा धूम्रपान करनेवाला ब्राह्मण ग्राम-शूकर होता है—

धूम्रपानरते विप्रे दानं कुर्वन्ति ये नराः।
ते नरा नरकं यान्ति ब्राह्मणा ग्रामशूकराः॥

(पद्मपुराण)

पद्मपुराणमें यह बात आयी है कि मादक द्रव्योंके सेवनसे व्यक्तिका आत्मिक पतन और उसकी शारीरिक हानि होती है। इसलिये किसी भी स्थितिमें इन वस्तुओंका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये।

भारतीय संस्कृति एवं सनातनधर्ममें आचार-विचारको सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया गया है। मनुष्य-जीवनकी सफलताके लिये, वास्तविक उन्नतिको प्राप्त करनेके निमित्त आचारका आश्रय आवश्यक है। इससे अन्त:करणकी पवित्रताके साथ-साथ लौकिक और पारलौकिक लाभ भी प्राप्त होता है।

चतु:श्लोकी

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः। स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥
एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति। प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्॥
यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि। ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि॥
अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः। स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः॥

सदा सर्वतोभावेन (हृदयके सम्पूर्ण अनुरागके साथ) व्रजेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी ही आराधना करनी चाहिये। अपना (जीव-मात्रका) यही धर्म है। कभी कहीं भी इसके सिवा दूसरा धर्म नहीं है। सदा ऐसा ही (सम्पूर्णभावसे भगवान्‌का भजन ही) करना चाहिये। प्रभु श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् हैं, वे स्वयं ही हमारी सँभाल करेंगे—ऐसा समझकर अपने योगक्षेमकी ओरसे निश्चिन्त रहे। यदि गोकुलाधीश्वर नन्दनन्दनको सब प्रकारसे हृदयमें धारण कर लिया है, तो बताओ, लौकिक और वैदिक कर्मोंका इसके सिवा और क्या प्रयोजन है (भगवान्‌को हृदयमें बसा लेना ही तो जीवनका परम और चरम फल है)! अत: सदा सम्पूर्ण हृदयसे गोकुलाधीश्वर श्यामसुन्दरके युगल चरणारविन्दोंका चिन्तन और भजन कभी नहीं छोड़ना चाहिये, यही मेरा मत है।

१-(क) एवं स ब्राह्मणो नित्यमुपस्पर्शनमाचरेत्। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् स परितर्पयेत्॥ (व्याघ्रपादस्मृति)
(ख) यः क्रियां कुरुते मोहादनाचम्यैव नास्तिकः। भवन्ति हि वृथा तस्य क्रियाः सर्वा न संशयः॥ (पुराणसार)

दान

मनुष्यके जीवनमें दानका अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है, यह एक प्रकारका नित्यकर्म है। मनुष्यको प्रतिदिन कुछ दान अवश्य करना चाहिये—

'श्रद्धया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्'

दान चाहे श्रद्धासे दे अथवा लज्जासे दे या भयसे दे, परंतु दान किसी भी प्रकार अवश्य देना चाहिये। मानवजातिके लिये दान परम आवश्यक है। दानके बिना मानवकी उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। इस प्रसंगमें एक कथा आती है—एक बार देवता, मनुष्य और असुर तीनोंकी उन्नति अवरुद्ध हो गयी। अतः वे सब पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास गये और अपना दुःख दूर करनेके लिये उनकी प्रार्थना करने लगे। प्रजापति ब्रह्माने तीनोंको मात्र एक अक्षरका उपदेश दिया—'द'। स्वर्गमें भोगोंके बाहुल्यसे भोग ही देवलोकका सुख माना गया है, अतः देवगण कभी वृद्ध न होकर सदा इन्द्रियभोग भोगनेमें लगे रहते हैं। उनकी इस अवस्थापर विचार कर प्रजापतिने देवताओंको 'द' के द्वारा दमन—इन्द्रिय-दमनका उपदेश दिया। ब्रह्माके इस उपदेशसे देवगण अपनेको कृतकृत्य मानकर उन्हें प्रणाम कर वहाँसे चले गये।

असुर स्वभावसे ही हिंसा-वृत्तिवाले होते हैं, क्रोध और हिंसा उनका नित्यका व्यापार है, अतएव प्रजापतिने उन्हें इस दुष्कर्मसे छुड़ानेके लिये 'द' के द्वारा जीवमात्रपर 'दया' करनेका उपदेश दिया। असुरगण ब्रह्माकी इस आज्ञाको शिरोधार्य कर वहाँसे चले गये।

मनुष्य, कर्मयोनि होनेके कारण सदा लोभवश कर्म करने और अर्थसंग्रहमें ही लगे रहते हैं। इसलिये प्रजापतिने लोभी मनुष्योंको 'द' के द्वारा उनके कल्याणके लिये 'दान' करनेका उपदेश किया। मनुष्यगण भी प्रजापतिकी आज्ञाको स्वीकार कर सफल-मनोरथ होकर उन्हें प्रणाम कर वहाँसे चले गये। अतः मानवको अपने अभ्युदयके लिये दान अवश्य करना चाहिये।

विभवो दानशक्तिश्च महतां तपसां फलम्।

विभव और दान देनेकी सामर्थ्य अर्थात् मानसिक उदारता—ये दोनों महान् तपके ही फल हैं। विभव होना तो सामान्य बात है। यह तो कहीं भी हो सकता है, पर उस विभवको दूसरोंके लिये देना यह मनकी उदारतापर ही निर्भर करता है, जो जन्म-जन्मान्तरके पुण्य-पुञ्जसे प्राप्त होता है।

महाराज युधिष्ठिरके समयकी एक घटना है—किन्हीं ब्राह्मण देवताके पिताका देहान्त हो गया। उनके मनमें यह भाव आया कि मैं अपने पिताका दाह-संस्कार चन्दनकी चितापर करूँ। पर उनके पास चन्दनकी लकड़ीका सर्वथा अभाव था। वे राजा युधिष्ठिरके पास गये और उन्होंने उनसे सारा वृत्तान्त बताकर पिताके दाह-संस्कारके निमित्त चन्दन-काष्ठकी याचना की। महाराज युधिष्ठिरके पास चन्दन-काष्ठकी कोई कमी नहीं थी तथा ऐसे समय वे उन ब्राह्मणको देना भी चाहते थे, परंतु उस समय अनवरत वर्षा होनेके कारण सम्पूर्ण काष्ठ भीग चुके थे। गीली लकड़ीसे दाह-संस्कार नहीं हो सकता था, अतः उन्हें वहाँसे निराश लौटना पड़ा। इसके अनन्तर वे इसी कार्यके निमित्त राजा कर्णके पास पहुँचे। राजा कर्णके सामने भी ठीक वही परिस्थिति थी। अनवरत वर्षाके कारण सम्पूर्ण काष्ठ गीले हो चुके थे। परंतु ब्राह्मणको पितृदाहके लिये चन्दनकी सूखी लकड़ीकी आवश्यकता थी। कर्णने यह निर्णय लिया कि उनका सिंहासन चन्दनकी लकड़ीसे बना हुआ है, जो एकदम सूखा है। अतः उन्होंने कारीगरोंको बुलाकर सिंहासनसे काष्ठ निकालनेका तत्काल आदेश दे दिया और इस प्रकार उन ब्राह्मणके पिताका दाह-संस्कार चन्दनकी चितापर सम्पन्न हो सका। चन्दनके काष्ठका सिंहासन महाराज युधिष्ठिरके पास भी था, पर यह सामयिक ज्ञान और मनकी उदारता उन्हें प्राप्त न थी, जिसके कारण वे इस दानसे वञ्चित रह गये और यह श्रेय कर्णको ही प्राप्त हो सका। इसीलिये कर्णको 'दानवीर' की उपाधि भी प्राप्त हुई।

शास्त्रोंमें दानके लिये स्थान, काल और पात्रका विस्तृत विचार किया गया है। दान किसी शुभ स्थानपर अर्थात् तीर्थ आदिमें शुभकालमें, अच्छे मुहूर्तमें सत्पात्रको देना चाहिये। यद्यपि यह विचार सर्वथा उचित है, परंतु अनवसरमें भी यदि अवसर प्राप्त हो जाय तो भी दानका अपना एक वैशिष्ट्य है—जिस पात्रको आवश्यकता है, जिस स्थानपर

आवश्यकता है और जिस कालमें आवश्यकता है, उसी क्षण दान देनेका एक अपना विशेष महत्त्व है। विशेष आपत्तिकालमें तत्क्षण पीड़ित समुदायको अन्न, आवास, भूमि आदिकी जो सहायता प्रदान की जाती है, वह इसी कोटिका दान है। यह दान व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकारसे होता है। शास्त्रों तथा पुराणोंमें दानके विभिन्न स्वरूप वर्णित हैं—

(१) दैनिक जीवनमें जिस प्रकार व्यक्तिके द्वारा और सत्कर्म सम्पन्न होते हैं, उसी प्रकार दान भी नित्य-नियमपूर्वक करना चाहिये। इस प्रकारके दानमें अन्न-दानका विशेष महत्त्व बताया गया है।

(२) विभिन्न पर्वोंपर तथा विशेष अवसरोंपर जो दान दिये जाते हैं, उन्हें नैमित्तिक दान कहते हैं, शास्त्र-पुराणोंमें इसकी विस्तारपूर्वक व्यवस्था बतायी गयी है। जैसे सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहणके समय ताम्र अथवा रजतपात्रमें काले तिल, स्वर्ण तथा द्रव्यादिका दान। एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति तथा व्यतीपात आदि पुण्यकालमें विशेषरूपसे दानका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इनमें अन्नदान, द्रव्यदान, स्वर्णदान, भूमिदान तथा गोदान आदिका विशेष महत्त्व है।

(३) वेद-पुराणोंमें कुछ ऐसे दानोंका भी वर्णन है, जो मनुष्यकी कामनाओंकी पूर्तिके लिये किये जाते हैं, जिनमें तुलादान, गोदान, भूमिदान, स्वर्णदान, घटदान आदि अष्ट, दश तथा षोडश महादान परिगणित हैं—ये सभी प्रकारके दान काम्य होते हुए भी यदि नि:स्वार्थभावसे भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके निमित्त भगवदर्पण-बुद्धिसे किये जायँ तो वे ब्रह्म-समाधिमें परिणत होकर भगवत्प्राप्ति करानेमें विशेष सहायक सिद्ध हो सकेंगे।

(४) कुछ दान 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय'की भावनासे सर्वसाधारणके हितमें करनेकी परम्परा है। देवालय, विद्यालय, औषधालय, भोजनालय (अन्नक्षेत्र), अनाथालय, गोशाला, धर्मशाला, कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि सर्वजनोपयोगी स्थानोंका निर्माण आदि कार्य यदि न्यायोपार्जित द्रव्यसे बिना यशकी कामनासे भगवत्प्रीत्यर्थ किये जायँ तो परमकल्याणकारी सिद्ध होंगे।

सामान्यत: न्यायपूर्वक अर्जित किये हुए धनका दशमांश बुद्धिमान् मनुष्यको दान-कार्यमें ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये लगाना चाहिये।

न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमत:।
कर्तव्यो विनियोगश्च ईश्वरप्रीत्यर्थमेव च॥

(स्कन्दपुराण)

अन्यायपूर्वक अर्जित धनका दान करनेसे कोई पुण्य नहीं होता। यह बात '**न्यायोपार्जितवित्तस्य**' इस वचनसे स्पष्ट होती है। दान देनेका अभिमान तथा लेनेवालेपर किसी प्रकारके उपकारका भाव न उत्पन्न हो, इसके लिये इस श्लोकमें 'कर्तव्य' पदका प्रयोग हुआ है। अर्थात् 'धनका इतना हिस्सा दान करना' यह मनुष्यका कर्तव्य है। मानवका मुख्य लक्ष्य है—ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त करना। अत: दानरूप कर्तव्यका पालन करते हुए भगवत्प्रीतिको बनाये रखना भी आवश्यक है। इसीलिये '**कर्तव्यो विनियोगश्च ईश्वरप्रीत्यर्थमेव च**' इन शब्दोंका प्रयोग किया गया है। यदि किसी व्यक्तिके पास एक हजार रुपये हों, उनमेंसे यदि उसने एक सौ रुपये दान कर दिये तो बचे हुए ९०० रुपयोंमें ही इसका ममत्व और आसक्ति रहेगी। इस प्रकार दान ममता या आसक्तिको कम करके अन्त:करणकी शुद्धिरूप प्रत्यक्ष (दृष्ट) फल प्रदान करता है और शास्त्र-प्रमाणानुसार वैकुण्ठलोककी प्राप्तिरूप अप्रत्यक्ष (अदृष्ट) फल भी प्रदान करता है।

देवीभागवतमें तो यह स्पष्ट कहा गया है कि अन्यायसे उपार्जित धनद्वारा किया गया शुभ कर्म व्यर्थ है। इससे न तो इहलोकमें कीर्ति ही होती है और न परलोकमें कोई पारमार्थिक फल ही मिलता है—

अन्यायोपार्जितेनैव द्रव्येण सुकृतं कृतम्।
न कीर्तिरिहलोके च परलोके च तत्फलम्॥

(देवीभागवत ३। १२। ८)

उपार्जित धनके दशमांशका दान करनेका यह विधान सामान्य कोटिके मानवोंके लिये किया गया है, पर जो व्यक्ति वैभवशाली, धनी और उदारचेता हैं, उन्हें तो अपने उपार्जित धनको पाँच भागोंमें विभक्त करना चाहिये।

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

दैनिक चर्या

मनुष्य-जीवनमें प्रात:काल जागरणसे लेकर रात्रिमें शयनपर्यन्त दैनिक कार्यक्रमोंका पर्याप्त महत्त्व है। शास्त्रोंमें यह प्रकरण दैनन्दिन सदाचारमें निर्दिष्ट है। प्राय: कई सज्जन-घंटे-दो-घंटेका समय भगवदाराधन, पूजा-पाठ, समाजसेवा तथा परोपकारादिके कार्योंमें व्यतीत करते हैं, परंतु शेष समय व्यवहार-जगत्‌में स्वेच्छाचारपूर्वक काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य तथा छल-कपटसे युक्त असत्-कार्योंमें भी लगाते हैं। जिससे पाप-पुण्य और सुख-दु:ख दोनों उन्हें भोगना पड़ता है।

सच्चा सुख नित्य, सनातन और एकरस शान्तिमें है। उसके आश्रय हैं मङ्गलमय भगवान्। प्रत्येक स्त्री-पुरुषका प्रयत्न उन्हीं परमप्रभुको प्राप्त करनेके लिये होना चाहिये। अत: इस भव-बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि चौबीस घंटेके सम्पूर्ण समयका कार्यक्रम भगवदाराधनके रूपमें हो। चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना आदि सब कुछ भगवान्‌की प्रीतिके लिये पूजारूपमें हो। पापाचरणके लिये कहीं भी अवकाश न हो, तभी स्वत: कल्याणका मार्ग प्रशस्त हो सकेगा—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(गीता १८। ४६)

अपनी दिनचर्या शास्त्र-पुराणोक्त वचनोंके अनुसार ही चलानी चाहिये, जिससे जीवन भगवत्पूजामय बन जाय। यहाँ संक्षेपमें इसका किञ्चित् दिग्दर्शन करानेका प्रयास किया जाता है—

प्रात:जागरण—प्रात:काल ब्राह्ममुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे प्राय: डेढ़ घंटा पूर्व उठ जाना चाहिये। आँख खुलते ही दोनों करतलोंको देखते हुए निम्न श्लोकका पाठ करना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

'हथेलियोंके अग्रभागमें लक्ष्मी निवास करती हैं, मध्यभागमें सरस्वती और मूलमें ब्रह्माजी निवास करते हैं। अत: प्रात: हथेलियोंका दर्शन करना आवश्यक है, इससे पुण्य लाभ होता है।'

भूमि-वन्दना—शय्यापर बैठकर पृथ्वीपर पैर रखनेसे पूर्व पृथ्वी माताका अभिवादन करना चाहिये और उनपर पैर रखनेकी विवशताके लिये उनसे क्षमा माँगते हुए निम्नलिखित श्लोकका पाठ करना चाहिये—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

(विश्वामित्र-स्मृति)

मङ्गल-दर्शन—तदनन्तर दर्पण, सोना, गोरोचन, चन्दन, मणि, सूर्य और अग्नि आदि माङ्गलिक वस्तुओंका दर्शन और मूर्तिमान् भगवान् माता-पिता, गुरु एवं ईश्वरको नमस्कार करना चाहिये। फिर शौचादिसे निवृत्त होकर रातका कपड़ा बदलकर आचमन करना चाहिये। पुन: निम्नलिखित श्लोकोंको पढ़कर पुण्डरीकाक्ष भगवान्‌का स्मरण करते हुए अपने ऊपर जलसे मार्जन करना चाहिये। इससे मान्त्रिक स्नान हो जाता है—

ॐ अपवित्र: पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
य: स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तर: शुचि:॥
अतिनीलघनश्यामं नलिनायतलोचनम्।
स्मरामि पुण्डरीकाक्षं तेन स्नातो भवाम्यहम्॥

पुन: उपासनामय कर्महेतु दैनन्दिन संसार-यात्राके लिये भगवत्प्रार्थना कर उनसे आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये—

त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव
श्रीनाथ विष्णो भवदाज्ञयैव।
प्रात: समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये॥

(मन्त्रमहोदधि २१। ६)

अजपा-जप—इसके बाद अजपा-जपका संकल्प करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रोक्त सभी साधनोंमें यह 'अजपा-जप' विशेष सुगम है। स्वाभाविक श्वासके साथ 'हंस:-हंस:' के जपका ध्यान करनेसे सोते-जागते सब स्थितियोंमें यह जप चलता रहता है।[१]

तदनन्तर भगवान्‌का ध्यान करते हुए नाम-कीर्तन करना चाहिये और प्रात:स्मरणीय श्लोकोंका पाठ करना चाहिये। तत्पश्चात् शौचादि कृत्योंसे निवृत्त होना चाहिये। शौचविधिमें शुद्धिके लिये जल और मृत्तिकाका प्रयोग बताया गया है[२], जो परम आवश्यक है।

आभ्यन्तरशौच[३]—व्याघ्रपादके अनुसार मिट्टी और जलसे होनेवाला शौच बाह्यशौच कहा जाता है। इसकी अबाधित आवश्यकता है, किंतु आभ्यन्तरशौचके बिना यह प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। शौचाचारविहीनकी की गयी सभी क्रियाएँ भी निष्फल ही होती हैं[४]। मनोभावको शुद्ध रखना आभ्यन्तरशौच माना गया है। किसीके प्रति ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा आदिका न होना आभ्यन्तरशौच है। भगवान् सबमें विद्यमान हैं, इसलिये किसीसे द्वेष-क्रोधादि नहीं करना चाहिये। सबमें भगवान्‌का दर्शन करते हुए, सभी परिस्थितियोंको भगवान्‌का वरदान समझते हुए सबमें मैत्रीभाव रखना चाहिये, साथ ही प्रतिक्षण भगवान्‌का स्मरण करते हुए उनकी आज्ञा समझकर शास्त्रविहित कार्य करते रहना चाहिये।

स्नान—उषाकी लालीसे पूर्व ही स्नान करना उत्तम है।

१-२४ घंटेमें मनुष्य प्राय: २१६०० श्वास लेता है। अत: प्रत्येक श्वासके साथ 'हंस:' का स्वाभाविक जप हो जाता है। 'हकारेण बहिर्याति संकारेण विशेत् पुन:। हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥'—अत: प्रात:काल एक बार प्रभुके चरणोंमें इसे मानसिकरूपसे भी समर्पित कर देना चाहिये। शास्त्रोंमें लिखा है—

'अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा। अस्या: संकल्पमात्रेण नर: पापै: प्रमुच्यते॥'

२-शौचकी विधि 'आचार'-प्रकरणमें देखनी चाहिये।

३-शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्॥ (आह्निक०, व्याघ्रपाद)

४-शौचे यत्न: सदा कार्य: शौचमूलो द्विज: स्मृत:। शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फला: क्रिया:॥ (दक्ष)

इससे प्राजापत्य-व्रतका फल प्राप्त होता है[1]। तेल लगाकर तथा देहको मल-मलकर गङ्गादिमें स्नान करना मना है। वहाँ बाहर तटपर ही देह-हाथ मलकर नहा लेना चाहिये। इसके बाद नदीमें गोता लगाये। शास्त्रोंने इसे 'मलापकर्षण' स्नान कहा है। यह अमन्त्रक होता है। स्वास्थ्य और शुचिता—दोनोंके लिये यह स्नान भी आवश्यक है। निवीती होकर गमछेसे जनेऊको भी स्वच्छ कर ले[2]। इसके बाद शिखा बाँधकर दोनों हाथोंमें पवित्री पहनकर आचमन और प्राणायाम कर दाहिने हाथमें जल लेकर संकल्पपूर्वक स्नान करना चाहिये।

स्नानसे पूर्व समस्त अङ्गोंमें निम्न मन्त्रसे मिट्टी लगानी चाहिये—

अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्॥

तत्पश्चात् गङ्गाजीके द्वादशनामोंका कीर्तन करे, जिसे उन्होंने स्नान-कालमें वहाँ अपने उपस्थित होनेका निर्देश दिया है—मन्त्र इस प्रकार है—

नन्दिनी नलिनी सीता मालती च मलापहा।
विष्णुपादाब्जसम्भूता गङ्गा त्रिपथगामिनी॥
भागीरथी भोगवती जाह्नवी त्रिदशेश्वरी।
द्वादशैतानि नामानि यत्र यत्र जलाशये॥
स्नानोद्यतः पठेज्जातु तत्र तत्र वसाम्यहम्[3]।

इसके बाद नाभिपर्यन्त जलमें जाकर जलकी ऊपरी सतह हटाकर, कान और नाक बंदकर प्रवाह या सूर्यकी ओर मुख करके स्नान करे। शिखा खोलकर तीन, पाँच, सात या बारह गोते लगाये। गङ्गाके जलमें वस्त्रको नहीं निचोड़ना चाहिये। शौचकालका वस्त्र पहनकर तीर्थोंमें स्नान करना तथा थूकना निषिद्ध है। स्नानके अनन्तर जलसे प्रक्षालित शुद्ध वस्त्र धारण कर देवार्चन करना चाहिये। ऊनी तथा कौशेय वस्त्र बिना धोये भी शुद्ध मान्य हैं।

तिलक-धारण—कुशा अथवा ऊनके आसनपर बैठकर पूजा, दान, होम, तर्पण आदि कर्मोंके पहले तिलक अवश्य धारण करना चाहिये। बिना तिलक इन कर्मोंको निष्फल बताया गया है।

शिखा-बन्धन—जहाँ शिखा रखी जाती है, वहाँ मेरुदण्डके भीतर स्थित ज्ञान तथा क्रियाशक्तिका आधार सुषुम्ना नाडी समाप्त होती है। यह स्थान शरीरका सर्वाधिक मर्मस्थान है। इस स्थानपर चोटी रखनेसे मर्म-स्थान, क्रिया-शक्ति तथा ज्ञान-शक्ति सुरक्षित रहती है, जिससे भजन-ध्यान, दानादि शुभ कर्म सुचारुरूपसे सम्पन्न होते हैं। इसीलिये कहा गया है—

ध्याने दाने जपे होमे संध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

जपादि करनेके पूर्व आसनपर बैठकर तिलक धारण तथा शिखा-बन्धन करनेके पश्चात् संकल्पपूर्वक संध्यावन्दन करना चाहिये। संध्यामें प्राणायाम, '**सूर्यश्च॰**' आदि मन्त्रसे अम्बुप्राशन, अघमर्षण, पापपुरुष-निरसन, सूर्योपस्थान कर आवाहनपूर्वक १०८ या उससे अधिक गायत्रीमन्त्रका जप करना चाहिये।

पञ्चमहायज्ञ—संध्योपासनके अनन्तर पञ्चमहायज्ञका विधान है। वे हैं-ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव) और मनुष्ययज्ञ[4]। वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एवं संध्योपासन, गायत्रीजप आदि ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ) है, नित्य श्राद्ध-तर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है। गृहस्थके घर प्रतिदिन चूल्हा-चक्की, झाड़ू, ऊखल एवं घड़ेसे जलने-मरनेवाले प्राणियोंके पापकी निष्कृतिके लिये इनकी पर्याप्त महत्ता है, अतः ये अनुदिन अनुष्ठेय हैं। देवयज्ञसे देवताओंकी, ऋषियज्ञसे ऋषियोंकी, पितृयज्ञसे पितरोंकी, मनुष्ययज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे भूतोंकी तृप्ति होती है।

पितृतर्पणमें भी देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर—सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है। यहाँतक कि पहाड़, वनस्पति और शत्रु आदिको भी जल देकर तृप्त किया जाता है। देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है। वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि तथा वृष्टिसे अन्न

१-उषस्युषसि यत् स्नानं नित्यमेवारुणोदये। प्राजापत्येन तत् तुल्यं महापातकनाशनम्॥ (दक्ष)

२-यज्ञोपवीतं कण्ठे कृत्वा त्रिःप्रक्षाल्य। (आचाररत्न)

३-साधारण कूप, बावली आदिके जलमें गङ्गाजीका यह आवाहन तो आवश्यक है ही, अन्य पवित्र नदियोंके जलमें भी यह आवश्यक माना गया है।

४-अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनु॰ ३। ७०)

और प्रजाकी उत्पत्ति होती है[1]। भूतयज्ञको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं, इसमें अग्नि, सोम, इन्द्र, वरुण, मरुत् तथा विश्वेदेवोंके निमित्त आहुतियाँ एवं अन्नग्रासकी बलि दी जाती है।

मनुष्य-यज्ञमें घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है।[2] यदि भोजन करानेकी सामर्थ्य न हो तो बैठनेके लिये स्थान, आसन तथा जल प्रदानकर मीठे वचनोंद्वारा उसका स्वागत तो अवश्य ही करना चाहिये।[3]

स्वाध्यायसे ऋषियोंका, हवनसे देवताओंका, तर्पण और श्राद्धसे पितरोंका, अन्नसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये।[4] इस प्रकार जो मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका सत्कार करता है, वह तेजोमय मूर्ति धारण कर सीधे अर्चिमार्गके द्वारा परमधामको प्राप्त होता है।[5] सबको भोजन देनेके बाद शेष बचा हुआ अन्न यज्ञशिष्ट होनेके कारण अमृतके तुल्य है, इसलिये ऐसे अन्नको ही सज्जनोंके खाने योग्य कहा गया है।[6] भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी प्राय: ऐसी ही बात कही है।[7]

उपर्युक्त सभी महायज्ञोंका तात्पर्य सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी अन्न और जलके द्वारा सेवा करना एवं अध्ययन-अध्यापन, जप, उपासना आदि स्वाध्यायद्वारा सबका हित चाहना है। इनमें स्वार्थ-त्यागकी बात तो पद-पदमें बतायी गयी है।

आहार—प्राणीके नेत्र, श्रोत्र, मुख आदिद्वारा आहरणीय रूप, शब्द, रस आदि विषयरूप आहार-शुद्धिसे मनकी शुद्धि होती है। मन शुद्ध होनेपर परमतत्त्वकी निश्चल स्मृति होती है।

निश्चल स्मृतिसे ग्रन्थिमोक्ष होता है।[8] बलिवैश्वदेवके अनन्तर गौ, श्वान, काक, अतिथि तथा कीट-पतंगके निमित्त पञ्चबलि निकालनेका विधान है, जो भोजनके पूर्व तत्तद् जीवोंको देना चाहिये। अपने इष्टदेवको नैवेद्य निवेदित कर अर्थात् भगवान्को भोग लगाकर ही प्रसादरूपमें भोजन करनेका विधान है। प्रारम्भमें '**ॐ भूपतये स्वाहा, ॐ भुवनपतये स्वाहा, ॐ भूतानां पतये स्वाहा**'—इन मन्त्रोंसे तीन ग्रास निकालनेकी विधि है। इसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण पृथ्वीके स्वामी एवं चतुर्दश भुवनोंके स्वामीको तथा चराचर जगत्के सम्पूर्ण प्राणियोंको मैं यह अन्न प्रदान करता हूँ। तदनन्तर '**ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा** और **ॐ समानाय स्वाहा**'—इन पाँच मन्त्रोंसे लवणरहित पाँच ग्रास आत्मारूप ब्रह्मके लिये पञ्च आहुतिके रूपमें लेना चाहिये। तत्पश्चात् '**अमृतोपस्तरणमसि**' इस मन्त्रसे आचमन करे। इसका अर्थ है 'मैं अमृतमय अन्नदेवको आसन प्रदान करता हूँ।' फिर मौन होकर भोजन करना चाहिये। भोजनके अन्तमें '**अमृतापिधानमसि**' इस मन्त्रसे पुन: आचमन करना चाहिये। इसका अर्थ है 'मैं अमृतरूप अन्नदेवताको आच्छादित करता हूँ।' आहारकी पवित्रताके लिये यह आवश्यक है कि आहार उच्छिष्ट न हो तथा सत्यतासे अर्जित धनसे ही निर्मित किया गया हो।

कर्मक्षेत्र (गृहस्थाश्रमका पालन)—गृहस्थमात्रको घरके कामोंमें मन लगाना चाहिये। गृहस्थ-आश्रम सभी आश्रमोंका आधार कहा गया है। यह बात सबको स्मरण रखना चाहिये कि हम जो कुछ भी करें वह सब प्रभुप्रीत्यर्थ ही करें। कर्म करके उसका सम्पूर्ण फल भगवान्के चरणोंमें अर्पित कर देना चाहिये। ऐसा करनेपर मनुष्यको कर्म-बन्धनमें बँधना नहीं पड़ेगा और उसके समस्त कर्म भगवदाराधनमें परिणत हो जायँगे। पुराणोंमें कहा गया है कि 'शरीरका निर्वाह हो जाय' यही लक्ष्य रखकर शरीरको कोई क्लेश पहुँचाये बिना, वर्णविहित, निन्दारहित कार्यके द्वारा धनका संचय करना चाहिये—

१-अग्नौ प्रास्ताहुति: सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं तत: प्रजा:॥ (मनु० ३। ७६)
२-सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके। अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥ (मनु० ३। ९९)
३-तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (मनु० ३। १०१)
४-स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि। पितॄञ्छ्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ (मनु० ३। ८१)
५-एवं य: सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति। स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति पथर्जुना॥ (मनु० ३। ९३)
६-अघं स केवलं भुङ्क्ते य: पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥ (मनु० ३। ११८)
७-यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै:। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (गीता ३। १३)
८-आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि: सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति:। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष:॥ (छान्दोग्य० ७। २६। २)

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्॥

शयन-विधि—जैसे मनुष्य सोकर उठनेपर शान्तचित्तसे जिसका चिन्तन करता है, उसका प्रभाव गहरा पड़ता है, उसी प्रकार सोनेसे पूर्व जिसका चिन्तन करता हुआ सोता है, उसका भी गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः शयनसे पूर्व पुराणोंकी सात्त्विक कथा या भक्तगाथा आदि श्रवण करते हुए शयन करना चाहिये। भविष्यपुराणमें कहा गया है—'जो हाथ, पैर धोकर पवित्र हुआ मनुष्य पुराणोंकी सात्त्विक कथा सुनता है, वह ब्रह्महत्यादि पापोंसे मुक्त हो जाता है।'[१] पर यह भोजनसे पूर्व नियमित कथा-श्रवणकी विधि प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त शयनसे पूर्व दिनभरके कार्योंका सम्यक् अवलोकन करना चाहिये तथा इस सम्बन्धमें यह चिन्तन करना चाहिये कि कोई गलत कार्य तो नहीं किया। यदि कोई गलत कार्य हो गया हो तो उसके लिये पश्चातापपूर्वक भगवान्से क्षमा-याचना करनी चाहिये और भविष्यमें फिर इस प्रकारकी गलतीकी पुनरावृत्ति न हो ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए शयन करना चाहिये। इससे जीवनको निर्दोष बनानेमें रजस्वला होनेपर भूलकर भी स्त्री-सहवास न करे, न उसके साथ एक शय्यापर सोये। रजस्वलागामी पुरुषकी प्रज्ञा, तेज, बल, चक्षु और आयु नष्ट हो जाती है।

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह॥
रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते॥

अतः गृहस्थ व्यक्तिको अपने कल्याणके लिये शास्त्रमर्यादाका पालन करना चाहिये। वास्तवमें मनुष्यका शरीर खान-पान, भोग-विलासके लिये नहीं, प्रत्युत शास्त्र-मर्यादाका पालन करके भगवत्प्राप्ति करनेके लिये मिला है, जो प्रधान लक्ष्य है। इन्द्रियोंके विषयोंको राग-द्वेषरहित होकर इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। शब्द, रूप आदिका श्रवण और दर्शन आदि करते समय अनुकूल तथा प्रतिकूल पदार्थोंमें राग-द्वेषरहित होकर उनका न्यायोचित सेवन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें 'प्रसाद' होता है। उस 'प्रसाद' या 'प्रशम'से सारे दुःखोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो

धर्मशास्त्रोंमें निरूपित श्राद्ध-तत्त्व

श्राद्धकी परिभाषा

श्रद्धापूर्वक किये जानेके कारण ही मुख्यत: इसका नाम श्राद्ध है—'प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः।' 'श्राद्धतत्त्व' में पुलस्त्यके वचनसे कहा गया है कि श्राद्धमें संस्कृत व्यञ्जनादि पक्वान्नोंको दूध, दही, घी आदिके साथ श्रद्धापूर्वक देनेके कारण ही इसका नाम श्राद्ध पड़ा—

संस्कृतव्यञ्जनाद्यं च पयोदधिघृतान्वितम्।
श्रद्धया दीयते यस्माच्छ्राद्धं तेन प्रकीर्तितम्॥

'श्राद्धकल्पलता'कार नन्दपण्डितका कहना है कि पितरोंके उद्देश्यसे श्रद्धा एवं आस्तिकतापूर्वक पदार्थ-त्यागका नाम श्राद्ध है—

पित्र्युद्देश्येन श्रद्धया त्यक्तस्य द्रव्यस्य ब्राह्मणैर्यत्स्वीकरणं तच्छ्राद्धम्।

'श्राद्धविवेक'कार महामहोपाध्याय श्रीरुद्रधर पण्डितका कहना है कि वेदोक्त पात्रालम्भनपूर्वक पित्रादिकोंके उद्देश्यसे द्रव्यत्यागात्मक कर्म ही श्राद्ध है—

श्राद्धं नाम वेदबोधितपात्रालम्भनपूर्वकप्रमीत-पित्रादिदेवतोद्देश्यको द्रव्यत्यागविशेषः।

'गौडीय श्राद्धप्रकाश'कार पण्डित श्रीचतुर्थीलालजीका मत है कि देश-काल-पात्रमें पितरोंके उद्देश्यसे श्रद्धापूर्वक हविष्यान्न, तिल, कुश तथा जल आदिका त्याग—दान श्राद्ध है—

देशकालपात्रेषु पित्र्युद्देश्येन हविस्तिलदर्भमन्त्रश्रद्धादिभिर्दानं श्राद्धम्।

दर्शनकाननपञ्चानन श्रीवाचस्पतिमिश्रका भी यही मत है। 'पृथ्वीचन्द्रोदय'कारने भी मरीचिके वचनसे कहा है—

प्रेतं पितृंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥

'ब्रह्मपुराण'की भी प्राय: यही सम्मति है—

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।
पितृनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम्॥
(अ० १३०)

पराशरजी भी अपनी स्मृतिमें यही कहते हैं—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम्॥

'वीरमित्रोदय'कार श्रीवीरमिश्र अपने 'श्राद्धप्रकाश'में बृहस्पतिके वचनसे यही कहते हैं—

('संस्कृतव्यञ्जनाद्यं च' आदि 'श्राद्धतत्त्व' का प्रथमोक्त वचन।)

श्राद्धकी वस्तुएँ पितरोंको अवश्य मिलती हैं

श्राद्ध आदिमें समर्पित वस्तुएँ पितरोंको कैसे पहुँचती हैं? ऐसी शंकाका होना स्वाभाविक है, शास्त्रोंने इसका स्पष्ट उत्तर दिया है। स्कन्दपुराणमें वर्णन आया है कि एक बार राजा करन्धमने परम शैव महायोगी महाकालसे पूछा—'भगवन्! मेरे मनमें सदा यह संशय बना रहता है कि मनुष्योंद्वारा पितरोंके उद्देश्यसे जो तर्पण या पिण्डदान आदि किया जाता है तो वह जल-पिण्ड आदि पदार्थ तो यहीं रह जाता है फिर पितरोंके पास वे वस्तुएँ कैसे पहुँचती हैं और कैसे पितरोंको तृप्ति होती है। इसे आप बतलानेकी कृपा करें'।

इसपर महाकालने उन्हें बताया कि 'राजन्! पितरों और देवताओंकी योनि ही ऐसी है कि वे दूरसे कही हुई बातें सुन लेते हैं, दूरकी पूजा भी ग्रहण कर लेते हैं और दूरसे की गयी स्तुतिसे भी संतुष्ट होते हैं। वे भूत, भविष्य तथा वर्तमान सब कुछ जानते हैं और सर्वत्र पहुँचते हैं। पाँचों तन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहंकार और प्रकृति—इन नौ तत्त्वोंका बना हुआ उनका शरीर होता है। इसके भीतर दसवें तत्त्वके रूपमें साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम निवास करते हैं। इसलिये देवता और पितर गन्ध तथा रस-तत्त्वसे तृप्त होते हैं। शब्द-तत्त्वसे रहते हैं और स्पर्श-तत्त्वको ग्रहण करते हैं। पवित्रता देखकर उन्हें परम तुष्टि होती है। वे वर देनेमें समर्थ हैं। जैसे मनुष्योंका आहार अन्न है, पशुओंका आहार तृण है, वैसे ही पितरोंका आहार अन्नका सार-तत्त्व है। पितरोंकी शक्तियाँ अचिन्त्य और ज्ञानगम्य हैं। अत: वे अन्न और जलका सार-तत्त्व ही ग्रहण करते हैं, शेष जो स्थूल वस्तु है, वह यहीं स्थित रह जाती है।'

नाम-गोत्रोंके सहारे विश्वेदेव एवं अग्निष्वात्त आ[dि] दिव्य पितर हव्य-कव्यको पितरोंको प्राप्त करा देते हैं। य[दि] पिता देवयोनिको प्राप्त हो गया हो तो यहाँ दिया गया अ[न्न] उसे अमृत होकर प्राप्त होता है। मनुष्ययोनि अथव[ा] पशुयोनिमें भी उसे अभीष्ट अन्न तृणके रूपमें वह हव्य-

कव्य प्राप्त होता है। नाग आदि योनियोंमें वायुरूपसे, यक्षयोनिमें पानरूपसे तथा अन्य योनियोंमें भी श्राद्धवस्तु उसे भोगजनक तृप्तिकर पदार्थोंके रूपमें मिलकर अवश्य तृप्त करता है[1]। जिस प्रकार गोशालामें भूली माताको बछड़ा किसी-न-किसी प्रकार ढूँढ़ ही लेता है, उसी प्रकार मन्त्र तत्तद्वस्तुजातको प्राणीके पास किसी-न-किसी प्रकार पहुँचा ही देता है। नाम, गोत्र और हृदयकी भक्ति एवं देश-कालादिके सहारे दिये हुए पदार्थोंको भक्तिसे उच्चारित मन्त्र उनके पास पहुँचा देता है। जीव चाहे सैकड़ों योनियोंको भी पार क्यों न कर गया हो, तृप्ति तो उसके पास पहुँच ही जाती है[2]। जिन महर्षि याज्ञवल्क्यके लिये तुलसीदासजीने—

'जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना॥'

(बालकाण्ड ३०। ७)

—ऐसा लिखा है, उन्हींका कहना है कि पितरलोग श्राद्धसे तृप्त होकर आयु, प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, राज्य एवं अन्य सभी सुख भी देते हैं[3]। '*श्राद्धचन्द्रिका*' में तो कूर्मपुराणके वचनसे यहाँतक कहा गया है कि श्राद्धसे बढ़कर और कोई कल्याणकर वस्तु है ही नहीं, इसलिये चतुर मनुष्यको प्रयत्नपूर्वक श्राद्धका अनुष्ठान करना चाहिये[4]। पितृपति यमराजका भी यही डिण्डिमघोष है—

आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम्।
पशून् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात्॥

(यमस्मृति, श्राद्धप्रकाश)

विष्णुपुराणका कहना है कि श्रद्धालुको सभी वस्तुओंके अभावमें वनमें जाकर अपनी दोनों भुजाओंको उठाकर कह देना चाहिये कि मेरे पास श्राद्धके योग्य न धन है और न दूसरी वस्तु, अतः मैं अपने पितरोंको प्रणाम करता हूँ। वे मेरी भक्तिसे ही तृप्ति-लाभ करें[5]। ब्रह्मपुराणका तो यहाँतक कहना है कि मनुष्यके पास यदि कुछ भी न हो तो केवल शाकसे ही श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करना चाहिये। अकिंचन ऋषियोंके पास क्या रहता था? श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करनेवालेके कुलमें कोई क्लेश नहीं पाता[6]। वीरमित्रोदयकार तो यमस्मृतिके वचनसे पितरोंकी पूजाको साक्षात् विष्णुकी ही पूजा बतलाते हैं[7]। वहीं ब्रह्मपुराणके वचनसे यह भी कहा गया है कि विधिपूर्वक श्राद्ध करनेवाले आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त जगत्‌को तृप्त कर देते हैं[8]।

स्कन्दपुराण नागरखण्डके वचनसे वहीं कहा गया है कि श्राद्धकी तनिक भी वस्तु व्यर्थ नहीं जाती, अतएव श्राद्ध अवश्य करना चाहिये[9]।

१-नाममन्त्रास्तथा देशा भवान्तरगतानपि। प्राणिनः प्रीणयन्त्येते तदाहारत्वमागतान्॥
देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः। तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
मर्त्यत्वे ह्यन्नरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्। श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्युपतिष्ठति॥
पानं भवति यक्षत्वे नानाभोगकरं तथा। (मार्कण्डेयपुराण, वायुपुराण, श्राद्धकल्पलता)

२-(क) यथा गोष्ठे प्रणष्टां वै वत्सो विन्देत मातरम्। तथा तं नयते मन्त्रो जन्तुर्यत्रावतिष्ठते॥
नाम गोत्रं च मन्त्रश्च दत्तमन्नं नयन्ति तम्। अपि योनिशतं प्राप्तांस्तृप्तिस्ताननुगच्छति॥ (वायुपु० उपोद्घात पा० ८३। ११९-२०)

(ख) नामगोत्रं पितृणां तु प्रापकं हव्यकव्ययोः। श्राद्धस्य मन्त्रतस्तत्त्वमुपलभ्येत भक्तितः॥
अग्निष्वात्तादयस्तेषामाधिपत्ये व्यवस्थिताः। नामगोत्रास्तथादेशा भवन्त्युद्भवतामपि॥
प्राणिनः प्रीणयन्त्येतदर्हणं समुपागतम्। (पद्मपुराण, सृष्टिखं० १०। ३८-३९)

३-आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च। प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥ (याज्ञ० स्मृ० १। २७०)

४-श्राद्धात् परतरं नास्ति श्रेयस्करमुदाहृतम्। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद् विचक्षणः॥ (श्राद्धचन्द्रिका, कूर्मपुराण)

५-न मेऽस्ति वित्तं न धनं च नान्यच्छ्राद्धोपयोग्यं स्वपितॄन् नतोऽस्मि।
तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयैतौ कृतौ भुजौ वर्त्मनि मारुतस्य॥ (विष्णु० पु० ३। १४। ३०)

६-तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकैरपि यथाविधि। कुर्वीत श्रद्धया तस्य कुले कश्चिन्न सीदति॥ (ब्रह्मपुराण)

७-ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्च हुताशनान्। सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते॥ (वीर०, श्राद्धप्र०, यमस्मृ०)

८-यो वा विधानतः श्राद्धं कुर्यात् स्वविभवोचितम्। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत् प्रीणाति मानवः॥

९-श्राद्धे तु क्रियमाणे वै न किंचिद् व्यर्थतां व्रजेत्। उच्छिष्टमपि राजेन्द्र तस्माच्छ्राद्धं समाचरेत्॥ (वी० मि० श्राद्धप्र०)

श्राद्ध न करनेसे हानि

जो यह समझकर कि पितर हैं ही कहाँ—श्राद्ध नहीं करता, पितर-लोग लाचार होकर उसका रक्तपान करते हैं[1]। जो उचित तिथिपर जलसे अथवा शाकसे भी श्राद्ध नहीं करता, पितर उसे शाप देकर लौट जाते हैं[2]। मार्कण्डेयपुराणका कहना है कि जिस देश अथवा कुलमें श्राद्ध नहीं होता, वहाँ वीर, नीरोग, शतायु पुरुष नहीं उत्पन्न होते। जहाँ श्राद्ध नहीं होता, वहाँ वास्तविक कल्याण नहीं होता[3]।

श्राद्धके बारह भेद—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि (नान्दी), सपिण्डन, पार्वण, *गोष्ठी, शुद्धि, कर्माङ्ग,* दैविक, यात्रा एवं पुष्टिश्राद्ध—ये श्राद्धके बारह भेद हैं। (विश्वामित्रस्मृति, भविष्यपुराण)

श्राद्धके अधिकारी—पिताका श्राद्ध पुत्रको ही करना चाहिये। पुत्र न हो तो स्त्री श्राद्ध करे। पत्नीके भी अभावमें सहोदर भाई और उसके भी अभावमें सपिण्डोंको श्राद्ध करना चाहिये। जामाता एवं दौहित्र भी श्राद्धके अधिकारी हैं। सभीके अभावमें राजाको मृत व्यक्तिके धनसे उसका श्राद्ध कराना चाहिये, क्योंकि वह सभीका बान्धव कहा जाता है[4]। दत्तक पुत्र तथा अनुपवीत (चूडासंस्कृत) पुत्र भी श्राद्धका अधिकारी है।

श्राद्धमें ब्राह्मण-संख्या—श्राद्धमें अधिक ब्राह्मणोंका निमन्त्रण ठीक नहीं। देवकार्यमें दो तथा पितृकार्यमें तीन ब्राह्मण पर्याप्त हैं, अथवा उभयत्र एक ब्राह्मण ही आमन्त्रित करे, क्योंकि ब्राह्मणोंका विस्तार उचित सत्कार आदिमें बाधक बन जाता है, जिससे निःसंदेह महान् अकल्याण होता है[5]।

पूर्व, मध्यम, उत्तर कर्म—प्रेतक्रियाको पूर्वकर्म, एकादशाहसे सपिण्डनके पूर्वतक मध्यमकर्म तथा सपिण्डनके बादकी सारी क्रियाएँ उत्तरक्रिया कहलाती हैं। माताका श्राद्ध सर्वत्र पिताके साथ ही किया जाता है, पर मरनेके बाद, महैकोद्दिष्ट, अष्टकाश्राद्ध, वृद्धिश्राद्ध तथा गयाश्राद्ध पृथक् करना चाहिये[6]।

श्राद्धमें अत्यन्त पवित्र तीन प्रयोजनीय—कुतप नामका मुहूर्त[7] (दोपहरके बाद कुल २४ मिनटका समय), तिल, दौहित्र[8]—इन तीन वस्तुओंको मनुने श्राद्धमें अत्यन्त पवित्र कहा है[9]।

१-न सन्ति पितरश्चेत् तत् कृत्वा मनसि वर्तते । श्राद्धं न कुरुते यस्तु तस्य रक्तं पिबन्ति ते॥
(श्राद्धकल्पलता, श्राद्धप्रकाश, श्राद्धविवेक, सभी आदित्यपुराणके वचनसे)

२-जलेनापि च न श्राद्धं शाकेनापि करोति यः। अमायां पितरस्तस्य शापं दत्त्वा प्रयान्ति च॥ (श्रा० क०, कूर्मपुराण)

३-न तत्र वीरा जायन्ते नारोग्यं न शतायुषः । न च श्रेयोऽधिगच्छन्ति यत्र श्राद्धं विवर्जितम्॥

४-(क) पितुः पुत्रेण कर्तव्या पिण्डदानोदकक्रिया । पुत्राभावे तु पत्नी स्यात् पत्न्यभावे तु सोदरः॥
(हेमाद्रि, श्राद्ध०, शंखस्मृति; श्रा० क०, नि० सिं०)

(ख) पुत्रः पौत्रश्च तत्पुत्रः पुत्रिकापुत्र एव च । पत्नी भ्राता च तज्जश्च पिता माता स्नुषा तथा॥
भगिनी भागिनेयश्च सपिण्डः सोदकस्तथा । असंनिधाने पूर्वेषामुत्तरे पिण्डदाः स्मृताः॥ (स्मृतिसंग्रह, श्राद्ध० क०)

(ग) सर्वाभावे तु नृपतिः कारयेत् तस्य रिक्थतः । तज्जातीयेन वै सम्यग् दाहाद्याः सकलाः क्रियाः॥
सर्वेषामेव वर्णानां बान्धवो नृपतिर्यतः। (मार्कण्डेयपुराण, श्रा० कल्पलता)॥

५-द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा । भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे॥
सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः। पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥
(मनु० ३। १२५-२६, विष्णुपुरा० ३। १५। १५, पद्मपुराण सृ० खं० अ० ९)

६-अष्टकासु च वृद्धौ च गयायां च मृतेऽहनि । मातुः श्राद्धं पृथक् कुर्यादन्यत्र पतिना सह॥ (वायुपुराण ११०। १७)

७-अह्नो मुहूर्ता विख्याता दश पञ्च च सर्वदा। तस्याष्टमो मुहूर्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः॥ (मत्स्यपुराण)
'पंद्रह मुहूर्तोंमें विभक्त दिनमानके अष्टम भागको 'कुतप' कहते हैं।

८-(क) वृद्धशातातपस्मृति 'दौहित्र' का अर्थ गैंड़ेके सींगका बना पात्र बतलाती है। यथा—
दुहित्रं खड्गमृगस्य ललाटे यत् प्रदृश्यते। तस्य शृङ्गस्य यत् पात्रं दौहित्रमिति कीर्तितम्॥

(ख) स्मृत्यन्तरमें 'दौहित्र' शब्दका अर्थ शुक्लप्रतिपत्का गोदुग्ध कहा गया है।
अमावस्यां गते सोमे या तु खादति गौस्तृणम्। तस्या गोर्यद् भवेत् क्षीरं तद् दौहित्रमुदाहृतम्॥

(ग) सामान्य अर्थ 'दुहितुः पुत्रः' नाती भी होता है। पर उसे उपनीत होना चाहिये।

९-त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः। (मनु ३। २३५)

श्राद्धमें प्रशंसनीय तीन गुण—पवित्रता, अक्रोध और अचापल्य (जल्दीबाजी नहीं करना)—ये तीन श्राद्धमें प्रशंसनीय गुण हैं[१]।

श्राद्धमें महत्त्वके सात पदार्थ—गङ्गाजल, दूध, मधु, तसरका कपड़ा, दौहित्र, कुतप और तिल—ये सात श्राद्धमें बड़े महत्त्वके प्रयोजनीय हैं[२]।

श्राद्धमें आठ दुर्लभ प्रयोजनीय वस्तुएँ—मध्याह्नोत्तरकाल, खड्गपात्र, नेपाली कम्बल, चाँदी, कुश, तिल, शाक और दौहित्र—ये आठ प्रयोजनीय श्राद्धमें बड़े दुर्लभ हैं[३]।

श्राद्धमें तुलसीकी महामहिमा—तुलसीकी गन्धसे पितृगण प्रसन्न होकर गरुडपर आरूढ हो विष्णुलोकको चले जाते हैं। तुलसीसे पिण्डार्चन किये जानेपर पितरलोग प्रलयपर्यन्त तृप्त रहते हैं[४]।

श्राद्धकर्ताके लिये वर्ज्य सात चीजें

दन्तधावन, ताम्बूल, तैलमर्दन, उपवास, स्त्रीसम्भोग, औषध तथा परान्नभक्षण—ये सात चीजें श्राद्धकर्ताके लिये वर्जित हैं[५]। यदि भूलसे दतुवन कर ले तो वह सौ बार गायत्रीसे अभिमन्त्रित पवित्र जल पीकर शुद्ध होता है[६]।

श्राद्धभोक्ताके लिये वर्ज्य आठ वस्तुएँ[७]—पुनर्भोजन, यात्रा, भार ढोना, मैथुन, दान लेना, हवन करना, परिश्रम करना और हिंसा करना—ये आठ चीजें श्राद्धमें निमन्त्रित ब्राह्मणको छोड़ देनी चाहिये।

ताम्रकी प्रशंसा और लोहेके पात्रका सर्वथा निषेध—श्राद्धमें ताम्रपात्रका बड़ा महत्त्व है। लोहेके पात्रका श्राद्धमें कदापि उपयोग नहीं करना चाहिये। भोजनालय या पाकशालामें भी उसका कोई उपयोग नहीं होता। केवल शाक-फलादिके काटनेमें उसका उपयोग कर सकते हैं[८]।

श्राद्धमें प्रशस्त अन्न-फलादि—काला उड़द, तिल, जौ, साँवाँ, चावल, गेहूँ, दूध, दूधके बने सभी पदार्थ, मधु, चीनी, कपूर, गूमा, महाशाक, बेल, आँवला, अंगूर, कटहल, आमड़ा, अनार, अखरोट, कसेरू, नारियल, तेन्द, खजूर, नारंगी, बेर, सुपारी, अदरक, जामुन, परवल, गुड़, कमलगट्टा, नीबू, पीपल, मरिच तथा हुरहुर, चौपत्ती आदिके शाक श्राद्धमें प्रशस्त कहे गये हैं[९]।

१-त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥ (मनु० ३। २३५)

२-उच्छिष्टं शिवनिर्माल्यं वान्तं च मृतकर्पटम्। श्राद्धे सप्त पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः॥ (हेमाद्रि, श्राद्धकल्प०)
उच्छिष्टम्= पयः। शिवनिर्माल्यम्= गङ्गोदकम्। वान्तम्=मधु। मृतकर्पटम्=तसरीतन्तुनिर्मितं वासः।

३-मध्याह्नः खड्गपात्रं च तथा नेपालकम्बलम्। रौप्यं दर्भास्तिलाः शाकं दौहित्रश्चाष्टमः स्मृतः॥ (वाचस्पत्यकोश)

४-(क) तुलसीगन्धमाघ्राय पितरस्तुष्टमानसाः। प्रयान्ति गरुडारूढास्तत्पदं चक्रपाणिनः॥ (प्रयोगपारिजात, क०)
(ख) पितृपिण्डार्चनं श्राद्धे यैः कृतं तुलसीदलैः। प्रीणिताः पितरस्तेन यावच्चन्द्रार्कमेदिनी॥

५-दन्तधावनताम्बूलं तैलाभ्यङ्गमभोजनम्। रत्यौषधं परान्नं च श्राद्धकृत् सप्त वर्जयेत्॥ (महा०, शा०, श्राद्धकल्प०)

६-श्राद्धोपवासदिवसे खादित्वा दन्तधावनम्। गायत्र्या शतसम्पूतमम्बु प्राश्य विशुध्यति॥ (विष्णुरहस्य)

७-(क) पुनर्भोजनमध्वानं भारमायासमैथुनम्। दानं प्रतिग्रहो होमः श्राद्धभुक् त्वष्ट वर्जयेत्॥ (विष्णुरह०, यमस्मृ०, श्राद्धकल्प०)
(ख) ब्रह्महत्यामवाप्नोति यदि स्त्रीगमनं चरेत्। (धर्मसारसुधानिधि)
यस्तयोर्जायते गर्भो दत्त्वा भुक्त्वा च पैतृकम्। न स विद्यामवाप्नोति क्षीणायुश्चैव जायते॥
श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा वाप्यध्वानं यदि गच्छति। पितरस्तस्य तन्मासं भवन्ते पांसुभोजनाः॥
श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च भारमुद्वहते द्विजः। पितरस्तस्य तन्मासं भवन्ते भारपीडिताः॥
वनस्पतिगते सोमे यस्तु हिंस्याद् वनस्पतिम्। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥ (वसिष्ठस्मृ०)

८-(क) पचमानस्तु भाण्डेषु भक्त्या ताम्रमयेषु च। समुद्धरति वै घोरान् पितॄन् दुःखमहार्णवात्॥ (स्कन्द० नाग० चम०)
(ख) न कदाचित् पचेदन्नमयःस्थालीषु पैतृकम्। अयसो दर्शनादेव पितरो विद्रवन्ति हि॥
कालायसं विशेषेण निन्दन्ति पितृकर्मणि। फलानां चैव शाकानां छेदनार्थानि यानि तु॥
महानसेऽपि शस्तानि तेषामेव हि संनिधिः। (चमत्कारखण्ड, श्रा०क० लता)

९-कृष्णमाषतिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्युर्यवशालयः। तिलाः श्यामाकनीवाराः गोधूमा व्रीहियो यवाः॥

श्राद्धमें मांसकी निन्दा—बृहत्पराशरमें कहा गया है कि श्राद्धमें मांस देनेवाला व्यक्ति मानो चन्दनकी लकड़ी जलाकर उसका कोयला बेचता है। वह तो वैसा मूर्ख है जैसा कोई बालक अगाध कूएँमें अपनी वस्तु डालकर फिर उसे पानेकी इच्छा करता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि न तो कभी मांस खाना चाहिये, न श्राद्धमें ही देना चाहिये। सात्त्विक अन्न-फलोंसे पितरोंकी सर्वोत्तम तृप्ति होती है। मनुका कहना है कि मांस न खानेवालेकी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वह जो कुछ सोचता है, जो कुछ चाहता है, जो कुछ कहता है, सब सत्य हो जाता है[1]।

श्राद्धके ७२ अवसर—वर्षभरमें ७२ श्राद्धके अवसर आते हैं। १२ अमावास्याएँ , १२ संक्रान्तियाँ, १४ मन्वादि एवं ४ युगादि तिथियाँ, ४ अवन्तिकाएँ (आषाढ़ी-आषाढ़में उत्तराषाढानक्षत्रका योग, कार्तिकी, माघी, वैशाखी), १६ अष्टकाएँ (अगहन, पूस, माघ, फाल्गुन, दोनों पक्षोंकी सप्तमी-अष्टमी तिथियाँ हैं), ६ अन्वष्टकाएँ (पूस ,माघ,फाल्गुनकी अष्टकाके पीछेवाली नवमी तिथियाँ), दो निधन-तिथियाँ एवं दो अयनयोग (उत्तरायण,दक्षिणायन)—ये ७२ श्राद्धके अवसर हैं[2]।

श्राद्धमें पाठ्य प्रसंग—श्राद्धमें पुरुषसूक्त, श्रीसूक्त, पावमानी, सौपर्णाख्यान, मैत्रावरुणाख्यान, पारिप्लवनाख्यान, धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण उपवीती होकर कुशासनपर बैठकर हाथमें कुश लेकर ब्राह्मणोंको सामनेसे सुनाना चाहिये[3]। साथ ही पुरुषसूक्त, रुद्रसूक्त, ऐन्द्रसूक्त, सोमसूक्त, सप्तार्चिस्तव, पावमानी, मधुमती, अन्नवती आदि सूक्त एवं ऋचाएँ भी श्लाघ्य हैं। (वी० श्राद्धप्र०)

शास्त्रमें प्रशस्त कुश—समूलाग्र हरित (जड़से अन्ततक हरे), श्राद्धके दिन उखाड़े हुए, गोकर्णमात्र परिमाणके कुश उत्तम कहे गये हैं।

कुश उखाड़नेका मन्त्र—पृथ्वीको खनतीसे कुछ कोड़कर प्रत्येक कुशको उखाड़ते समय '**ॐ हुँ फट्**' कहते जाना चाहिये। कुशोंको पितृतीर्थसे उखाड़ना चाहिये।

कुशके भेद—बिना फूल आये कुशको '**दर्भ**' कहते हैं। फूल आ जानेपर उन्हींका नाम '**कुश**' होता है। समूल कुशका नाम '**कुतप**' होता है। अग्रभाग काट देनेपर वे '**तृण**' कहे जाते हैं। इन्हें पितृतीर्थसे उखाड़ना चाहिये[4]। तीन कुशोंको लेकर द्विगुणभुग्र (बीचमें पेंच देने)-का नाम '**मोटक**' है। इनका केवल पितृकार्यमें प्रयोग होता है, प्रेतकार्यमें नहीं।

महायवा व्रीहियवास्तथैव च मधूलिका:। कालशाकं महाशाकं द्रोणशाकं तथार्द्रकम्॥
विल्वामलकमृद्वीका: पनसाम्रातदाडिमम्। चव्यं पालेवताक्षोटं खर्जूरं च कसेरुकम्॥
कोविदारश्च कन्दश्च पटोलं बृहतीफलम् । सर्वव्यविकाराणि प्रशस्तानि च पैतृके॥
मधूकं रामठं चैव कर्पूरं मरिचं गुडम्। श्राद्धकर्मणि शस्तानि सैन्धवं त्रपुसं तथा॥
(वायु० पुरा०, हेमा०, श्राद्धचन्द्रि०, श्राद्धविवेक०, श्राद्धप्रका०, श्राद्धकल्प०)

१-यस्तु प्राणिवधं कृत्वा मांसेन तर्पयेत् पितॄन्। सोऽविद्वांश्चन्दनं दग्ध्वा कुर्यादङ्गारविक्रयम्॥
क्षिप्त्वा कूपे यथा किंचिद् बाल: प्राप्तुं तदिच्छति। पतत्यज्ञानत: सोऽपि मांसेन श्राद्धकृत् तथा॥
न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित्। मुन्यन्नै: स्यात् परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया॥
(बृह०पारा०, श्रीमद्भा० ७। १५। ७, हेमाद्रि, कालमा०, मदनरत्न, पृथ्वीचं०,स्मृतिरत्ना०; स्मृतिचन्द्रि०; दिवोदा०; श्राद्धकल्प० आदि)

२-अमावस्या द्वादशैव क्षयाहद्वितये तथा। षोडशापरपक्षस्य अष्टकान्वष्टकाश्च षट्॥
संक्रान्त्यो द्वादश तथा अयने द्वे च कीर्तिते। चतुर्दश च मन्वादेर्युगादेश्च चतुष्टयम्॥
अवन्तिकाश्चतस्रश्च श्राद्धान्येवं द्विसप्तति:। (श्राद्धकमलाकर)

३-(क) स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि। आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥ (मनु० ३। २३२, पदमपु०, सृ०९)
(ख) कुशपाणि: कुशासीन उपवीती जपेत् तत:। वेदोक्तानि पवित्राणि पुराणानि खिलानि च॥ (वीरमित्रो० श्राद्धप्र०, ब्रह्माण्डपुरा०)
(ग) याज्ञ० १। २४०, मिताक्षरा, अत्रिधर्म० ४-५, वसिष्ठ० २७)

४-अप्रसूता: स्मृता दर्भा: प्रसूतास्तु कुशा: स्मृता:। समूला: कुतपा प्रोक्ताश्छिन्नाग्रास्तृणसंज्ञका:॥
रत्निमात्रप्रमाणा: स्यु: पितृतीर्थेन संस्कृता:।

पितृतीर्थ—अँगूठे और प्रदेशिनी (तर्जनी) अँगुलीके बीचका स्थान पितृतीर्थ कहा जाता है[1]। इससे आचमन नहीं करना चाहिये। पितृकृत्यके लिये यह उत्तम है।

प्रजापतितीर्थ (कायतीर्थ)—कनिष्ठिका अँगुलीके पासका स्थान प्रजापतितीर्थ कहा जाता है।

दैवतीर्थ—अँगुलियोंके आगेका भाग दैव या देवतीर्थ कहलाता है।

ब्राह्मतीर्थ—हाथके अँगूठेके पासके भागको ब्राह्मतीर्थ कहा जाता है[2]।

श्राद्धमें निषिद्ध कुश—चितापर बिछाये हुए, रास्तेमें पड़े हुए, पितृ-तर्पण एवं ब्रह्मयज्ञमें उपयोगमें लिये हुए और बिछौने, गंदगीसे[3] तथा आसनमेंसे निकाले हुए, पिण्डोंके नीचे रखे हुए तथा अपवित्र हुए कुश निषिद्ध समझे जाते हैं।

श्राद्धमें वर्ज्य गन्ध—चन्दनकी पुरानी लकड़ियोंको कार्यमें नहीं लेना चाहिये। निर्गन्ध काष्ठोंका भी उपयोग नहीं होना चाहिये। कपूर, केसर, अगर, खस आदि मिश्रित चन्दन श्राद्धकार्यमें प्रशस्त हैं। कस्तूरी, रक्तचन्दन, गोरोचन, सल्लक, पूतिक आदि वर्ज्य हैं। चन्दन लगानेके समय, विशेषकर ब्राह्मणोंको चन्दन लगाते समय पवित्र(कुश) हाथसे अवश्य निकाल देना चाहिये, अन्यथा पितृगण निराश होकर लौट जाते हैं[4]।

श्राद्धमें ग्राह्य पुष्प—श्राद्धमें कमल, मालती, जूही, चम्पा प्रायः सभी सुगन्धित श्वेत पुष्प तथा तुलसी और भृङ्गराज अति प्रशस्त हैं[5]।

श्राद्धमें त्याज्य पुष्प—कदम्ब, केवड़ा, मौलसिरी, बेलपत्र, करवीर, लाल तथा काले रंगके सभी फूल एवं उग्र गन्धवाले फूल—ये सभी श्राद्धकार्यमें वर्जित हैं। पितृगण इन्हें देखते ही निराश होकर लौट जाते हैं[6]।

मत्स्यपुराणमें—'**पद्मबिल्वार्कधत्तूरपारिभद्राटरूषकाः। न देयाः पितृकार्येषु पय आजीविकां तथा**' से पद्मादिका भी वर्जन कहा है। पर हेमाद्रिने इसको स्थलजात पुष्प 'गुलाब' कहा है; क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र कमलको श्राद्धमें बड़ा प्रशंसनीय बतलाया गया है।

निषिद्ध धूप—अग्निपर दूषित गुग्गुल अथवा बुरा गोंद अथवा केवल घी डालना निषिद्ध है।[7]

भोजन-पात्र—सोने, चाँदी, काँसे और ताँबेके पात्र पूर्व-पूर्व उत्तमोत्तम हैं। इनके अभावमें पत्तलसे काम लेना चाहिये, पर केलेके पत्तेमें श्राद्धभोजन सर्वथा निषिद्ध है।[8]

प्रशस्त आसन—रेशमी, नेपाली कम्बल, ऊन, काष्ठ, तृण, पर्ण, कुश आदिके आसन श्रेष्ठ हैं। काष्ठासनोंमें भी शमी, काश्मरी, शल्ल, कदम्ब, जामुन, आम, मौलसिरी एवं वरुणके आसन श्रेष्ठ हैं। इनमें भी लोहेकी कील नहीं होनी चाहिये[9]।

निषिद्ध आसन—पलाश, वट, पीपल, गूलर, महुआ आदिके आसन निषिद्ध हैं। साल, नीम, मौलसिरी एवं

---

१ (क) अन्तराङ्गुष्ठदेशिन्योः पितॄणां तीर्थमुत्तमम्। (कूर्मपु० ११)
(ख) न पित्र्येण कदाचन। (मनु० २। ५८)

२-अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते। कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥ (मनु० २। ५९)

३-चितादर्भाः पथिदर्भा ये दर्भा यज्ञभूमिषु। स्तरणासनपिण्डेषु षट् कुशान् परिवर्जयेत्॥
ब्रह्मयज्ञे च ये दर्भा ये दर्भाः पितृतर्पणे। हता मूत्रपुरीषाभ्यां तेषां त्यागो विधीयते॥ (श्राद्धसंग्रह, श्राद्धकि०, श्राद्धकल्पल०)

४-(क) श्राद्धेषु विनियोक्तव्या न गन्धा देवदारुजाः। कल्कीभावं समासाद्य न गन्धा देवदारुजाः॥
पूतिकं मृगनाभिं च रोचनं रक्तचन्दनम्। कालीयं जोङ्गकं चैव तुरुष्कं वापि वर्जयेत्॥ (मरीचिस्मृ०, श्राद्धप्र०, श्राद्ध० कल्प०)
(ख) पवित्रं तु करे कृत्वा यः समालभते द्विजः। राक्षसानां भवेच्छ्राद्धं निराशाः पितरो गताः॥ (व्यासस्मृ०, वृद्धशाता०, कल्पलता०)

५-शुक्लाः सुमनसः श्रेष्ठास्तथा पद्मोत्पलानि च। गन्धरूपोपपन्नानि यानि चान्यानि कृत्स्नशः॥

६-कदम्बं बिल्वपत्रं च केतकी वकुलं तथा। बर्बरी कृष्णपुष्पाणि श्राद्धकाले न दापयेत्॥
पुष्पाणि वर्जनीयानि रक्तवर्णानि यानि च। (शङ्खस्मृ०, प्रयोग०, मत्स्य०, ब्रह्माण्ड०, श्राद्ध० प्र०)

७-घृतं न केवलं दद्याद् दुष्टं वा तृणगुग्गुलम्। (मदनरत्न, श्राद्धचन्द्रिका, श्रा०प्र०, श्रा० कल्प०)

८-कदलीपत्रं नैव ग्राह्यं यतो हि—
असुराणां कुले जाता रम्भा पूर्वपरिग्रहे। तस्या दर्शनमात्रेण निराशाः पितरो गताः॥ (श्राद्धचन्द्रिका, कल्पलता०)

९-क्षौमं दुकूलं नेपालमाविकं दारुजं तथा। तार्णं पार्णं वृसी चैव विष्टरादि प्रविन्यसेत्॥
शमी च काश्मरी शल्लः कदम्बो वरुणस्तथा। पञ्चासनानि शस्तानि श्राद्धे देवार्चने तथा॥
अयःशङ्कुमयं पीठं प्रदेयं नोपवेशनम्। (श्राद्धकल्पलता)

कचनारके भी आसन गर्हित हैं।[1]

पलाशका ६ स्थानोंमें प्रयोग निषिद्ध—पलाश यज्ञिय वृक्ष है, अतः आसन, शयन, सवारी, खड़ाऊँ, दतुअन एवं पाद-पीठके लिये उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।[2]

श्राद्धमें प्रशस्त ब्राह्मण—शील, शौच एवं प्रज्ञा देखकर ब्राह्मणको श्राद्धमें निमन्त्रित करना चाहिये। श्राद्धमें अपने इष्टमित्रों तथा गोत्रवाले ब्राह्मणोंको खिलाकर संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। श्राद्धमें कम-से-कम छः पुरुषोंसे अलग हटे हुए गोत्रको तथा असमान गोत्रवालोंको ही भोजन करानेकी प्रशंसा है। योगीकी श्राद्धमें बड़ी महत्ता है।

श्राद्धमें पाद-प्रक्षालन-विधि—श्राद्धमें ब्राह्मणोंको बैठाकर पैर धोना चाहिये। पत्नीको दाहिने रखकर जल गिराना चाहिये, बायें नहीं[3]।

श्राद्धमें निषिद्ध ब्राह्मण—श्राद्धमें चोर, पतित, नास्तिक, मूर्ख, धूर्त, मांसविक्रयी, व्यापारी, नौकर, कुनखी, काले दाँतवाले, गुरुद्वेषी, शूद्रापति, भृतकाध्यापक-भृतकाध्यापित (शुल्कसे पढ़ाने या पढ़नेवाला), काना, जुआरी, अंधा, कुश्ती सिखानेवाला, नपुंसक इत्यादि अधम ब्राह्मणोंको त्याग देना चाहिये। (मनु०, विष्णु०, ब्रह्माण्ड०, मत्स्य०, वायु०, कूर्मपुराण)

श्राद्धमें निषिद्ध अन्न—कोदो, चना, मसूर, बड़ा उड़द, कुलथी, सत्तू, तीसी, रेंड़, मूली, काला जीरा, करीर (टेंटी), कचनार, कैथ, खीरा, काला उड़द, काला नमक, लौकी, कुम्हड़ा, बड़ी सरसों, काली सरसोंकी पत्ती, शतपुष्पी और कोई भी बासी, गला-सड़ा, कच्चा, अपवित्र फल या अन्न निषिद्ध है।[4]

श्राद्धमें भोजनके समय मौन आवश्यक—श्राद्धमें भोजनके समय मौन रहना चाहिये। माँगने या प्रतिषेध करनेका इशारा हाथसे करना चाहिये। जल पीते हुए उसमेंसे यदि कुछ भोजनपात्रमें भी गिर जाय तो वह अन्न अभोज्य हो जाता है। उसे खाकर चान्द्रायण करना पड़ता है। भोजन करते समय ब्राह्मणोंसे 'अन्न कैसा है?' यह नहीं पूछना चाहिये, अन्यथा पितर निराश होकर चले जाते हैं।[5]

तर्पण-सम्बन्धी कुछ विशेष नियम

साधारण नित्य तर्पण दोनों हाथोंसे करना चाहिये, किंतु श्राद्धका तर्पण केवल दाहिने हाथसे करना चाहिये[6]। तर्पण स्थलपर स्थित होकर स्थलमें तथा जलमें स्थित होकर जलमें ही करना चाहिये। इसके विपरीत करनेसे वह निरर्थक होता है।[7] स्नानाङ्ग-तर्पण, ग्रहण, महालय, तीर्थ-विशेष एवं गयादिमें तो तिलसे तर्पणका कोई निषेध नहीं

१-पालाशवटवृक्षोत्थमश्वत्थं शालवृक्षकम्। मृत्तिकोदुम्बरं पीठं माधुकं च विवर्जयेत्॥ (पुलस्त्यस्मृ०)

२-(क) आसनं शयनं यानं पादुके दन्तधावनम्। वर्जयेद् भूतिकामस्तु पालाशं नित्यमात्मवान्॥ (यमस्मृ०, कृत्यकल्प०, आप०)
(ख) न पालाशे पादुके पादपीठे आसनं शयनं यानं दन्तधावनं वा कुर्यात्। (आपस्तम्बधर्म०)

३-पादप्रक्षालनं प्रोक्तमुपवेश्यासने द्विजान्। तिष्ठतां क्षालनं कुर्यान्निराशाः पितरो गताः॥
श्राद्धकाले यदा पत्नी वामे नीरं प्रदापयेत्। आसुरं तद् भवेच्छ्राद्धं पितॄणां नोपतिष्ठते॥ (स्मृत्यन्तर, आ० क०)

४-कोद्रवा राजमाषाश्च मसूराश्च कुलत्थकाः। सक्तवश्चाढकी कृष्णजीरकं काञ्चनालकम्॥
कुसुम्भमतसी चैव विडाललवणं तथा। एरण्डकाः कृष्णमाषा आविकं माहिषं तथा॥
गन्धारिका मर्कटी च महासर्षपमूलकम्। कृष्णसर्षपपत्रं च करीरं काञ्चनालकम्॥
अलाबु शतपुष्पी च कूष्माण्डं पूतिगन्धि च। सर्वं पर्युषितं चैव आच्छ्रान्तं वावधूनितम्॥
परिदग्धमदग्धं वा वर्जयेच्छ्राद्धकर्मणि। चणका राजमाषाश्च घ्नन्ति श्राद्धं न संशयः॥ (विश्वा० स्मृ०, श्राद्धकल्प०)

५-न वदेन्न च हुंकुर्यादतृप्तौ विरमेन्न च। याचनं प्रतिषेधो वा कर्तव्यो हस्तसंज्ञया॥
पिबतः पतितं तोयं यदा भोजनभाजने। अभोज्यं तद् भवेदन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥ (श्राद्धदीपि०, श्रा० क०)

६-श्राद्धकाले विवाहे च पाणिनैकेन दीयते। तर्पणे तूभयेनैव विधिरेष सनातनः॥ (कार्ष्णाजिनि, व्याघ्रपाद, श्राद्धसं०, श्रा० क० ल०)

७-स्थले स्थित्वा जले यस्तु प्रयच्छेदुदकं नरः। नोपतिष्ठति तद् वारि पितॄणां तन्निरर्थकम्॥ (गोभिलस्मृति०)

है, पर तदतिरिक्त तर्पणके लिये शुक्रवार, रविवार, गजच्छायायोग, संक्रान्ति, युगादि, मन्वादि तिथियोंमें तिलका तर्पण निषिद्ध है। तिल-तर्पण खुले हाथसे देना चाहिये। तिलोंको रोओंमें अथवा हस्तमूलमें लगे नहीं रहना चाहिये।[२]

पिण्डकी अष्टाङ्गता—अन्न, तिल, जल, दूध, घी, मधु, धूप और दीप—ये पिण्डके आठ अङ्ग हैं।

पिण्डका प्रमाण—एकोद्दिष्ट तथा सपिण्डनमें कैथ (कपित्थ)-के फलके बराबर, मासिक तथा वार्षिक श्राद्धमें नारियलके बराबर, तीर्थमें मुर्गेके अण्डेके बराबर तथा गया एवं पितृपक्षमें आँवलेके बराबर पिण्ड देना चाहिये। महालय, गयाश्राद्ध, प्रेतश्राद्धमें 'पिण्ड' शब्द तथा अन्यत्र सभी श्राद्धोंमें पिण्डके स्थानमें 'अन्न' शब्दका प्रयोग करना चाहिये[३]।

श्राद्ध-मन्त्रोंमें ऋषि, देवता, छन्द-स्मरण अनावश्यक—तर्पण, श्राद्ध, यज्ञ एवं श्रौत होमोंमें ऋष्यादिका स्मरण अनावश्यक एवं वर्जित है[४]। 'ॐकार' भी श्राद्धमन्त्रोंमें नहीं उच्चारण करना चाहिये।

श्राद्धभोजनके लिये प्रायश्चित्त

पार्वण आदि श्राद्धोंमें भोजनके लिये प्रायश्चित्त—पार्वण श्राद्धमें भोजन करनेपर छः प्राणायाम करने चाहिये। त्रैमासिक एवं वार्षिक श्राद्धोंमें भोजन करनेपर उपवासकी आज्ञा है। मृतकश्राद्धमें भोजन करनेपर प्राजापत्य व्रत करके शुद्ध होता है। पापियोंके षोडश श्राद्धोंमेंसे किसी भी श्राद्धमें भोजन करनेपर चान्द्रायणव्रतसे शुद्धि होती है। क्षत्रियके श्राद्धमें इससे दूना, वैश्यके श्राद्धमें तिगुना और शूद्रके श्राद्धमें चौगुना व्रत करना पड़ेगा[५]।

श्राद्धके कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द

१-अग्नौकरण—अग्निहोत्री हो तो अग्निहोत्रकी अग्निमें तथा अन्य जनोंके द्वारा एक दोनेमें ही।

(१) अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, इदमग्नये न मम।

(२) ॐ सोमाय पितृमते स्वाहा, इदं सोमाय पितृमते न मम।

इन मन्त्रोंसे दो आहुतियाँ देनेका नाम 'अग्नौकरण' है।

२-परिवेषण—पित्रादिकोंके लिये भोजन परोसना ही 'परिवेषण' है।

३-उर्जकरण—सूत्रदानके बाद जल गिराना ही 'उर्जकरण' है। ('उर्जमित्यपो निषिञ्चति' कात्यायनश्रौतसूत्र ४।१।१९)।

४-पर्युक्षण—हवनके बाद ईशानकोणसे आरम्भ करके अग्निकोणतक चारों ओर जल गिराना।

५-अवनेजन—दाहिने हाथके पितृतीर्थसे थोड़ा जल कुशोंके मध्यमें गिराना।

६-क्षणदान—थोड़ी देरतक चुप—शान्त रहना।

७-अपसव्य या प्राचीनावीती होना—जनेऊको दाहिने कंधेपर डालकर बायें हाथके बीच कर लेना।

१-संक्रान्त्यादिनिमित्ते तु स्नानाङ्गे तर्पणे द्विजः। तिथिवारनिषेधेऽपि तिलैस्तर्पणमादिशेत्॥
उपरागे पितुः श्राद्धे पातेऽमायां च संक्रमे। निषिद्धेऽपि हि सर्वत्र तिलैस्तर्पणमाचरेत्॥
तीर्थे तीर्थविशेषे च गयायां प्रेतपक्षके। निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात् तर्पणं तिलमिश्रितम्॥ (वृद्धमनु०, श्रा० क० ल०)

२-हस्तमूले तिलान् क्षिप्त्वा यः कुर्यात् तिलतर्पणम्। तज्जलं रुधिरं ज्ञेयं ते तिलाः कृमिसंज्ञिताः॥
रोमसंस्थांस्तिलान् कृत्वा यस्तु तर्पयते पितॄन्। पितरस्तर्पिता तेन रुधिरेण मलेन वा॥ (श्राद्धसं०, गोभिलस्मृ०)

३-(क) एकोद्दिष्टे सपिण्डे च कपित्थं तु विधीयते। नारिकेलप्रमाणं तु प्रत्यब्दे मासिके तथा॥
तीर्थदेशे च सम्प्राप्ते कुक्कुटाण्डप्रमाणतः। महालये गयाश्राद्धे कुर्यादामलकोपमम्॥
(ख) महालये गयाश्राद्धे प्रेतश्राद्धे दशाहिके। पिण्डशब्दप्रयोगः स्यादन्नमन्यत्र कीर्तयेत्॥ (श्राद्धसंग्रह)

४-न स्मरेदृषिदैवं च श्राद्धे वैतानिके मखे। ब्रह्मयज्ञे च वै तद्वत् तथोङ्कारं च नोच्चरेत्॥ (श्राद्धसंग्रह)
सर्वत्रोंङ्कारमुच्चार्य श्राद्धमन्त्रेषु नोच्चरेत्। आर्षच्छन्दांसि वै तद्वत् यज्ञतर्पणकर्मणि॥ (वृ० वसि०)

५-भुक्तं चेत् पार्वणे श्राद्धे प्राणायामान् षडाचरेत्। उपवासस्त्रिमासादौ वासरान्तं प्रकीर्तितः॥
प्राणायामत्रयं वृद्धावहोरात्रं सपिण्डने। प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं चाद्यमासिके॥
पापिनां षोडशश्राद्धे कुर्यादिन्दुव्रतं द्विजः। द्विगुणं क्षत्रियस्यैतत् त्रिगुणं वैश्यभोजने॥
साक्षाच्चतुर्गुणं ह्येतत् स्मृतं शूद्रस्य भोजने। (भारद्वाजसं०, शंखस्मृ०, श्रा० क० ल०)

८-सव्य या उपवीती—जनेऊको बायें कंधेके ऊपर तथा दाहिने हाथके नीचे रखना।

९-निवीती या माल्यवत्—जनेऊको गलेमें मालाकी तरह कर लेना।

१०-अर्घ्यपात्र—श्राद्धके अर्घ्यपात्ररूपमें मिट्टी, काँसे, पीतल, राँगे, सीसे अथवा लोहेके किसी पात्रका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

११—चन्दन-दानमें विशेष—पितरोंको चन्दन सर्वदा केवल तर्जनी अँगुलीसे ही देना चाहिये। ।

महाभाग रुचिकृत श्राद्धसारसर्वस्व सप्तार्चिस्तोत्र (पितृ-स्तुति)

रुचिरुवाच

अर्चितानाममूर्तानां पितॄणां दीप्ततेजसाम्।
नमस्यामि सदा तेषां ध्यानिनां दिव्यचक्षुषाम्॥
इन्द्रादीनां च नेतारो दक्षमारीचयोस्तथा।
सप्तर्षीणां तथान्येषां तान् नमस्यामि कामदान्॥
मन्वादीनां मुनीन्द्राणां सूर्याचन्द्रमसोस्तथा।
तान् नमस्याम्यहं सर्वान् पितॄनप्सूदधावपि॥
नक्षत्राणां ग्रहाणां च वाय्वग्न्योर्नभसस्तथा।
द्यावापृथिव्योश्च तथा नमस्यामि कृताञ्जलिः॥
देवर्षीणां जनितॄंश्च सर्वलोकनमस्कृतान्।
अक्षय्यस्य सदा दातॄन् नमस्येऽहं कृताञ्जलिः॥
प्रजापतेः कश्यपाय सोमाय वरुणाय च।
योगेश्वरेभ्यश्च सदा नमस्यामि कृताञ्जलिः॥
नमो गणेभ्यः सप्तभ्यस्तथा लोकेषु सप्तसु।
स्वयम्भुवे नमस्यामि ब्रह्मणे योगचक्षुषे॥
सोमाधारान् पितृगणान् योगमूर्तिधरांस्तथा।
नमस्यामि तथा सोमं पितरं जगतामहम्॥
अग्निरूपांस्तथैवान्यान् नमस्यामि पितॄनहम्।
अग्नीषोममयं विश्वं यत एतदशेषतः॥
ये तु तेजसि ये चैते सोमसूर्याग्निमूर्तयः।
जगत्स्वरूपिणश्चैव तथा ब्रह्मस्वरूपिणः॥
तेभ्योऽखिलेभ्यो योगिभ्यः पितृभ्यो यतमानसः।
नमो नमो नमस्ते मे प्रसीदन्तु स्वधाभुजः॥

(मार्कण्डेयपुराण)

रुचि बोले—जो सबके द्वारा पूजित, अमूर्त, अत्यन्त तेजस्वी, ध्यानी तथा दिव्यदृष्टिसम्पन्न हैं, उन पितरोंको मैं सदा नमस्कार करता हूँ। जो इन्द्र आदि देवताओं, दक्ष, मारीच, सप्तर्षियों तथा दूसरोंके भी नेता हैं, कामनाकी पूर्ति करनेवाले उन पितरोंको मैं प्रणाम करता हूँ। जो मनु आदि राजर्षियों, मुनीश्वरों तथा सूर्य और चन्द्रमाके भी नायक हैं, उन समस्त पितरोंको मैं जल और समुद्रमें भी नमस्कार करता हूँ। नक्षत्रों, ग्रहों, वायु, अग्नि, आकाश और द्युलोक तथा पृथ्वीके भी जो नेता हैं, उन पितरोंको मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। जो देवर्षियोंके जन्मदाता, समस्त लोकोंद्वारा वन्दित तथा सदा अक्षय फलके दाता हैं, उन पितरोंको मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। प्रजापति, कश्यप, सोम, वरुण तथा योगेश्वरोंके रूपमें स्थित पितरोंको सदा हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ। सातों लोकोंमें स्थित सात पितृगणोंको नमस्कार है। मैं योगदृष्टि-सम्पन्न स्वयम्भू ब्रह्माजीको प्रणाम करता हूँ। चन्द्रमाके आधारपर प्रतिष्ठित तथा योगमूर्तिधारी पितृगणोंको मैं प्रणाम करता हूँ। साथ ही सम्पूर्ण जगत्के पिता सोमको नमस्कार करता हूँ तथा अग्निस्वरूप अन्य पितरोंको भी प्रणाम करता हूँ; क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोममय है। जो पितर तेजमें स्थित हैं, जो ये चन्द्रमा, सूर्य और अग्निके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं तथा जो जगत्स्वरूप एवं ब्रह्मस्वरूप हैं, उन सम्पूर्ण योगी पितरोंको मैं एकाग्रचित्त होकर प्रणाम करता हूँ। उन्हें बारम्बार नमस्कार है। वे स्वधाभोजी पितर मुझपर प्रसन्न हों।

[महाभाग रुचिके द्वारा इस प्रकार पितरोंकी स्तुति करनेपर वे अपने मूर्तरूपमें रुचिके सामने प्रकट हुए और उन्हें अनेक वरदान प्रदानकर बोले—धर्मज्ञ! जो मनुष्य इस स्तोत्रसे भक्तिपूर्वक हमारी स्तुति करेगा, उसपर संतुष्ट होकर हम उसे मनोवाञ्छित भोग तथा उत्तम आत्मज्ञान प्रदान करेंगे। यह स्तोत्र हमलोगोंकी प्रसन्नता बढ़ानेवाला है। जो श्राद्धमें भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंके सामने खड़ा होकर भक्तिपूर्वक इस स्तोत्रका पाठ करेगा, उसके लिये वह श्राद्ध अक्षय फलदायी होगा। श्राद्धमें जो कुछ भी वैगुण्य या न्यूनता रहती है, वह इस स्तोत्र-पाठसे पूर्ण हो जाती है; क्योंकि यह स्तोत्र हमें पुष्टि प्राप्त करानेवाला और स्तोत्रकर्ताको परम सुख—संतोष तथा आत्मलाभ देनेवाला है।]
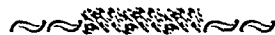
अधर्माचरणका फल—घोर नरक-यातना

संसारमें मनुष्य अपने क्षणिक सुखके लिये नाना प्रकारके दुष्कर्म कर डालता है, उसे यह खबर नहीं रहती कि इन दुष्कर्मोंका फल हमें अन्तमें किसी प्रकार भुगतना पड़ेगा। इस जीवनमें जो नाना प्रकारके दुःख हम लोगोंको उठाने पड़ते हैं, वे हमारे पूर्वकर्मोंके ही फल-भोग हैं। यह देह मुख्यतः कर्मका साधन है और यह लोक मुख्यतः कर्मलोक है। इस शरीरके रहते जो भोग प्राप्त होता है, वह कितना ही अधिक होनेपर भी उस भोगसे तो कम ही है, जिस भोगकी पूर्णताके लिये मनुष्यको मृत्युके पश्चात् भोग-देह प्राप्त होता है। यह भोग-देह भी दो प्रकारका है—एक तो वह सूक्ष्म शरीर जिससे सत्कर्मके फलस्वरूप स्वर्गादि भोग भोगा जाता है, और दूसरा वह यातनादेह, जिससे दुष्कर्मके फलस्वरूप नाना प्रकारकी नारकीय यन्त्रणाएँ भोगी जाती हैं। मृत्युके पश्चात् तुरंत ही नवीन देह नहीं प्राप्त होता। नया देहप्राप्त होनेके पूर्व मनोमय और प्राणमय देहसे सुकृत-दुष्कृतके सुख अथवा दुःखरूप फल उसे भोगने पड़ते हैं।

सुकृतोंके पारलौकिक सुखरूप फल इस संसारमें प्राप्त होनेवाले सुखोंसे अनन्तगुना अधिक हैं और दुष्कृतोंके नरकादि दुःखरूप फल इस जीवनमें प्राप्त होनेवाले दुःखोंसे अनन्तगुना अधिक हैं। धर्मशास्त्रों तथा पुराणोंमें उन भोगोंके भोगनेके स्थान—नरकोंका वर्णन है। यदि मनुष्यको उन नरकोंकी जानकारी हो तो वह अनेक ऐसे दुष्कर्मोंसे बच सकता है, जिनके अति भीषण परिणामोंकी कल्पना भी अज्ञानके कारण उसे यहाँ नहीं होती।

कुछ लोग तो शास्त्रोंमें वर्णित इन नरकोंकी बात पढ़-सुनकर इसे असत्य समझनेमें ही अपनी बुद्धिमत्ता समझते हैं, जैसे बिल्लीको देखकर कबूतर अपनी आँखें मीच लेनेमें ही अपना समाधान समझ बैठता है, परंतु इस तरह आँखें बंद कर लेनेमात्रसे न तो कबूतर बिल्लीसे बच पाता है, न हमलोग अपने कर्मोंके भीषण परिणामोंसे बच सकते हैं। कुछ लोग यह भी तर्क करते हैं कि मनुष्य जब मर जाता है, तब उसका शरीर तो यहीं छूट जाता है, फिर इन दुःखोंको भोगता ही कौन है? पर वे थोड़ा विचार करें तो उन्हें यह मालूम होगा कि सुख-दुःख जितने मन और प्राणको होते हैं, उतने शरीरको नहीं होते। मरनेके बाद मनोमय और प्राणमय कोश तो रहते ही हैं, पार्थिव शरीर छूटनेपर इन्हें आतिवाहिक या यातनादेह भी प्राप्त होते हैं। यातना-शरीर इसको इसीलिये कहते हैं कि यह इस प्रकारके उपादानोंसे बना होता है, जिससे वह यातनाभोग ही करता रहता है। वह जलती हुई आगमें दग्ध होनेपर भी नष्ट नहीं होता। यहाँ कतिपय नरकोंका विवरण दिया जा रहा है, जिनमें मृत्युके पश्चात् नरकोंमें प्राप्त होनेवाली उन भीषण पीड़ाओंका वर्णन है, जो जीवके उस देहको यमदूतोंद्वारा दी जाती है—जैसे जलते हुए तेलके कड़ाहमें गिरना, कोड़ोंकी मारका पड़ना, जलाया जाना, क्षत-विक्षत होना इत्यादि।

ये सब कष्ट जिस शरीरको प्राप्त होते हैं, वही यातना-शरीर है। यह पार्थिव शरीर जलने, गिरने, मरने, मारे जाने आदिके जो-जो कष्ट अनुभव करता है, वे सब कष्ट यातना-शरीरको भी होते हैं। पार्थिव शरीरसे इस शरीरमें विशेषता यह है कि पार्थिव शरीर जलाने आदिसे जल जाता है, अङ्ग-भङ्ग हो जाता है, नष्ट हो जाता है, परंतु यातना-शरीर इन सब कष्टोंको केवल भोगता है, पार्थिव शरीरकी तरह वह नष्ट नहीं होता। यातनाभोगके लिये ही यह शरीर प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें जिन मुख्य २८ नरकोंका वर्णन है, उनके नाम, उनके पात्र और उन्हें प्राप्त होनेवाले दुःखोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

नरक-अपराधी और दण्ड

(१) **तामिस्र**—परधन, परस्त्री और परपुत्रका हरण करनेवाला मनुष्य कालपाशसे बाँधा जाकर इस नरकमें ढकेला जाता है। यहाँ उसे भूख-प्यास लगती है, पर खाने-पीनेको कुछ नहीं मिलता। दण्ड-ताडन-तर्जनादि बड़ी पीड़ाएँ दी जाती हैं।

(२) **अन्धतामिस्र**—जो किसी पुरुषको धोखा देकर उसकी पत्नीके साथ समागम करता है तथा जो इस शरीरको, आत्मा और धनको आत्मीय समझकर प्राणियोंसे द्रोह कर केवल अपने ही शरीर, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बका भरण-पोषण करता है, ऐसे दोनों ही प्रकारके लोग इस नरकमें गिरते हैं। यहाँ उनकी स्मृति भ्रष्ट और बुद्धि विनष्ट हो जाती है।

(३) **रौरव**—निरपराध प्राणियोंकी जो हिंसा करता है, वह इस नरकमें गिरता है, यहाँ वे ही प्राणी महाभयंकर रुरु नामक सर्पसे भी अधिक भयंकर जन्तु बनकर उससे बदला लेते हैं।

महारौरव नरक
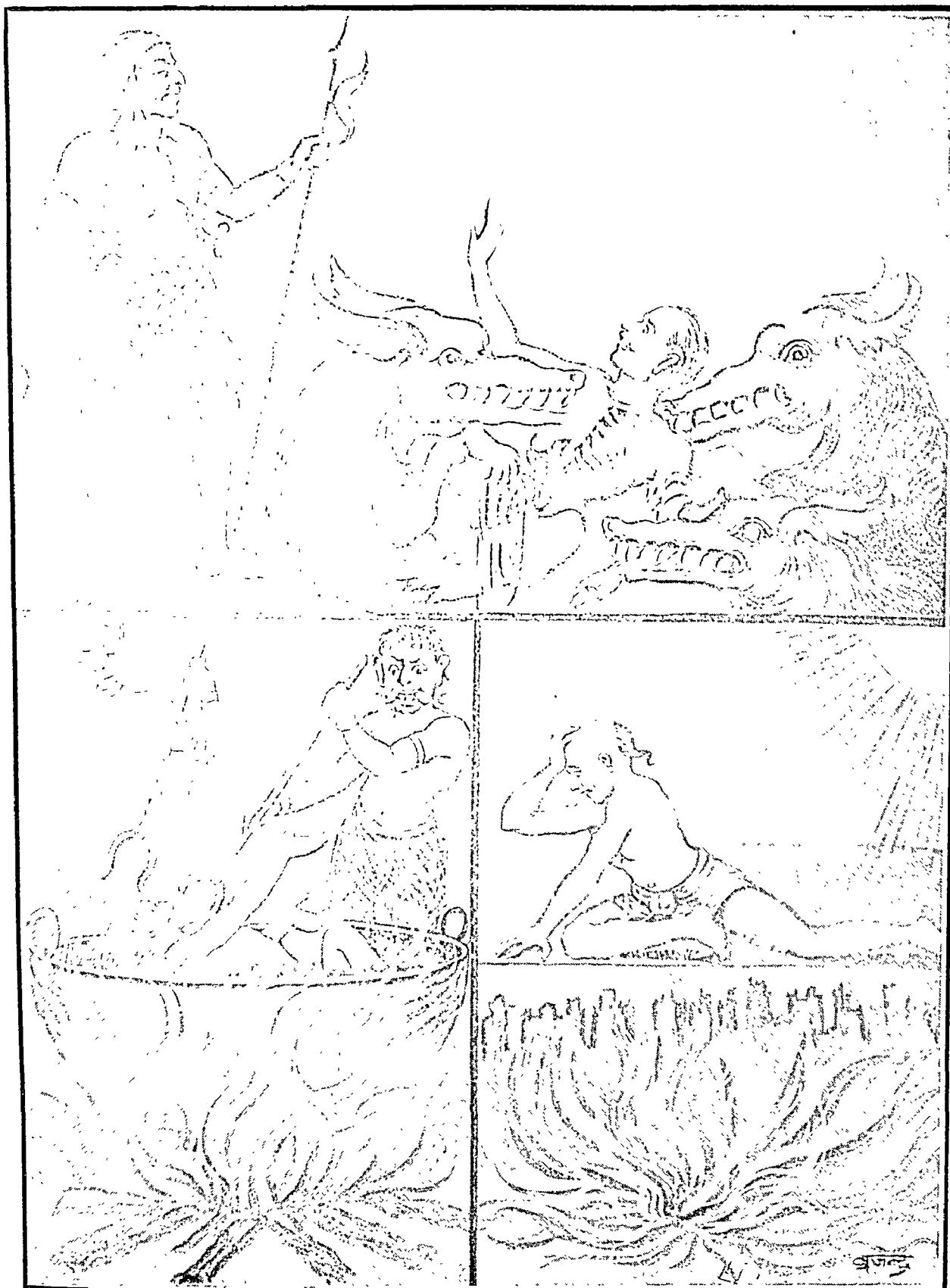
कुम्भीपाक नरक

कालसूत्र नरक
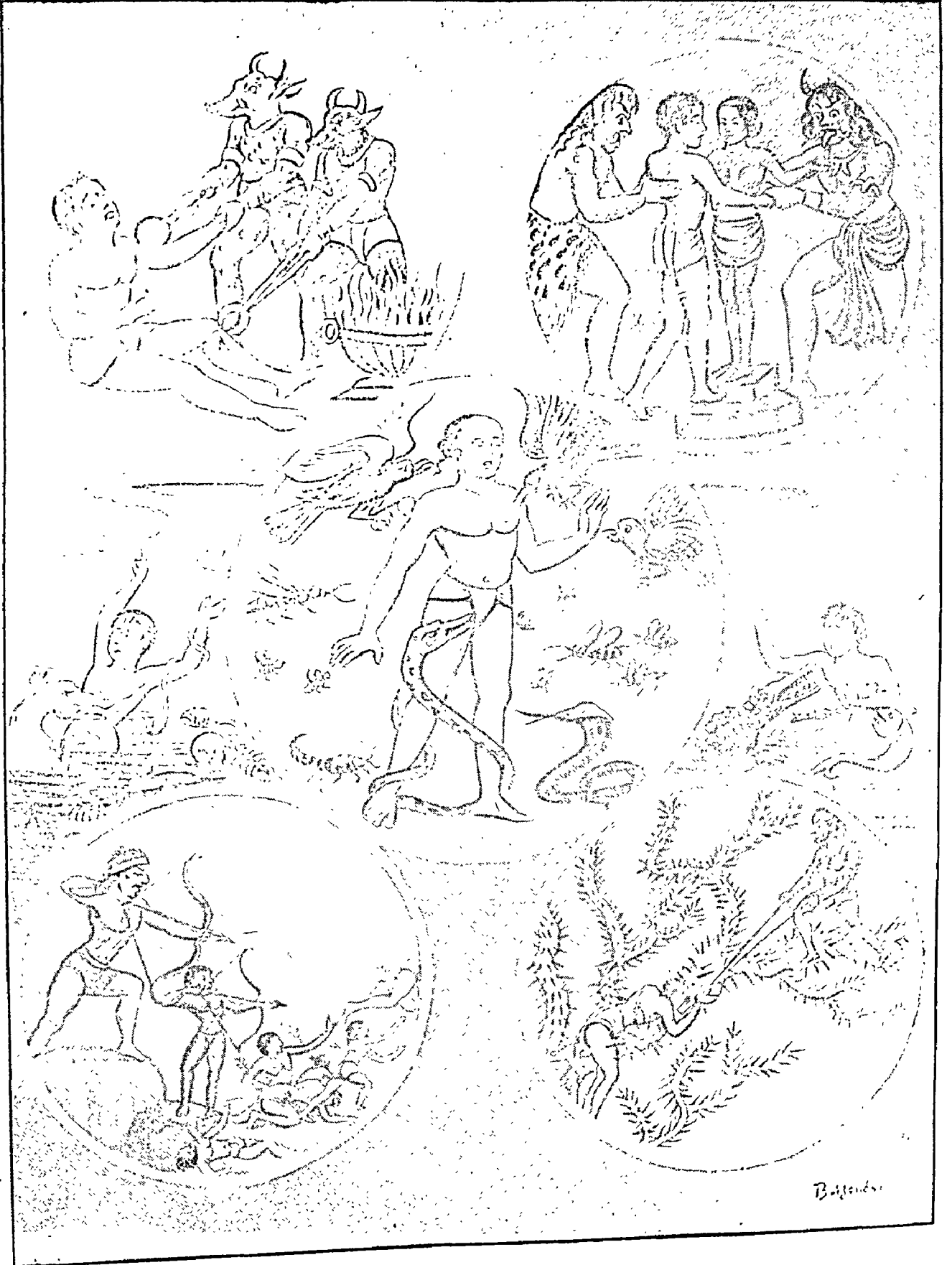
सन्दंश, तप्तसूर्मि, वैतरणी, अन्धकूप, प्राणरोध और वज्रकण्टकशाल्मली नरक

अवीचिमान्, अय:पान, अन्धतामिस्र, सारमेयादन, सूचीमुख, रक्षोगणभोजन और शूलप्रोत नरक

कामके वश हो सगोत्रा स्त्रीमें गमन करता है उसे शुक्रकी नदी-रूप इस नरकमें गिरकर शुक्र-पान करना पड़ता है।

(१९) **सारमेयादन**—दस्युवृत्ति करनेवाले और विषपान करानेवाले लोग तथा गाँवों और काफिलोंको लूटनेवाले राजा या राजसैनिक इस नरकमें गिरते हैं और सात सौ बीस कुत्तोंकी वज्रकराल दाढ़ोंसे चबाये जाते हैं।

(२०) **अवीचिमान्**—जो साक्षी देनेमें झूठ बोलता है, क्रय-विक्रयमें कम तौलता है, दान देते मिथ्या बोलता है, उसे यमदूत सौ योजन ऊँचे पर्वतके शिखरसे नीचे सिर और ऊपर पैर कर निरालम्ब, अवीचिमान् नरकमें गिरा देते हैं। यहाँ स्थल भी पाषाणपृष्ठस्थ तरंगशून्य जलके समान जान पड़ता है। नीचे गिरनेमें प्राणीका शरीर चूर्ण हो जाता है, पर उसके प्राण नहीं निकलते। इस तरह बार-बार वह वहाँसे उठाकर ऊपर लाया जाता है और फिर गिराया जाता है।

(२१) **अयःपान**—जो द्विज, द्विजपत्नी, व्रती जाने या अनजानेमें मद्यपान करते हैं, उन्हें मरनेपर यमदूत पटक देते हैं और छातीपर बलपूर्वक पैर देकर आगमें गला हुआ शीशा पिलाते हैं।

(२२) **क्षारकर्दम**—स्वयं अधम होकर भी जो अपनेको बड़ा मानता और मारे घमंडके अपनेसे जन्म, तप, विद्या, सदाचार, वर्ण और आश्रममें श्रेष्ठ पुरुषको आदर नहीं देता, उनका निरादर करता है, वह जीवन्मृत मनुष्य 'क्षारकर्दम' नरकमें गिरता है। वहाँ उसका सिर नीचे हो जाता है और वह अनेक यातनाएँ भोगता है।

(२३) **रक्षोगणभोजन**—जो लोग अन्य पुरुषोंके प्राण लेकर भैरवादिकी बलि देते हैं और जो स्त्रियाँ मनुष्यों और पशुओंका मांस खाती हैं, वे स्त्री-पुरुष रक्षोगणभोजन नरकमें गिरकर उन्हीं मारे हुए, राक्षसरूपको प्राप्त पशुओं और पुरुषोंद्वारा खड्गसे काटे जाते हैं और उनके भोजन बनते हैं।

(२४) **शूलप्रोत**—वन या ग्रामके पशु-पक्षी सभी जीना चाहते हैं, उन्हें जो अनेक उपायोंसे विश्वास दिलाकर शूल या सूत्रसे अङ्ग छेदकर उड़ाते या यन्त्रणा देते हैं, वे शूलप्रोत नरकमें गिरते हैं। उन्हें यमदूत शूलीपर चढ़ाते हैं और भूख तथा प्यासके मारे उन्हें तड़पना पड़ता है। कंक, वक आदि तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी उन्हें चोंच मार-मारकर जर्जर कर डालते हैं। तब वे अपने अनाचारोंका स्मरण कर पश्चात्ताप करते हैं।

(२५) **दन्दशूक**—जो मनुष्य उग्रस्वभाव बनकर प्राणियोंको भयभीत करता है वह मरनेपर दन्दशूक नरकमें गिरता है। वहाँ पञ्चमुख, सप्तमुख विषधर सर्प आकर उन्हें चूहोंकी तरह निगल जाते हैं।

(२६) **अवटनिरोध**—प्राणियोंको जो अन्धे गढ़े या अन्धे कुएँ या अँधेरी गुफाओंमें बंद कर देते हैं, वे अवटनिरोध नरकके भागी होते हैं। वे वैसे ही बंद और अन्धस्थानोंमें कैद होते हैं और वहाँके विषमय धुएँसे उनका दम घुटा करता है।

(२७) **पर्यावर्तन**—अतिथि-अभ्यागतके आनेपर क्रोधसे लाल-लाल आँखें निकालकर जो मानो अंगारे बरसाता है, वह पर्यावर्तन नरकमें गिरता है, उसके नेत्र वज्रचञ्चु कंकादि पक्षियोंद्वारा निकाले जाते हैं।

(२८) **सूचीमुख**—धनके गर्वसे जो अपनेको श्रेष्ठ समझता है—दूसरोंको वक्र-दृष्टिसे देखता है, गुरुजनोंसे अपने धनके विषयमें सशंक रहता है, धन-व्ययकी चिन्तासे सूखता रहता और यक्षकी तरह उसीकी रक्षामें दक्ष रहता है, उसका सदुपयोग या भोग नहीं करता, वह मरनेपर सूचीमुख नरकमें गिरकर यमदूतोंद्वारा सुइयोंसे छेदा जाता और सिया जाता है।

ये अट्ठाईस नरक मुख्य हैं। वैसे साधारण नरक तो सहस्रों हैं। जितने प्रकारके दुष्कर्म हो सकते हैं, उतने ही प्रकारके नरक हैं, ऐसा समझा जा सकता है। पर ये अट्ठाईस नमूने इस बातका अनुसंधान करनेके लिये काफी हैं कि किसी प्रकारके दुष्कर्मका कैसा फल हो सकता है। कर्म और उसका फल किसी वृक्षके बीज और फलके समान ही हैं। इनका परस्पर विच्छेद नहीं हो सकता। यातनादेहसे दुष्कर्मोंके फलभोगके पश्चात् नरकसे उद्धार होकर नया जन्म होता है और यह जन्म यदि मनुष्यजन्म है तो पूर्व कर्मोंके शेष फलको इस नवीन शरीरमें भोगते हुए भावी सुधारनेके साधनका अवसर मिलता है। इसलिये शास्त्रोंका सर्वत्र यही उपदेश है कि पूर्वजन्मार्जित कर्मफलको अपने ही कर्मका फल जानकर इस मनुष्य-शरीरको स्थायी सुख देनेवाले सत्कर्मोंमें लगाना चाहिये और सदा धर्माचरणमें ही मन लगाना चाहिये।
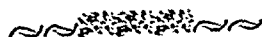
धर्माचरणके आदर्श चरित [आख्यान]

सत्यधर्मके आदर्श राजा हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठा

अयोध्यानरेश महाराज हरिश्चन्द्रकी कथा प्रख्यात है—देवराज इन्द्रकी प्रेरणासे महर्षि विश्वामित्रने उनकी सत्यनिष्ठाकी परीक्षा ली।

महाराज हरिश्चन्द्रकी परीक्षा—परीक्षाने उनकी निष्ठाको अधिक उज्ज्वल ही किया। स्वप्नमें महाराजने ब्राह्मणको राज्य-दान किया था। स्वप्नके उस दानको सत्य करनेके लिये वे अयोध्याधीश स्त्री तथा पुत्रके साथ राज्य त्यागकर काशी आ गये। ब्राह्मणको दक्षिणा देनेके लिये अपनी स्त्रीको उन्होंने ब्राह्मणके हाथ बेचा। स्वयं वे बिके चाण्डालके हाथ।

अयोध्याके नरेश चाण्डालके चाकर होकर श्मशानके चौकीदार बने।

ब्राह्मणके यहाँ कुमार रोहिताश्वको सर्पने काट लिया। बेचारी महारानी—अब तो वे दासीमात्र थीं। पुत्रके शवको उठाये अकेली श्मशान पहुँचीं। हाय रे दुर्भाग्य—श्मशानका चौकीदार विना 'कर' लिये शवको जलाने दे नहीं सकता था। कौन चौकीदार—उस मृत पुत्रका पिता—स्वयं महाराज हरिश्चन्द्र। छातीपर पत्थर रखकर कर्तव्यका पालन करना था—स्वामीने आज्ञा जो दी थी कि 'कर' दिये बिना कोई शव न जलाने पावे।

एक साड़ी—महारानीके पास उस साड़ीको छोड़कर था क्या जो 'कर' दे। वह साड़ी ही आधी फाड़कर 'कर' दे सकती थी। उस पति-परायणा, धर्मशीला नारीने साड़ी फाड़नेके लिये हाथ लगाया। उसी समय आकाशमें प्रकाश छा गया। बड़ी गम्भीर ध्वनि सुनायी पड़ी—

अहो दानमहो धैर्यमहो वीर्यमखण्डितम्।
उदारधीरवीराणां हरिश्चन्द्रो निदर्शनम्॥

'आप धन्य हैं, आपका दान धन्य है, आपकी धीरता और वीरता धन्य है, आप उदार, धीर और वीर पुरुषोंके आदर्श हैं।'

देखते-ही-देखते धर्मके साथ भगवान् नारायण, शंकर, ब्रह्मा, इन्द्र आदि प्रकट हो गये। विश्वामित्र क्षमा माँगने लगे। हरिश्चन्द्रने सबको प्रणाम किया। रोहिताश्व जीवित हो गया। हरिश्चन्द्र और शैव्याके देह दिव्य हो गये और वे भगवद्धामको प्राप्त हुए। उनके इच्छानुसार समस्त अयोध्या नगरीके लोग विमानोंपर सवार होकर स्वर्ग चले गये। शुक्राचार्यने गाथा गायी—

हरिश्चन्द्रसमो राजा न भूतो न भविष्यति।

'हरिश्चन्द्रके समान राजा न कोई हुआ, न होगा।'

स्वयं महर्षि विश्वामित्रने रोहिताश्वको अयोध्याके सिंहासनपर अभिषिक्त किया। रानीके साथ महाराज हरिश्चन्द्रको सुदुर्लभ भगवद्धाम प्राप्त हुआ।

शरणागत धर्मके आदर्श महाराज शिबिका मांसदान

महाराज शिबिकी शरणागतरक्षा इतनी प्रसिद्ध थी, उनका यश इतना उज्ज्वल था कि देवराज इन्द्र तथा अग्निदेवको भी स्पर्धा हो उठी। वे महाराजके यशकी उज्ज्वलताकी परीक्षा लेनेको उद्यत हो गये।

महाराज शिबि अपने प्राङ्गणमें बैठे थे। सहसा एक कपोत आकाशसे सीधे आकर उनकी गोदमें गिरा और वस्त्रोंमें छिपने लगा। कपोत भयसे काँप रहा था। महाराजने स्नेहसे उसपर हाथ फेरा।

कपोत जिसके भयसे काँप रहा था, वह बाज भी दो ही क्षणोंमें आ पहुँचा। बाजने स्पष्ट मानवी भाषामें कहा—'महाराज! आप किसीका आहार छीन लें, यह धर्म नहीं है। कपोत मेरा आहार है। मैं भूखसे मर रहा हूँ। मेरा आहार मुझे दीजिये।'

'मैं शरणागतका त्याग नहीं करूँगा। तुम्हारा पेट तो किसीके भी मांससे भर जायगा!' महाराज शिबिने अपना निश्चय सूचित कर दिया।

किसी भी दूसरे प्राणीकी हत्या पाप है। बाजको मांस चाहिये था। महाराज शिबिने अपने शरीरका मांस देना निश्चित किया। कपोतके बराबर तौला हुआ मांस बाज माँग रहा था। तराजूके एक पलड़ेमें कपोतको बैठाकर अपने हाथसे अपना अङ्ग काटकर महाराजने दूसरे पलड़ेमें रखा, किंतु कपोत उस अङ्गसे भारी रहा। महाराज अपने अङ्ग

काट-काटकर पलड़ेपर चढ़ाते गये और जब इतनेसे कपोतका वजन पूरा न हुआ तो स्वयं पलड़ेमें जा बैठे।

बाज बने देवराज इन्द्र और कपोत बने अग्निदेव अपने असली रूपोंमें प्रकट हो गये। महाराज शिबिके अङ्ग देवराजकी कृपासे पूर्ववत् स्वस्थ हो गये। दोनों देवता उन महामनस्वीकी प्रशंसा करके भी अपनेको कृतार्थ मानते थे। ऐसे पुण्यात्मा स्वर्गमें भी उन्हें कहाँ प्राप्त थे।

परोपकार-धर्मके आदर्श महर्षि दधीचिका अस्थिदान

वृत्रासुरने अमरावतीपर अधिकार कर लिया था। देवता उससे युद्ध करके कैसे पार पा सकते थे। जिन अस्त्र-शस्त्रोंपर देवताओंको बड़ा गर्व था, उन्हें वह महाप्राण तभी निगल चुका था, जब देवताओंने उसपर प्रथम आक्रमण किया। वृत्रकी अध्यक्षतामें असुर स्वर्गके उद्यानोंका मनमाना उपभोग कर रहे थे।

'महर्षि दधीचिकी अस्थिसे विश्वकर्मा वज्र बनावें तो उस वज्रके द्वारा इन्द्र वृत्रासुरका वध कर सकेंगे।' जगत्पालनकर्ता भगवान् विष्णुने शरणागत देवताओंको एक उपाय बता दिया।

दधीचिकी अस्थि—लेकिन महर्षि दधीचि-जैसे महातापसके साथ बल-प्रयोग करनेका संकल्प करनेपर तो अमरोंकी अपनी अस्थियाँ भी कदाचित् भस्म हो जायँ। दधीचिकी शरणमें जाकर याचना करना ही एकमात्र उपाय था। समस्त देवता पहुँचे महर्षिके आश्रममें और उन्होंने याचना की—अस्थिकी याचना!

'शरीर तो नश्वर है। वह एक-न-एक दिन नष्ट होगा ही। इस नश्वर शरीरके द्वारा किसीका कुछ उपकार हो जाय—यह तो सौभाग्यकी बात है।' उस महातापसके मुखपर आनन्द उल्लसित हुआ, देवताओंकी दारुण याचना सुनकर।

'मैं समाधिमें स्थित होकर देहत्याग करता हूँ। आपलोग मेरी अस्थि लेकर अपना उद्देश्य सिद्ध करें।' महर्षि दधीचि आसन लगाकर बैठ गये। जैसे कोई सड़ा-पुराना वस्त्र शरीरसे उतार फेंके—योगके द्वारा देह त्याग दिया उन्होंने और फिर अस्थियोंसे विश्वकर्माने बनाया महेन्द्रका अमोघ अस्त्र वज्र।

धर्मपालनके आदर्श महाराज दिवोदास

भगवान् शंकर काशीसे कैलास गये और वहाँ आसन लगाकर समाधिमें स्थित हुए तो काल बीतता चला गया। समाधि भङ्ग तब हुई, जब काशीमें राजसिंहासनपर महाराज दिवोदास थे। आयुर्वेदके परमाचार्य और धर्मकी मानो साकार मूर्ति दिवोदास। उनके शासनमें सम्पूर्ण प्रजा संयम तथा धर्मका दृढ़तासे पालन करती थी। कायिक व्याधि सुचिकित्साके सम्यक् प्रबन्धसे राज्यसे निर्वासित हो गयी और धर्ममें स्थित लोगोंके मनको मानसिक व्याधि स्पर्श करती नहीं। सम्पूर्ण प्रजा सुखी, संतुष्ट, प्रसन्न थी। लोग भूल ही गये कि उनको आशुतोष विश्वनाथ अथवा अन्नपूर्णाकी भी कोई आवश्यकता है।

भगवान् शंकरको काशी बहुत प्रिय है। वे काशीमें निवास करनेको उत्सुक थे। काशी आकर वे रहते तो कोई बाधा नहीं थी; किंतु अपनी पुरीमें ही कोई अपनी बात पूछनेवाला न हो तो वहाँ जाकर रहना क्या सुखद होगा? शंकरजीको लगा कि दिवोदास हटें तो पुरी अपने रहने योग्य हो। किंतु दिवोदास हटें कैसे? धर्मनिष्ठाके कारण उनका स्पर्श न रोग कर सकते थे, न मृत्यु उन्हें या उनकी प्रजाको मारनेमें समर्थ थी।

शंकरजीने सूर्यको भेजा—'काशी जाकर कुछ करो दिवोदासको हटानेके लिये।'

सूर्यदेव ब्राह्मण बनकर काशी आये। दिवोदासमें कहीं कभी धर्मके प्रति प्रमाद दीखे तो कोई कुछ कर सकें। उस महान् पुण्यात्माके आचरणमें कहीं कोई त्रुटि, कोई छिद्र निखिल-लोकद्रष्टा सूर्यको दिखायी नहीं पड़ा। इतनी सुरम्य, इतनी सात्त्विक, इतनी प्रशान्त पुरी है वाराणसी! सूर्य तो मुग्ध हो गये। उन्होंने राजासे निवासस्थान माँगा और बस गये वहीं। लोलार्कक्षेत्र उनका अब भी निवास है।

भगवान् शिवने चन्द्रमाको भेजा, भैरवको भेजा, गणेशको भेजा और अम्बिकाको भेजा। एकके बाद एकको भेजते गये। जो काशी गया समाचार देने लौटकर आया ही नहीं। उस धर्मपुरीने अपने आकर्षणमें उसको बाँध लिया दूसरेकी बात जाने दीजिये, जब स्वयं अर्धाङ्गनिवासिनी अन्नपूर्णा नहीं लौटीं, तब भोलेबाबा व्याकुल हुए। उन्होंने भगवान् नारायणका स्मरण किया।

शंकरजीकी प्रेरणासे विष्णुभगवान् ब्राह्मण बनकर काशी आये। वे सीधे राजसभामें पहुँचे। राजाकी अर्चा-पूजा स्वीकार करनेके अनन्तर बोले—'राजन्! मैं न भिक्षाजीवी हूँ और न दानजीवी। आप अपनी पुरीमें कथा-वार्ता

करनेकी अनुमति दें तो कुछ दिन देह-निर्वाह करते रहना चाहता हूँ।'

'महती कृपा आपकी!' राजा दिवोदासने प्रार्थना की—आप राजसभामें ही कथा करें तो मेरे कान भी पवित्र हों!

उन कथावाचकजीको तो यही अभीष्ट था। राजसभा कथामण्डप बन गयी। काशीमें कहाँ उस समय अपराध होते थे कि किसीको अभियोग सुनना-सुनाना था। कथावाचक स्वयं श्रीहरि हों तो कथाके माधुर्यका क्या कहना। एक ही विषय कथाका—वैकुण्ठके वैभव तथा उत्कृष्टताका वर्णन। प्रतिदिन वैकुण्ठकी बात सुनते-सुनते राजाके मनमें किञ्चित् स्पृहा जागी। पूछा एक दिन—वैकुण्ठ मिलता कैसे है?

'दूसरोंको कैसे भी मिलता हो, आप इच्छा करें तो पूरी प्रजाके साथ अभी पहुँच सकते हैं।' कथावाचकजी बोले। 'राजन्! यह मर्त्य धरा है। यहाँ दीर्घकाल अमर बने रहना भी सृष्टिकी मर्यादाका भङ्ग करके अधर्म करना ही है। आप वैकुण्ठ चलें!'

राजाके स्वीकार करते ही भगवान् अपने रूपमें प्रकट हो गये। प्रजाके साथ दिवोदास वैकुण्ठ चले गये, तब भगवान् शंकर काशी आये।

व्रतनिष्ठाके आदर्श राजा रुक्माङ्गद

'भगवन्! अयोध्याका आज अधिकांश पृथ्वीपर शासन है और उस राज्यमें मेरे दूतोंका प्रवेश वर्जित हो गया है।' यमराजने उस दिन सृष्टिकर्तासे प्रार्थना की। 'कर्मलोक—पृथ्वीके अधिकांश प्राणी अमर बने रहेंगे तो मेरे कर्म-निर्णायक होनेका अर्थ क्या है? नरक और स्वर्ग दोनों रिक्त होते जा रहे हैं। जो प्राणी पृथ्वीपर जाता है, लौटकर आता ही नहीं। मेरे यहाँ तो अब कोई कार्य ही नहीं है।'

तमोगुण या पाप ही प्रलयका हेतु नहीं होता। सृष्टिमें तो तीनों गुणोंमें समन्वय अपेक्षित है और इस समय वह समन्वय नष्ट हो गया था। अयोध्याके सिंहासनपर राजा रुक्माङ्गद थे। वे एकादशीव्रत बड़ी निष्ठापूर्वक करते थे।

इन्द्रियोंको वशमें करके एकादशीको दिन-रात केवल भगवान्‌का पूजन-कीर्तन, नाम-जप तथा कथा-श्रवण करना, काम-क्रोध-लोभादिका त्याग कर देना, असत्य, कटुवाणी न बोलना एवं परनिन्दा न करना, धर्म तथा ईश्वरके द्वेषीसे बात न करना—ये जो एकादशीव्रतके नियम हैं, इनका बड़ी दृढ़तासे राजा रुक्माङ्गद स्वयं पालन करते थे। राजाज्ञाके कारण सम्पूर्ण प्रजा इस व्रत एवं नियमका पालन करती थी। परिणाम यह था कि यमदूत उस राज्यमें प्रवेश करनेमें ही समर्थ नहीं रह गये थे।

'कुछ तो करना ही होगा।' सृष्टिकर्ताने क्षणभर सोचा और एक परम सुन्दर नारीका निर्माण किया। वह रमणी स्रष्टाकी प्रेरणासे अयोध्या आयी। राजा उसके रूप-सौन्दर्यपर मोहित हो गये। जब राजाने उससे विवाह करना चाहा, तब बोली—'यदि आप मेरा अनुरोध कभी अस्वीकार न करनेकी प्रतिज्ञा करें तो मैं आपका वरण करूँगी।'

'नारि बिष्नु माया प्रगट!' अतः राजाने बिना सोचे-विचारे उसकी बात मान ली और उससे विवाह कर लिया। किंतु जब एकादशी तिथि आयी, उस रानीने कहा—'आप आज व्रत मत कीजिये!'

राजा तो सुनते ही जैसे सूख गये। बोले—'देवि! तुम' यह आग्रह मत करो। इसके बदले मेरे प्राण भी माँगो तो मैं दे सकता हूँ। तुम और कुछ माँगो, किंतु यह व्रत त्यागनेको मत कहो।'

'तब आप अपने इकलौते पुत्र कुमार धर्माङ्गदका मस्तक अपने हाथसे काटकर मुझे दीजिये!' क्रोधसे झुँझलाकर पैर पटकती उस मोहिनीने कहा।

'पिताजी! शरीर तो अमर है नहीं। इसे जब एक दिन नष्ट होना ही है, माताको संतुष्ट करनेमें यह सार्थक हो। आप अपने सत्यकी रक्षा करें।'

राजकुमार वहीं थे। उन्होंने बड़ी नम्रतापूर्वक प्रार्थना की। 'पिताके व्रत तथा सत्यकी रक्षामें मेरा शरीर लगे, ऐसा सौभाग्य फिर कहाँ मुझे मिलेगा।'

'आपका पुत्र ठीक कहता है।' परम सती राजकुमारकी माता संध्यावलीने भी समर्थन किया। 'आप अपने सत्यकी रक्षा करें!'

धन्य भारतकी नारी! पतिके सत्यकी रक्षाके लिये पुत्रके बलिदानका समर्थन करनेकी महान् शक्ति तुममें ही है। राजाने तलवार उठायी; किंतु यदि रुक्माङ्गद-जैसे व्रतनिष्ठको पुत्रवध करना पड़े, धर्माङ्गद-से पितृभक्तको अकाल मृत्यु प्राप्त हो, धरा यों ही बनी रहेगी? धर्म, जो धराका धारक है, ध्वंसका कारण नहीं बनेगा? धर्मराज एवं ब्रह्मा ही नहीं, स्वयं भगवान् नारायण, जो धर्मके परम प्रभु हैं, तत्काल प्रकट हो गये। रुक्माङ्गदको सशरीर, सपरिवार विमानमें

अपने साथ वैकुण्ठ ले गये वे त्रिभुवनके स्वामी।

धर्मज्ञ तोता

एक विशाल वटवृक्ष था। उसके ऊपर बहुत-से पक्षी रात्रि-विश्राम करते थे। बहुतोंने उसपर घोंसले बनाये थे और बहुतसे उसके कोटरोंमें रहते थे। एक बार एक व्याधका विष-बुझा बाण लक्ष्य-भ्रष्ट होकर उस वट-वृक्षमें लग गया, विष तीव्र था, उसके प्रभावसे वृक्षके पत्ते मुरझाने लगे। धीरे-धीरे वृक्ष सूख गया।

वृक्षके आश्रयमें रहनेवाले दूसरे पक्षी वृक्षके सूखनेपर अन्यत्र चले गये; किंतु उसके कोटरमें रहनेवाला एक तोता कहीं गया नहीं, उलटे उसने कोटरसे निकलना छोड़ दिया। जल तथा चुग्गा छोड़नेके कारण वह सूखकर दुबला हो गया। उसके सुन्दर पर झड़ने लगे। वह वृक्षके साथ प्राण देनेका निश्चय कर चुका था।

तोतेके त्याग, तप तथा धैर्यके कारण देवराज इन्द्रको उसपर दया आयी। वे वहाँ आये और बोले—'पक्षी! इस वृक्षपर रहनेवाले दूसरे सब पक्षी चले गये। तुम्हारे रहने योग्य हरे-भरे सघन वृक्ष वनमें बहुत हैं। उनमें तुम्हारे निवास योग्य कोटर भी हैं। यह वृक्ष सूख चुका है। अब यह हरा नहीं होगा। अब तो किसी दिन इसे गिर जाना है। अतः तुम इसे छोड़कर किसी हरे वृक्षपर क्यों नहीं चले जाते?'

तोता बोला—'देवराज! मैं इसी वृक्षके कोटरमें उत्पन्न हुआ। इसीपर बढ़ा, इससे मैंने सर्दी, गरमी, वर्षा और शत्रुओंसे रक्षा पायी। इसके फल खाकर मैं पुष्ट हुआ। अब जब यह बुरी दशामें है, इसे छोड़कर मैं अपने सुखके लिये कहाँ जाऊँ? मैंने इससे सुख भोगे, अब विपत्तिमें इसका त्याग नहीं करूँगा।'

इन्द्र प्रसन्न हुए। उन्होंने तोतेसे वरदान माँगनेको कहा। तोतेने कहा—आप प्रसन्न हैं तो इस वृक्षको हरा-भरा कर दें।'

अमृत-वर्षा करके इन्द्रने वृक्षको हरा-भरा कर दिया।

धर्मरक्षाके आदर्श महाराज नल

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्॥[१]

महाराज नल बड़े ही धर्मात्मा और प्रजापालक नरपति थे। इनके राज्यमें सर्वत्र धर्मका प्रचार था, कलियुगके लिये कहीं तनिक भी स्थान नहीं था। सभी युगोंमें चारों युग न्यूनाधिकरूपमें रहते हैं, किंतु नलने कलिको एकदम अपने राज्यसे बाहर कर दिया था। इससे कलियुग नाराज होकर चला गया और उसने राजासे बदला लेनेकी प्रतिज्ञा की।

एक बार महाराज नल जंगलमें जा रहे थे, वहाँ उन्हें एक हंस मिला। महाराजने उसे जिस-किसी प्रकार पकड़ लिया। हंसने कहा—'महाराज! आप मुझे छोड़ दें, मैं आपका प्रिय करूँगा।' महाराजने उसे छोड़ दिया। वह विदर्भ देशके महाराजकी पुत्री दमयन्तीके यहाँ गया। उन दिनों संसारभरकी समस्त राजकुमारियोंमें दमयन्ती सबसे अधिक रूपवती थी, देवता भी उसे पानेकी इच्छा करते थे। हंसने जाकर दमयन्तीसे महाराज नलके गुणोंकी प्रशंसा की। दमयन्तीने मन-ही-मन महाराज नलको वरण कर लिया। देवताओंने भाँति-भाँतिसे उसे उसके निश्चयसे डिगाना चाहा, किंतु वह दृढ़ बनी रही। उसने सहेलियोंद्वारा यह बात अपने पितातक पहुँचा दी। पिताने उसका स्वयंवर रचा। स्वयंवरमें दमयन्तीने राजा नलके गलेमें जयमाल डाल दी। महाराजका दमयन्तीके साथ विवाह हो गया। दमयन्ती बड़ी पतिव्रता थी। पतिकी आज्ञाके विरुद्ध वह कुछ भी नहीं करती थी। महाराज भी उससे बहुत अधिक प्रेम करते थे। दमयन्तीके गर्भसे महाराजके एक कन्या और एक पुत्र हुआ।

कलियुग तो महाराजको नीचा दिखानेकी चिन्तामें था ही, एक बार महाराज अपने भाईसे वैसे ही जूआ खेल रहे थे। उन्हें ध्यान ही न रहा कि जूएमें कलियुगका निवास है। कलिको अच्छा अवसर मिला, वह पासोंमें आकर बैठ गया। महाराज नलकी बराबर हार होती रही। यहाँतक कि वे राजपाट, धन-धान्य, महल-सवारी—सभी हार गये। उनके भाईने उनको स्त्री-सहित एक-एक वस्त्र देकर घरसे निकाल दिया। महाराजने पुत्र और पुत्रीको तो विदर्भ भेज दिया था। रानीके सहित वे जंगलोंमें भूखे-प्यासे भटकने लगे। उनके पास खानेको कोई वस्तु नहीं थी, भूखके कारण व्याकुल हो गये। रानी भूख-प्याससे दुःखी होकर अत्यन्त थकावटके कारण एक वृक्षके नीचे सो गयी। महाराज उदास-मनसे सोच रहे थे कि अब क्या करें।

१-कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल और ऋतुपर्ण—इनका कीर्तन करनेसे कलिका प्रभाव नहीं पड़ता।

इतनेमें ही कलियुग देवता सोनेके पक्षी बनकर इधर-उधर घूमने लगे। महाराजने उन्हें पकड़नेके लिये अपनी धोती फेंकी। वे तो कलियुगके रूप थे। महाराजके पास एक धोती थी, उसे भी लेकर उड़ गये। महाराज बड़े घबड़ाये, उन्होंने सोती हुई रानीकी आधी धोती फाड़कर पहन ली और उसे यों ही सोती छोड़कर चल दिये। आगे चलकर उन्हें एक जंगलमें अग्नि लगी हुई दिखायी दी, उसमें एक अजगर सर्प जल रहा था। उसने राजासे प्रार्थना की कि मुझे उठा लो। राजाने उसे वहाँसे उठाकर दूसरी जगह रख दिया, रखते ही उसने महाराज नलको काट लिया। उसके काटनेसे महाराजका शरीर काला पड़ गया और उनका रूप एकदम बदल गया। महाराजने कहा—'तुमने यह क्या कृतघ्नता की?' उसने कहा—'मैं कर्कोटक नाग हूँ, मैंने आपका उपकार ही किया है, इससे आपको कोई और पहचान नहीं सकेगा।' कर्कोटकने राजाको एक वस्त्र दिया और कहा कि जब आप इसे पहन लेंगे तब आपको अपना असली रूप फिर प्राप्त हो जायगा। महाराज नलने वहाँसे जाकर अयोध्याके नरेश महाराज ऋतुपर्णके यहाँ रथ हाँकनेकी नौकरी कर ली।

इधर दमयन्ती किसी तरह घूमती-घामती अपने पिताके घर जा पहुँची, उसके पिताने देश-विदेश दूत भेजकर नलका पता लगवाया। एक दूतसे पता चला कि वे अयोध्यानरेशके यहाँ नौकर हैं। उनका रूप बदला हुआ था, इसलिये राजाने परीक्षाके निमित्त दमयन्तीके दूसरे स्वयंवरकी घोषणा की और समय एक ही दिनका रखा। उसमें राजा ऋतुपर्णको भी बुलाया गया। महाराज नल तो अश्वविद्याके आचार्य ही थे, उन्होंने समयसे पहले ही राजाको विदर्भ देशमें पहुँचा दिया। दमयन्तीने कई प्रकारसे अपने पतिकी परीक्षा करके अपने पिताको बता दिया कि ये वे ही हैं। तब राजाने नलकी विधिवत् पूजा की। अयोध्याधिपति महाराज ऋतुपर्णने भी उन्हें पहचानकर उनका सत्कार किया। उनसे अश्वविद्या सीखी और उन्हें द्यूतविद्या सिखायी।

महाराज ऋतुपर्णसे द्यूतविद्या सीखकर नल अपनी राजधानीको गये, वहाँ उन्होंने भाईसे फिर द्यूत खेला और अपना सब राज-पाट जीतकर वे फिर राजा हुए।

महाराज नल पुण्यश्लोक क्यों हुए? इसीलिये कि उन्होंने अपने धर्मको नहीं छोड़ा। दुष्ट लोगोंपर कोई विपत्ति पड़ती हैं तो वे धर्ममर्यादाको छोड़कर भाँति-भाँतिके पापमय उपायोंसे उसे हटानेकी चेष्टा करते हैं, किंतु जो धर्मात्मा होते हैं वे कैसी भी विपत्ति आ जाय उसे दृढ़तासे सहन करते हैं।

'विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।'

सदाचार और धर्म-पालनके आदर्श तुलाधार

काशीमें तुलाधार नामके दो व्यक्ति हुए हैं—एक व्याध और दूसरे वैश्य। पहले सज्जन माता-पिताकी सेवामें सर्वदा लगे रहते थे और उन्हें ही भगवत्-रूप समझकर एक क्षणके लिये भी उनसे पराङ्मुख नहीं होते थे। स्वयं भगवान् ही क्यों न आ जायँ, ये अपने माता-पिताकी उपासनामें किसी तरहकी त्रुटि नहीं आने देते थे। इसके फलस्वरूप उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ था। उन्हें भूत-भविष्य, परोक्ष-अपरोक्ष सब तरहकी बातें मालूम हो जाती थीं और भगवत्-तत्त्वसे वे कभी विच्युत नहीं होते थे। एक सज्जनका नाम था कृतबोध, उन्होंने बड़ी तपस्या की थी और उपनिषदोंका ज्ञान सम्पादन किया था। जब वे तुलाधार व्याधके सामने आये, तब इन्होंने उनकी तपस्या और उनकी सिद्धिका ठीक-ठीक वर्णन कर दिया। इससे वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने भी इन्हींकी भाँति माता-पिताकी सेवाका व्रत ले लिया।

दूसरे तुलाधार एक वैश्य थे। ये अत्यन्त भगवद्भक्त और सत्यपरायण थे। इनकी प्रशंसा सभी लोग करते थे। ये व्यापारमें लगे रहकर भी इतने धर्मनिष्ठ और भगवच्चिन्तनपरायण थे कि इनकी समता करनेवाला उस समय और कोई नहीं था।

उन्हीं दिनों जाजलि नामके एक ब्राह्मण समुद्र-किनारे घोर तपस्या कर रहे थे। वे अपने आहार-विहारको नियमित करके, वस्त्रके स्थानपर वल्कलका उपयोग करते हुए, मन-प्राण आदिको रोककर योगसाधनाकी बहुत ऊँची भूमिकामें पहुँच गये थे। एक दिन जलमें खड़े होकर ध्यान करते-करते उनके मनमें सृष्टिके ज्ञानका उदय हुआ। भूगोल-खगोल आदिके विषय उन्हें करामलकवत् प्रत्यक्ष होने लगे। उनके मनमें यह अभिमान हो आया कि मेरे समान कोई दूसरा नहीं है। उनके इस भावको जानकर आकाशवाणी हुई—'महाशय! आपका यह सोचना ठीक नहीं। काशीमें एक तुलाधार नामके व्यापारी रहते हैं, वे भी ऐसी बात नहीं कह सकते, आपको तो अभी ज्ञान ही क्या हुआ है?' इसपर जाजलिने तुलाधारके दर्शनकी उत्कण्ठा

प्रकट की और मार्गका ज्ञान प्राप्त करके काशीकी ओर चल पड़े। तीर्थाटन करते हुए वे काशी पहुँचे और उन्होंने देखा कि महात्मा तुलाधार अपनी दुकानपर बैठे व्यापारका काम कर रहे हैं। जाजलिको देखते ही वे उठ खड़े हुए और बड़ा स्वागत-सत्कार करके नम्रताके साथ बोले—'ब्रह्मन्! आप मेरे ही पास आये हैं, आपकी तपस्याका मुझे पता है। आपने जाड़े, गरमी और वर्षाकी परवा न करके केवल वायु पीते हुए ठूँठकी तरह खड़े रहकर तपस्या की है। जब आपको सूखा वृक्ष समझकर जटामें चिड़ियोंने अपने घोंसले बना लिये, तब भी आपने उनकी ओर दृष्टि नहीं डाली। कई पक्षियोंने आपकी जटामें ही अंडे दिये और वहीं उनके अंडे फूटे और बच्चे सयाने हुए। यह सब देखते-देखते आपके मनमें तपस्याका घमण्ड हो आया, तब आकाशवाणी सुनकर आप यहाँ पधारे हैं। अब बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

तुलाधारकी ये बातें सुनकर जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जिज्ञासा की कि आपको इस प्रकारका निर्मल ज्ञान और व्यवसायात्मिका बुद्धि कैसे प्राप्त हुई? तुलाधारने सत्य, अहिंसा आदि साधारण धर्मोंकी बात सुनाकर अपने विशेष धर्म, सनातन वर्णाश्रम-धर्मपर बड़ा जोर दिया। उसने बतलाया कि 'अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार कर्तव्य-कर्मका पालन करते हुए जो लोग किसीका अहित नहीं करते और मनसा-वाचा-कर्मणा सबके हितमें ही तत्पर रहते हैं, उन्हें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं। इन्ही बातोंके यत्किञ्चित् अंशसे मुझे यह थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह सारा जगत् भगवान्‌का स्वरूप है, इसमें कोई अच्छा या बुरा नहीं। मिट्टी और सोनेमें तनिक भी अन्तर नहीं। इच्छा, द्वेष और भय छोड़कर जो दूसरोंको भयभीत नहीं करता और किसीका बुरा नहीं चेतता, वही सच्चे ज्ञानका अधिकारी है। जो लोग सनातन सदाचारका उल्लंघन करके अभिमान आदिके वशमें हो जाते हैं, उन्हें वास्तविक ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती।' यह कहकर तुलाधारने जाजलिको सदाचारका उपदेश किया। यह कथा महाभारतके शान्तिपर्वमें आती है। इसमें श्रद्धा, सदाचार, वर्णाश्रम-धर्म, सत्य, समबुद्धि आदिपर बड़ा जोर दिया गया है। प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको इसका अध्ययन करना चाहिये। तुलाधारके उपदेशोंसे जाजलिका अज्ञान नष्ट हो गया और वे ज्ञान-सम्पन्न होकर अपने धर्मके आचरणमें लग गये। बहुत दिनोंतक धर्मपालनका आदर्श उपस्थित करके और लोगोंको उपदेशादिद्वारा कल्याणकी ओर अग्रसर करके दोनोंने ही सद्गति प्राप्त की।

परदुःखकातरता—परम दयालु राजा रन्तिदेव

रन्तिदेव राजा थे—संसारने ऐसा राजा कभी कदाचित् ही पाया हो। एक राजा और वह अन्नके बिना भूखों मर रहा था। वह अकेला नहीं था, उसकी स्त्री और बच्चे थे—कहना चाहिये कि राजाके साथ रानी और राजकुमार थे। सब भूखों मर रहे थे। अन्नका एक दाना भी उनके मुखमें पूरे अड़तालीस दिनोंसे नहीं गया था। अन्न तो दूर जलके दर्शन नहीं हुए थे उन्हें।

राजा रन्तिदेवको न शत्रुओंने हराया था, न डाकुओंने लूटा था और न उनकी प्रजाने विद्रोह किया था। उनके राज्यमें अकाल पड़ गया था। अवर्षण जब लगातार वर्षों चलता रहे—इन्द्र जब अपना उत्तरदायित्व भूल जाय—असहाय मानव कैसे जीवन-निर्वाह करे। महाराज रन्तिदेव उन लोगोंमें नहीं थे, जो प्रजाके धनपर गुलछर्रे उड़ाया करते हैं। प्रजा भूखी रहे तो राजाको पहले उपवास करना चाहिये, यह मान्यता थी रन्तिदेवकी। राज्यमें अकाल पड़ा, अन्नके अभावसे प्रजा पीड़ित हुई—राज्यकोष और अन्नागारमें जो कुछ था, पूरा-का-पूरा वितरित कर दिया गया।

जब राज्यकोष और अन्नागार रिक्त हो गये—राजाको भी रानी तथा पुत्रके साथ राजधानी छोड़नी पड़ी। पेटके कभी न भरनेवाले गड्ढेमें उन्हें भी तो डालनेके लिये कुछ चाहिये था। राजमहलकी दीवारोंको देखकर पेट कैसे भरता। लेकिन पूरे देशमें अवर्षण चल रहा था। कूप और सरोवरतक सूख गये थे। पूरे अड़तालीस दिन बीत गये। अन्न-जलके दर्शन नहीं हुए।

उनचासवाँ दिन आया। किसीने महाराज रन्तिदेवको पहिचान लिया था। सबेरे ही उसने उनके पास थोड़ा-सा घी, खीर, हलवा और जल पहुँचा दिया। भूख-प्याससे व्याकुल, मरणासन्न उस परिवारको भोजन क्या मिला, जैसे जीवन-दान मिला। लेकिन भोजन मिलकर भी मिलना नहीं था। महाराज रन्तिदेव प्रसन्न ही हुए जब उन्होंने एक ब्राह्मण अतिथिको आया देखा। इस विपत्तिमें भी अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन करनेके दोपसे बच जानेकी प्रसन्नता हुई उन्हें।

ब्राह्मण अतिथि भोजन करके गया ही था कि एक

भूखा शूद्र आ पहुँचा। महाराजने उसे भी आदरसे भोजन कराया। लेकिन शूद्रके जाते ही एक दूसरा अतिथि आया। यह नया अतिथि अन्त्यज था और उसके साथ जीभ निकाले हाँफते कई कुत्ते थे। वह दूरसे ही पुकार रहा था—'मैं और मेरे कुत्ते बहुत भूखे हैं। मुझे कृपा करके कुछ भोजन दीजिये।'

समस्त प्राणियोंमें जो अपने आराध्यको देखता है, वह माँगनेपर किसीको अस्वीकार कैसे कर दे—अपने प्रभु ही जब भूखे बनकर भोजन माँगते हों। रन्तिदेवने बड़े आदरसे पूरा भोजन इस नये अतिथिको दे दिया। वह और उसके कुत्ते तृप्त होकर चले गये। अब बचा था थोड़ा-सा जल। उस जलसे ही रन्तिदेव अपना कण्ठ सींचने जा रहे थे।

'महाराज! मैं बहुत प्यासा हूँ। मुझे पानी पिला दीजिये।' एक चाण्डालकी पुकार सुनायी पड़ी। वह सचमुच इतना प्यासा था कि बड़े कष्टसे बोल रहा है—यह स्पष्ट प्रतीत होता था।

महाराज रन्तिदेवने पानीका पात्र उठाया, उनके नेत्र भर आये। उन्होंने सर्वव्यापक सर्वेश्वरसे प्रार्थना की—'प्रभो! मैं ऋद्धि, सिद्धि आदि ऐश्वर्य या मोक्ष नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें मेरा निवास हो। उनके सब दुःख मैं भोग लिया करूँ और वे सुखी रहें। यह जल इस समय मेरा जीवन है—मैं इसे जीवित रहनेकी इच्छावाले इस चाण्डालको दे रहा हूँ। इस कर्मका कुछ पुण्य-फल हो तो उसके प्रभावसे संसारके प्राणियोंकी भूख, प्यास, श्रान्ति, दीनता, शोक, विषाद और मोह नष्ट हो जायँ। संसारके सारे प्राणी सुखी हों।'

उस चाण्डालको राजा रन्तिदेवने जल पिला दिया। लेकिन वे स्वयं—उन्हें अब जलकी आवश्यकता कहाँ थी। विभिन्न वेष बनाकर उनके अतिथि होनेवाले त्रिभुवनाधीश ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, भगवान् शिव और धर्मराज अपने रूपोंमें प्रत्यक्ष खड़े थे उनके सम्मुख।

ईश्वरप्रणिधानके आदर्श संत तुकाराम

श्रीतुकारामजी भगवत्प्रेममें निमग्न होकर जब कीर्तन करने लगते, तब उनके मुखसे ज्ञान, वैराग्य तथा भक्तिके गूढ़ रहस्योंके बोधक अभङ्ग निकलते थे। बड़े-बड़े विद्वान्, साधु इनका सत्सङ्ग करने आने लगे! इनके प्रति लोगोंमें श्रद्धा बढ़ गयी। पूनासे नौ मील दूर बाघौलीमें रहनेवाले कर्मनिष्ठ वेद-वेदान्तके एक पण्डित श्रीरामेश्वर भट्टको यह बहुत अनुचित लगा। उन्होंने स्थानीय अधिकारीसे कहा—'तुकाराम शूद्र होकर वेदोंका सार अपने अभङ्गोंमें बोलता है। उसे देहू छोड़कर चले जानेकी आज्ञा दी जानी चाहिये।'

यह समाचार तुकारामजीके पास पहुँचा तो वे स्वयं रामेश्वर भट्टके पास गये तथा उन्हें अभिवादन करके बोले—'मेरे मुखसे अभङ्ग श्रीपाण्डुरङ्गकी प्रेरणासे ही निकले हैं; किंतु आप ब्राह्मण हैं, भगवान्के मुखस्वरूप हैं, आपकी आज्ञा भगवान्की ही आज्ञा है। आप कहते हैं तो अब अभङ्ग नहीं बनाऊँगा। अबतक जो अभङ्ग बने हैं और लिख रखे हैं, उनका क्या करूँ यह बतलानेकी कृपा करें।'

'उन्हें नदीमें डुबा दो।' रामेश्वर भट्टने झल्लाकर कहा।

तुकारामजी देहू लौट आये। अभङ्ग लिखी सब बहियाँ उन्होंने इन्द्रायणी नदीके ह्रदमें डुबा दीं। लेकिन इससे चित्तको बड़ा क्लेश हुआ। भगवान्का नाम, रूप, गुण माहात्म्यादि भी बोलना, लिखना, एक शास्त्रज्ञ विद्वान्ने वर्जित कर दिया, अब जीवन रखनेका क्या प्रयोजन? जीवनमें पाण्डुरङ्गके अतिरिक्त दूसरा तो कोई आकर्षण था ही नहीं। वे पाण्डुरङ्ग मिले नहीं और उनकी चर्चापर प्रतिबन्ध लग गया। श्रीतुकारामजीने निश्चय किया—'अब तो वे विट्ठल मिलेंगे अथवा शरीर जायगा।'

श्रीविट्ठल-मन्दिरके सामने शिलापर तुकाराम जाकर बैठ गये। उन्होंने अन्न, जल तथा निद्रा भी छोड़ दी। पूरे तेरह दिन और तेरह रात्रि वे उसी शिलापर बैठे रहे। यह ईश्वरप्रणिधान—यह आराध्यमें चित्तकी उत्कट लगन। कबतक पाण्डुरङ्ग ऐसे प्रेम-हठीलेकी ओरसे उदासीन रहते। वे नवघनसुन्दर, पीताम्बरधारी, वनमाली बालक-वेशमें प्रकट हो गये। धन्य हो गये तुकारामके नेत्र तथा जीवन!

'मैंने तुम्हारी अभङ्गोंकी बहियाँ इन्द्रायणीके ह्रदमें सुरक्षित रखी थीं। आज उन्हें तुम्हारे श्रद्धालुओंको दे आया हूँ।' उन लीलामयने यह समाचार सुनाया और अन्तर्हित हो गये।

संयम-पालनके आदर्श—अर्जुन

भगवान् व्यासके आदेशसे पाण्डवोंने नियम बनाया था कि द्रौपदीके साथ पंद्रह-पंद्रह दिन प्रत्येक भाई रहे। जब एक भाई द्रौपदीके साथ एकान्तमें हो, दूसरा वहाँ न जाय। इस नियमका उल्लंघन करनेवाला बा

व्यतीत करे।

एक बार एक ब्राह्मण दौड़ता-पुकारता इन्द्रप्रस्थ राजसदन पहुँचा। दस्यु उसकी गायें हाँके जा रहे थे। संयोग ऐसा था कि उस समय अर्जुनके अतिरिक्त वहाँ कोई न था और अर्जुनका धनुष जिस कक्षमें था, वहाँ युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ बैठे थे। अर्जुन सिर झुकाये उस कक्षमें गये और धनुष उठाकर बाहर आ गये। रथपर बैठे गाण्डीवधारीके देखते ही दस्यु भाग खड़े हुए। उन्हें दण्ड मिला और ब्राह्मणको उसकी गायें।

'आप अब मुझे आज्ञा दें!' कार्य समाप्त करके अर्जुनने देश-त्यागकी तैयारी की और धर्मराजसे विदा माँगी।

युधिष्ठिर बोले—'उस समय द्रौपदीके साथ मैं केवल भगवच्चर्चा कर रहा था। वैसे भी छोटे भाईको बड़े भाईके अन्तःपुरमें जानेसे दोष नहीं होता। ब्राह्मणकी गायें उसे दिलाना राजाका धर्म था। तुमने मेरे ही धर्मकी रक्षाके लिये यह किया है। अतः तुम्हें निर्वासन स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है।'

अर्जुन बोले—'धर्मके पालनमें बहाना नहीं ढूँढ़ना चाहिये। भय, लोभ अथवा क्लेशके डरसे धर्मका त्याग अधर्म ही है। हमलोगोंने जो नियम बनाया, उसमें कोई अपवाद नहीं रखा है। अतः मुझे उसका पालन करना ही चाहिये।'

उन्होंने स्वेच्छासे निर्वासन स्वीकार किया और बारह वर्ष पर्यटन करते रहे।

× × ×

पाण्डव वनमें थे, तब भगवान् व्यासकी सम्मतिसे अर्जुन तपस्या करके भगवान् शंकरसे पाशुपतास्त्र प्राप्त करने गये थे। उन्होंने पिनाकपाणि प्रभुको अपने तप तथा पराक्रमसे प्रसन्न किया। पाशुपत तो मिला ही, देवताओंके अनेक अस्त्र और मिले। देवराजने रथ भेजकर उन्हें स्वर्ग बुलवाया। वहाँ अर्जुनने असुरोंका दमन किया। इसके उपलक्ष्यमें देवसभामें अर्जुनका सत्कार किया गया। अप्सराओंने नृत्य किया, गन्धर्वोंने गायन किया।

देवराजने देखा कि अर्जुन बार-बार उर्वशीकी ओर देख रहे हैं। उन्होंने गन्धर्वराज चित्रसेनको आदेश दिया कि वे उर्वशीको अर्जुनकी सेवामें भेज दें। उर्वशी स्वयं अर्जुनके रूप तथा पराक्रमपर मोहित हो चुकी थी। स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी—उसने अपनी सम्पूर्ण कला अपना शृंगार करनेमें व्यय कर दी उस दिन। रात्रिमें अकेली अर्जुनके निवासपर वह पहुँची।

'माता! कौन्तेय अर्जुन प्रणाम करता है।' उर्वशीको देखते ही धनञ्जय उठे और अञ्जलि बाँधकर झुक गये। 'आपने इस असमयमें कैसे कष्ट किया?'

उर्वशीने अभिप्राय बतलाया और कहा कि महेन्द्रके आदेशसे वह आयी है। अर्जुन बोले—'देवराजको मेरा अभिप्राय समझनेमें भ्रम हुआ। हमारे कुलकी जननी हैं आप। भरतकुलकी माता आपको जानकर मैं बार-बार आपके चरण-दर्शन करता था उस समय।'

'स्वर्गकी अप्सराएँ किसीकी माता या भगिनी नहीं हैं। वे प्रत्येक पुण्यात्माकी भोग्या हैं।' वासनाविवश उर्वशीने समझानेका बहुत प्रयत्न किया।

'जैसे मेरी माता कुन्ती हैं, माद्री हैं और शची हैं, वैसे ही आप मेरी माता हैं। पुत्रको आप आशीर्वाद दें।' उस एकान्तमें, उर्वशीका शृङ्गार तथा उसकी चेष्टा ही नहीं, विनय भी विजयको विचलित नहीं कर सकी।

'तुम नपुंसक रहो वर्षभर। स्त्रियोंको नृत्य-गीत सिखाओ।' निराश-क्षुब्ध उर्वशीने शाप दे दिया। लेकिन धर्मका पालन कभी विपत्ति नहीं बनता। उर्वशीका शाप अर्जुनके लिये वरदान बन गया। अज्ञातवासके कालमें उसके कारण ही वे अज्ञात रह सके।

दया-धर्मके आदर्श

दयामूर्ति परोपकारी राजा

एक पुण्यात्मा राजाके किसी कारणसे देवदूत नरकके मार्गसे ले जाने लगे तो राजाके शरीरको छूकर आये हुए वायुके स्पर्शसे नरकोंकी भयानक यन्त्रणा भोगते हुए दीन-दुखी आर्त प्राणियोंकी व्यथा दूर होने लगी और उन्होंने पुकार-पुकारकर राजासे ठहर जानेको कहा। तब राजा वहीं ठहर गये और देवदूतोंसे बोले—'भाई! मेरे शरीरको स्पर्श करनेवाले वायुसे यदि इन प्राणियोंको सुख पहुँचा हो तो मुझे वहीं ले चलो जहाँ ये आर्त प्राणी हैं। संसारमें वे ही सुकृती पुरुष हैं, जो परहितके लिये पीड़ित रहते हैं। वे ही संत हैं, जो दूसरोंके दुःख दूर करते हैं और दुखी जनोंके पीड़ा-विनाशके लिये अपने प्राणोंको तृणके समान समझते हैं। ऐसे परहित-निरत संतोंसे ही इस पृथ्वीका धारण हो

रहा है, केवल अपने मनका सुख तो नरकके समान है। इस संसारमें आर्तप्राणियोंका दु:ख-नाश किये बिना यदि सुखकी प्राप्ति होती हो तो उसकी अपेक्षा मर जाना—नरकमें गिरना अच्छा है। जिसका मन संकटमें पड़े हुए प्राणियोंकी रक्षा करनेमें नहीं लगता—उसके यज्ञ, दान और तप इहलोक तथा परलोकमें भी कल्याणके साधक नहीं होते।'

इसपर देवदूतोंने कहा—'महाराज! आप बड़े पुण्यात्मा हैं। अभी आपको लेनेके लिये स्वयं धर्मराज और इन्द्र आ रहे हैं, आप इनके साथ चले चलिये।'

धर्मराजने आकर कहा—'राजन्! अब आप इस विमानपर शीघ्र चलिये।' राजा बोले—'यहाँ नरकमें हजारों प्राणी कष्ट भोग रहे हैं और मुझे लक्ष्य करके आर्तभावसे त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं, इन्हें छोड़कर मैं नहीं जाऊँगा। आप मुझमें यदि बहुत पुण्य मानते हैं तो मेरा जो कुछ पुण्य है, उसके द्वारा ये यातनामें पड़े हुए सब पातकी प्राणी नरकसे छुटकारा पा जायँ'—

तस्माद् यत् सुकृतं किंचिन्ममास्ति त्रिदशाधिप।
तेन मुच्यन्तु नरकात् पापिनो यातनां गताः॥

(मार्कण्डेयपुराण १५। ७६)

इन्द्रने कहा—'राजन्! आपके इस पुण्यदानरूप उदार कर्मसे आपका पुण्य और बढ़ गया तथा आपने और भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया। देखिये, ये पापी जीव नरकसे मुक्त हो गये।'

इसी समय राजापर पुष्पवृष्टि होने लगी और स्वयं भगवान् विष्णु उन्हें विमानमें बैठाकर दिव्यधाममें ले गये—'**विमानं चाधिरोप्यैनं स्वर्लोकमनयद्धरिः।**'

और जितने भी पापी जीव थे, वे सब नरक-यन्त्रणासे छूटकर चले गये।

न दयासदृशो धर्मो न दयासदृशं तपः।
न दयासदृशं दानं न दयासदृशः सखा॥
दु:खितानां हि भूतानां दु:खोद्धर्ता हि यो नरः।
स एव सुकृती लोके ज्ञेयो नारायणांशजः॥
न स्वर्गे नापवर्गेऽपि तत्सुखं लभते नरः।
यदार्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थमिति नो मतिः॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ९८। १५, १७, २३)

'दयाके समान न धर्म है, न दयाके समान तप है, न दयाके समान दान है और न दयाके समान कोई सखा है। जो मनुष्य दु:खी जीवोंका उद्धार करता है, वही संसारमें सुकृती—पुण्यात्मा है, उसको नारायणके अंशसे उत्पन्न समझना चाहिये। हम लोगोंकी ऐसी धारणा है कि मनुष्य आर्त प्राणियोंके दु:ख दूर करनेपर वह सुख प्राप्त करता है, जिसके सामने स्वर्ग तथा मोक्षसम्बन्धी सुख भी कुछ नहीं है।

अक्रोध-धर्मके आदर्श

(१) एकनाथजी

पैठणमें एकनाथजी महाराजके स्थानसे गोदावरीके बीच एक धर्मशाला पड़ती थी। वहाँ एक यवन रहता था। वह स्नानार्थी हिंदुओंको बहुत तंग करता था। वे स्नान करके आते और वह उनपर थूक देता। लोगोंको बार-बार स्नान करना पड़ता था। इससे कभी-कभी कोई सज्जन चिढ़ जाते थे—चिढ़ना स्वाभाविक भी था, पर वह अपने स्वभावसे लाचार था।

खासकर एकनाथजी महाराज जब-जब स्नान करके लौटते, वह ऊपरसे थूककी पिचकारी छोड़ता। कभी-कभी उन्हें चार-पाँच बार तक स्नान करना पड़ता था और वह उन्मत्तकी तरह थूकता रहता। पर एकनाथजी महाराजकी शान्ति ऐसी विलक्षण थी कि वे परम प्रसन्न होकर माँ गङ्गामें बार-बार स्नान करते और अपना अहोभाग्य मानते कि आज अधिक बार पुण्यसलिला श्रीगोदावरीके अङ्कमें स्थान मिला।

एक दिन वे स्नान करके लौटे, संयोगसे वह यवन उस दिन वहाँ उपस्थित नहीं था। उसका नियम भङ्ग न हो, अत: एकनाथजी उसकी प्रतीक्षामें वहाँ ठहर गये। कुछ देर रुके भी रहे; फिर उसके आगमनका कोई लक्षण न देखकर ही वहाँसे आगे बढ़े। इस प्रकार प्राय: वह उन्हें प्रतिदिन परेशान किया करता था। एक बार वह यवन पेड़पर चढ़कर ऊपरसे बार-बार उनपर थूकता ही गया। एकनाथजी भी विलक्षण क्षमाशील थे। एक बार भी उनके मनमें जरा भी क्षोभ नहीं हुआ और मुखपर तनिक भी क्रोधका कोई चिह्न नहीं आया। न कहींपर भी अणुमात्र प्रतिरोधका भाव ही पैदा हुआ। हर बार ही वे उसी सहज भावसे स्नान करते और उन्मत्त यवनके थूकको हँसते हुए शिरोधार्य करते। एक सौ आठ बार इस प्रकार हुआ—वे बार-बार स्नान करते गये और मूढ़ यवन क्रोधसे भरकर थूकता गया। पर एकनाथ

शान्ति भङ्ग न हो सकी—उनकी सौम्यतामें तनिक भी शिथिलता न आ सकी। इस उन्मत्त क्रोधभरी मूर्खता और परम विवेकयुक्त अनुपम सहिष्णुताका बेजोड़ द्वन्द्व देखनेको वहाँ बहुत-से नर-नारी एकत्रित हो गये। आखिर यवन थक गया, वह लज्जित होकर एकनाथजी महाराजके चरणोंमें लोट गया और महाराजके विलक्षण महात्मापनकी स्तुति करने लगा।

अक्रोधका ऐसा उदाहरण बहुत कम देखनेको मिलता है। एक सौ आठ बार उसने तंग किया और एकनाथजी एक सौ आठ बार स्नान करते गये और इस क्षमाने उस मलिन मानवका हृदय ही पलट दिया—वह स्वयं ही अपनेको अपराधी मानकर एकनाथजीसे क्षमा-याचना करने लगा। एकनाथजीने कहा—'भैया! तू अपने स्वभावके वश था, पर तेरे कारण मुझे बार-बार गोदावरी-स्नानका पुण्य प्राप्त हो रहा था।'

सचमुच उपदेशसे जो पाठ हमलोग नहीं पढ़ा सकते, हमारे जीवनका थोड़ा-सा आचरण उसकी एक गहरी अमिट छाप छोड़ जाता है, जिससे स्वतः मन प्रभावित होता है। फिर अक्रोध तो जीवनका बड़ा ही ऊँचा सद्गुण है और क्रोध बड़ा ही नीच दुर्गुण है। जो क्रोधको जीत लेता है—वह स्वार्थ और परमार्थ दोनोंमें ही परम लाभ प्राप्त करता है। नाथका अक्रोध इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(२) अक्रोधकी परीक्षा

एक जिज्ञासु एक बार एक संतके पास गया और बोला—'महाराज! कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मुझे प्रभुका साक्षात्कार हो जाय।' संतने उसे एक वर्षतक एकान्तमें भजन करनेकी आज्ञा दी। जिज्ञासु भजन करने लगा। संतकी कुटियामें एक भंगी सफाई करने आया करता था। वर्ष पूरा होनेके दिन संतने उससे कहा—'आज जब वह जिज्ञासु स्नान करके मेरे पास आने लगे, तब तुम अपनी झाड़ूसे थोड़ी गर्द उसपर उड़ा देना।' जिज्ञासु जब स्नान करके गुरुके पास चला, रास्तेमें भंगीने धूल उड़ा दी। अब तो क्रोधित होकर वह उसे मारने दौड़ा, भंगी भाग निकला। वह फिरसे स्नान करके पवित्र वस्त्रोंको धारण करके गुरुके पास पहुँचा। कहा—'महाराज! मैं एक वर्षतक स्वाध्याय करके आया हूँ।' गुरुने कहा—'अभी तो तुम साँपकी तरह काटने दौड़ते हो—तुम्हें भगवत्प्राप्ति कहाँ होगी? जाओ! एक वर्ष फिर भजन करो।' जिज्ञासु फिर भजनमें लीन हुआ। दूसरा वर्ष पूरा होनेपर वह ज्यों ही स्नान करके गुरुके पास जाने लगा, गुरुजीकी आज्ञासे भंगीने आज पुनः उसके झाड़ू छुला दी। इस बार उसने भंगीको दो-चार कड़ी बात कहकर छोड़ दिया। दुबारा स्नान करके वह जब गुरुके पास पहुँचा, तब गुरुने कहा—'अभी तो तुम्हारा मन सर्पकी तरह फुफकारता है—अभी समय लगेगा। फिर जाओ और एक वर्षतक भजन करो।' जिज्ञासु लौट गया और फिर एक वर्षतक उसने भजनमें मन लगाया। वर्ष पूरा होनेपर जब वह गुरु-चरणोंमें चला, तब सिखाये हुए भंगीने इस बार कूड़ेसे भरी टोकरी ही उठाकर उसके सिरपर उड़ेल दी। लेकिन आज वह क्रोधित होनेके स्थानपर सच्ची दीनतामें भरकर भंगीके चरणोंपर गिर पड़ा और कहा—'भाई! तूने मेरा बड़ा ही उपकार किया है। तू नहीं होता तो मैं क्रोधको किस प्रकार जीत सकता, कैसे उसके चंगुलसे छूटता? मैं तेरा अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। तुझे धन्य है, इसीलिये महाप्रभु श्रीचैतन्यने बताया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

क्षमा और निरहंकारके द्वारा ही इस क्रोधरूपी भयानक शत्रुपर भी विजय पायी जा सकती है। क्रोधके आगमन मात्रसे ही मनुष्यका कर्तव्याकर्तव्यज्ञान लुप्त हो जाता है और वह चाहे सो कर बैठता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

सचमुच क्रोध बहुत-से पापोंका मूल है। यह जितना दूसरोंके लिये दुःखदायी होता है, उससे अधिक अपनेको कष्ट देता है।

फिर, परमार्थके मार्गमें तो क्रोध एक भयानक प्रबल शत्रु है। जबतक क्रोध है, तबतक परमार्थमें उन्नति बड़ी कठिन है। जहाँ जरा-सी प्रतिकूलता सहन करना सम्भव नहीं, वहाँ प्रभु-प्रेममें सब कुछ फूँककर मस्त होनेकी आशा कहाँ की जा सकती है? यह तो एक ऐसी आग है, जो सारे शरीरमें ज्वाला फूँक देती है—और जिसका तन-मन इसमें धधक उठता है, उससे भजन कहाँ सम्भव है? अतः जगत् और परमार्थ दोनोंके लिये ही क्रोधका नाश परमावश्यक है।

सर्वोत्तम धर्म

मृषा वादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत्॥

झूठ बोलना छोड़ दे। बिना कहे ही दूसरोंका प्रिय करे तथा न कामनासे, न क्रोधसे और न द्वेषसे ही धर्मका त्याग करे।

न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति॥

पाप करनेवालेके प्रति बदलेमें स्वयं पाप न करे—अपराधीसे बदला न ले। सदा साधु-स्वभावसे ही रहे। जो पापी किसीके प्रति अकारण पाप करना चाहता है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम्।
धर्ममित्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः॥
वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा॥

जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और उद्दण्डता—इन दुर्गुणोंको जीत लेते हैं तथा इसीको धर्म मानकर संतुष्ट रहते हैं, वे ही शिष्ट—उत्तम कहलाते हैं और उनका ही शिष्ट पुरुष आदर करते हैं। वेदका सार है सत्य, सत्यका सार है इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयमका सार है—त्याग। यह त्याग शिष्ट पुरुषोंमें सदा विद्यमान रहता है।

आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम्॥

जो कार्य न्याययुक्त होता है, वही धर्म माना गया है। अनाचारका नाम ही अधर्म है—यह शिष्ट पुरुषोंका उपदेश है।

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत्।
असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज॥

सत्पुरुषोंद्वारा पालित धर्मके अनुसार बर्ताव करे, शिष्ट पुरुषोंकी भाँति श्रेष्ठ आचरण करे। दूसरे लोगोंको क्लेश पहुँचाये बिना ही जिससे जीवन-निर्वाह हो जाय, ऐसी ही वृत्ति अपनानेकी अभिलाषा करे।

यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः॥

जो पुरुष जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, अवश्य ही उसका फल भोगता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
एतत् पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः॥
नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेद् धर्मं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम्॥
सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तं तद् वै सत्यं परं मतम्॥
यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनाः सदा।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान्॥

सब प्रकारके उपायोंसे लोभ और क्रोधका दमन करना चाहिये। संसारमें यही लोगोंको पावन करनेवाला तप है और यही भवसागरसे पार उतारनेवाला पुल है। सदा-सर्वदा तपको क्रोधसे, धर्मको डाहसे, विद्याको मानापमानसे और अपनेको प्रमादसे बचाना चाहिये। क्रूरताका अभाव (दया) परम धर्म है, क्षमा ही सबसे बड़ा बल है, सत्यका व्रत ही सबसे उत्तम व्रत है और आत्माका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है। सत्यभाषण सदा कल्याणमय है, सत्यमें ही ज्ञान निहित है, जिससे प्राणियोंका अत्यन्त कल्याण हो, वही सबसे बढ़कर सत्य माना गया है। जिसके सारे कर्म कभी कामनाओंसे बँधे नहीं होते, जिसने अपना सब कुछ त्यागकी अग्निमें होम दिया है, वही त्यागी है,वही बुद्धिमान् है अर्थात् वही सर्वोत्तम धर्मात्मा है। (महाभारत)
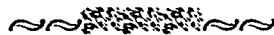
नम्र निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।' मनुष्यमात्रको क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये इसके लिये शास्त्र ही प्रमाण है। श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्णके इन वचनोंसे यह स्पष्ट है कि मानवके कर्तव्याकर्तव्य और क्रियाकलापोंका आधार धर्मशास्त्र ही है। वास्तवमें वेद और स्मृतियाँ भगवान्‌की आज्ञा हैं—'**श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे**'। और आज्ञाका पर्यायवाची शब्द है—शास्त्र। जब छोटे-से-छोटे राज्यके संचालनके लिये नियम और विधानकी आवश्यकता होती है तो सृष्टिके संचालनके लिये ईश्वरको विधान बनाना ही पड़ता है। उसी शासन-विधानका नाम है—'**शास्त्र**'। विश्वके संचालनकी विधा इन धर्मशास्त्रोंमें समाहित है—'**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।**' इस प्रकार '**धर्म**' और इसके '**शास्त्र**' शाश्वत हैं तथा सनातन हैं। यही सनातनधर्म सम्पूर्ण जगत्‌का जीवन है। सूर्यमें प्रकाश और ताप, अग्निमें दाहिका शक्ति, चन्द्रमामें शीतलता, अमृतमें अमरत्व, पृथ्वीमें क्षमा, सिंहमें शौर्य, मानवमें मानवता, सतीमें सतीत्व, माता-पितामें वात्सल्यभाव, पुत्रमें मातृ-पितृभक्ति, पत्नीमें पतिपरायणता, राजामें शासन और पालन-शक्ति, ब्राह्मणमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियमें क्षत्रियत्व, वैश्यमें वैश्यत्व, शूद्रमें शूद्रत्व, ब्रह्मचारीमें ब्रह्मचर्यत्व, गृहस्थमें गार्हस्थ्य, वानप्रस्थमें त्यागका साधन, संन्यासीमें सर्वत्याग आदि प्रत्येक वस्तु, प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति—सबमें विभिन्न धर्मोंके रूपमें यही एक सनातनधर्म अवस्थित है। यही सनातनधर्म सार्वभौम, विश्वधर्म या आत्मधर्म है, जो आत्मकल्याणकारीके साथ-साथ सर्वभूतहितमय है। यह जीवके अभ्युदय और निःश्रेयस—दोनोंका अमोघ साधन तो है ही, साथ ही नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति करानेवाला साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है।

प्रसन्नताकी बात है कि आज हम पाठकोंकी सेवामें इस वर्षके 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें 'धर्मशास्त्राङ्क' प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसके स्वाध्याय और पठन-पाठनसे स्वयंको पहचानकर हम अपने कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय कर सकें, साथ ही धर्माचरणमें संलग्न हो कल्याणके भागी बन सकें।

भारतीय संस्कृति पुनर्जन्म एवं कर्मसिद्धान्तपर आधारित है। संसारमें सर्वत्र सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, दरिद्रता-सम्पन्नता आदि वैभिन्य स्पष्ट-रूपसे दिखायी पड़ता है, पर यह भिन्नता क्यों है? इसपर विचार करना आवश्यक है। इतना ही नहीं पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा तिर्यक् आदि चौरासी लाख योनियोंमें भटकता हुआ जीव भगवत्कृपासे मानव-शरीर प्राप्त करता है। इस योनिमें उसे कर्म करनेकी सामर्थ्य, विवेक और बुद्धि भी भगवत्प्रदत्त है, परंतु इस विवेक-बुद्धि और सामर्थ्यका वह कितना सदुपयोग करता है; यह तो उस जीवपर ही निर्भर है। मनुष्य-जीवन पाकर भी मनमाना स्वेच्छाचारितापूर्वक भोग-विलासमें ही जीवन बिता दिया और धर्मशास्त्ररूपी भगवदाज्ञाके अनुसार जीवनचर्या नहीं चलायी तो पुनः कूकर-शूकर, कीट-पतंग, पशु-पक्षी और तिर्यक् योनियोंमें दुःखरूप जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। इसीलिये सावधानीपूर्वक धर्मशास्त्रोंका स्वाध्याय और उनके अनुसार जीवनचर्या चलानी चाहिये, जिससे मानव-जीवनके वास्तविक लक्ष्यकी प्राप्ति हो सके।

वास्तवमें धर्म वह है जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित होता हो और अधर्म वह है जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित होता हो। पिता और पुत्रके तथा माता और पत्नीके धर्म अलग-अलग होंगे, पर वे एक-दूसरेका हित करने तथा परस्पर सुख पहुँचानेवाले ही होंगे। इसी प्रकार देश-कालानुसार विभिन्न सम्प्रदायों और मतोंमें भेद रहेगा, पर मूलतः वे एक ही आप्त धर्मसे निःसृत और परिणाममें वे सभी सबका हित-साधन करनेवाले होने चाहिये तभी वे धर्मसम्मत हैं, नहीं तो वे आसुर-सम्प्रदाय हैं, जिनमें चिन्ता, दुःख, अशान्ति, पाप और नरक सदा साथ रहते हैं। निःस्वार्थता ही धर्मकी कसौटी है। जो जितना निःस्वार्थी है, वह उतना ही आध्यात्मिक और धार्मिक है।

आज संसारमें स्वार्थपरायणता और अनैतिक आचार-व्यवहारकी पराकाष्ठा होती जा रही है। सामान्यतः लोगोंकी धर्मसे रुचि तो हट ही रही है, धार्मिक संस्कार भी लुप्तप्राय

हो रहे हैं। इसीका परिणाम है विश्वकी वर्तमान दुर्गति, जिसमें सर्वत्र ही काम, क्रोध, लोभ, मद, गर्व, अभिमान, द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा, परोत्कर्ष-पीड़ा, दलबंदियाँ, अधर्म-युद्ध आदि सभी अधर्मके विभिन्न स्वरूपोंका ताण्डव नृत्य हो रहा है। यदि इसी प्रकार चलता रहा तो पता नहीं पतन कितना गहरा होगा। इस प्रकारकी धर्मग्लानिसे बचनेके लिये साथ ही अभ्युदय और नि:श्रेयसकी प्राप्तिके निमित्त धर्माचरणकी जानकारी सर्वसाधारणको हो सके—इसी उद्देश्यसे इस बार 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें '**धर्मशास्त्राङ्क**' जनता-जनार्दनकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है।

मनुष्य धर्मका मर्म समझ सके, शुद्ध आचरणका महत्त्व जान सके, पाप-पुण्य, नीति-अनीतिको पहचाननेकी सामर्थ्य प्राप्त कर सके तथा देव, पितृ, अतिथि, गुरु आदिके प्रति अपना कर्तव्य समझे एवं अपने कर्तव्यपथपर बढ़ता रहे—यही 'धर्मशास्त्र'का प्रधान उद्देश्य है।

कहा है '**धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः**'। इस शास्त्र-वचनसे सिद्ध होता है कि मुख्यत: स्मृतिग्रन्थ ही हमारे धर्मशास्त्र हैं। परम करुणावान् ऋषि-मुनियोंद्वारा लिखित अनेक स्मृतिग्रन्थ उपलब्ध हैं, जो वर्णधर्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रधर्म), आश्रमधर्म (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासधर्म), सामान्यधर्म, विशेषधर्म, गर्भाधानसे अन्त्येष्टितकके संस्कार, दिनचर्या, पञ्चमहायज्ञ, बलिवैश्वदेव, भोजनविधि, शयनविधि, स्वाध्याय, यज्ञ-यागादि, इष्टापूर्तधर्म, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, शुद्धितत्त्व, पाप-पुण्य, तीर्थ, व्रत, दान, प्रतिष्ठा, श्राद्ध, सदाचार, शौचाचार, अशौच (जननाशौच, मरणाशौच), भक्ष्याभक्ष्यविचार, आपद्धर्म, दायविभाग (सम्पत्तिका बँटवारा) स्त्रीधन, पुत्रोंके भेद, दत्तकपुत्र-मीमांसा और राजधर्म तथा मोक्षधर्म एवं अध्यात्मज्ञान इत्यादिका विस्तारसे वर्णन करते हैं।

स्मृतिग्रन्थोंपर अनेक आचार्योंकी टीकाएँ, भाष्य हुए हैं तथा इन विविध विषयोंमें एक-एक विषयको लेकर स्वतन्त्र निबन्धग्रन्थोंकी रचना भी हुई है, जिनमें विविध विषयोंका एकत्र संग्रह किया गया है। अनेक भाष्यकारों एवं निबन्धकारोंने अपनी रचनाओंके माध्यमसे धर्मशास्त्रको विकसित एवं प्रकाशित कर एक अहम भूमिकाका निर्वाह किया है।

प्रस्तुत अङ्कमें उपलब्ध सभी स्मृतियों एवं धर्मसूत्रोंका परिचय और सार-संक्षेपमें उनके मुख्य विषयोंका प्रतिपादन तथा उन विषयोंसे सम्बन्धित कुछ प्रेरणाप्रद आख्यान प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है, साथ ही तत्तत् स्मृतियोंके उपदेष्टा ऋषि-महर्षियोंका भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है।

इस वर्ष विशेषाङ्कके लिये लेख तो बहुत आये, परंतु हम जिस रूपमें विशेषाङ्कका समायोजन करना चाहते थे, उस प्रकारकी सामग्री अत्यल्प मात्रामें ही प्राप्त हुई, जिसके कारण यथासाध्य अधिकांश सामग्री यहाँ विभागमें ही तैयार करनी पड़ी। विशेषाङ्क-प्रकाशनके समय कभी-कभी कुछ कठिनाइयाँ भी आ जाती हैं। इस वर्ष भी कुछ विशेष कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। इस वर्ष हम विशेषाङ्ककी पृष्ठ-संख्यामें वृद्धि करना चाहते थे, परंतु पिछले कुछ समयसे महँगाईकी अनवरत अप्रत्याशित वृद्धिके कारण यह कार्य सम्भव न हो सका, प्रत्युत न चाहनेपर भी 'कल्याण'के मूल्यमें ही वृद्धि करनी पड़ गयी। पृष्ठ-संख्या न बढ़नेके कारण '**धर्मशास्त्राङ्क**'की सम्पूर्ण सामग्री विशेषाङ्कमें समाहित कर पाना सम्भव न हो सका। यद्यपि इस अङ्कके साथ दो मासके '**परिशिष्टाङ्क**' भी भेजे जा रहे हैं, जिसमें बची हुई सामग्रीके कुछ अंशोंका समायोजन करनेका प्रयत्न किया गया है, फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ तथा माननीय विद्वान् लेखकोंके विशेषाङ्कमें प्रकाशनके लिये स्वीकृत लेख नहीं दिये जा सके हैं, जिसके लिये हमें अत्यधिक खेदका अनुभव हो रहा है। यद्यपि इनमेंसे कुछ सामग्री आगेके साधारण अङ्कोंमें देनेका प्रयत्न अवश्य करेंगे, परंतु विशेष कारणोंसे यदि कुछ लेख प्रकाशित न हो सकें तो विद्वान् लेखक हमारी विवशताको ध्यानमें रखकर हमें अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करेंगे।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्र-हृदय संत-महात्माओं, आदरणीय विद्वान् लेखक महानुभावोंके श्रीचरणोंमें प्रणाम करते हैं, जिन्हों [illegible] की पूर्णतामें किंचित् भी योगदान किया है। [illegible] के प्रचार-प्रसारमें वे ही निमित्त हैं, क्योंकि उन्हीं [illegible] पूर्ण तथा उच्च विचारयुक्त भावनाओंसे 'कल्या [illegible] दा

शक्ति-स्रोत प्राप्त होता रहता है।

हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोंको भी प्रणाम करते हैं जिनके स्नेहभरे सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। हम अपनी त्रुटियों और व्यवहारदोषके लिये उन सबसे क्षमा-प्रार्थी हैं।

'धर्मशास्त्राङ्क'के सम्पादनमें जिन संतों और विद्वान् लेखकोंसे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हें हम अपने मानस-पटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। सर्वप्रथम मैं वाराणसीके समादरणीय पं० श्रीलालबिहारीजी शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मनुस्मृतिका सारभूत अनुवाद तथा विभिन्न स्मृतियोंसे सम्बद्ध आख्यान विशेषाङ्कके लिये तैयार कर निःस्वार्थ-भावसे अपनी सेवाएँ परमात्मप्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पित की हैं। तदनन्तर मैं डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामीके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनका सहयोग और सत्परामर्श प्रारम्भसे ही प्राप्त होता रहा है। 'गोधन'के सम्पादक श्रीशिवकुमारजी गोयलके भी हम आभारी हैं जिन्होंने विशेषाङ्कसे सम्बन्धित कई सत्य घटनाएँ एवं लेख तथा अपने पूज्य पिता श्रीरामशरणदासजीके संग्रहालयसे प्राप्त कई दुर्लभ सामग्रियोंको उपलब्ध कराया।

इस अङ्कके सम्पादनमें अपने सम्पादकीय विभागके पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा एवं अन्य महानुभावोंने अत्यधिक हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। इसके सम्पादन एवं प्रूफ-संशोधन तथा चित्र-निर्माण आदिमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहृदयता मिली है वे सभी हमारे अपने हैं, उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

इस बार 'धर्मशास्त्राङ्क'के सम्पादन-कार्यके क्रममें स्मृतिग्रन्थों, धर्मसूत्रों, निबन्धग्रन्थों तथा अन्य सामग्रियोंके अवलोकन, चिन्तन, मनन और स्वाध्यायका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, साथ ही यह अनुभव भी हुआ कि धर्मशास्त्रोंमें मनुष्यके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सभी पक्षोंका विस्तारसे विवेचन मिलता है। धर्मशास्त्र हमें अच्छे आचारवान् बननेकी शिक्षा देते हैं, सद्व्यवहार सिखाते हैं, सच्चा मानव बननेकी प्रेरणा देते हुए अपने कर्तव्योंका अवबोध कराते हैं। इस दृष्टिसे धर्मशास्त्रीय नियम सभीके लिये सब समयोंमें परम कल्याणकारी हैं। यह अनुभूति हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। आशा है, हमारे पाठकगण भी विशेषाङ्कके पठन-पाठनसे अत्यधिक लाभान्वित होंगे।

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये आप सबसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल, अकारणकरुणावरुणालय, विश्वात्मा, धर्मेश्वर प्रभुके श्रीचरणोंमें प्रणतिपूर्वक निवेदन करते हैं कि संसारके सभी प्राणी सुखी हों, सम्पूर्ण व्याधियोंसे मुक्त हों, सम्पूर्ण जगत्का कल्याण हो, किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारका कोई कष्ट और दुःख न हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेस, गोरखपुरके प्रकाशनोंका सूचीपत्र

ध्यान देने योग्य कुछ आवश्यक बातें

(१) पुस्तकोंके आर्डरमें पुस्तकका कोड नं०, नाम, मूल्य तथा मँगानेवालेका पूरा पता, डाकघर, जिला, पिन—कोड आदि हिन्दी या अँग्रेजीमें सुस्पष्ट लिखें। पुस्तकें यदि रेलसे मँगवानी हों तो निकटतम रेलवे स्टेशनका नाम अवश्य लिखना चाहिये।

(२) कम-से-कम रु० ५००.०० की मूल्यकी एक साथ पुस्तक लेनेपर ▲ चिह्नवाली पुस्तकोंपर ३०% एवं ■ चिह्नवाली पुस्तकोंपर १५% डिस्काउन्ट है। अन्य खर्च—पैकिंग, रेलभाड़ा आदि अतिरिक्त देय होगा। रु० १००० से अधिककी पुस्तकें एक साथ चलान करनेपर पैकिंग—खर्च नहीं लिया जाता तथा रेलभाड़ा बाद दिया जाता है।

(३) डाकसे भेजी जानेवाली पुस्तकोंपर कम-से-कम ५% (न्यूनतम रु० १) पैकिंग-खर्च, अङ्कित डाकखर्च तथा रजिस्ट्री/वी० पी० खर्च पुस्तकोंके मूल्यके अतिरिक्त देय है। डाकसे शीघ्र एवं सुरक्षित पानेके लिये वी० पी०/रजिस्ट्रीसे पुस्तकें मँगवायें। रु० १००/- से अधिक मूल्यकी पुस्तकोंके आदेशके साथ अग्रिम राशि भेजनेकी कृपा करें।

☞(४) सूचीमें पुस्तकोंके मूल्य के सामने वर्तमानमें लगनेवाला साधारण डाकखर्च (बिना रजिस्ट्री-खर्चके) ही अंकित है। बड़ी पुस्तकोंको रजिस्ट्री/वी० पी० से मँगाना उचित है। वर्तमानमें अंकित डाकखर्चके अतिरिक्त रजिस्ट्री-खर्च रु० ६.०० प्रति पैकेट (५ किलो वजनतक) की दरसे लगता है।

(५) 'कल्याण' मासिक या उसके विशेषाङ्कके साथ पुस्तकें नहीं भेजी जा सकतीं। अतएव पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसपुस्तक-विक्रय-विभागके पतेपर 'कल्याण' के लिये 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग आर्डर भेजना चाहिये। सम्बन्धित राशि भी अलग-अलग भेजना ही उचित है।

(६) आजकल डाकखर्च बहुत अधिक लगता है। अतः पुस्तकोंका आर्डर देनेसे पहले स्थानीय पुस्तक-विक्रेतासे सम्पर्क करें। इससे समय तथा धनकी बचत हो सकती है। गीताप्रेस की निजी दुकानोंके पते पीछे अंकित है।

(७) विदेशोंमें निर्यातके मूल्य तथा नियमादिकी जानकारी हेतु पत्राचार करें।

विशेष—कागजके मूल्यमें भीषण वृद्धिके कारण कुछ पुस्तकोंके मूल्यमें वृद्धि अगले संस्करण से हो सकती है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५ फोन नं० (०५५१) ३३४७२१ फैक्स : ०५५१-३३६९९७**

कोड		मूल्य		डाकखर्च
	श्रीमद्भगवद्गीता			
1	**गीता-तत्त्व-विवेचनी**—(टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका) गीता-विषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तर-रूपमें विवेचनात्मक हिन्दी टीका, बृहदाकार सचित्र, सजिल्द	८०.००	■	१९.००
2	,, ,, ग्रन्थाकार	४०.००	■	९.००
3	,, ,, नवीन संस्करण	३०.००	■	८.००
457	,, ,, अँग्रेजी अनुवाद	३५.००	■	८.००
5	**गीता-साधक-संजीवनी**—(टीकाकार स्वामी श्रीरामसुखदासजी) गीताके मर्मको समझने-हेतु व्याख्यात्मक शैली एवं सरल, सुबोध भाषामें हिन्दी टीका बृहदाकार, सचित्र, सजिल्द	१००.००	■	२२.००
6	**गीता-साधक-संजीवनी**—ग्रन्थाकार	६०.००	■	१२.००
7	,, ,, मराठी अनुवाद			
467	,, ,, गुजराती अनुवाद	७५.००	■	१०.००
458	,, ,, अँग्रेजी अनुवाद	४५.००	■	८.००
540	,, ,, बँगला भाग-१ (अध्याय १ से ६ तक)	२५.००	■	५.००
0475	,, ,, ,, भाग-२ (७-१२)	२०.००	■	५.००
	गीता-दर्पण—(स्वामी रामसुखदासजीद्वारा) गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश, लेख, गीता-व्याकरण और छन्द-			
8	सम्बन्धी गूढ़ विवेचन सचित्र, सजिल्द	३५.००	■	५.००
504	**गीता-दर्पण** (मराठी अनुवाद) सजिल्द	२०.००	■	५.००
556	**गीता-दर्पण**(बँगला अनुवाद)सजिल्द	२५.००	■	५.००
468	,, ,, (गुजराती अनुवाद) ,,	२५.००	■	५.००
493	,, ,, (अँग्रेजी पाकेट साइज) ,,	२०.००	■	२.००
10	**गीता-शांकर-भाष्य**—	४०.००	■	६.००
581	**गीता-रामानुज-भाष्य**—	२५.००	■	५.००
11	**गीता-चिन्तन**—(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीता-विषयक लेखों, विचारों, पत्रों आदिका संग्रह)	२०.००	■	३.००
	गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, भाषा-टीका, टिप्पणी-प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति'			
17	लेखसहित, सचित्र, सजिल्द	१५.००	■	३.००
12	,, ,, (गुजराती)	१५.००	■	४.००
13	,, ,, (बँगला)	१५.००	■	४.००
14	,, ,, (मराठी)	२०.००	■	४.००
	गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सजिल्द,			
16	मोटे अक्षरोंमें	१५.००	■	३.००
15	,, ,, (मराठी अनुवाद)	२०.००	■	३.००
18	,, ,, भाषा-टीका, टिप्पणी-प्रधान विषय, मोटा टाइप	९.००	■	२.००
502	**गीता**—मोटे अक्षर, सजिल्द	१३.००	■	३.००
19	**गीता**—केवल भाषा	५.००	■	१.००
663	,, ,, (तेलगू)	५.००	■	१.००

कोड		मूल्य		डाकखर्च
262	रामायणके कुछ आदर्श पात्र- पृष्ठ २१४	४.००	▲	१.००
264	मनुष्य-जीवनकी सफलता-(भाग-१)	५.००	▲	२.००
265	,, ,, ,, भाग-२, पृष्ठ १४४	३.५०	▲	२.००
268	परमशान्तिका मार्ग-भाग-१	४.००	▲	२.००
269	,, ,, भाग-२, पृष्ठ १९२	४.००	▲	२.००
500	हमारा आश्चर्य-	३.५०	▲	१.००
681	रहस्यमय प्रवचन	५.००	▲	२.००
272	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा- पृष्ठ १६०	५.००	▲	१.००
273	नल-दमयन्ती-पृष्ठ ७२	२.००	▲	१.००
263	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र-पृष्ठ १९२	४.००	▲	१.००
274	महत्त्वपूर्ण चेतावनी-पृष्ठ ११२	२.५०	▲	१.००
276	परमार्थ-पत्रावली-बंगला, प्रथम भाग	२.५०	▲	१.००
277	उद्धार कैसे हो? -५१ पत्रोंका संग्रह,	४.००	▲	१.००
278	सच्ची सलाह-८० पत्रोंका संग्रह,	३.००	▲	१.००
280	साधनोपयोगी पत्र-७२ पत्रोंका संग्रह	४.००	▲	१.००
281	शिक्षाप्रद पत्र-७० पत्रोंका संग्रह	४.००	▲	२.००
282	पारमार्थिक पत्र-९१ पत्रोंका संग्रह, ४.००	४.००	▲	१.००
284	अध्यात्म-विषयक पत्र-५४ पत्रोंका संग्रह	३.००	▲	१.००
283	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ- ११ कहानियोंका संग्रह	३.५०	▲	१.००
480	,, ,, (अंग्रेजी)	२.५०	▲	२.००
680	उपदेशप्रद कहानियाँ	५.००	▲	२.००
320	वास्तविक त्याग-पृष्ठ ११२	४.००	▲	१.००
285	आदर्श भ्रातृप्रेम-पृष्ठ ९६	३.००	▲	१.००
286	बालशिक्षा-पृष्ठ ६४	२.००	▲	१.००
287	बालकोंके कर्तव्य-पृष्ठ ८८	३.००	▲	१.००
290	आदर्श नारी सुशीला-पृष्ठ ४८	२.००	▲	१.००
312	,, ,, (बँगला)	२.००	▲	१.००
665	,, ,, (तेलगू)	३.००	▲	१.००
291	आदर्श देवियाँ-पृष्ठ १२८	१.२५	▲	१.००
293	सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय-	०.७५	▲	१.००
294	संत-महिमा-पृष्ठ ६४	१.००	▲	१.००
295	सत्संगकी कुछ सार बातें-(हिन्दी)	१.००	▲	१.००
296	,, ,, (बँगला)	०.५०	▲	१.००
466	,, ,, (तमिल)	१.००	▲	१.००
299	ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप-	२.५०	▲	१.००
300	नारीधर्म-पृष्ठ ४०	१.५०	▲	१.००
301	भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म-	१.००	▲	१.००
310	सावित्री और सत्यवान-पृष्ठ २८	१.५०	▲	१.००
607	,, ,, (तमिल)	१.५०	▲	१.००
664	,, ,, (तेलगू)	१.५०	▲	१.००
302	श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश-पृष्ठ १६	१.००	▲	१.००
304	गीता पढ़नेके लाभ-	०.५०	▲	१.००
536	सत्यकी शरणसे मुक्ति-(तमिल)	१.५०	▲	१.००
305	गीताका तात्त्विक विवेचन एवं प्रभाव-	१.२५	▲	१.००
309	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय-पृष्ठ ९६ (कल्याण प्राप्तिकी कई युक्तियाँ)	१.००	▲	१.००
311	वैराग्य, परलोक और पुनर्जन्म-	१.००	▲	१.००
317	अवतारका सिद्धान्त-पृष्ठ ६४	१.००	▲	१.००
306	भगवान् क्या हैं?-पृष्ठ ४८	०.७५	▲	१.००
307	भगवान्की दया-पृष्ठ ४८	१.००	▲	१.००
308	सामयिक चेतावनी-	०.५०	▲	१.००
313	सत्यकी शरणसे मुक्ति-	१.००	▲	१.००
672	,, ,, (तेलगू)	१.००	▲	१.००
314	व्यापार-सुधारकी आवश्यकता मुक्ति-	०.५०	▲	१.००
613	धर्मके नामपर पाप -	०.५०	▲	१.००
315	चेतावनी-	०.५०	▲	१.००
316	ईश्वर-साक्षात्कार-नाम-जप सर्वोपरि साधन है-			

कोड		मूल्य		डाकखर्च
318	ईश्वर दयालु और न्यायकारी है-	०.५०	▲	१.००
270	भगवान्का हेतुरहित सौहार्द-	०.५०	▲	१.००
271	भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?-	०.७५	▲	१.००
319	हमारा कर्तव्य-पृष्ठ ३२	०.५०	▲	१.००
321	त्यागसे भगवत्प्राप्ति-(गजलगीतासहित)	०.५०	▲	१.००
326	प्रेमका सच्चा स्वरूप-	०.५०	▲	१.००
329	शोक-नाशके उपाय-	०.५०	▲	१.००
324	श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव	०.४०	▲	१.००
328	चतुःश्लोकी भागवत-	०.५०	▲	१.००

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी) के अनमोल प्रकाशन

कोड		मूल्य		डाकखर्च
050	पदरत्नाकर-पृष्ठ-सं० ९७६	३५.००	■	५.००
049	श्रीराधा-माधव-चिन्तन-	३५.००	■	६.००
058	अमृत-कण-	१२.००	■	३.००
332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता-	१२.००	■	३.००
333	सुख-शान्तिका मार्ग-पृष्ठ ३०४	८.५०	■	२.००
343	मधुर-	९.००	■	२.००
056	मानव-जीवनका लक्ष्य-पृष्ठ २४०	९.००	■	२.००
331	सुखी बननेके उपाय-पृष्ठ २५६	९.००	■	२.००
334	व्यवहार और परमार्थ-पृष्ठ २९६	८.००	▲	२.००
336	नारीशिक्षा-पृष्ठ १५२	७.००	▲	१.००
514	दुःखमें भगवत्कृपा-	७.५०	■	२.००
386	सत्संग-सुधा-पृष्ठ २२४	९.००	■	२.००
342	संतवाणी-ढाई हजार अनमोल बोल	१०.००	■	२.००
347	तुलसीदल-पृष्ठ २१४	८.००	■	२.००
337	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श-	७.००	▲	१.००
339	सत्संगके बिखरे मोती-	९.००	■	२.००
340	श्रीरामचिन्तन-पृष्ठ १८४	५.५०	▲	२.००
338	श्रीभगवन्नाम-चिन्तन-पृष्ठ २३२	८.००	▲	२.००
345	भवरोगकी रामबाण दवा-	४.५०	▲	१.००
346	सुखी बनो-पृष्ठ १२८	६.००	▲	१.००
349	भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति-	१२.००	■	३.००
350	साधकोंका सहारा-पृष्ठ ४४०	११.००	■	३.००
351	भगवच्चर्चा—भाग-५	१५.००	■	१.००
352	पूर्ण समर्पण-	१०.००	■	२.००
341	प्रेमदर्शन-पृष्ठ-सं० १७६	७.००	▲	२.००
353	लोक-परलोकका सुधार-(कामके पत्र भाग-१)	८.००	▲	१.००
354	आनन्दका स्वरूप-पृष्ठ २६०	८.५०	■	१.००
355	महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर-२९२	१०.००	■	३.००
356	शान्ति कैसे मिले ?-(लो०प० सुधार भाग-४)	१०.००	■	२.००
357	दुःख क्यों होते हैं ?-	८.५०	■	२.००
358	कल्याण-कुंज-(क० कुं० भाग-१)	६.००	▲	१.००
359	भगवान्की पूजाके पुष्प (,, भाग-२)	५.००	▲	१.००
360	भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं (,, भाग-३)	७.००	▲	२.००
361	मानव-कल्याणके साधन (,, भाग-४)	८.००	▲	२.००
362	दिव्य सुखकी सरिता (,, भाग-५)	५.००	▲	१.००
363	सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ- (,, भाग-६)	५.००	▲	१.००
364	परमार्थकी मन्दाकिनी-(,, भाग-७)	४.००	▲	१.००
387	प्रेम-सत्संग-सुधा-माला-पृष्ठ २०८	९.००	▲	१.००
651	गोसेवाके चमत्कार-(हिन्दी)	६.००	■	२.००
365	गोसेवाके चमत्कार-(तमिल)	३.५०	▲	१.००
366	मानव-धर्म-पृष्ठ ९५	३.५०	▲	१.००
367	दैनिक कल्याण-सूत्र-पृष्ठ ८२	३.००	▲	२.००
368	प्रार्थना-इक्कीस प्रार्थनाओंका संग्रह	२.५०	▲	१.००
370	श्रीभगवन्नाम-	३.००	▲	१.००
371	राधा-माधव-रस-सुधा-सटीक, व्रजभाषामें			
372	,, ,, गुटका	१.००	▲	१.००

[रजिस्ट्रीसे मंगानेमें ५.०० प्रति पैकेट अतिरिक्त लगता है।]

कोड		मूल्य		डाकखर्च
373	कल्याणकारी आचरण-(जीवनमें पालन करनेयोग्य)	२.००	▲	१.००
374	साधन-पथ-सचित्र	२.५०	▲	१.००
376	स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी-पृष्ठ-सं० ४८	२.५०	▲	१.००
377	मनको वश करनेके कुछ उपाय-	०.८०	▲	१.००
378	आनन्दकी लहरें-	१.५०	▲	१.००
379	गोवध भारतका कलंक एवं गायका महात्म्य	१.००	▲	१.००
381	दीनदुखियोंके प्रति कर्तव्य-	०.८०	▲	१.००
382	सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन	१.००	▲	१.००
348	नैवेद्य-	९.००	■	२.००
344	उपनिषदोंके चौदह रत्न-	२.००	▲	१.००
	परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी प्रवचन			
400	कल्याण-पथ- पृष्ठ १६०	७.००	▲	२.००
605	जित देखूँ तित तू—	७.००	▲	२.००
406	भगवत्प्राप्ति सहज है	४.००	▲	२.००
535	सुन्दर समाजका निर्माण	८.००	▲	२.००
401	मानसमें नाम-वन्दना-पृष्ठ १६०	७.००	▲	१.००
403	जीवनका कर्तव्य- पृष्ठ १७६	७.००	▲	१.००
436	कल्याणकारी प्रवचन-(हिन्दी)	६.००	▲	१.००
404	,, ,, (गुजराती)	४.००	▲	१.००
405	नित्ययोगकी प्राप्ति-पृष्ठ १२८	६.००	▲	१.००
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता-पृष्ठ १३६	४.५०	▲	१.००
408	भगवान्से अपनापन-पृष्ठ ९६	४.००	▲	१.००
409	वास्तविक सुख-पृष्ठ ११२	५.००	▲	१.००
411	साधन और साध्य-पृष्ठ ९०	४.५०	▲	१.००
412	तात्त्विक प्रवचन-(हिन्दी)	४.५०	▲	१.००
413	,, ,, (गुजराती)	५.००	▲	१.००
414	तत्त्वज्ञान कैसे हो ?-पृष्ठ १२०	६.००	▲	१.००
415	किसानोंके लिये शिक्षा-	१.२५	▲	१.००
416	जीवनका सत्य-पृष्ठ ९६	४.५०	▲	१.००
417	भगवन्नाम-पृष्ठ ७२	३.००	▲	१.००
418	साधकोंके प्रति-पृष्ठ ९६	४.५०	▲	१.००
419	सत्संगकी विलक्षणता-पृष्ठ ६८	३.००	▲	१.००
420	मातृशक्तिका घोर अपमान-	२.००	▲	१.००
421	जिन खोजा तिन पाइयाँ-	३.५०	▲	१.००
422	कर्मरहस्य- (हिन्दी)	३.००	▲	१.००
423	,, (तमिल)	३.००	▲	१.००
424	वासुदेवः सर्वम्-पृष्ठ ६८	३.००	▲	१.००
425	अच्छे बनो-पृष्ठ ८८	४.५०	▲	१.००
426	सत्संगका प्रसाद-पृष्ठ ८८	४.००	▲	१.००
431	स्वाधीन कैसे बनें-पृष्ठ ४८	२.००	▲	१.००
427	गृहस्थमें कैसे रहें ?-(हिन्दी)	५.००	▲	१.००
589	भगवान् और उनकी भक्ति-	४.००	▲	१.००
603	गृहस्थोंके लिये-(कल्याणवर्ष-६८, ३-४ से)	१.००	▲	१.००
617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम-	२.५०	▲	१.००
625	,, ,, (बँगला)	२.५०	▲	१.००
428	गृहस्थमें कैसे रहें ?-(बँगला)	४.००	▲	१.००
429	,, ,, (मराठी)	६.००	▲	१.००
128	,, ,, (कन्नड़)	२.७५	▲	१.००
430	,, ,, (उड़िया)	३.५०	▲	१.००
472	,, ,, (अँग्रेजी)	३.००	▲	१.००
553	,, ,, (तमिल)	८.००	▲	१.००
432	एकै साधे सब सधै-पृष्ठ ८०	४.००	▲	१.००
632	सबजग ईश्वर रूप है-	४.००	▲	१.००
607	सबका कल्याण कैसे हो ? -(तमिल)	२.००	▲	१.००
433	सहज साधना-पृष्ठ ६४	३.००	▲	१.००

[रजिस्ट्रीसे मंगानेमें ६.०० प्रति पैकेट अतिरिक्त लगता है।]

कोड		मूल्य		डाकखर्च
434	शरणागति-(हिन्दी)	३.५०	▲	१.००
568	,, ,, (तमिल)	३.००	▲	१.००
435	आवश्यक शिक्षा-	२.००	▲	१.००
515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन-	१.२५	▲	१.००
606	,, ,, (तमिल)	२.००	▲	१.००
438	दुर्गतिसे बचो-(हिन्दी)	१.५०	▲	१.००
449	,, (बँगला) (गुरुतत्त्व-सहित)	२.००	▲	१.००
439	महापापसे बचो(हिन्दी)	१.५०	▲	१.००
451	,, ,, (बँगला)	१.००	▲	१.००
549	,, ,, (उर्दू)	१.२५	▲	१.००
591	संतानका कर्तव्य—(तमिल)	२.००	▲	१.००
440	सच्चा गुरु कौन ?-	१.५०	▲	१.००
441	सच्चा आश्रय-	१.००	▲	१.००
442	संतानका कर्तव्य-(हिन्दी)	१.००	▲	१.००
443	,, ,, (बँगला)	०.८०	▲	१.००
444	नित्य-स्तुतिः	१.००	▲	१.००
445	हम ईश्वरको क्यों मानें ?(हिन्दी)	१.००	▲	१.००
450	,, ,, (बँगला)	१.५०	▲	१.००
554	,, ,, (नेपाली)	०.२५	▲	१.००
446	आहार-शुद्धि-(हिन्दी)	०.८०	▲	१.००
551	आहार-शुद्धि-(तमिल)	१.००	▲	१.००
447	मूर्तिपूजा-(हिन्दी)	१.००	▲	१.००
469	,, (बँगला)	०.८०	▲	१.००
569	,, (तमिल)	१.००	▲	१.००
448	नाम-जपकी महिमा-(हिन्दी)	०.८०	▲	१.००
550	,, ,, (तमिल)	१.००	▲	१.००
	नित्यपाठ साधन-भजन-हेतु			
610	व्रत-परिचय-	२०.००	■	३.००
052	स्तोत्ररत्नावली-सानुवाद	१५.००	■	२.००
117	दुर्गासप्तशती-मूल, मोटा टाइप	८.००	■	२.००
118	दुर्गासप्तशती-सानुवाद	११.००	■	२.००
489	दुर्गासप्तशती-सजिल्द	१४.००	■	२.००
206	विष्णुसहस्रनाम-सटीक	२.००	■	१.००
226	,, ,, मूलपाठ	१.००	■	२.००
211	आदित्य-हृदयस्तोत्रम्-हिन्दी-अँग्रेजी-अनुवादसहित	१.००	■	१.००
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र-भक्त बिल्वमंगलरचित सानुवाद	२.००	■	१.००
524	ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री-	२.००	■	१.००
231	रामरक्षास्तोत्रम्-	१.००	■	१.००
675	,, ,, (तेलगू)	१.५०	■	१.००
202	गंगासहस्रनाम-	१.००	■	१.००
495	दत्तात्रेय-वज्रकवच-सानुवाद	२.००	■	१.००
229	नारायणकवच-सानुवाद	१.००	■	१.००
230	अमोघशिवकवच-सानुवाद	१.००	■	१.००
563	शिवमहिम्नस्तोत्र-	१.००	■	१.००
054	भजन-संग्रह-पाँचों भाग एक साथ	२०.००	■	४.००
140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली-३२८ भजनसंग्रह	९.५०	■	२.००
142	चेतावनी-पद-संग्रह-(दोनों भाग)	९.५०	■	२.००
144	भजनामृत-६७ भजनोंका संग्रह	५.००	■	१.००
153	आरती-संग्रह-१०२ आरतियोंका संग्रह	३.००	■	१.००
208	सीतारामभजन-	१.५०	■	१.००
221	हरेरामभजन-दो माला (गुटका)	१.२५	■	१.००
222,,	,, १४ माला	७.००	■	२.००
225	गजेन्द्रमोक्ष-सानुवाद, हिन्दी पद्य, भाषानुवाद	०.७५	■	१.००
227	हनुमानचालीसा-	१.००	■	१.००
600	,, ,, (तमिल)	१.५०	■	१.००
667	,, ,, (तेलगू)	१.००	■	१.००

कोड		मूल्य		डाकखर्च
626	हनुमानचालीसा-(बँगला)	१.००	■	१.००
228	शिवचालीसा-	१.००	■	१.००
203	अपरोक्षानुभूति-	१.००	■	१.००
204	गीताप्रेस-लीला-चित्रमन्दिर-दोहावली-	१.००	■	१.००
205	गीताभवन-दोहा-संग्रह-	१.००	■	१.००
130	नित्यकर्म-प्रयोग-	६.००	■	२.००
592	,, पूजाप्रकाश-	२४.००	■	३.००
210	सन्ध्योपासनविधि-मन्त्रानुवादसहित	१.५०	■	१.००
220	तर्पण एवं बलिवैश्वदेवविधि- मन्त्रानुवादसहित	१.५०	■	१.००
234	बलिवैश्वदेवविधि-	०.१०	■	१.००
236	साधकदैनन्दिनी-	२.००	■	१.००
614	सन्ध्या	१.००	■	१.००
	बालकोपयोगी, स्त्रियोपयोगी एवं सर्वोपयोगी प्रकाशन			
209	रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्यपुस्तक-	१.५०	■	१.००
116	लघुसिद्धान्तकौमुदी	१०.००	■	२.००
154	ज्ञानमणिमाला-	२.५०	■	१.००
196	मननमाला-	१.२५	■	१.००
461	हिन्दी बालपोथी शिशुपाठ (भाग-१)	२.००	■	१.००
125	,, ,, (रंगीन)	२.५०	■	१.००
212	हिन्दी बालपोथी शिशुपाठ (भाग-२)	३.५०	■	१.००
197	संस्कृतिमाला-भाग-१	२.००	■	१.००
198	,, ,, भाग-२	१.५०	■	१.००
651	गीतामाहात्म्यकी कहानियाँ	५.००	■	२.००
656	गोसेवा के चमत्कार	६.००	■	२.००
59	जीवनमें नया प्रकाश-(ले० रामचरण महेन्द्र)	८.००	■	२.००
60	आशाकी नयी किरणें- (,,)	१२.००	■	२.००
119	अमृतके घूँट- (,,)	७.००	■	२.००
132	स्वर्णपथ- (,,)	६.५०	■	२.००
55	महकते जीवनफूल- (,,)	१२.००	■	३.००
57	मानसिक दक्षता-पृष्ठ-सं० २६४	१५.००	■	३.००
62	श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी-	६.००	■	२.००
64	प्रेमयोग-	४.००	■	१.००
103	मानस-रहस्य-	८.००	■	२.००
104	मानस-शंका-समाधान-	७.५०	■	२.००
501	उद्धव-सन्देश-पृष्ठ-सं० २०८	७.५०	■	२.००
460	रामाश्वमेध-	१०.००	■	२.००
191	भगवान् कृष्ण-पृष्ठ-सं० ७२	३.००	■	१.००
601	,, ,, -(तमिल)	४.००	■	१.००
193	भगवान् राम-(,, ६४)	३.००	■	१.००
195	भगवान्पर विश्वास-	१.२५	■	१.००
120	आनन्दमय जीवन	८.००	■	२.००
133	विवेक-चूड़ामणि-	८.००	■	२.००
131	सुखी जीवन-	३.५०	■	१.००
190	बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला-	६.००	■	२.००
192	बालचित्रमय रामायण-(दोनों भाग)	३.००	■	१.००
238	कन्हैया-(धारावाहिक चित्रकथा)	६.००	■	२.००
239	गोपाल- (,, ,,)	६.००	■	२.००
240	मोहन- (,, ,,)	६.००	■	२.००
241	श्रीकृष्ण- (,, ,,)	६.००	■	२.००
122	एक लोटा पानी-पृष्ठ-सं० १६०	८.००	■	२.००
134	सती द्रौपदी- पृष्ठ-सं० १३६	४.५०	■	२.००
137	उपयोगी कहानियाँ- पृष्ठ-सं० ९६	५.००	■	१.००
157	सती सुकला-	१.५०	■	१.००
158	महासती सावित्री-	१.५०	■	१.००
145	बालकोंकी बातें- पृष्ठ-सं० ९८	५.००	■	१.००

[रजिस्ट्रीसे मंगानेमें ६.०० प्रति पैकेट अतिरिक्त लगता है।]

कोड		मूल्य		डाकखर्च
146	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा-	५.००	■	१.००
147	चोखी कहानियाँ- पृष्ठ-सं० ८०	४.००	■	१.००
148	वीर बालक- पृष्ठ-सं० ८०	४.००	■	१.००
149	गुरु और माता-पिताके भक्त बालक-	४.००	■	१.००
150	पिताकी सीख- पृष्ठ-सं० १२४	४.५०	■	२.००
152	सच्चे-ईमानदार बालक- पृष्ठ-सं० ७२	३.५०	■	१.००
155	दयालु और परोपकारी बालक- बालिकाएँ-	३.००	■	१.००
156	वीर बालिकाएँ-	३.००	■	१.००
213	बालकोंकी बोलचाल-	२.००	■	१.००
214	बालकके गुण—	२.००	■	१.००
215	आओ बच्चो तुम्हें बतायें-	२.००	■	१.००
216	बालककी दिनचर्या-	२.००	■	१.००
217	बालकोंकी सीख-	२.००	■	१.००
218	बाल-अमृत-वचन-	२.००	■	१.००
219	बालकके आचरण-	२.००	■	१.००
159	आदर्श उपकार-(पढ़ो, समझो और करो)	७.००	■	२.००
160	कलेजेके अक्षर- (,, ,,)	६.००	■	२.००
161	हृदयकी आदर्श विशालता- (,, ,,)	५.००	■	२.००
162	उपकारका बदला- (,, ,,)	६.००	■	२.००
163	आदर्श मानव-हृदय- (,, ,,)	५.००	■	२.००
164	भगवान्‌के सामने सच्चा सो सच्चा- (,, ,,)	६.००	■	२.००
165	मानवताका पुजारी- (,, ,,)	५.००	■	२.००
166	परोपकार और सच्चाईका फल- (,, ,,)	५.००	■	२.००
510	असीम नीचता और असीम साधुता- (,, ,,)	७.००	■	२.००
129	एक महात्माका प्रसाद-	१२.००	■	२.००
151	सत्संगमाला- पृष्ठ-सं० ७२	३.००	■	१.००
	'कल्याण' के पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क			
040	भक्त-चरिताङ्क-(कल्याणवर्ष २६)	८०.००	■	९.००
041	शक्ति-अङ्क- (,, ,, ९)	७०.००	■	८.००
572	परलोक एवं पुनर्जन्माङ्क (,, ४३)	६५.००	■	८.००
587	सत्कथा-अङ्क- (,, ,, ३०)	६५.००	■	८.००
635	शिवाङ्क- (,, ,, ८)	८०.००	■	११.००
627	संतअङ्क- (,, ,, १२)	९०.००	■	१०.००
631	सं. ब्रह्मवैवर्त पुराणांक (,, ,, ३७)	६५.००	■	८.००
637	तीर्थाङ्क - (,, ,, ३१)	८५.००	■	१२.००
640	सं. नारद पुराणांक (,, ,, २८)	८०.००	■	११.००
042	हनुमान-अङ्क- (,, ,, ४९)	५०.००	■	६.००
043	नारी-अङ्क- (,, ,, २२)	७०.००	■	८.००
044	संक्षिप्त पद्मपुराण-(,, ,, १९)	८५.००	■	८.००
0613	,, शिवपुराण- (बड़ा टाइप)(,, ,, ३९)	७०.००	■	६.००
279	,, स्कन्दपुराण-(,, ,, २५)	१००.००	■	१०.००
539	मार्कण्डेय-ब्रह्मपुराणाङ्क-(,, ,, २१)	८५.००	■	७.००
518	हिन्दू-संस्कृति-अङ्क-(कल्याणवर्ष २४)	७५.००	■	९.००
517	गर्ग-संहिता- (,, ४४ एवं ४५) [भगवान् श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन].	४५.००	■	७.००
573	बालक-अङ्क- (कल्याणवर्ष २७)	७०.००	■	९.००
046	संक्षिप्त श्रीमद्देवीभागवत-(,, ३४)	७०.००	■	८.००
028	श्रीभागवत-सुधासागर-(,, १६)	९०.००	■	९.००
604	साधनाङ्क- (कल्याणवर्ष १५)	७५.००	■	९.००
659	उपनिषद अङ्क-(,, २३)	९०.००	■	९.००
574	संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क-(,, ३५)	६५.००	■	९.००
616	योगाङ्क - (,, १०)	६०.००	■	९.००
657	श्रीगणेश-अङ्क (,, ४८)	६०.००	■	१०.००
660	भक्ति-अङ्क (,, ३२)	८०.००	■	११.००

कोड		मूल्य		डाकखर्च
	कल्याण एवं कल्याण-कल्पतरुके पुराने मासिक अङ्क			
525	कल्याण-मासिक-अङ्क	३.००	■	१.००
602	Kalyana-Kalpataru (Monthly Issues)	२.००	■	१.००
	गीताप्रेस गोरखपुरके अन्य भारतीय भाषाओंके प्रकाशन			
	संस्कृत			
679	गीता माधुर्य-	६.००	■	२.००
	बँगला			
540	साधक-संजीवनी-(प्रथम खण्ड १—६ अध्याय)	२५.००	■	५.००
557	(„ „)द्वितीय खण्ड ७—१२)	२०.००	■	५.००
556	गीता-दर्पण-	२५.००	■	५.००
013	गीता-पदच्छेद-	१५.००	■	४.००
275	कल्याण-प्राप्तिके उपाय-(तत्त्व-चिन्ता० भाग-१)	६.००	▲	२.००
395	गीतामाधुर्य-	६.००	▲	२.००
428	गृहस्थमें कैसे रहें ? -	४.००	▲	१.००
276	परमार्थ-पत्रावली- भाग-१	३.५०	▲	१.००
449	दुर्गतिसे बचो गुरुतत्त्व	२.००	▲	१.००
450	हम ईश्वरको क्यों मानें-	१.२५	▲	१.००
312	आदर्श नारी सुशीला-	१.२५	▲	१.००
330	नारद एवं शांडिल्य-भक्ति-सूत्र-	१.२५	▲	१.००
625	देशकी वर्तमानदशा तथा उसका परिणाम-	२.५०	▲	१.००
626	हनुमानचालीसा	१.००	■	१.००
496	गीता छोटी पाकेट साइज	४.००	■	१.००
451	महापापसे बचो-	१.००	▲	१.००
469	मूर्तिपूजा-	०.८०	▲	१.००
296	सत्संगकी सार बातें-	०.५०	▲	१.००
443	संतानका कर्तव्य	०.८०	▲	१.००
	तमिल			
389	गीतामाधुर्य-	१०.००	■	२.००
553	गृहस्थमें कैसे रहें ?-	८.००	▲	२.००
536	गीता पढ़नेके लाभ, सत्यकी शरणसे मुक्ति-	२.५०	▲	१.००
591	महापापसे बचो, संतानका कर्तव्य-	२.००	▲	१.००
466	सत्संगकी सार बातें-	१.००	▲	१.००
365	गोसेवाके-चमत्कार-	३.५०	▲	१.००
423	कर्मरहस्य-	४.००	▲	१.००
568	शरणागति-	४.००	▲	१.००
127	उपयोगी कहानियाँ	५.००	▲	२.००
569	मूर्तिपूजा-	१.५०	▲	१.००
551	आहारशुद्धि	१.००	▲	१.००
646	चोखी कहानियाँ	५.००	■	२.००
645	नल-दमयन्ती	५.००	▲	२.००
644	आदर्श नारी सुशीला	२.००	▲	१.००
643	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३.००	▲	१.००
550	नाम-जपकी महिमा-	१.५०	▲	१.००
499	नारद-भक्ति-सूत्र	१.००	▲	१.००
600	हनुमानचालीसा	१.५०	■	१.००
601	भगवान् श्रीकृष्ण	५.००	■	२.००
606	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	२.००	▲	१.००
609	सावित्री और सत्यवान	१.५०	▲	१.००
607	सबका कल्याण कैसे हो ?	२.००	▲	१.००
608	भक्तराज हनुमान्	५.००	■	१.००
642	प्रेमी भक्त उद्धव	४.५०	■	१.००
647	कन्हैया (धारावाहिक चित्रकथा)	७.००	■	२.००
648	श्रीकृष्ण („ „)	७.००	■	२.००
649	गोपाल („ „)	७.००	■	२.००
650	मोहन („ „)	७.००	■	२.००

[रजिस्ट्रीसे मंगानेमें ६.०० प्रति पैकेट अतिरिक्त लगता है।]

कोड		मूल्य		डाकखर्च
655	एकै साधै सब सधै	५.००	▲	२.००
	असमिया			
624	गीतामाधुर्य-	६.००	▲	२.००
	कन्नड़			
390	गीतामाधुर्य-	४.५०	▲	२.००
128	गृहस्थमें कैसे रहें ? -	२.७५	▲	२.००
661	गीता मूल विष्णु सहस्रनाम	३.५०	■	४.००
	मराठी			
07	साधक-संजीवनी टीका-	७५.००	■	१०.००
504	गीता-दर्पण-	२०.००	■	५.००
014	गीता-पदच्छेद-	१५.००	■	४.००
015	गीता माहात्म्यसहित-	२०.००	■	४.००
391	गीतामाधुर्य-	८.००	▲	२.००
429	गृहस्थमें कैसे रहें ?-	६.००	▲	२.००
	गुजराती			
467	साधक-संजीवनी-	७५.००	■	१०.००
468	गीता-दर्पण-	२५.००	■	५.००
012	गीता-पदच्छेद-	१५.००	■	४.००
392	गीतामाधुर्य-	५.००	▲	२.००
404	कल्याणकारी प्रवचन-	४.००	▲	२.००
413	तात्त्विक प्रवचन-	५.००	▲	२.००
	उड़िया			
430	गृहस्थमें कैसे रहें ?-	३.५०	▲	१.००
	नेपाली			
394	गीतामाधुर्य-	५.००	▲	२.००
	उर्दू			
393	गीतामाधुर्य-	८.००	▲	२.००
549	महापापसे बचो-	१.२५	▲	१.००
590	मनकी खटपट कैसे मिटे-	०.८०	▲	१.००
	तेलगू			
641	भगवान् श्रीकृष्ण	४.००	■	१.००
662	गीता मूल विष्णु सहस्रनाम स्तोत्रम	३.५०	■	१.००
663	गीता वचनम्	५.००	■	१.००
664	सावित्री-सत्यवान	१.५०	▲	१.००
676	हनुमान चालीसा	१.००	■	१.००
665	आदर्श नारी सुशीला	३.००	▲	१.००
666	अमूल्य समय का सदुपयोग	५.००	▲	१.००
670	गीता मूल विष्णु सहस्रनामसहित	३.००	■	१.००
672	सत्यकी शरण से मुक्ति	१.००	▲	१.००
674	गोविन्द दामोदर स्तोत्र	१.५०	■	१.००
675	सं० रामायणम् एवं राम रक्षा स्तोत्रम्	१.००	■	१.००
	चित्र			
237	जयश्रीराम भगवान् रामकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण	१३.००	■	
491	हनुमान्‌जी (भक्तराज हनुमान्)	५.००	■	
492	भगवान् विष्णु-	५.००	■	
560	लड्डू गोपाल (भगवान् श्रीकृष्णका बालस्वरूप)	५.००	■	
548	मुरलीमनोहर (भगवान् मुरलीमनोहर)	५.००	■	
437	कल्याणचित्रावली (कल्याणमें मुद्रित १५ चित्रोंका संग्रह)	८.००	■	
630	गोसेवा	५.००	■	

Our English Publications

कोड		मूल्य		डाकखर्च
457	Shrimad Bhagavadgita-Tattva-Vivechani (*By Jayadayal Goyandka*) Detailed Commentary, Pages736	35.00	■	8.00
458	Shrimad Bhagavadgita-Sadhak-Sanjivani (*By Swami Ramsukhdas*) (English Commentary)Pages 896	45 00	■	8 00
493	Shrimad Bhagavadgita—The Gita—A Mirror (Pocket size)	20.00	■	3 00
455	Bhagavadgita (With Sanskrit Text and English Translation) Pocket size	3 50	■	1.00
470	Bhagavadgita-Roman Gita (With Sanskrit Text and English Translation)	10 00	■	3.00
487	Gita Madhurya—English (*By Swami Ramsukhdas)* Pages 155	8 00	▲	1.00
452	Shrimad Valmiki Ramayana (With Sanskrit Text and English Translation) Part I	80 00	■	8 00
453	.. .. Part II	80 00	■	8.00
454	.. .. Part III	90.00	■	8.50
456	Shri Ramacharitamanas (With Hindi Text and English Translation)	70.00	■	8.50
564	Shrimad Bhagvat (With Sanskrit Text and English Translation) Part I	80.00	■	8 00
565	.. .. .. Part II	70.00	■	8 00
	by Jayadayal Goyandka			
477	Gems of Truth [Vol. I] Pages 204	7.00	▲	1.00
478	.. .. [Vol. II]	5.00	▲	1.00
479	Sure Steps to God-Realization	8.00	▲	2.00

[रजिस्ट्रीसे मंगानेमें ६.०० प्रति पैकेट अतिरिक्त लगता है।]

कोड		मूल्य		डाकखर्च
482	What is Dharma? What is God?	1.00	▲	1.00
480	Instructive Eleven Stories	2.50	▲	1.00
520	Secret of Jnana Yoga	5.00	▲	1.00
521	" " Prem Yoga	4.00	▲	1.00
522	" " Karma Yoga	5.00	▲	2.00
523	" " Bhakti Yoga	7.50	▲	2.00
658	Secrets of Gita	4.00	▲	1.00
	by Hanuman Prasad Poddar			
484	Look Beyond the Veil	7.00	▲	1.00
485	Path to Divinity Pages 166	6.00	▲	1.00
622	How to Attain Eternal Happiness	6.00	▲	2.00
	by Swami Ramsukhdas			
498	In Search of Supreme Abode	4.00	▲	1.00
619	Ease in God-Realization	4.00	▲	1.00
471	Benedictory Discourses	3.50	▲	1.00
473	Art of Living Pages 124	3.00	▲	1.00
472	How to Lead A Household Life	3.50	▲	1.00
620	The Divine Name and Its Practice	2.50	▲	1.00
486	Wavelets of Bliss & the Divine Message	1.50	▲	1.00
638	Sahaj Sadhana	4.00	▲	1.00
476	How to be Self-Reliant	1.00	▲	1.00
552	Way to Attain the Supreme Bliss	1.00	▲	1.00
494	The Immanence of God (*By Madanmohan Malaviya*)	0.30	■	1.00
562	Ancient Idealism for Modernday Living	1.00	▲	1.00

Subscribe our English Monthly
THE KALYANA-KALPATARU
Oct. to Sept. Subscription Rs. 50.00
"WOMAN-NUMBER"
(Vol. XLI No. 1 October 1995)

गीताप्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित
"कल्याण"

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार एवं साधन-सम्बन्धी मासिक पत्र 'कल्याण' वर्ष ७० (सन् १९९६ ई०) का विशेषाङ्क

"धर्मशास्त्राङ्क"

वार्षिक शुल्क रु० ८०.०० (सजिल्द रु० ९०.००) डाकखर्चसहित

स्वयं ग्राहक बनें—दूसरोंको ग्राहक बनावें, दस वर्षीय शुल्क रु० ५०० (रु० ६०० सजिल्द)

नये प्रकाशन

	परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका	मूल्य		डाकखर्च
683	तत्त्वचिन्तामणि (ग्रन्थाकार)	६०.००	■	१०.००
681	रहस्यमय प्रवचन	५.००	▲	२.००
680	उपदेशप्रद कहानियाँ	५.००	▲	२.००
658	Secrets of Gita	4.00	▲	2.00
	परम श्रद्धेय श्रीस्वामी रामसुखदास			
632	सब जग ईश्वर रूप है	४ ००	▲	२.००
556	साधक-संजीवनी (बंगला)भाग-७ से १२ तक	[illegible]००	■	१.००
638	Sahaj Sadhana	4.00	▲	1.00

नये संस्करण

		मूल्य		डाकखर्च
633	गीता पाकेट साईज (सजिल्द)	६.००	■	२.००
125	बालपोथी शिशुपाठ (रंगीन) भाग-१	२.५०	■	२.००
133	विवेक चूड़ामणि	८.००	■	२.००
651	गोसेवा के चमत्कार	६.००	■	२.००
564-65	Shrimad Bhagvat (With Sanskrit Text and English Translation) Part I & II	150.00	■	17.00
651	गीता माहात्म्यकी कहानियाँ	५.००	■	२.००

॥ श्रीहरि: ॥

'कल्याण' का उद्देश्य और इसके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जन-जनको कल्याणके पथपर अग्रसरित करनेका प्रयत्न करना इसका एकमात्र उद्देश्य है।

नियम

-भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याण-मार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख 'कल्याण' में प्रकाशित नहीं किये जाते। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने-न-छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।

-**'कल्याण' का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरतक रहता है, अत: ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं।** यद्यपि वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं; तथापि जनवरीसे उस समयतकके प्रकाशित (पिछले) उपलब्ध अङ्क उन्हें दिये जाते हैं। 'कल्याण' के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते, छ: या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते हैं।

-**ग्राहकोंको वार्षिक शुल्क मनीआर्डर अथवा बैंकड्राफ्टद्वारा ही भेजना चाहिये।** वी० पी० पी० से 'कल्याण' मंगानेमें ग्राहकोंको वी० पी० पी० डाकशुल्क अधिक देना पड़ता है एवं 'कल्याण' भेजनेमें विलम्ब भी हो जाता है।

-'कल्याण' के मासिक अङ्क सामान्यतया ग्राहकोंको सम्बन्धित मासके प्रथम पक्षके अन्ततक मिल जाने चाहिये। अङ्क दो-तीन बार जाँच करके भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयसे न मिले तो डाकघरसे पूछताछ करनेके उपरान्त हमें सूचित करें।

-पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम ३० दिनोंके पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। पत्रोंमें **'ग्राहक-संख्या', पुराना और नया—पूरा पता स्पष्ट एवं सुवाच्य अक्षरोंमें लिखना चाहिये। यदि कुछ महीनोंके लिये ही पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।** पता बदलनेकी सूचना समयसे न मिलनेपर दूसरी प्रति भेजनेमें कठिनाई हो सकती है। यदि आपके पतेमें कोई महत्त्वपूर्ण भूल हो या आपका 'कल्याण' के प्रेषण-सम्बन्धी कोई अनियमितता/सुझाव हो तो अपनी स्पष्ट 'ग्राहक-संख्या' लिखकर हमें सूचित करें।

६-रंग-बिरंगे चित्रोंवाला बड़ा अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) ही वर्षका प्रथम अङ्क होता है। पुन: प्रतिमास साधारण अङ्क ग्राहकोंको उसी शुल्क-राशिमें वर्षपर्यन्त भेजे जाते हैं। किसी अनिवार्य कारणवश यदि 'कल्याण' का प्रकाशन बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों उतनेमें ही संतोष करना चाहिये।

आवश्यक सूचनाएँ

१-ग्राहकोंको पत्राचारके समय अपना नाम-पता सुस्पष्ट लिखनेके साथ-साथ अपनी **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें अपनी आवश्यकता और उद्देश्यका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

२-एक ही विषयके लिये यदि दोबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रका संदर्भ—दिनाङ्क तथा पत्र-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये।

३-**'कल्याण' में व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।**

४-कोई भी विक्रेताबन्धु विशेषाङ्ककी कम-से-कम ५० प्रतियाँ हमारे कार्यालयसे एक साथ मँगाकर इसके प्रचार-प्रसारमें सहयोगी बन सकते हैं। ऐसा करनेपर ६.०० रुपये प्रति विशेषाङ्ककी दरसे उन्हें कमीशन दिया जायगा। जनवरी मासका विशेषाङ्क एवं फरवरी- मार्च मासका साधारण अङ्क रेल-पार्सलसे भेजा जायगा एवं आगेके मासिक अङ्क (अप्रैलसे दिसम्बरतक) डाकद्वारा भेजनेकी व्यवस्था है।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *